8'6
॥ ओ३म् ॥
अथर्ववेदभाष्यम्
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालंकार का जीवन परिचय

श्री हरिशरण जी का जन्म 2 जनवरी 1901 को कमालिया नगर (अब पाकिस्तान में) के एक सम्पन्न गृहस्थ मास्टर लक्ष्मणदास के यहां हुआ। पिता की आठ सन्तानों –शान्तिस्वरूप, हरिशरण, हरिप्रेम, वेदकुमारी, राजकुमारी, हरिश्चन्द्र, हरिप्रकाश व हरिमोहन–में से वह दूसरे थे। उनकी माता सद्दांबाई अत्यन्त धर्मपरायणा व कुशल गृहणी थीं। श्री लक्ष्मणदास ने कुछ समय जालन्धर में अध्यापक के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने कोयले के व्यापार में हाथ डाला और उसमें खूब सफलता प्राप्त की। वहीं पर आप स्वामी श्रद्धानन्द (पूर्व महात्मा मुंशीराम) के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द की वैदिक विचारधारा से प्रभावित हुए।

श्री लक्ष्मणदास अत्यन्त दृढ़व्रती, तपस्वी एवं स्वाध्यायप्रेमी धार्मिक व्यक्ति थे। बालक हरिशरण को भी ये गुण विरासत में अपने पिता से प्राप्त हुए। उनकी आरम्भिक शिक्षा दीक्षा गुरुकुल मुलतान में हुई। वहां दसवीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी करके आगे विद्याध्ययन के लिए वह गुरुकुल कांगडी आए। यहां उन्होंने तीन वर्ष तक आयुर्वेद का अध्ययन किया परन्तु स्नातक परीक्षा वेद विषय में उत्तीर्ण की।

हरिशरण जी अत्यन्त परिश्रमी व मेधावी छात्र थे। पहली कक्षा से स्नातक बनने तक सदैव अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पाते रहे। संस्कृत व्याकरण के अतिरिक्ति दर्शन व साहित्य पर भी उनका पूरा अधिकार था। आंग्ल भाषा गणित, भूगोल व विज्ञान में भी उन्होंने विशेष योग्यता अर्जित की थी।
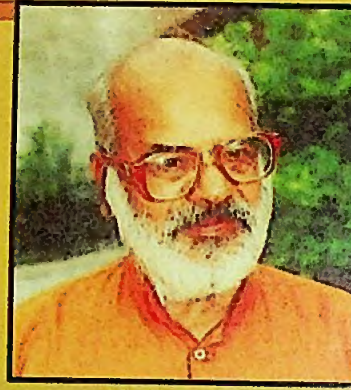
स्वामी श्री जगदीशवरानन्द सरस्वती, नई दिल्ली

[illegible]

श्री मित्रावसु
मॉडल टाउन, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्रीमती सावित्री देवी–डॉ० बलवन्त सिंह आर्य
बीकानेर (राज०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन)
वैस्ट मिडलेण्ड्स,
बरमिंघम (यू०के०)

राव श्री हरिश्चन्द्रजी आर्य
नागपुर (महा०)

सुश्री उमाजी भल्ला
अम्बाला छावनी (हरि०)

हलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

श्री [illegible] ...हित्यानी
[illegible] (गुजरात)

प्रिय गीतेश, आपकी स्मृति में–
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिभा मित्तल

श्रीमती रक्षा चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)

श्री गोपालचन्द्र
बरमिंघम (यू०के०)

श्री राधेश्याम, दिल्ली
(श्री मनोहर विद्यालंकार)

स्वामी श्री श्रद्धानन्द सरस्वती
अलीगढ़ (उ०प्र०)

श्रीमती कंचनलतादेवी–श्री सरस्वतीप्रसादजी गोयल
सवाई माधोपुर (राज०)

श्रीमती सुवीराजी अम्बेसंगे
उदगीर, जिला लातूर, महाराष्ट्र

डॉ० रामावतार सिंघल
मेरठ (उ०प्र०)

श्री अशोकजी-गजेन्द्रजी गौतम
जीन्द (हरि०)

श्रीमती प्रशान्दी देवी–श्री रामेश्वरदयालजी गुप्ता
नई दिल्ली

स्मृतिशेष-श्री मूलचन्दजी गर्ग
स्मृति में-ओमप्रकाश अग्रवाल, उज्जैन (म.प्र.)

श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(द्वितीयो भागः)

भाष्यकार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

वेदरत्न

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी,

राजस्थान-३२२ २३०

सादर समर्पित
द्वारा
राजकुमार टीबड़ेवाल
रांची (झारखंड)
४।५।२०१२

978-93-80209-16-6

प्रकाशक : श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
"अभ्युदय" भवन, अग्रसेन कन्या महाविद्यालय मार्ग,
स्टेशन रोड, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२, ०-९८८७४-५२९५९

संस्करण : स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द सरस्वती जन्म एवं स्मृति माह
जनवरी, २०११ ई०

मूल्य : ३५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
चलभाष : ०९३५०९९३४५५

२. श्री गणेशदास-गरिमा गोयल, २७०४, प्रेममणि-निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११० ००६, चलभाष : ०९८९९७५९००२

३. श्री राजेन्द्रकुमार, १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी,
बरेली (उ०प्र०) चलभाष : ०९८९७८८०९३०

शब्द-संयोजक : स्वस्ति कम्प्यूटर्स, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

मुद्रक : राधा प्रेस, कैलाशनगर, दिल्ली-३१

ओ३म्

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अथ सप्तमं काण्डम्

अथ षोडशः प्रपाठकः

गत सूक्त में वर्णित (६.१४२ में) यव के महत्त्व को समझकर यव को ही मुख्य भोजन बनाता हुआ यह साधक 'अथर्वा' बनता है (अ-थर्व)=न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यह ब्रह्मवर्चस् की कामना करता हुआ 'ब्रह्मवर्चसकामः' कहलाता है। इस काण्ड के प्रथम ७ सूक्तों का ऋषि यही है—

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान+ऋत+नित्य स्वाध्याय+प्रभुनामस्मरण

धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः॥ १॥

१. 'ब्रह्मवर्चसकाम अथर्वा' वे हैं **ये**=जो **धीती**=ध्यान के द्वारा **वा**=निश्चय से अपने को **वाचः अग्रम्**=वाणी के अग्रभाग में **अनयन्**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में बड़े ध्यानपूर्वक आचार्य-मुख से वेदवाणी को सुनते हैं और इसके अध्ययन में अग्रभाग (First division) में स्थित होते हैं। अब ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ में आने पर **ये**=जो **वा**=निश्चय से **मनसा ऋतानि अवदन्**=मन से ऋत को ही बोलते हैं—जो कभी अनृतभाषण की बात मन में नहीं आने देते। २. ये व्यक्ति **तृतीयेन**=जीवनयात्रा के तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) में **ब्रह्मणा वावृधानाः**=ज्ञान से—वेदज्ञान से खूब ही बढ़ते हैं, अर्थात् **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** स्वाध्याय में नित्य लगे हुए ये लोग ज्ञानवृद्ध बनते हैं तथा **तुरीयेण**=चौथे आश्रम में, अर्थात् संन्यस्त होकर **धेनोः**=सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले कामधेनुरूप प्रभु के **नाम अमन्वत**=नाम का मनन करते हैं।

भावार्थ—हम अथर्वा तभी बनेंगे यदि १. प्रथमाश्रम में ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हुए ज्ञान के दृष्टिकोण से अग्रभाग में स्थित होगें, २. यदि द्वितीयाश्रम में कभी झूठ बोलने का स्वप्न भी न लेंगे, ३. तृतीय में वेद ज्ञान में निरन्तर बढ़ते हुए, ४ तुरीय में प्रभुनामस्मरण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

सच्चा पुत्र

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत्स भुवत्पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्व१ः स इदं विश्वमभवत्स आभवत्॥ २॥

१. **सः पुत्रः**=गतमन्त्र में जिस अथर्वा की जीवनयात्रा का चित्रण किया है, वह सच्चा पुत्र (पुनाति त्रायते)—अपने जीवन को पवित्र व रक्षित करनेवाला **पितरं वेद**=अपने पिता प्रभु को जाननेवाला होता है। **सः मातरं वेद**=वह अपनी इस मातृभूत वेदवाणी को जानता है। **सः सूनुः भुवत्**=वह अपने माता-पिता का सच्चा पुत्र होता है। **पुनः**=फिर **सः**=वह **मघः भुवत्**=ऐश्वर्य का पुञ्ज बनता है अथवा **'मघ इति मखनाम'** वह यज्ञशील होता है। २. **सः**=वह **द्याम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **और्णोत्**=आच्छादित करता है—उसे लोभ के आक्रमण से विनष्ट नहीं

होने देता। **अन्तरिक्षम्**=वह हृदयान्तरिक्ष को आच्छादित करता है—उसे क्रोध के आक्रमण से बचाता है। परिणामतः वह **स्वः**=सुख को प्राप्त होता है। (स्वर्गं व्याप्नोति—सा०)। **सः**=वह लोभ, क्रोध आदि से ऊपर उठकर **इदं विश्वम् अभवत्**=यह सम्पूर्ण विश्व हो जाता है—**'वसुधैव कुटुम्बकम्'** पृथिवी को ही अपना परिवार जानता है। **सः आभवत्**=अन्ततः मुक्त होकर **सर्वतः**=ब्रह्म के साथ (आ) विचरता है, ब्रह्म के साथ होता है।

भावार्थ—हम पिता प्रभु व माता वेद को जानें। हम माता-पिता के सच्चे पुत्र बनकर यज्ञशील हों। मस्तिष्क में लोभ न आने दें, हृदय में क्रोध से दूर रहें। इसप्रकार सुख का व्यापन करें। वसुधा को ही परिवार जानें। मुक्त होकर सर्वत्र प्रभु के साथ विचरें।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अथर्वाणं यज्ञम्

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ १॥

१. **अथर्वाणं इमम्** (अथर्वा वै प्रजापतिः। गो० ब्रा० १.२.१.६)=न डाँवाडोल होनेवाले—स्थिर—इस प्रभु को **यः**=जो **मनसा चिकेत**=मनन के द्वारा जानता है, वह तू **नः प्रवोचः**=हमें उस ब्रह्म का उपदेश कर। **तम्**=उस प्रभु को **इह इह ब्रवः**=यहाँ—इस जन्म में ही और इस जन्म में ही उपदिष्ट कर। चूँकि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'** इस जन्म में ही प्रभु को जान लिया तभी कल्याण है, अन्यथा कल्याण सम्भव नहीं। २. उस प्रभु को उपदिष्ट कर जो **पितरम्**=सबका रक्षण करनेवाला है, **देवबन्धुम्**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों को अपने साथ बाँधनेवाला है, **मातुः गर्भम्**=इस मातृभूत पृथिवी के अन्दर व्यापक है, **पितुः असुम्**=इस द्युलोकरूप पिता की प्राणशक्ति है—द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों में प्राणशक्ति को स्थापित करनेवाला है, **युवानम्**=सदा युवा है, अजरामर है, अथवा (यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को पृथक् करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है, **यज्ञम्**=पूजनीय संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय है।

भावार्थ—ब्रह्म का ज्ञाता पुरुष हमें इसी जन्म में ब्रह्म का उपदेश दे। उपनिषद् के शब्दों में कल्याण इसी बात में है कि हम शरीर-विसर्जन से पूर्व ही प्रभु को जान लें (**इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्त्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते**)।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विष्ठाः—घृणिः

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्व मैरयत॥ १॥

१. **विष्ठा** (विष्ठाः)=विशेषरूप से सर्वत्र स्थितिवाले वे प्रभु **अया**=इस प्रकृति के द्वारा **कर्वराणि जनयन्**=सब कर्मों को प्रादुर्भूत कर रहे हैं। सब क्रियाएँ प्रकृति में ही होती हैं, इन क्रियाओं को प्रभु प्रादुर्भूत करते हैं। **सः हि घृणिः**=वे प्रभु ही प्रकाशमान व दीप्त हैं। **उरुः**=विशाल हैं, **वराय गातुः**=वरणीय कर्मफल के लिए प्रभु ही मार्ग हैं, अर्थात् यदि हम सब प्रभु के निर्देश के अनुसार चलेंगे तो वरणीय उत्तम फलों को प्राप्त करेंगे। २. **सः**=वे प्रभु ही

धरुणम्=सबका धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वेदज्ञान के सार को **प्रत्युदैत्**=(**अन्तर्भावितण्यर्थः**)=स्तोताओं के लिए प्रकाशित करते हैं, और **स्वया तन्वा**=अपने विराडात्मक शरीर से **तन्वम्**=समस्त प्राणिशरीरों को **ऐरयत**=प्रेरित करते हैं—प्रभु विराट् पिण्ड से सब प्राणिशरीरों को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र व्याप्त व दीप्त प्रभु विराट्पिण्ड से सब प्राणियों के शरीरों का निर्माण करते हैं, वे हमें धारणात्मक वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। यदि हम वेद के निर्देश के अनुसार चलते हैं तो वरणीय फलों को प्राप्त करते हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तेतीस बड़वाओं का विमोचन

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥ १॥

१. हे **वायो**=आत्मन्! (**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्**)! तू इस शरीर में **सुहुते**=जिसमें चारों ओर प्रभु के उत्तम दान विद्यमान हैं, **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ११ पृथिवीस्थ देवताओं के अंशों से, **द्वाभ्यां विंशत्या च**=दो और बीस, अर्थात् पृथिवीस्थ और अन्तरिक्षस्थ बाईस देवांशों से **तिसृभिः च त्रिंशता च**=तीन और तीस, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ देवताओं से (**ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ ये पृथिव्यामेकादशस्थ ये दिव्येकादशस्थ०**) जो इस शरीररथ की **वियुग्भिः**=(विशेषेण युज्यन्ते रथे) बड़वाएँ हैं, उनसे **वहसे**=इस शरीर-रथ का मार्ग पर वहन करता है। २. तू इसप्रकार इनके द्वारा रथ का वहन कर कि यात्रा को पूर्ण करके **ताः**=उन्हें **इह**=यहाँ ही **विमुञ्च**=खोल देवे। जीवन-यात्रा को पूर्ण कर लेने से उनकी आवश्यकता ही न रह जाए। प्रभु शरीर-रथ को इस यात्रा की पूर्ति के लिए ही तो देते हैं, और इसमें सब देवांशों का स्थापन करते हैं '**सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते**'। ये देवांश इस शरीर-रथ के घोड़े हैं। यात्रा पूर्ण हुई और ये अनावश्यक हो गये। यही इनका खोल देना है, यही मुक्ति है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में सर्वत्र प्रभु के अद्भुत दान विद्यमान हैं। इस शरीर-रथ में प्रभु ने तेतीस देवताओं के अंशों को घोड़ियों के रूप में जोता है। इस यात्रा को पूर्ण करके हम इसी जीवन में इन्हें खोलनेवाले बनें।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवपूजा-संगतिकरण-दान

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १॥

१. प्रभु यज्ञरूप हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं (यज दाने)। इस **यज्ञम्**=सर्वप्रद पूजनीय प्रभु को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यज्ञेन**=यज्ञ से **अयजन्त**=पूजते हैं। यज्ञरूप प्रभु का पूजन यज्ञ के द्वारा ही होता है। 'यज्ञ' में तीन बातें हैं '**यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु**' (क) एक तो बड़ों का आदर करना (ख) दूसरे, परस्पर मिलकर चलना (संगतिकरण) तथा (ग) कुछ-न-कुछ देना। **तानि**=वे 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' ही **प्रथमानि धर्माणि आसन्**=मुख्य

(सर्वश्रेष्ठ) धर्म थे। २. इन यज्ञों द्वारा **महिमानः** (मह पूजायाम्)=प्रभु का पूजन करनेवाले **ते**=वे देव **ह**=निश्चय से **नाकम्**=मोक्षलोक को **सचन्त**=प्राप्त होते हैं, **यत्र**=जिस मोक्ष में **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले—नीरोग व निर्मल लोग, **साध्याः**=साधना की प्रवृत्तिवाले लोग अथवा परहित साधन में प्रवृत्त व्यक्ति तथा **देवाः**=देववृत्तिवाले पुरुष **सन्ति**=होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा प्रभुपूजन करते हुए हम मोक्ष प्राप्त करें। नीरोग, निर्मल, परहितसाधन में प्रवृत्त देवों का ही मोक्ष में निवास होता है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञः बभूव, स आबभूव

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु॥ २॥

१. **यज्ञो बभूव**=वह पूजनीय प्रभु सदा से है, **स आ बभूव**=वह सर्वत्र—चारों ओर विद्यमान है, **सः प्रजज्ञे**=वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रादुर्भूत करता है, **सः उ वावृधे पुनः**=फिर वही इस ब्रह्माण्ड का वर्धन करता है। २. **सः**=वे प्रभु ही **देवानाम् अधिपतिः बभूव**=सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि सब देवों के अधिपति हैं। **सः**=वे प्रभु ही **अस्मासु**=हममें **द्रविणम् आदधातु**=धन का धारण करें। प्रभु यज्ञ हैं—देनेवाले हैं। वे हमें जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन दें।

भावार्थ—वे यज्ञरूप प्रभु सदा से हैं—सर्वत्र हैं। वे इस संसार को प्रादुर्भूत करते हैं, प्रलयानन्तर फिर इसका वर्धन करते हैं। वे सब देवों के स्वामी हैं, हमारे लिए भी आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रभु का उपासन व तत्त्वदर्शन

यद्देवा देवान्हविषायजन्तामर्त्यान्मनसामर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्यो ऽमन्पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥ ३॥

१. **यत्**=जब **देवाः** (आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति)=आत्मज्ञान से दीप्त होनेवाले देव **अमर्त्येन मनसा**=(मर्त्यशब्देन क्षयिष्णवो बाह्यविषया उच्यन्ते) विनाशिविषयों में अनासक्त मन के साथ **अमर्त्यान् देवान्**=(देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो देवाः, तासां विषयेषु सातत्येन प्रवर्तनादमर्त्यत्वाभिधानमथवा तत्त्वविद्योदयपर्यन्तमिन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविनश्वरत्वम्) अमर्त्य इन्द्रियों को **हविषा**=हवि के द्वारा त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **अयजन्त**=प्रभु के साथ संगत करते हैं। हम भी **तत्र**=उस सर्वजगदधिष्ठान व अधिष्ठानान्तरशून्य अतएव **परमे**=परम-स्वमहिमप्रतिष्ठव्योमनि—व्योमवत् असंग, सर्वगत, चिदानन्दलक्षण प्रभु में **मदेम**=आनन्द का अभुभव करें और **सूर्यस्य**=सुष्ठु प्रेरक उस प्रभु के **उदितौ**=उदित होने पर—साक्षात्कार होने पर **तत्**=उस प्रकाशमान तत्त्व को **पश्येम**=स्वात्मतया अनुभव करें।

भावार्थ—देव हवि के द्वारा मन के साथ इन्द्रियों को प्रभु के साथ जोड़ते हैं। हम भी उस परम व सर्वव्यापक प्रभु में आनन्द का अनुभव करें और उस प्रभु के हृदय में उदित होने पर तत्त्व के द्रष्टा बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरुषमेध

यत्पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे॥ ४॥

१. **यत्**=यह जो **पुरुषेण हविषा**=पुरुषरूप हवि के द्वारा, अर्थात् प्राजापत्य यज्ञ में अपनी ही आहुति दे देने के द्वारा **देवाः**=देवजन **यज्ञं अतन्वत**=यज्ञ का विस्तार करते हैं तो **अस्ति नु तस्माद् ओजीयः**=उससे भी अधिक शक्तिशाली क्या कोई यज्ञ हो सकता है? **यत्**=जो **विहव्येन**=विशिष्ट हव्य के द्वारा—पुरुषरूप हवि के द्वारा **ईजिरे**=उस प्रभु की उपासना करते हैं। २. वस्तुतः **'सर्वभूतहिते रतः'** सब प्राणियों के हित में लगे हुए पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। यही पुरुषमेध यज्ञ है। इससे उत्तम हव्य और कोई हो ही क्या सकता है? यही **'विहव्येन यजन'** है, यही ओजस्वितम है।

भावार्थ—हम अपने को ही प्राजापत्य यज्ञ की आहुति बनाएँ, अर्थात् लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें। यही प्रभु का ओजस्वितम पूजन है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुना-गोरंगैः (प्राणायाम+स्वाध्याय)

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

१. **मुग्धाः**=सरल व निर्दोष (Simple, innocent) **देवाः**=देव **उत**=निश्चय से **शुना**=(शिव गतिवृद्ध्योः) गतिशील प्राण के द्वारा **अयजन्त**=उस प्रभु का उपासन करते हैं। प्राणायाम के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध से प्रभु में मन को लगाते हैं। **उत**=और **गोरङ्गैः**=ज्ञान की वाणी (वेदधेनु) के अंगों से (अगि गतौ)—ज्ञानों से **पुरुधा अयजन्त**=उस प्रभु का खूब ही यजन करते हैं। प्रभु के उपासन के लिए ये 'प्राणायाम व स्वाध्याय' को साधन बनाते हैं। २. इन देवों में से **यः**=जो भी **इमं यज्ञम्**=इस उपासनीय परमात्मा को **मनसा चिकेत**=मन से जानता है, हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, वह तू **नः प्रवोचः**=हमारे लिए भी इस ब्रह्म का उपदेश कर। **तम्**=उस प्रभु को **इह इह ब्रवः**=यहाँ—इसी जीवन में और इस जीवन में ही हमारे लिए उपदिष्ट कर।

भावार्थ—**'सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्'** कुटिलता मृत्यु का मार्ग है और सरलता प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। हम सरल बनकर प्राणायाम व स्वाध्याय द्वारा प्रभु को जानें,मन में—हृदय में प्रभु का दर्शन करें। अन्य लोगों को भी प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का उपदेश करें।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अदिति की विभूति का वर्णन

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

१. ('अदितिः' इति पृथिवीनाम नि० १.१, **'इयं पृथिवी वै देव्यदितिः'** तै० १.४.३.१) **अदितिः**=यह अदीना व अखण्डनीया पृथिवी ही **द्यौः**=द्योतनशील स्वर्ग है। **अदितिः अन्तरिक्षम्**=यह अदिति ही हमारे लिए विशाल अवकाश को प्राप्त करानेवाली है। **अदितिः माता**=यह पृथिवी ही हमारी माता है। **सः पिता सः पुत्रः**=वही पिता व पुत्र है। यह हमारा निर्माण करती है (माता), रक्षण करती है (पिता), हमें पवित्र व रक्षित करती है (पुनाति त्रायते)। २. **अदितिः विश्वेदेवाः**=यह अदिति ही सब देव हैं, सब देवों का निवास-स्थान है। **पञ्च जनाः अदितिः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' रूप में विभक्त यह प्रजा अदिति

ही है। **जातम् अदितिः**=जो उत्पन्न हो चुके हैं वे भी अदिति ही हैं, **जनित्वम् अदितिः**= जो उत्पत्स्यमान (उत्पन्न होनेवाले) हैं, वे सब भी अदिति ही हैं। इसप्रकार यहाँ मन्त्र में अदिति की विभूति का वर्णन हुआ है। (इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे—नि० ४। २३)

भावार्थ—पृथिवी 'अदिति' है। यही द्युलोक है, अन्तरिक्ष है, माता-पिता व पुत्र है। अदिति ही विश्वेदेव, पञ्चजन, जात व जनित्व है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

तुविक्षत्रा-सुप्रणीति

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥ २॥

१. इस **महीम्**=महती व महनीया, **सुव्रतानां मातरम्**=शोभनकर्मा पुरुषों की मातृस्थानीया, **ऋतस्य पत्नीम्**=सत्य व यज्ञ की पालयित्री, उ=और **तुविक्षत्राम्**=बहुत बल व धनवाली, **अजरन्तीम्**=क्षीण न करनेवाली, **उरूचीम्**=बहुत दूर तक गई हुई, विशाल, **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख देनेवाली, **सुप्रणीतिम्**=सुख से कर्मों का प्रणयन करनेवाली **अदितिम्**=अखण्डनीया व अन्नों को देनेवाली (अद्) इस पृथिवी को **अवसे**=रक्षण के लिए **सुहवामहे**=उत्तमता से पुकारते हैं।

भावार्थ—यह भूमिमाता यज्ञों का पालन करनेवाली व हमें क्षीण न होने देनेवाली हैं। उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाली व सम्यक् कर्मों का प्रणयन करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

दैवीं नावम्

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसो अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥ ३॥

१. **सुत्रामाणम्=(सुष्ठु त्रायमाणा)**=सम्यक् रक्षा करनेवाली, **पृथिवीम्**=विस्तीर्णा, **द्याम्**=द्योतमान व अभिगन्तव्य, **अनेहसम्**=निष्पाप—जहाँ पर पापी मनुष्यों का वास नहीं है, **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख देनेवाली, **अदितिम्**=अखण्डनीया, **सुप्रणीतिम्**=सुख से उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाली, **देवीम् नावम्**=जो देव (प्रभु) को प्राप्त करानेवाली नौका ही है, वह नौका जोकि **सु अरित्राम्**=उत्तम चप्पुओंवाली व **अस्रवन्तीम्**=न चूनेवाली है, ऐसी उस पृथिवीरूप नाव पर हम **अनागसः**=निष्पाप जीवनवाले होते हुए, **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **आरुहेम**=आरूढ़ हों।

भावार्थ—यह पृथिवी हमारे लिए एक दैवी नौका बने। यह हमें विषयसागर में निमग्न न करके, भवसागर से पार करनेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

त्रिवरूथं शर्म

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात्॥ ४॥

१. **वाजस्य प्रसवे**=अन्न की उत्पत्ति के निमित्त नु=अब **मातरम्**=इस अन्न की निर्मात्री महती **अदितिं नाम**=अदीना व अखण्डनीया इस नामवाली **महीम्**=पृथिवी को **वचसा करामहे**=वेदनिर्देश के अनुसार जोतते और बोते हैं, अर्थात् इसे कृष्ट करके अन्न उत्पादन के लिए यत्नशील होते हैं। २. **यस्याः उपस्थे**=जिस अदिति की गोद में उरु **अन्तरक्षिम्**=विशाल अवकाश है, **सा**=वह अदिति **नः**=हमारे लिए **त्रिवरूथम्**=(वरूथं-Wealth) तीनों धनोंवाला

'शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि के वैशद्य'वाला **शर्म**=सुख **नियच्छात्**=दे।

भावार्थ—इस पृथिवी को कृष्ट करके हम अन्नोत्पादन करें। इसकी विशाल गोद में हमें 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व बुद्धि-वैशद्य' का सुख प्राप्त हो।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥

आदित्यों का स्थान, दैत्यों के ऊपर

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥ १॥

१. दिति के पुत्र दैत्य हैं, अदिति के आदित्य। **दिति**=खण्डन—तोड़-फोड़ करनेवाले दैत्य हैं, खण्डन न करनेवाले, निर्माता 'आदित्य' व देव हैं। **दितेः पुत्राणां धाम**=दैत्यों के तेज को **अदितेः**=अदिति के पुत्रों **देवानाम्**=देवों के तेज से **अव अकारिषम्**=नीचे करता हूँ। देव वे हैं जोकि **बृहताम्**=बड़े व विशाल हृदय हैं, तथा **अनर्मणाम्**=(अर्मन्—चक्षुरोग) चक्षुरोग से रहित हैं, अर्थात् जिनका दृष्टिकोण ठीक है। २. **तेषाम्**=उन देवों का **धाम**=तेज **हि**=निश्चय से **गभिषक्**=गम्भीर है, **समुद्रियम्**=(समुद्र इव गाम्भीर्ये) समुद्र के समान गम्भीर है, शत्रुओं से प्रवेश न करने योग्य व दुर्जय है। **नमसा**=प्रभु के प्रति नमन के दृष्टिकोण से **एनान् परः कश्चन न अस्ति**=इनसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। ये प्रभु के प्रति नमन में सर्वाग्रणी हैं। प्रभु के प्रति नमन ही इनकी गम्भीर शक्ति का कारण है।

भावार्थ—आदित्यों का तेज दैत्यों के तेज से ऊपर है। इन विशालहृदय, सम्यक् दृष्टिवाले देवों का तेज गम्भीर है, शत्रुओं से दुर्जय है। ये देव प्रभु के प्रति सर्वाधिक नमनवाले हैं, इसी से सर्वोत्कृष्ट शक्तिवाले हैं।

आदित्यों का स्थान दैत्यों से ऊपर है, अतः ये उपरिबभ्रु हैं। अगले दो सूक्तों के ऋषि 'उपरिबभ्रवः' ही हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपरिबभ्रु

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्॥ १॥

१. हे पुरुष! तू **भद्रात् अधि**=(अधि पञ्चम्यर्थानुवादी) एक मंगल से **श्रेयः**=उत्कृष्ट मंगल को **प्रेहि**=प्राप्त हो। उत्तरोत्तर तेरे मंगल की वृद्धि हो। इस संसार-यात्रा में **बृहस्पतिः**=वह ब्रह्मणस्पति प्रभु **ते पुरः एता अस्तु**=तेरा अग्रगामी (मार्गदर्शक) हो। प्रभुस्मरणपूर्वक तू अधिकाधिक मंगलकार्यों को करनेवाला बन। २. **अथ**=अब हे प्रभो! (उत्तरार्धे बृहस्पतिः सम्बोध्यते—सा०) बृहस्पते! आप **इमम्**=इस पुरुष को **अस्याः पृथिव्याः वरे**=दूर चले गये हैं शत्रु जिसके, ऐसा तथा **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाला **कृणुहि**=कीजिए।

भावार्थ—अपने को ऊपर और ऊपर ले-जानेवाला यह 'उपरिबभ्रु' एक से दूसरे कल्याण कर्म को प्राप्त हो। प्रभु इसके मार्गदर्शक हों, इसे इस पृथिवी पर उत्कृष्ट स्थान में स्थापित करके शत्रुरहित व वीर सन्तानोंवाला बनाएँ।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—उपरिबभ्रवः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पूषा

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

१. **पूषा**=पोषक प्रभु (मार्गदर्शक देव) **पथाम् प्रपथे अजनिष्ट**=(प्रक्रान्त:पन्थाः प्रपथः) मार्गों के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत होता है। प्रभु ही प्रत्येक मार्ग का रक्षण कर रहे हैं। वह पूषा ही **दिवः प्रपथे**=द्युलोक के प्रवेशद्वार पर और **पृथिव्याः प्रपथे**=पृथिवी के प्रवेशद्वार पर रक्षक के रूप में विद्यमान है। २. वह पूषा प्रभु **उभे**=दोनों **प्रियतमे**=अतिशयेन प्रीतिवाले **सधस्थे**=परस्पर मिलकर रहनेवाले (द्यौ पिता, पृथिवी माता) सब प्राणियों के माता व पितारूप द्यावापृथिवी को **अभि**=लक्ष्य करके **प्रजानन्**=प्राणियों से किये गये कर्मों व उन कर्मों के फलों को जानता हुआ **आ च परा च चरति**=द्युलोक से पृथिवीलोक में और पृथिवी से द्युलोक में सर्वत्र विचरते हैं। दोनों लोकों में विचरते हुए वे प्रभु सर्वप्राणिकृत कर्मों के साक्षी हैं।

भावार्थ—'**उपरिबभ्रु**'=उन्नति पथ का उपासक प्रभु को सब मार्गों के रक्षक के रूप में देखता है। वह प्रभु को द्युलोक से पृथिवीलोक तक सर्वत्र विचरता हुआ व सब प्राणियों के कर्मों का साक्षी होता हुआ अनुभव करता है।

ऋषिः—उपरिबभ्रवः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मार्गदर्शक प्रभु

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् ।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

१. **पूषा**=वह पोषक देव **इमाः सर्वाः आशाः अनुवेद**=इन सब दिशाओं को अनुक्रम से जानता है। **सः**=वह पूषा **अस्मान्**=हमें **अभयतमेन नेषत्**=अत्यन्त भयरहित मार्ग से ले-चले। २. **स्वस्तिदाः**=वे पूषा कल्याण के देनेवाले हैं, **आघृणिः**=सर्वतो दीप्त व व्याप्त दीप्तिवाले हैं। **सर्ववीरः**=सब वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले हैं। **प्रजानन्**=प्रकर्षेण सब मार्गों को जानते हुए वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**=सदैव कर्मशील होते हुए **पुरः एतु**=हमारे मार्गदर्शक—अग्रगामी हों।

भावार्थ—पूषा प्रभु सब दिशाओं को जाननेवाले हैं, वे हमें अभयतम मार्ग से ले-चलें। वे सर्वतो दीप्त कल्याण करनेवाले प्रभु हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराएँ और हमारे मार्गदर्शक हों।

ऋषिः—उपरिबभ्रवः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री ॥

तव व्रते

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन । स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ३ ॥

१. हे **पूषन्**=पोषकदेव! **तव व्रते**=आपसे उपदिष्ट कर्मों में—आपकी प्राप्ति के साधनभूत यागादि कर्मों में वर्त्तमान **वयम्**=हम **कदाचन न रिष्येम**=कभी हिंसित न हों, पुत्रों, मित्रों व धनादि से वियुक्त होकर दुःखी न हों। २. **इह**=इस जीवन में **ते स्तोतारः स्मसि**=आपके स्तोता बनें, सदा आपका स्मरण करते हुए उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त रहें, मार्गभ्रष्ट न हों।

भावार्थ—हे पूषन् प्रभो! हम आपका स्मरण करते हुए, आपकी प्राप्ति के साधनभूत, आपसे उपदिष्ट कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—उपरिबभ्रवः ॥ देवता—पूषा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दक्षिण हाथ

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

१. **पूषा**=यह पोषक प्रभु **परस्तात्**=अति दूर देश से भी धन के आदान के लिए हमें **दक्षिणं हस्तं दधातु**=कार्यकुशल हाथ प्राप्त कराएँ। हमें इसप्रकार शक्ति दें कि हम दूर-से-दूर देशों से भी धनार्जन करने में समर्थ हों। २. **नः**=हमें **नष्टम्**=नष्ट हुआ धन **पुनः आजतु**=पुनः प्राप्त हो और **नष्टेन**=उस नष्ट धन से हम **संगमेमहि**=फिर से संगत हो पाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें कार्यकुशल हाथ प्राप्त हों और हम नष्ट धनों को भी पुनः प्राप्त कर सकें।

कुशलता से कार्य करता हुआ यह व्यक्ति 'शौनक' बनता है (शुनम् इति सुखनाम) सुखी जीवनवाला होता है। यह शौनक ही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—शौनकः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सरस्वती की आराधना

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

१. हे सरस्वति! **यः**=जो **ते स्तनः**=तुझ वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन—तेरे स्तन से प्राप्त ज्ञानदुग्ध **शशयुः**=(शशयानः अर्चतिकर्मा—नि० ३।१४ शशमानः शंसमानः=निरुक्त ६।८) उस प्रभु के गुणों का शंसन करनेवाला है, **यः मयोभूः**=जो कल्याण का सम्पादक है, **यः सुम्नयुः**=सबके सुख की इच्छा करनेवाला है, **सुहवः**=प्रार्थनीय है, **यः सुदत्रः**=जो कल्याणदान व सुधन है। २. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवि! **येन**=जिस स्तन से तू **विश्वा वार्याणि पुष्यसि**=सब वरणीय धनों का पोषण करती है **तम्**=उस स्तन को **इह**=यहाँ—इस जीवन में **धातवे कः**=हमारे पीने के लिए कर, हम तेरे स्तन से ज्ञानदुग्ध का पान करके वास्तविक सुख पानेवाले 'शौनक' बन पाएँ।

भावार्थ—वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन उस ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराता है जो प्रभु का शंसन करनेवाला व हमारा कल्याण करनेवाला है। यह सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—शौनकः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पर्जन्य

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

१. **देव**=हे द्योतनशील पर्जन्य! **ते**=तेरा **यः**=जो **पृथुः**=विस्तीर्ण **स्तनयित्नु**=गर्जनरूप शब्द करता हुआ अशनि=विद्युत् है, **यः ऋष्वः**=जो (ऋत् गतौ to go अथवा to kill) इधर-उधर गतिवाला व संहार करनेवाला है, वह **दैवः केतुः**=देव प्रभु की महिमा का प्रज्ञापक है, **इदं विश्वं आभूषति**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है, विद्युत् की सत्ता सर्वत्र है। २. हे देव! उस **विद्युता**=अशनि से **नः**=हमारे **सस्यं**=अन्न को **मा वधीः**=मत नष्ट कर **उत**=और **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की सन्तापकर किरणों में **मा वधीः**=हमारे अन्न को शुष्क मत होने दे।

भावार्थ—हमारे खेतों में बोये हुए शालि आदि धान्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि से नष्ट न

हो जाएँ। विद्युत्-पतन व सूर्यसन्ताप उन्हें नष्ट करके हमारे विनाश का कारण न बनें।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—शौनकः ॥ देवता—सभा, समितिः, पितरश्च ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

उत्तम शासन

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ १ ॥

१. सुख-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारे जीवन ज्ञान-प्रधान हों (७।१०।१) तथा प्रभुकृपा से अतिवृष्टि व अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्तियों से हम बचे रहें (७।११।१) इनके साथ 'शासन-व्यवस्था का उत्तम होना' नितान्त आवश्यक है। उसी का उल्लेख प्रस्तुत सूक्त में है। **सभा च मा समितिः च मा**=राजा कहता है कि सभा और समिति मेरा **अवताम्**=रक्षण करें। विद्वानों का समाज 'सभा' है, सांग्रामीण जनसभा 'समिति' है। ये दोनों **प्रजापतेः दुहितरौ**=प्रजापति की दुहिताएँ हैं, उसकी प्रपूरिका हैं (दुह प्रपूरणे)। शासन कार्य में उसके लिए सहायक होती हैं। ये दोनों **संविदाने**=प्रजारक्षण के विषय में ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई राजा का रक्षण करें। २. राजा सभा व समिति के सदस्यों से कहता है कि **येन संगच्छै**=जिस सदस्य के साथ मैं बातचीत के लिए संगत होऊँ, **सः**=वह विद्वान् **मा उपशिक्षात्**=मुझे समीचीन शिक्षण करनेवाला हो। हे **पितरः**=राष्ट्र के रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुषो! **संगतेषु**=इकट्ठा होने पर सभाओं में मैं **चारुःवदानि**=मधुर ही भाषण करूँ, राजा भी क्रोध से कुछ न बोले।

भावार्थ—विद्वज्जन-समाज (सभा) तथा सांग्रामीण जनसमाज (समिति) राजा की दुहिताएँ हैं। संगतों में सभा व समिति के सदस्यों को चाहिए कि वे अपनी ठीक सम्मति प्रकट करें और राजा इन संगतों में मधुर शब्दों का ही प्रयोग करे।

ऋषिः—शौनकः ॥ देवता—सभा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

नरिष्टा

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ २ ॥

हे **सभे**=सभे! **ते नाम विद्म**=तेरा नाम हम जानते हैं। तू **वा**=निश्चय से **नरिष्टा नाम असि**=(न रिष्टा) 'न हिंसित होनेवाली' इस नामावाली है। प्रजा से चुनी गई इस सभा को राजा अपनी मनमानी से भंग नहीं कर सकता। इसी से तू 'नर् इष्टा' प्रजास्थ लोगों की प्रिय है। **ये के च**=जो कोई भी **ते सभासदः**=तेरे सभासद हैं, **ते**=वे **मे**=मेरे लिए **सवाचसः**=मिलकर वचनवाले, एक सम्मतिवाले **सन्तु**=हों। उनकी सम्मतियाँ परस्पर विरुद्ध होकर मेरी परेशानी का कारण न बनें।

भावार्थ—सभा 'नरिष्टा' है—मनुष्यों की इष्ट है, उन्होंने ही इसके सदस्यों को चुना है। इसी से यह 'नरिष्टा' अहिंसित है, राजा अपनी इच्छा से इसे भंग नहीं कर सकता। सभासदों को चाहिए कि वे विचार करके राजा को एक ही सम्मति दें।

ऋषिः—शौनकः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर्चः विज्ञानम्

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥ ३ ॥

१. राजा (सभापति) कहता है कि **अहम्**=मैं **समासीनानां एषाम्**=सभा में मिलकर बैठे हुए इन सदस्यों की **वर्चः**=तेजस्विता को तथा **विज्ञानम्**=विज्ञान को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। वैदुष्यजनित प्रभावविशेष ही 'वर्चस्' है, वेदशास्त्रार्थविषयक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। २. हे **इन्द्र**=वाणी के अनुशासक इन्द्र! आप **माम्**=मुझे **अस्याः सर्वस्याः संसदः**=इस सारी संसद के **भगिनं**=(भग=ज्ञान) ज्ञानवाला **कृणु**=कीजिए। मैं सारी सभा के विचारों को सुननेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा सभा के सभी सदस्यों के वैदुष्यजनित प्रभावविशेष को जाने तथा वेदशास्त्रार्थ-विषयक ज्ञान से परिचित हो। वह सभा के सभी सभ्यों के विचारों को जाने।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकाग्रता से प्रस्तुत विषय का विचार

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा।
तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः॥ ४॥

१. सभापति कहता है कि हे सभासदो! **यत्**=जो **वः मनः**=आपका मन **परागतम्**=कहीं दूर गया हुआ है। **वा**=या **यत्**=जो आपका मन **इह इह वा**=इस-इस विषय में, अमुक-अमुक विषय में **बद्धम्**=बँधा हुआ है, **वः**=आपके **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=हम सब ओर से लौटाते हैं। हे सभ्यो! **वः मनः**=आपका मन **मयि रमताम्**=मुझमें ही रमण करे, अर्थात् यहाँ प्रस्तुत विषय का ही विचार करनेवाला हो।

भावार्थ—सभा में सब सभ्य एकाग्र होकर प्रस्तुत विषय का ही विचार करें।

एकाग्र होकर चिन्तन करनेवाला, अडाँवाडोल वृत्तिवाला विद्वान् 'अथर्वा' है (न थर्वति)। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उद्यन् सूर्यः (इव)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **नक्षत्राणां तेजांसि आददे**=नक्षत्रों के तेज को हर लेता है, **इव**=इसी प्रकार मैं **स्त्रीणां च पुंसां च**=चाहे स्त्रियाँ हों, चाहे पुरुष; जो भी **द्विषताम्**=शत्रु हैं, उनके **वर्चः**=तेज को—पराजित करने के सामर्थ्य को, **आददे**=अपहृत कर लेता हूँ।

भावार्थ—हम एकाग्र वृत्ति के बनकर 'अथर्वा' बनें। यह एकाग्रता हमें वह तेजस्विता प्राप्त कराएगी जिससे हम सब शत्रुओं के तेज का वैसे ही अभिभव कर पाएँगे, जैसेकि उदय होता हुआ सूर्य नक्षत्रों के तेज का हरण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्योदय से पूर्व जाग जाना

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्यइव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे॥ २॥

१. **सपत्नानाम्**=शत्रुओं में **यावन्तः**=जितने तुम **आयन्तम्**=आक्रमण के लिए आते हुए **मा**=मुझे **प्रतिपश्यथ**=देखते हो, **द्विषताम्**=उन सब प्रतिकूलदर्शी तुम शत्रुओं के **वर्चः**=पराक्रमरूप

तेज को, इसप्रकार **आददे**=अपहृत कर लेता हूँ **इव**=जैसेकि **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **सुप्तानाम्**=सोये हुओं के तेज को छीन लेता है।

भावार्थ—शत्रुओं के तेज को मैं इसप्रकार छीन लूँ, जैसेकि उदय होता हुआ सूर्य सोये हुओं के तेज को छीन लेता है। (अतः सूर्योदय से पूर्व जाग जाना आवश्यक ही है)।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्यसवं रत्नधाम्

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्॥ १॥

१. **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **देवम्**=द्योतनात्मक, प्रकाशस्वरूप **ओण्योः**=(सर्वस्य अवित्र्योः) सबके रक्षक द्यावापृथिवी के **सवितारम्**=उत्पादक प्रभु की **अभि अर्चामि**=प्रातः-सायं पूजा करता हूँ। २. उन प्रभु की पूजा करता हूँ जोकि **कविक्रतुम्**=कवियों, मेधावियों के कर्मोंवाले हैं, **सत्यसवम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं, **रत्नधाम्**=रमणीय धनों के धारण करनेवाले हैं, **अभि-प्रियम्**=आभिमुख्येन सबके प्रीतिकर हैं और अतएव **मतिम्**=सबसे मनन करने के योग्य हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का पूजन करता हूँ। वे प्रभु देव हैं, द्यावापृथिवी के उत्पादक हैं, मेधावी कर्मोंवाले हैं, सत्य के प्रेरक व रत्नों को धारण करनेवाले हैं, प्रीतिकर व मन्तव्य हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमतिः भाः

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात्स्वः॥ २॥

१. **यस्य**=जिसकी **अमतिः** (अमनशीला—व्यापनशीला)=चारों ओर व्याप्त होनेवाली **भाः**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=उत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=सम्पूर्ण विश्व को द्योतित करती है। २. **सवीमनि**=उस प्रभु की अनुज्ञा में ही **हिरण्यपाणिः**=हितरमणीय किरणरूप हाथोंवाला **सुक्रतुः**=उत्तम शक्तिवाला सूर्य **कृपात्**=अपने सामर्थ्य से **स्वः अमिमीत**=प्रकाश का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति से सारा विश्व द्योतित होता है। प्रभु की अनुज्ञा में ही सूर्य प्रकाश का निर्माण करता है। यह सूर्य किरणरूप हाथों में सब प्राणदायी तत्त्वों को लिये हुए हम सबका हित करने में प्रवृत्त है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥ ३॥

१. हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आपने ही **प्रथमाय**=सबसे प्रथम होनेवाली **पित्रे**=आनेवाली सन्तानों के पिता के लिए **सावीः**=सब-कुछ प्रेरित किया है। **अस्मै वर्ष्माणम्**=इसके लिए देह को, तथा **अस्मै**=इसके लिए **वरिमाणम्**=पुत्र-पौत्रादि लक्षणयुक्त उरुत्व (विस्तार) को आपने ही प्राप्त कराया है। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के कुछ मानसपुत्र होते हैं (यद्भावा मानसा जाताः) इन्हें प्रभु ही शरीर प्राप्त कराते हैं, और सन्तानों को जन्म देने की शक्ति भी प्राप्त कराते हैं (एषां लोक इमाः प्रजाः)। २. **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए

हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **वार्याणि**=वरणीय वस्तुओं को तथा **भूरि पश्वः**=भरण के साधनभूत बहुत पशुओं को **दिवःदिवः**=प्रतिदिन **आसुव**=प्रेरित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम मनुष्य को शरीर व सन्तान-जनन शक्ति प्रदान कराते हैं। वर्त्तमान में भी ये प्रभु हमें सदा वरणीय वस्तुओं व भरण के साधनभूत बहुत पशुओं को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दानं, दक्षं, आयूंषि

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।
पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥ ४॥

१. **दमूनाः**=(दानमनाः—नि०) सब अभिलषित पदार्थों को देनेवाला, **देवः**=प्रकाशमय, **सविता**= उत्पादक व प्रेरक, **वरेण्यः**=वरण करने योग्य प्रभु **पितृभ्यः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के लिए **रत्नम्**=रमणीय धनों को, **दक्षम्**=बल को तथा **आयूंषि**=दीर्घजीवन को **दधत्**=धारण करता है। २. **अस्य धर्मणि**=इस प्रभु के निर्दिष्ट धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त जीव **सोमं पिबात्**= सोम का शरीर में ही पान करता है, सोम का रक्षण करता है। यह रक्षित सोम **एनं ममदत्**=इसे आनन्दित करता है। यह सोमरक्षक पुरुष **इष्टे**=यज्ञों में **परिज्मा चित्**=परितः गन्ता होता हुआ, यज्ञमय जीवनवाला बनता हुआ **एनं क्रमते**=इस प्रभु को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु 'दमूना, देव, सविता, वरेण्य' हैं, वे रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के लिए 'रमणीय धन, बल व दीर्घजीवन' प्राप्त कराते हैं। प्रभु-निर्दिष्ट धर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति (क) सोमरक्षण करता है, यह रक्षित सोम इसे आनन्दित करता है, (ख) यज्ञों में विचरण करता हुआ यह व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है।

प्रभु-निर्दिष्ट धर्मों में दृढता से चलता हुआ यह सोमरक्षण व यज्ञशीलता से अपने जीवन का उत्तम परिपाक करता है, अतः 'भृगु' कहलाता है। अगले तीन सूक्तों का ऋषि भृगु ही है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्यसवां सुचित्रां सहस्रधारां 'सुमतिम्' (वृणे, दुहे)

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥ १॥

१. **सवितः**=हे सबके प्रेरक प्रभो! आपकी **ताम्**=उस **सत्यसवाम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाली, **सुचित्राम्**= सुष्ठु पूजनीय व द्रष्टव्य (उत्तम ज्ञान देनेवाली) **विश्ववाराम्**=सबसे वरण के योग्य **सुमतिम्**=शोभन बुद्धि को **अहं आवृणे**=मैं आभिमुख्येन वरता हूँ—प्रार्थित करता हूँ। २. मैं चाहता हूँ **अस्य**=इस सविता की उस सुमति को **याम्**=जिस **सहस्रधाराम्**=सहस्रों प्रकार से धारण करने व सहस्रों धाराओंवाली, **प्रपीनाम्**=प्रकृष्ट आप्यायन-(वर्धन)-वाली बुद्धि को **कण्वः**=मेधावी **महिषः**=प्रभुपूजाप्रवृत्त उपासक **भगाय**=ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए **अदुहत्**=अपने में प्रपूरित करता है।

भावार्थ—हम मेधावी व प्रभु के उपासक बनकर उस प्रेरक प्रभु की सुमति का अपने में प्रपूरण करें। यही हमें सत्य की प्रेरणा देगी, हममें ज्ञान का वर्धन करेगी, हमारा धारण व वर्धन करेगी। ऐसा होने पर ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वर्धय, ज्योतय

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय।
संशितं चित्सन्तरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

१. हे **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभो! **एनम्**=इस अपने उपासक को **वर्धय**=आप बढ़ाइए। **एनम्**=उसे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए **ज्योतय**=ज्योतिर्मय जीवनवाला कीजिए। २. **संशितं चित्**=खूब तीव्र बुद्धिवाले इसे **सन्तरम्**=सम्यक् **संशिशाधि**=तीव्र बुद्धिवाला कीजिए। **विश्वेदेवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देव **एनं अनुमदन्तु**=इसे देखकर प्रसन्न हों, 'इसका जीवन अच्छा बना है', ऐसा ही कहें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का वर्धन हो, ज्ञानज्योतियों का दीपन हो और महान् सौभाग्य प्राप्त हो। हमारी बुद्धि को प्रभु खूब ही तीव्र करें। सब देव यही कहें कि 'इसका जीवन अच्छा बना है'।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री ॥

रयि

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः। स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

१. **धाता**=विश्व का धारक देव **नः**=हमारे लिए **रयिं दधातु**=धन को धारण करे। वे प्रभु **ईशानः**=सर्वार्थसाधन समर्थ हैं, **जगतस्पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। **सः**=वे **नः**=हमें **पूर्णेन**=आप्यायित, समृद्ध, धन से **यच्छतु**=(नियच्छतु) युक्त करें (योजयतु)।

भावार्थ—धारक प्रभु की कृपा से हमें वह धन प्राप्त हो जो सब शक्तियों का पूरण करनेवाला बने।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सुमति

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम्।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

१. **धाता**=सबका विधारक देव, **दाशुषे**=हवि देनेवाले यजमान के लिए **प्राचीम्**=प्रकृष्ट गमनवाली, उत्तम मार्ग पर ले-चलनेवाली, **जीवातुम्**=जीवनकारिणी, जीवन की औषधभूत **अक्षिताम्**=अनुपक्षीण, क्षीण न होने देनेवाली सम्पत्ति को **दधातु**=हमारे लिए धारण करे। २. **वयम्**=हम **विश्वराधसः**=सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **धीमहि**=धारण करते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र से यहाँ प्रथम पाद में 'रयिम्' शब्द का अनुवर्तन है। प्रभु हमें सम्पत्ति दें, जोकि हमारी अग्रगति की साधक हों, जीवन की रक्षक हों तथा हमें क्षीण न होने दें। साथ ही हम प्रभु की सुमति का भी धारण करे, ताकि यह सम्पत्ति हमें विलास की ओर न ले-जाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

विश्वा वार्या+अमृतम्

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वेदेवा अदितिः सजोषाः॥ ३॥

१. **धाता**=सबका धारक **देवः**=दिव्यगुणयुक्त, प्रकाशमय प्रभु इस **प्रजाकामाय**=उत्तम सन्तानों की कामनावाले, **दाशुषे**=हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **दुरोणे**=गृह में **विश्वा**=सब **वार्या**=वरणीय वस्तुओं को **दधातु**=धारण करे। सन्तानों के निर्माण के लिए किन्ही आवश्यक साधनों की इसे कमी न रहे। २. **तस्मै**=उस प्रजाकाम दाश्वान् के लिए **देवाः**=वायु, जल आदि देव **अमृतम्**=नीरोगता को **संव्ययन्तु**=संवृत करें, प्राप्त कराएँ (**संवृण्वन्तु**=प्रयच्छन्तु)। **विश्वे**=सब **देवाः**='माता-पिता, आचार्य, अतिथि' आदि देव तथा **अदितिः**=यह अदीना देवमाता वेदवाणी **सजोषाः**=समानरूप से प्रीयमाण होते हुए—प्रसन्न होते हुए इसे अमृतत्व (विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को) प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—घर में हमें आवश्यक साधनों की कमी न हो, हम सन्तानों का उत्तम निर्माण कर सकें। जल, वायु आदि देवों की अनुकूलता हमें नीरोगता प्राप्त कराए तथा माता-पिता, आचार्य आदि का सम्पर्क और वेदाध्ययन हमें विषयासक्ति से बचाये।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञमय जीवन तथा यज्ञ का साधनभूत धन

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु॥ ४॥

१. **धाता**=सबका धारक, **रातिः**=सब कल्याणों का दाता, **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक, **प्रजापतिः**=प्रजाओं का पालक, **निधिपतिः**=वेदज्ञान का रक्षिता (निधीयन्ते पुरुषार्था येषु) **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी **इदं हविः जुषन्ताम्**=इस हवि का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। प्रभुकृपा से हम हविरूप जीवनवाले बनें। २. वह **त्वष्टा**=रूपों का निर्माता **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **प्रजया संरराणः**=हम प्रजाओं के साथ रमण करता हुआ **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **द्रविणम्**=यज्ञ के साधनभूत धन को **दधातु**=धारण करे, दे। परमपिता प्रभु की कृपा से हम प्रजाओं को यज्ञात्मक कर्मों के लिए धन की कमी न रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम यज्ञमय जीवनवाले बनें और इन यज्ञों के लिए हमें आवश्यक धन की कमी न रहे।

इस यज्ञमय जीवन में स्थिरता से चलनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है। यज्ञों से होनेवाली वृष्टि का इसमें प्रतिपादन है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पृथिवी, पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पाद्भुरिगुष्णिक्** ॥

यज्ञमय जीवन व वृष्टि

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम्॥ १॥

१. हे **पृथिवि**=भूमे! तू **प्र नभस्व**=(नभ हिंसायाम्) हल आदि साधनों से अच्छी प्रकार खण्डित हो, और हे **धातः**=धारक प्रभो! आप **ईशानः**=सर्वकर्मसामर्थ्यवाले होते हुए **इदं दिव्यं**

नभः=इस अन्तरिक्षस्थ मेघ को **भिन्द्धि**=विदीर्ण कीजिए और **नः**=हमारे पोषण के लिए **दिव्यस्य उद्नः**=अन्तरिक्षस्थ दिव्यगुणयुक्त जल के **दृतिम्**=बड़े भारी कुप्पेरूप मेघ को **विष्य**=नाना दिशाओं से काट डालिए।

भावार्थ—पृथिवी पर हम सम्यक् हल आदि चलाएँ और अन्तरिक्ष से सम्यक् वृष्टि होकर यह वृष्टि अन्न का उत्पादन करनेवाली हो। जीवन के यज्ञमय होने पर ऐसा होता ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पृथिवी, पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमयाग और भद्र-प्राप्ति

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्॥ २॥

१. **घ्रन्**=ग्रीष्म (गरमी) **न तताप**=सन्ताप से अन्न को बाधित नहीं करता। **हिमः**=शीत भी **न जघान**=इन अन्नों को नष्ट करनेवाला नहीं होता। **जीरदानुः**=जीवन देनेवाली **पृथिवी**=यह पृथिवी **प्रनभताम्**=सम्यक्तया हल आदि द्वारा खण्डित की जाए। २. **अस्मै**=इस यजमान के लिए **आपः चित्**=जल निश्चय से **घृतं इत् क्षरन्ति**=घृत ही बरसाते हैं। वृष्टि से गोसमृद्धि होकर घृत की कमी नहीं रहती। **यत्र सोमः**=जहाँ सोमयाग होते रहते हैं **तत्र**=वहाँ **सदम् इत्**=सदा ही **भद्रम्**=कल्याण होता है। वहाँ वृष्टि होकर अन्न की कमी नहीं रहती और इसप्रकार अनिष्टनिवृत्ति होकर इष्ट-प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सर्वत्र सोमयागों के होने पर वृष्टि ठीक प्रकार होती है, सर्दी व गर्मी का प्रकोप नहीं होता। ठीक से वृष्टि होकर गोसमृद्धि द्वारा घृतवृद्धि होती है।

इस उत्तम स्थिति में उन्नति करता हुआ व्यक्ति ब्रह्मा (बढ़ा हुआ) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्रजापतिः, धाता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

संज्ञान-साम्मनस्य—समानोद्देश्यता

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु॥ १॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का स्रष्टा व पालयिता वह देव **इमाः प्रजाः**=इन पुत्र आदि प्रजाओं को **जनयतु**=जन्म दे। प्रभुकृपा से मुझे सन्तान प्राप्त हों। **धाता**=पोषकदेव **सुमनस्यमानः**=सौमनस्य को प्राप्त हुआ-हुआ **दधातु**=उनका पोषण करे। मेरे प्रति प्रीतिवाला प्रभु मेरी सन्तानों का पोषण करे। २. वे प्रजाएँ **संजानानाः**=समान ज्ञानवाली होती हुई, कार्यों के विषय में परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई, **संमनसः**=संगत मनवाली, परस्पर अविरोधी कार्यों का चिन्तन करनेवाली, **सयोनयः**=समान कारणवाली, एक उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करनेवाली जिस प्रकार हों वैसे **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का पति प्रभु **पुष्टम्**=प्रजाविषयक पोषण को **मयि दधातु**=मुझमें धारण करे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें सन्तानें प्राप्त हों, हम उनका सम्यक् धारण कर पाएँ। वे सन्तानें संज्ञानवाली, साम्मनस्यवाली तथा समान उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करनेवाली हों। प्रभु हमारे लिए इसप्रकार की सन्तानों का पोषण करें।

आत्मनिरीक्षण द्वारा (अथ अर्वाङ्) अपनी कमियों को दूर करते हुए ही हम घरों को उत्तम

बना सकते हैं। इन घरों में परस्पर अनुकूल मति (अनुमति) का होना आवश्यक है। अगले सूक्त के ऋषि व देवता ये अथर्वा और अनुमति ही हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुमति

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्। अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥ १॥

१. **अनुमतिः**=अनुकूल बुद्धि, उत्तम कर्मों में अनुज्ञा देनेवाली बुद्धि, **अद्य**=अब **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्**=देवों के विषय में पूजा, संगतिकरण तथा समर्पण (दान) को **अनुमन्यताम्**=अनुमत (अनुज्ञात) करे। हमारी बुद्धि हमें देवपूजन व देवसंग में प्रेरित करे। २. देवसंग से उत्तम बुद्धिवाले होकर हम यज्ञों में प्रवृत्त हों **च**=और **मम दाशुषे**=मुझ दाश्वान् के लिए, हवि देनेवाले मेरे लिए, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **हव्यवाहनः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला **भवताम्**=हो। हम यज्ञशील बनें और हव्य पदार्थों को प्राप्त करने के पात्र हों।

भावार्थ—हमारी अनुमति हमें देवपूजन व देवसंग के लिए प्रेरित करे। इसप्रकार यज्ञशील बनते हुए हम प्रभुकृपा से हव्य पदार्थों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुमति, उत्तम कर्म, उत्तम सन्तान

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ २॥

१. हे **अनुमते**=अनुकूल बुद्धे! **त्वम्**=तू **अनुमंससे इत्**=हमें शुभकर्मों के अनुकूल ही मति प्राप्त कराना **च**=और इसप्रकार **नः शं कृधि**=हमारे जीवन को शान्तिवाला बनाना। २. तू **आहुतम्**=अग्नि में आहुत किये हुए **हव्यम्**=हव्य का **जुषस्व**=सेवन कर, यज्ञशील बन। हे **देवि**=द्योतमाने अनुमते! तू हमें कर्मानुकूल उत्तम बुद्धि प्राप्त कराके तथा यज्ञशील बनाकर **नः**=हमारे लिए **प्रजां ररास्व**=प्रशस्त प्रजा को प्राप्त करा, उत्तम वातावरण में हमारी सन्तानें भी उत्तम हों।

भावार्थ—अनुमति को प्राप्त करके हम सत्कर्मानुकूल बुद्धिवाले, शान्त व यज्ञशील हों और इसप्रकार उत्तम वातावरणवाले घर में उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रशस्त प्रजावाली, अक्षीयमाण 'सम्पत्ति'

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ३॥

१. **अनुमन्यमानः**=सदा सत्कर्मानुकूल बुद्धि को प्राप्त कराता हुआ अनुमन्ता देव हमारे लिए **प्रजावन्तम्**=प्रशस्त सन्तानोंवाली, **अक्षीयमाणम्**=नष्ट न होती हुई, क्षीणता का कारण न बनती हुई, **रयिम्**=सम्पत्ति को **अनुमन्यताम्**=अनुज्ञात करें, प्राप्त कराएँ। २. **वयम्**=हम **तस्य**=उस अनुमन्ता देव के **हेडसि**=क्रोध में **मा अपि भूम**=मत ही हों। हम प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें। **अस्य**=इस अनुमन्ता प्रभु की **सुमृडीके**=शोभन सुखकारिणी **सुमतौ**=अनुग्रहात्मक शोभनबुद्धि में **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रशस्त प्रजावाली अक्षीयमाण सम्पत्ति दें। हम प्रभु के क्रोधपात्र न हों और शोभन सुखकारिणी सुमति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सुप्रणीते,विश्ववारे, सुभगे 'अनुमते'

यत्ते नाम॑ सुहवं॑ सुप्रणी॒तेऽनु॑मते॒ अनु॑मतं सु॒दानु॑।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म्॥ ४॥

१. हे **सुप्रणीते**=शुभ कार्यों की ओर ले-चलनेवाली **अनुमते**=अनुकूल बुद्धे! **यत् ते नाम**=जो तेरा 'अनुमति' यह नाम है, वह **सुहवम्**=उत्तमता से पुकारने योग्य है, **अनुमतम्**=अभिमत है, इष्ट है और **सुदानु**=शोभन दानोंवाला—अभिमत फलप्रदायक है। २. **तेन**=अपने उस नाम से, हे **विश्ववारे**=सबसे वरणीय व **सुभगे**=शोभनभाग्ययुक्त अनुमते! **नः**=हमारे लिए **यज्ञं पिपृहि**=यज्ञ को पूरित कर और **नः**=हमारे लिए **सुवीरं रयिं धेहि**=उत्तम सन्तानोंवाले धन को धारण कर।

भावार्थ—अनुमति हमें उत्तम मार्ग पर ले-चलनेवाली है, यह सबसे वरणीय है, सौभाग्य को देनेवाली है। यह हमें यज्ञशील, उत्तम सन्तानोंवाला व समृद्ध बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुक्षेत्रतायै—सुवीरतायै

एमं य॒ज्ञमनु॑मतिर्जगाम सु॒क्षे॒त्रता॑यै सु॒वी॒रता॑यै सु॒जा॑तम्।
भ॒द्रा ह्य॑स्याः प्रम॑तिर्ब॒भूव॒ सेमं य॒ज्ञम॑वतु दे॒वगो॑पा॥ ५॥

१. **अनुमतिः**=अनुकूल बुद्धि **इमम्**=इस **सुजातम्**=मन्त्रों व द्रव्यों से सुष्ठु निष्पन्न **यज्ञम्**=यज्ञ को **आजगाम**=प्राप्त होती है। अनुमति के होने पर हम इन यज्ञों को सम्यक्तया करते हैं। परिणामतः **सुक्षेत्रतायै**=ये यज्ञ हमारे क्षेत्रों की उत्तमता के लिए होते हैं और **सुवीरतायै**=उत्तम वीर सन्तानों के लिए होते हैं। २. **अस्याः**=इस अनुमति की **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि **हि**=निश्चय से **भद्रा बभूव**=कल्याणकारिणी होती है। **सा**=वह **देवगोपा**=दिव्य भावों का रक्षण करनेवाली बुद्धि **इमं यज्ञं अवतु**=इस यज्ञ का रक्षण करे। अनुमति हमें सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित किये रक्खे।

भावार्थ—अनुमति हमें सम्यक् सम्पन्न किये जानेवाले यज्ञों में प्रवृत्त करे, उनसे हमारे क्षेत्र उत्तम हों, हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हो। यह अनुमति दिव्य भावों का रक्षण करती हुई हमें यज्ञ में प्रवृत्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**अतिशाक्वरगर्भाजगती** ॥

सबका ध्यान

अनु॑म॒तिः सर्व॑मि॒दं ब॑भूव॒ यत्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यदु॑ च॒ विश्व॒मेज॑ति।
तस्या॑स्ते देवि सुम॒तौ स्या॒मानु॑मते॒ अनु॑ हि मंस॑से नः॥ ६॥

१. **अनुमतिः**=यह अनुमति देवी **इदं सर्वं बभूव**=इस सबको व्याप्त करती है, **यत्**=जो **तिष्ठति**=स्थावर वृक्षगुल्मादिरूप में स्थित है, **चरति**=जो अबुद्धिपूर्वक चेष्टा कर रहा है, **च**=और **यत्**=जो **विश्वम्**=संसार **उ**=निश्चय से **एजति**=बुद्धिपूर्वक चेष्टा कर रहा है, अनुमति 'वृक्षों, सूर्य आदि गतिमान् पिण्डों व सब प्राणियों' का ध्यान करती है। २. हे **देवि**=प्रकाशमयि **अनुमते**=अनुमते! हम **तस्याः ते**=उस तेरी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों। तू **हि**=निश्चय से **नः**=हमें **अनुमंससे**=उत्तम कर्मों की अनुज्ञा देती है। तेरे कारण हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—अनुमति 'स्थावर, जंगम जगत् का तथा सब प्राणियों का' ध्यान करती है। यह हमें सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करती है।

इसप्रकार अनुमति द्वारा उत्तम कर्मों को करता हुआ यह अथर्वा 'ब्रह्मा' (बढ़ा हुआ) बनता है। अगले दो सूक्त इसी ऋषि के हैं—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—शक्वरीविराड्गर्भाजगती ॥

एकः,विभूः, जनानाम् अतिथिः

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु ॥ १ ॥

१. **विश्वे**=सब बन्धु मिलकर **वचसा**=मन्त्ररूप स्तोत्रों से **दिवः पतिं**=प्रकाश के (सूर्य के) स्वामी प्रभु को **समेत**=प्राप्त होओ। वे प्रभु **एकः**=अद्वितीय हैं, **विभूः**=सर्वव्यापक हैं, **जनानाम् अतिथिः**=जन्मवाले प्राणियों के प्रति निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं, **नूतनम् आविवासत्**=इस नये-नये संसार को व्याप्त कर रहे हैं (**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**)। **तम्**=उस **एकम्**=अद्वितीय प्रभु को ही **पुरु**=नाना प्रकार के **वर्तनिः**=मार्ग **अनुवावृते**=पहुँचते हैं।

भावार्थ—सब मिलकर प्रभु का उपासन करो। प्रभु अद्वितीय हैं, सबके स्वामी हैं, लोगों को सतत प्राप्त होनेवाले हैं। वे प्रभु पालन व पूरण करनेवाले होते हुए सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं। सभी मार्ग अन्ततः प्रभु की ओर ले-जानेवाले हैं। (विलास के मार्ग भी कष्ट का अनुभव प्राप्त कराके हमारे जीवन की दिशा को बदल देते है और हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं)।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—लिङ्गोक्ताः, (ब्रध्नः) ॥ छन्दः—द्विपदाविराड्गायत्री (एकावसाना) ॥

कवीनां मतिः

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **सहस्रम्**=सहस्रसंवत्सर कालपर्यन्त **दृशे**=दर्शन के लिए, ज्ञान-प्रदान के लिए **नः आ** (भवतु)=हमें प्राप्त हों। हम सदा प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनें और दीर्घजीवी हों। वे प्रभु **कवीनां मतिः**=ज्ञानी पुरुषों से माननीय हैं। **विधर्मणि**=विविध धर्मों में वे हमारे **ज्योतिः**=प्रकाश हैं, मार्गदर्शक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से प्रकाश प्राप्त करते हुए दीर्घकाल तक जीवन-धारण करें। वे प्रभु ज्ञानियों से मननीय हैं, और विविध धर्मों में मार्गदर्शक हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—लिङ्गोक्ताः (ब्रध्नः) ॥ छन्दः—त्रिपदाऽनुष्टुप् ॥

कैसी उषाएँ

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

१. **ब्रध्नः**=सबको अपने-अपने कर्मों में बाँधनेवाला सूर्य **उषसः समैरयन्** (त्)=उषाओं को प्रेरित करे। उन उषाओं को जोकि **समीचीः**=सम्यक् गतिवाली हैं, जिनमें हम अपने नित्य कर्मों को ठीक प्रकार प्रारम्भ कर देते हैं, **अरेपसः**=जो पापशून्य हैं, जिनमें प्रभुस्मरण से हम पापवृत्ति को विनष्ट करते हैं। **सचेतसः**=ज्ञान से युक्त हैं, जिनमें हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करते हैं। २. जो उषाएँ **स्वसरे**=दिन में (अहर्नामैतत्) **मन्युमत्तमाः**=अतिशयेन दीप्तिवाली हैं और जो **गोः चिते**=ज्ञान की वाणी के चयन के लिए हैं। जिन उषाओं में हम खूब ही ज्ञान

का संचय करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे लिए उन उषाओं का उदय हो, जिनमें हम क्रियाशील, निष्पाप, ज्ञानवाले व वेदवाणी का चयन करनेवाले बनते हैं।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दौःष्वप्न्य आदि का दूरीकरण

दौःष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ १॥

१. अपने जीवन को नियमित करनेवाला 'यम' इस सूक्त का ऋषि है। अथर्व ४.१७.५ पर इस मन्त्र की व्याख्या हो चुकी है। नियमित जीवन से दौःष्वप्न्य आदि को दूर करके जीवन को उन्नत करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—सविता ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इन्द्र+अग्नि

यन्न इन्द्रो अखनद्यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत्स्वर्काः।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्॥ १॥

१. नः=हमारे लिए **यत्**=जिस धन को **इन्द्रः अखनत्**=इन्द्र खोदता है, अर्थात् जिस गुप्त धन को हमारे लिए इन्द्र प्राप्त कराता है, **यत् अग्निः**=जिसे अग्नि तथा **विश्वेदेवाः**=सब देव प्राप्त कराते हैं। **यत्**=जिसे **मरुतः स्वर्काः**=(सु अर्च्) उत्तमता से पूजन करनेवाले प्राण प्राप्त कराते हैं, **तत्**=उस धन को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सविता**=सर्वप्रेरक **सत्यधर्मा**=सत्य का धारण करनेवाला **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक **अनुमतिः**=अनुकूल मति को प्राप्त करानेवाला प्रभु **नियच्छात्**=प्राप्त कराए। २. जितेन्द्रिय (इन्द्र) आगे बढ़ने की भावनावाले (अग्नि), दिव्य गुण-सम्पन्न (विश्वेदेवा) तथा प्राणसाधना के साथ प्रभु की अर्चना में प्रवृत्त होकर (स्वर्काः मरुतः) हम जिस बल व ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं, वह सब हमें प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। उस समय हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए (सविता) सत्य को धारण करनेवाले बनते हैं (सत्यधर्मा), और प्रजाओं के रक्षक बनकर शास्त्रानुकूल कर्मों के करने की प्रवृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, आगे बढ़नेवाली वृत्तिवाले, दिव्यगुणों को धारण करनेवाले व प्राणसाधना के साथ प्रभु-अर्चन में प्रवृत्त होनेवाले हों। हमें वे प्रेरक, सत्य के धारक, प्रजाओं के रक्षक, अनुकूल मतिदाता प्रभु उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराएँगे।

उल्लिखित मन्त्र में निर्दिष्ट मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही 'मेधातिथि' है, बुद्धि के साथ चलनेवाला। यह मेधातिथि अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

विष्णु+वरुण

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः॥ १॥

१. 'विष्णु' (विष् व्याप्तौ) व्यापकता का प्रतीक है तथा 'वरुण' द्वेषनिवारण का। हमें चाहिए कि हम (व्यापक) उदार हृदयवाले व निर्द्वेष बनें। प्रभु में ये गुण निरपेक्षरूप में है, अतः प्रभु 'विष्णु' हैं 'वरुण' हैं। **ययोः**=जिन विष्णु और वरुण के **ओजसा**=बल से **रजांसि स्कभिता**=ये सब लोक थमे हुए हैं। **यौ**=जो दोनों **वीर्यैः**=वीर्यों से **वीरतमा**=सर्वाधिक वीर हैं, **शविष्ठा**=सर्वाधिक बली हैं। २. **यौ**=जो दोनों **पत्येते**=ऐश्वर्य व सामर्थ्य को प्राप्त हैं। **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अप्रतीतौ**=शत्रुओं से अनाक्रान्त हैं। उन **विष्णुं वरुणम्**=विष्णु और वरुण को **पूर्वहूतिः अगन्**=हमारी सर्वप्रथम पुकार प्राप्त हो, हम इन विष्णु और वरुण का ही आराधन करें।

भावार्थ—विष्णु व वरुण की आराधना करते हुए हम 'लोकधारक, वीर, बलवान्, ऐश्वर्यशाली व शत्रुओं से अनाक्रान्त बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धर्मणा+सहोभिः

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

१. **यस्य**=जिस विष्णु व वरुण के **प्रदिशि**=शासन में **यत् इदम्**=जो यह जगत् है वह **विरोचते**= विशिष्टरूप से दीप्त होता है। **च**=और उसी विष्णु व वरुण के शासन में ही **प्र अनति**=प्राणधारण करता है, **च**=और **शचीभिः विचष्टे**=उन्हीं की शक्तियों से विविध कर्मों को करता है। २. अतः **देवस्य**=उस द्योतमान् विष्णु व वरुण के **धर्मणा**=धारक कर्म के हेतु से **च**=तथा **सहोभिः**=शत्रुमर्षक शक्तियों के हेतु से **पुरा**=सर्वप्रथम हमारी **पूर्वहूतिः**=प्रारम्भिक पुकार **विष्णुं वरुणं अगन्**=विष्णु व वरुण को ही प्राप्त होती है। विष्णु व वरुण को पुकारते हुए हम भी 'विष्णु व वरुण' बनते हैं और धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तथा बलों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—विष्णु व वरुण ही सब जगत् को दीप्त करते हैं, जीवन देते है और विविध कर्मफल प्राप्त कराते हैं। हम भी विष्णु (उदार) बनकर समाज को धारण करनेवाले बनें (धर्मणा) और वरुण (निर्द्वेष) बनकर बलवान् बनें।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रेधा विचक्रमाणः, उरुगायः

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

१. मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **वीर्याणि**=वीरतायुक्त कर्मों को **नु कम्**=शीघ्र ही **प्रावोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। उस विष्णु के **यः**=जिसने इन **पार्थिवानि रजांसि विममे**=पार्थिव लोकों को बनाया है। अथवा इन पार्थिव लोकों में होनेवाली अग्नि, विद्युत्, सूर्यात्मक ज्योतियों को (रजांसि) बनाया है। २. **यः**=जिस विष्णु ने **उत्तरम्**=उत्कृष्टतर **सधस्थम्**=(सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवाः) प्रभु के साथ मिलकर बैठने के आधारभूत इस स्वर्ग को **अस्कभायत्**=थामा है। वे विष्णु **त्रेधा**=तीन प्रकार से—पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में **विचक्रमाणः**=विशिष्टरूप से गति करते हुए **उरुगायः**=खूब ही गायन के योग्य हैं, अथवा सर्वत्र गमनवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु के ही सब वीरतापूर्ण कर्म हैं, प्रभु ही सब अग्नि, विद्युत, सूर्यरूप ज्योतियों

को निर्मित करते हैं। स्वर्ग को भी वे ही थामनेवाले हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में गति करते हुए वे प्रभु गायन के योग्य हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

कुचरः, गिरिष्ठाः

प्र तद्विष्णु स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। परावत आ जगम्यात्परस्याः ॥ २ ॥

१. **तत्**=(सः) वे सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) **विष्णुः**=प्रभु **वीर्याणि** (उद्दिश्य)=वीर कर्मों का लक्ष्य करके **प्रस्तवते**=खूब ही स्तुति किये जाते हैं। **मृगः**=वे प्रभु ही अन्वेषणीय हैं (मृग अन्वेषणे), **न भीमः**=वे भयंकर नहीं, प्रेम ही भगवान् का रूप है, पापियों को दण्ड भी वे उनके कल्याण के लिए प्रेम से ही देते हैं। **कुचरः**=सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले है अथवा कहाँ नहीं हैं? (क्वायं न चरतीति वा—नि०) प्रभु तो सर्वत्र हैं। **गिरिष्ठाः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, सब वेद प्रभु का ही तो वर्णन कर रहे हैं (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति)। २. वे प्रभु **परस्याः परावतः**=दूर-से-दूर होते हुए भी **आजगम्यात्**=हमारे हृदय-देश में आने का अनुग्रह करें। दूर-से-दूर विद्यमान उस प्रभु को हम यहाँ हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के वीरतापूर्ण कर्म स्तुति के योग्य हैं। उन प्रभु का ही हम अन्वेषण करें, वे प्रेमरूप हैं, सर्वत्र हैं, सब वेदमन्त्रों में उनका ही प्रतिपादन हो रहा है। दूर-से-दूर होते हुए भी वे प्रभु हमें यहाँ हृदयों में प्राप्त हों।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—षट्पदाविराट्शक्वरी ॥

धन+ज्ञान+यज्ञशीलता

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३ ॥

१. **यस्य**=जिस विष्णु के **उरुषु**=विशाल **त्रिषु विक्रमणेषु**=तीन विक्रमणों—अभिप्रायः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में **विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति**=सब प्राणियों का निवास है, हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! वे आप **उरु विक्रमस्व**=इन लोकों में खूब ही विक्रमवाले होओ। कण-कण में आपका विक्रम दृष्टिगोचर हो। २. हे प्रभो! **नः**=हमारे लिए भी **क्षयाय**=निवास के लिए **उरु कृधि**=प्रभूत धनादि प्राप्त कराइए। हे **घृतयोने**=सम्पूर्ण ज्ञानदीप्ति के आधारभूत प्रभो! **घृतं पिब** (पायय)=हमें भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराइए और **यज्ञपतिम्**=यज्ञशील व्यक्ति को **प्रप्रतिर**=खूब ही बढ़ानेवाले होओ (तिरतिः वर्धनार्थः)

भावार्थ—सम्पूर्ण लोक प्रभु के तीन विक्रमणों में स्थित हैं। प्रभु हमें निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराएँ। हमें ज्ञान दें और हम यज्ञशील लोगों का वर्धन करें। (धन के साथ ज्ञान होने पर मनुष्य विलास में न फँसकर, यज्ञशील बनता है)।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

विष्णु के पांसुर में लोकत्रय की स्थिति

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे॥ ४ ॥

१. **विष्णुः**=उस सर्वव्यापक प्रभु ने **इदं विचक्रमे**=इस विश्व को विक्रान्त किया। इसे नाना प्रकार से बनाकर वह इसमें व्याप्त हुआ और **त्रेधा**=तीन प्रकार से **पदा निदधे**=अपने पदों को स्थापित किया। इन लोको को बनाया, इनका धारण किया और अन्त में पुनः अपने में इनका

लय कर लिया। २. **अस्य**=इस व्यापक प्रभु के **पांसुरे**=(पांसुभिः रजोभिः परमाणुभिः युक्ते) प्रकृतिरूप एक चरण में (परमाणुओं से बनी हुई प्रकृति में) **समूढम्**=ये लोक-लोकान्तर धारण किये गये हैं।

भावार्थ—प्रभु 'इन लोकों की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' रूप तीन कदमों को रखते हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक प्रकृतिरूप चरण में निहित है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**)।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विष्णुः गोपाः अदाभ्यः

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन्॥ ५॥

१. वे **विष्णुः**=व्यापक प्रभु **गोपाः**=गोपायिता (रक्षक) हैं, **अदाभ्यः**=अहिंस्य हैं, किसी से भी अभिभूत करने योग्य नहीं हैं। वे प्रभु **त्रीणि पदा विचक्रमे**=तीन कदमों को रखते हैं, इन लोकों का निर्माण करते हैं, धारण करते हैं और प्रलय करते हैं। २. **इतः**=(इतं गतम् अस्यास्तीति इतः) वे गतिशील प्रभु **धर्माणि**=भूतों को धारण करनेवाले 'पृथिवी,अन्तरिक्ष व द्युलोक' को **धारयन्**=धारण करते हैं। सब गतियों के स्रोत वे प्रभु ही हैं, वे इन सब लोकों को धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु व्यापक, रक्षक व अहिंस्य हैं, वे इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करते हैं। सब गतियों के स्रोत होते हुए वे इन लोकों को धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ६॥

१. **विष्णोः**=इस व्यापक प्रभु के **कर्माणि पश्यत**=कर्मों को देखो। **यतः**=जिन कर्मों से जीव **व्रतानि**=अपने व्रतों को **पस्पशे**=(स्पश बन्धनस्पर्शनयोः) स्पृष्ट करता है, या व्रतरूप में अपने में बाँधता है। जैसेकि प्रभु दयालु हैं, तो यह उपासक भी दयालु होने का व्रत लेता है। २. वे विष्णु ही **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाले साथी है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु के अनुसार कर्मों को करने का यत्न करें। प्रभु की तरह ही दयालु बनें। ये प्रभु सदा हमारे साथ रहनेवाले साथी बनते हैं, यदि हम जितेन्द्रिय बनने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवी ऽ व चक्षुराततम्॥ ७॥

१. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत्**=व्यापक **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान (ज्ञातव्य तत्त्वों) को **सूरयः**=ज्ञानी लोग **सदा**=सदा **पश्यन्ति**=देखते हैं। वह तो **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः इव**=इस चारों ओर विस्तृत प्रकाशवाली सूर्यरूप आँख के समान है। प्रभु '**आदित्यवर्ण**' है, '**ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः**'=ब्रह्म सूर्य के समान एक प्रकाश ही तो है। '**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः**'॥ हज़ारों सूर्यों की ज्योति के समान प्रभु की ज्योति है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग विष्णु के परमपद को देखते हैं। ब्रह्म एक सूर्यसम ज्योति हैं, प्रकाशरूप हैं।

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—विष्णुः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रकाश, विशालता, दृढ़ता

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्॥ ८॥

१. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! **दिवः**=द्युलोक से **उत वा**=और **पृथिव्याः**=इस पृथिवीलोक से और हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! इस **महः उरोः अन्तरिक्षात्**=महान् विशाल अन्तरिक्ष से **बहुभिः वसव्यैः**=बहुत वसुओं के (निवास के लिए आवश्यक धनों के) समूहों से **हस्तौ पृणस्व**=अपने हाथों को पूरित कीजिए और उस प्रभूत धनराशि को **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमारे लिए सभी ओर से प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें तीनों लोकों के धनों को प्राप्त करानेवाले हों। प्रभु हमें द्युलोक से 'प्रकाश', अन्तरिक्ष से 'विशालता' व पृथिवी से 'दृढ़ता' प्राप्त कराएँ। हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, हृदय विशाल हो तथा शरीर दृढ़ हो।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—इडा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इडा

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी॥ १॥

१. **इडा**=यह वेदवाणी **एव**=ही **अस्मान् व्रतेन अनुवस्ताम्**=हमें उत्तम कर्मों से आच्छादित करनेवाली हो, अर्थात् इस वेदज्ञान को प्राप्त करके हम सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। यह वेदवाणी वह है, **यस्याः**=जिसके कि **पदे**=चरणों में **देवयन्तः**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले पुरुष **पुनते**=अपने को सदा पवित्र करते हैं। २. **घृतपदी**=(घृतं पदे यस्याः) जिसके एक-एक शब्द में ज्ञानदीप्ति है, **शक्वरी**=जो हमें शक्तिशाली बनाती है, **सोमपृष्ठा**=(पृक्ष्=to sprinkle) हमारे जीवन में सोम का सेचन करनेवाली है, अर्थात् वेदाभ्यास से वासना-विलय होकर सोम का शरीर में रक्षण होता है, वह **वैश्वदेवी**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली वेदवाणी **यज्ञं उपास्थित**=उस पूजनीय प्रभु के समीप उपस्थित होती है, हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। यह वेदवाणी प्रभु का ही तो पूजन करती है (उपतिष्ठते) **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**।

भावार्थ—यह वेदवाणी हमें उत्तम कर्मों में प्रेरित करती हुई, पवित्र जीवनवाला बनाती है। यह 'ज्ञान, शक्ति व सोम का सेचन' करनेवाली है। सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराती हुई यह हमें प्रभु के समीप उपस्थित करती है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—मेधातिथिः ॥ देवता—वेदः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वेद+यज्ञ

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम्॥ १॥

१. **वेदः स्वस्तिः**=यज्ञों में उच्चरित होता हुआ यह वेद हमारे लिए कल्याणकर हो। **द्रुघणः स्वस्तिः**=(द्रुमः हन्यते अनेन) वृक्ष आदि को काटनेवाला आरा कल्याणकर हो। **परशुः**=तृणादि

काटनेवाला दराँती कल्याणकर हो। **वेदिः**=हवि रखने की आधारभूत वेदि कल्याणकर हो। **परशुः**=लकड़ियों को काटनेवाली कुल्हाड़ी **नः स्वस्ति**=हमारे लिए कल्याणकर हो। २. **यज्ञियाः**=पूजनीय **यज्ञकामाः**=यज्ञों की कामनावाले **ते देवासः**=वे देव **हविः कृतः**=हवि के सम्पादक मेरे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—वेद तथा यज्ञ के साधनभूत सब पदार्थ हमारा कल्याण करनेवाले हों। सब पूज्यदेव हवि के सम्पादक मेरे इस यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्नाविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नाविष्णू

अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात्॥ १॥

१. हे **अग्नाविष्णू**=अग्नि तथा विष्णुदेव, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तथा व्यापकता (उदारता) **वाम्**=आपका **तद् महित्वम्**=वह माहात्म्य, **महि**=महान् है, आप **गुह्यस्य**=हृदय-गुहा में स्थित **घृतस्य**=ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम पाथः**=नाम का रक्षण करते हो। 'अग्नि तथा विष्णु' अग्रगति की भावना व उदारता हमें प्रभु का स्मरण कराती है। प्रभुस्मरण ही हमें उन्नत व उदार बनाता है। २. ये अग्नि और विष्णु **दमेदमे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **सप्त रत्ना**='रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्यरूप' सात रमणीय धनों को **दधानौ**=धारण करते हैं। **वां जिह्वा**=आपकी जिह्वा **घृतम्**=ज्ञानदीप्त प्रभु को **आचरण्यात्**=सदा आभिमुख्येन प्राप्त हो। अग्नि व विष्णु की भावना हमें सदा प्रभु का स्मरण करानेवाली हो।

भावार्थ—हम आगे बढ़ने की भावनावाले व उदार वृत्तिवाले बनें। ऐसे बनकर हम सदा प्रभु का स्मरण करें तब हम अपने जीवन में सातों रत्नों को धारण करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्नाविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

महि प्रियं धाम

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात्॥ २॥

१. हे **अग्नाविष्णू**=अग्नि तथा विष्णु, अर्थात् आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तथा उदारता! **वाम्**=आपका **धाम**=तेज **महि**=महत्त्वपूर्ण है तथा **प्रियम्**=प्रीतिकर है। आप **जुषाणौ**=परस्पर प्रीतियुक्त होते हुए—मिलकर हममें निवास करते हुए **घृतस्य**=ज्ञानदीप्त प्रभु के **गुह्या**=हृदय-गुहा में स्थित गूढ़रूपों को **वीथः**=प्राप्त कराते हो, अपने अन्दर प्रादुर्भूत करते हो (प्रजन)। २. **दमेदमे**=प्रत्येक शरीर-गृह में **सुष्टुत्या**=प्रभु के उत्तम स्तवन से **वावृधानौ**=आप खूब ही वृद्धि को प्राप्त हो। प्रभुस्मरण से हममें आगे बढ़ने की भावना व उदारता का वर्धन होता है। हे अग्नाविष्णू! **वाम्**=आपकी यह **जिह्वा**=जिह्वा **घृतम्**=ज्ञानदीप्त प्रभु को **प्रति उच्चरण्यात्**=प्रतिदिन उच्चरित करे, प्रभुनाम का ही स्मरण करे।

भावार्थ—अग्नि तथा विष्णु (आगे बढ़ने की भावना व उदारता) हमें तेजस्वी बनाती है, प्रभुस्मरण में प्रवृत्त करती है। वस्तुतः प्रभुस्मरण से ही ये वृत्तियाँ विकसित होती हैं।

अग्नि व विष्णु का उपासक '**भृगु**'=तेजस्वी व '**अंगिराः**'=अंग-प्रत्यंग में रसवाला बनता है। यह '**भृग्वंगिराः**' ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च ॥ छन्दः—बृहती ॥

अक्षियुग का सम्यक् अञ्जनयुक्त होना

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत्॥ १॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक—माता व पिता **मे स्वाक्तं** (सु आ अक्तम्)=मेरे अक्षियुग को सम्यक् सर्वतः अञ्जनयुक्त (रञ्जित) करें। **अयं मित्रः**=यह सूर्य **स्वाक्तं अकः**=मेरे अक्षियुग को सम्यक् अञ्जनयुक्त करे। २. इसी प्रकार **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे स्वाक्तम्**=मेरे अक्षियुग को सम्यक् रञ्जित करे, तथा **सविता स्वाक्तं करत्**=सबका प्रेरक देव मेरे अक्षियुग को सम्यक् रञ्जित करे।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, सूर्य तथा ज्ञान के स्वामी प्रेरक प्रभु की कृपा से हमारी आँखे सम्यक् अञ्जनयुक्त बनें, वे ठीक से देखनेवाली हों। हमारा दृष्टिकोण ठीक बना रहे।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

इन्द्र, शूर, मघवा

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **अद्य**=आज **बहुलाभिः**=बहुत **यावत् श्रेष्ठाभिः**=अतिश्रेष्ठ, अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ **ऊतिभिः**=रक्षणों द्वारा **जिन्व**=प्रीणित कीजिए। हम आपके रक्षणों से रक्षित होते हुए कभी भी शत्रुओं से आक्रान्त न हों। २. **यः**=जो **नः द्वेष्टि**=हमारे प्रति अप्रीति करता है, **सः**=वह **अधरः पदीष्ट**=अधोमुख होकर गिरे, पराजित हो। **उ**=और **यं द्विष्मः**=जिस एक के प्रति हम सब अप्रीतिवाले होते हैं, **तम्**=उसे **उ**=निश्चय से **प्राणः जहातु**=प्राण छोड़ जाए, वह मृत्यु का शिकार हो।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र,शूर,मघवा' प्रभु के रक्षण में रक्षित हुए-हुए शत्रुओं से आक्रान्त न हों। जो हम सबके प्रति द्वेष करता है अतएव सबका अप्रिय बनता है, वह अवनत हो व मृत्यु को प्राप्त हो।

'इन्द्र, शूर व मघवा' प्रभु का स्मरण करते हुए द्वेषशून्य होकर,सब प्रकार से आगे बढ़ते हुए हम 'ब्रह्मा' बनते हैं। अगले दो सूक्तों का ऋषि यह 'ब्रह्मा' है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रभु-स्मरण व दीर्घ जीवन

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

१. **प्रियम्**=सबके इष्ट—प्रीणनकारी, **पनिप्नतम्**=(पन स्तुतौ) स्तूयमान, **युवानम्**=बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले, **आहुति-वृधम्**=दानों के द्वारा

हमारा समन्तात् वर्धन करनेवाले (वर्धयितारं) उस प्रभु के **उप**=समीप **नमः बिभ्रतः अगन्म**=नमन को धारण करते हुए प्राप्त होते हैं। वे प्रभु **मे आयुः**=मेरे आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ करें।

भावार्थ—प्रभु सबके प्रिय हैं, स्तुति के योग्य हैं, बुराइयों को हमसे पृथक् करनेवाले हैं, दानों के द्वारा हमारा चारों ओर से वर्धन करनेवाले हैं। प्रभु के प्रति नमन वासनाविनाश के द्वारा हमारे दीर्घजीवन को सिद्ध करता है।

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—मरुतः, पूषा, बृहस्पतिः, अग्निश्च॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः॥

प्रजा+धन+दीर्घायु

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

१. **मरुतः**=प्राण **मा संसिञ्चन्तु**=मुझे शक्ति से सम्यक् सिक्त करें। प्राणसाधना द्वारा मेरे शरीर में शक्ति का सेचन हो। प्राणसाधना से ही वीर्य की ऊर्ध्वगति सम्भव होती है। इसी प्रकार **पूषा**=अपनी किरणों में सब पोषक तत्त्वों को लिये हुए यह सूर्य मुझे **सं (सिञ्चतु)**=शक्ति से युक्त करे, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **सम्**=मुझे शक्ति-सिक्त करे। सूर्यकिरणों में (खुले में) यथासम्भव जीवन-यापन तथा स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी शक्ति की रक्षा करने में सहायक होती है। २. **अयं अग्निः**=यह शरीरस्थ जाठराग्नि (वैश्वानर अग्नि) **मा**=मुझे **संसिञ्चतु**=सम्यक् शक्ति-सिक्त करे और इसप्रकार ये सब **प्रजया च धनेन च**=उत्तम सन्तान व ऐश्वर्य के साथ **मे आयुः**=मेरे आयुष्य को **दीर्घम्**=दीर्घ **कृणोतु**=करें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करनेवाले हों, सूर्यकिरणों के सम्पर्क में हमारा निवास हो, हम स्वाध्यायशील बनें, भोजन की मर्यादा से जठराग्नि को सदा दीप्त रक्खें। इससे हमें उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य व दीर्घजीवन प्राप्त होगा।

गतमन्त्र के अनुसार दृढ़ता से मार्ग का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति 'अथर्वा' (न डाँवाडोल) बनता है। अगले ५ सूक्तों का ऋषि 'अथर्वा' ही है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—जातवेदाः॥ छन्दः—जगती॥

अनागसः अदितये (स्याम)

अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान्प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **मे जातान्**=मेरे अन्दर प्रादुर्भूत हुए-हुए **सपत्नान्**=शत्रुओं को **प्रणुद**=परे प्रेरित कीजिए। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अ-जातान्**=कुछ-कुछ (अ=ईषत्) प्रकट हो रहे—जिनके प्रादुर्भूत होने की सम्भावना हो रही है, उन्हें भी, **प्रतिनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। २. **ये पृतन्यवः**=जो हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले शत्रु हैं, उन्हें **अधस्पदं कृणुष्व**=हमारे पाँव तले कर दीजिए, हम उन्हें परास्त करनेवाले हों। **ते वयम्**=वे हम अथवा (तव) आपके उपासक हम **अनागसः**=निष्पाप होकर **अदितये स्याम**=स्वास्थ्य के अखण्डन के लिए (अखण्डितत्वाय), अदीनता के लिए तथा अनभिशस्ति (अहिंसन) के लिए हों।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमारे प्रादुर्भूत व प्रादुर्भूत होनेवाले सभी शत्रुओं को दूर करें। हमपर आक्रमण करनेवाले सभी शत्रुओं को हम जीतें। निष्पाप होकर हम 'स्वस्थ, अदीन व अहिंसित' बनें।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—जातवेदाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सौभाग्ययुक्त राष्ट्र

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अन्यान् सपत्नान्**=हमारा प्रातिकूल्य करनेवाले हमसे भिन्न इन शत्रुओं को **सहसा प्र सहस्व**=बल से अभिभूत कीजिए अथवा शीघ्र विनष्ट कीजिए। **अजातान्**=कुछ-कुछ प्रादुर्भूत हो रहे इन शत्रुओं को भी **प्रतिनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। २. हे प्रभो! आप **इदं राष्ट्रम्**=हमारे इस राष्ट्र को **सौभगाय पिपृहि**=सौभाग्य के लिए पूरित कीजिए। शत्रुशून्य हमारा यह राष्ट्र सौभाग्य-सम्पन्न हो। परोपद्रवकारियों से युक्त राष्ट्र कभी सस्य आदि से अभिवृद्धिवाला नहीं होता। **विश्वेदेवाः**=सब देव **एनम्**=इस शत्रुहनन कर्म के प्रयोक्ता को **अनुमदन्तु**=हर्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों। हमारा राष्ट्र सौभाग्यपूर्ण हो। सब देव इस शत्रुहन्ता को हर्षित करनेवाले हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—जातवेदाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पत्नी के रुधिर-स्राव का निरोध

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

१. हे स्त्रि! **इमाः**=ये **याः**=जो **ते**=तेरी **शतं हिराः**=सैकड़ों नाड़ियाँ—गर्भधारण के लिए अन्दर स्थित सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, **ते**=तेरी **तासां सर्वासाम्**=उन सब नाड़ियों के **बिलम्**=छेद को रुधिर-स्राव के कारणभूत विच्छेद को **अश्मना**=पाषाणविशेष से—फिटकरी से **अपि अधाम्**=आच्छादित करता हूँ। विच्छेद को रोककर स्राव को बन्द करता हूँ।

भावार्थ—नाड़ी-विच्छेद के कारण स्राव प्रारम्भ होने पर स्वास्थ्य के विकृत होने की आशंका बढ़ती ही जाएगी और गर्भस्थ सन्तान पर भी उसका परिणाम अशुभ होगा। एवं, यह विच्छेद शीघ्रातिशीघ्र चिकित्स्य है ही।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—जातवेदाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अस्वं, अप्रजसम्, अश्मानम्

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

१. **ते योनेः परम्**=तेरे घर के पराये, अर्थात् शत्रु को **अवरं कृणोमि**=नीचे करता हूँ, अर्थात् उसे तेरे पादाक्रान्त करता हूँ। **त्वा प्रजा मा अभिभूत्**=तुझे तेरी कोई पुत्री अभिभूत करनेवाली न हो, **उत मा सूनुः**=और न कोई पुत्र अभिभूत करे, अर्थात् सन्तानें तेरी विधेय (आज्ञानुसारिणी) हों। २. मैं **त्वा**=तुझे **अस्वम्**=(असुः प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञावाली व **अप्र-जसम्**=(जसु हिंसायाम्) अहिंसनीय—वासनाओं से अनाक्रमणीय **कृणोमि**=करता हूँ तथा **ते अपिधानम्**=तेरे 'इन्द्रियों, मन,बुद्धि व प्राणों' के आवरणभूत इस शरीर को **अश्मानम्**=पत्थर के समान दृढ़ **कृणोमि**=करता हूँ। तुझे 'बुद्धिमती, पवित्रहृदय व दृढ़शरीर' बनाता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर शत्रुओं के वशीभूत न हों। हमारे पुत्र-पुत्री सब विधेय=आज्ञाकारी हों।

हम प्रज्ञावाले, वासनाओं से अहिंसित व दृढ़ शरीरवाले बनें।

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अक्षि, मनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दाम्पत्य-प्रेम

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥ १॥

१. पत्नी पति को सम्बोधित करती हुई कामना करती है कि **नौ अक्ष्यौ**=हम दोनों की आँखे **मधुसंकाशे**=मधुसदृश हों। जैसे मधु मधुर व स्निग्ध है, इसी प्रकार हमारी आँखें परस्पर अनुरक्त, मधुर प्रेक्षणवाली तथा अत्यन्त स्निग्ध हों। **नौ**=हम दोनों का **अनीकम्**=मुखमण्डल **समञ्जनम्**=यथावत् विकासवाला, प्रसन्नता को प्रकट करनेवाला (Smiling) हो। २. पत्नी पति से कहती है कि **माम्**=मुझे **हृदि**=हृदय में **अन्तः कृणुष्व**=अन्दर स्थान दे। मैं तेरी हृदयंगमा व प्रिया बनूँ। **नौ**=हम दोनों का **मनः**=मन **इत्**=निश्चय से **सह असति**=समान—एक-जैसा हो।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर मधुर, अनुरक्त आँखों से एक-दूसरे को देखें, उनके चेहरों पर प्रसन्नता झलके। एक-दूसरे को वे अपने हृदय में स्थान दें, उन दोनों का मन साथ-साथ हो।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वासः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मनुजात वस्त्र द्वारा पति का बन्धन

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ १॥

१. पत्नी पति से कहती है कि **त्वा**=तुझे **मनु-जातेन**=विचारपूर्वक धारण किये गये **मम वाससा**=अपने इस वस्त्र से **अभिदधामि**=अपने साथ बाँधती हूँ। मैं तुझे इसप्रकार अपने साथ सम्बद्ध करती हूँ कि **यथा**=जिससे **केवलः मम असः**=तू केवल मेरा ही हो, **चन**=और **अन्यासाम्**=औरों का नाम भी **न कीर्तयाः**=उच्चरित न करे।

भावार्थ—पत्नी विचारपूर्वक (समझदारी से) वस्त्रों को धारण करती हुई पति की प्रिया बने। पति को प्रसन्न रक्खे, पति का ध्यान कभी पर-स्त्री की ओर न जाए। भद्दे ढंग से धारण किये हुए वस्त्र कभी पति के मन में ग्लानि पैदा कर सकते हैं।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वनस्पतिः (आसुरी) ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रतिज्ञारूप औषध

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम्।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम्॥ १॥

१. जिस समय एक पत्नी (वधू) संस्कार के समय सभा में प्रतिज्ञा करती है कि '**स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः**'='वे शत्रुओं का नियमन करनेवाले प्रभु मुझे यहाँ पितृगृह से मुक्त करें, परन्तु मैं पतिगृह से कभी पृथक् न होऊँ' तो यह प्रतिज्ञा एक प्रबल औषध का कार्य करती है और पति को (वर को) पर-स्त्रीपराङ्मुख बनाती है। यह प्रतिज्ञा पति-पत्नी के प्रेम की कमीरूप रोग का औषध बन जाती है। पत्नी कहती है कि मैं **इदं भेषजम्**=इस

प्रतिज्ञारूप औषध को **खनामि**=(खन् to bury) हृदय क्षेत्र में गाड़नेवाली बनाती हूँ। २. यह औषध **मां पश्यम्** (माम् एवं पत्ये प्रदर्शयत्)=पति के लिए केवल मुझे ही दिखानेवाली बनती है, पति मेरे अतिरिक्त अन्य स्त्रियों की ओर नहीं देखता। **अभिरोरुदम्** (रोरुधम्)=पति के अन्य नारी-संसर्ग को रोकती है। **परायतः निवर्तनम्**=अपने से (मुझसे) परे जाते हुए पति के पुनरावर्तन का कारण बनती है और **आयतः प्रतिनन्दनम्**=मेरे प्रति आते हुए पति के आनन्द को उत्पन्न करती है।

भावार्थ—पत्नी अपने मन में दृढ़ निश्चय करे कि मुझे पतिगृह से कभी पृथक् नहीं होना। ऐसा करने पर पति कभी पर-स्त्री की ओर दृष्टि न करेगा, वह अन्य नारी-संसर्ग से रुकेगा, घर से दूर होता हुआ घर लौटने की कामनावाला होगा और पत्नी के सम्पर्क में प्रसन्नता का अनुभव करेगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी

येना॑ निच॒क्र आ॑सु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑।
तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि॒ सुप्रि॑या॥ २॥

१. पत्नी कहती है कि **आसुरी**=प्राणशक्ति ने **येन**=जिस उपाय से **इन्द्रम्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष को **देवेभ्यः परि**=दिव्य गुणों के लिए सब ओर से **निचक्रे**=निश्चय से समर्थ किया, **तेन**=उसी उपाय से **त्वाम्**=तुझे **अहं निकुर्वे**=मैं अपने लिए निश्चय से प्राप्त करती हूँ, **यथा**=जिससे मैं **ते सुप्रिया असानि**=तेरी सुप्रिया होऊँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा निर्दोष जीवनवाला बनकर 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष दिव्य गुणों को धारण करता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से स्वस्थ व निर्मल मनवाली पत्नी पति के लिए प्रिय बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा उष्णिक्** ॥

सोम-सूर्य-देव

प्र॒तीची॒ सोम॑मसि प्र॒तीच्यु॒त सूर्य॑म्।
प्र॒तीची॒ विश्वा॑न्दे॒वान्तां त्वा॒च्छाव॑दामसि॥ ३॥

१. हे युवति! तू **सोमं प्रतीची असि**=सोम के प्रति गतिवाली है, सोम को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है, **उत**=और **सूर्यं प्रतीची**=ज्ञानसूर्य के प्रति गतिवाली है। ज्ञानप्राप्ति के प्रति रुचिवाली है। २. सोमरक्षण व ज्ञानरुचिता द्वारा **विश्वान् देवान् प्रतीची**=सब देवों के प्रति गतिवाली है, सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाली है **तां त्वां अच्छ**=उस तेरे प्रति **आवदामसि**=आदर के शब्दों को कहते हैं।

भावार्थ—उत्तम गृहपत्नी बनने के लिए आवश्यक है कि एक युवती 'अपने अन्दर शक्ति का रक्षण करनेवाली, ज्ञान की रुचिवाली व दिव्यगुणों को धारण करनेवाली' बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घर में पत्नी, सभा में पति

अ॒हं व॑दामि॒ नेत्त्वं स॒भाया॒मह॒ त्वं वद॑।
ममेद॒सस्त्वं केव॑लो॒ नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न॥ ४॥

१. एक युवती चाहती है कि घर में वही 'सम्राज्ञी' हो, सभा में पति 'सम्राट्' बने, अतः

वह कहती है कि हे पते! **अहं वदामि**=घर में मैं ही बोलती हूँ, **त्वं न इत्**=आप यहाँ न बोलिए। **अह सभायां त्वं वद**=सभा में तो आप ही बोलिए। (अह विनिग्रहार्थीयः), अर्थात् जब आप मेरे समीप प्राप्त होते हैं तब मैं ही बोलती हूँ, आप तो मदुक्त का अनुवादमात्र ही करते हैं, मेरे प्रतिकूल कभी नहीं कहते। सभा में आपका स्थान है, मैं सभा में नहीं जाती, वहाँ मैं जाती भी हूँ तो शान्त रहती हूँ। २. इसप्रकार **त्वम्**=आप **मम इत् असः**=केवल मेरे ही होओ, **अन्यासां न कीर्तयाः चन**=औरों का नाम भी न लीजिए। आपका झुकाव किसी अन्य युवती के प्रति न हों।

भावार्थ—परिवार में यह व्यवस्था हो कि घर में पत्नी, सभा में पति। पति अपनी पत्नी से भिन्न किसी युवती का गुण-कीर्तन करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैवाहिक प्रतिज्ञा से पति का पत्नी के प्रति झुकाव

यदि वासि तिरोजनं यदि वा नद्य॑स्तिरः।
इयं ह मह्यं त्वामोषधिर्बद्ध्वेव न्यानयत्॥ ५॥

१. पत्नी कहती है कि हे पते! **यदि वा**=चाहे आप **तिरोजनं असि**=लोगों से तिरोहित प्रदेश में कहीं हैं, **यदि वा**=अथवा **नद्यः तिरः**=निम्नगा नदियाँ (आवयोर्व्यवधायिकाः) हममें व्यवधान करनेवाली हैं तो भी **ह**=निश्चय से **इयं ओषधिः**=यह **'प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा'** इन शब्दों में की गई प्रतिज्ञारूप ओषधि **त्वाम्**=आपको **बद्ध्वा इव**=मानो बाँधकर **मह्यं नि आनयत्**=मेरे लिए निरन्तर प्राप्त करानेवाली हो। मेरी यह प्रतिज्ञा आपको मेरे प्रति प्रीतिवाला बनाए।

भावार्थ—पत्नी की पातिव्रत्य की प्रतिज्ञा पति को पत्नी के प्रति प्रेमोन्मुख करनेवाली होती है।

गत मन्त्रों में वर्णित प्रकार से वर्तनवाले पति-पत्नी ही बुद्धिमान् हैं। वे 'प्रस्कण्व'=मेधावी हैं। अगले सात सूक्तों का ऋषि यह 'प्रस्कण्व' ही है।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दिव्य सुपर्ण' वेदज्ञान

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति॥ १॥

१. 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। पुल्लिंग में यही भाव 'सरस्वान्' शब्द से व्यक्त हो रहा है। वह सरस्वान् प्रभु (७.४०.१) **नः गोष्ठे**=हमारे इस इन्द्रियों के निवास-स्थानभूत देह में (गावः तिष्ठन्ति अस्मिन्) **रयिष्ठाम्**=ज्ञानैश्वर्य की आधारभूत इस वेदवाणी को **आस्थापयाति**=स्थापित करता है। यह वेदवाणी **दिव्यम्**=प्रकाशमय है, **सुपर्णम्**=ज्ञान के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। **पयसम्**=आप्यायन (वर्धन) की साधनभूत, **बृहन्तम्**=बढ़ानेवाली है। यह हमें सब वासनाओं से बचाकर बढ़ी हुई शक्तिवाला करती है। २. यह वेदवाणी **अपां गर्भम्**=सब कर्मों को अपने अन्दर धारण करनेवाली है, इसमें हमारे सब कर्त्तव्य-कर्मों का निर्देश हुआ है। **ओषधीनां वृषभम्**=ओषधियों में यह श्रेष्ठ है। सब काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को यह विनष्ट करनेवाली है। **अभीपतः**=(अभीपत्) अपनी ओर आते हुए जनों को **वृष्ट्या तर्पयन्तम्**=ज्ञानवृष्टि से तृप्त करती हैं।

भावार्थ—सरस्वान् प्रभु हमारे हृदयों में उस ज्ञानप्रकाश को स्थापित करता है जो सब प्रकार से हमारा वर्धन करता है, हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करता है।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के व्रत में

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आप॑:।
यस्य॑ व्र॒ते पु॒ष्टप॑ति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे॥ १॥

१. **यस्य व्रतम्**=जिसके व्रत का **सर्वे पशवः यन्ति**=सब पशु अनुगमन करते हैं, अर्थात् प्रभु ने सब पशुओं में वासना की स्थापना की है, उस वासना के अनुसार सब पशु कर्मों से प्रेरित होते है, **यस्य व्रते**=जिसके व्रत में **आपः उपतिष्ठन्ते**=जल हमारे समीप उपस्थित होते हैं। ये जल बहते-बहते समुद्र में जा मिलते हैं, वहाँ से सूर्य-किरणों द्वारा वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में पहुँचते हैं और वृष्टि द्वारा हमें फिर प्राप्त होते हैं। २. **यस्य व्रते**=जिसके नियम में **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का स्वामी यह सूर्य—सब प्राणशक्तियों को अपनी किरणों में लिये हुए यह सूर्य, **निविष्टः**=अपने मार्ग में विद्यमान है, **तम्**=उस **सरस्वन्तम्**=महान् विज्ञानराशि प्रभु को **अवसे हवामहे**=अपने रक्षण के लिए पुकारते हैं।

भावार्थ—सब पशु, जल व सूर्य जिस प्रभु के निर्धारित व्रतों में चल रहे हैं। उस विज्ञानस्वरूप प्रभु को हम अपने रक्षण के लिए पुकारते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दाशुषे दाश्वांसम्

आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॑ दा॒श्वांसं॒ सर॑स्वन्तं पु॒ष्टप॑तिं र॒यिष्ठाम्।
रा॒यस्पोषं॑ श्रव॒स्युं॑ वसा॑ना इ॒ह हु॑वेम॒ सद॑नं र॒यी॒णाम्॥ २॥

१. हम **इह**=इस जीवन में **वसानाः**=हवि आदि से प्रभु की परिचर्या करते हुए (विवासतिः परिचरणकर्मा) उस प्रभु को **आ हुवेम**=पुकारते हैं जो **प्रत्यञ्चम्**=हम सबके अन्दर गति करनेवाले हैं, **दाशुषे दाश्वांसम्**=अपना अर्पण करनेवाले के लिए सब-कुछ देनेवाले हैं, **सरस्वन्तम्**=ज्ञान के प्रवाहवाले व **पुष्टपतिम्**=सब पोषणों के स्वामी हैं, **रयिष्ठाम्**=सब ऐश्वर्यों के अधिष्ठाता हैं, २. **रायस्पोषम्**=सब धनों का पोषण करनेवाले, **श्रवस्युम्**=सब अन्नों को प्राप्त करानेवाले (श्रवः=अन्नम्) तथा **रयीणां सदनम्**=ऐश्वर्यों के निवासस्थान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की आराधना करें। प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले व सबका पोषण करनेवाले हैं।

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्येनः, अवसानदर्शः

अति॒ धन्वा॒न्यत्य॒पस्त॑तर्द श्ये॒नो नृ॒चक्षा॑ अवसान॒दर्शः।
तर॒न्विश्वा॒न्यव॑रा॒ रजां॒सीन्द्रे॑ण॒ सख्या॑ शि॒व आ ज॑गम्यात्॥ १॥

१. वे प्रभु **धन्वानि**=मरुदेशों को **अति**=अतिक्रान्त करके **अपः अतिततर्द**=जलों को अतिशयेन खोल देते हैं। निरुदक प्रदेशों में भी वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। **श्येनः**=वे शंसनीय गतिवाले हैं, **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों को देखनेवाले, उनके कर्मों के साक्षी हैं, **अवसानदर्शः**=

(अवसीयते निश्चीयते इति अवसानं कर्मफलम्) कर्मफल को दिखलानेवाले हैं, सबको कर्मानुसार फल देनेवाले हैं। २. **विश्वानि**=सब **अवरा रजांसि**=निचले लोकों को **तरन्**=(तारयन्) पार कराता हुआ **शिवः**=वह कल्याणकारी प्रभु **सख्या इन्द्रेण**=मित्रभूत जितेन्द्रिय पुरुष को **आजगम्यात्**=प्राप्त होता है। सखा इन्द्र के साथ प्रभु का मेल हो। प्रभु हमें निचले लोकों से ऊपर उठाएँ, हमें जितेन्द्रिय बनने का सामर्थ्य दें और हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे कल्याण के लिए निरुदक प्रदेशों में भी वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। वे प्रशंसनीय गतिवाले प्रभु हमारे कर्मों के साक्षी व कर्मफल प्रदाता हैं। वे हमें निचले लोकों से तराते हुए तथा जितेन्द्रिय बनने का सामर्थ्य देते हुए प्राप्त हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुपर्णः सहस्रपात्

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत्॥ २॥

१. वे प्रभु **श्येनः**=शंसनीय गतिवाले हैं, **नृचक्षाः**=मनुष्यों के देखनेवाले, उनके कर्मों के साक्षी हैं, **दिव्यः**=प्रकाशमय व **सुपर्णः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **सहस्रपात्**=अनन्त चरणोंवाले व सर्वत्र गतिवाले हैं, **शतयोनिः**=शतवर्षपर्यन्त इस शरीर-गृह को प्राप्त करानेवाले व **वयोधाः**=प्रकृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए उस **वसु**=धन को **नियच्छात्**=दें **यत्**=जो **पराभृतम्**=सुदूर धारण किया गया है। जिस धन को यज्ञादि में विनियुक्त करके दूर पहुँचाया गया है। **अस्माकम्**=हमारा वह धन **पितृषु स्वधावत् अस्तु**=पितरों में स्वधावाला हो—पितरों के लिए अर्पित होता हुआ हमारा धारण करनेवाला हो। जब हम उस धन को पितरों के लिए देंगे, तब हमारी सन्तानें भी वैसा पाठ पढ़ेंगी और हमारे लिए उसी प्रकार धन प्राप्त कराएँगी। इसप्रकार पितरों को देते हुए हम अपना ही धारण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—प्रभु शंसनीय गतिवाले व हमारे लिए उत्कृष्ट धन को धारण करानेवाले हैं। वे हमें धन दें। यह धन यज्ञादि द्वारा सुदूर देवों में निहित हो और इसके द्वारा हम पितृयज्ञ करनेवाले हों।

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमारुद्रा

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ १॥

१. हमारे शरीर में 'सोम' जल व शान्ति का प्रतीक है तथा 'रुद्र' अग्नि व शक्ति का। **सोमारुद्रा**=ये दोनों जल व अग्नितत्त्व (शान्ति+शक्ति, आपः+ज्योतिः) **विषूचीम्**=(विष्वग् गमनाम्) शरीर में चारों ओर फैलनेवाली बीमारी को **विवृहतम्**=विनष्ट कर डाले (वृह् उद्यमने) उखाड़ फेंके। **या अमीवा**=जो रोग **नः**=हमारे **गयम् आविवेश**=गृह व शरीर में सर्वतः व्याप्त हो गया है, उस रोग को ये सोम और रुद्र उखाड़कर दूर कर दें। २. और **निर्ऋतिम्**=निकृष्टगमनहेतु—रोगनिदानभूत अशुभवृत्ति को **पराचैः**=(पराङ्मुखं, पराचैः इति अव्ययम्) पराङ्मुख करके **दूरं बाधेथाम्**=हमसे दूर ही रोक दें। इसप्रकार दूर रोक दें कि यह पुनः हमारे पास न आ सके।

कृतं चित् एनः=इस निर्ऋति के कारण किये हुए पाप व कष्ट को ये सोम और रुद्र **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुक्तम्**=छुड़ा दें।

भावार्थ—जीवन में जल व अग्नि का समन्वय आवश्यक है, आपः व ज्योतिः (शान्ति व शक्ति) का समन्वय ही रोगों, निर्ऋतियों व कष्टों को दूर करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मुञ्चतं, अवस्यतम्

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥ २॥

१. हे **सोमारुद्रा**=सोम व रुद्र (जल व अग्नि) **युवम्**=आप दोनों **एतानि विश्वा भेषजानि**=इन रोगनिर्हरणक्षम औषधों को **अस्मत् तनूषु**=हमारे शरीरों में **धत्तम्**=स्थापित करो। आपः व ज्योति के समन्वय से वह रस उत्पन्न होता है, जो अमृतम्=नीरोगता देता है। २. **नः**=हमारे **तनूषु बद्धम्**=शरीरों में सम्बद्ध **यत्**=जो **कृतं एनः असत्**=किया गया पाप व कष्ट हो, उसे **अस्मत् मुञ्चतम्**=हमसे विश्लिष्ट (पृथक्) कर दो। हमसे पृथक् करके **अवस्यतम्**=इसे सुदूर विनष्ट ही कर डालो।

भावार्थ—'सोम और रुद्र' का समन्वय रस-विशेष को उत्पन्न करके सब रोगों के विनाश का कारण बने।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः (मौनी)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम्॥ १॥

१. हे मिथ्याभिशप्त पुरुष! **ते**=तेरे विषय में **एकाः**=एक तो **शिवाः**=स्तुतिरूप कल्याणी वाणी है। कितने ही व्यक्ति तेरे लिए प्रशंसात्मक शुभ शब्द बोलते हैं तथा **ते**=तेरे विषय में **अशिवाः**= अस्तुतिरूप=निन्दात्मक **एकाः**=अन्य वाणियाँ हैं, अर्थात् कितने ही व्यक्ति तेरे लिए निन्दा के शब्दों का प्रयोग करते हैं। तू उन **सर्वाः**=सब वाणियों को **सुमनस्यमानः**='सुमना' की तरह आचरण करता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मनवाला होता हुआ **बिभर्षि**=धारण करता है। २. तू इसप्रकार सोच कि निन्दावाक्य भी तो 'परा-पश्यन्ती-मध्यमा व वैखरी' रूप से चतुष्टयात्मक हैं। उनमें **तिस्रः वाचः**='परा-पश्यन्ती-मध्यमा' ये तीन वाणियाँ तो **अस्मिन्**=इस शब्द प्रयोक्ता पुरुष के **अन्तः निहिताः**=अन्दर ही अवस्थित होती हैं। **तासाम्**=उन चतुष्टयात्मक वाणियों में **एका**=एक वैखरीरूप वाणी ही **घोषम् अनु विपपात**=तालु व ओष्ठ व्यापारजन्य ध्वनि का लक्ष्य करके विशेषेण वर्णपदादिरूपेण प्रवृत्त होती है। उस निन्दात्मक वाक्य के तीन भाग तो उस प्रयोक्ता में ही रहे। एक ही तो मुझे प्राप्त हुआ है। इसप्रकार अधिक हानि तो निन्दा करनेवाले की ही है।

भावार्थ—हम निन्दा-स्तुति में समरूप से स्वस्थ मनवाले बने रहें। यह सोचें कि निन्दात्मक वाक्य का एक भाग ही तो हमारी ओर आता है, तीन भाग इस प्रयोक्ता के शरीर में ही स्थित होते हैं, एवं निन्दक की ही हानि है, हमारी नहीं।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः,विष्णुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्राविष्णू

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ १॥

१. 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। 'विष्णु' विष् व्याप्तौ, व्यापक व उदार हृदयवाला है। इन्द्र और विष्णु ये **उभा**=दोनों ही **जिग्यथुः**=विजयी होते हैं, **न पराजयेथे**=ये कभी पराजित नहीं होते। **एनयोः**=इन दोनों में से **कतरः चन**=कोई भी **न पराजिग्ये**=पराजित नहीं होता। 'जितेन्द्रियता व उदारता' विजय-ही-विजय का साधन हैं। २. हे **विष्णो**=विष्णो! तू **इन्द्रः च**=और इन्द्र **यत् अपस्पृधेथाम्**=जब परस्पर एक-दूसरे से बढ़कर विजय की स्पर्धावाले होते हो, **तत्**=तब **सहस्रम्**=(सहस् शक्ति) बड़ी प्रबलता के साथ **त्रेधा वि ऐरयेथाम्**=तीन प्रकार से शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले होते हो। 'काम' को दूर भगाकर आप इस पृथिवीरूप शरीर का रक्षण करते हो। क्रोध को दूर करके हृदयान्तरिक्ष को शान्त बनाते हो तथा लोभ के विनाश से अनावृत्त मस्तिष्क-गगन में ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हो। 'स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति' की प्राप्ति ही त्रेधा विक्रमण है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व उदारहृदय बनकर विजयी बनें। काम-क्रोध-लोभ को पराजित करके हम स्वस्थ, शान्त व दीप्त जीवनवाले हों।

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ईर्ष्या-भेषजम्

जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्॥ १॥

१. वस्तुतः 'ज्ञान' (चिन्तन—संसार को तात्त्विक दृष्टि से देखना) ही 'ईर्ष्या' का औषध है। हे ज्ञान! मैं **त्वा**=तुझे **ईर्ष्यायाः**=ईर्ष्या का **नाम**=झुका देनेवाला, दबा देनेवाला **भेषजम्**=औषध **मन्ये**=मानता हूँ। ज्ञान के द्वारा ईर्ष्या नष्ट हो जाती है। यह ज्ञान **जनात्**=उस पुरुष के जीवन-व्यवहार व उपदेश से **पर्याभृतम्**=प्राप्त होता है जो **विश्वजनीनात्**=सबके हित में प्रवृत्त है, तथा **सिन्धुतः**=ज्ञान का समुद्र ही है तथा समुद्र के समान ही गम्भीर होने से 'समुद्र' ही है, (स+मुद्) प्रसन्नता से युक्त—ईर्ष्या,द्वेष व क्रोध से शून्य है। २. हे ज्ञान! मैं तुझे **दूरात् उद्भृतं मन्ये**=दूर से ही उद्भृत मानता हूँ। 'यह ज्ञान उस पुरुष के समीप प्राप्त होने पर ही मिलेगा', ऐसी बात नहीं। उस महापुरुष के जीवन का ध्यान करने से ही प्राप्त हो जाता है और हमें भी उस ज्ञानी के समान ईर्ष्या से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की प्रवृत्तिवाले बनें। ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार का चिन्तन करें और 'ईर्ष्या' से ऊपर उठने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ईर्ष्याग्नि-शमन

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्। एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय॥ २॥

१. **अग्नेः इव दहतः**=अग्नि के समान क्रोध से मेरे कार्यों को नष्ट करते हुए **अस्य**=इस पुरोवर्ती ईर्ष्यालु पुरुष तथा **पृथक्**=प्रत्येक पदार्थ को अलग-अलग **दहतः**=भस्म करते हुए **दावस्य**=वनाग्नि के समान **एतस्य**=इस पुरोवर्ती ईर्ष्यालु पुरुष की **एताम् ईर्ष्याम्**=इस मद्विषयक ईर्ष्या को **उद्ना**=जल से **अग्निम् इव**=अग्नि की भाँति **शमय**=शान्त कर दो। जैसे जल से अग्नि को शान्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस पुरुष की ईर्ष्या को ज्ञान-जल द्वारा शान्त कर दो।

भावार्थ—ईर्ष्या के कारण मनुष्य दूसरे के कार्यों को नष्ट करने में शक्ति का अपव्यय करता है। ज्ञान द्वारा इस ईर्ष्या की अग्नि को इसप्रकार बुझा दिया जाए, जैसेकि जल से अग्नि को बुझा देते हैं।

ईर्ष्या आदि को शान्त करके यह स्थिर चित्तवृत्तिवाला 'अथर्वा' बनता है। यह 'अथर्वा' ही अगले चार सूक्तों का ऋषि है। स्थिर चित्तवाले पति-पत्नी का इन मन्त्रों में वर्णन है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिनीवाली पृथुष्टुका

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ १॥

१. **सिनीवालि**=(सिनं=अन्नं, वालं=पर्व) पर्वों में अन्नवाली, अर्थात् पर्वों में अन्नदान करनेवाली, **पृथुष्टुके**=बहुत स्तुतिवाली व (बहुभिः संस्तुते) बहुतों से संस्तुत, **या**=जो तू **देवानां स्वसा असि**=(स्वयं सारिणी) दिव्य गुणों को अपने अन्दर प्रसारित करनेवाली (देवों की बहिन) है। हे वीर पत्नि! प्रजाओं का पालन करनेवाली तू **आहुतं हव्यम्**=अग्निकुण्ड में आहुत किये गये यज्ञावशिष्ट हव्य (पवित्र) पदार्थों को ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली बन। २. इसप्रकार पर्वों पर अन्नदान करनेवाली, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली, दिव्यगुणों को धारण करनेवाली व यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाली हे **देवि**=प्रकाशमय जीवनवाली! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे (दिशतेः लोटि शपः श्लुः)।

भावार्थ—गृहपत्नी को चाहिए कि वह पर्वों पर अन्नदान करनेवाली, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली, दिव्य गुणों की धारिका, यज्ञशेष का सेवन करनेवाली बने। ऐसा होने पर ही वह उत्तम सन्तति को जन्म दे पाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुषूमा बहुसूवरी

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥ २॥

१. **या सुबाहुः**=जो उत्तम भुजाओंवाली, **स्वंगुरिः**=उत्तम अंगुलियोंवाली, **सुषूमा**=उत्तम योनि-(उत्पादक अंगों)-वाली और **बहुसूवरी**=बहुत सन्तानों को जन्म देनेवाली है, **तस्यै**=उस **सिनीवाल्यै**=पर्वों में अन्न देनेवाली **विश्पत्न्यै**=प्रजाओं की रक्षक गृहपत्नी के लिए **हविः जुहोतन**=ग्रहण-योग्य पदार्थों को प्राप्त कराओ। २. पति को चाहिए कि वह इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खे कि पत्नी को गृह की सुव्यवस्था के लिए किसी पदार्थ की कमी न रहे।

भावार्थ—उत्तम पत्नी वही है जिसके अंग उत्तम हैं, जो उत्तम सन्तानों को जननेवाली है, अन्न आदि का दान व प्रजाओं का रक्षण करती है। पति को चाहिए कि इस पत्नी के लिए

आवश्यक पदार्थों की कमी न होने दे।

सूचना—मन्त्र का यह भाव भी हो सकता है कि पति ऐसी पत्नी को प्राप्त करने के लिए यज्ञशील हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रं प्रतीची अभियन्ती देवी

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व॥ ३॥

१. **या विश्पत्नी**=जो प्रजाओं का पालन करनेवाली तू **इन्द्रं प्रतीची असि**=जितेन्द्रिय पति के अभिमुख प्राप्त होनेवाली है, वह तू **सहस्रस्तुका**=सहस्रों स्तुतियोंवाली, खूब ही प्रभुस्तवन करनेवाली **अभियन्ती**=कर्त्तव्य-कर्मों की ओर गतिवाली **देवी**=प्रकाशमय जीवनवाली है। २. हे **विष्णोः पत्नि**=उदार-हृदयवाले पति की पत्नि! **तुभ्यं हवींषि राता**=तेरे लिए सब हव्य पदार्थ इस पति द्वारा प्राप्त कराये गये हैं। हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली पत्नि! तू **पतिम्**=पति को **राधसे**=सिद्धि के लिए, कार्यों में सफलता के लिए अथवा ऐश्वर्य के लिए **चोदयस्व**=प्रेरित कर।

भावार्थ—पत्नी पति के लिए अनुकूल हो, प्रभुस्तवनपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाली व प्रकाशमय जीवनवाली हो। यह सदा उदार-हृदय पति को ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करनेवाली होती है।

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कुहूः**॥ छन्दः—**जगती**॥

कुहू देवी

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नियच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य [म्॥ १॥

१. **कुहूम्**=(कुह विस्मापने) अद्भुत क्रियाशीलता व कार्यकुशलता से विस्मापनशीला, (कुहूर्गूहते, सती हूयते इति वा—नि० ११।३२) घर की बातों को संवृत रखनेवाली व 'कहाँ हो?' इसप्रकार पति से पुकारी जानेवाली **देवीम्**=प्रकाशमय जीवनवाली **सुकृतम्**=शोभन कर्मोंवाली, **विद्मना अपसम्**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली पत्नी को **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ-यज्ञ में **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। २. **सुहवा सा**=उत्तमता से पुकारने योग्य वह पत्नी **नः**=हमारे लिए **विश्ववारं रयिम्**=सबसे वरण के योग्य ऐश्वर्य को **नियच्छात्**=प्राप्त कराए व उस धन का सम्यक् नियमन करे और हमारे लिए **वीरम्**=वीर **शतदायम्**=सैकड़ों धनों का दान करनेवाले **उक्थ्यम्**=प्रशस्त जीवनवाले सन्तान को **ददातु**=प्राप्त कराए।

भावार्थ—अद्भुतरूप से कार्यकुशल, ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाली पत्नी इस गृहस्थ-यज्ञ में धन का ठीक प्रकार से नियमन करती हुई, हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कुहूः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवानाम् अमृतस्य पत्नी

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु॥ २॥

१. **कुहूः**=अपनी कार्यकुशलता से सबको विस्मित करनेवाली, **देवानाम्**=दिव्य गुणों का

तथा **अमृतस्य**=नीरोगता का **पत्नी**=रक्षण करनेवाली यह **हव्या**=पुकारने योग्य व प्रभु का आह्वान करने में उत्तम पत्नी **नः**=हमारी **अस्य हविषः**=इस हवि का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। यह यज्ञशील हो। २. **यज्ञं उशती**=यज्ञों की कामना करती हुई, यह **नः शृणोतु**=हमारी पुकार को सुने और **चिकितुषी**=समझदार होती हुई **अद्य**=आज **रायस्पोषं दधातु**=हमारे लिए धनों का पोषण करे।

भावार्थ—उत्तम गृहपत्नी वही है जो 'कार्यकुशलता, दिव्यगुणों व नीरोगता को धारण करनेवाली तथा प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली है। यह यज्ञों का सेवन करती हुई प्रभु की पुकार को सदा स्मरण करे। यह हमारे लिए धनों का पोषण करे।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राका

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य ँम्॥ १॥

१. **राकाम्**=(राका पूर्णे निशाकरे) पूर्ण निशाकर (चन्द्र) के समान शोभायमान इस गृहपत्नी को मैं **सुहवा**=उत्तम प्रकार से तथा **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतिवचनों द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। यह **सुभगा**=सौभाग्यवती पत्नी **नः शृणोतु**=हमारी पुकार को सुने। **त्मना बोधतु**=और स्वयं ही कुशलता से हमारे अभिप्राय को समझनेवाली हो। २. हमारे अभिप्राय को समझती हुई यह **अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु**=न छिन्न होती हुई सूचीस्थानीया 'सीवनी' नाड़ी से प्रजनन लक्षण कर्म को सतत करे (षिवु तन्तुसन्ताने) (राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति यैषा शिश्नेऽधि, पुमांसो अस्य पुत्रा जायन्ते—ऐ० ३।३७)। २. यह राका हमारे लिए **वीरम्**=वीरता से युक्त, **शतदायम्**=सैकड़ों धनों का दान करनेवाले, **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय पुत्र को **ददातु**=दे, हमारे लिए 'प्रशस्त, उदार, वीर' सन्तानों को प्राप्त कराए।

भावार्थ—पत्नी पूर्णचन्द्र के समान चमके, सब गुणों से युक्त हो। यह पति के अभिप्राय को समझती हुई 'प्रशस्त, उदार, वीर' सन्तान को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुपेशसः 'सुमतयः'

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा॥ २॥

१. हे **राके**=पूर्णचन्द्रवत् शुभानने! अथवा सब-कुछ प्राप्त करानेवाली (रा दाने) गृहपत्नि! **याः**=जो **ते**=तेरी **सुमतयः**=उत्तम मतियाँ हैं, वे **सुपेशसः**=उत्तम सौन्दर्य का निर्माण करनेवाली हैं, **याभिः**=जिन सुमतियों से **दाशुषे**=तेरे लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले इस पति के लिए तू **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब पदार्थों को **ददासि**=देती है। पति धन प्राप्त कराता है, पत्नी उस धन का सदुपयोग करती हुई वसुओं को उपस्थित करती है। २. **ताभिः**=उन सुमतियों के साथ **अद्य**=आज **सुमनाः**=प्रशस्त मनवाली होती हुई तू **नः उपागहि**=हमें समीपता से प्राप्त हो। हे **सुभगे**=उत्तम सौभाग्यसम्पन्न पत्नि! तू **सहस्रापोषं रराणा**=हज़ारों प्रकार से पोषणों को प्राप्त करानेवाली हो और सुभगा होती हुई इस घर को सौभाग्यसम्पन्न बना।

भावार्थ—पत्नी को पूर्ण चन्द्रमा के समान शोभावाला होना चाहिए। वह अपनी उत्तम

मतियों से सब वसुओं को जुटानेवाली हो। उसके कारण घर सब प्रकार से पोषण को प्राप्त हो।

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥

तुजये वाजसातये

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥ १॥

१. **देवानां पत्नीः**=दिव्य गुणों का अपने में रक्षण करनेवाली, **उशतीः**=हित की कामनावाली, ये पत्नियाँ **नः अवन्तु**=हमें प्रीणित करनेवाली हों। **नः**=हमें **तुजये**=उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराने के लिए तथा **वाजसातये**=शक्तिप्रद अन्न प्राप्त कराने के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। २. **याः**=जो ये पत्नियाँ **पार्थिवासः**=पृथिवी-स्थानीय हैं (**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**) पृथिवीवत् दृढ़ व पालन करनेवाली हैं, **अपि**=और (अपि=चार्थे) **याः**=जो **अपां व्रते**=जलों के व्रत में स्थित हैं, जलों की भाँति ही शान्त, मधुर स्वभाववाली हैं। **ताः**=वे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **सुहवाः**=शोभन आह्वानवाली पत्नियाँ **नः**=हमारे लिए **शर्म यच्छन्तु**=सुख दें।

भावार्थ—पत्नी का मुख्य कार्य उत्तम सन्तान को जन्म देना व सबके लिए स्वास्थ्यकर अन्न प्राप्त कराना है। ये अपने में दिव्य गुणों का रक्षण करें, पृथिवी की भाँति सबका पालन करनेवाली हों, जलों की भाँति शान्त व मधुर हों, सुन्दरता से पुकारनेवाली हों, घर में सुख का विस्तार करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवपत्न्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापङ्क्तिः** ॥

ग्नाः व्यन्तु

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ २॥

१. **उत**=और ये **देवपत्नीः**=(देवपतयो यासां ताः) दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों की पत्नियाँ **ग्नाः व्यन्तु**=इन वेदवाणियों की कामना करें (कामयन्ताम् अश्नन्तु वा) ये वेदवाणियाँ ही इनका अध्यात्म भोजन बनें। ये **इन्द्राणी**=इन्द्र की पत्नी, जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **अग्नायी**=अग्नि की पत्नी, प्रगतिशील पुरुष की पत्नी, **अश्विनी**=(अश्विनो जाया) प्राणापान के साधक पुरुष की पत्नी, **राट्**=राजन्ती, दीप्त जीवनवाली हो। २. यह **रोदसी** (रुद्रस्य जाया)=रुद्र की पत्नी, रोगों को दूर भगानेवाले पुरुष की पत्नी तथा **वरुणानी**=पापों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी **आशृणोतु**=सदा इन वेदवाणियों को सुनें तथा **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाली स्त्रियाँ **यः जनीनां ऋतुः**=जो जायाओं का (सन्तान को जन्म देनेवाली स्त्रियों का) काल है, उस समय **व्यन्तु**=वेदवाणियों की कामना करें। गर्भ में सन्तान की वृद्धि करनेवाली ये स्त्रियाँ यदि इस समय इन वाणियों को सुनेंगी तो 'इन्द्र, अग्नि, अश्विन्, रुद्र व वरुण' के गुणों से युक्त सन्तानों को जन्म देनेवाली होंगी।

भावार्थ—दिव्यगुणों को धारण करनेवाले पुरुषों की पत्नियाँ वेदवाणियों की कामना करती हुई 'जितेन्द्रिय, प्रगतिशील, प्राणशक्ति-सम्पन्न, नीरोग व निष्पाप जीवनवाली' सन्तानों को जन्म देंगी।

उत्तम माता से जन्म लेनेवाली यह सन्तान 'अङ्गिराः'=अंग-प्रत्यंग में रसवाली—शक्तिशाली होती है। 'अङ्गिराः' ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कितव-निराकरण

यथा॑ वृ॒क्षम॒शनि॑र्वि॒श्वाहा॒ हन्त्य॑प्र॒ति। ए॒वाहम॒द्य कि॑त॒वान॒क्षैर्ब॑ध्यासमप्र॒ति॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **अशनिः**=वैद्युत अग्नि अप्रतिम=अनुपम शक्तिवाला होता हुआ **विश्वाहा**=सदा **वृक्षं हन्ति**=वृक्ष को नष्ट करता है, **एव**=इसी प्रकार **अहम्**=मैं **अद्य**=आज **अप्रति**=प्रतिपक्षरहित होता हुआ **कितवान्**=जुआरियों को **अक्षैः**=पासों के साथ **बध्यासम्**=नष्ट करता हूँ, राष्ट्र से इन्हें दूर करता हूँ। २. जुआ (द्यूत) अपुरुषार्थ का प्रतीक है। पुरुषार्थ के बिना धन प्राप्त करने के सब मार्ग राष्ट्र के अनैश्वर्य का कारण बनते हैं, अतः राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्र में द्यूतप्रवृत्तियों को जागरित न होने दे।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में द्यूतप्रवृत्ति को न पनपने दे।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

श्री का निवास कहाँ?

तु॒राणा॒मतु॑राणां वि॒शामव॑र्जुषीणाम्।
स॒मैतु॑ वि॒श्वतो॒ भगो॑ अन्तर्ह॒स्तं कृ॒तं मम॑॥ २॥

१. **तुराणाम्**=जल्दबाज़ों का, बिना विचारे शीघ्रता से कार्य करनेवालों का, **अतुराणाम्**=आलस्य के कारण स्फूर्ति से कार्य न कर सकनेवालों का, **अवर्जुषीणाम्**=बुराइयों को, अन्याय्य मार्गों को न छोड़नेवाली **विशाम्**=प्रजाओं का **भगः**=ऐश्वर्य **विश्वतः**=सब ओर से **समैतु**=मुझे प्राप्त हो। इन दोषों से रहित यह ऐश्वर्य **मम अन्तः हस्तं कृतम्**=मेरे हाथों के अन्दर किया जाए।

भावार्थ—ऐश्वर्य (श्री) का निवास वहाँ होता है जहाँ १. सब कार्य विचारपूर्वक किये जाएँ, जल्दबाजी में नहीं २. जहाँ आलस्य न करके कार्यों को स्फूर्ति से किया जाए और ३. जहाँ अशुभ व अन्याय्य मार्ग का वर्जन हो।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'स्वावसु' प्रभु

ईडे॑ अ॒ग्निं स्वाव॑सुं नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत्कृ॒तं नः।
रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वा॒जय॑द्भिः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम्॥ ३॥

१. मैं **स्वावसुम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा **ईडे**=पूजित करता हूँ। **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में **प्रसक्तः**=प्रकर्षेण सम्बद्ध हुआ-हुआ वह प्रभु **नः कृतं विचयत्**=हमारे पुरुषार्थ का वर्धन करे। प्रभु का निवास हमारे अन्दर ही है। वहाँ हृदय में हम प्रभु के साथ बैठने का यत्न करें, प्रभु हमारे पुरुषार्थ व पुण्य का वर्धन करेंगे। २. **वाजयद्भिः**=शक्तिशाली की भाँति आचरण करते हुए **रथैः**=रथों से **इव**=जिस प्रकार शत्रु पर आक्रमण किया जाता है, उसी प्रकार मैं **प्रभरे**=शत्रुओं पर आक्रमण करता हूँ। इसप्रकार शत्रुओं का पराजय करता हुआ मैं **मरुतां स्तोमम्**=प्राणों के समूह को **प्रदक्षिणम्**=अनुक्रमेण **ऋध्याम्**=बढ़ानेवाला बनूँ। काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करके मैं उपचित (बढ़ी हुई) प्राणशक्तिवाला बनूँ।

भावार्थ—हम अन्तःस्थित प्रभु का हृदय-देश में ध्यान करें। प्रभु हमारे पौरुष को बढ़ाएँ। हम शत्रुओं को पराजित करें। इसप्रकार काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके हम अपनी

प्राणशक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विजय

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **त्वया युजा**=आपके साथ मिलकर **वयम्**=हम **वृतम्**=हमें घेर लेनेवाले व हमपर आवरण के रूप में आ जानेवाले 'काम,क्रोध,लोभ' रूप शत्रुओं को **जयेम**=जीतें। **अस्माकम् अंशम्**=हमारे अंश (भाग) को **भरेभरे**=प्रत्येक संग्राम में आप **उद् अव**=प्रकर्षेण रक्षित कीजिए। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सुगं वरीयः कृधि**=सुगमता से प्राप्य श्रेष्ठ धन दीजिए, हम कुटिल मार्गों से धनार्जन करनेवाले न हों। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शत्रूणां वृष्ण्या**=शत्रुओं के बलों को **प्ररुज**=प्रकर्षेण भग्न कीजिए, आपके साथ हम शत्रुओं पर विजय पानेवाले बनें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में प्रभु का स्मरण करते हुए हम काम, क्रोध आदि शत्रुओं को परास्त करें और उत्तम मार्गों से न्याय्य धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं को कुचल देना

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम्॥ ५॥

१. हे राजस् व तामस् भाव! **संलिखितं त्वा**=हृदयपटल पर सम्यक् लिखित (अंकित) हुए-हुए भी तुझे **अजैषम्**=मैं पराजित करता हूँ। **उत**=और **संरुधम्**=उन्नति के मार्ग में रोकनेवाले विघ्नभूत तुझे **अजैषम्**=मैं पराजित करता हूँ। २. **यथा**=जैसे **वृकः**=भेड़िया **अविं मथत्**=भेड़ को मथ डालता है **एव**=इसी प्रकार **ते कृतम्**=तेरे द्वारा उत्पन्न किये गये राजस् और तामस् सब विकारों को **मथ्नामि**=कुचल डालता हूँ।

भावार्थ— 'काम, क्रोध' का हृदय में जो दृढ़ स्थापन हुआ है, उसे मैं उखाड़ फेंकता हूँ। इनके द्वारा उन्नति-पथ में होनेवाले विघ्नों को नष्ट करता हूँ। इन्हें कुचलकर मैं उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हूँ।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

लोभ-विजय

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः॥ ६॥

१. **उत**=और **अतिदीवा**=(दिव् विजिगीषायाम्) अतिशयेन विजय की कामनावाला यह साधक **प्रहाम्**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाले इस लोभ को **जयति**=जीतता है, लोभ को पराजित करके व्यसनवृक्ष के मूल को काटनेवाला बनता है। **श्वघ्नी**=(श्वघ्नी स्वं हन्ति—नि० ५।२२) लोभाभिभूत होकर आत्मघात करनेवाला यह व्यक्ति **कृतम् इव**=अपने किये हुए कर्मों के अनुसार **काले विचिनोति**=समय पर फल को संचित (प्राप्त) करता है। लोभ अन्ततः उसके विनाश का कारण बनता है '**अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति**'॥ लोभ के कारण न्याय्य-अन्याय्य सभी मार्गों से धनार्जन करता हुआ यह फूलता-

फलता है और खूब ऊँचा उठकर इसप्रकार गिरता है कि इसका समूल विनाश हो जाता है। २. **यः देवकामः**=जो दिव्यगुणों व प्रभुप्राप्ति की कामनावाला होता है, वह **धनं न रुणद्धि**=धन को अपने समीप रोकता नहीं, अपितु यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसे प्रवाहित होने देता है, **तम् इत्**=उस देवकाम पुरुष को ही प्रभु **स्वधाभिः**=आत्मधारण-शक्तियों के साथ **रायः संसृजति**=धन देता है। असुरकाम पुरुष धनों के द्वारा ही व्यसनाक्रान्त होकर निधन को प्राप्त होता है।

भावार्थ—विजिगीषु पुरुष लोभाभिभूत न होकर धनों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवाहित करता है। प्रभु इसे आत्मधारणशक्ति के साथ धनों को प्राप्त कराते हैं, परन्तु लोभाभिभूत होकर यह आत्मघात करता है, अपने किये कर्मों के परिणामस्वरूप कुछ देर चमककर समूल नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

गोदुग्ध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम॥ ७॥

१. **गोभिः**=गोदुग्ध के सेवन से हम उस **अमतिम्**=कुत्सित मति को **तरेम**=पार कर जाएँ, जोकि **दुरेवाम्**=हमें दुष्टमार्ग पर ले-जाती है। गोदुग्ध सात्त्विक होने से हमें सुमति-सम्पन्न करके शुभ मार्ग पर ले-चलता है। हे **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वे**=हम सब **क्षुधम्**=भूख को **वा**=निश्चय से **यवेन**=जौ के द्वारा दूर करनेवाले हों। गोदुग्ध व जौ हमारा भोजन हो। २. इस सात्त्विक भोजन के द्वारा **वयम्**=हम **राजसु**=दीप्त जीवनवालों में **प्रथमाः**=प्रथम हों तथा **अरिष्टासः**=किसी भी प्रकार 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रुओं से हिंसित न होते हुए **वृजनीभिः**=पाप का वर्जन करनेवाली शक्तियों के द्वारा **धनानि जयेम**=धनों पर विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—'गोदुग्ध व यव' वह सात्त्विक भोजन है जो हमें दुष्ट मार्ग पर ले-जानेवाली कुमति से बचाता है। गोदुग्ध व यव का सेवन करते हुए हम दीप्त जीवनवाले बनें। वासनाओं से हिंसित न होते हुए हम शुभ मार्गों से ही धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

पुरुषार्थ और विजय

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥ ८॥

१. **कृतम्**=पुरुषार्थ **मे दक्षिणे हस्ते**=मेरे दाहिने हाथ में हो, तब **मे सव्ये**=मेरे बायें हाथ में **जयः आहितः**=विजय स्थापित होती है। पुरुषार्थ से ही विजय प्राप्त होती है। मैं पुरुषार्थ करता हूँ और विजयी बनता हूँ। २. उस समय मैं **गोजित् भूयासम्**=गौवों का विजय करनेवाला, **अश्वजित्**=अश्वों का विजेता, **धनंजयः**=धनों का विजय करनेवाला और **हिरण्यजित्**=स्वर्ण का जीतनेवाला बनता हूँ अथवा मैं ज्ञानेन्द्रियों (गोजित्), कर्मेन्द्रियों (अश्वजित्), ज्ञानधन (धनंजयः), तथा हितरमणीय आत्मज्ञान (हिरण्यजित्) को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—पुरुषार्थ ही मनुष्य को विजयी बनानेवाला है। यह हमें 'गोजित्, अश्वजित्, धनंजय व हिरण्यजित्' बनाता है।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

पुरुषार्थमय जीवन

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत॥ १॥

१. **अक्षाः**=हे इन्द्रियो! आप मुझे **फलवतीं द्युवम्**=सफल सार्थक व्यवहार को (दिव् व्यवहारे) **दत्त**=दो। मैं इन्द्रियों से जिन क्रियाओं को करूँ, वे सब क्रियाएँ सफल हों। मेरे लिए यह व्यवहार इसप्रकार फलवाला हो **इव**=जैसे **क्षीरिणीं गाम्**=दूधवाली गौ होती है। मुझसे किया गया व्यवहार मेरे लिए दुधारू गौ के समान लाभप्रद हो। २. हे इन्द्रियो! **मा**=मुझे **कृतस्य धारया**=पुरुषार्थ के धारण से इसप्रकार **संनह्यत**=बाँध दो, **इव**=जैसेकि **धनुः स्नाव्ना**=धनुष को स्नायु-निर्मित डोरी से बाँधते हैं। मेरे इस पुरुषार्थरूपी धनुष का एक सिरा मस्तिष्क हो, दूसरा हृदय। इन दोनों सिरों को कसकर मैं विद्या व श्रद्धा के साथ कर्मरूप तीरों को चलानेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों से सदा उत्तम पुरुषार्थ को सिद्ध करनेवाला बनूँ। मैं श्रद्धा और विद्या के साथ कर्म करता हुआ सफल जीवनवाला बनूँ।

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्राबृहस्पती॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

बृहस्पति+इन्द्र (ज्ञान+शक्ति)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥ १॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **परिपातु**=रक्षित करे **उत**=और **उत्तरस्मात्**=उत्तर से व **अधरात्**=दक्षिण से **अघायोः**=जिघांसु—हमारे विनाश की कामनावाले पुरुष व शत्रुभूत 'काम, क्रोध, लोभ' से बचाये। २. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला शक्तिशाली प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से तथा **मध्यतः**=मध्यभाग से **नः**=हमें रक्षित करे। **सखा**=वह मित्रभूत प्रभु **सखिभ्यः नः**=हम मित्रों के लिए **वरीयः कृणोतु**=उत्कृष्ट धन प्रदान करे।

भावार्थ—हम ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करते हुए सब हिंसक शत्रुओं से अपना रक्षण करें। अपना रक्षण करते हुए उत्कृष्ट धन प्राप्त करें।

ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' (स्थिर चित्तवृत्तिवाला) बनता है। यह 'सांमनस्य' वाला अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—सांमनस्यम्, अश्विनौ॥ छन्दः—ककुम्मत्यनुष्टुप्॥

संज्ञान—प्राणसाधना

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥ १॥

१. **नः**=हमारा **स्वेभिः**=अपनों के साथ **संज्ञानम्**=ज्ञान—ऐकमत्य हो। **अरणेभिः**= (अरमणैः अनुकूलमवदद्भिः) प्रतिकूल पुरुषों के साथ भी **संज्ञानम्**=ऐकमत्य हो। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **इह**=यहाँ इस जीवन में **अस्मासु**=हममें **संज्ञानं नियच्छतम्**= ऐकमत्य को नियमित करो, स्थापित करो। प्राणसाधना के द्वारा शुद्ध मनवाले होकर हम परस्पर ऐकमत्यवाले हों।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा मानस मलों का उपक्षय करते हुए परस्पर ऐकमत्यवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सांमनस्यम्, अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

'मन व बुद्धि' से परस्पर ऐक्य

सं जा॑नामहै॒ मन॑सा॒ सं चि॑कि॒त्वा मा यु॑ष्महि॒ मन॑सा॒ दैव्ये॑न।
मा घोषा॒ उत्स्थु॑र्ब॒हुले वि॒निर्ह॑ते॒ मेषुः॑ पप्त॒दिन्द्र॒स्याह॒न्याग॑ते॥ २॥

१. **मनसा**=मन के द्वारा हम **संजानामहै**=समान विचारवाले हों तथा **चिकित्वा**=(चिकित्वना) ज्ञान से भी हम **सम्**=संज्ञानवाले हों। हमारे मन व बुद्धि हमें संज्ञान की ओर ले-चलें। हम **दैव्येन मनसा**=दिव्य गुणवाले मन से **मा युष्महि**=कभी पृथक् न हों। २. **बहुले**=(बहुल The dark half of month) कृष्णपक्ष के अन्धकार के **विनिर्हते**=नष्ट कर दिये जाने पर **घोषाः**=अन्धकार में होनेवाली ध्वनियाँ **मा उत्स्थुः**=न उठें, अर्थात् राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था के ठीक होने से प्रकाश-ही-प्रकाश हो, लोगों में हाहाकार न मचता रहे और **अहनि आगते**=दिन निकलने पर **इन्द्रस्य इषुः** (अशनिः)=अशनिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् **मा पप्तत्**=हमपर न गिरे। वैमनस्य के कारण दूसरों की कठोर वाणियाँ हमपर न गिरें, हम परस्पर अनुकूल वाणीवाले हों।

भावार्थ—हम मन व बुद्धि से परस्पर संज्ञानवाले हों। हमारा मन दिव्य हो। हमारे राष्ट्र से अन्धकार दूर हो, हाहाकार न होता रहे और हमपर विद्युत् के समान मर्मभेदिनी वाणियाँ न गिरें।

इसप्रकार संज्ञानवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' (बड़ा) बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि ब्रह्मा ही है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'यम व बृहस्पति' की अभिशस्ति से बचना

अ॒मु॒त्र॒भूया॒दधि॒ यद्य॒मस्य॒ बृह॑स्पतेर॒भिश॑स्ते॒रमु॑ञ्चः।
प्रत्यौ॑हताम॒श्विना॑ मृ॒त्युम॒स्मद्दे॒वाना॑मग्ने॒ भि॒षजा॒ शची॑भिः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत्**=जब **अमुत्रभूयात्**=(परलोके भवनं अमुत्रभूयम्) परलोक में होने से, अर्थात् मृत्यु से या प्रतिक्षण परलोक की बातें करते रहकर इस लोक को सुन्दर न बनाने से आप **अधि अमुञ्चः**=हमें मुक्त करते हैं, **यमस्य अभिशस्तेः**=यम के हिंसन से, अर्थात् नियमपूर्वक (Regular) जीवन न बिताने से मुक्त करते हैं तथा **बृहस्पतेः** (अभिशस्तेः)=बृहस्पति के हिंसन से, अर्थात् स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवृद्धि न करने से मुक्त करते हैं, अर्थात् जब हम (क) परलोक की बातें न करके इस लोक को सुन्दर बनाने में लगते हैं, (ख) जब हम नियमपूर्वक, सूर्य-चन्द्रमा की भाँति व्यवस्थित जीवन बिताते हैं, (ग) और जब हम स्वाध्यायशील बनते हैं, तब **अश्विना**=प्राणापान **अस्मत्**=हमसे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करते हैं। २. हे प्रभो! ये (अश्विना) प्राणापान **शचीभिः**=शक्तियों के द्वारा **देवानां भिषजा**=इन्द्रियों के वैद्य हैं। प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं और मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—हम परलोक का चिन्तन न करते रहकर इस लोक को सुन्दर बनाएँ। २. 'यम' का हिंसन न करें, अर्थात् सूर्य-चन्द्र की तरह नियमित जीवनवाले बनें। ३. बृहस्पति का हिंसन न करें, अर्थात् स्वाध्यायशील बनें। ४. प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। ऐसा करने पर ये प्राणापान हमें स्वस्थ बनाकर दीर्घजीवी बनाएँगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गोपाः, अधिपाः, वसिष्ठः, अग्निः

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठ॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आप इस आयुष्काम पुरुष के शरीर में **संक्रामतम्**=मिलकर सम्यक् गतिवाले होवो। इसके **शरीरं मा जहीतम्**=शरीर को मत छोड़ो। हे आयुष्काम! **प्राणापानौ**=ये प्राणापान **ते इह**=तेरे इस शरीर से **सयुजौ स्ताम्**=परस्पर संयुक्त हों, मिलकर कार्य करनेवाले हों। जब तक ये मिलकर कार्य करते रहते हैं, तब तक जीवन ठीक बना रहता है। २. हे आयुष्काम! तू **शतं शरदः जीव**=सौ वर्षपर्यन्त जीवनवाला हो। **वर्धमानः**=तू शरीर में स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से, मन में नैर्मल्य के दृष्टिकोण से तथा बुद्धि में दीप्ति के दृष्टिकोण से सदा बढ़ता हुआ हो। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **ते गोपाः**=तेरा रक्षक है, **अधिपाः**=अधिष्ठातृरूपेण पालन करनेवाला है, **वसिष्ठः**=वासयितृतम है, तेरे निवास को सर्वाधिक श्रेष्ठ बनानेवाला है।

भावार्थ—शरीर में प्राणापान मिलकर समुचित रूप से कार्य करते हुए हमें दीर्घजीवी बनाएँ। वह अग्रणी प्रभु हमारा रक्षक, पालक व वासयिता हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

प्राणापान की अपराङ्मुखता

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥ ३॥

१. हे आयुष्काम! **ते यत् आयुः**=तेरा जो जीवन **पराचैः अतिहितम्**=पराङ्मुख होकर चला गया है, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **तत्**=उस जीवन को **निर्ऋतेः उपस्थात्**=निकृष्टगमन (मृत्यु) की गोद से **आ अहाः**=आहृत करे, वापस ले-आये। **तत्**=उस जीवन को **ते आत्मनि**=तेरे शरीर में **पुनः आवेशयमि**=फिर से स्थापित करता हूँ। २. **अपानः**=अपान और **प्राणः**=प्राण **तौ**=वे दोनों **पुनः**=फिर **आ इताम्**=यहाँ शरीर में चारों ओर गतिवाले हों। प्राणापान की क्रिया ठीक होकर ही दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणापान की पराङ्मुखता में मृत्यु है और इनकी अनुकूलता मृत्यु से ऊपर उठाकर दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च ॥ छन्दः—उष्णिग्गर्भार्षीपङ्क्ति ॥

सप्तर्षियों के प्रति अर्पण

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो ऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥ ४॥

१. **इमम्**=इस पुरुष को **प्राणः मा हासीत्**=प्राण मत छोड़ जाए और **मो**=मत ही **अपानः**=अपान **अवहाय**=छोड़कर **परागात्**=दूर चला जाए। इस पुरुष के शरीर में ये प्राणापान ठीक गति करते रहें। २. मैं **सप्तर्षिभ्यः**=सात शीर्षण्य प्राणों के लिए (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) **एनं परिददामि**=इसे दे डालता हूँ। इसकी रक्षा के लिए उन्हें सौंप देता हूँ। **ते**=वे **एनम्**=इस पुरुष को **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **जरसे**=पूर्ण जरावस्था **वहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यह युवावस्था में ही शरीर न छोड़ जाए।

भावार्थ—हमारे शरीर में प्राणापान की क्रिया ठीक हो। 'कान, नाक, आँख, मुख' सब

ठीक बने रहें। इसप्रकार हम पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

जरिम्णाः, शेवधिः, अरिष्टः

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥ ५॥

१. हे **प्राणापानौ**=प्राण और अपान! **प्रविशतम्**=इस आयुष्काम के शरीर में प्रवेश करो। इसप्रकार प्रवेश करो **इव**=जैसेकि **अनड्वाहौ**=दो बैल **व्रजम्**=एक गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। २. **अयम्**=यह आयुष्काम पुरुष **जरिम्णः शेवधिः**=जरा का—पूर्ण वृद्धावस्था का कोश हो। **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ, मृत्यु की बाधा से रहित होता हुआ, सब इन्द्रियों से अहीन होता हुआ **इह वर्धताम्**=इस लोक में समृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे शरीर में प्राणापान अपने-अपने स्थान में ठीक प्रकार से स्थित हों। यह पुरुष दीर्घजीवी बने, सब अंगों में अहिंसित होता हुआ बढ़े।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

नीरोगता व दीर्घजीवन

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥ ६॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **ते**=तेरे **प्राणम्**=प्राण को **आसुवामसि**=शरीर में समन्तात् प्रेरित करते हैं, और इसप्रकार **ते यक्ष्मम्**=तेरे रोग को **परासुवामि**=पराङ्मुख प्रेरित करते हैं। २. **अयम्**=यह **वरेण्यः**=वरणीय (संभजनीय) **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारे लिए **विश्वतः**=सब ओर से, सब दृष्टिकोणों से **आयुः दधत्**=दीर्घजीवन धारण करे।

भावार्थ—प्राणशक्ति के ठीक से कार्य करने से हमारे शरीर नीरोग हों। प्रभु की उपासना करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

देवत्रा देवम् (उत्तम ज्योतिः)

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ७॥

१. ('पाप्मा वै तमः'—तै० ५।१।८।६) **वयम्**=हम **तमसः परि**=पाप से परे (ऊपर) **उत्**=उत्क्रान्त होते हुए **उत्तमम्**=उत्कृष्ट **नाकम्**=दुखसंस्पर्शरहित स्वर्ग को **रोहन्तः**=आरोहण करते हुए **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो प्रभु **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति हैं और **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं, सर्वोत्तम देव—महादेव हैं।

भावार्थ—हम पाप से ऊपर उठकर, उत्तम स्वर्ग में आरोहण करते हुए, देवों में भी देव, उत्तम ज्योति, सर्वप्रेरक प्रभु को प्राप्त करें।

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ऋक्सामनि॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विद्या+श्रद्धा

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥ १॥

१. 'ऋक्' विज्ञान का प्रतीक है, 'साम' उपासना (श्रद्धा) व शान्ति का प्रतीक है। ऋक् का स्थान 'मस्तिष्क' है, साम का 'हृदय। हम अपने जीवनों में **ऋचं साम**=विज्ञान व श्रद्धा को, मस्तिष्क व हृदय को **यजामहे**=संगत कर देते हैं। हमारे जीवनरूप धनुष् का एक सिरा 'ऋक्' (विज्ञान) है और दूसरा 'साम' 'उपासना' है। ये ही वे दो तत्त्व हैं **याभ्याम्**=जिनसे कि **कर्माणि कुर्वते**=सब कर्मों को किया करते हैं। विद्या व श्रद्धा से किये जानेवाले कर्म ही वीर्यवत्तर हुआ करते हैं। २. **एते**=मिले हुए ये ऋक् और साम, विद्या और श्रद्धा ही **सदसि राजतः**=सभा में शोभायमान होते हैं। सभा में प्रतिष्ठा 'श्रद्धावान् ज्ञानी' की होती है, केवल श्रद्धालु की नहीं, केवल ज्ञानी की नहीं। ये ऋक् और साम **देवेषु**=देववृत्ति के विद्वानों में **यज्ञं यच्छतः**=यज्ञ को देते हैं। विज्ञान और श्रद्धा होने पर ही देव यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—श्रद्धा और विद्या के समन्वय से सृष्टि में उत्तम कर्म होते हैं। इनका मेल ही सभा में शोभा का कारण बनता है। इन दोनों के होने पर देव यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हविः, ओजः, बलम्

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते॥ २॥

१. **यत्**=जब मैं **ऋचं हविः अप्राक्षम्**=(ऋग्वेद=विज्ञानवेद) इस विज्ञानवेद से हवि माँगता हूँ (**प्र**=ह्वेञ् ask for), अर्थात् विज्ञान के द्वारा हव्य (पवित्र) पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ और जब **साम ओजः अप्राक्षम्**=(सामवेद=उपसनावेद) प्रभु की उपासना से ओजस्विता की प्रार्थना करता हूँ, अर्थात् प्रभु की उपासना से—प्रभु के ओज से ओजस्वी बनता हूँ और इसी प्रकार **यजुः बलम्**= (यजुर्वेद=कर्मवेद) श्रेष्ठतम कर्मों से बल की प्रार्थना करता हूँ, अर्थात् उत्तम कर्मों को करता हुआ बलवान् बनता हूँ। २. **तस्मात्**=उस कारण से हे **शचीपते**=शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **एषः**=यह **पृष्टः वेदः**=इसप्रकार पूछा हुआ, प्रार्थना किया हुआ वेद **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे।

भावार्थ—यदि हम ऋग्वेद के विज्ञान से हव्य पदार्थों को निर्मित करें, साम द्वारा प्रभु की उपासना से ओजस्वी बनें तथा यजुर्वेद में निर्दिष्ट श्रेष्ठतम कर्म करते हुए सबल बनें तो वेद हमें हिंसित होने से बचाते हैं।

इस मन्त्र के अनुसार 'ऋक्, यजु, साम' से अपने को परिपक्व बनाता हुआ यह 'भृगु' (भ्रस्ज् पाके) बनता है। यह 'भृगु' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्** ॥

दिवः पन्थानः

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो॥ १॥

१. हे **वसो**=सबको उत्तम निवास देने व सबमें बसनेवाले प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **दिवः पन्थानः**=प्रकाश के मार्ग हैं, देवयान मार्ग हैं, **येभिः**=जिन मार्गों से आप **विश्वम् अव ऐरयः**=सम्पूर्ण विश्व को यहाँ नीचे (पृथिवी पर) प्रेरित करते हैं, **तेभिः**=उन मार्गों से **नः**=हमें **सुम्नया धेहि**=सुख में स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-निर्दिष्ट प्रकाश-मार्गों में चलते हुए सुख प्राप्त करें।

इन प्रकाशमार्गों से विचलित न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृश्चिकादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

(मधू) 'मधुका' सर्पविषनाशनी

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत्॥ १॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी॥ २॥

१. **तिरश्चिराजेः**=(तिरश्च्य राजयो यस्य) तिर्यग्भूत रेखाओंवाले, **असितात्**=कृष्णवर्ण के, **पृदाकोः**=(पर्द कुत्सिते शब्दे) कुत्सित शब्द करनेवाले सर्प से **परिसंभृतम्**=जो शरीर में चारों ओर व्याप्त हुआ है तथा **कंकपर्वणः**=कंकपक्षी के समान जोड़ोंवाले सर्प से **विषम्**=विष सम्भृत हुआ है, **तत्**=उस विष को **इयम्**=यह **वीरुत्**=विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त होती हुई मधुकाख्या ओषधि **अनीनशत्**=नष्ट करे। २. **इयं वीरुत्**=यह सर्पविष में प्रयुज्यमान ओषधि **मधुजाता**=मधु से निष्पन्न हुई है। **मधुश्चुत्**=मधुर रस स्राविणी है। **मधुला**=मधुमती, **मधुः**=मधू नामवाली है। **सा**=वह **विह्रुतस्य भेषजी**=विशेषरूप से कुटिलता को उत्पन्न करनेवाले विष की औषध है **अथो**=और निश्चय से **मशकजम्भनी**=दंशक मशकों को हिंसित करनेवाली है।

भावार्थ—विविध प्रकार के सर्पविष के प्रभावों को यह 'मधू' (मधुला) नामक ओषधि दूर करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृश्चकादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्पविष-निराकरण

यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम्॥ ३॥

१. विष-दष्ट पुरुष को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **यतः दष्टम्**=जिस स्थान में सर्पादि से डसा गया है, **यतः धीतम्**=जिस स्थान में सर्पादि से रुधिर पिया गया है। हे सर्पदष्ट पुरुष! **तत्**=वहाँ से **ते**=तेरे इस विष को **निर्ह्वयामसि**=पुकार कर बाहर करते हैं। २. इस **अर्भस्य**=छोटे से **तृप्रदंशिनः**=शीघ्रता से काटनेवाले व तीव्रता से काटनेवाले **मशकस्य**=मच्छर का **विषं अरसम्**=विष तो निर्वीर्य ही है (शृंगारादौ रसे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः) इस विष को दूर करना कठिन है ही नहीं।

भावार्थ—जहाँ सर्प काटता है और रुधिर पीता है, उस अंग से हम विष को पुकार कर बाहर करते हैं। इस छोटे-से तीव्रता से काटनेवाले मच्छर का विष तो निर्वीर्य ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः (विषभैषज्यम्)** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

विषजनित वक्रता का निरास

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः॥ ४॥

१. **अयम्**=यह **यः**=जो सर्पदष्ट पुरुष **वक्रः**=कुटिल अवयवोंवाला (संकोचित अवयवोंवाला) **विपरुः**=विश्लिष्ट पर्वोंवाला (विगतसन्धि) **व्यंगः**=विकृत अंगोंवाला होता हुआ **मुखानि**=मुख आदि अंगों को **वक्रा**=कुटिल व **वृजिना**=अनवस्थित-मुड़ा-तुड़ा हुआ, **कृणोषि**=करता है, हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् वैद्य! **तानि**=उन अंगों को तू इसप्रकार **संनमः**=सन्नत कर, सीधा कर **इव**=जैसेकि **इषीकाम्**=एक ऋजु व दीर्घ इषीका को, बलपूर्वक कुटिल की हुई को, उसकी

कुटिलता को दूर करके सरल कर देते हैं। इसी प्रकार इस सरलांग पुरुष को, विष के कारण जिसमें कुछ कुटिलता आ गई है, विषनिर्हरण द्वारा फिर यथावस्थित अंगोंवाला कर दे।

भावार्थ—विष के प्रभाव से अंगो में उत्पन्न कुटिलता व वक्रता को विष-दूरीकरण द्वारा एक सद्वैद्य दूर करके अंगों को पुनः सरलता प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शर्कोट हिंसन

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम्॥ ५॥

१. इस **अरसस्य**=निर्वीर्य, विषसामर्थ्यरहित **नीचीनस्य**=न्यग्भूत अवाङ्मुख—नीचे किये हुए मुखवाले, **उपसर्पतः**=समीप आते हुए **अस्य**=इस **शर्कोटस्य**=शर्कोट नामक (हिंसन द्वारा कुटिलता पैदा करनेवाले) सर्प के **विषम्**=विष को **हि**=निश्चय से **आ अदिषि**=खण्डित करता हूँ, विष को नष्ट करता हूँ **अथो**=और **एनम्**=इस विषवाले शर्कोट सर्प को भी **अजीजभम्**=मैंने हिंसित किया है।

भावार्थ—शर्कोट नामक विषैले प्राणी के विष को नष्ट करके उस विषैले प्राणी को भी मार देना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुच्छदंशी वृश्चिक

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम्॥ ६॥

१. हे पुच्छ से डसनेवाले वृश्चिक! **ते बाह्वोः बलं न अस्ति**=तेरी भुजाओं में बल नहीं है। **न शीर्षे**=न सिर में बल है, **उत**=और **न मध्यतः**=तेरे मध्यभाग (उदर) में भी बल नहीं है। **अथ**=अब **किम्**=क्यों **अमुय पापया**=इस पापिष्ठ, पर-पीड़ाकारिणी बुद्धि से **अर्भकम्**=इस अत्यल्प विष को **पुच्छे बिभर्षि**=पूँछ में धारण किये हुए है। तू तो व्यर्थ में ही पर-पीड़ा करने का यत्न करता है।

भावार्थ—बिच्छू व्यर्थ में पर-पीड़ाकारी विष को पूछँ में धारण करता है। इसी प्रकार कई मनुष्य भी सामने नहीं अपितु पीठ पीछे कुछ निन्दा करते रहते हैं, वे वृश्चिक के समान ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पिपीलिकाः, मयूर्यः

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम्॥ ७॥

१. हे सर्प! **त्वा पिपीलिकाः अदन्ति**=तुझे चीटियाँ खा जाती हैं। **मयूर्यः**=मोरनियाँ **विवृश्चन्ति**=विशेषरूप से छिन्न कर डालती हैं। **सर्वे**=सब सर्प-विषनिर्हरणक्षम पुरुष **भल ब्रवाथ**=(भल साध्वर्थवाची) ठीक ही कहते हैं कि **शार्कोटं विषम्**=शर्कोट नामक सर्प का विष **अरसम्**=निर्वीर्य है, इसका दूर करना कुछ कठिन नहीं।

भावार्थ—शर्कोट नामक सर्प को तो चीटियाँ व मोरनियाँ भी खा जाती हैं। 'इसका विष वस्तुतः निर्वीय ही है', यह सब ठीक ही कहते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वृश्चिकादयः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पुच्छेन च आस्येन च

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये॑न च।
आस्येऽ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्॥ ८॥

१. हे वृश्चिक! **यः**=जो तू **उभाभ्यां पुच्छेन च आस्येन च**=पूँछ और मुख दोनों से **प्रहरसि**=प्रहार करता है, अतः **ते आस्ये**=तेरे मुख में तो **विषं न**=विष नहीं है, **किम् उ**=और क्या **ते**=तेरे इस **पुच्छधौ**=छोटी पूँछ ही में **असत्**=होता है, अर्थात् तेरा विष किसी को क्या मार सकता है? अतः व्यर्थ में तू डसता ही क्यों है?

भावार्थ—बिच्छू के मुख में तो विष होता ही नहीं, पुच्छधि में होनेवाला विष भी सरलता से ही चिकित्स्य है।

'गत सूक्त के सर्प व वृश्चिक की भाँति मुझे औरों को डसनेवाला नही बनना' इस भावना से जीवन का निर्माण करनेवाला यह साधक 'वामदेव' बनता है, वाम सुन्दर दिव्य गुणोंवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—जगती ॥

वामदेव का अपमान-सहन

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
यदात्मनि तन्वो॑ मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन॥ १॥

१. जिस समय एक ब्राह्मण (संन्यासी) जनता में प्रचार करता है, तब कई बार कुछ लोकप्रवाद भी सुनने ही पड़ते हैं, अतः यह प्रार्थना करता है कि **यत्**=जब **वदतः**=जनता में प्रवचन करते हुए **आशसा**=लोगों द्वारा हिंसन से **मे विचुक्षुभे**=मेरा मन कुछ विक्षुब्ध हो उठता है, और **यत्**=जो **जनान् अनुचरतः**=लोगों के प्रति जाते हुए और **याचमानस्य**=किन्ही कार्यविशेषों के लिए इनसे प्रार्थना करते हुए उनके न समझने से मेरा मन कुछ क्षुब्ध-सा होता है, और **यत्**=जो **मे तन्वः विरिष्टम्**=मेरे शरीर का हिंसन होता है, ये कुछ ईंट-रोड़े बरसा देते हैं, **तत्**=उस सबको **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **घृतेन आपृणत्**=ज्ञानदीप्ति व मलक्षरण द्वारा पूरित कर दे और मुझे **आत्मनि**=(स्थापयतु इति शेषः) स्वभाव में—क्षोभराहित्य स्थिति में—स्थापित करे। २. ज्ञानी पुरुष लोगों में ज्ञान का प्रचार करेगा व उन्हें किन्ही कर्मों से रोकेगा तो कुछ विरोधी लोग भी उपस्थित होंगे ही। वे कुछ-न-कुछ हिंसन करेंगे ही, अपमानजनक शब्द भी बोलेंगे, चोट मारने का भी यत्न करेंगे। उस समय यह ज्ञानी पुरुष चाहता है कि ज्ञान उसे क्षुब्ध होने से बचाये। ज्ञान के कारण वह स्वस्थ स्थिति में रह सके।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष जब ज्ञान का प्रचार करते हैं, तब विरोधी लोग अपशब्द भी बोलते हैं, प्रहार भी करते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि इन्हें सहन करता हुआ अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे।

ऋषिः—वामदेवः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—जगती ॥

शिशु मरुत्वान् पुत्र

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥ २॥

१. **शिशवे**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को तीव्र बनानेवाले अथवा काम, क्रोध आदि शत्रुओं

का शासन करनेवाले **मरुत्वते**=प्राणसाधक के लिए (मरुतः प्राणाः) **सप्त क्षरन्ति**=सात छन्दों से युक्त वेदवाणियाँ प्रवाहित होती हैं। हम प्राणसाधना करते हुए काम, क्रोध आदि के विनाश से बुद्धि को तीव्र बना पाएँगे तो इन ज्ञान की वाणियों को क्यों न प्राप्त करेंगे? **अपि**=और ये **पुत्रासः** (पुनाति त्रायते)=ज्ञान की वाणियों के द्वारा अपने को पवित्र करनेवाले तथा अपना त्राण (रक्षण) करनेवाले लोग **पित्रे**=उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिए **ऋतानि अवीवृतन्**=सत्यभूत यज्ञादिरूप कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। २. इस **अस्य**='मरुत्वान् शिशु, ऋत के वर्तनवाले पुत्र' के **इत् उभे**=निश्चय से दोनों ही लोक उत्तम होते हैं। यह इहलोक के अभ्युदय और परलोक के निःश्रेयस को प्राप्त करता है। **अस्य**=इसके **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर **राजतः**=ज्ञान व शक्ति से दीप्त होते हैं। **उभे यतेते**=इसके दोनों इन्द्रियगण (ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ) यत्नशील होती हैं, परिणामतः **अस्य**=इसके **उभे पुष्यतः**=ब्रह्म और क्षत्र दोनों पुष्ट होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर ज्ञान में लगी रहकर इसके ज्ञान का वर्धन करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहकर इसे सशक्त बनाये रखती हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को तीव्र करें (शिशु) प्राणसाधना में प्रवृत्त हों (मरुत्वान्) तथा अपने को पवित्र व रक्षित करें (पुत्र)। इसप्रकार हमें वेद ज्ञान प्राप्त होगा तथा ऋत् का पालन करते हुए हम पिता प्रभु को प्राप्त करेगे तथा हमारे जीवन में 'ब्रह्म और क्षत्र' का समन्वय होगा।

ज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाला 'कौरुपथि' अगले सूक्त का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुतपौ धृतव्रतौ' इन्द्रावरुणा

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये॥ १॥

१. 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष का वाचक है तथा 'वरुण' वासनाओं का निवारण करनेवाले का संकेत करता है। हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रिय व वासना का निवारण करनेवाले पुरुषो! आप **सुतपौ**=शरीर में उत्पन्न सोम का पान करनेवाले हो अथवा (सु-तपौ) उत्तम तपवाले हो। **इमं सुतं सोमम्**=इस शरीर में उत्पन्न सोम को **पिबतम्**=पीओ, इसे शरीर में ही व्याप्त करो। हे **धृतव्रतौ**=व्रतों का धारण करनेवाले इन्द्र और वरुण! **मद्यम्**=शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम मद का, हर्ष का जनक है। २. हे इन्द्रावरुणा! **युवोः**=आप दोनों का **रथः**=यह शरीर-रथ **अध्वरः**=हिंसा से रहित व शत्रुओं से अपराजित है अथवा (अध्व-र) मार्ग पर आगे बढ़नेवाला है। यह **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **प्रतिस्वसरम्**=प्रतिदिन (नि० १.९) **पीतये**=सोम के पान के लिए **उपयातु**=प्रभु के समीप जानेवाला हो। प्रातः-सायं प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होना 'सोमरक्षण' में सहायक होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व वासनाओं का निवारण करनेवाले बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें। इस शरीर-रथ को मार्ग पर आगे-और-आगे ले-चलें। प्रभु-उपासना में प्रवृत्त होकर सोमरक्षण का ध्यान करें।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मधुमत्तम' सोम

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयेथाम्॥ २॥

१. हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रिय व वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुषो! आप इस **मधुमत्तस्य**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **वृष्णः**=शक्तिशाली **सोमस्य**=सोम का **वृषेथाम्**=शरीर में ही सेचन करो। आप **वृषणा**=सोमरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनते हो। २. **इदम्**=यह सोम **वाम् अन्धः**=आपका भोजन है, **परिषिक्तम्**=यह शरीर में चारों ओर सिक्त हुआ है। अब आप **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=(बृह् उद्यमने) जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर, अर्थात् पवित्र हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए **मादयेथाम्**=आनन्दित होवो।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण इस मधुमत्तम सोम का पान करते हुए शक्तिशाली बनते हैं। यह सोम उनका भोजन हो जाता है। इसी दृष्टि से वे पवित्र हृदय में प्रभु का प्रातः-सायं ध्यान करते हैं।

सोमरक्षण द्वारा यह 'बादरायणि' बनता है, (बद to be steady or firm) —अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलनेवाला। यह बादरायणि औरों के आक्रोश की चिन्ता न करता हुआ मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अरिनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आक्रोश का विनाश

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्षइव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

१. **यः**=जो **अशपतः नः शपात्**=आक्रोश न करते हुए भी हमारे प्रति आक्रोश करे, **च यः**=और जो **शपतः नः**=(to swear, to take an oath) शपथ खाते हुए हमें, शपथपूर्वक यह कहते हुए भी कि हमने तुम्हारा कुछ बिगाड़ा नहीं, **शपात्**=गाली दे, वह **आमूलात्**=जड़ से इसप्रकार **अनुशुष्यतु**=सूख जाए, **इव**=जैसेकि **विद्युता हतः वृक्षः**=विद्युत् से मारा हुआ वृक्ष सूख जाता है।

भावार्थ—हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। अपशब्दों का प्रयोक्ता जड़ से ही सूख जाता है।

हम आक्रोशों की परवाह न करते हुए मार्ग पर आगे बढ़ते चलें। यह मार्ग पर बढ़नेवाला व्यक्ति ही 'ब्रह्मा'=बड़ा बनता है। अगले सूक्त का ऋषि यही है—

॥ इति षोडशः प्रपाठकः ॥

अथ सप्तदशः प्रपाठकः

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः,वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श पति

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ १॥

१. 'घर में पति का आदर्श क्या है?' इसका चित्रण करते हुए पति के मुख से ही कहलाते हैं कि **ऊर्जं बिभ्रत्**=बल और प्राणशक्ति को धारण करता हुआ **वसुवनिः**=धन का विजय (उपार्जन) करनेवाला, **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला, **अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा**=अभयानक—स्नेहभरी दृष्टि से युक्त हुआ-हुआ मैं **गृहान् ऐमि**=(आ एमि) घर के लोगों को प्राप्त करता

हूँ। २. मैं **सुमनाः**=प्रशस्त (प्रसन्न) मनवाला **वन्दमानः**=अभिवादन व स्तुति करता हुआ आता हूँ। **रमध्वम्**=तुम प्रसन्न होवो। **मा बिभीत मत्**=मुझसे भयभीत न होवो। घर में पिता के आने पर घरवालों को प्रसन्नता का अनुभव हो। उनके कठोर स्वभाव के कारण घरवाले भयभीत न हों और अप्रसन्नता का अनुभव न करें।

भावार्थ—आदर्श गृहस्थ वह है जिसका शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न है, जो धन का अर्जन करनेवाला है, प्रेमभरी दृष्टि से युक्त है, प्रशस्त मनवाला व प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'उर्जस्वन्तः पयस्वन्तः' गृहाः

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥ २॥

१. **इमे गृहाः**=ये घर **मयोभुवः**=सुख उत्पन्न करनेवाले (भावयितारः) हैं, **ऊर्जस्वन्तः**=अन्न रसवाले हैं, **पयस्वन्तः**=क्षीरादि से समृद्ध हैं। **वामेन**=सेवनीय धन से **पूर्णाः**=सम्पूर्ण व समृद्ध होकर **तिष्ठन्तः**=स्थिर होते हुए **ते**=वे गृहजन घर पर **आयतः नः जानन्तु**=प्रवास से लौटे हुए हमें जानें। प्रवास से लौटे हुए पति का सब घरवाले उचित सत्कार करें।

भावार्थ—घर सुखी, अन्न-रसयुक्त, क्षीरादी-सम्पन्न व सेवनीय धन से पूर्ण हों। प्रवास से लौटने पर सब घरवाले गृह-स्वामी का स्वागत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

येषु सौमनसः बहुः

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥ ३॥

१. जब घर सुन्दर होता है तब प्रवास में घर की याद आती ही है। **प्रवसन्**=देशान्तर में बसता हुआ पुरुष **येषां अध्येति**=जिनका स्मरण करता है, **येषु**=जिनमें **बहुः सौमनसः**=बहुत सौमनस्य है— जिनमें रहनेवाले मनुष्य प्रसन्न मनवाले हैं, उन **गृहान्**=घरों को **उपह्वयामहे**=प्राप्त करने के लिए हम प्रार्थना करते हैं। **ते**=वे घर **आयतः नः**=प्रवास से लौटे हुए हमें **जानन्तु**=जानें, घर के लोग प्रसन्नता से हमारा स्वागत करें।

भावार्थ—हमारा घर व घर के लोग ऐसे अच्छे हों कि हमें प्रवास में घर का ही स्मरण हो। ऐसे घरों में जब हम लौटें तब घरवाले प्रसन्नता से हमारा स्वागत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'भूरिधनाः स्वादुसंमुदः' गृहाः

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ४॥

१. **भूरिधनाः**=पालक व पोषक धन से युक्त **गृहाः**=घर **उपहूताः**=हमारे द्वारा प्रार्थित हुए हैं। प्रभु हमें ऐसे घरों को प्राप्त कराएँ जहाँ कि आवश्यक धन की कमी न हो, **सखायः**=जिस घर में रहनेवाले लोग परस्पर मित्रभाववाले हों (सखे सप्तपदी भव), **स्वादुसंमुदः**=ये घर स्वादिष्ट पदार्थों से प्रसन्नता को प्राप्त करानेवाले हों। **अक्षुध्याः अतृष्याः स्त**=हे गृहो! आप भूखे और प्यासे ही न रह जाओ, अर्थात् घरों में खान-पान की कमी न हो। हे **गृहाः**=घर के लोगो! **अस्मत् मा बिभीतन**=हमसे भयभीत मत होवो, अर्थात् गृहपति का स्वभाव ऐसा मधुर हो कि

उसके आने पर सब प्रसन्नता का अनुभव करें।

भावार्थ—हम उन घरों के लिए प्रार्थना करते हैं जो पर्याप्त धनवाले हैं, जहाँ लोग परस्पर मित्रभाव से रहते हैं, जहाँ स्वादिष्ट पदार्थ हर्ष का कारण बनते हैं, जहाँ लोग न भूखे हैं न प्यासे।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

गौ, अजा, अवि व कीलाल अन्न

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥ ५॥

१. **इह**=यहाँ घर में **गावः उपहूताः**=गौवों के लिए प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार **अजावयः उपहूताः**=भेड़ और बकरियों के लिए प्रार्थना की गई है **अथो**=और **अन्नस्य कीलालः**=अन्न का सारभूत अंश, अर्थात् उत्कृष्ट सात्त्विक अन्न **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **उपहूतः**=प्रार्थित हुआ है।

भावार्थ—हमारे घरों में गौवें, भेड़ें, बकरियाँ हों तथा इन घरों में अन्न के सारभूत अंश की, पौष्टिक अन्न की कमी न हो।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'सूनृतावन्तः सुभगाः' गृहाः

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ६॥

१. हे **गृहाः**=गृह में रहनेवालो! तुम **सूनृतावन्तः स्त**=प्रिय, सत्य वाणीवाले होओ (प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्दिवसे न ज्ञापनीयम्) **सुभगाः**=तुम शोभन भाग्य से युक्त होओ **इरावन्तः**=(इरा अन्नं) प्रशस्त अन्नवाले **हसामुदाः**=हँसी के साथ प्रसन्न (मोदमान) होओ। हास से अभिव्यक्त सन्तोषवाले तुम होओ। २. **अतृष्याः अक्षुध्याः स्त**=भूखे प्यासे न रहो, तुम्हें खान-पान की कमी न हो। **गृहाः मा अस्मद् बिभीतन**=हे गृहो! हमसे भयभीत न होओ। गृहपति के मधुरस्वभाव से सबको प्रसन्नता ही हो।

भावार्थ—घर में प्रिय, सत्यवाणी, सौभाग्य, प्रशस्त अन्न व हास्य के साथ प्रमोद हो। यहाँ सब तृप्त हों तथा गृहपति का स्वभाव अत्यन्त मधुर हो।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गृहाः, वास्तोष्पतिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

भूतिसम्पन्न गृह (पति-पत्नी के कार्य का विभाग)

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया॥ ७॥

१. पति प्रवास में जाता हुआ घर के लोगों से कहता है कि **इह एव स्त**=तुम यहाँ—घर पर ही रहो, **मा अनुगात**=तुम मेरे पीछे जानेवाले मत होओ। यहाँ रहते हुए तुम **विश्वा रूपाणि पुष्यत**=सब सुरूप पुत्रों व गवादि पशुओं का पोषण करो। २. मैं **भद्रेण सह आ एष्यामि**=कल्याणकारक धन के साथ फिर यहाँ आऊँगा। उस समय **मया**=मेरे साथ **भूयांसः भवतः**=अधिक समृद्धि-(भूति)-वाले होओ।

भावार्थ—गृहपति कमाने के लिए बाहर जाता है। घरवालों को चाहिए कि घर में सबके पोषण का पूरा ध्यान करें। मङ्गलकारक धन के साथ लौटे हुए गृहपति के साथ वे भूतिसम्पन्न हों।

इस उत्तम घर में धर्म के मार्ग से विचलित न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप+श्रुत

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः॥ १॥
अग्ने तपस्तप्यामह उप तप्यामहे तपः।
श्रुतानि शृण्वन्तो वयमायुष्मन्तः सुमेधसः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=आचार्य (अग्निराचार्यस्तव) **तपसा** (मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते)=मन व इन्द्रियों की एकाग्रता के साथ **तपः**=(तपः क्लेशसहिष्णुत्वम्) शीतोष्णादि का सहनरूप जो तप है, उस **तपः उपतप्यामहे**=तप को हम आपके समीप तपते हैं। इस तप से हम **श्रुतस्य प्रियाः भूयास्म**=ज्ञान के प्रिय बनें। इसप्रकार **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले तथा **सुमधेसः**=उत्तम मेधावाले हों, उत्तम धारणा शक्तिवाले हों। २. हे **अग्ने**=आचार्य! **तपः तप्यामहे**=हम (कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत) शीतोष्णसहनरूप तप करते हैं। **तपःउपतप्यामहे**=आपके समीप रहते हुए तप करते हैं। **श्रुतानि शृण्वन्तः**=वेदज्ञानों को सुनते हुए **वयम्**=हम **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले बनें तथा **सुमेधसः**=उत्तम मेधावाले, धारणाशक्तियुक्त हों।

भावार्थ—आचार्यों के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी 'तपस्वी' हों। शास्त्रज्ञानों का श्रवण करते हुए वे प्रशस्त दीर्घजीवनवाले व सुमेधा बनें।

ज्ञानी बनकर यह कश्यप होता है, तत्त्व को देखनेवाला तथा वासनारूप शत्रुओं को मारनेवाला 'मरीचि' (मृ) बनता है। अगले दो सूक्तों का यही ऋषि है—

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मरीचिः काश्यपः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

काश्यप 'मरीचि' का जीवन

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत्पुरोहितः।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ते पृतन्यवः॥ १॥

१. **अयम्**=यह कश्यप **अग्निः**=अग्रणी है, स्वयं उन्नति-पथ पर चलता हुआ औरों को भी उन्नति-पथ पर ले-चलता है। **सत्पतिः**=सज्जनों का रक्षक है। **वृद्धवृष्णः**=बढ़े हुए बलवाला है। शत्रुओं को इसप्रकार **अजयत्**=जीत लेता है, **इव**=जैसेकि **रथी पत्तीन्**=एक रथी पैदलों पर विजय पानेवाला होता है। यह शरीररूप रथ पर आरूढ़ हुआ-हुआ काम, क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करता है। **पुरोहितः**=यह औरों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थापित (हितः) होता है, इसका जीवन औरों के लिए आदर्श उपस्थित करता है। २. **पृथिव्याम् नाभा**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञों में (पृथिवी के केन्द्रभूत यज्ञों में) **निहितः**=स्थापित होता है और **दविद्युतत्**=खूब ही चमकता है। यह यज्ञशील पुरुष उनको **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँव तले रोंदनेवाला हो, **ते पृतन्यवः**=जो शत्रु इसके साथ संग्राम के इच्छुक होते हैं, उन शत्रुओं को मार डालने से ही तो यह 'मरीचि' कहलाता है।

भावार्थ—हम शत्रुओं को समाप्त करके 'मरीचि' बनें। ज्ञान की रुचिवाले, शक्तिसम्पन्न (वृद्धवृष्णः) व यज्ञशील बनें, तभी हमारा जीवन दीप्त व औरों के लिए आदर्श होगा।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—मरीचिः काश्यपः ॥ देवता—जातवेदाः ॥ छन्दः—जगती ॥

'सर्वमहान्+मरीचि'=प्रभु

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद्देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

१. **पृतनाजितम्**=सब संग्रामों को विजित करनेवाले, प्रभुकृपा से ही तो संग्रामों में विजय होती है। **सहमानम्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **उक्थैः**=स्तोत्रों से **परमात् सधस्थात्**=सर्वोत्कृष्ट सहस्थान (हृदय) से **हवामहे**=पुकारते हैं। जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान हृदय ही है। हृदयदेश से ही प्रभु का आह्वान होता है। ये प्रभु ही पुकारे जाने पर हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **विश्वा दुर्गाणि**=सब कठिनताओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। वह **देवः**=प्रकाशमय **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दुरितानि**=सब अशुभ आचरणों को **अति क्षामत्**=(क्षै क्षये) नष्ट कर दें।

भावार्थ—वे अग्रणी प्रभु हमें सब संग्रामों में विजयी बनाएँ। वे हमें दुर्गों=कठिनाइयों से पार करें तथा हमारे दुरितों को विनष्ट करें।

सब दुरितों को दूर करके यह अपने जीवन को बड़ा संयत करता है। संयत करनेवाला यह 'यम' है। यम ही अगले सूक्त का ऋषि है—

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः ॥ देवता—१ आपः, २ अग्नि ॥ छन्दः—१ भुरिगनुष्टुप्, २ न्यङ्कुसारिणीबृहती ॥

कृष्णः शकुनिः

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

१. **इदं यत्**=यह जो **कृष्णः**=काली (मलिन) अथवा मन को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली **शकुनिः**=शक्तिशालिनी पाप-वासना **अभिनिष्पतन्**=चारों ओर से बड़े वेग से हमपर आक्रमण करती हुई **अपीपतत्**=हमें गिराती है (काम-वासना 'प्रद्युम्न है—प्रकृष्ट बलवाली है')। इस वासना में फँसकर मनुष्य पापमय जीवनवाला हो जाता है, यह काम 'महापाप्मा' तो है ही। **तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात्**=उस सब दुरित से **अंहसः**=कष्ट के कारणभूत पाप से **मा**=मुझे **आपः पान्तु**=वे व्यापक प्रभु रक्षित करें। प्रभुस्मरण इस वासना के संहार का सर्वोत्तम साधन है। २. हे **निर्ऋते**=आत्मा को नीचे ले-जानेवाली पापप्रवृत्ते! **इदं यत्**=यह जो **कृष्णः शकुनिः**=मलिन तथा प्रबल पाप-वासना **ते मुखेन**=तेरे (निर्ऋति के) मुख से—तेरे द्वारा **अवामृक्षत्** (मृक्ष संघाते)=नीचे विनष्ट करती—गिराती है। **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **मा**=मुझे **गार्हपत्यः अग्निः**=यह शरीर-गृह का पति, आत्मा का हितकारी, अग्रणी प्रभु **प्रमुञ्चतु**=मुक्त करे। प्रभु का स्मरण पाप से मुक्त करता ही है। ये प्रभु गार्हपत्य अग्नि हैं—अग्रणी हैं और शरीर-गृह के पति जीव का सदा हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—कामवासना मलिन होती हुई अति प्रबल है। यह हमें नीचे गिरानेवाली है। हम

उस सर्वव्यापक (आपः) अग्रणी (अग्नि) प्रभु का स्मरण करते हुए इस वासना का विनाश करें।

पाप को नष्ट करके शुद्ध जीवनवाला यह व्यक्ति 'शुक्र' नामवाला होता है, शुचितावाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतीचीनफलः

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः॥ १॥

१. हे **अपामार्ग**=सब दोषों को दूर करके हमारे जीवनों को शुद्ध करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **प्रतीचीनफलः**=प्रत्यक्ष, साक्षात् होकर ही (ञिफला विशरणे) पापों को विशीर्ण करनेवाले हैं। जिसके हृदय में आपका साक्षात्कार होता है, आप उसके पापों को नष्ट कर देते हैं। आप **रुरोहिथ**=हृदय देश में प्रादुर्भूत होते हैं। (रुह् प्रादुर्भावे)। आप **सर्वान्**=सब **शपथान्**=आक्रोशों को, अपशब्दों को **इतः मत्**=यहाँ मुझसे **वरीयः** (उरुतरं अत्यर्थम्)=बहुत दूर **यावयाः**=पृथक् कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग है, हमारे जीवनों का शोधन करनेवाला है। शोधन होता तभी है, जब हृदय-देश में प्रभु का साक्षात्कार हो। यह साक्षात्कार हमारे जीवन से सब आक्रोशों को दूर फेंक देता है। उपासक कभी अपशब्द नहीं बोलता।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण से तामस् व राजस् वृत्तियों का निराकरण

यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया।
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥ २॥
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ३॥

१. **यत् दुष्कृतम्**=जिस दुष्कृत, अशुभ कर्म को हम **चेरिम**=कर बैठते हैं, **यत् शमलम्**=जिस मलिन कलंकजनक घृणित कार्य को कर बैठते हैं, **यत् वा**=अथवा जिस भी अशुभ कर्म को **पापया**=अशुभ (पापमयी) वृत्ति से कर डालते हैं, हे **विश्वेतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले, सर्वद्रष्टः! **अपामार्ग**=हमारे जीवनों के शोधक प्रभो! **त्वया**=आपके द्वारा, आपके स्मरण से हम **तत् अपमृज्महे**=उसे सुदूर विनष्ट करते हैं। २. **यत्**=जो **श्यावदता**=काले (मलिन) दाँतोंवाले **कुनखिना**=कुत्सित नखोंवाले **बण्डेन सह** (वडि विभाजने)=भग्नांग व फूट डालनेवाले, चुगलखोर पुरुष के साथ **आसिम**=हम बैठें और उससे प्रभावित हो कुछ ऐसे ही बनने लगें तो हे **अपामार्ग**=हमारे जीवनों के शोधक प्रभो! **वयम्**=हम **सर्वं तत्**=उस अशुभवृत्ति को **त्वया**=आपके स्मरण से **अपमृज्महे**=अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से सब दुष्कृत, पाप व अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं। मैले-कुचैले—तमोगुणी पुरुषों के साथ अथवा फूट डालनेवाले, चुग़ली करनेवाले तमोगुणी पुरुषों के संग में आ जानेवाले दोषों को हम प्रभु की उपासना के द्वारा दूर कर सकते हैं।

सब पापों से रहित यह श्रेष्ठ सत्त्वगुणवाला पुरुष 'ब्रह्मा' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है—

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्राह्मणम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पशवः ब्राह्मणं अश्रवन्

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदस्रवन्पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु॥ १॥

१. **यदि**=यदि **अन्तरिक्षे**=इस विशाल अन्तरिक्ष में **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञान **आस**=है। अन्तरिक्ष अपने सब लोक-लोकान्तरों द्वारा प्रभु के स्वरूप का ज्ञान करा रहा है, **यदि वाते**=अथवा निरन्तर बहनेवाले वायु में जो ब्रह्मज्ञान है, यदि **वृक्षेषु**=यदि वृक्षों की रचना में जो प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है, **यदि वा उलपेषु**=अथवा इन कोमल तृणों में भी ब्रह्म की महिमा दिख रही है। अन्तरिक्ष के अनन्त लोक-लोकान्तर तो प्रभु की महिमा का प्रकाश कर ही रहे हैं, वायु भी किस प्रकार जीवन का आधार बनती है? वृक्षों के मूल में डाला हुआ पानी किस प्रकार शिखर तक पहुँचता है? कुशा घास में शरीर के सब मलों के संहार की क्या अद्भुत शक्ति है? २. इन सबसे **उद्यमानम्**=उच्चारण किये जाते हुए **यत्**=ज़िस ब्रह्मज्ञान को **पशवः**=(पश्यन्ति इति) तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही **अश्रवन्**=सुन पाते हैं, **तत् (ब्राह्मणम्)**=वह ब्रह्मज्ञान **पुनः**=फिर **अस्मान् उपैतु**=हमें प्राप्त हो। हम भी इन अन्तरिक्ष आदि से उच्चारित होते हुए ब्रह्मज्ञान को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—अन्तरिक्ष, वायु, वृक्ष व पत्थरों में सर्वत्र प्रभुमहिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है। इस उच्चरित होती हुई महिमा को तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही सुना करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान हमें भी प्राप्त हो।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—पुरःपरोष्णिग्बृहती ॥

धिष्ण्याः अग्नयः

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ १॥

१. **मा**=मुझे **इन्द्रियम्**=वीर्य व चक्षु आदि इन्द्रियाँ **पुनः**=फिर **एतु**=प्राप्त हों। **आत्मा**=मन **द्रविणम्**=धन **च ब्राह्मणम्**=और ब्रह्मज्ञान मुझे **पुनः**=फिर प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **धिष्ण्याः अग्नयः**=(धिष्ण्य=House) शरीरगृह में रहनेवाली, अथवा (धिष्ण्य=Power Strength) शरीर को शक्तिसम्पन्न बनानेवाली अग्नियाँ **यथास्थाम**=अपने-अपने स्थान पर **इह एव कल्पयन्ताम्**=यहाँ शरीर में ही स्थित हुई-हुई हमें शक्तिशाली बनाएँ। २. प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् में इन अग्नियों का वर्णन इसप्रकार है कि (क) सूर्यः (अग्निः) मूर्धनि तिष्ठति, (ख) दर्शनाग्निः (आहवनीयः भूत्वा) मुखे तिष्ठति, (ग) शारीरः अग्निः(दक्षिणाग्निः भूत्वा) हृदये तिष्ठति, कोष्ठाग्निः (गार्हपत्यो भूत्वा) नाभ्यां तिष्ठति, अर्थात् सूर्याग्नि मूर्धा में, दक्षिणाग्नि (आहवनीय) मुख में, शरीराग्नि (दिक्षिणाग्नि) हृदय में तथा कोष्ठाग्नि (गार्हपत्य) नाभि में स्थित है। ये सब अग्नियाँ अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हुई हमें शक्तिशाली बनाती हैं।

भावार्थ—हमें 'वीर्य, मन, द्रविण व ज्ञान' की पुनः प्राप्ति हो। शरीरस्थ सब अग्नियाँ अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हुई हमें शक्तिशाली बनाएँ।

इसप्रकार 'शरीर, मन, बुद्धि' के पूर्ण स्वास्थ्य से जीवन में शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सरस्वती के व्रतों में

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ १॥

१. हे **सरस्वति देवि**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवि! (ज्ञान प्रवाह से, गुरु से शिष्य की ओर चलता है, अतः ज्ञान की अधिष्ठात्री 'सरस्वती' कहलाती है। यह प्रकाशमय होने से 'देवी' है) **ते व्रतेषु**=तेरे व्रतों में चलते हुए हम लोगों द्वारा **दिव्येषु धामसु**=दिव्य तेजों के निमित्त **आहुतम्**=पहले अग्निकुण्ड में आहुत किये गये यज्ञावशिष्ट **हव्यं जुषस्व**=हव्य का ही तू प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर, अर्थात् तेरे व्रतों में चलते हुए हम यज्ञावशिष्ट हव्यों को ही ग्रहण करनेवाले बनें। तभी हमें 'दिव्य धाम (तेज)' प्राप्त होंगे। २. हे सरस्वति देवि! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजां ररास्व**=प्रशस्त सन्तानों को प्राप्त करा। जहाँ घर में ज्ञानप्रधान वातावरण होगा, वहाँ सन्तानें उत्तम होंगे ही। ज्ञान के साथ व्यसनों का विरोध है।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक यज्ञावशिष्ट हव्य पदार्थों का ही सेवन करता है। इससे उसे दिव्य तेज प्राप्त होता है और घर में सन्तान भी उत्तम होती हैं।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मधुमन्तः (स्याम)

इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं यत्।
इमानि त उदिता शन्तमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥ २॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठातृदेवि! **इदम्**=यह **ते हव्यम्**=तेरा आदान (हु आदाने) **घृतवत्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्तिवाला है। तेरे उपासन से मलों का विनाश होता है और ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। यह तेरा **हविः**=आदान **पितॄणाम्**=पितरों का है। रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग तेरा ग्रहण करते हैं। **यत्**=जो यह तेरा ग्रहण है, वह **आस्यम्**=(असु क्षेपणे) सब बुराइयों को परे फेंकनेवाला है। २. **इमानि**=ये **ते उदिता**=तेरे कथन **शन्तमानि**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले हैं। यदि एक व्यक्ति वेदवाणी के अनुसार कार्य करता है, तो शान्ति प्राप्त करता है। **तेभिः**=उन तेरे कथनों से **वयम्**=हम **मधुमन्तः स्याम**=अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले हों।

भावार्थ—'वेदवाणी' (सरस्वती) का आदान जीवन को निर्मल व दीप्त बनाता है। यह हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है और सब बुराइयों को हमसे दूर करता है। वेदवाणी के कथन शान्ति प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—सरस्वती ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शिव, शान्त व शर्मवाले (सुखी)

शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम सन्दृशः॥ ३॥

१. हे **सरस्वति**=वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवाली वाग्देवते! **शिवा**=कल्याणकारिणी तू **नः**=हमारे लिए **शन्तमा भव**=अतिशयेन रोगों को दूर करनेवाली व शान्ति प्राप्त करानेवाली हो। **सुमृडीका**=अतिशयेन सुख देनेवाली हो। २. हे सरस्वति! हम **ते संदृशः**=तेरे समीचीन दर्शन से—यथार्थ-स्वरूप ज्ञान से **मा युयोम**=पृथक् न हों। ज्ञान से पृथक् होना ही अपवित्रता व अशान्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—हम सदा सरस्वती का आराधन करते हुए शिव, शान्त व शर्म-(सुख)-वाले हों।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सुखम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'वायु, सूर्य, दिन-रात व उषा' सब 'शम्' हों

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः। अहानि शं भवन्तु
नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु॥ १॥

१. **वातः**=यह बहनेवाला वायु **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर होकर, **वातु**=प्रवाहित हो **सूर्यः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला सूर्य **नः शं तपतु**=हमारे लिए शान्तिकर दीप्तिवाला हो। **अहानि**=दिन **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **रात्री**=रात **शं प्रतिधीयताम्**=सुख को हमारे साथ संहित करे (संदधातु) अथवा सुखकर होकर धारण की जाए। **उ**=और **उषाः**=उषा **शं**=शान्तिकर होती हुई **नः**=हमारे लिए **व्युच्छतु**=(विवासित) प्रकाशित हो।

भावार्थ—सरस्वती के आराधन के परिणामस्वरूप हमारे लिए 'वायु, सूर्य, दिन व रात तथा उषाकाल' सब शान्ति देनेवाले हों।

सरस्वती-आराधक यह शान्त व स्थिरवृत्ति का व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य॥ १॥

१. **असौ**=वह दूरस्थ शत्रु **यत् किम्**=जो कुछ कर्म—शत्रुहननरूप कर्म करने के लिए **मनसा**=मन के द्वारा ध्यान करता है, **यत् च**=और जो कर्म **वाचा**=वाणी से 'करता हूँ' इसप्रकार कहता है तथा **यज्ञैः**=अभिचार कर्मों से, **हविषा**=उस कर्म के लिए उचित द्रव्यों से, **यजुषा**=मन्त्रों से **जुहोति**=होम करता है, **अस्य**=अपने प्रतिपक्ष के विनाश के लिए 'मन, वाणी व शरीर' से उपाय करते हुए शत्रु के **तत्**=उस मन से, ध्यान व वाणी से उक्त कर्म को तथा **आहुतिम्**=क्रिया से निष्पाद्यमान होमकर्म को **सत्यात् पुरा**=सत्यभूत कर्मफल से पहले ही, कर्म के सफल होने से पूर्व ही **निर्ऋतिः**=पाप देवता **मृत्युना संविदाना**=मृत्यु के साथ संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली हुई-हुई **हन्तु**=नष्ट कर डाले।

भावार्थ—शत्रु द्वारा 'मन, वाणी व कर्म' से हमारे विषय में क्रियमाण अभिचार कर्म के फलप्रद होने से पूर्व ही मृत्युसहित पापदेवता उस शत्रु को नष्ट कर डाले। पापकर्म करनेवाला उस कर्म से स्वयं ही विनष्ट हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भाजगती** ॥

यातुधानाः निर्ऋतिः

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति॥ २॥

१. **यातुधानाः**=शत्रु की पर-पीड़ाकारी प्रवृत्तियाँ, **निर्ऋतिः**=निकृष्टगमनवृत्ति, दुराचरण, **आत् उ**=और निश्चय से **रक्षः**=राक्षसीभाव **ते**=वे सब-के-सब **अस्य सत्यम्**=इसके सत्य को

भी **अनृतेन घ्नन्तु**=अनृत से नष्ट कर डालें। ये ऐसा करें कि शत्रु से हमारे विषय में क्रियमाण कर्म उसे अभीष्ट फलप्रद न हो, अपितु विपरीत फल देनेवाला हो। २. **इन्द्रेषिताः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से प्रेरित **देवाः**=सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देव **अस्य आज्यम्**=इस शत्रु की दीप्ति को (अंज्=to shine, to be beautiful) **मथ्नन्तु**=नष्ट कर डालें। **असौ**=वह शत्रु **यत् जुहोति**=हमारी बाधा के लिए जो कर्म करता है **तत् मा संपादि**=वह कर्म सम्पन्न न हो, फलप्रद न हो, अंगविकल होकर उसी का विनाश करनेवाला हो।

भावार्थ—पर-पीड़ाकारी प्रवृत्तियाँ, दुराचरण व राक्षसीभाव इस विरोधी के कर्म को असफल करें। प्रभु की शक्तियाँ इस सामजविद्वेषी की दीप्ति को विनष्ट करें और इसका अभिचारकर्म असफल ही हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरःककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

अजिर+अधिराज

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति॥ ३॥

१. **अजिर-अधिराजौ**=(अज गतिक्षेपणयोः, राजृ दीप्तौ) गतिशील व इन्द्रियों का शासक—ये दोनों व्यक्ति **संपातिनौ श्येनौ इव**=आकाशमार्ग से द्वेष्य पक्षी पर निष्पतनशील बाज़ों के समान हैं। जैसे बाज़ शत्रुभूत पक्षी का विनाश करता है, इसी प्रकार ये अजिर और अधिराज **पृतन्यतः आज्यं हताम्**=सेना द्वारा संग्रामेच्छु पुरुष की दीप्ति को नष्ट करते हैं **यः च कश्चन**=और जो कोई शत्रु **नः**=हमपर **अभ्यघायति**=हिंसारूप पापकर्म करना चाहता है, उसकी दीप्ति को नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम गतिशील (अजिर) व इन्द्रियों के शासक (अधिराज) बनकर शत्रुओं को नष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुबन्धन

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ ४॥

१. **ते**=शत्रुभूत तेरी **उभौ बाहू**=दोनों भुजाओं को **अपाञ्चौ**=पृष्ठभाग से सम्बद्ध करके **अपि-नह्यामि**=बाँध देता हूँ, जिससे तेरी भुजाएँ अभिचार कर्म को कर ही न पाएँ। **आस्यम्**=तेरे मन्त्रोच्चारणसमर्थ मुख को भी बाँध देता हूँ, जिससे तू होमसाधनभूत मन्त्रों का उच्चारण ही न कर सके। २. उस **देवस्य**=शत्रुओं की विजिगीषावाले **अग्नेः**=अग्निवत् भस्म कर डालनेवाले प्रभु के **तेन मन्युना**=उस तेज से (क्रोध से) **ते हविः**=तेरे होतव्य द्रव्य को ही **अवधिषम्**=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—शत्रु को इसप्रकार बद्ध कर दिया जाए कि वह अभिचार कर्म कर ही न सके। प्रभु की विनाशक शक्तियों से उसका हविर्द्रव्य ही विनष्ट हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घोर अग्नि के मन्यु से

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम्।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ ५॥

१. **ते बाहू अपि नह्यामि**=हे शत्रो! तेरी भुजाओं को बाँध देता हूँ। **आस्यम् अपिनह्यामि**=मुख

को भी बाँध देता हूँ। **घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना**=शत्रु-भयंकर, अग्निवत् भस्मकारी प्रभु के उस तेज से (क्रोध से) **ते हविः अवधिषम्**=तेरे होतव्यद्रव्यों को ही मैं नष्ट किये देता हूँ।

भावार्थ—औरों के विनाश के लिए यत्नशील पुरुष प्रभु की व्यवस्था से स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'पुर, विप्र, धृषद्वर्ण, शत्रुहन्ता' प्रभु

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि। धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुमर्षकबल से सम्पन्न **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। आपसे सुरक्षित हुए-हुए हम शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। २. हम उन आपको धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=पालन व पूरण करनेवाले हो, **विप्रम्**=ज्ञानी हो, **धृषद्वर्णम्**=धर्षकरूप हो, शत्रुओं का धर्षण करनेवाले और **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **भंगुरावतः**=भग्नशील कर्मवाले राक्षसों के **हन्तारम्**=विनष्ट करनेवाले हो।

भावार्थ—प्रभु 'पुर, विप्र, धृषद्वर्ण व शत्रुहन्ता' हैं। प्रभु को अपने चारों ओर धारण करते हुए हम शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'श्रातं जुहोतन' ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में

उत्तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **उत्तिष्ठत**=उठो, आलस्य को छोड़ो, लेटे ही न रहो। **अवपश्यत**=अपने अन्दर देखनेवाले बनो। अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करनेवाले बनो। **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **ऋत्वियम्**=समय पर प्राप्त **भागम्**=कर्त्तव्यभाग को देखनेवाले बनो। जो तुम्हारा प्रस्तुत कर्त्तव्य है, उसे देखकर उसके पालन में तत्पर होवो। जीवन के प्रथमाश्रम में 'ज्ञान-प्राप्ति' ही मुख्य कर्त्तव्य है। उस ज्ञान-प्राप्तिरूप कर्त्तव्य को देखकर उस ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना ही ब्रह्मचारी के लिए शोभा देता है। २. आचार्य का कर्त्तव्य है कि यदि वह **श्रातम्**=यह अनुभव करे कि उसका विद्यार्थी ज्ञानपरिपक्व हो गया है, तो उस ज्ञानपरिपक्व विद्यार्थी को **जुहोतन**=आहुत कर दे, उसकी गृहस्थयज्ञ में आहुति दे दे, उसे गृहस्थ में प्रवेश की स्वीकृति दे दे, परन्तु यदि **अश्रातम्**=वह अभी ज्ञानपरिपक्व नहीं हुआ तो **ममत्तन**=उसे (पचत—सा०) अभी और पक्व करने का यत्न करे अथवा उसे अभी ज्ञान-प्राप्ति में ही आनन्द लेने के लिए प्रेरित करे।

भावार्थ—उठो, अपनी कमियों को दूर करो। ब्रह्मचर्याश्रम में अपने को ज्ञानपरिपक्व करके गृहस्थ में जाने के लिए तैयारी करो।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थ से वानप्रस्थ में

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

१. एक गृहस्थ संयम-जन्यशक्ति व ज्ञान के परिपाक से अपने आश्रम को बड़ी सुन्दरता से पूर्ण करता है। इसके द्वारा गृहस्थ में **हविः श्रातम्**=हवि का ठीक परिपाक किया गया है (हु दानादनयोः) यह सदा देकर बचे हुए को खानेवाला बना है। अब गृहस्थ की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **उ**=निश्चय से **सु आप्रयाहि**=अच्छी प्रकार घर से जानेवाला बन, अर्थात् तू अब वनस्थ होने की तैयारी कर। **सूरः**=तेरा जीवन-सूर्य **अध्वनः मध्यम्**=मार्ग को **विजगाम**=विशेषरूप से प्राप्त हो गया है, अर्थात् आयुष्य के प्रथम ५० वर्ष बीत गये हैं, अतः अब तेरे वनस्थ होने का समय आ गया है। २. **त्वा परि**=तेरे चारों ओर **निधिभिः**=ज्ञान-निधियों की प्राप्ति हेतु से **सखायः आसते**=समानरूप से ज्ञान-प्राप्त करनेवाले ये विद्यार्थी आसीन होते हैं। ये विद्यार्थी **चरन्तम्**=गतिशील **व्राजपतिम्**=विद्यार्थिसमूह के रक्षक तेरे चारों ओर **कुलपाः न**=कुल के रक्षक के समान हैं। इन योग्य विद्यार्थियों से ही तो कुल का पालन होता है।

भावार्थ—गृहस्थ में दानपूर्वक अदन करते हुए हम पचास वर्ष बीत जाने पर वानप्रस्थ बनें। वहाँ हमें ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वानप्रस्थ से संन्यास में

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दुध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः ॥ ३ ॥

१. प्रभु इस वनस्थ से कहते है कि अब तुझे **ऊधनि श्रातं मन्ये**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार में परिपक्व मानता हूँ। तूने अपने को ज्ञानविदग्ध बना लिया है। **अग्नौ श्रातम्**=तू ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ है। शक्ति-सम्पन्नता के कारण तुझमें उत्साह (अग्नि) की भी कमी नहीं हैं, अतः मैं तुझे **सुशृतं मन्ये**=ठीक परिपक्व हुआ-हुआ समझता हूँ। अब **तत्**=तेरा यह जीवन **ऋतम्**=ठीक है, नियमित है, सत्य है। यह जीवन **नवीयः**=स्तुत्य व गतिशील है (नु स्तुतौ, नव गतौ)। २. **इन्द्रः**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए **पुरुकृत्**=खूब ही कर्म करनेवाले! तू **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना करता हुआ **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=जीवन के माध्यन्दिन सवनरूप इस गृहस्थाश्रम के **दध्नः पिब**=धारणात्मक कर्म को अपने में पीनेवाला, व्याप्त करनेवाला बन। तू अपने ज्ञानोपदेशों से गृहस्थों को धारण करनेवाला बन। संन्यासी का यही तो कर्त्तव्य है कि ज्ञानोपदेश द्वारा गृहस्थों का धारण करे।

भावार्थ—हम ज्ञान व शक्ति में परिपक्व होकर संन्यस्त और ज्ञान-प्रसार द्वारा संसार को धारण करनेवाले बनें।

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

तपनो घर्मः

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

१. हे **वृषणा**=शक्ति का सेचन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **दिवः रथी**=ज्ञानप्रकाश का रथी (नेता=प्राप्त करानेवाला) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **समिद्धः**=हृदयदेश में समिद्ध किया गया है। प्राणसाधना से अन्तःकरण की अशुद्धियों के क्षय होने पर हृदय में प्रभु-दर्शन होता ही है। **घर्मः**=(घर्मः Sunshine) ज्ञान-सूर्य की दीप्ति **तप्तः**=खूब चमकी है (तप दीप्तौ)। **वाम् इषे**=आपकी

(इषे=इषि) प्रेरणा होने पर **मधु दुह्यते**=सारभूत वीर्यरूप मधु का शरीर में प्रपूरण होता है। प्राणसाधना से वीर्य की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है और यह वीर्य सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। २. हे प्राणापानो! **पुरुदमासः**=खूब ही इन्द्रियों का दमन करनेवाले होते हुए अथवा शरीररूप गृहों का पालन व पूरण करते हुए (**दम**=गृह, **पुरु**=पालन व पूरण) **कारवः**=प्रभुस्तवन करनेवाले **वयम्**=हम **सधमादेषु**=यज्ञों में (सह माद्यन्ति देवा अत्र) **हि**=निश्चय से **वां हवामहे**=आपको पुकारते हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही उत्तमवृत्ति होकर यज्ञों की ओर झुकाव होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है, ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और शरीररूप गृहों का सुन्दरता से पालन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

अश्विना, वृषणा, दस्रा

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम्।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अग्निः समिद्धः**=हृदयदेश में प्रभु दीप्त हुए हैं। **वाम्**=आपकी कृपा से **घर्मः तप्तः**=ज्ञान-सूर्य का दीपन हुआ है। **आगतम्**=आप हमें प्राप्त होवो। हे **वृषणा**=शक्ति का सेचन करनेवाले प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **इह**=आपकी साधनावाले इस जीवन में **धेनवः दुह्यन्ते**=वेदवाणीरूप धेनुओं से ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं। **दस्रा**=हे मलों व दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वेधसः**=बुद्धिमान् लोग, उस ज्ञानदुग्ध के दोहन से **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्राणापानों की साधना से प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है, ज्ञान-सूर्य का उदय होता है और प्राणसाधक बुद्धिमान् लोग वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व अमृतत्त्व

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति॥ ३॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **स्वाहाकृतः**=स्वार्थत्याग के द्वारा सिद्ध हुआ है। देववृत्ति के व्यक्ति निजू जीवन के व्ययों को कम करते हुए यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यह यज्ञ **शुचिः**=जीवन को पवित्र बनानेवाला है। यह यज्ञ वह है **यः**=जोकि **अश्विनोः चमसः**=प्राणापान का—सोमपान का पात्र ही है। यज्ञ से जीवन पवित्र बनता है और वासनाओं से अनाक्रान्त होने के कारण शरीर में सोमरक्षण सम्भव होता है। यह यज्ञ **देवपानः**=दिव्य गुणों का रक्षक है। यज्ञ से दिव्यगुणों का वर्धन होता है। २. **तम् उ**=उस यज्ञ को निश्चय से **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **विश्वे**=सब लोग **अमृतासः**=नीरोग शरीरवाले होते हैं, अतः देव लोग इस यज्ञ को **गन्धर्वस्य आस्ना**=वेदवाणी के धारक पुरुष के मुख से **प्रतिरिहन्ति**=प्रतिदिन आस्वादित करते हैं, अर्थात् ये देव मन्त्रोच्चारण करते हुए यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—स्वार्थत्याग होने पर ही यज्ञ सम्भव होता है। यह जीवन को पवित्र बनाता है, तभी सोम का रक्षण सम्भव होता है और दिव्य गुणों का वर्धन होता है। इस यज्ञ को वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रीति से सेवन करते हुए लोग अमृत=नीरोग होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा॥ छन्दः—जगती॥

माध्वी, धर्तारा विदथस्य, सत्पती

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो **उस्त्रियासु**=गौवों में **घृतम्**=मलों का क्षरण करने तथा दीप्ति देनेवाला **पयः**=दूध **आहुतम्**=प्रभु द्वारा दिया गया है, स्थापित हुआ है, **अयं सः**=यह **वां भागः**=आपका भजनीय अंश है। **आगतम्**=आप आओ, उस दूध के ग्रहण के लिए प्राप्त होओ। २. हे प्राणापानो! आप **माध्वी**=मधुविद्या के वेदिता हो। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखना ही मधुविद्या है। प्राणापान की साधना होने पर यह साधक सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। अथवा **माध्वी**=आप जीवन को मधुर बनानेवाले हो। **विदथस्य धर्तारा**=यज्ञों को धारण करनेवाले हो। **सत्पती**=सब सत्कर्मों के रक्षक हो। **दिवः रोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दीप्त होने पर **तप्तं घर्मम्**=दीप्त हुए-हुए ज्ञानसूर्य को (Sunshine घर्म) **पिबतम्**=अपने अन्दर ग्रहण करो। प्राणापान का साधक ज्ञान का अपने अन्दर निरन्तर ग्रहण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधक को चाहिए कि वह गोदुग्ध का सेवन करे। यह प्राणसाधना उसे मधुर जीवनवाला, यज्ञशील, उत्तम कर्मों का रक्षक व ज्ञानप्रकाश को अपने अन्दर लेनेवाला बनाएगी।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अध्वर्युः पयस्वान्

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः॥ ५॥

१. **वाम्**=हे अश्विनौ! आपका **तप्तः घर्म**=दीप्त ज्ञानप्रकाश (सूर्यसम दीप्त ज्ञान) **नक्षतु**=हमें प्राप्त हो। प्राणसाधना के द्वारा हमें ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। यह **वाम्**=आपका **स्वहोता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **अध्वर्युः**=यज्ञशील हो तथा **पयस्वान्**=शक्तियों के आप्यायनवाला होता हुआ **प्रचरतु**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। प्राणसाधना से मनुष्य 'यज्ञशील, आप्यायित शक्तिवाला तथा प्रकृष्ट गतिवाला' होता है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तनायाः**='पयस, दधि, आज्य'-रूप हवियों के देने के द्वारा यज्ञों का विस्तार करती हुई **उस्त्रियायाः**=इस गौ के **दुग्धस्य**=दोहे गये **मधोः**=मधुर रसोपेत, मधुवत् प्रीणनकारी **पयसः**=दूध का **वीतम्**=भक्षण करो, **पातम्**=पान करो। यह गोदुग्ध ही तुम्हारा खान-पान हो।

भावार्थ—प्राणसाधक 'दीप्त ज्ञानवाला, यज्ञशील, आप्यायित शक्तिवाला व प्रकृष्ट गतिवाला' होता है। प्राणसाधक को चाहिए कि ताज़े गोदुग्ध को ही अपना खान-पान बनाये।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा॥ छन्दः—जगती॥

गोधुक्

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति॥ ६॥

१. हे **गोधुक्**=इस वेदधेनु का दोहन करनेवाले साधक! तू **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के हेतु से **उपद्रव**=उस प्रभु के समीप प्राप्त हो। इसी दृष्टि से तू **घर्मे**=ज्ञानदीप्ति के निमित्त **उस्त्रियायाः**=गौ के **ओषम्**=ताज़ा (गर्मी को लिए हुए) **पयः आसिञ्च**=दूध को अपने में सिक्त कर। गौ का ताज़ा दूध ही अमृत है—'**पीयूषोऽभिनवं पयः**'। इस अमृत के पान से शक्ति

का वर्धन होता है, और बुद्धि-वृद्धि के द्वारा ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। २. ऐसा करने पर **वरेण्यः सविता**=वह वरणीय, प्रेरक प्रभु तेरे लिए **नाकं वि अख्यत्**=दुःख से असंभिन्न (न अकं) स्वर्ग को प्रकाशित करते हैं। यह साधक **उषसः**=दोषों को दग्ध कर देनेवाली 'विशोका ज्योतिष्मती ऋतम्भरा प्रज्ञा' के **प्रयाणम् अनु**=प्रकर्षेण प्राप्त होने के अनुपात में (या प्रापणे) **विराजति**=दीप्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का दोहन करनेवाले बनकर शक्तियों का आप्यायन करते हुए प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञानदीप्ति के निमित्त ताज़े गोदुग्ध का ही सेवन करें। प्रभु हमारे लिए मोक्ष को प्राप्त कराएँगे। प्राणसाधना द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त होकर हम दीप्तजीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्रेष्ठ सव

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्॥ ७॥

१. मैं **एताम्**=इस **सुदुघाम्**=सुखसन्दोह्य **धेनुम्**=गौ को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। प्रभु हमें सुदुघा धेनु प्राप्त कराएँ। **उत**=और **सुहस्तः गोधुक्**=सधे हुए हाथवाला, दोहन में निपुण ग्वाला **एनां दोहत्**=इसका दोहन करे। दोहन करता हुआ वह गोधुक् इसे पीड़ित न करे। २. इसप्रकार वह **सविता**=प्रेरक प्रभु **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठं सवम्**=(एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं यद्वा पयः—नि० ११।४३) इस श्रेष्ठ दुग्ध को **साविषत्**=प्रेरित करे। इसके सेवन से **घर्मः**=(Sunshine) ज्ञानसूर्य की दीप्ति **अभीद्धः**=हममें दीप्त हुई है। वस्तुतः प्रभु ही उ=निश्चय से **तत्**=उस ज्ञान को **सु प्रवोचत्**=सुष्ठु उपदिष्ट करते हैं।

भावार्थ—हमें सुखसन्दोह्य गौ प्राप्त हो। सुहस्त गोधुक् उसका दोहन करे। इस गोदुग्ध के सेवन से हमें उत्तम ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। वस्तुतः इस ज्ञान का हृदयस्थ प्रभु ही तो हमारे लिए प्रवचन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गौ का गोचर स्थान से प्रत्यावर्तन

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ ८॥

१. **हिंकृण्वती**=अपने वत्स के प्रति 'हिं' शब्द करती हुई, **वसूनां वसुपत्नी**=उत्कृष्ट धनों का पालन करनेवाली (गोपालन ऐश्वर्यवृद्धि का कारण बनता है) **मनसा वत्सं इच्छन्ती**=मन में वत्स को चाहती हुई यह **अघ्न्या**=अहन्तव्या गौ **नि आगन्**=निश्चय से आये—प्राप्त हो। सायंकाल चरागाहों में चरने के बाद यह गौ घर में वापस आये। २. **इयम्** (अघ्न्या)=यह गौ **अश्विभ्याम्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पति-पत्नी के लिए (अश् व्याप्तौ) **पयः दुहाम्**=दूध का दोहन करे। **सा**=वह गौ **महते सौभगाय**=हमारे महान् सौभाग्य के लिए **वर्धताम्**=बढ़े, समृद्ध हो, खूब दूध आदि वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—सायं गौ अपने बछड़े का स्मरण करती हुई घर वापस आये। यह हमारे लिए दूध प्राप्त कराती हुई सौभाग्य का कारण बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-उपासन व शत्रु-विनाश

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ९॥

१. हे प्रभो! आप **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित हुए-हुए **दमूनाः**=(दानमनाः—नि० ४।४) सब-कुछ देने के मनवाले **अतिथिः**=निरन्तर गतिशील **विद्वान्**=ज्ञानी हैं। ये प्रभु **नः दुरोणे**=इस हमारे घर में **इमं यज्ञं उपयाहि**=इस यज्ञ को प्राप्त हों। हम सब घरों में यज्ञशील बनें। यज्ञों द्वारा प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु को प्राप्त करें। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विश्वाः**=सब **शत्रूयताम्**=शत्रु की भाँति आचरण करते हुए लोगों की **अभियुजः**=आक्रमणकारिणी पर-सेनाओं को **विहत्य**=नष्ट करके **भोजनानि आभर**=हमारे लिए पालन-साधनों को प्राप्त कराइए। इसप्रकार व्यवस्था कीजिए कि हम शत्रुओं को पराजित करके ठीक प्रकार अपना पालन कर सकें।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करें। प्रभु हमें पालन-साधनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः,अश्विनौ,प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

महते सौभगाय

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप हमारे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **शर्ध**=आर्द्रहृदय होओ। (शृधु उन्दने) हमें धन देने के लिए उत्तम मनवाले होओ। **तव**=आपके, आपसे दिये गये **द्युम्नानि**=(Wealth) ऐश्वर्य **उत्तमानि सन्तु**=उत्कृष्ट हों। २. **जास्पत्यम्**=हमारे पति-पत्नी के कर्म को **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **सम् आकृणुष्व**=सम्यक् कीजिए। **शत्रूयताम्**=हमारे प्रति शत्रु की तरह आचरण करते हुए इन शत्रुओं के **महांसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=अभिभूत कीजिए। ये शत्रु हमें पराजित न कर सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम सौभाग्यवाले बनें। प्रभु-प्रदत्त ये धन उत्तम हों। हमारा गृहस्थकर्म बड़ा संयमवाला हो। शत्रुओं के तेज को हम प्रभुकृपा से अभिभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

भगवती (गौ)

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ११॥

१. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये गौ! तू **सूयवसात्**=उत्तम चरी को खाती हुई **हि**=निश्चय से **भगवती भूयाः**=उत्तम धनवाली व सौभाग्य को प्राप्त करानेवाली हो। **अध**=अब **वयम्**=हम **भगवन्तः स्याम**=उत्तम ऐश्वर्यवाले हों। इस गौ की कृपा से हम वसुमान् बनें, यह गौ 'वसूनां वसुपत्नी' ही तो है। २. हे अघ्न्ये! तू **विश्वदानीम्**=सदा **तृणं अद्धि**=घास खानेवाली हो, जिससे तेरे शरीर में कभी कोई विकार न आये। तू गोचर में **आचरन्ती**=चारों ओर विचरण करती हुई **शुद्धं उदकं पिब**=शुद्ध जल पी।

भावार्थ—उत्तम यवस (चरी) को खाती हुई, गोचर प्रदेशों में घास चरती हुई, विशुद्ध जल पीती हुई यह गौ हमारे लिए उत्तम दूध दे। यह हमें सौभाग्य-सम्पन्न करे।

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

गण्डमाला की चिकित्सा

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥ १॥

१. दोषवश (अपाक् चीयमाना) गले से लेकर नीचे कक्षादि सन्धि-स्थानों में फैलनेवाली गण्डमाला 'अपचित्' है। **लोहिनीनाम्**=इन लाल वर्ण की **अपचिताम्**=गण्डमाला की ग्रन्थियों की **माता**=जननी **कृष्णा इति शुश्रुम**=काले वर्ण की नाड़ियाँ हैं, ऐसा सुना जाता है। जिन नाड़ियों में शुद्ध लाल वर्ण का रक्त बहता है, उनसे भिन्न अशुद्ध नील वर्ण के रक्त की नाडियाँ 'कृष्णा' हैं। इनके कारण ही गण्डमाला की ग्रन्थियों को जन्म मिलता है, अर्थात् अशुद्धरक्त के कारण ये ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। २. **ताः सर्वाः**=उन सब गण्डमाला की ग्रन्थियों को **अहम्**=मैं **देवस्य**=रोग को जीतने की कामनावाले **मुनेः**='वंगसेन' तरु के **मूलेन**=मूल से **विध्यामि**=विद्ध करता हूँ।

भावार्थ—वंगसेन (अथवा प्रियाल, अगस्ति व पलाश) वृक्ष के मूल से गण्डमाला की ग्रन्थियों का वेधन किया जा सकता है। ये ग्रन्थियाँ अशुद्ध रक्त के कारण उद्भूत हो जाती हैं। 'मुनिः पुंसी वसिष्ठादौ वंगसेनतरौजिने' मेदिनी, (मुनिर्कश्चन्मतेऽर्हति प्रियालागस्तिपालाशे)।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'तीव्र, मध्यम व अल्प' स्थिति में गण्डमाला

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्या[मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव॥ २॥

१. दोष के प्रकर्ष, साम्य (मध्यमस्थिति) व अल्पत्व के भेद से गण्डमाला भी तीन भागों में बँट जाती है। **आसाम्**=इन गण्डमालाओं में **प्रथमाम्**=दोषप्रकर्षेण उद्भूत दुश्चिकित्स्य गण्डमाला को **विध्यामि**=वंगसेन तरु के मूल से बींधता हूँ **उत**=और **मध्यमाम्**=दोष साम्य (मध्यम स्थितिवाले दोष) से उद्भूत न अधिक दुःसाध्य गण्डमाला को भी बींधता हूँ। २. **इदम्**=(इदानीं) अब **आसाम्**=इन गण्डमालाओं में **जघन्याम्**=अल्पदोष समुद्भूता अतएव थोड़े से प्रयत्न से चिकित्सनीया गण्डमाला को भी **स्तुकाम् इव**=ऊन के बाल की भाँति **आच्छिनद्मि**=सर्वतः छिन्न कर देता हूँ।

भावार्थ—'तीव्र, मध्यम व अल्प ' जिस भी स्थिति में गण्डमाला हो, उसे एकदम दूर करना ही अभीष्ट है और यह वंगसेन तरु के मूल से हो सकता है।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ईर्ष्या व क्रोध को दूर करना

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि॥ ३॥

१. हे ईर्ष्योपेत पुरुष! **ते**=तेरी **ईर्ष्याम्**=ईर्ष्या को **त्वाष्ट्रेण वचसा**=संसार के निर्माता प्रभु की वाणी से (यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। **यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः** '६।१८।२') **अहम्**=मैं **वि अमीमदम्**=विगत मद करता हूँ, अर्थात् दूर करता हूँ—ईर्ष्या को उद्रेक-(प्रबलता)-रहित करता हूँ। २. **अथो**=और हे **पते**=स्वामिन्! **यः ते मन्युः**=जो तेरा मेरे

विषय में क्रोध है, उ=निश्चय से तेरे **तम्**=उस क्रोध को **शमयामसि**=हम शान्त करते हैं।

वेदवचनों के द्वारा प्रेरित करके तथा अपने मधुर व्यवहार से पत्नी पति की ईर्ष्या व क्रोध को दूर करने का यत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्रतपति प्रभु का मिलकर उपासन

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे॥ ४॥

१. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप **व्रतेन समक्तः**=व्रत के द्वारा, पुण्य कर्मों के द्वारा संस्कृत-सम्भावित-सम्यक् इष्ट (पूजित) होते हो। व्रतों द्वारा समक्त हुए-हुए आप **विश्वाहा**=सदा **सुमनाः**=शोभन मनवाले—हमारे विषय में अनुग्रहबुद्धियुक्त होते हुए **इह**=यहाँ हमारे घर में **दीदिहि**=दीप्त होओ। २. हे **जादवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धम्**=सम्यक् दीप्त **तं त्वा**=उन आपको **प्रजावन्तः**=पुत्रों के समेत **सर्वे वयम्**=हम सब **उपसदेम**=उपासित करें। हम सब मिलकर आपकी उपासना करनेवाले बनें। यह उपासना ही हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर ईर्ष्या, क्रोध आदि से बचाएगी।

भावार्थ—पुण्यकर्मों द्वारा हम व्रतपति प्रभु को अपने जीवन में सम्भावित करें। हम मिलकर प्रातः-सायं घर में प्रभु का उपासन करें। यह उपासन हमें ईर्ष्या व क्रोध से दूर रक्खेगा।

ये उपासक अपने को ईर्ष्या, क्रोध आदि से ऊपर उठाते हैं, अतः 'उपरिबभ्रव' कहलाते हैं। गोदुग्ध का सेवन इन्हें ऊपर उठने में सहायक होता है। ये 'उपरिबभ्रवः' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**अघ्न्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूयवस+शुद्ध जल

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ १॥

इस मन्त्र की व्याख्या अथर्व० ४।२१।७ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**अघ्न्याः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

रमतयः विश्वनाम्नीः

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत॥ २॥

१. हे **रमतयः**=पयःप्रदान आदि से रमयित्री गौवो! तुम **पदज्ञाः स्थ**=(पद्यते गम्यते इति पदं गृहम्) अपने-अपने घर को जाननेवाली हो। गोसंचर स्थान में चरकर फिर अपने घर में ही आनेवाली हो। तुम **संहिताः**=बछड़ों से युक्त हो, **विश्वनाम्नीः**=बहुविध नामोंवाली हो (इडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि—तै० ७।१।६।८) अथवा आप विश्व को अपनी ओर झुकानेवाली हो, क्षीरादि के लाभ के लिए सब गौवों को चाहते ही हैं। २. इसलिए हे **देवीः**=रोगों को पराजित करने की कामनावाली तुम **देवेभिः**=क्रीड़ा करते हुए अपने बछड़ों के साथ **मा उप एत**=मुझे समीपता से प्राप्त होओ और आकर **इमं गोष्ठम्**=इस गो-निवासस्थान को, **इदं सदः**=इस हमारे घर को और **अस्मान्**=हम गृहस्वामियों को **घृतेन**

समुक्षत=घृतोत्पादक दूध से सिक्त कर दो। आपके कारण हमारे घरों में घी-दूध की कमी न रहे।

भावार्थ—गौवें हमारे जीवन को आनन्दयुक्त करनेवाली हैं। दूध आदि की प्राप्ति के लिए सब कोई इनकी प्रार्थना करता हैं। ये हमारे रोगों को पराजित करती हैं, अतः हमारे घरों में इनके द्वारा दूध की कमी न रहे।

अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है। वह स्थिरवृत्ति का होता हुआ 'गण्डमाला' आदि रोगों का विनाश करता है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

गण्डमाला में लवण का प्रयोग

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः॥ १॥

१. **सुस्रसः**=अतिशयेन स्रवणशील—सर्वदा पूय (पस) आदि के रूप में स्रवणशील, अतएव **असतीभ्यः**=पीड़ित करनेवाले रोगी व्यक्तियों से भी **असत्तराः**=अतिशयेन बाधिका ये गण्डमालाएँ **आसुस्रसः**=समन्तात् निरवशेषेण स्रवणशील हों, निःशेष स्रवण से ये नष्ट हो जाएँ। २. **सेहोः**=(सेहुर्नाम विप्रकीर्णावयवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः) अत्यन्त नीरस तूल आदि रूप पदार्थ से भी **असत्तराः**=ये गण्डमालाएँ निःसारतर हैं, पाकावस्था से पूर्व ये बाधिका हैं ही नहीं। अब ये कक्षादिसन्धि-प्रदेशों में व्याप्त हुई-हुई व्रणरूपेण बाधित करने लगती हैं। सब अवयवों में व्याप्त हो जाने के बाद **लवणात्**=लवण से **विक्लेदीयसीः**=अतिशयेन विविध क्लेदनवाली होती हैं। लवण के प्रयोग से ये गण्डमालाएँ पूय आदि के रूप में स्रवणशील हो जाती हैं और इसप्रकार स्रवणवाली होकर ये नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—पूय आदि के स्रवणवाली व सेहु के समान शुष्क गण्डमालाएँ भी लवण के प्रयोग से क्लिन्न होकर खूब स्रवणशील हो जाती हैं। स्रवणशील होकर ही ये नष्ट होती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

'ग्रैव्य व उपपक्ष्य' गण्डमाला

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः। विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः॥ २॥

१. **याः ग्रैव्याः**=जो गल-प्रदेश में उत्पन्न (ग्रीवाभव) **अपचितः**=गण्डमालाएँ हैं, **अथो**=और **यः उपपक्ष्याः**=पक्ष के समीप—कक्षप्रदेश में होनेवाली गण्डमालाएँ है और **याः अपचितः**=जो गण्डमालाएँ **विजाम्नि**=(विशेषेण जायते अपत्यम् अत्र) गुह्य प्रदेश में हैं, अथवा उरु-सन्धि में हैं, वे सब **स्वयंस्रसः**=स्वयं स्रवणशील हो जाएँ, स्वयं स्रुत होकर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—ग्रैव्य, उपपक्ष्य गुह्यप्रदेशस्थ गण्डमालाएँ स्रुत होकर नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

राजयक्ष्मा

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥ ३॥

१. **यः**=जो राजयक्ष्मा रोग **कीकसाः**=हड्डियों को **प्रशृणाति**=हिंसित करता है, हड्डियों में व्याप्त हो जाता है, **तलीद्यम्**=(तडित्=अन्तिकनाम—नि० २। १६) अस्थिसमीपगत मांस में **अवतिष्ठति**=स्थित होता है, अर्थात् जो मांस का शोषण करता है, **यः कः च**=और जो कोई

कठिन राजयक्ष्मा नामक रोग **ककुदि श्रितः**=ग्रीवाके पृष्ठ भाग में संश्रित हुआ-हुआ शरीर को क्षीण करता है **तं सर्वम्**=उस सब शरीरगत सर्वधातुशोषक **जायान्यम्**=निरन्तर जाया संभोग से जायमान क्षयरोग को **निर्हाः**=औषध द्वारा दूर करे, नष्ट करे।

भावार्थ—संभोग के अतिशय के कारण उत्पन्न राजयक्ष्मा हड्डियों को, मांस को व ग्रीवा के पृष्ठभाग को हिंसित कर देता है। योग्य वैद्य उचित औषध-प्रयोग से इसे दूर करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥ ४॥

१. **जायान्यः**=जाया-संभोग से उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग **पक्षी**=पक्षवाला—पक्षी बनकर **पतति**=सब जगह पहुँचता है, फैल जाता है। **सः पुरुषम् आविशति**=यह रोग पुरुष के सम्पूर्ण शरीर में प्रविष्ट (व्याप्त) हो जाता है। २. **तत्**=अगले (पाँचवें) मन्त्र में वर्णित हवि **अक्षितस्य**=जो शरीर में चिरकाल से अवस्थित नहीं हुआ, **च**=और जो **सुक्षतस्य**=शरीरगत सब धातुओं का हिंसन करनेवाला है, उन **उभयोः**=दोनों क्षयरोगों (अक्षित और सुक्षत) की **भेषजम्**=औषध है।

भावार्थ—क्षयरोग के बीज सर्वत्र उड़ते-से हैं, वे पुरुष में प्रवेश करके उसे पीड़ित करते हैं। हवि के द्वारा इनका निवारण सम्भव है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्यः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्र से राजयक्ष्मा का विनाश

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ ५॥

१. हे **जायान्य**=जाया-संभोग से उत्पन्न राजयक्ष्मा रोग! हम **ते जानम्**=तेरे उत्पत्ति—निदान (कारण) को **वै**=निश्चय से **विद्म**=जानते हैं। हे **जायान्य**=जाया-संभोगजनित रोग! **यतः जायसे**=जिस कारण से तू उत्पन्न होता है, उसे हम जानते हैं। २. तेरे कारण को जानते हुए हम **यस्य गृहे हविः कृण्मः**=जिसके घर में हवि=अग्निहोत्र करते हैं, **तत्र**=वहाँ यह यजमान को **ह**=निश्चय से **त्वं कथं हनः**=तू किस प्रकार मार सकता है, अर्थात् जहाँ अग्निहोत्र होता है, वहाँ यह रोग नहीं पनप पाता।

भावार्थ—राजयक्ष्मा जाया-संभोग के अतिशय से उत्पन्न होता है। अग्निहोत्र के द्वारा इसका निवारण होता है। (**'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्।', 'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥'**)

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोम-पान द्वारा 'रयिष्ठान' बनना

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षक होता हुआ तू **कलशे**=सोलह कलाओं के आधारभूत इस शरीर में **सोमं पिब**=सोम का पान कर। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले इन्द्र! **वृत्रहा**=वृत्र को मारनेवाला तू **वसूनाम्**=वसुओं के, धनों के **समरे**=(सम् ऋ) सम्यक् प्राप्ति के निमित्त सोम का पान कर। शरीर में सोम का पान होने पर ही सब वसुओं की प्राप्ति होती है। २. **माध्यन्दिने सवने**=जीवन के माध्यन्दिन सवन, अर्थात् गृहस्थकाल में

भी **आवृषस्व**=तू सर्वथा शरीर में इस शक्ति का सेचन करनेवाला हो। **रयिष्ठानः**=इसप्रकार ऐश्वर्य का अधिष्ठान होता हुआ तू **अस्मासु**=हममें भी **रयिं धेहि**=रयि का धारण करनेवाला बन। तेरे आदर्श से हम भी वीर्यरक्षण करते हुए रयि को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम 'काम' आदि शत्रुओं का धर्षण करते हुए शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है। गृहास्थाश्रम में भी वीर्यरक्षण का ध्यान करते हुए सब ऐश्वर्यों के अधिष्ठान बनें। हमारा जीवन औरों को भी उचित प्रेरणा दे।

सोमरक्षण द्वारा अंग-प्रत्यंग में रसवाला यह उपासक 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—त्रिपदागायत्री ॥

'सान्तपनाः रिशादसः' मरुतः

सान्तपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **सान्तपनाः**=ज्ञानज्योति को सन्दीप्त करनेवाले हो। **इदं हविः**=यह दानपूर्वक अदन सामग्री है, यज्ञ करके यज्ञावशिष्ट पदार्थ है, **तत् जुजुष्टन**=इसका तुम सेवन करो। सदा यज्ञशेष को ही खानेवाले बनो। २. **अस्माक ऊती**=हमारे रक्षण के उद्देश्य से आप **रिशादसः**=(रिशन्ति हिंसन्ति इति रिश्यः) शत्रुओं के उपक्षपयिता (दस् उपक्षये) हो अथवा इन शत्रुओं के खा जानेवाले (अद् भक्षणे) हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानज्योति दीप्त होती है तथा काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं का विनाश होता है। यज्ञशेष का सेवन करते हुए ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'वसवः' मरुतः

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान्प्रति मुञ्चतां स तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥ २॥

१. हे **वसवः**=बसानेवाले, प्रशस्य अथवा वसुप्रद मरुतो! **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **दुर्हृणायुः**=बुरी तरह से क्रोध करता हुआ **तिरः**=तिरोभूत, अन्तर्हित हुआ-हुआ **नः चित्तानि**=हमारे चित्तों को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, हमें क्षुब्ध करता है, **सः**=वह **द्रुहः पाशान्**=पापों के द्रोग्धा वरुण के पाशों को **प्रतिमुञ्चताम्**=धारण करे, वरुण के पाशों से बद्ध हो—प्रभु उसे दण्डित करें। **तपिष्ठेन तपसा**=अतिशयेन दीप्ति को प्राप्त करानेवाले तप से **तं हन्तन**=उसे विनष्ट करो। २. यदि कोई मनुष्य छिपे रूप में हमारे प्रति क्रोध की भावनावाला होकर हमारे मनोरथों को नष्ट करना चाहता है, तो हम उसके प्रति क्रोध न करते हुए यही सोचें कि प्रभु उसे उसके अपराध के लिए दण्डित करेंगे तथा हम तप के द्वारा जीवन को दीप्त बनाते हुए उसके क्रोध को नष्ट करने का यत्न करें।

भावार्थ—जो क्रोधी मनुष्य हमें क्षुब्ध करना चाहता है,वह वरुण के पाशों में जकड़ा जाए।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—मरुतः ॥ छन्दः—जगती ॥

'संवत्सरीणाः स्वर्काः' मरुतः

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सान्तपना मत्सरा मादयिष्णवः॥ ३॥

१. **संवत्सरीणाः**=सम्यक् निवास के हेतुभूत **मरुतः**=प्राण **स्वर्काः**=(अर्कम् अन्नम्) उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले हैं। प्राणसाधक को सदा सात्त्विक अन्न का ही सेवन करना है। ये प्राण **उरुक्षयाः**=विशाल निवास स्थानवाले हैं, ये शरीर की शक्तियों की विशालता का कारण बनते हैं। **सगणाः**=(सप्तगणा वै मरुतः—तै०२.२.५.७.) सात-सात के सात गणोंवाले हैं। उनचास भागों में बँटकर शरीर में कार्य कर रहे हैं। **मानुषासः**=मनुष्य का हित करनेवाले हैं। हमें विचारशील बनानेवाले हैं। २. ये **ते**=वे मरुत् (प्राण) **अस्मत्**=हमसे **एनसः पाशान्**=पाप के पाशों को **प्रतिमुञ्चन्तु**=छुड़ा दें। **सान्तपनाः**=ये हमें अति दीप्त जीवनवाला बनाते हैं, **मत्सराः**=आनन्दपूर्वक गति करनेवाले हैं और **मादयिष्णवः**=हमें सन्तोष प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए हम 'दीर्घजीवी, विशाल शक्तियोंवाले, विचारशील, निष्पाप, दीप्त, प्रसन्न व सन्तोषवाले' बनेगें।

यह प्राणसाधक 'अथर्वा' बनता है, यही अगले सूक्तों का ऋषि है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

'दशना योक्त्र व नियोज्य' का विमोचन

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम्। इहैव त्वमजस्त्र एध्यग्ने॥ १॥

१. **ते**=तेरी **रशनाम्**=कण्ठ-बन्धनसाधनभूता बाधिका रज्जु को **विमुञ्चामि**=विमुक्त करता हूँ। **योक्त्रं वि (मुञ्चामि)**=मध्यप्रदेश-बन्धनसाधनभूत रज्जुविशेष को भी विमुक्त करता हूँ तथा **नियोजनम् वि**=सर्वावयव-बन्धक नीचीन-बन्धनसाधनभूत रज्जुविशेष को भी तुझसे पृथक् करता हूँ। उपरले अवयवों में, मध्य के अवयवों में अथवा निचले अवयवों में जहाँ कहीं भी कोई रोग का निदानभूत मल है, उसे तेरे शरीर से पृथक् करता हूँ। २. अब 'इन रशना, योक्त्र व नियोजन' के विमोचन के कारण हे **अग्ने**=अग्निवत् दीप्त पुरुष! रोगमुक्ति के कारण चमकनेवाले पुरुष! तू **इह एव**=इस लोक में ही **अजस्त्रः**=शत्रुओं से व मृत्यु से अबाधित हुआ-हुआ **एधि**=हो।

भावार्थ—उत्तम, मध्यम व अधम रोगबन्धनों से मुक्त होकर, अग्निवत् दीप्त होते हुए हम इस लोक में उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षत्राणि द्रविणा भद्रम्

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु॥ २॥

१. **अस्मै**=इस अपने उपासक के लिए **क्षत्राणि धारयन्तम्**=बलों का धारण करनेवाले **त्वा**=आपको, हे **अग्ने**=प्रभो! **दैव्येन ब्रह्मणा**=देव से प्राप्त ज्ञान के द्वारा, प्रभु को प्राप्त करनेवाले ज्ञान के द्वारा, **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ। प्रभु हमें बल प्राप्त कराते हैं, हम ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **इह**=इस जीवन में **द्रविणा**=धनों को **भद्रम्**=कल्याण व सुख को **दीदिहि**=दीजिए अथवा हमारे लिए धन आदि को दीप्त कीजिए। **इमं हविर्दाम्**=इस हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष को **देवतासु प्रवोचः**=देवों के विषय में प्रकृष्ट ज्ञान दीजिए। इन सूर्य आदि देवों का ज्ञान प्राप्त करके हम उनसे उचित लाभ प्राप्त करते हुए उन्नत जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें 'बल, धन, कल्याण व ज्ञान' प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञान द्वारा प्रभु को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

प्रभु से बल आदि को प्राप्त करनेवाला अथर्वा प्रार्थना करता है कि—

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सूर्य+चन्द्र

यत्ते॑ दे॒वा अकृ॑ण्वन्भाग॒धेय॒ममा॑वास्ये सं॒वस॑न्तो महि॒त्वा।
तेना॑ नो य॒ज्ञं पि॑पृहि विश्ववारे र॒यिं नो॑ धेहि सुभगे सु॒वीर॑म्॥ १ ॥

१. 'अमावास्या' को अमावास्या इसलिए कहते हैं कि इसमें सूर्य और चन्द्र साथ-साथ रहते हैं। (अमा+वस्) 'सूर्य' प्रकाश व तेजस्विता का प्रतीक है 'चन्द्र' आह्लाद व सौम्यता का। मानव जीवन में दोनों का समन्वय अभीष्ट है। तेजस्विता व सौम्यता का समन्वय सब दिव्य गुणों की उत्पत्ति का हेतु बनता है। हे **अमावास्ये**=अमावास्ये! **ते महित्वा**=तेरी महिमा से **यत्**=जब **संवसन्तः**=सम्यक् मिलकर रहते हुए **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **भागधेयं अकृण्वन्**=हवि का भाग करते हैं, अर्थात् यज्ञशील होते हैं तब हे **विश्ववारे**=सबसे वरने के योग्य **सुभगे**=शोभन-भाग्ययुक्त अमावास्ये! **तेन**=उस हविर्भाग के द्वारा **नः यज्ञं पिपृहि**=हमारे यज्ञ को पूर्ण कर तथा **नः**=हमारे लिए **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—जिस समय एक घर में रहनेवाले व्यक्ति सूर्य व चन्द्रतत्त्वों का अपने में समन्वय करते हैं, उस समय वे (क) परस्पर मिलकर रहते हैं, (ख) देववृत्ति के बनकर यज्ञशील होते हैं, (ग) वीर सन्तानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमावास्या

अ॒हमे॒वास्म्य॑मावा॒स्या॒३ मामा व॑सन्ति सु॒कृतो॒ मयी॒मे।
मयि॑ दे॒वा उ॒भये॑ सा॒ध्याश्चेन्द्र॑ज्येष्ठाः॒ सम॑गच्छन्त॒ सर्वे॑॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **एव**=ही अमावास्या **अस्मि**='अमावास्या' हूँ। **सुकृतः माम् आवसन्ति**=उत्तम कर्मोंवाले देव मुझमें निवास करते हैं। '**आ मा वसन्ति देवाः**' यही तो अमावास्या शब्द की निरुक्ति है। **मयि इमे**=ये देव मुझमें निवास करते हैं, अतः मैं अमावास्या हूँ। २. **साध्याः च** ('च' शब्दः समुच्चये, सिद्धाः अपि)=साध्य और सिद्ध **उभये**=दोनों ही **इन्द्रज्येष्ठाः**=इन्द्र प्रमुख **सर्वे देवाः**=सब देव **मयि समगच्छन्त**=मुझमें संगत होते हैं। इसप्रकार 'माम् आ वसन्ति देवाः' 'मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन' 'मयि संगच्छन्ते' यही अमावास्या शब्द का निर्वचन है। २. जिस समय हमारे जीवनों में 'तेजस्विता व सौम्यता' का, 'प्रकाश व आह्लाद' का समन्वय होता है तब सब दिव्य गुणों का विकास होता है। यही अमावास्या में देवों का निवास है। इस घर में सब देववृत्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। जिन्होंने अभी चलना प्रारम्भ किया है वे 'साध्य' हैं, जो कुछ आगे निकल गये हैं वे 'सिद्ध' हैं। गृह के मुख्य व्यक्ति 'इन्द्र' हैं। इसप्रकार यह स्वर्ग ही बन जाता है।

भावार्थ—अमावास्या का उपदेश यही है कि एक घर में 'छोटे, बड़े तथा घर के मुख्य व्यक्ति' सब मिलकर उत्तम कर्मों को करते हुए यज्ञशील बनें और घर को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अमावास्या**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'वसूनां संगमनी' अमावास्या

आगन्रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन्॥ ३॥

१. यह **रात्री**=अमावास्या-काल-युक्ता रात्रि **आगन्**=हमें प्राप्त हुई है। हमने अपने जीवन में सूर्य व चन्द्र का समन्वय किया है। यह रात्रि **वसूनां संगमनी**=सब वसुओं—धनों का हमारे साथ मेल करनेवाली है तथा यह **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पुष्टम्**=सब अंगों के पोषण को तथा **वसु**=धन को **आवेशयन्ती**=हमारे अभिमुख प्राप्त कराती हुई आती है। २. इस **अमावास्यायै**=अमावास्या के लिए—अपने जीवन में सूर्य-चन्द्र के समन्वय के लिए **हविषा विधेम**=हवि द्वारा हम पूजन करते हैं। यज्ञशील बनने पर ही प्रभुकृपा से अमावास्या का हमारे जीवनों में प्रवेश होता है। **ऊर्जं दुहाना**=बल व प्राणशक्ति का हममें प्रपूरण करती हुई यह **पयसा**=सब शक्तियों के आप्यायन के साथ **नः आगन्**=हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा प्रभु-पूजन होने पर हमारे जीवनों में अमावास्या का आगमन होता है, हमारे जीवनों में सूर्य-चन्द्र का समन्वय, तेजस्विता व सौम्यता का मेल होता है। ऐसा होने पर हमें 'बल, प्राणशक्ति, पोषण, वसु व अंगो का आप्यायन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अमावास्या**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'निर्मात्री' अमावास्या

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ४॥

१. हे **अमावास्ये**=सूर्य और चन्द्र के साथ-साथ निवासवाली प्रवृत्ते! **त्वत् अन्यः**=तुझसे भिन्न अन्य कोई देव **एतानि विश्वा रूपाणि**=इन सब रूप्यमाण भूतों को **परिभूः न जजान**=व्यापन करनेवाला नहीं उत्पन्न हुआ। अमावास्या ही सब रूपों को प्रादुर्भूत करनेवाली होती है। सूर्य और चन्द्र के समन्वय में ही सब उत्पादन निहित है। इनके समन्वय के अभाव में विनाश है। २. हे अमावास्ये! **यत्कामाः**=जिस फल की कामनावाले होते हुए हम **ते जुहुमः**=तेरे लिए हवियाँ देते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह फल हमें प्राप्त हो और **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी बनें, कभी धनों के दास न बन जाएँ।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र का समन्वय ही सब निर्माण का साधन बनता है। इसके समन्वय में ही इष्टसिद्धि है और यह समन्वय ही हमें धनों का स्वामी बनाता है।

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पौर्णमासी**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पौर्णमासी

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम॥ १॥

१. पौर्णमासी के दिन चन्द्रमा पूर्ण होता है, इस दिन वह सोलह कलाओं से युक्त होता है। हमें भी सोलह कला-सम्पन्न बनने की प्रेरणा पूर्णिमा से प्राप्त होती है। हम भी 'प्राण, श्रद्धा, पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम' इन सोलह कलाओं से पूर्ण जीवनवाले बनें। यह **पौर्णमासी**=पूर्णिमा पूर्णचन्द्रोपेता होती हुई **पश्चात् पूर्णा**=पीछे से पूर्ण है,

पुरस्तात् पूर्णा=आगे से भी पूर्ण है, **उत**=और **मध्यतः**=बीच से भी पूर्ण होती हुई **जिगाय**=विजयी होती है। हम भी पीछे, आगे व मध्य से पूर्ण बने। हमारे एक ओर 'शक्ति' है, दूसरी ओर 'ज्ञान' और इन दोनों के बीच में 'नैर्मल्य' है। हमारे शरीर शक्ति-सम्पन्न हों, मस्तिष्क ज्ञानान्वित हों तथा मन नैर्मल्य को लिये हुए हो। २. **तस्याम्**=उस पूर्णिमा में—शक्ति, ज्ञान व नैर्मल्य के समन्वय में, **सं देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **संवसन्तः**=निवास करते हुए, **महित्वा**=प्रभुपूजन के द्वारा (मह पूजायाम्) **नाकस्य पृष्ठे**=मोक्षलोक में—दुःख से असंभिन्न सुखमय लोक में, **इषा**=प्रभु प्रेरणा के द्वारा **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—पूर्णिमा से पूर्णता का पाठ पढ़ते हुए हम शक्ति, ज्ञान व नैर्मल्य को अपने में पूरण करें। दिव्यगुणों से युक्त होते हुए हम प्रभु-पूजन के साथ प्रभुप्रेरणा को सुनते हुए सुखमय लोक में आनन्द से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषभ, वाजी, पौर्णमास' प्रभु का पूजन

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम्॥ २॥

१. **वयम्**=हम **वृषभम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली **पौर्णमासम्**=पौर्णमासी के चन्द्र के समान उस षोडशी प्रभु (**प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींषी सचते स षोडशी**—य० ३२।५) को **यजामहे**=पूजित करते हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए उस **रयिम्**=सम्पत्ति को **ददातु**=दें, जो **अक्षिताम्**=अविनाशित है—किसी से नष्ट नहीं की जा सकती तथा **अनुपदस्वतीम्**=आवश्यक उपभोगों में व्यय होती हुई भी क्षयरहित है।

भावार्थ—हम 'वृषभ, वाजी व पौर्णमास' प्रभु का पूजन करें। वे हमें न क्षीण होनेवाली सम्पत्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापति

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ३॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के स्वामिन् प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न अन्य कोई **एतानि विश्वा रूपाणि**=इन सब दृश्यमान पदार्थों को **परिभूः न जजान**=व्याप्त होकर पैदा नहीं कर रहा। आप ही इन सब रूपों को जन्म देनेवाले हैं। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर हम **ते जुहुमः**=तेरे लिए हवियाँ देते हैं, हवियों के द्वारा आपका पूजन करते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह हमें प्राप्त हो। आपके अनुग्रह से **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों।

भावार्थ—प्रभु ही सब पदार्थों में व्याप्त होकर इन्हें जन्म दे रहे हैं। हम जिस कामना से युक्त होकर प्रभु का उपासन करते हैं, हमारी वह कामना पूर्ण होती है। प्रभु के अनुग्रह से ही हम धनों के स्वामी बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूर्णिमा यजन

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः॥ ४॥

१. **अह्नाम्**=दिनों तथा **रात्रीणाम् अतिशर्वरेषु**=रात्रियों के प्रबल अन्धकारों में (अतिशयिता शर्वरी येषु), अर्थात् चाहे समृद्धि का प्रकाश हो चाहे असमृद्धि का अन्धकार हो, सदा ही **पौर्णमासी**=पूर्णिमा **प्रथमा यज्ञिया आसीत्**=सर्वप्रथम संगतिकरण योग्य है। मनुष्य को सदा ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने जीवन को सोलह कलाओं से पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे। २. हे **यज्ञिये**=पूजनीय व संगतिकरणयोग्य पूर्णिमे! **ये**=जो **त्वाम्**=तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों से **अर्धयन्ति**=(ऋधु वृद्धौ) बढ़ाते हैं, अर्थात् यज्ञों को करते हुए अपने जीवन में पूर्णिमा की तरह ही सोलह कलाओं से पूर्ण बनने का प्रयत्न करते हैं, **ते अमी**=वे ये **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **नाके**=मोक्षलोक में **प्रविष्टाः**=प्रविष्ट होते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन मे चाहे समृद्धि का प्रकाश हो वा असमृद्धि का अन्धकार हो, हमें सदा ही जीवन को सोलह कलाओं से पूर्ण बनाने के लिए यत्नशील होना चाहिए। यही पूर्णिमा का यजन है। यह हमें सुखमय लोक में प्राप्त कराएगा।

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्य और चन्द्र

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ १॥

१. प्रथम सूर्य गति करता है, चन्द्र उसके पीछे गतिवाला होता है। इसप्रकार **एतौ**=ये सूर्य और चन्द्र **पूर्वापरम्**=पौर्वापर्य से, आगे-पीछे, **मायया**=प्रभु की माया (निर्माणशक्ति) से प्रेरित हुए-हुए **चरतः**=द्युलोक में गतिवाले होते हैं। **तौ**=वे दोनों शिशु की भाँति भ्रमण के कारण **शिशू**=दो बालकों की भाँति **क्रीडन्तौ**=विहरण करते हुए **अर्णवं परियातः**=(अर्णांसि उदकानि अस्मिन् सन्ति इति अर्णवः अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में विचरते हैं। २. उन दोनों में **अन्यः**=एक आदित्य **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब लोकों को प्रकाशमय करता है और **अन्यः**=दूसरा चन्द्रमा **ऋतून् विदधत्**=वसन्तादि ऋतुओं को और तदवयवभूत मासों व अर्धमासों को बनाता हुआ **नवः जायते**=नया-नया उत्पन्न होता है। (चन्द्रमा में कलाओं के ह्रास व वृद्धि के कारण 'नया उत्पन्न होता है' ऐसा कहा गया है)।

भावार्थ—सूर्य प्रकाश प्राप्त कराता है, चन्द्रमा ऋतुओं का निर्माण करता है। ज्ञानी दोनों में ही प्रभु की अद्भुत महिमा को देखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चन्द्रमा

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २॥

१. हे **चन्द्रमः**=चन्द्र! **जायमानः**=प्रकट शुक्लपक्ष प्रतिपदादि में एक-एक कला के आधिक्य से उत्पद्यमान होता हुआ **नवः नवः**=प्रतिदिन नूतन ही **भवसि**=होता है। **अह्नां केतुः**=दिनों का तू ज्ञापक है। चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है 'प्रथमा, द्वितीया, तृतीया' आदि अथवा **अह्नां केतुः**=दिनों की समाप्ति पर शुक्लपक्ष में प्रतीची दिशा में तू दिखता है और कृष्णपक्ष में **उषसाम् अग्रम् एषि**=रात्रियों की समाप्ति पर उषाकाल के अग्रभाग में, पूर्व दिशा में दिखता है। २. **आयन्**=हे चन्द्र! आता हुआ तू **देवेभ्यः भागं विदधासि**=देवों के लिए

भाग करनेवाला है। सब यज्ञ तिथिविशेषरूप-पर्वनिबद्ध ही तो हैं। हे **चन्द्रमः**! तू **दीर्घमायुः वितिरसे**=जीवन को बढ़ानेवाला है। चन्द्र-किरणों की सुधा आयुष्य को क्यों न बढ़ाएगी?

भावार्थ—चन्द्रमा कलाओं की वृद्धि व ह्रास के द्वारा ही नया-नया प्रतीत होता है। शुक्लपक्ष में यह प्रतीची दिशा में दिन की समाप्ति पर उदित होता है, कृष्णपक्ष में उषाकाल के अग्रभाग में पूर्व में दिखता हैं। चन्द्र-तिथियों के अनुसार ही यज्ञ चलते हैं। यह चन्द्र अपनी सुधामयी किरणों से हमारे आयुष्य को बढ़ाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

(सोम का अंशु) अनूनः

सोम॑स्यांशो युधां पतेऽनू॑नो नाम वा अ॑सि।
अनू॑नं दर्श मा कृधि प्रजया॑ च धने॑न च॥ ३॥

१. हे **सोमस्य अंशो**=सोम के अंशु—चन्द्र के प्रकाश, चन्द्रमा को भी प्रकाशित करनेवाले प्रभो! **युधां पते**=युद्धों के स्वामिन्, युद्धों में उपासकों को विजय प्राप्त करानेवाले! **अनूनः नाम वा असि**=आप निश्चय से 'अनून' हैं। आपमें किसी प्रकार से भी कोई कमी नहीं है। हे **दर्श**=दर्शनीय अथवा सर्वद्रष्टः प्रभो! आप **मा**=मुझे भी **अनूनं कृधि**=अन्यून बनाइए। **प्रजया च धनेन च**=प्रजा के दृष्टिकोण से तथा धन के दृष्टिकोण से मैं अनून बन पाऊँ—उत्तम प्रजावाला बनूँ तथा उत्तम ऐश्वर्यवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभु चन्द्र आदि को भी प्रकाशित करनेवाले हैं, '**ज्योतिषां ज्योतिः**' हैं। हमें युद्धों में विजय प्राप्त करानेवाले हैं। सर्वद्रष्टा, न्यूनता से रहित प्रभु की कृपा से मैं भी अनून बनूँ—उत्तम प्रजा व धनवाला होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

समग्रः समन्तः

दुर्शो॑ ऽसि दर्शतो ऽसि सम॑ग्रोऽसि सम॑न्तः।
सम॑ग्रः सम॑न्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया॑ पशुभिर्गृहैर्धने॑न॥ ४॥

१. हे सोम! शान्त प्रभो! आप **दर्शः असि**=सर्वद्रष्टा हैं। **दर्शतः असि**=योगियों द्वारा साक्षात् करने योग्य हैं। **समग्रः असि समन्तः**=समन्तात् सम्पूर्ण हैं। आपमें किसी भी दृष्टि से कहीं भी कमी नहीं है। हे प्रभो! मैं भी **गोभिः अश्वैः**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से, (गमयन्ति अर्थान्, अश्नुवते कर्मसु) **प्रजया**=उत्तम सन्तानों से **पशुभिः**=गवादि पशुओं से, **गृहैः धनेन**=गृह व धन के दृष्टिकोण से **समन्तः समग्रः**=समन्तात् समग्र—सब प्रकार से पूर्ण **भूयासम्**=होऊँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप सर्वद्रष्टा व दर्शनीय हैं। समन्तात् पूर्ण हैं। मुझे भी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, प्रजा, गृह व धन के दृष्टिकोण से पूर्ण कीजिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**स्वराडास्तारपङ्क्तिः**॥

आप्यायित

यो॒३॑स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्या॑यस्व।
आ वयं प्या॑सिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया॑ पशुभिर्गृहैर्धने॑न॥ ५॥

१. **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=समाज के हम सब सभ्यों से अप्रीति करता है, **यं वयं द्विष्मः**=जिसके प्रति हम प्रीतिवाले नहीं होते, हे चन्द्र! **त्वम्**=तू **तस्य प्राणेन**=उसके प्राण से **आप्यायस्व**=आप्यायित हो। उसके प्राण का अपहरण करके पूर्णता को प्राप्त हो। यहाँ काव्यमय

भाषा में कहा गया है कि इस सर्वद्वेषी पुरुष के प्राणों को अपहृत करके चन्द्र पूर्ण बने। २. **वयम्**=हम भी **गोभिः अश्वैः**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों **प्रजया पशुभिः**=उत्तम सन्तानों, गवादि पशुओं, तथा **गृहैः धनेन**=घर व धन के दृष्टिकोण से **आप्यासिषीमहि**=आप्यायित हों।

भावार्थ—हम समाज में किसी के प्रति भी द्वेषवाले न होते हुए इन्द्रियों, सन्तानों, पशुओं, गृह व धन के दृष्टिकोण से पूर्ण बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'इन्द्र, वरुण, बृहस्पति' द्वारा वर्धन

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य गोपाः॥ ६॥

१. **यं अंशुम्**=जिस प्रकाश-किरण को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **आप्याययन्ति**=अपने में बढ़ाते हैं **यम् अक्षितम्**=जिस (न क्षितं यस्मात्) न नष्ट होनेवाले सोम (वीर्य) को **अक्षिताः**=(न क्षिताः) वासनाओं से अहिंसित व्यक्ति **भक्षयन्ति**=अपने अन्दर ग्रहण करते हैं, **तेन**=उसी प्रकाश-किरण व वीर्य से **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक, **वरुणः**=पापनिवारक, **बृहस्पतिः**=सर्वोच्च ज्ञानी, ('इन्द्रः' शब्द ऐश्वर्यशाली का वाचक होता हुआ 'उत्तम वैश्य' का संकेत कर रहा है, 'वरुणः' पाप-निवारक राजा का संकेत करता हुआ उत्तम क्षत्रिय का प्रतिपादक है,'बृहस्पतिः' सर्वोच्च ज्ञानी ब्राह्मण का प्रतिपादन कर रहा है। अंशु का आप्यायन व अक्षित का भक्षण ही हमें 'इन्द्र,वरुण व बृहस्पति बनाएगा।') **भुवनस्य गोपः**=संसार का रक्षक प्रभु **अस्मान् आप्याययन्तु**=हमें आप्यायित करे।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, निष्पाप, ज्ञानी व रक्षण-कार्य में प्रवृत्त होकर प्रकाश-किरणों व सोम (वीर्य) को अपने में सुरक्षित करें।

इसप्रकार प्रकाश व सोम को प्राप्त करनेवाला 'शौनक' (शुनं सुखं) अगले सूक्त का ऋषि है—

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुष्टुति गव्य आजि' प्रभु का अर्चन

अभ्य॒र्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ताम्॥ १॥

१. हे विद्वानो! **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुतिवाले **गव्यम्**=(गोभ्यो हितम्) इन्द्रियों के लिए हितकर (प्रभु की उपासना होने पर इन्द्रिय-वृत्तियाँ बड़ी सुन्दर बनी रहती हैं), **आजिम्**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभु को **अभ्यचर्त**=पूजो और इसप्रकार **अस्मासु**=हममें **भद्रा द्रविणानि धत्त**=कल्याणकर धनों को धारण करो। तथा २. **नः इमं यज्ञम्**=हमारे इस यज्ञ को **देवता नयत**=देवों को प्राप्त कराओ। हम यज्ञ द्वारा देवों का सम्भावन करनेवाले बनें। **घृतस्य धाराः**=ज्ञानदीप्ति की धाराएँ, **मधुमत् पवन्ताम्**=मधुररूप से हमारी ओर बहें।

भावार्थ—हम प्रभुस्तवन करते हुए इन्द्रियों को शुद्ध बनाएँ, गतिशीलता द्वारा सब बुराइयों को दूर करें। शुभ धनों का संग्रह करें। यज्ञों द्वारा वायु आदि देवों का शोधन करें। हमारे लिए आचार्य मधुरता से ज्ञानधाराओं को प्रवाहित करें।

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—ककुम्मतीबृहती ॥

'क्षत्र, वर्चस्, बल, प्रजा, आयु' का धारण

मय्यग्रे॑ अ॒ग्निं गृ॑ह्णामि स॒ह क्ष॒त्रेण॒ वर्च॑सा॒ बले॑न।
मयि॑ प्र॒जां मय्यायु॒र्द॑धामि॒ स्वाहा॒ मय्य॒ग्निम्॥ २॥

१. अग्रे=सर्वप्रथम मैं **मयि**=अपने में **अग्निं गृह्णामि**=उस अग्रणी प्रभु को धारण करता हूँ, परिणामतः **क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल से, प्राणशक्ति से (वर्चसा) तथा मनोबल से युक्त होता हूँ। प्रभु का धारण 'क्षत्र, वर्चस् व बल' देता है। २. **मयि प्रजां दधामि**=मैं इस प्रभु-पूजन से उत्तम सन्तान को धारण करता हूँ। **मयि आयुः**=अपने में आयुष्य को धारण करता हूँ। **स्वाहा (सु आह)**=सबसे उत्तम यह कथन है कि **मयि अग्निम्**=अपने में अग्नि को धारण करता हूँ। अग्नि के धारण से इन सबका धारण हो ही जाता है।

भावार्थ—अपने अन्दर प्रभु को धारण करने से हम 'क्षत्र, वर्चस्, बल, प्रजा व आयु' को धारण कर रहे होते हैं।

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

क्षत्रेण सुयमम्

इ॒हैवाग्ने॒ अधि॑ धारया र॒यिं मा त्वा॒ नि क्र॒न्पूर्व॑चित्ता नि॒का॒रिणः॑।
क्ष॒त्रेणा॑ग्ने सु॒यम॑मस्तु तु॒भ्य॑मुपस॒त्ता व॑र्धतां ते॒ अनि॑ष्टृतः॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इह एव**=यहाँ—हम उपासकों में ही **रयिं अधिधारय**=ऐश्वर्य को आधिक्येन स्थापित कीजिए, जो **पूर्वचित्ताः**=(मतिपूर्व=Intentionally, Knowingly) जानबूझकर—पहले से ही चित्त बनाकर **निकारिणः**=हमारा अपकार करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रन्**=अपने अधीन न कर पाएँ, अपने अनुकूल न कर पाएँ। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए हममें **क्षत्रेण सुयमम् अस्तु**=बल के साथ उत्तम संयम हो। हे प्रभो! **ते**=आपका **उपसत्ता**=उपासक **अनिष्टृतः**=किसी से भी हिंसित न होता हुआ, अतिरस्कृत प्रभाववाला, **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें। हमारा अपमान करनेवाले प्रभु के प्रिय न बनें। प्रभु-प्राप्ति के लिए हम बल के साथ संयमवाले हों। प्रभु के उपासक बनकर हम अहिंसित होते हुए वृद्धि को प्राप्त हों।

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'प्रकाशक व व्यापक' प्रभु

अन्व॒ग्निरु॒षसा॒मग्र॑मख्य॒दन्वहा॑नि प्रथ॒मो जा॒तवे॑दाः।
अनु॒ सूर्य॑ उ॒षसो॒ अनु॑ र॒श्मीननु॒ द्यावा॑पृथि॒वी आ वि॑वेश॥ ४॥

१. वह **अग्निः**=अग्रणी (प्रकाशमान्) प्रभु **उषसाम् अग्रम् अनु अख्यत्**=उषाकालों के भी पूर्वभाग को क्रम से प्रकाशित करता है। वह **प्रथमः**=सर्वत्र विस्तृत **जातवेदाः**=सवर्ज्ञ प्रभु ही **अहानि अनु (अख्यत्)**=दिनों को अनुक्रम से प्रकाशित करता है। २. वही प्रभु **सूर्यः अनु (सूर्यं)**=सूर्य को प्रकाशित करता है, **उषसः अनु**=उषाकालों को प्रकाशित करता है, **रश्मीन् अनु**=समस्त रश्मियों को (प्रकाशमय पिण्डों को) प्रकाशित करता है। वह प्रभु ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वे प्रभु सब पिण्डों व लोकों में अनुप्रविष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उषाकालों, दिनों, सूर्य व अन्य ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रकाशित कर रहे हैं। वे ही द्यावापृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ब्रह्माण्ड के विस्तारक' प्रभु

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥ ५॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **उषसाम् अग्रं प्रति अख्यत्**=उषाओं के अग्रभाग को प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। वे प्रभु ही **प्रथमः**=सबके आदिमूल व **जातवेदाः**=सर्वज्ञ हैं, **अहानि प्रति (अख्यत्)**=सब दिनों को प्रकाशित करते हैं। २. **सूर्यस्य रश्मीन्**=सूर्य की रश्मियों को **च**=भी **पुरुधा**=नाना प्रकार से (विविध वर्णयुक्त करके) **प्रति (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं। **द्यावापृथिवी प्रति आततान**= द्यावापृथिवी के प्रत्येक पदार्थ में आतत (व्यापक) हो रहे हैं—प्रत्येक पदार्थ में अपने प्रकाश को विस्तृत कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'उषाओं को, दिनों को, सूर्यरश्मियों को व द्यावापृथिवी के प्रत्येक पदार्थ को' प्रकाशित कर रहे हैं।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतं ज्ञानदीप्ति

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।
घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने॥ ६॥

१. 'घृ क्षरणदीप्त्योः' से बना 'घृतं' शब्द दीप्ति का वाचक है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते घृतम्**=आपकी दीप्ति **दिव्ये**=दिव्य गुणयुक्त **सधस्थे**=आत्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान 'हृदय' में है। पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश दिखता है। इस **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से ही **मनुः**=विचारशील व्यक्ति **अद्य**=अब **त्वां समिन्धे**=आपको दीप्त करता है, आपके प्रकाश को देखता है। २. **देवीः नप्त्यः**=दिव्य गुणोंवाली न पतनशील प्रजाएँ **ते घृतम्**=आपकी ज्ञानदीप्ति को **आवहन्तु**=प्राप्त करें। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ये **गावः**=वेदवाणियाँ हमारे अन्दर **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति का **दुह्रताम्**=प्रपूरण करें।

भावार्थ—पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानदीप्ति द्वारा प्रभु को अपने में समिद्ध करता है। न पतनशील प्रजाएँ आपके प्रकाश को प्राप्त करती हैं, आपकी प्राप्ति के लिए ये वेदवाणियाँ हमारे अन्दर ज्ञान का प्रपूरण करें।

ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके मनुष्य सब बन्धनों से मुक्त होता हुआ वास्तविक सुख का निर्माण कर पाता है, अतः 'शुनःशेप' सुख का निर्माण करनेवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का सुगुप्त ज्योतिर्मय गृह

अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु॥ १॥

१. हे **राजन्**=(राजृ दीप्तौ) प्रकाशमय! **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **ते**=आपका **मिथः**=(In

secret) गुप्त **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय **गृहः**=घर **अप्सु**=प्रजाओं में है। प्रभु हम सबके हृदयों में रह रहें है। यह हृदय प्रभु का सुगुप्त ज्योतिर्मय गृह है। २. **ततः**=क्योंकि हम सबका हृदय प्रभु का घर है, वह **धृतव्रतः**=सब नियमों को धारण करनेवाला **राजा**=शासक प्रभु **सर्वा धामानि**=हमारे सब स्थानों को 'शरीर,मन व मस्तिष्क' रूप त्रिलोकी को **मुञ्चतु**=रोग, मलिनता व कुण्ठता आदि दोषों से मुक्त करे।

भावार्थ—प्रभु 'धृतव्रत, राजा व वरुण हैं, प्रजाओं के हृदयों में उनका निवास है। वे प्रभु हमें रोग, मलिनता व कुण्ठता से मुक्त करके 'स्वस्थ शरीरवाला, निर्मल मनवाला व तीव्र बुद्धिवाला' बनाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

आपः, अघ्न्याः, वरुण

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः॥ २॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **राजन्**=दीप्त प्रकाशमय प्रभो! आप **धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **इतः नः मुञ्च**=इस पापवृत्ति से हमें छुड़ाइए। हम 'शरीर, मन व बुद्धि' से किसी का हिंसन न करें। २. हे प्रभो! **यत्**=जब हम **आपः**='प्रभु सर्वव्यापक' है (अप व्याप्तौ) **अघ्न्याः इति**=ये वेदवाणियाँ, वेदधेनुएँ अहन्तव्य हैं, अथवा **वरुण इति यत् ऊचिम**=जो हम यह कहते हैं कि वे प्रभु पापनिवारक हैं' **ततः**=तब हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **नः मुञ्च**=हमें पाप से छुड़ाइए ही।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रत्येक स्थान से निष्पाप बनाएँ। हम प्रभु को सर्वव्यापक जानें (आपः), वेदवाणियों को अहन्तव्य समझें (अघ्न्याः), इनका प्रतिदिन स्वाध्याय करें तथा प्रभु का पापनिवारकरूप (वरुण) में स्मरण करें, इससे सब पापों से वरुणप्रभु हमें मुक्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उत्तम, अधम व मध्यम' पाश-विच्छेद

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ३॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **उत्तमं पाशं अस्मत् उत् श्रथाय**=उत्तम पाश को भी हमसे पृथक् करके नष्ट कीजिए। **'सत्त्वं सुखे सञ्जयति'** सत्त्वगुण भी तो हमें योग व स्वाध्याय के आनन्द में आसक्त कर देता है, उसमें फँसे हुए हम आवश्यक रक्षात्मक कर्मों को न भूल जाएँ। **अधमं अव (श्रथाय)**=निकृष्ट पाश को हमसे दूर कीजिए, तमोगुण के 'प्रमाद, आलस्य, निद्रा' रूप पाश में हम न फँसे रहें। **मध्यमं वि (श्रथाय)**=इस मध्यम, अर्थात् रजोगुण के पाश को भी हमसे अलग कीजिए। धन की तृष्णा में फँसे हुए हम हर समय इसकी प्राप्ति की भाग-दौड़ में ही न रह जाएँ। २. **अध**=अब **वयम्**=हम हे **आदित्य**=(आदानात् आदित्यः) सब गुणों का आदान करनेवाले व सब बन्धनों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाले वरुण! **तव व्रते**=आपके उपदिष्ट व्रतों में **अनागसः**=निष्पाप जीवनवाले होते हुए **अदितये**=अखण्डितत्व व अविनाश के लिए हों।

भावार्थ—हम 'सत्त्व, रज व तम' के 'सुख, तृष्णा व प्रमादालस्य—निद्रा' रूप बन्धनों को परे फेंककर प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हुए अखण्डित जीवनवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेपः ॥ देवता—वरुणः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

'दुःष्वप्न्य=दुरित' दूरीकरण

प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं निः ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ४॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च**=सब पाशों को मुक्त कीजिए। **ये**=जो पाश **उत्तमाः**=उत्तम, अर्थात् सत्त्वगुण के सुखरूप पाश हैं, **अधमाः**=जो तमोगुण के प्रमाद आदि पाश हैं, **ये वारुणाः**=जो हमें धर्म के मार्ग से वारित करके छल-छिद्र से धन प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं, २. **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत **दुरितम्**=दुराचरण को **निःष्व**=(निस्सुव) हमसे निर्गत कीजिए। **अथ**=अब पाश-विमोचन होने पर हम **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को **गच्छेम**=प्राप्त हों, सदा पुण्य कार्यों को ही करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब पाशों को पृथक् करें। हम दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत दुराचरणों से पृथक् होकर सुकृत कर्मों के लोक में गतिवाले हों।

सब बन्धनों से ऊपर उठकर अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला यह व्यक्ति 'भृगु' बनता है और यही अगले सूक्त में इसप्रकार प्रार्थना करता है—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

रोगों का दूरीकरण व बल-धारण

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अनाधृष्यः**=किसी से भी धर्षण के योग्य नहीं हैं। **जातवेदाः**=सर्वज्ञ हैं, **अमर्त्यः**=अविनाशी हैं। **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाले आप **क्षत्रभृत्**=बल का धारण करते हुए **इह दीदिहि**=हमारे जीवन में दीप्त होओ। २. **विश्वाः अमीवाः**=सब रोगों को **प्रमुञ्चन्**=हमसे पृथक् करते हुए आप **मानुषीभिः**=मानवोचित **शिवाभिः**=कल्याणी क्रियाओं के द्वारा **अद्य**=आज **नः गयम्**=हमारे इस घर को **परिपाहि**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—'अनाधृष्य, जातवेदा, अमर्त्य, विराट्' प्रभु हमारे जीवन में बल धारण करें। वे प्रभु हमें नीरोग बनाकर मानवोचित कल्याणी क्रियाओं में प्रेरित करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

क्षत्रम् ओजः

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **क्षत्रम्**=बल तथा **वामम् ओजः**=सेवनीय ओज को **अभि**=लक्ष्य करके **अजायथाः**=प्रादुर्भूत होते हैं। आपके प्रादुर्भाव से उपासक के जीवन में क्षत्र और ओज की स्थापना होती हैं। २. हे **चर्षणीनां वृषभ**=श्रमशील मनुष्यों पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आज **अमित्रायन्तम्**= अमित्र (शत्रु) की भाँति आचरण करते हुए **जनम्**=मनुष्य को **अपानुदः**=हमसे दूर कीजिए **उ**=और **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **उरुं लोकं अकृणोः**=विस्तीर्ण स्वर्ग—प्रकाशमयलोक को कीजिए।

भावार्थ—हृदय में प्रभु के प्रादुर्भाव से 'क्षत्र और ओज' की प्राप्ति होती है। प्रभु हमारे

शत्रुओं को दूर करके हमारे लिए उत्तम प्रकाशमय लोक को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मृगः, न भीमः

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व॥ ३॥

१. वे इन्द्र **मृगः**=अन्वेषणीय हैं, उपासक 'योग' द्वारा प्रभु को हृदय में देखने का प्रयत्न करते हैं। **न भीमः**=वे प्रभु भयंकर नहीं हैं। **कुचरः**=सर्वत्र पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं न चरतीति वा) अथवा कहाँ नहीं हैं, अर्थात् सर्वत्र हैं, **गिरिष्ठाः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, **परस्याः परावतः**=अतिशयेन दूर लोक से भी **आजगम्यात्**=हमें प्राप्त होते हैं। २. हे प्रभो! **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक! आप **सृकम्**=सरणशील **तिग्मम्**=तीव्र **पविम्**=वज्र को **संशाय**=सम्यक् तीक्ष्ण कीजिए। **शत्रून् विताढि**=उस वज्र से शत्रुओं का ताड़न कीजिए और **मृधः विनुदस्व**= संग्रामोद्युक्त—युयुत्सु अन्य शत्रुओं को भी विशेषरूप से दूर प्रेरित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु 'अन्वेषणीय, प्रिय, सर्वव्यापक व वेदप्रतिपाद्य' हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों और हमारे शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले हों।

शत्रुओं को नष्ट करके स्थिरवृत्तिवाला यह उपासक 'अथर्वा' बनता है। यह अथर्वा अगले तीन सूक्तों का ऋषि है—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वाजिनं तार्क्ष्यम्

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

१. **त्यम्**=उस **तार्क्ष्यम्**=(तृक्ष गतौ) सर्वव्यापक प्रभु को **उ सु**=निश्चय से सम्यक् **स्वस्तये**=कल्याण की प्राप्ति के लिए **इह**=यहाँ **आहुवेम**=हम पुकारते हैं। जो प्रभु **वाजिनम्**=अन्न व बलवाले हैं, **देवजूतम्**=(जूतिः गतिर्वा प्रीतिर्वा) देवों में गये हुए, देवों में निवास करनेवाले व देवों से प्रीतिवाले हैं, **सहोवानम्**=शत्रुओं को जीतने की शक्तिवाले हैं, **रथानां तरुतारम्**=सब रथों के प्रेरक हैं (**भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**)। **अरिष्टनेमिम्**=(नेमिः वज्रम्—नि० २.२०) अहिंसित वज्रवाले हैं, **पृतनाजिम्**=सब शत्रु-सैन्यों का विजय करनेवाले हैं और **आशुम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को कल्याण के लिए पुकारते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, देवों के प्रति प्रीतिवाले, शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, शरीररथों के प्रेरक, अहिंसित वज्रवाले, शत्रु-सैन्यों के विजेता व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं।

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

त्राता अविता

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु॥ १॥

१. **त्रातारम् इन्द्रं हुवे**=उस रक्षक सर्वशक्तिमान् प्रभु को पुकारता हूँ। **अवितारम्**=परमैश्वर्य के द्वारा प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=प्रभु को पुकारता हूँ। **हवेहवे**=प्रत्येक आह्वान पर **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य **शूरम्**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पुकारता हूँ। २. **नु**=अब **शक्रम्**=शक्तिशाली **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे गये **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारता हूँ। वह **मघवान्**=सब ऐश्वर्योंवाला **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारा **स्वस्ति**=कल्याण **कृणोतु**=करे।

भावार्थ—वे प्रभु हमारा रक्षण, प्रीणन व कल्याण करते हैं। उन शक्तिशाली, ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को हम पुकारते हैं।

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'सर्वत्र प्रविष्ट, सर्वनिर्माता' प्रभु

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ १॥

१. **यः रुद्रः**=जो शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु **अग्नौ**=अग्नि में यष्टव्यत्वेन **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं, **यः**=जो **अप्सु अन्तः**=जलों में वरुणात्मना प्रविष्ट हैं, **यः वीरुधः ओषधीः**=जो विविधरूप से उगनेवाली फलपाकान्त लताओं में सोमात्मना प्रविष्ट हैं, **यः**=जो प्रभु **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब भुवनों को **चाक्लृपे**=क्लृप्त (निर्मित) करते हैं, **तस्मै**=उस **रुद्राय**=सर्वजगत् स्रष्टा, सर्वजगदनुप्रविष्ट रुद्रात्मा **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—वे रुद्ररूप प्रभु अग्नि, जल व लताओं में अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। प्रभु ही सब भुवनों का निर्माण करते हैं। उस रुद्रात्मा अग्नि के लिए नमस्कार हो।

रुद्र का उपासक वीरुध्=ओषधियों द्वारा सर्प-विष का विनाश करनेवाला यह 'गरुत्मान्' (गरुड़) बनता है (गरुत्=Eating, swallowing)। यह विष को मानो खा ही जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

सर्प-विष चिकित्सा

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि॥ १॥

१. हे सर्पविष! **अपेहि**=तू हमसे दूर हो। **अरिः असि**=तू हमारा शत्रु है। तू **वा**=निश्चय से **अरिः**=शत्रु **असि**=है। **विषे**=(अर्शाद्यच्) विषवाले सर्प में **विषम् अपृक्थाः**=विष को सम्पृक्त कर। **इत् वा**=निश्चय से **विषम् अपृक्थाः**=विष को विषवाले सर्प से ही संयुक्त कर। २. हे विष! तू जिसका विष है **तम्**=उस **अहिं एव**=आहन्ती साँप को ही **अभ्यपेहि**=लक्ष्य करके समीपता से प्राप्त हो और वहाँ जाकर उस सांप को **जहि**=विनष्ट कर। साँप जिसे काटे, वह यदि उस साँप को काट ले तो सर्प-विष सर्प में ही लौटकर साँप का विनाश कर देता है।

भावार्थ—सर्प-विष की सर्वोच्च चिकित्सा यही है कि सर्पदष्ट पुरुष सर्प को ही डस ले। सर्प का विष सर्प में ही चला जाएगा और उसे ही मारनेवाला बनेगा।

अगले सूक्त का ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है (सिन्धवो द्वीपो यस्य, द्वीप=A place of refuge,

protection) यह जलों में रक्षण को ढूँढता हुआ प्रार्थना करता है कि—

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मेघजल तथा गोदुग्ध के सेवन से 'वर्चस्' की प्राप्ति

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १ ॥

१. **दिव्याः अपः**=(दिवि भवाः) अन्तरिक्ष के मेघ से प्राप्त होनेवाले जलों को **अचायिषम्**=मैंने पूजित किया है। इन्हें स्नानादि के लिए मैंने स्तुत किया है। **रसेन समपृक्ष्महि**=हम इन जलों के रस से संगत हुए हैं। २. इन दिव्य जलों के प्रयोग के साथ **अग्ने**=हे प्रभो! **पयस्वान्**=प्रशस्त दूधवाला मैं **आगमम्**=आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। **तं मा**=उस मुझे **वर्चसा संसृज**=वर्चस से—प्राणशक्ति से संसृष्ट कीजिए।

भावार्थ—आकाश से प्राप्त होनेवाले मेघजल तथा प्रशस्त गोदुग्ध का सेवन हमें वर्चस्वी बनाता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर्चस्, प्रजा, आयु

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मा**=मुझे **वर्चसा संसृज**=वर्चस् से युक्त कीजिए। **प्रजया सम्**=उत्तम सन्तान से युक्त कीजिए, **आयुषा सम्**=आयुष्य से संगत कीजिए। २. **अस्य मे**=मेरे अभिमत को **देवाः विद्युः**=देव जानें, इसका ध्यान करें, इसे पूर्ण करने का ध्यान रक्खें। माता, पिता, आचार्य आदि देव मेरी इष्ट-प्राप्ति में सहायक हों। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा मुनियों के साथ **विद्यात्**=मेरा ध्यान रक्खें, मेरे अभिमत को प्राप्त कराने का अनुग्रह करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें 'वर्चस्, उत्तम प्रजा व दीर्घजीवन' प्राप्त हो। देवरूप माता, पिता, आचार्य हमें इसप्रकार बनाएँ कि हम अपने अभिमत को सिद्ध कर सकें। प्रभुकृपा से तत्त्वद्रष्टा अतिथि भी हमें इसी मार्ग पर ले-चलें।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अवद्य मल' निरास

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥ ३ ॥

१. हे **आपः**=आप्त पुरुषो! (आपो वै नरसूनवः) गतमन्त्र के देवो व ऋषियो! **इदम्**=यह **अवद्यं च**=जो निन्दनीय, गर्ह्य कर्म है, **यत् च मलम्**=और मुझमें जो मलिन दुराचरण है, **अनृतम्**=जो अनृत (असत्य) है, **यत् च**=और जो **अभीरुणम्**=ऋण लेकर उसके अपलाप के लिए **शेपे**=शपथ खाता हूँ, उस सब पाप को मुझसे दूर करो।

भावार्थ—आप्त-पुरुषों के सम्पर्क में रहते हुए हम 'निन्दनीय-मलिन कर्मों को, द्रोह व अनृत को तथा अपलाप को' कभी न करें।

सूचना—**'अभीरुणं शेपे'** का भाव 'अनपराधी को कठोर वचन कहना' भी है। यह भी

अनुचित ही है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिपदानिचृत्परोष्णिक् ॥

एधः समित् तेजः

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥ ४॥

१. हे अग्ने! **एधः असि**=(एध वृद्धौ) आप सदा से बढ़े हुए हो, **एधिषीय**=मैं भी 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान' की दृष्टि से बढ़ा हुआ बनूँ। हे प्रभो! आप **समित् असि**=(इन्ध्) सम्यक् दीप्त हैं, मैं भी **समेधिषीय**=सम्यक् दीप्त बनूँ। आप **तेजः असि**=तेज के पुञ्ज हैं, **मयि तेजः धेहि**=मुझमें तेज का आधान कीजिए।

भावार्थ—सदा से वृद्ध प्रभु मुझे बढ़ाएँ। दीप्त प्रभु की उपासना मुझे भी दीप्त करे, तेजस्वी प्रभु मुझमें तेज का आधान करें।

तेजस्वी बनकर यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अंगिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

दास के ओज का दम्भन

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय॥ १॥

१. हे अग्ने! (प्रभो अथवा राजन्!) **व्रततेः**=किसी बेल की **पुराणवत्**=पुरानी **गुष्पितम्**=झाड़-झंकाड़-सी बनी हुई सूखी डालियों को जिस प्रकार माली खोज-खोजकर काट डालता है, उसी प्रकार आप **दासस्य**=(दस् उपक्षये) औरों का उपक्षय करनेवालों में सर्वाग्रणी पुरुष को (दासेषु उत्तमः दास्यः) **अपिवृश्च**=छिन्नांग कर डाल, इसप्रकार **ओजः दम्भय**=इसके ओज को विनष्ट कर दे।

भावार्थ—राजा का कर्तव्य है कि राष्ट्र में दुष्ट पुरुषों को इसप्रकार छिन्नांग कर दे जैसेकि माली बेलों की सूखी, पुरानी डालियों को काट डालता है। राजा औरों का उपक्षय करनेवाले के ओज को विनष्ट कर दे।

ऋषिः—अंगिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराट्पुरस्ताद्बृहती ॥

दास के वसु का विभाजन

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते॥ २॥

१. **अस्य**=इस पुरोवर्ती शत्रुभूत जार के **संभृतं तत् वसु**=एकत्र किये हुए उस धन को **वयम्**=हम **इन्द्रेण विभजामहै**=शत्रुविद्रावक राजा के साथ विभक्त करते हैं। इस धन का एकभाग राजकोष को जाता है और दूसरा भाग जार से पीड़ित परिवार को प्राप्त होता है। २. हे जार! **ते**=तेरे **भ्रजः**=दीप्त तेज को तथा **शिभ्रम्**=(शीभृ कत्थने) आत्मश्लाघा को, **वरुणस्य व्रतेन**=पाप-निवारक देव के कर्म से—पापों को रोकनेवाले राजा की शासनव्यवस्था से **म्लापयामि**=क्षीण करता हूँ।

भावार्थ—राजा जार के धन का अपहरण करके आधा राजकोश में तथा आधा पीड़ित परिवार की सहायता के लिए दे दे। वह उचित दण्ड के द्वारा इस जार के तेज व घमण्ड को नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—अंगिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदाभुरिग्जगती ॥

अवस्थ के मान व बल का विनाश

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः। अवस्थस्य क्रदीवतः
शाङ्कुरस्य नितोदिनः यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु॥ ३॥

१. हे राजन्! **अवस्थस्य**=(अव-स्थ) इस नीचे दर्जे के, **क्रदीवतः**=(क्रद् आह्वाने) गँवारों की भाँति लड़ाई के लिए ललकारनेवाले, **शाङ्कुरस्य**=कील के समान सबके मन में चुभनेवाले, **नितोदिनः**=निश्चय से पीड़ित करनेवाले इस दुष्ट का **यत् आततम्**=जो बल फैला हुआ है **तत् अवतनु**=उसे घटा दो, **यत् उत्ततम्**=जो पद उन्नत अवस्था तक पहुँचा हो **तत्**=उस पद को **नितनु**=नीचा कर दो। दुष्ट की शक्ति व मान का कम करना आवश्यक ही है। २. ऐसा इसलिए कीजिए **यथा**=जिससे इसका **शेपः**=कामवासना सम्बन्धी मद **अपायातै**=दूर हो जाए **च**=और वह दुष्ट **स्त्रीषु**=स्त्रियों में **अनावयाः असत्**=न पहुँच सके—उन्हें प्रलोभन में फँसाकर उनका मान नष्ट न कर सके। (**अनावयाः**=अनागच्छत्)।

भावार्थ—राष्ट्र में यदि कोई पुरुष दुष्ट व व्यभिचार की वृत्तिवाला है तो राजा को उसे नष्ट-बल व नष्ट-मानवाला कर देना चाहिए ताकि वह बल व मान के रोब से अनाचार न कर सके।

अनाचार से दूर रहनेवाला 'अथर्वा' (न डाँवाडोल होनेवाला) अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—चन्द्रमाः, इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुत्रामा स्ववान् सुमृडीकः

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ १॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, **सुत्रामा**=उत्तमता से रक्षण करनेवाले, **स्ववान्**=धनवाले, **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख देनेवाले हों। २. ये प्रभु **द्वेषः (द्वेषांसि)**=द्वेष्टाओं को **बाधताम्**=हिंसित करें, **अभयं नः कृणोतु**=हमारे लिए अभयता (प्रदान) करें। हम **सुवीर्यस्य पतयः स्याम**=उत्तम शक्ति के स्वामी हों। द्वेष विष पैदा करके शक्ति का ह्रास करता है, निर्द्वेष जीवनवाले हम सुवीर्य को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में निर्द्वेष जीवन बिताते हुए हम निर्भय बनें तथा सुवीर्य के पति हों।

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—चन्द्रमाः, इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुमति+सौमनस

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ १॥

१. **सुत्रामा**=सुष्ठु त्राता **स्ववान्**=धनवान् **सः इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मत्**=हमसे **आरात् चित्**=दूर ही **द्वेषः**=द्वेष्टाओं को **सनुतः**=अन्तर्हित करते हुए **युयोतु**=पृथक् करें। २. **यज्ञियस्य**=यज्ञार्ह—पूजनीय **तस्य**=उस प्रभु की **सुमतौ**=श्रेष्ठ अनुग्रहबुद्धि में वर्त्तमान **वयम्**=हम **भद्रे सौमनसे अपि स्याम**=कल्याणकर सुमनस्कता में ही हों।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम द्वेष से दूर होते हुए सुमति व सौमनसवाले हों।

सुमति व सौमनस से परिपक्व हुआ-हुआ यह 'भृगु' व 'अङ्गिराः' (अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-वाला) बनता है और प्रभु की सहायता से सब शत्रुओं पर विजय पाने की अभिलाषा करता है।

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्युना इन्द्रेण

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति॥ १॥

१. **मन्युना** (मन्यतिर्दीप्तिकर्मा)=(मन्युमता) दीप्तिवाले **इन्द्रेण**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु की सहायता से **वयम्**=हम **पृतन्यतः**=संग्राम को चाहनेवाले युयुत्सु शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों। हम **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाले पापों को (काम, क्रोध आदि शत्रुओं को) **अप्रति**=प्रतिपक्ष को शेष न रहने देते हुए **घ्नन्तः**=विनष्ट करते हुए, शत्रुओं को जीतनेवाले हों।

भावार्थ—दीप्तिमान् प्रभु को साथी पाकर हम संग्रामेच्छु शत्रुओं को पराजित करें। ज्ञान के आवरण बने हुए इन काम-क्रोध आदि को प्रभुकृपा से निःशेष कर डालें।

काम-क्रोध को समाप्त करके यह 'अथर्वा'=न डाँवाडोल होता है। अगले सूक्त में यही ऋषि है—

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केवलीः विशः

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽव सोमं नयामसि। यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत्॥ १॥

१. **ध्रुवेण हविषा**=स्थिर हवि (कर) के द्वारा **ध्रुवं सोमम्**=स्थिर सोम-स्वभाववाले राजा को **अवनयामसि**=गाड़ी से आसन्दी के प्रति अवतीर्ण करते हैं, अर्थात् राजा को गद्दी पर बिठाते हैं, और उसके लिए स्थिर रूप से कर देते हैं, तभी तो वह राष्ट्र का रक्षण कर पाता है। बिना कोष के कोई भी कार्य सम्भव नहीं। २. हम इसलिए इन्हें गद्दी पर बिठाते हैं **यथा**=जिससे कि **इन्द्रः**=यह शत्रु-विद्रावक प्रभु **नः**=हमें **केवली संमनसः विशः**=किसी अन्य पर अनाश्रित तथा परस्पर संगत मनवाली प्रजाएँ **करत्**=बनाये।

भावार्थ—राजा को निश्चितरूप से कर देने से ही राजा राष्ट्र का रक्षण कर पाएगा, अतः प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह निश्चितरूप से राजा के लिए हवि (कर) दे। राजा प्रजा को किसी अन्य देश पर अनाश्रित, आत्मनिर्भर (Self sufficient) तथा हम प्रजाओं को परस्पर उत्तम मनवाला बनाये।

अगले दो सूक्तों का ऋषि 'कपिञ्जल' है—यह (**कपि-जल**=to encircle with a net) वानर के समान चञ्चलतावाली 'काम-क्रोध' रूप वृत्तियों को घेरकर समाप्त करता है (जल घातने)—

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**गृध्रौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्यावौ गृध्रौ

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥ १॥

१. अस्य=इस पुरुष के हृदः उच्छोचनौ=हृदय को उत्कर्षेण शुष्क करनेवाले (शोकान्वित करनेवाले) ये काम-क्रोध विथुरौ=इसकी व्यथा को बढ़ानेवाले हैं। ये श्यावौ=गतिशील गृध्रौ इव=दो गीधों के समान द्याम् उत्पेततुः=आकाश में ऊपर उठते हैं। ये काम-क्रोध बढ़ते ही जाते हैं। ये अस्य=इस पुरुष के उच्छोचनप्रशोचनौ=महान् शोक का कारण बनते हैं और इसे प्रकर्षेण सुखानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'काम-क्रोध' मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं। ये सेवन से बढ़ते ही जाते हैं। ये उसके शोक व व्यथा के बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—कपिञ्जलः ॥ देवता—गृध्रौ ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

कुर्कुरौ इव, वृकौ इव

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव॥ २॥

१. अहम्=मैं एतौ=इन दोनों काम-क्रोधरूप शत्रुओं को उदतिष्ठिपम्=उत्थापित करता हूँ, बल से इनको बाहर निकालता हूँ, उसी प्रकार इव=जैसेकि श्रान्तसदौ गावौ=थकावट के कारण बैठे हुए दो बैलों को एक किसान दण्डपातादि द्वारा बलपूर्वक उठाता है। अथवा कूजन्तौ कुर्कुरौ इव=जैसे भौंकते हुए दो कुत्तों को पाषाण के प्रहारादि से अपसारित करते हैं, उद् अवन्तौ वृकौ इव=जैसे गोयूथ में से बछड़ों को उठाकर ले-जाते हुए भेड़ियों को ग्वाले दूर भगाते हैं।

भावार्थ—ये काम-क्रोध भौंकते हुए कुत्तों के समान हैं, बछड़ों को उठाकर ले-जानेवाले भेड़ियों के समान हैं। इन्हें दूर भगाना आवश्यक है। जैसे किसान जमकर बैठे हुए दो बैलों को दण्डप्रहार से उठाकर गोष्ठ से बाहर करता है, इसी प्रकार इन काम-क्रोध को हृदय से बाहर करना आवश्यक है।

ऋषिः—कपिञ्जलः ॥ देवता—गृध्रौ ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

आतोदिनौ संतोदिनौ

आतोदिनौ नितोदिनावथो सन्तोदिनावुत।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार॥ ३॥

१. ये काम-क्रोध आतोदिनौ=सर्वतः व्यथा प्राप्त करानेवाले हैं, नितोदिनौ=निश्चय से पीड़ित करनेवाले हैं उत अथो=और अब संतोदिनौ=मिलकर खूब ही कष्ट देनेवाले हैं। २. इन काम-क्रोध में यः=जो भी इतः=इधर हृदयदेश में स्त्री पुमान् जभार=(स्त्रियं पुमांसं वा) स्त्री या पुरुष को प्रहृत करता है (जहार प्रहृतवान्) तो मैं इस काम-क्रोध के मेढ्रम्=(मिह सेचने) सेचन को अपि नह्यामि=बद्ध करता हूँ। काम-क्रोध के सेचन को रोककर ही हम अपनी पीड़ाओं को दूर कर सकते हैं। नियमन किये गये काम-क्रोध पीड़ाकर नहीं होते।

भावार्थ—उच्छृङ्खल रूप में काम-क्रोध हमारे हृदय पर आघात करके निश्चय से खूब ही पीड़ा पहुँचाते हैं। इनके सेचन का नियमन आवश्यक है। वशीभूत काम-क्रोध ही ठीक हैं।

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—कपिञ्जलः ॥ देवता—वयः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अपने स्थान पर

असदन्गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्॥ १॥

१. **गावः सदने असदन्**=गौएँ जैसे अपने स्थान पर बैठती हैं, **वयः**=पक्षी **वसतिं अपप्तत्**=अपने घोंसलों में पहुँचता है, **पर्वताः आस्थाने अस्थुः**=पर्वत अपने स्थान पर स्थित होते हैं, इसी प्रकार मैं **वृक्कौ**=(वृजी वर्जने) इन वर्जनीय काम-क्रोध को **स्थाम्नि प्रतिष्ठिपम्**=इनके स्थान में स्थापित करता हूँ। (स्थामन् Fixity, stability) इनकी चञ्चलता को रोकनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—गौएँ गोष्ठ में स्थित ही ठीक लगती हैं (न कि बैठक में), पक्षी घोंसले में ही शोभित होते हैं (न कि घरों में घड़ों पर बैठे हुए), पर्वत अपने स्थान पर स्थित ही अच्छे हैं। इसी प्रकार काम-क्रोध अपने स्थान पर अचञ्चल स्थिति में ही शोभा देते हैं।

इसप्रकार काम-क्रोध की चञ्चलता को दूर करके स्थिर वृत्तिवाला 'अथर्वा' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वप्रद, सर्वज्ञ प्रभु द्वारा जीवनयज्ञ की पूर्ति

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान्यज्ञमुप याहि सोमम्॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **अद्य**=आज, हे **होतः**=सर्वप्रद, **चिकित्वन्**=ज्ञानिन्, सर्वज्ञ प्रभो! **अस्मिन् प्रयति यज्ञे**=इस प्रवर्त्तमान, विच्छेद के बिना क्रियमाण जीवनयज्ञ में **इह त्वा अवृणीमहि**=यहाँ आपका वरण करते हैं तो आप **ध्रुवम् अयः**=निश्चय से सर्वथा (आयाक्षीः) हमारे इस यज्ञ को पूरा करते हैं। हे **शविष्ठ**=सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न प्रभो! **उत**=और आप **ध्रुवम्**=निश्चय से **प्रविद्वान्**=हमारे 'मन, वचन, कर्म' सबको जानते हुए **सोमम् यज्ञं उपयाहि**=इस शान्तभाव से चलनेवाले जीवन-यज्ञ में प्राप्त होओ। आपको ही इस जीवन-यज्ञ की सम्यक् पूर्ति करनी है।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञ का रूप दें। इस यज्ञ की पूर्ति के लिए प्रभु को आमन्त्रित करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मनसा गोभिः (सं नेष)

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभिः सं सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानाम्॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **मनसा सं नेष**=मन के साथ संयुक्त कीजिए, हमें मनस्वी बनाइए। **गोभिः**=ज्ञान-प्राप्ति की साधनभूत इन्द्रियों के साथ **सं (नेष)**=संयुक्त कीजिए। हे **हरिवन्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सूरिभिः स्वस्त्या सम् (नेष)**=विद्वानों के साथ और उनके द्वारा कल्याण के साथ संयुक्त कीजिए। २. हे प्रभो! हमें उस **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ **सं (नेष)**=संयुक्त कीजिए, **यत्**=जोकि **देवहितं अस्ति**=विद्वानों के लिए हितकर है, अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि,वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि देवों के हृदय में स्थापित हुआ है। हमें आप **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=सुमति में **सं (नेष)**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'उत्तम मन, ज्ञानेन्द्रियों, विद्वानों, कल्याण, वेदज्ञान व देव-सुमति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अतिथियज्ञ

यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥ ३ ॥

१. हे **देव**=दिव्य गुणों से प्रकाशमय प्रभो! **यान्**=जिन **उशतः देवान् आवहः**=हमारे हित की कामनावाले देवों को आप हमारे समीप प्राप्त कराते हैं, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तान्**=उन्हें **स्वे सधस्थे प्रेरय**=अपने सधस्थ में—मिलकर बैठने के स्थान में प्रेरित कीजिए। वे हमारे घर को अपना ही घर समझें। उन्हें यहाँ किसी प्रकार का परायापन अनुभव न हों। २. वे देव यहाँ **जक्षिवांसः**=हव्य (पवित्र) पदार्थों को खाते हुए तथा **मधूनि पपिवांसः**=मधुर रसवाले पेय पदार्थों को पीकर आनन्द से रहें। हे **वसवः**=उत्तम निवास प्राप्त करानेवाले देवो! **अस्मै**=आपका आतिथ्य करनेवाले इस यज्ञशील यजमान के लिए **वसूनि**=ज्ञान के द्वारा निवास के लिए आवश्यक धनों को **प्रधत्त**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे घरों में देववृत्ति के विद्वान् आएँ, वे इसे अपना ही घर समझें। उचित खान-पान को प्राप्त करके वे हमारे लिए वसुओं का धारण करें, ज्ञान देकर हमें वसु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'वसुं घर्मं दिवम्' अनु

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **वः**=आपके **सदनानि**=स्थानों को **सुगा अकर्म**=सुख से जाने योग्य करते हैं। उन आपके **ये**=जोकि **मा जुषाणाः**=मेरे प्रति प्रीतिवाले होते हुए **सवने आजग्म**=मेरे इस यज्ञ में आये हो। २. आप **स्वा वसूनि**=अपने ज्ञान-धनों को **वहमानाः**=हमें प्राप्त कराते हुए तथा **भरमाणाः**=हमारे लिए इन धनों का पोषण करते हुए **वसुं घर्मं दिवम् अनु आरोहत**=ऐश्वर्य, शक्ति व ज्ञान के अनुपात में उत्कृष्ट लोक में आरोहण करनेवाले बनो।

भावार्थ—हमारे घरों में देववृत्ति के पुरुष आएँ। समय-समय पर होनेवाले यज्ञों में वे हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हुए उपस्थित हों। हम उनके लिए सुखद स्थान की व्यवस्था करें। वे हमारे लिए ज्ञान-धनों को प्राप्त कराते हुए अपने ज्ञान व शक्ति के अनुसार उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—५ त्रिपदाऽऽर्षीभुरिग्गायत्रीः,
६ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती ॥

यज्ञ

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥ ५ ॥
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

१. हे **यज्ञ**=श्रेष्ठतम कर्म! (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) तू **यज्ञं गच्छ**=उपास्य परमात्मा को प्राप्त हो। हम यज्ञ करें और इन यज्ञों को प्रभु के प्रति अर्पित करनेवाले हों। हे यज्ञ! **यज्ञपतिं गच्छ**=तू यज्ञपति को प्राप्त हो, अर्थात् फल-प्रदान के द्वारा यजमान को प्राप्त होनेवाला हो। **स्वां योनिं गच्छ**=अपनी कारणभूत पारमेश्वरी शक्ति को प्राप्त हो, अर्थात् तुझे ये यजमान प्रभुशक्ति से होता

हुआ जानें। **स्वाहा**=(सु आह) यह वाणी कितनी सुन्दर है, वेद का यह कथन वस्तुतः श्रेयस्कर है। २. हे **यज्ञपते**=यजमान! **एषः**=यह **ते यज्ञः**=तुझसे किया जा रहा यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=सूक्तवचनों के साथ हुआ है, विविध स्तोत्रों का इसमें उच्चारण हुआ है। **सुवीर्यः**=यह यज्ञ तुझे उत्तम वीर्यवाला बनाता है। **स्वाहा**=यह कथन कितना ही सुन्दर है। इसके सौन्दर्य को समझता हुआ तू यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—यज्ञ द्वारा प्रभुपूजन होता है। यह यज्ञ यजमान को उत्तम फल प्राप्त कराता है। यजमान इसे प्रभुशक्ति से होता हुआ समझे। इन यज्ञों को सूक्तवचनों के साथ करता हुआ वह उत्तम वीर्यवाला हो। यज्ञों के इन लाभों को समझता हुआ यजमान यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—७ त्रिपदासाम्नीभुरिग्जगती, ८ उपरिष्टाद्बृहती ॥

देवाः=गातुविदः

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित॥ ७॥
मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहाऽन्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा॥ ८॥

१. मनुष्य को कुछ धन माता-पिता से या अन्य किन्हीं बन्धुओं से प्राप्त हो जाता है, यह धन 'हुत' (दत्त) है। कुछ धन वह स्वयं अर्जित करता है, यह धन 'अहुत' (किसी और से न दिया गया) है। हम **हुतेभ्यः**=दत्त धनों से **वषट्**=स्वाहा—यज्ञ—करें तथा **अहुतेभ्यः**=स्वयं अर्जित धनों से भी **वषट्**=स्वाहा व यज्ञ करें। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले हैं। प्रभु कहते हैं कि हे **देवा**=देवो! **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुम् इत**=उस मार्ग पर ही चलो। मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझे और उसका आचरण करे। यज्ञशीलता ही हमें देव बनाती है। २. हे **मनसस्पते**=अपने मन को वश में करनेवाले जीव! **इमं नः यज्ञम्**=हमसे उपदिष्ट (प्रभूपदिष्ट) इस यज्ञ को **दिवि**=आकाश में **देवेषु**=वायु आदि देवों में **धाम्** (**धाः**)=धारण कर। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर वाणी कही गई है। इस यज्ञ को तू **दिवि**=सारे आकाश की पवित्रता के निमित्त धारण कर। यह कथन सुन्दरतम है। इसी प्रकार इसे तू **पृथिव्याम्**=पृथिवी में अन्नादि की उत्पत्ति के निमित्त धारण कर। **स्वाहा**=यह कथन भी कितना सुन्दर है। इसे **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष के निमित्त—अन्तरिक्ष से होनेवाली वृष्टि के निमित्त धारण कर। **स्वाहा**=यह कथन सुन्दर है! **वाते**=वायु की पवित्रता के निमित्त **स्वाहा**=तू यज्ञ कर, उत्तम हव्य पदार्थों को (**धाः**) धारण कर।

भावार्थ—पिता आदि से प्राप्त तथा अपने पुरुषार्थ आदि से प्राप्त सभी धनों से हमें यज्ञ करना है। इसप्रकार यज्ञ के द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक व वायु सब उत्तम होंगे।

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

'हविषा घृतेन', 'इन्द्रेण वसुना मरुद्भिः'

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा॥ १॥

१. **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष **हविषा घृतेन**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से (हु दानादनयोः, घृ क्षरणदीप्त्योः) तथा ज्ञानदीप्ति से **समक्तम्**=सम्यक् अलंकृत हो। जिस हृदय में से वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, वह बर्हि है। इस हृदय में यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति हो तथा यह ज्ञान

के प्रकाशवाला बने। यह हृदयान्तरिक्ष **इन्द्रेण सं (अक्तम्)**=जितेन्द्रियता की भावना से समक्त हो। **वसुना मरुद्भिः सम्**=निवास को उत्तम बनाने की भावना तथा प्राणों से समक्त हो। २. यह हृदय **देवैः**=देवपुरुषों द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **समक्तम्**=सम्यक् अलकृंत किया जाकर **इन्द्रं गच्छतु**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त हो, **हविः (गच्छतु)**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को प्राप्त हो। **स्वाहा**=यह उत्तम वेदवाणी है। यहाँ हवि से प्रारम्भ करके हवि पर ही समाप्ति है। वस्तुतः सर्वमुख्य बात तो हवि ही है। दानपूर्वक अदन से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हृदय को 'त्यागपूर्वक अदन की भावना, ज्ञानदीप्ति, जितेन्द्रियता, शरीर में निवास को उत्तम बनाने की भावना तथा प्राण-साधना' से युक्त करना आवश्यक है। देवलोग हृदय को दिव्य गुणों से युक्त करते हुए तथा त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनते हुए प्रभु को प्राप्त होते है।

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वेदिः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

अलंकृत यज्ञवेदि

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम्।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके॥ १॥

१. हे दर्भ! **परिस्तृणीहि**=तू वेदि के चारों ओर आस्तीर्ण हो, **वेदिं परिधेहि**=वेदि को समन्तात् धारण करनेवाला बन। यज्ञवेदि के चारों ओर शाद्वल प्रदेश हो। **अमुया शयानाम्**=इस वेदि के साथ निवास करनेवाली **जामिम्**=(जायते अस्यां प्रजा इति) यजमान पत्नी को **मा मोषी**=मत हिंसित कर। यज्ञशील पत्नी का घर रोग आदि से आक्रान्त न हो। २. **होतृषदनम्**=होता का घर, यज्ञशील पुरुष का घर **हरितम्**=(हरिद्वर्णं) हराभरा अथवा दुःखों का हरण करनेवाला तथा **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय होता है। वस्तुतः **एते**=ये यज्ञवेदि के चारों ओर आस्तीर्यमाण दर्भ **यजमानस्य लोके**=इस यज्ञशील पुरुष के घर में **निष्काः**=स्वर्णमय अलंकार होते हैं, अर्थात् यजमान का घर धन-धान्य से पूर्ण होता है।

भावार्थ—शाद्वल प्रदेश से आवृत यज्ञवेदि घर की शोभा हैं। यज्ञशीला गृहपत्नी घर को कभी रोगादि से हिंसित होता हुआ नहीं पाती। यज्ञमय गृह 'दुःखरहित, प्रकाशमय व धन-धान्य से पूर्ण' बनता है।

यज्ञों में व्याप्त जीवनवाला यह व्यक्ति 'यम'=संयत जीवनवाला बनता है। इसे कभी अशुभ स्वप्न नहीं आते। यह यम अगले दोनों सूक्तों का ऋषि है।

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दुःष्वप्न्य पाप से दूर

पर्यावर्ते दुःष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः॥ १॥

१. **दुःष्वप्न्यात् पापात्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत पाप से मैं **पर्यावर्ते**=प्रतिनिवृत्त होता हूँ। उस **अभूत्याः**=अनैश्वर्य, दरिद्रता से भी दूर होता हूँ जोकि **स्वप्न्यात्**=इसप्रकार के स्वप्नों का कारण बनती हुई निद्रासुख को विहत करती है। २. **अहम्**=मैं **ब्रह्म**=ज्ञान को **अन्तरम्**=व्यवधायक

दुःस्वप्न-निवारक **कृण्वे**=करता हूँ। यह ब्रह्म मेरा कवच बनता है और मैं दुःष्वप्न्य पापों से आक्रान्त नहीं होता। इस ब्रह्मरूप व्यवधायक से **स्वप्नमुखाः शुचः**=दुःस्वप्ननिबन्धन शोक **परा (भवन्तु)**=मुझसे दूर हों। मैं ज्ञान से सुरक्षित हुआ इन शोकों से आक्रान्त न होऊँ।

भावार्थ—हम ज्ञान को अपना कवच बनाकर, पापों व दरिद्रता से दूर होकर, अशुभ स्वप्न-जनित शोकों को अपने से दूर रक्खें।

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वप्न की बात पर विश्वास न करना

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा॥ १॥

१. **यत्**=जो **स्वप्ने**=स्वप्न में **अन्नम् अश्नामि**=अन्न खाता हूँ, **प्रातः न अधिगम्यते**=वह प्रातः जागने पर उपलब्ध नहीं होता। **सर्वं तत्**=वह सब स्वप्नभुक्त अन्न **मे**=मेरे लिए **शिवं अस्तु**=कल्याणकर हो, **तद् दिवा नहि दृश्यते**=वह दिन में नहीं दीखता है, अर्थात् 'स्वप्न की बातें सत्य होती हों', ऐसा नहीं है, इससे स्वप्न के कारण घबराना नहीं चाहिए।

भावार्थ—स्वप्न देखने पर हम शोक न करें। प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके स्वप्न की बात को 'असत्' समझें।

स्वप्न आदि की बातों से इतना प्रभावित न होनेवाला यह अपने को हिंसित होने से बचाता हुआ 'प्रजापति' बनता हैं। अगले सूक्त का यही ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

'अग्नि, वायु, आदित्य व यम' को नमस्कार

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मा हिंसिषुरीश्वराः॥ १॥

१. **द्यावापृथिवीभ्याम् नमस्कृत्य**=द्यावापृथिवी के लिए नमस्कार करके **अन्तरिक्षाय मृत्यवे**= अन्तरिक्ष व मृत्यु के लिए नमस्कार करके **ऊर्ध्वः तिष्ठन्**=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् विषय-वासनाओं में न फँसता हुआ **मेक्षामि**=गति करता हूँ (मियक्षतिर्गतिकर्मा—नि० २। २४)। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। इन्हें दीप्त व दृढ़ बनाने के लिए मैं प्रभु के प्रति नमस्कारवाला होता हूँ। 'अन्तरिक्ष' हृदय है। इसे पवित्र बनाने के लिए भी मैं प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हूँ, साथ ही मृत्यु का स्मरण भी करता हूँ। मृत्यु का स्मरण मुझे वासनाओं में फँसने से बचाता है। मैं इन वासनाओं से ऊपर उठ जाता हूँ। २. मेरी तो यही प्रार्थना है कि **मा**=मुझे **ईश्वराः मा हिंसिषुः**=आदित्य, अग्नि, वायु व यम (मृत्युदेव) हिंसित न करें। मैं अहिंसित होता हुआ चिरकाल तक इस लोक में अवस्थित रहूँ। ये देव मुझे दीर्घायुष्य प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम मस्तिष्क, शरीर व हृदय को दीप्त, दृढ़ व पवित्र बनाने के लिए मृत्युरूप भगवान् का स्मरण करें। यह स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर स्थित करे। हम वासनाओं में न फँसते हुए 'अग्नि, वायु, आदित्य' देवों की अनुकूलता से दीर्घजीवी हों।

वासनाओं से ऊपर उठकर यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर बढ़ता है। उन्नत होता हुआ 'ब्रह्मा' बनता हैं। यह 'ब्रह्मा' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञकामः पूर्तिकामः

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

१. **कः**=(को ह वै नाम प्रजापतिः—तै० २.२.१०.२) वह अनिरुक्त प्रजापति **क्षत्रियः**=क्षतों से हमारा त्राण करनेवाला है। **वस्यः इच्छन्**=प्रशस्त फल को हमारे लिए देने की इच्छा करता हुआ **नः**=हमें **अस्याः**=इस **अवद्यवत्या**=गर्ह्य कर्मोंवाली **द्रुहः**=जिघांसा से **उन्नेष्यति**=अवश्य ऊपर उठाएगा। २. **कः**=वह प्रजापति **यज्ञकामः**=हमसे अनुष्ठीयमान यज्ञों को चाहता है। **कः उ**=वह प्रजापति ही **पूर्तिकामः**=हमारी धनादि की पूर्ति को चाहता है। **कः**=वह प्रजापति ही **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **वनुते**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसावृत्ति से दूर करके यज्ञों द्वारा समृद्ध करते हैं और हमें दीर्घ जीवन प्राप्त कराते हैं।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आत्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'सुदुघा नित्यवत्सा' धेनु

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ १ ॥

१. 'पृश्नि' का अर्थ निरुक्त में 'संस्प्रष्टो भासा २.१४' इसप्रकार दिया है। ज्ञानदीप्ति से युक्त यह वेद यहाँ 'धेनु' के रूप में कहा गया है। यह धेनु ज्ञानदुग्ध देनेवाली है। सुखसंदोह्य होने से 'सुदुघा' है तथा सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली होने से 'नित्यवत्सा' कही गई है। **कः**=वे अनिरुक्त प्रजापति इस **सुदुघाम्**=सुख-संदोह्य, **नित्यवत्साम्**=सदा वत्सवाली (सर्वदा नवप्रसूता), अर्थात् सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली **पृश्निम्**=ज्ञानदीप्तियों के स्पर्शवाली **धेनुम्**=वेदधेनु को **वरुणेन**=पापनिवारण के हेतु से **अथर्वणे**=(अ थर्व) स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए **दत्ताम्**=दे। २. यह वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला अथर्वा भी **बृहस्पतिना सख्यं जुषाणः**=उस ब्रह्मणस्पति=ज्ञान के स्वामी प्रभु से मित्रता का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **यथावशम्**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में **तन्वः कल्पयाति**=शरीरों को सामर्थ्ययुक्त करता है, अर्थात् जितना-जितना जितेन्द्रिय बनता है, उतना-उतना अपने को शक्तिशाली बना पाता है।

भावार्थ—प्रभु स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए पापनिवृत्ति के हेतु से इस वेदधेनु को प्राप्त कराते हैं, जोकि सुदुघा है और सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली है। प्रभु से प्रीतिपूर्वक मित्रता का स्थापन करते हुए हम जितेन्द्रिय बनकर अपने शरीरों को शक्तिशाली बनाएँ।

जिस स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए प्रभु वेदज्ञान देते हैं, वह 'अथर्वा' ही अगले दोनों सूक्तों का ऋषि है।

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दैव्य, न कि पौरुषेय

अपक्रामन्पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ १॥

१. **पौरुषेयात्**=(पुरुषकृतात्) सामान्य पुरुषों से बनाये गये वचनों (ग्रन्थों) से **अपक्रामन्**=दूर हटता हुआ, **दैव्यं वचः वृणानः**=उस देव-सम्बन्धी इस वेदवचन का वरण करता हुआ, मनुष्यकृत ग्रन्थों के स्थान में देवकृत वाणियों को अपनाता हुआ, **विश्वेभिः सखिभिः सह**=सब समान ख्यानवाले, मिलकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले, साथियों के साथ **प्रणीतीः**=प्रकृष्ट नीति-मार्गों का—वेदोपदिष्ट न्याय्य मार्गों का **अभ्यावर्तस्व**=आभिमुख्येन अनुसरण कर।

भावार्थ—पुरुषकृत ग्रन्थों के स्थान पर देवकृत वाणियों का हम अध्ययन करें। अपने सब साथियों के साथ न्याय्य मार्गों का ही अनुसरण करें।

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः, वरुणश्च**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

दोषनिराकरण व अमृतत्व प्राप्ति

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत् किञ्चित्**=जो कुछ **अस्मृति**=कर्त्तव्य के स्मरण न होने के कारण **चकृम**=हम ग़लती कर बैठते हैं, अथवा हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! जो कुछ **चरणे उपारिम**=आचरण में दोष कर बैठते हैं, **ततः**=उस ग़लती से हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभो! **त्वं नः पाहि**=आप हमें बचाइए। २. इसप्रकार दोषों के दूर होने पर **शुभे**=शुभ कार्यों के होने पर **नः**=हम **सखिभ्यः**=सखाओं के लिए—परस्पर मित्रभाव को प्राप्त हम लोगों के लिए **अमृतत्वम् अस्तु**=अमृतत्व प्राप्त हो, नीरोगता प्राप्त हो।

भावार्थ—हम अस्मरण के कारण यदि कुछ ग़लती कर जाएँ अथवा आचरण में दोषवाले हो जाएँ तो वे सर्वज्ञ प्रकाशमय प्रभु हमें उस ग़लती से बचाएँ। शुभ मार्ग पर चलते हुए हम अमृतत्व को प्राप्त करें।

ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके निष्पाप जीवनवाला 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सूर्य आपश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यस्य सप्त रश्मयः

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्त्रसन्॥ १॥

१. एक ही सूर्य ('कश्यप'=पश्यक=सदा सबको देखनेवाला—प्रकाशित करनेवाला) है, वह 'कश्यप' है। उसके अंशभूत सात सूर्य उसकी सात प्रकार की किरणें ही हैं (आरोगः, भ्राजः, पटरः, पतङ्गः, स्वर्णरः, ज्योतिषीमान्, विभासः)। ये **सूर्यस्य सप्त रश्मयः**=सूर्य की सात किरणें—

परस्पर समेवत (मिली हुई) किरणें, **समुद्रियाः**=समुद्र से वाष्पीभूत होकर ऊपर उठे हुए तथा मेघरूप में परिणत हुए-हुए, **आपः**=जलों को **दिवः अवतारयन्ति**=द्युलोक से नीचे उतारती हैं, अर्थात् उन जलों का ये किरणें प्रवर्षण करनेवाली होती हैं। २. **ताः**=ये **धाराः**=धारारूप से गिरनेवाले जल अथवा धारण करनेवाले जल **ते शल्यम्**=तेरे पीड़ाकारी कासश्लेष्मादि रोग को **असिस्रसन्**=(स्रंसयन्तु विनाशयन्तु) विनष्ट करें अथवा अन्नोत्पादन द्वारा दुर्भिक्ष के कष्ट को दूर करें।

भावार्थ—सूर्य-किरणें समुद्र-जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाती हैं। वहाँ से वे उन्हें इस पृथिवी पर बरसाती हुई हमारे रोगों व दुर्भिक्षजनित कष्टों को दूर करती है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप्॥

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु

यो न॑ स्ता॒यद्दिप्स॑ति॒ यो न॑ आ॒विः स्वो वि॒द्वानर॑णो वा नो अग्ने।
प्र॒तीच्ये॒त्वर॑णी द॒त्वती॒ तान्मैषा॑मग्ने॒ वास्तु॑ भून्मो अप॑त्यम्॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः**=जो शत्रु **नः**=हमें **तायत्**=(अन्तर्हित नामैतत्) अन्तर्हित रूप से (छिपे-छिपे) **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है और **यः**=जो शत्रु **नः**=हमें **आविः**=प्रकटरूप से हिंसित करना चाहता है और यदि कोई **विद्वान्**=पर-बाधन के उपायों को जाननेवाला **स्वः**=अपना बन्धु, **अरणः वा**=या कोई शत्रु हमें हिंसित करना चाहता है, **तान्**=प्रकट-अप्रकट-रूप से जिघांसा आदि करनेवाले उन शत्रुओं को **दत्वती**=दाँतोंवाली **अरणी**=आर्तिकारिणी पीड़ा **प्रतीची एतु**=उसकी ओर ही गतिवाली होकर प्राप्त हो। यह पीड़ारूप राक्षसी दाँतोंवाली होकर उनको ही खा जाने के लिए प्राप्त हो। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **एषां वास्तु मा भूत्**=इनका घर न हो। इनका निवास घरों में न होकर कारागारों में हो। **उ**=और **अपत्यं मा**=इनके सन्तान भी न हो। इनके सन्तान इनके धनों के उत्तराधिकारी न समझे जाएँ। अथवा इनके सन्तान हों ही नहीं, क्योंकि सन्तानों में पिता के गुण ही आते हैं और इसप्रकार अवाञ्छनीय तत्त्वों का वर्धन होता है।

भावार्थ—जो बन्धु व शत्रु छिपकर या प्रकटरूप से हमें हिंसित करना चाहते हैं, यह हिंसा उन्हें ही प्राप्त हो (हिंस्रः स्वपापेन विहिंसतः खलु)। इनका स्थान कारागार में हो, इनके सन्तान इनके धन के उत्तराधिकारी न हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

वैश्वानरेण सयुजा

यो नः॑ सु॒प्ताञ्जाग्र॑तो वा॒भि॒दासा॒त्तिष्ठ॑तो वा॒ चर॑तो जातवेदः।
वै॒श्वा॒न॒रेण॑ स॒युजा॑ स॒जोषा॒स्तान्प्र॒तीचो॒ निर्द॑ह जातवेदः॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **यः**=जो **नः**=हम **सुप्तान्**=सोते हुओं को, **जाग्रतः**=जागते हुओं को, **तिष्ठतः चरतः वा**=खड़े हुओं को या चलते हुओं को **अभिदासात्**=उपक्षित (विनष्ट) करे, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **वैश्वानरेण सयुजा**=जाठराग्निरूप सहाय से (साथी से) मिलकर **सजोषाः**=समानरूप से दुष्टदमनरूप कार्य का (जुष् सेवने) सेवन करनेवाले आप **प्रतीचः**=हमारे विनाश के लिए हमारी ओर आते हुए **तान्**=उन शत्रुओं को **निर्दह**=नितरां दग्ध कर दीजिए। २. इन औरों का उपक्षय करनेवालों की जाठराग्नि ठीक न रहे और इसप्रकार रोगाक्रान्त होकर वे स्वयं ही विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—औरों का उपक्षय करनेवाले लोग प्रभु से इसप्रकार दण्डित होते हैं कि इनकी

जाठराग्नि विकृत होकर इन्हें रोगी बनाकर विनष्ट कर देती है।

पापवृत्ति से दूर होकर, धर्म में स्थिरवृत्तिवाला (बद स्थैर्य) 'बादरायणि' अगले सूक्त का ऋषि है—

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—बादरायणिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराट्पुरस्ताद्बृहती ॥

'उग्र बभ्रु' प्रभु

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे॥ १ ॥

१. **उग्राय**=तेजस्वी—शत्रुओं के लिए भंयकर **बभ्रवे**=धारण करनेवाले प्रभु के लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार है, हम 'उग्र बभ्रु' प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। **यः**=जो प्रभु **अक्षेषु**=(Sacred knowledge) पवित्र ज्ञान होने पर **तनूवशी**=हमें शरीरों को वश में करनेवाला बनाता है। पवित्र ज्ञान देकर प्रभु हमें शरीर को वशीभूत करनें में समर्थ करते हैं। २. **घृतेन**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा **कलिम्**=(Strife. dissension; war, battle) झगडों व युद्धों को **शिक्षामि**=अपने से दूर करता हूँ (ताडयामि, हन्मि)। **ईदृशे**=ऐसा होने पर—परस्पर प्रेम होने पर **सः**=वे प्रभु **नः मृडाति**=हमें सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'उग्र' हैं 'बभ्रु' हैं। पवित्र ज्ञान देकर हमें शरीर को वश में करने की योग्यता प्रदान करते हैं। हम ज्ञान के द्वारा झगड़ों को दूर करके प्रभु के अनुग्रह के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—बादरायणिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञ व हव्य-सेवन

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अप्सराभ्यः**=(अप=कर्म) यज्ञादि उत्तम कर्मों में विचरनेवाली प्रजाओं के लिए **घृतम् वह**=ज्ञानदीप्ति व मल-क्षरण को प्राप्त कराइए, **च**=और **अक्षेभ्यः**=पवित्र ज्ञानों की प्राप्ति के लिए **पांसून्**=(पशि नाशने) वासना-विनाशों को तथा **सिकताः अपः** (षिच् क्षरणे)=शरीर में सिक्त किये जानेवाले रेतःकणरूप जलों को प्राप्त कराइए। प्रभु कर्मशील प्रजाओं को ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ज्ञान के लिए वे वासना-विनाश द्वारा शरीर में ही शक्तिकणों के सेवन का सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। शरीर में सिक्त रेतःकण ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। २. इसप्रकार ज्ञानदीप्तिवाले **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **यथाभागम्**=भाग के अनुसार **हव्यदातिं जुषाणाः**=हव्य(पवित्र) पदार्थों के दान का सेवन करते हुए—यज्ञों में अग्नि के अन्दर हव्य पदार्थों को डालते हुए, **उभयानि हव्या**=(पयः पशूनां रसमोषधीनाम्) पशुओं के दूध व ओषधियों के रसरूप दोनों हव्य पदार्थों के आनन्द का **मदन्ति**=अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कर्मशील प्रजाओं को ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ही वासना-विनाश व शरीर में शक्ति के सेचन का सामर्थ्य देते हैं। ये देव अपने भाग के अनुसार यज्ञों को करते हुए पशुओं के दूध व ओषधियों के रस का आनन्द लेते हैं।

ऋषिः—बादरायणिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हविर्धानमन्तरा सूर्यं च

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु॥ ३ ॥

१. **अप्सरसः**=यज्ञादि कर्मों में विचरनेवाले लोग (अप् सर) **हविर्धानम्**=(हविर्धीयते अत्र) जिसमें हव्य पदार्थों का ही भोजन के रूप में आधान होता है, उस शरीर (भूलोक) **च**=तथा **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य से अधिष्ठित मस्तिष्करूप द्युलोक के **अन्तरा**=बीच में—हृदयान्तरिक्ष में **सधमादं मदन्ति**=उस प्रभु के साथ स्थिति के आनन्द का अनुभव करते हैं। (सहमदनं यथा भवति तथा मदन्ति)। २. **ताः**=वे यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्तियाँ **मे हस्तौ**=मेरे हाथों को **घृतेन संसृजन्तु**=मलक्षरण से, निर्मलता से संसृष्ट करें। 'कर्मों में लगे रहना' मेरे जीवन को पवित्र बनाये। ये क्रियाशीलता की वृत्तियाँ ही **मे सपत्नम्**=मेरे शत्रुभूत **कितवम्**=(A mad person) पागलपन को **रन्धयन्तु**=विनष्ट करें। ('कितवं' शब्द यहाँ पागलपन का प्रतीक है)।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष पवित्र भोजन करते हुए तथा मस्तिष्क को ज्ञानसूर्य से दीप्त करते हुए हृदय में प्रभुसान्निध्य के आनन्द का अनुभव करते हैं। ये क्रियाशीलता की वृत्तियाँ हमारे हाथों को पवित्रता से संसृष्ट करती हैं तथा पागलपन को विनष्ट करती हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान व प्रभु-स्तवन द्वारा विरोधी की पराजय

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति॥ ४॥

१. **प्रतिदीव्ने**=प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के लिए **अस्मान्**=हमें **घृतेन**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति के साथ **आदिनवं अभिक्षर**=(आदौ नवम्=स्तुतिम्, नु स्तुतौ) दिन के प्रारम्भ में स्तुति को प्राप्त करा। हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा प्रतिदिन प्रातः प्रभु-स्तवन करते हुए विरुद्ध व्यवहार करनेवालों को पराजित करें। २. हे प्रभो! **यः अस्मान् प्रतिदीव्यति**=जो हमारे साथ प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसे इसप्रकार **जहि**=विनष्ट कीजिए, **इव**=जिस प्रकार **वृक्षम्**=वृक्ष को **अशन्या**=विद्युत् से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानदीप्ति तथा प्रभु-स्तवन द्वारा हम विरोधी को पराजित करें। हे प्रभो! आप हमारे विरोधी को इसप्रकार विनष्ट कीजिए जैसेकि वृक्ष को विद्युत् नष्ट करती हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कार्यसाधक धन तथा विशिष्ट ज्ञान

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम॥ ५॥

१. **यः**=जो प्रभु **नः द्युवे**=हमारे व्यवहार की सिद्धि के लिए **इदं धनं चकार**=इस धन को करते हैं, अर्थात् कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **यः**=जो प्रभु **अक्षाणाम्**=पवित्र ज्ञानों के **ग्लहनम्**=ग्रहण को **शेषणं च**=तथा विशिष्टता को करते हैं, अर्थात् हमारे लिए पवित्र ज्ञानों को विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं, **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारी **इदं हविः**=इस हवि को—दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। यह हवि हमें प्रभु का प्रिय बनाये। २. हम अपने इस जीवन में **गन्धर्वेभिः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवालों के साथ **सधमादं मदेम**=मिलकर एक स्थान में स्थित होते हुए आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु हमें कार्यसाधक धन प्राप्त कराते हैं, विशिष्ट पवित्र ज्ञान का ग्रहण कराते हैं। हम हवि द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा प्रभु का पूजन करें और ज्ञानियों के साथ मिल-बैठते हुए आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—बादरायणिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गन्धर्वों का लक्षण

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के गन्धर्वों को सम्बोधित करते हुए कहते है कि **'संवसवः' इति वः नामधेयम्**='संवसवः' यह आपका नाम है, आप उत्तमरूप से मिलकर रहनेवाले या राष्ट्र में प्रजा को बसानेवाले, **उग्रंपश्याः**=तेजस्वी दिखनेवाले, **राष्ट्रभृतः**=राष्ट्र का धारण करनेवाले तथा **हि**=निश्चय से **अक्षाः**=(अक्ष पचाद्यच्) व्यवहारकुशल हो। २. हे **इन्दवः**=शक्तिशाली गन्धर्वो! **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए हम **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा—उचित कर-प्रदान द्वारा आदर प्रकट करें और **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम्**=धनों के स्वामी हों। इन गन्धर्वों से रक्षित हुए-हुए हम धनस्वामी बन पाएँ। (गां भूमिं धारयन्ति) ये गन्धर्व राष्ट्रभूमि का रक्षण करते हैं। रक्षित राष्ट्र में प्रजाएँ उत्तमता से धनार्जन कर पाती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का धारण करनेवाले गन्धर्व प्रजा को उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं, तेजस्वी होते हैं, व्यवहार-कुशल होते हैं। ये प्रजाओं से उचित कर प्राप्त करते हुए राष्ट्र की ऐसी उत्तम व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में सभी धन-स्वामी बनते हैं।

ऋषिः—बादरायणिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

कल्याण का मार्ग

देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम। अक्षान्यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे॥ ७ ॥

१. **यत्**=क्योंकि **नाथितः**=याचना-(प्रार्थना)-वाला होता हुआ मैं **देवान् हुवे**=ज्ञानियों को पुकारता हूँ, **यत्**=क्योंकि हम **ब्रह्मचर्यं ऊषिम**=ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करते हैं, **यत्**=क्योंकि **बभ्रून्**=धारणात्मक **अक्षान्**=व्यवहारों को व ज्ञानों को **आलभे**=प्राप्त करता हूँ, तो **ते**=वे गतमन्त्र के गन्धर्व **ईदृशे**=ऐसी स्थिति होने पर **नः**=हमें **मृडन्तु**=सुखी करें।

भावार्थ—हम 'ज्ञान देनेवाले विद्वानों को ही पुकारें, ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करें, धारणात्मक व्यवहारों को ही अपनाएँ' यही कल्याण का मार्ग है।

अगले सूक्त का ऋषि, 'इन्द्राग्नी' शक्ति व प्रकाश की आराधना करता हुआ, 'भृगु' (तपस्वी) है—

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वृत्रहन्तमा

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप **च**=और **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप दोनों रूप से **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को **अप्रति**=(अप्रतिपक्षम्=निःशेषम्) पूर्णतया **हतः**=विनष्ट करते हो। शक्तिशाली व प्रकाशस्वरूप प्रभु का उपासन वासनाओं को विनष्ट करता है। २. **उभा**=ये प्रकाश और शक्ति दोनों मिलकर **हि**=निश्चय से **वृत्रहन्तमा**=अधिक-से-अधिक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में प्रकाश व शक्ति का समन्वय करते हुए वासनाओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वर्ग के प्रापक 'अग्नि और इन्द्र'

याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम्॥ २॥

१. **याभ्याम् एव**=जिन अग्नि व इन्द्र के द्वारा ही, प्रकाश व बल के द्वारा ही **स्वः**=स्वर्ग को **अग्रे**=सर्वप्रथम **अजयन्**=जीतते हैं, **यौ**=जो अग्नि और इन्द्र **विश्वा भुवनानि आतस्थतुः**=सब प्राणियों में अधिष्ठित हैं, प्रकाश व बल ही प्राणियों के आधार हैं। २. ये अग्नि और इन्द्र **प्रचर्षणी**=प्रकर्षेण सबको देखनेवाले हैं, **वृषणा**=ये सुखों का सेचन करनेवाले हैं तथा **वज्रबाहू**=गतिशील व वज्र के समान दृढ़ भुजाओंवाले हैं। उन **वृत्रहणा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाले **अग्निम् इन्द्रम्**=अग्नि और इन्द्र को, प्रकाश व बल के देवता को **अहम् हुवे**=मैं पुकारता हूँ। प्रकाश व बल की आराधना करता हुआ मैं वासनाओं से ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—अग्नि और इन्द्र (प्रकाश+बल) स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं, ये सबके आधार बनते हैं, हमारा पालन करते हैं, सुखों का सेचन करते हैं, हमें क्रियाशील व दृढ़ बनाते हैं, हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

बृहस्पति+इन्द्र

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. **त्वा**=तुझे **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति, ज्ञान का स्वामी **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **चमसेन**=(तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्) ज्ञान के आधारभूत मस्तिष्क के द्वारा **उपाग्रभीत्**=उपगृहीत करता है। प्रभु हमें ज्ञानपरिपूर्ण मस्तिष्क (चमस) प्राप्त कराके अपने समीप प्राप्त कराते हैं। २. हे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **नः**=हमारी **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले, शरीर में सोम-शक्ति का सम्पादन करनेवाले, पुरुष के लिए **आविश**=प्राप्त होओ।

भावार्थ—बृहस्पति का आराधन हमें ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क प्राप्त कराता है। इन्द्र का स्तवन हमें शक्तिशाली बनाता है, इन्द्र बनकर हम सोम (शक्ति) का पान करते हुए शक्तिसम्पन्न बनते हैं। इस शक्ति का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने में ही करते हैं।

ज्ञान व शक्ति के समन्वय से बढ़ा हुआ 'ब्रह्मा' अगले सूक्त का ऋषि है—

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः ॥ छन्दः—पराबृहतीत्रिष्टुप् ॥

सोमधानः कुक्षिः

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम्॥ १॥

१. अपने जठर को ही सम्बोधित करता हुआ यह 'ब्रह्मा' कहता है कि तू **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष का **कुक्षिः असि**=जठर (उदर) है, इसीलिए तू **सोमधानः**=सोम का आधार है, तुझमें सोम सुरक्षितरूप में रहता है। अथवा तू सौम्य (वानस्पतिक) भोजनों को ही अपने में स्थापित करनेवाला है, कभी मांसाहार नहीं करता। तू **देवानां उत मानुषाणाम्**=देवों का तथा

विचारशील पुरुषों का **आत्मा**=शरीर है। तुझमें दिव्य गुणों व मानवता का निवास है। मांसाहार मनुष्य को दिव्य गुणों व मानवता से दूर ले-जाता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष! **इह**=यहाँ गृहस्थ में **प्रजाः जनय**=सन्तानों को जन्म दे। **याः**=जो **ते**=तेरी प्रजाएँ **आसु**=इन्हीं जन्मभूमियों में निवास करती हैं, **याः अन्यत्र**=और जो अन्यत्र दूर देशों में हैं, **ताः**=वे **ते**=तेरी प्रजाएँ **इह**=इस जीवन में **रमन्ताम्**=सुखी हों।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करें और सौम्य भोजनों को ही खाएँ। इसप्रकार हम दिव्य गुणों व मानवता को अपने में स्थान दें। इस जीवन में उत्तम सन्तानों को जन्म दें। ये सन्तान यहाँ हों या कहीं दूर—वे आनन्द में रहें।

सोम का रक्षण करता हुआ पाप का निवारण करनेवाला 'वरुण' अगले सूक्त का ऋषि है—

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वरुणः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी

शुम्भ॑नी॒ द्यावा॑पृथि॒वी अन्ति॑सुम्ने॒ महि॑व्रते।
आप॑ः स॒प्त सु॑स्रुवु॒र्दे॒वीस्ता नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः॥ १॥

१. **शुम्भनी**=शोभादायक **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **अन्तिसुम्ने**=(अम् गतौ, सुम्नं सुखम्) गति के द्वारा सुख देनेवाले हैं अथवा आन्तरिक (अन्ति=समीप) सुख उत्पन्न करनेवाले हैं और **महिव्रते**=महनीय व्रतोंवाले हैं। २. यहाँ—इस शरीर में **सप्त आपः सुस्रुवुः**=सात ज्ञानजल की धाराएँ बह रही हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये सात शीर्षण्य प्राण 'सप्तर्षि' कहलाते हैं। इनसे सात ज्ञानजल की धाराओं का प्रवाह शरीर में निरन्तर चलता है, **ताः**=वे द्यावापृथिवी तथा सात ज्ञान-जल धाराएँ **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—मस्तिष्क की दीप्ति, शरीर का स्वास्थ्य तथा सात ज्ञान-जल धाराएँ हमें अशुभ वृत्तियों से बचाती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

शपथ्यात्, वरुण्यात्

मु॒ञ्चन्तु॑ मा शप॒थ्या॒३॒॑दथो॑ वरु॒ण्या॑दु॒त।
अथो॑ य॒मस्य॒ पड्बी॑शा॒द्विश्व॑स्माद्देवकिल्बि॒षात्॥ २॥

व्याख्या देखें—अथर्व० ६.९६.२ पर।

अपने को ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

११३. [त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—भार्गवः ॥ देवता—तृष्टिका ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥

कर्कशता

तृष्टि॑के॒ तृष्ट॑वन्दन॒ उद॒मूं छि॑न्धि तृष्टिके। यथा॑ कृतद्वि॑ष्टासो॒ऽमुष्मै॑ शेप्यावते॑॥ १॥

१. (तृष्ट=Harsh, pungent, rugged, hoarse) हे **तृष्टिके**=वाणी की कर्कशते! **तृष्टवन्दने**=कर्कश स्तुतिवाली **तृष्टिके**=कुत्सितदाहजनिके कर्कशते! तू **अमूं उत् छिन्धि**=उस कर्कश वाणी बोलनेवाली जिह्वा को ही छिन्न करनेवाली हो। जो कर्कश वाणी बोले, वह उस कर्कशता से अपनी जिह्वा को ही छिन्न करनेवाला बने। २. **अमुष्मै**=उस **शेप्यावते**=(शेपः बलम्) प्रशस्त बलवाले पुरुष के लिए तू **यथा**=जिस प्रकार **कृतद्विष्टा**=किये हुए द्वेषवाली

असः=है, उसी अनुपात में हे कर्कशते! तू उस कर्कशवाणी बोलनेवाली जिह्वा को ही छिन्न कर। वह शक्तिशाली पुरुष शान्त है। उसकी शान्ति ही इस कर्कश वाणी बोलनेवाले को और अधिक अशान्त व उत्तेजित कर नष्ट कर देती है।

भावार्थ—हम प्रशस्त शक्तिशाली पुरुषों के प्रति द्वेषवाले होकर कर्कश वाणी न बोलते रहें। ऐसा करने से हम अपनी जिह्वा को ही छिन्न कर बैठेंगे।

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**तृष्टिका** ॥ छन्दः—**शङ्कुमतीचतुष्पदाभुरिगुष्णिक्** ॥

तृष्टा=विषा

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्य सि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव॥ २॥

१. हे वाणि! तू **तृष्टा असि**=बड़ी कर्कशा है, **तृष्टिका**=कुत्सितदाहजनिका है। **विषा**=विषरूप तू **विषातकी असि**=(विषं आतंकयति संयोजयति) विष के संयोजन से जीवन को कष्टमय बना देनेवाली हैं। २. तू हमसे **यथा**=उसी प्रकार **परिवृक्ता असिस**=छोड़ी हुई हो, **इव**=जिस प्रकार **ऋषभस्य**=शक्ति-सेचन करनेवाले वृषभ से **वशा**=वन्ध्या गौ परिवृक्ता होती है। जैसे ऋषभ से वशा गौ उपभोग्या नहीं होती, इसी प्रकार शक्तिशाली पुरुष कर्कशवाणी का परित्याग ही करता है।

भावार्थ—कर्कशवाणी दाहजनिका है, विषरूप है, यह वन्ध्या है। शक्तिशाली पुरुष इसे सदा अपने से दूर रखता है।

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

(अग्निषोमौ) शत्रु-निराकरण

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे।
आ ते मुखस्य सङ्काशात्सर्वं ते वर्च आ ददे॥ १॥

१. राष्ट्र का संचालक (सभापति) 'अग्नि' है। राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था का अध्यक्ष (मुख्य न्यायाधीश) 'सोम' है। अग्नि और सोम इन दोनों को मिलकर राष्ट्र का सुप्रबन्ध करना होता है। राजा राष्ट्र के शत्रु को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं **ते वक्षणाभ्यः**=तेरी छाती के अवयवों से बल को **आददे**=छीन लेता हूँ। **अहम्**=मैं **ते हृदयात्**=तेरे हृदय से बल का **आददे**=अपहरण करता हूँ। २. **ते मुखस्य संकाशात्**=तेरे मुख की समीपता से (संकाश=nearness) **ते सर्वं वर्चः आददे**=तेरे सारे तेज को छीन लेता हूँ, तुझे निस्तेज कर देता हूँ। (संकाश= Appearance) तेरे चेहरे को निस्तेज कर देता हूँ।

भावार्थ—अग्नि और सोम दोनों को मिलकर राष्ट्र के शत्रु को उचित दण्ड-व्यवस्था द्वारा निस्तेज करना चाहिए।

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगों व राक्षसीवृत्तियों का विनाश

प्रेतो यन्तु व्या ध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः॥ २॥

१. अग्नि ऐसा चाहता है कि **इतः**=यहाँ—इस राष्ट्र से **व्याध्यः**=सब रोग **प्रयन्तु**=दूर चले जाएँ। सफ़ाई आदि की व्यवस्था इतनी ठीक हो कि रोग उत्पन्न ही न हो पाएँ। **अनुध्याः प्र (यन्तु)**=सब अनुताप व दुश्चिन्तन दूर हों। **उ**=और **अशस्तयः प्र**=अस्तुतियाँ, परकृतनिन्दाएँ व हिंसाएँ दूर हों। २. इसप्रकार **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रणी राजा राष्ट्र की **रक्षस्विनीः**=राक्षसी-

वृत्तिवाली शत्रु-सेनाओं को **हन्तु**=नष्ट करे तथा **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला न्यायाधीश **दुरस्यतीः**=(दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः) दूसरों का अशुभ चाहनेवाली प्रजाओं को **हन्तु**=राष्ट्र से दूर करे। ये अग्नि और सोम राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को दूर करके राष्ट्र को सुव्यवस्थित करें।

भावार्थ—राष्ट्र से रोगों, अनुतापों, परनिन्दाओं व हिंसाओं को दूर करके सुव्यवस्थित किया जाए। अग्नि और सोम (राजा व न्यायाधीश) मिलकर राष्ट्र को बाहर व अन्दर के शत्रुओं से बचाएँ।

सुव्यवस्थित राष्ट्र में लोग स्थिर मनोवृत्तिवाले (अथर्वा) तथा सरस अंगोंवाले (अंगिराः) शक्ति-सम्पन्न बनें। व्याधिरहित शरीरवाले, अनुतापरहित मनवाले ये 'अथर्वाङ्गिरा' अगले चार सूक्तों के ऋषि हैं—

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'पापी लक्ष्मी' का अदर्शन

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत। अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि॥ १॥

१. हे **पापि लक्ष्मि**=पापरूपिणी लक्ष्मी (अर्थात् अलक्ष्मी) अन्याय्य मार्ग से कमाये गये धन! **इतः प्रपत**=यहाँ से दूर हो जा। **इतः नश्य**=इस प्रदेश से अदृष्ट हो जा। **अमुतः प्रपत**=अति दूर देश से भी तू दूर चला जा। अन्याय्य धन का हमारे यहाँ स्थान न हो। २. **अयस्मयेन अंकेन**=लोहे के बने हुए काँटे से **त्वा**=तुझे **द्विषते सजामसि**=शत्रु के लिए सम्बद्ध करते हैं। अन्याय्य मार्ग से अर्जित धन हमारे शत्रुओं के साथ ही सम्बद्ध हो। इस धन को हम अपने से दूर ही रक्खें।

भावार्थ—अन्याय्य मार्ग से प्राप्त होनेवाला धन हमसे दूर हो। इसका स्थान हमारे शत्रुओं में ही हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शोषण की कारणभूत पतयालू लक्ष्मी

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत्सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥ २॥

१. **या**=जो **पतयालूः**=नीचे गिरानेवाली, दुर्गति की कारणभूत **अजुष्टा**=अप्रिय, निन्द्य **लक्ष्मीः**=लक्ष्मी **मा अभिचस्कन्द**=मुझे अभितः व्याप्त करती है। जो मुझे इसप्रकार व्याप्त कर लेती है, **इव**=जैसेकि **वन्दना वृक्षम्**=एक लताविशेष वृक्ष को घेर लेती है। अथवा यह पतयालू अजुष्टा लक्ष्मी मेरा इसप्रकार शोषण कर देती है (स्कन्दिर् गतिशोषणयोः) जैसेकि अमरबेल वृक्ष का। प्ररूढ़ वन्दन-तरु की शुष्कता प्रसिद्ध ही है। यह लक्ष्मी भी वृक्षरूप मेरे लिए वन्दना लता ही बन जाती है। २. हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **ताम्**=उस पतयालू लक्ष्मी को **अस्मत्**=हमसे **इतः अन्यत्र**=यहाँ से अन्य देश में **धाः**=स्थापित कीजिए। **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथोंवाले आप, सुवर्ण को हाथों में लिये हुए आप **नः**=हमारे लिए **वसु**=धन **रराणः**=देनेवाले हो। आप हमें निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराइए।

भावार्थ—अन्याय्य धन हमारे शोषण का कारण बनता है। प्रभु उसे हमसे दूर करते हुए, हमारे निवास के लिए आवश्यक पवित्र धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—सविता, जातवेदाः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पापिष्ठा Vs शिवा (लक्ष्मी)

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा ॅजनुषोऽ धि जाताः।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिंण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ॥ ३॥

१. **एकाशतं लक्ष्म्यः**=एकाधिकशत संख्याक (१०१) लक्ष्मियाँ **मर्त्यस्य**=मनुष्य के **तन्वा साकम्**=शरीर के साथ **जनुषः अधिजाताः**=जन्म से ही उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य स्वभावतः ही सैकड़ों प्रकार से धनों के अर्जन की वृत्तिवाला होता है। २. **तासाम्**=उन लक्ष्मियों में से **पापिष्ठाः**=जो अतिशयेन पापी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हें **इतः**=यहाँ से **निः प्रहिण्मः**=निःशेषरूप से अपसारित करते हैं। हम अन्याय्य मार्ग से अर्जित धनों को नहीं चाहते। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! उनमें जो **शिवाः**=मंगलकारिणी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हें **अस्मभ्यं नियच्छ**=हमारे लिए दीजिए।

भावार्थ—मनुष्य स्वभावतः सैकड़ों सरणियों से धन का अर्जन करने में प्रवृत्त होता है। हम पापिष्ठ लक्ष्मियों को अपने से दूर करें और प्रभु के अनुग्रह से न्याय्य मार्ग से ही मंगलकारिणी लक्ष्मी का अर्जन करें।

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—सविता,जातवेदाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रमन्तां पुण्याः लक्ष्मीः

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिताइव। रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥ ४॥

१. **एताः**=ऊपर मन्त्र १ और २ में निर्दिष्ट **एनाः**=मन्त्र तीन में अन्वादिष्ट लक्ष्मियों को **व्याकरम्**=स्पष्ट रूप से अलग-अलग करता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **खिले**=व्रज में (व्रजे—सा०) अथवा अनुपजाऊ भूमि पर **विष्ठिताः गाः**=मिलकर एक देश में स्थित गौओं को गोपाल उस-उस कार्य के लिए विवेकपूर्वक पृथक् करते हैं। २. उनमें **पुण्याः लक्ष्मीः**=जो कल्याणी लक्ष्मियाँ हैं, वे **रमन्ताम्**=मुझमें सुख से रहें। **याः पापीः**=जो पापकारिणी दुर्लक्ष्मियाँ हैं, **ताः अनीनशम्**=उन्हें अपने से दूर करता हूँ।

भावार्थ—विवेकपूर्वक पापी लक्ष्मियों को हम अपने से दूर करें, शुभ लक्ष्मियों को ही अपने समीप रखनेवाले हों।

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वाङ्गिराः ॥ देवता—चन्द्रमाः, ज्वरः ॥ छन्दः—१ परोष्णिक्,
२ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुपेकावसाना ॥

रूर व शीतज्वर

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे। नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने॥ १॥
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्ये ॅत्वव्रतः॥ २॥

१. **च्यवनाय**=(च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे) अत्यधिक पसीना टपकानेवाले **नोदनाय**=इधर-उधर विक्षिप्त करनेवाले, **धृष्णवे**=अभिभूत कर लेनेवाले, दबा-सा देनेवाले **रूराय**=उष्णज्वर के लिए **नमः**=नमस्कार हो, यह ज्वर हमसे दूर ही रहे। इसी प्रकार **पूर्वकामकृत्वने**=चिरकाल तक पीड़ित करने के द्वारा पहली अभिलाषाओं को छिन्न कर देनेवाले ('इदं करोमि इदं करोमि' इति पूर्वं काम्यमानं अभिलाषं शीतज्वरः निकृन्तति चिरकालं बाधाकारित्वात्) **शीताय**=शीतज्वर के लिए भी **नमः**=नमस्कार हो। हम 'रूर व शीत' दोनों ज्वरों को ही दूर से नमस्कार करते हैं। २. **यः**=जो ज्वर **अन्येद्युः**=दूसरे दिन **इमम्**=इस पुरुष को **अभ्येति**=प्राप्त होता है और जो

उभयद्युः=(उभयोः दिवसयोःअतीतयोः) दो दिन बीत जाने पर (अभ्येति) आता है, अर्थात् चातुर्थिक ज्वर **अव्रतः**=अनियत कालवाला ज्वर **मण्डूकम् अभ्येतु**=मण्डूक को प्राप्त हो। (मण्डूकी=A wanton or unchaste woman) 'मण्डूक' अपवित्र आचरणवाले पुरुष का नाम है। इस अपवित्र पुरुष को ही यह ज्वर प्राप्त हो।

भावार्थ—हम पवित्र जीवनवाले बनकर,उष्णज्वर, शीतज्वर व चातुर्थिकादि ज्वरों से पीड़ित होने से बचें। मण्डूकवृत्तिवाले पुरुष को ही ये ज्वर प्राप्त हों।

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

विषय-मरुस्थली का लंघन

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिद्वि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। उन इन्द्रियाश्वों से जोकि **मन्द्रैः**=प्रशंसनीय हैं और **मयूररोमभिः**=(मीनाति हिनस्ति इति मयूरः, रु शब्दे रोम) वासनाविध्वंसक शब्दों का उच्चारण करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ गम्भीर ज्ञानवाली होकर प्रशंसनीय हैं तो कर्मेन्द्रियाँ प्रभु के नामों का उच्चारण करती हुई वासनाओं का विनाश करनेवाली हैं। ये इन्द्रियाश्व हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं। २. इस जीवन-यात्रा में **त्वा**=तुझे **केचित्**=कोई भी विषय **मा वियमन्**=मत रोकनेवाले हों। तू विषयों से बीच में ही पकड़ न लिया जाए, **न**=जैसेकि **विं पाशिनः**=पक्षी को जालहस्त शिकारी पकड़ लेते हैं। विषय व्याध के समान हैं, हम इनके शिकञ्जे में न पड़ जाएँ। **तान्**=उन विषयों को **धन्व इव**=मरुस्थल की तरह **अति इहि**=लाँघकर तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। विषय वस्तुतः मरुस्थल हैं, उनमें कोई वास्तविक आनन्द नहीं। उनमें फँसना तो मूढ़ता ही है।

भावार्थ—हम विषयों में न फँसते हुए प्रभु की ओर आगे बढ़नेवाले हों।

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः,वरुणः,देवश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्म, सोम, वरुण

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु॥ १॥

१. जिन स्थानों पर विद्ध होकर मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है, उन्हें मर्म कहते हैं। **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा छादयामि**=कवच के द्वारा आच्छादित करता हूँ। कवच से आछादित मर्मस्थल शत्रुओं से शीर्ण नहीं किये जाते। अब **राजा**=जीवन को दीप्त करनेवाला **सोमः**=सोम (वीर्य) **त्वा**=तुझे **अमृतेन अनुवस्ताम्**=नीरोगता से आच्छादित करे, अर्थात् सोम का रक्षण तुझे नीरोग बनाए। २. **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता **ते**=तेरे लिए **उरोः वरीयः**=विशाल से भी विशालतर सुख **कृणोतु**=करे। **जयन्तम्**=राग-द्वेषादि सब शत्रुओं को पराजित करते हुए **त्वा**=तुझे **देवाः**=सब देव, सब दिव्यभाव, **अनुमदन्तु**=अनुकूलता से हर्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञानरूप कवच हमारे मर्मों का रक्षण करे। सुरक्षित सोम हमें नीरोगता प्रदान करे और निर्द्वेषता की देवता हमें आनन्दित करनेवाली हो।

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

अथाष्टमं काण्डम्

अष्टम काण्ड के प्रथम दो सूक्तों का ऋषि 'ब्रह्मा' है, यह उत्तम सात्त्विक वृत्तिवालों में प्रथम स्थान में है, अर्थात् इसका जीवन सात्त्विकतम है, इसीलिए यह दीर्घजीवन प्राप्त करता है। इन सूक्तों का देवता (विषय) 'आयु' ही है। इसके जीवन का वर्णन निम्न मन्त्रों में देखिए—

अथाष्टादशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

सूर्यस्य भागे

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥ १॥

१. **अन्तकाय**=(अन्तं करोति) सब प्राणियों का नाश करनेवाले, **मृत्यवे**=प्राणों के वियोजक मृत्यु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। इस अन्तक की कोपदृष्टि से बचने के लिए हम उचित उपाय करें। हे आयुष्काम पुरुष! **ते**=तेरे **प्राणाः अपानाः**=बहिर्मुख संचारी तथा आवङ्मुख संचारी वायुओं की वृत्तियाँ **इह रमन्ताम्**=इस शरीर में ही रमण करें। २. **अयम्**=यह प्राणसाधना करनेवाला **पुरुषः**=पुरुष **असुना सह**=प्राण के साथ **इह अस्तु**=इस शरीर में ही निवास करनेवाला हो, जोकि **सूर्यस्य भागे**=सूर्यकिरणों का सेवन करनेवाला है(भज सेवायाम्) अतएव **अमृतस्य लोके**=नीरोगता का स्थान है। जब तक यह शरीर सूर्यकिरणों के सम्पर्क में चलता है तब तक नीरोग बना रहता है—'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति' उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का विनाशक है।

भावार्थ—हम मृत्यु को दूर करने के लिए प्राणसाधना को अपनाएँ। हमारे शरीर में प्राणापानशक्ति बनी रहे। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहकर हम शरीर को नीरोग रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।
उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥ २॥

१. **एनम्**=रोगादि के कारण मूर्च्छा-लक्षण अन्धतमस् में प्रवेश करते हुए उस पुरुष को **भगः**=भजनीय—सेवनीय—किरणोंवाला सूर्य **उत् अग्रभीत्**=अन्धकार से ऊपर उठाता है। **अंशुमान् सोमः**=अमृतमय किरणोंवाला चन्द्र **एनम् उत्**=इस पुरुष को ऊपर उठाता है। सूर्य-चन्द्र की किरणों के सम्पर्क में निवास से इसकी प्राणापानशक्ति ठीक बनी रहती है। २. **एनम्**=इस पुरुष को **देवाः**=सब रोगों को पराजित करने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) **मरुतः**=उनचास भागों में विभक्त हुए ये प्राणवायु **उत्**=सब रोगों से ऊपर उठाते हैं। इसी प्रकार **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्निदेव—जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की भावना **उत्**=इसे रोगों से ऊपर उठाते हैं और **स्वस्तये**=इसके कल्याण के लिए होते हैं।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) सूर्य और चन्द्र की किरणों के

सम्पर्क में रहें, (ख) प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, (ग) जितेन्द्रिय बनें और (घ) हममें आगे बढ़ने की भावना हो।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः॥ छन्दः—पुरोबृहतीत्रिष्टुप्॥

'असु-प्राण-आयु व मन'

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत्त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥ ३॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **इह ते असुः**=यहाँ—इस शरीर में तेरा यह 'असु' है (अस् क्षेपणे) सब रोगों को परे फेंकनेवाली शक्ति है। **इह प्राणः**=यहाँ तुझे प्राणित करनेवाला यह प्राण है। 'प्राण-अपान-उदान-व्यान व समान' के रूप में यह शरीर के सब व्यवहारों को ठीक से चलानेवाला है। **इह आयुः**=यहाँ तेरा यह जीवन है 'शतायुर्वै पुरुषः' सौ वर्ष के लिए नियत तेरा जीवन है। **इह ते मनः**=यहाँ तेरा यह मन है—यह तेरा मन 'ज्योतिषां ज्योतिः' ज्योतियों की भी ज्योति है—'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्' यह मन भूत, भुवन, भविष्यत् का परिगृहीता व अमृत है। २. इन सबके होते हुए रोगादि सम्भव ही कैसे हो सकते हैं? हम **दैव्या वाचा**=देव के द्वारा दी गई वेदवाणी के द्वारा **त्वा**=तुझे **निर्ऋत्याः पाशेभ्यः**=दुर्गति की बन्धन-रज्जुओं से **उत् भरामसि**=ऊपर उठाते हैं। वेदज्ञान द्वारा 'असु,प्राण,आयु व मन' का ठीक ज्ञान प्राप्त करता हुआ तू दुर्गति के पाशों से नहीं जकड़ा जा सकता।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा शरीरस्थ 'असु,प्राण,आयु व मन' का ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके उचित विनियोग व शक्तिवर्धन से दुर्गति के पाशों में जकड़े जाने से अपने को बचाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः॥ छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः॥

वेदज्ञान, अग्निहोत्र, सूर्यकिरण-सेवन

उत्क्रामातः पुरुष मावं पत्था मृत्योः पड्बीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥ ४॥

१. हे **पुरुष**=इस देवनगरी में निवास करनेवाले पुरुष! **अतः उत् क्राम**=वेदज्ञान द्वारा इस मृत्युपाश-समूह से तू ऊपर उठ। **मा अवपत्थाः**=तू अवनति-गर्त में गिरनेवाला न हो। **मृत्योः पड्बीशम्**=मृत्यु के पादबन्धन पाश को **अवमुञ्चमानः**=तू अपने से सुदूर विच्छिन्न करनेवाला हो। २. **अस्मात् लोकात्**=गत मन्त्र में 'दैव्या वाचा' शब्दों से वर्णित वेदज्ञान के प्रकाश से (लोक=आलोक) **मा च्छित्थाः**=तू पृथक् मत हो। **अग्नेः संदृशः**=अग्नि के सन्दर्शन से तू पृथक् न हो—नित्य अग्निहोत्र का दर्शन करनेवाला बन तथा **सूर्यस्य (संदृशः)**=सूर्यदर्शन से पृथक् मत हो—सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहनेवाला बन।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) वेदज्ञान प्राप्त करें,(ख) नियम से अग्निहोत्र करें, (ग) सूर्य-किरणों के सम्पर्क में जीवन-यापन करें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आयुः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शुद्ध वायु, पवित्र जल व सूर्यकिरण

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥ ५॥

१. हे पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे लिए यह **मातरिश्वा**=(मातरि अन्तरिक्षे श्वयति) अन्तरिक्ष में गति करनेवाला **वातः**=वायु **पवताम्**=बहे—पवित्रता करनेवाला हो। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल

अमृतानि वर्षन्तु=अमृतों का वर्षण करें। ये मेघजल तुझे नीरोगता प्राप्त कराएँ। २. **सूर्यः ते तन्वे शं तपाति**=यह सूर्यदेव तेरे शरीर के लिए सुखकर होकर तपे। **मृत्युः त्वा दयताम्**=यह मृत्यु तेरा रक्षण करे, **मा प्रमेष्ठाः**=तू हिंसित न हो।

भावार्थ—'शुद्ध वायु का सेवन, पवित्र मेघ-जलों का ग्रहण व सूर्यकिरणों में निवास' हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उद्यानम्, न अवयानम्

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ ६॥

१. हे **पुरुष**=इस देवपुरी में निवास करनेवाले पुरुष! **ते उद्यानम्**=तेरा उद्गमन—उन्नति ही हो, **न अवयानम्**=कभी तेरा अधोगमन—अवनति न हो। **ते**=तेरे लिए **जीवातुम्**=जीवन औषध तथा **दक्षतातिम्**= बल की वृद्धि **कृणोमि**=करता हूँ। तेरे लिए नीरोगता तथा शक्ति प्राप्त कराता हूँ। २. तू **अमृतम्**=अमरणधर्मा—रोगरहित **सुखम्**=(सु-ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **आरोह**=आरोहण कर, **अथ**=अब उत्तम जीवन-यात्रा के अन्तिम भाग में **जिर्विः**=पूर्ण अवस्था—बड़ी उम्र को प्राप्त हुआ तू **विदथम् आवदासि**= समन्तात् ज्ञान का प्रचार करनेवाला हो, अपने ज्ञान व अनुभवों से औरों को लाभ पहुँचानेवाला हो।

भावार्थ—हम ऊपर उठें, अवनत न हों। जीवन-शक्ति व बल प्राप्त करें। नीरोग, स्वस्थ इन्द्रियोंवाले शरीर-रथ में जीवन-यात्रा करते हुए जीवन के अन्तिम भाग में ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराड्गायत्री** ॥

मृत्यु की चिन्ता न करना

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥ ७॥

१. हे पुरुष! **ते मनः तत्र मा गात्**=तेरा मन वहाँ=यमलोक में न जाए, अर्थात् तू मृत्यु की चिन्ता से ग्रस्त मत हो। **मा तिरःभूत्**=तेरा मन तिरोहित—विलीन सा—चिन्ता में डूबा हुआ न हो। **मा जीवेभ्यः प्रमदः**=जीवित लोगों के विषय में अपने कर्त्तव्य में तू प्रमादयुक्त न हो। २. **पितॄन् मा अनुगाः**=हर समय चिन्ताकुल हुआ-हुआ तू पितरों के पीछे मत चला जा। **विश्वे देवाः**=सब देव—सूर्य आदि प्राकृतिक देव अथवा इन्द्रियाँ **त्वा**=तुझे **इह**=इस शरीर में **अभि-रक्षन्तु**=सर्वतः रक्षित करें। तू सूर्यादि के सम्पर्क में स्वस्थ इन्द्रियोंवाला होता हुआ दीर्घजीवी बन।

भावार्थ—हम मौत की ही चिन्ता न करते रहें। हमारा मन तिरोहित-सा न बना रहे। हम जीवित लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद न करें। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में स्वस्थ तथा सुरक्षित जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

मृत्युर्वै तमः, प्राणो ज्योतिः

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥ ८॥

१. **मा गतानाम् आदीधीथा**=(दीधी देवने) तू चले गये व्यक्तियों का ही रोना मत रोता रह अथवा उन्हीं का ध्यान मत करता रह, उन गये हुओं का ध्यान न कर, **ये**=जो **परावतं**

नयन्ति=तुझे भी दूर देश में ले-जाते हैं। मरे हुओं को रोता रहेगा तो तू भी मरेगा ही। २. **तमसः**=मृत्यु की चिन्ता के अन्धकार से **ज्योतिः आरोह**=तू प्रकाश में आरोहण कर। **एहि**=तू समन्तात् कर्त्तव्यों में गतिवाला हो। **ते हस्तौ आरभामहे**=हम तेरे हाथों को पकड़ते हैं, तुझे सहारा देकर अन्धकार से ऊपर उठाते हैं। गतमन्त्र में संकेतित 'विश्वेदेवाः'=सब देव हमारे उत्थान में सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम गये हुओं का ही रोना न रोते रहकर मृत्यु के अन्धकार से जीवन की ज्योति में आरोहण करें, कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर हों। सब देव इस उत्थान में हमारे सहायक हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

'श्यामः शबलः च' श्वानौ (यमरूप)

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

१. 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' (कौ० २।९) इस वाक्य के अनुसार 'दिन और रात्रि' ही यम के शबल व श्याम श्वा हैं। हे पुरुष! ये **यौ**=जो **श्यामः च शबलः च**=रात्रि व दिनरूप (श्याम व शबल वर्णवाले) **यमस्य**=सर्वनियन्ता प्रभु के **पथिरक्षी श्वानौ**=मार्गरक्षक श्वा हैं, ये **प्रेषितौ**=भेजे हुए **त्वा**=तुझे **मा**=मत सन्दष्ट करें। दिन व रात्रि हमारे जीवनों को काटते चलते हैं। इसी दृष्टि से इन्हें यमराज के 'श्वा' कहा गया है। २. हे पुरुष! तू इनसे असन्दष्ट हुआ-हुआ **अर्वाङ् एहि**=हमारे सामने आनेवाला बन। **मा विदीध्यः**=गये हुए पुरुषों का विलाप ही मत करता रह। सब प्रकार के रोने-पीटने को छोड़कर अपने कर्त्तव्य-कार्यों को करने के लिए उद्यत हो। **अत्र**=इस जीवन में **पराङ् मनाः**=सुदूर गये हुए मनवाला होकर **मा तिष्ठः**=मत स्थित हो। गये हुए पुरुषों का ही राग न अलापता रह। भटकते हुए मन को स्थिर करके कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर हो।

भावार्थ—दिन-रात्रिरूप यमराज के श्वान ही हमें न काटते रहें। इनसे सन्दष्ट हुए-हुए हम मरे हुओं का राग ही न अलापते रहें। न भटकते हुए मनवाले होकर हम अपने कर्त्तव्यों को करने में तत्पर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परस्तात् भयं, अर्वाक् अभयम्

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥ १० ॥

१. हे पुरुष! **एतं पन्थाम् मा अनुगाः**=इस मार्ग के पीछे मत जा, जिससे कि मृत जाते हैं। **एषः भीमः**=यह गये हुओं का स्मरण करते रहने का मार्ग भंयकर है। मृतों का ही शोक करते रहना ठीक नहीं। इस मार्ग पर जाने के निषेध के द्वारा मैं तुझे **तं ब्रवीमि**=उस मार्ग का उपदेश करता हूँ, **येन पूर्वं न इयथ**=जिससे मृत्युकाल से पूर्व तू नहीं जाता है। मरों का ही शोक करता रहेगा तो समय से पहले जाएगा ही। २. **एतत्**=यह मरे हुओं का ही शोक करते रहना तो **तमः**=अन्धकार है—अज्ञान है। **मा प्रपत्थाः**=इसकी ओर मत जा। **परस्तात्**=परे, अर्थात् इहलोक के कर्त्तव्यों में ध्यान देकर गये हुओं का शोक करते रहने में तो **भयम्**=भय-ही-भय है। **अर्वाक्**=हम सबके सम्मुख आने में ही **अभयम्**=निर्भयता है। कल्याण इसी बात में है कि तू शोक को छोड़कर जीवितों के सम्मुख प्राप्त हो और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर।

भावार्थ—गये हुओं का ही शोक करते रहना और अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद करना भयान्वित

मार्ग है। यह तो हमें समय से पूर्व ही मृत्यु-मुख में ले-जाएगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नयः

रक्षन्तु त्वाऽग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह॥ ११॥

१. **त्वा**=तुझे ये **अग्नयः**=अग्नियाँ **रक्षन्तु**=रक्षित करें, ये **अप्सु अन्तः**=जो प्रजाओं में निवास करती हैं, ये अग्नियाँ 'माता, पिता, आचार्य' रूप हैं। 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी' मातारूप अग्नि तुझे चरित्रवान्, पितारूप अग्नि शिष्टाचार-सम्पन्न तथा गुरुरूप अग्नि ज्ञानदीप्त जीवनवाला बनाये। वह अग्नि भी **त्वा रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, **यम्**=जिसे **मनुष्याः**=मननशील पुरुष **इन्धते**=यज्ञवेदी में दीप्त किया करते हैं। यह अग्निहोत्र में दीप्त अग्नि भी रोगकृमियों के विनाश के द्वारा तेरा रक्षण करे। २. वह **जातवेदाः**=सर्वज्ञ, सर्वव्यापक **वैश्वानरः**=मानवमात्र का हित करनेवाला प्रभु **रक्षतु**=तेरा रक्षण करे। यह **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला सूर्यरूप अग्नि **विद्युता सह**=विद्युत् के साथ **त्वा मा प्रधाक्**=तुझे दग्ध करनेवाला न हो। सूर्य या विद्युत् के कारण किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति तुझपर न आये।

भावार्थ—माता, पिता व आचार्यरूप अग्नियों से हमारा जीवन बड़ा सुन्दर बने। नियम से अग्निहोत्र करते हुए हम रोगकृमियों का विनाश करके सुखी व नीरोग हों। प्रभु हमारे रक्षक हों। प्रभु की ये सूर्य या विद्युद्रूप विभूतियाँ हमारे लिए कल्याणकर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाजगती** ॥

कामाग्नि तथा देवाग्नि से रक्षण

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात्संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥ १२॥

१. हे पुरुष! **क्रव्यात्**=मांस को खा जानेवाला, तुझे अमांस (Emaciated दुर्बल) बना देनेवाला, यह कामाग्नि **त्वा**=तुझे **मा अभिमंस्त**='मेरा यह आहार है' ऐसा अभिमान न करे। तू इस **संकसुकात्**=(कस् to destroy, संकसुक=bad, wicked) नष्ट कर देनेवाली दुरितमय (महापाप्मा) अग्नि से **आरात् चर**=दूर गतिवाला हो। कामाग्नि का तू शिकार न हो जाए। २. यह **द्यौः**=द्युलोक **त्वा रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, **पृथिवी रक्षतु**=पृथिवी तेरा रक्षण करे। **सूर्यः च चन्द्रमाः च**=सूर्य और चन्द्रमा **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। **अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्षलोक भी **देवहेत्याः**=इस विद्युद्रूप देववज्र से **रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, अर्थात् किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति तुझपर न आ पड़े।

भावार्थ—अध्यात्म में हम कामाग्नि का शिकार न हों तथा आधिदैविक जगत् में द्युलोक, पृथिवी-लोक व अन्तरिक्षलोक तथा सूर्य-चन्द्र आदि से आनेवाली आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिग्महाबृहती** ॥

षड् देवाः

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ १३॥

१. **बोधः च प्रतिबोधः च**=बोध और प्रतिबोध **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। वस्तुओं का

ज्ञान 'बोध' कहाता है और प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा का ज्ञान 'प्रतिबोध' शब्द से कहा जाता है। जब हम किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय उसकी रचना व गुणों में विचित्रता देखते हुए हमें प्रभु की महिमा का भी स्मरण होता है। ऐसा होने पर हम उस वस्तु का ठीक ही प्रयोग करते हैं, उसका अयोग व अतियोग न करके ठीक ही योग करनेवाले बनते हैं। यह यथायोग ही हमारा रक्षण करता है। २. **अस्वप्नः च**=न सो जाना **अनवद्राणः च**=और कुटिल गतिवाला न होना—ये भी **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। हम सो न जाएँ, साथ ही गति को कुटिल भी न होने दें। 'सो जाना' तामसी वृत्ति है, 'कुटिलगति' राजसी वृत्ति है। इनसे ऊपर उठकर हम सात्त्विकी वृत्तिवाले बनें। यही वृत्ति हमारा रक्षण करती है। ३. **गोपायन् च**=शरीर का रक्षण करता हुआ यह सात्त्विकभाव **च**=तथा **जागृविः**=जागरित रहना—प्रमादी होकर कर्त्तव्य-कर्मों से विमुख नहीं होना—ये दोनों भाव भी **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। हम जीवन-यात्रा में सदा अपना रक्षण करनेवाले तथा नीरोग बनें, जागते हुए रहें, जिससे कामादि शत्रुओं के शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—'बोध-प्रतिबोध', 'अस्वप्न-अनवद्राण' तथा 'गोपायन् और जागृवि' हमारा रक्षण करें। ये क्रमशः 'प्राणापान, मन, बुद्धि और चक्षुर्द्वय' के अभिमानी देव हैं। ये हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिग्बृहती** ॥

तेभ्यः नमः, तेभ्यः स्वाहा (गोपन व रक्षण)

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥ १४॥

१. मन्त्र १३ में कहे गये **ते**=वे छह देव **त्वा रक्षन्तु**=तेरा रक्षण करें, तुझे वासनाओं का शिकार न होने दें। **ते त्वा गोपायन्तु**=वे तेरा रक्षण करें, तुझे नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त न होने दें। **तेभ्यः**=उन 'बोध-प्रतिबोध'आदि के द्वारा सूचित देवों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। इन देवों का उचित आदर करते हुए हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनें। **तेभ्यः स्वाहा**=उन देवों को अपनाने के लिए हम आत्मत्याग करते हैं (स्व+हा) बिना त्याग के हममें इन देवों का निवास सम्भव नहीं।

भावार्थ—'बोध=प्रतिबोध' आदि देव हमारे 'शरीर व मन' का रक्षण करें। इन देवों को हम आदर दें। 'इन्हें धारण करना' जीवन का लक्ष्य बनाएँ। इनके धारण के लिए स्वार्थ-त्याग करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

वायु-इन्द्र-धाता-सविता-त्रायमाण

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः।
मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि॥ १५॥

१. **त्वा**=तुझे **जीवेभ्यः**=तेरे पोषणीय पुत्र-भार्या-दासादि जीवों के लिए **समुदे**=आनन्द-युक्त जीवन के निमित्त (स+मुदे) **वायुः**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला, **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, **धाता**=सबका धारक, **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक **त्रायमाणः**=रक्षक प्रभु **दधातु**=धारण करे। तू भी 'वायु' बन—गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला बन। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बन, **धाता**=धारण करनेवाला, **सविता**=निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त व **त्रायमाणः**=रक्षक बन। ये बातें ही तेरे जीवन को आनन्दमय बनाएँगी। २. **त्वा**=तुझे **प्राणः**=प्राणशक्ति व **बलम्**=बल **मा हासीत्**=मत छोड़ जाएँ। **ते असुम्**=तेरे प्राण को **अनु ह्वयामसि**=अनुकूलता से पुकारते हैं। तेरे प्राण सचमुच सब दोषों का क्षेपण करते हुए 'असु' इस अन्वर्थ नामवाले हों।

भावार्थ—हम 'वायु, इन्द्र, धाता, सविता व त्रायमाण' प्रभु का उपासन करते हुए 'क्रियाशील,

जितेन्द्रिय, धारक, निर्माण–कार्यों में प्रवृत्त व रक्षक बनें। प्राण व बल हमें न छोड़ जाएँ। हमारे प्राण सब दोषों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—प्रस्तारपंक्तिः ॥

'जम्भ, संहनु, तमस्, जिह्वा व बर्हि' का शिकार न होना

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः।
उत्त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥ १६॥

१. **मा**=मत **त्वा**=तुझे **जम्भः**=(जम्भनं Sexual intercourse) काम–विलास **विदत्**=प्राप्त करे। तू कामोपभोग में न फँस जाए, **संहनुः**=क्रोध में दाँतों का कटकटाना (Clashing) भी मत प्राप्त हो— तू एकदम क्रोध में आपा न खो बैठे। **मा तमः**=(विदत्)=अज्ञानान्धकार भी तुझे प्राप्त न हो। **मा जिह्वा**=जिह्वा तुझे प्राप्त न करे, अर्थात् तू बहुत खाने की वृत्तिवाला न बन जाए। **बर्हिः** (बर्ह् to speak)=तू बहुत बोलनेवाला न हो जाए। ऐसा होने पर **प्रमयुः कथा स्याः**=(प्रगतहिंसः) हिंसा को प्राप्त न होनेवाला तू कैसे हो सकता है? 'काम, क्रोध, अज्ञान, अतिभक्षण व अतिभाषण' की वृत्तियाँ ही विनाश का कारण बनती हैं। २. **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले और **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले पुरुष (माता, पिता व आचार्य) **उद् भरन्तु**=जम्भ आदि से ऊपर उठानेवाले हों—तुझे इनका शिकार न होने दें। **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि—जितेन्द्रियता तथा आगे बढ़ने की भावना तुझे **उत्**=कामादि का शिकार होने से बचाएँ, तेरा उद्धार करें। इसप्रकार ये सब **स्वस्तये**=तेरे कल्याण के लिए हों।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, अन्धकार (अज्ञान), अतिभुक्ति तथा अतिवोक्ति (बहुत बोलने)' के शिकार न हों। हमें ज्ञानी व हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले माता, पिता, आचार्य काम–क्रोध आदि की वृतियों से ऊपर उठाएँ। हम जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम अपना कल्याण सिद्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

द्यौः—पृथिवी

उत्त्वा द्यौरुत्पृथिव्युत्प्रजापतिरग्रभीत्। उत्त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥ १७॥

१. हे पुरुष! **त्वा**=तुझे **द्यौः**=द्युलोक **उत् अग्रभीत्**=मृत्यु से ऊपर उठाए। द्युलोकस्थ सूर्य रोगकृमि–विनाशक किरणों के द्वारा तुझे नीरोगता प्रदान करे। **पृथिवी उत्**=यह पृथिवी तुझे मृत्यु से ऊपर उठाए। **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु **उत्**=तुझे मृत्यु से ऊपर उठाए। यह पृथिवी माता तुझे शरीर–धारण के लिए आवश्यक भोजन दे तथा प्रभु का स्मरण तुझे उन भोगों के अति प्रयोग से बचानेवाला हो। २. ये पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **त्वा**=तुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **उत् अपीपरन्**=ऊपर उठाकर पालन करनेवाली हों। ये ओषधियाँ **सोमराज्ञीः**=(सोमस्य पत्न्यः) सोम की पत्नियाँ हैं—सोम इनका रक्षक है। शरीर में इनके द्वारा उत्पन्न होनेवाला सोम शरीर को दीप्त करनेवाला है (राजृ दीप्तौ)।

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्य व पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले भोज्य पदार्थ हमें मृत्यु से बचाएँ। पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ओषधियों से बननेवाले सोम–कण हमारे जीवन को दीप्त बनाएं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दीर्घजीवन के दो सूत्र

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः। इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि॥ १८॥

१. हे **देवाः**=सूर्यादि देवो! **अयम्**=यह पुरुष **इह एव अस्तु**=यहाँ—इस शरीर में ही हो, **इतः**=यहाँ से वह **अमुत्र मा गात्**=परलोक में मत चला जाए। देवों की अनुकूलता में इसका स्वास्थ्य ठीक बना रहे। २. **इमम्**=इसे **सहस्रवीर्येण** (सहस्र सहस्वत्—नि०)=रोगों का मर्षण करनेवाले वीर्य के द्वारा—शरीर में ही वीर्यरक्षण के द्वारा **मृत्योः उत् पारयामसि**=मृत्यु से पार ले-चलते हैं। शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगकृमि-विनाश के द्वारा दीर्घजीवन का साधन बनता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के दो सूत्र हैं—(क) सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताना और (ख) शरीर में वीर्यशक्ति का रक्षण करना।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अकालमृत्यु पर रोदन

उत्त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन्॥ १९॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **त्वा**=तुझे **मृत्योः उत् अपीपरम्**=मृत्यु से ऊपर उठाता हूँ, उचित उपायों के द्वारा तुझे मृत्यु से बचाता हूँ। **वयोधसः**=उत्तम अन्न व आयुष्य को धारण करनेवाले देव **सं धमन्तु**=(धयतिर्गतिकर्मा—नि० २।१४) तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को ठीक से संगत करें। २. असमय में मृत्यु के कारण **व्यस्तकेश्यः**=बिखरे हुए बालोंवाली बन्धु-योषाएँ (स्त्रियाँ) **त्वा मा रुदन्**=तेरा रोना न रोएँ तथा **अघरुदः**=मृत्युरूप व्यसन के कारण रोनेवाले ये बान्धव **त्वा मा** (रुदन्)=तेरी मृत्यु पर रोनेवाले न बनें। असमय की मृत्यु रोदन का कारण बनती ही है।

भावार्थ—हम अकाल मृत्यु से न मरें, जिससे बन्धु-बान्धवों को हमारी मृत्यु पर रोना-धोना न पड़े।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुनः नवः

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥ २०॥

१. हे मृत्युग्रस्त पुरुष! **आहार्षं त्वा**=मैं तुझे मृत्यु के मुख से बाहर ले-आया हूँ। मृत्युमुख से ऊपर उठाकर मैंने **अविदम्**=तुझे पाया है। **पुनः आगाः**=तू पुनः हमारे बीच में आ गया है। **पुनः नवः**=तू फिर नवीन हो उठा है—तूने नवजीवन पाया है। २. हे **सर्वाङ्ग**=सब स्वस्थ अङ्गोंवाले पुरुष! **ते सर्वं चक्षुः**=तेरी पूर्ण स्वस्थ चक्षु को—पूर्ण स्वस्थ इन्द्रियों को **च**=तथा **सर्वं आयुः अविदम्**=शतसवंत्सरलक्षण-पूर्ण जीवन को मैंने पाया है।

भावार्थ—हम रोगों से ऊपर उठकर पूर्ण स्वस्थ इन्द्रियोंवाले व पूर्ण शतसंवत्सरमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'निर्ऋति, यक्ष्म व मृत्यु' का निराकरण

व्यवात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥ २१॥

१. हे संज्ञाविहीन पुरुष! **ते**=तेरे लिए **वि अवात्**=यह विशिष्ट वायु का प्रवाह बहा है। तेरी मूर्च्छा दूर हो गई है और **ज्योतिः अभूत्**=प्रकाश-ही-प्रकाश हो गया है। **त्वम्**=तुझसे **तमः अप अक्रमीत्**=अन्धकार सुदूर चला गया है। २. **त्वत्**=तुझसे **मृत्युम्**=मृत्यु को तथा **निर्ऋतिम्**=मृत्यु

की कारणभूत दुर्गति को **अप निदध्मसि**=दूर स्थापित करते हैं। मृत्यु के निवारण के लिए ही **यक्ष्मम्**=सब रोगों को **अप** (निदध्मसि)=दूर स्थापित करते हैं।

भावार्थ—दुराचार में फँसने पर रोगों से आक्रान्त होकर मनुष्य मृत्यु का शिकार हो जाता है, अतः हम दुराचार व रोगों को दूर करके मृत्यु को दूर करते हैं।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

अमृत की श्नुष्टि

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।

असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः॥ १॥

१. **इमाम्**=इस **अमृतस्य श्नुष्टिम्**=(यज्ञशेषम् अमृतम्) यज्ञशेषरूप अमृत भोजन को **आरभस्व**= प्रारम्भ कर ('श्नुसु अदने'—जयदेव)—यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बन। इस यज्ञशेष के सेवन से **ते**=तेरे लिए **अच्छिद्यमाना**=किन्हीं भी रोगादि से विच्छिन्न न की जाती हुई **जरदष्टिः अस्तु**=जरावस्था की प्राप्ति (अश् व्याप्तौ) हो—तू पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाला बन। २. **ते**=तुझे **असुम्**=प्राण को तथा **आयुः**=दीर्घजीवन को **पुनः आभरामि**=फिर से प्राप्त कराता हूँ। तू **रजः तमः**=रजोगुण व तमोगुण को **मा उपगाः**=समीपता से मत प्राप्त हो। तेरा झुकाव राजस् व तामस् न होकर सात्त्विक हो। 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से जहाँ तू ऊपर उठे, वहाँ प्रतिक्षण की अशान्ति व तृष्णा से भी दूर हो। इसप्रकार तू **मा प्रमेष्ठाः**=हिंसा को मत प्राप्त हो।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करते हुए दीर्घजीवी बनें। राजस् व तामस् वृत्तियों से ऊपर उठकर हम हिंसित न हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

मृत्युपाश-अवमोचन

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।

अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सात्त्विक वृत्तिवाला बनने पर तू **जीवतां ज्योतिः अभि एहि**=जीवित पुरुषों की ज्योति को आभिमुख्येन प्राप्त हो। **अर्वाङ् त्वा आहरामि**=(within) तुझे अन्दर की ओर प्राप्त कराता हूँ। जीवन-नदी के इस किनारे—न कि परले किनारे तुझे प्राप्त कराता हूँ। इससे तू **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाला हो। २. **मृत्युपाशान्**=तू मृत्यु के पाशों को ज्वर, शिरोरोग आदि नानाविध मृत्यु-जालों तथा **अशस्तिम्**=प्रत्येक निन्दित (अप्रशस्त) अवगुण को **अवमुञ्चन्**=छोड़नेवाला हो। **ते**=तेरे लिए **द्राघीयः**=अतिशयेन दीर्घ **प्रतरम्**=प्रकृष्टतर **आयुः**=जीवन को **दधामि**=स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—हम सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर जीवन-शक्तियुक्त ज्योति को प्राप्त करें, जीवन के परले किनारे न पहुँच जाएँ। रोगादि मृत्युपाशों को परे फेंकते हुए प्रकृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—आस्तारपंक्तिः ॥

'शुद्धवायु व सूर्यकिरणों' का सेवन

वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।

यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ ३॥

१. मैं **वातात्**=वायु से **ते प्राणम् अविदम्**=तुझे प्राणशक्ति प्राप्त कराता हूँ। **अहम्**=मैं

सूर्यात्=सूर्य से **तव चक्षुः**=तुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त कराता हूँ। वायु व सूर्य के सेवन से तू प्राणशक्ति-सम्पन्न व दृष्टिशक्ति-सम्पन्न बन। **यत्ते मनः**=जो तेरा मन है **तत्**=उसे **त्वयि धारयामि**=तुझमें धारण करता हूँ, तेरा मन सदा भटकता ही न रहे। **अङ्गैः संविदस्व**=तू अङ्गों से सम्यक् युक्त हो (विद् लाभे) **जिह्वया**=जिह्वा से **आलपन्**=उच्चारण करता हुआ **वद**=सम्यक्तया वाणी को प्रेरित कर। तेरे बोलने से तेरी जीवन-शक्ति प्रकट हो।

भावार्थ—शुद्ध-वायु का सेवन व सूर्यकिरणों का सम्पर्क प्राणशक्ति को तथा इन्द्रियों के स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं। मन की स्थिरता भी दीर्घजीवन का साधन बनती है। स्वस्थ पुरुष के भाषण में जीवन-शक्ति प्रकट होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

इन्द्रियों व प्राणों को दीप्त बनाना

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इव**=जैसे (जातम्) **अग्निम्**=उत्पन्न अग्नि को फूँक आदि द्वारा दीप्त करते हैं, उसी प्रकार **द्विपदाम्**=दोपाये व **चतुष्पदाम्**=चौपाये पशुओं में **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए तुझे **प्राणेन अभिसंधमामि**=प्राणशक्ति द्वारा संधमात करता हूँ—दीप्त करता हूँ। २. जीव उत्तर देता हुआ कहता है कि हे **मृत्यो**=अन्ततः सबका प्राणान्त करनेवाले प्रभो! **ते चक्षुषे नमः**=आपसे दी गई इन चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं। **ते प्राणाय नमः अकरम्**=आपसे दिये गये इन प्राणों के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं। हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आपसे दी गई इन चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा आपसे दिये गये इन प्राणों को हम ठीक रक्खें—इनकी शक्ति में क्षीणता न आने दें।

भावार्थ—प्रभु प्रत्येक प्राणी को प्राणों द्वारा दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। हमारा मूल कर्त्तव्य यही है कि हम प्रभु-प्रदत्त इन्द्रियों व प्राणों को स्वस्थ रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोग का प्रारम्भ में ही प्रतीकार

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि। कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥ ५॥

अयं जीवतु=यह रुग्ण पुरुष जीये, **मा मृत**=मरे नहीं। हम **इमं समीरयामसि**=इसे प्राणशक्ति से प्रेरित करते हैं। प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर यह सब चेष्टाएँ ठीक प्रकार से करे, ऐसी व्यवस्था करते हैं। **अस्मै भेषजं कृणोमि**=इसके लिए औषध करता हूँ। हे **मृत्यो**=मृत्यु! तू **पुरुषं मा वधीः**=इस पुरुष को मत मार। 'वस्तुतः' रोग को आरम्भ में ही औषधोपचार से दूर कर दिया जाए' तभी ठीक है।

भावार्थ—रोग को आरम्भ में ही औषधोपचार से ठीक कर दिया जाए तो उत्तम है, जिससे रोगवृद्धि होकर मृत्यु का भय न रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पथ्यापंक्तिः** ॥

जीवन्ती ('पाठा' ओषधि)

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥ ६॥

१. **जीवलाम्**=जीवन-शक्ति देनेवाली, **नघारिषाम्**=(न घा रिषाम्) निश्चय से हिंसित न

करनेवाली **जीवन्तीम्**=(कदाचित् अपि अशुष्काम्) स्वयं सदा हरी-भरी, जीवित रहनेवाली-सजीवा **ओषधीम्**=ओषधि को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए मैं **हुवे**=पुकारता हूँ। २. इस **त्रायमाणाम्**=रक्षा करनेवाली—सेवन करनेवालों का रोगपरिहार द्वारा रक्षण करनेवाली **सहमानाम्**=रोगों का अभिभव करनेवाली, **सहस्वतीम्**=बलवाली इस 'पाठा व सहदेवी' नामक ओषधि को **इह**=यहाँ रोग-विनाशरूप कर्म में **अरिष्टतातये**=अहिंसन के लिए (स्वार्थे ताति प्रत्ययः) हम पुकारते हैं।

भावार्थ—यह जीवन्ती (पाठा, सहदेवी) नामक ओषधि हमें मृत्यु से ऊपर उठाकर जीवन देनेवाली बनती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

भवाशर्वौ

अधि ब्रूहि मा रभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥ ७ ॥

१. उत्तर मन्त्र का 'मृत्यो' यह सम्बोधन यहाँ भी सम्बद्ध होता है। हे मृत्यो! **अधिब्रूहि**=तू इसके लिए आधिक्येन उपदेश देनेवाला हो। तेरा स्मरण इसे उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराए। **मा रभथाः**=तू इसका आलिङ्गन मत कर (रभ् to clasp, embrace) **सृज इमम्**=इसे तू छोड़ ही दे अथवा तू इसका उत्तम निर्माण कर। **तव एव सन्**=तेरा ही होता हुआ यह—सदा तेरा चिन्तन (न कि चिन्ता) करता हुआ यह **इह**=यहाँ—इस जीवन में **सर्वहायाः अस्तु**=(ओहाङ् गतौ) पूर्ण वर्षों तक चलनेवाला हो। यह शतवर्ष के जीवनवाला हो। २. **भवाशर्वौ**=भव और शर्व—उत्पत्ति तथा प्रलय के देव—दोनों ही **मृडतम्**=इसपर अनुग्रह करें। यह उत्पत्ति और मृत्यु का विचार करता हुआ जीवन में मार्ग से न भटके और इसप्रकार सुखी जीवनवाला हो। **शर्म यच्छतम्**=ये भव और शर्व इसे सुख दें और **दुरितम्**=दुराचरण को **अपसिध्य**=दूर करके **आयुः धत्तम्**=इसे दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—मृत्यु का चिन्तन हमें सत् प्रेरणा देनेवाला हो। इसप्रकार हम सन्मार्ग पर चलते हुए असमय में ही मृत्यु का शिकार न हो जाएँ। उत्पत्ति और प्रलय का चिन्तन हमें दुरितों से दूर करके सन्मार्ग में प्रेरित करे और पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिष्मतीजगती** ॥

आत्मना भुजम् अश्नुताम्

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ऽयमेतु।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यु के अधिष्ठातृदेव! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अधिब्रूहि**=तू आधिक्येन उपदेश देनेवाला हो। **इमं दयस्व**=इसे तू सुरक्षित कर। **अयं इतः उत् एतु**=यह मृत्यु के कारणभूत रोगादि से उद्गत हो—यह रोगाक्रान्त न हो जाए। २. **अरिष्टः**=रोगों से अहिंसित होता हुआ यह **सर्वाङ्गः**=चक्षु आदि सब अङ्गों से युक्त हुआ-हुआ **सुश्रुत्**=उत्तम श्रवणशक्तिवाला, **जरसा शतहायनः**=वृद्ध अवस्था से पूरे सौ वर्ष तक चलनेवाला **आत्मना भुजम् अश्नुताम्**=अनन्यापेक्ष होता हुआ, स्वयं अपनी शक्ति से ही सब भोगों को भोगनेवाला हो।

भावार्थ—मृत्यु के स्मरण से हम सन्मार्ग पर चलें, रोगादि से आक्रान्त न हों, पूरे सौ वर्ष तक चलते हुए भी हम पराश्रित न हों, दूसरों के सहारे जीनेवाले न हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—पञ्चपदाजगती ॥

परिधि

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत्त्वा मृत्योरपीपरम्।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि॥ ९॥

१. **देवानां हेतिः**=देवों का अस्त्र **त्वा परिवृणक्तु**=तुझे दूर से छोड़ जाए—तेरी हिंसा करनेवाला न हो। मैं **त्वा**=तुझे **रजसः पारयामि**=रजोगुण से पार करता हूँ। तृष्णा से ऊपर उठा हुआ तू पाप-मार्ग की ओर नहीं जाता **उत्**=और **त्वा**=तुझे **मृत्योः अपीपरम्**=मृत्यु से भी पार करता हूँ, बचाता हूँ। पाप ही तो मृत्यु का कारण बनता है। २. मैं **क्रव्यादं अग्निम्**=कच्चा मांस खा जानेवाले कामाग्नि को **आरात् निरूहम्**= सुदूर प्राप्त कराता हूँ—तुझसे बहुत दूर फेंकता हूँ। **ते जीवातवे**=तेरे जीवन के लिए **परिधिं दधामि**=प्राकार की स्थापना करता हूँ—मर्यादा की स्थापना करता हूँ। मर्यादा ही वह प्राकार है जो हमें मृत्यु से बचाता है।

भावार्थ—हमें सूर्यादि देवों की अनुकूलता प्राप्त हो तथा हम राजस् वृत्तियों से ऊपर उठकर नीरोग जीवनवाले हों, हम कामाग्नि से न जलाये जाएँ, दीर्घजीवन के लिए मर्यादारूप प्राकार के द्वारा हम जीवन को सुरक्षित करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'ब्रह्म' वर्म

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्य म्।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥ १०॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यु के देव! **यत्**=जो **ते**=तेरा **नियानम्**=(नियान्ति अत्र) मार्ग है, वह **रजसम्**=राजस्—रजोगुण की वृत्तियों से बना हुआ है। 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध'—ये सब रजोगुण की वृत्तियाँ मृत्यु की ओर ले-जानेवाली हैं। **अनवधर्ष्यम्**=इस मृत्यु के मार्ग का किसी से भी धर्षण नहीं किया जा सकता। २. **इमम्**=इस व्यक्ति को **तस्मात् पथः**=उस मार्ग से **रक्षन्तः**=रक्षित करते हुए हम **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **ब्रह्म वर्म कृण्मसि**=ज्ञानरूप कवच देते हैं। इस कवच को धारण कर लेने पर यह राजस् वृत्तियों के—ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध के आक्रमण से बचा रहता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के कवच को धारण करके ईर्ष्या-द्वेष व क्रोध के आक्रमण से बचे रहें और दीर्घजीवी बन पाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—विष्टारपंक्तिः ॥

जरामृत्युम्, दीर्घम् आयुः, स्वस्ति

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥ ११॥

१. हे पुरुष! **ते**=तेरे लिए **प्राणापानौ**=इस प्राण और अपान को **कृणोमि**=करता हूँ। प्राणापान को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ। इस प्राणापान के द्वारा तेरी **जरां मृत्युम्**=जीर्णता व मृत्यु को भी (कृणोमि=to kill) नष्ट करता हूँ। तेरे लिये **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन हो और **स्वस्ति**=कल्याण हो। २. **वैवस्वतेन**= विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र इस काल से **प्रहितान्**=भेजे हुए **चरतः**=गति करते हुए 'दिन-रात्रि, मास व ऋतु' रूप कालविभागात्मक **सर्वान् यमदूतान्**=यम (मृत्यु के देवता) के सब दूतों को **अपसेधामि**= आयुष्य-खण्डनरूप कार्य से दूर करता हूँ। ये दिन व रात तुझे जीर्ण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम जीर्णता व मृत्यु से ऊपर उठकर दीर्घजीवन व कल्याण प्राप्त करें। निरन्तर चलते हुए ये दिन-रात आदि कालविभाग हमें जीर्ण करनेवाले न हों। प्राणसाधना द्वारा हमारी शक्तियों का विकास ही हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

यमदूत

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तमइवाप हन्मसि॥ १२॥

१. हम **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को—कृपणता को **आरात् अपहन्मसि**=अपने से दूर विनष्ट करते हैं। अदान की वृत्ति हमें भोगप्रवण बनाती है। यह भोगप्रवणता मृत्यु की ओर ले-जाती है। **निर्ऋतिम्**=**'यत्रैतत् कुलं कलही भवति तन्निर्ऋतिगृहीतमित्याचक्षते'** (कौ० सू० ९७।१) जिस कुल में कलह होता है, उस कुल को निर्ऋति ग्रहीत कहते हैं। अविद्यामय कलहप्रवृत्ति को दूर करते हैं। घर में हर समय का कलह विनाश का कारण बनता ही है। **ग्राहिम्**=ग्रहणशीला लोभवृत्ति को भी अपने से **परः** (अपहन्मसि)=दूर भगाते हैं। लोभवृत्ति में मनुष्य धन को लेता और लेता ही चला जाता है। धन ही उसके जीवन का उद्देश्य बन जाता है। यही अन्ततः उसके निधन का कारण बनता है। **क्रव्यादः**=मांस को खा-जानेवाली **पिशाचान्**=पैशाचिक (राक्षसी) कामवृत्तियों को भी दूर करते हैं। ये कामवृत्तियाँ हमें क्षीण करके (Emaciated) विनष्ट कर डालती हैं। २. **यत्**=जो **दुर्भूतम्**=दुष्ट स्थिति को प्राप्त होनेवाला (दुष्टत्वम् आपन्नम्) राक्षसीभाव है, **तत् सर्वम्**=उन सब दुष्ट **रक्षः**=राक्षसीभावों को **तमः इव**=(अपहन्मसि)=इसप्रकार दूर करते हैं, जैसेकि प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दूर किया जाता है।

भावार्थ—'न देने की वृत्ति (अदानशीलता), परस्पर कलह (निर्ऋति), लोभ (ग्राही), कामवृत्तियाँ (क्रव्यादः पिशाचान्) तथा सब राक्षसीभाव'—ये ही यमदूत हैं। इन्हें अपने से दूर रखना ही ठीक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अमृत सजूः असः

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥ १३॥

१. पुरोहित यजमान से कहता है कि हे पुरुष! मैं **ते**=तेरे लिए **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु से **प्राणं वन्वे**=प्राणशक्ति की याचना करता हूँ। उन प्रभु से जो **अमृतात्**=अमृत हैं, जिनकी उपासना में मृत्यु है ही नहीं, **आयुष्मतः**=जो प्रशस्त आयुष्य को प्राप्त करानेवाले हैं, **जातवेदसः**=जो सर्वज्ञ हैं। २. मैं **ते**=तेरे लिए **तत् कृणोमि**=उन कर्त्तव्य-कर्मों को—प्राणसाधनादि नित्य कर्मों को उपदिष्ट करता हूँ, **यथा न रिष्याः**=जिससे तू हिंसित न हो—रोगादि तुझपर आक्रमण न कर पाएँ। **अ-मृतः**=तेरा जीवन नीरोग हो। **सजूः असः**=तू उस परमात्मा के साथ होनेवाला हो, तू प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाला हो, **उ**=और **ते**=तेरे लिए **तत्**=ये सब कर्म **समृध्यताम्**=समृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—हम प्राणसाधनों द्वारा नीरोग दीर्घजीवन प्राप्त करें। रोगादि से हिंसित न होते हुए 'अमृत' हों, असमय में ही मृत्यु का शिकार न हो जाएँ। प्रभु की उपासना में चलते हुए हम समृद्ध जीवनवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—त्र्यवसानाषट्पदाजगती ॥

सब देवों की अनुकूलता

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

१. **ते**=तेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शिवे**=कल्याकारी, **असन्तापे**=सन्ताप को दूर करनेवाले व **अभिश्रियौ**=तुझे मस्तिष्क व शरीर में भी श्री प्राप्त करानेवाले **स्ताम्**=हों। **सूर्यः**=सूर्य भी **ते**=तेरे लिए **शं आतपतु**=शान्तिकर होकर तपे। **वातः**=वायु भी ते **हृदे**=तेरे हृदय के लिए **शं वातु**=शान्तिकर होकर बहे। २. **त्वा**=तेरे प्रति **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले **पयस्वतीः**=प्रशस्त आप्यायन शक्तियों से युक्त **आपः**=जल **शिवाः अभिक्षरन्तु**=कल्याणकर होकर क्षरित हों—बहें।

भावार्थ—सब बाह्य जगत् हमारे लिए अनुकूलतावाला हो, जिससे हम स्वस्थ रहते हुए निरन्तर आगे बढ़ पाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—पथ्यापंक्तिः ॥

व्रीहि, पर्वतभूमि व सूर्यचन्द्र का सम्पर्क

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥ १५ ॥

हे कुमार! **ते**=तेरे लिए **ओषधयः**=आहारार्थ उपयुज्यमान व्रीहि आदि ओषधियाँ **शिवाः सन्तु**=कल्याणकर हों। मैं **त्वा**=तुझे **अधरस्याः**=नीची व हीन गुणवाली पृथिवी से **उत्तरां पृथिवीम् अभि**=उत्कृष्ट गुणवाली, ऊँची व स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वतभूमि में **उत् अहार्षम्**=ऊपर ले-आता हूँ। **तत्र**=वहाँ **त्वा**=तुझे **उभा**=दोनों **आदित्यौ**=(अदितेः पुत्रौ) स्वास्थ्य को पवित्र (पु) व रक्षित करनेवाले (त्र) **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चन्द्रमा **रक्षताम्**=रक्षित करें।

भावार्थ—नीरोगता व दीर्घजीवन के तीन साधन हैं—(क) व्रीहि (चावल) आदि ओषधियों का सेवन, (ख) ऊँचे स्थल (पर्वत) पर निवास, (ग) सूर्य व चन्द्र के प्रकाश में रहना, खुले में रहना।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अद्रूक्ष्ण 'वस्त्र'

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥ १६ ॥

१. हे बालक! **यत् ते वासः परिधानम्**=जो तेरा उपरि आच्छादनीय वस्त्र है—उपरले शरीर में पहनने योग्य है, **याम्**=जिसे **त्वम्**=तू **नीविं कृणुषे**=नाभिदेश से सम्बद्ध वस्त्र बनाता है, अर्थात् जो तेरा मध्यदेशाच्छादन वस्त्र है, **तत्**=उन दोनों प्रकार के वस्त्र को **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शिवे कृण्मः**=सुखकर करते हैं। वह वस्त्र **संस्पर्शे**=स्पर्श के विषय में **ते**=तेरे लिए **अद्रूक्ष्णम्**=रूखा न हो—मार्दव लिये हुए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—उपरिवस्त्र व अधोवस्त्र हमारे लिए कल्याणकर हों। वे कठोर स्पर्शवाले न हों। वस्त्र स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से धारण किये जाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—त्रिपादनुष्टुप् ॥

केशवपन

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

हे संस्कारक पुरुष! **यत्**=जब **वप्ता**=केशों का छेत्ता नापित होता हुआ तू **मर्चयता**=अपना व्यापार करनेवाले **सुतेजसा**=सम्यक् तीक्ष्णता से युक्त **क्षुरेण**=उस्तरे से **केशश्मश्रु**=सिर के व दाढ़ी-मूछों के बालों को **वपसि**=काट डालता है, तब **मुखं शुभम्**=मुख को शुभ बना दे और **नः**=हमारी **आयुः**=आयु को **मा प्रमोषीः**=नष्ट करनेवाला न हो।

भावार्थ—हे लोगो! तुम तीक्ष्ण, स्वच्छ धारवाले उस्तरे से बाल बनवाओ। सिर के व मुख के बाल बनवाकर सुन्दर मुखवाले होओ। नाई की असावधानी तुम्हारे आयुष्य की कमी का कारण न बने।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

व्रीहि-यवौ

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

१. हे अन्न का ग्रहण करनेवाले पुरुष! **ते**=तेरे लिए अन्नत्वेन कल्पित **व्रीहियवौ**=चावल और जौ **शिवौ स्ताम्**=सुखकर हों, **अ-बल असौ**=शरीर-बल को परे फेंकनेवाले न हों (अस् क्षेपणे), अर्थात् बल की वृद्धि करनेवाले हों अथवा **'अ-बलासौ'**=कष्टकर न हों। **अदोमधौ**=(अद् मधु) खाने में सुखकारी व मधुर प्रतीत हों। २. **एतौ**=ये दोनों **यक्ष्मम्**=शरीरगत रोग को **वि बाधेते**=विशेषरूप से पीड़ित करते हैं। **एतौ**=ये व्रीहि और यव **अंहसः मुञ्चतः**=मानस व शारीर-पापों व पीड़ाओं से छुड़ाते हैं।

भावार्थ—व्रीहि और यव का प्रयोग हमारे दोषों को दूर करके शरीर में बल के आधान द्वारा हमें नीरोगता प्रदान कर कष्टमुक्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती ॥

कृष्याः धान्यं, पयः

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

यत्=जो तू **कृष्याः धान्यं अश्नासि**=कृषि के द्वारा उत्पन्न धान्य खाता है और **यत् पयः पिबसि**=जो दूध व जल पीता है, **यत्**=जो अन्न **आद्यम्**=सुखेन भक्षणीय है, **यत्**=और जो **अनाद्यम्**=न खाने योग्य अति कठिन द्रव्य है अथवा अत्यन्त कटु व तिक्त होने से अनाद्य है, उस **ते**=तेरे **सर्वम्**=सब **अन्नम्**=अन्न को **अविषं कृणोमि**=निर्विष—अमृत करता हूँ।

भावार्थ—हम कृषि से उत्पन्न—भूमिमाता से दिये गये अन्न को खाएँ, दूध ही पीएँ। जो कोमल व कठोर पदार्थ हम खाएँ वे विषैले प्रभाव उत्पन्न न करके हमें नीरोग बनानेवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अरायेभ्यः जिघत्सुभ्यः

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि। अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

१. हे कुमार! **त्वा**=तुझे **अह्ने**=दिन के लिए, **रात्रये च**=और रात्रि के लिए **उभाभ्याम्**=इन

दोनों दिन व रात के लिए **परिदद्मसि**=रक्षा के लिए देते हैं। दिन व रात में तेरा जीवन सदा सुरक्षित हो। २. **अरायेभ्यः**=अधनों (निर्धनों) से व धन के अपहर्ता डाकूओं से तथा **जिघत्सुभ्यः**=खाने की इच्छावाले भक्षक **रक्षः**=पिशाचादि से **मे इमं परिरक्षत**=मेरे इस बालक का तुम परिरक्षण करो अथवा हिंसक पशुओं से इसका परिरक्षण करो।

भावार्थ—हमारे कुमार दिन व रात में सुरक्षित जीवन बिता सकें। मार्गों में इन्हें लुटेरों व हिंसक पशुओं से किसी प्रकार का भय न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**सतःपंक्तिः** ॥

शतं, अयुतं, द्वे युगे (कृण्मः)

शतं तेऽ युतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥ २१॥

१. हे युवक! **ते शतं हायनान् कृण्मः**=तेरे जीवन को सौ वर्षों का बनाते हैं। इन वर्षों को **अ=युतं (कृण्मः)**=अपृथक् रूप से करते हैं, अर्थात् तुम इन वर्षों में परस्पर एक-दूसरे से पृथक् न होओ। इसप्रकार पति-पत्नी का एक युग (जोड़ा) बनता है। अब सन्तानों के होने पर **द्वे युगे**=लड़की-लड़के का दूसरा युग होता है। हम तेरे इस दूसरे युग को करते हैं। इसीप्रकार **त्रीणि**=तीन व **चत्वारि**=चार युगों को करते हैं। पुत्र-पौत्रादि के द्वारा अनेक युगलों को करते हैं। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **विश्वेदेवाः**=सब देव **अहृणीयमानाः**=किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **अनुमन्यन्ताम्**=तेरे दीर्घजीवन, पत्नी से अवियुक्त जीवन तथा सन्तान-युगलों से सम्पन्न जीवन को अनुमत करें, अर्थात् तू 'इन्द्र'—जितेन्द्रिय बनता हुआ, 'अग्नि'—आगे बढ़ने की भावनावाला होता हुआ तथा **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता हुआ इस दीर्घ व सन्तति-समृद्ध जीवनवाला बन।

भावार्थ—प्रभु कहते हैं कि हम तेरे लिए 'सौ वर्ष का साथी से अवियुक्त, सन्तति से सम्पन्न जीवन देते हैं। तू जितेन्द्रिय, प्रगति की भावनावाला व दिव्यगुण सम्पन्न' बनकर उल्लिखित जीवन को प्राप्त कर।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

ऋतुओं की अनुकूलता

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः॥ २२॥

१. हे बालक! हम **त्वा**=तुझे **शरदे**=शरद ऋतु के लिए, इसी प्रकार **हेमन्ताय**=हेमन्त के लिए, **वसन्ताय**=वसन्त के लिए तथा **ग्रीष्माय**=ग्रीष्म के लिए **परिदद्मसि**=देते हैं—सौंपते हैं। ये सब ऋतुएँ तेरे जीवन का रक्षण करनेवाली हों। २. **वर्षाणि**=वर्षाऋतु के दिन भी **तुभ्यं स्योनानि**—तेरे लिए सुखकर हों। वे वर्षा ऋतु के दिन, **येषु**=जिनमें कि **ओषधीः वर्धन्ते**=ओषधियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। वे वृष्टि के दिन अपनी बढ़ी हुई ओषधियों से तेरे लिए सुखकर हों।

भावार्थ—हमें सब ऋतुओं की अनुकूलता प्राप्त हो, जिससे हम स्वस्थ 'शरीर, मन व बुद्धि'-वाले बने रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणीरूप गौओं का मृत्युरूप गोपाल

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥ २३॥

१. **द्विपदाम्**=दो पाँववाले मनुष्य, पक्षी आदि का **मृत्युः ईशे**=सर्वप्राणिसंहर्ता देव ईश है तथा **चतुष्पदां मृत्युः ईशे**=चार पाँववाले गौ, अश्व आदि पशुओं का भी मृत्यु ईश है। कोई भी प्राणधारी मृत्यु का अतिक्रमण नहीं कर सकता। २. **तस्मात्**=उस **गोपतेः**=प्राणीरूप गौओं के गोपालरूप **मृत्योः**=मृत्यु से **त्वा उद् भरामि**=तेरा उद्धार करता हूँ। **सः मा बिभेः**=वह तू भयभीत न हो। मृत्यु-भय ही वस्तुतः असमय की मृत्यु का कारण बन जाता है।

भावार्थ—मृत्यु सब प्राणियों का ईश है। प्राणी गौएँ हैं तो यह मृत्यु 'गोपति' है। मृत्यु का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मृत्यु, न अधमं तमः

सो ऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः॥ २४॥

१. हे **अरिष्ट**=रोगादि से की जानेवाली हिंसा से रहित पुरुष! **सः**=वह तू **न मरिष्यसि**=मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा, **न मरिष्यसि**=निश्चय ही तू मरने नहीं लगा, इसलिए **मा बिभेः**=डर मत। २. **तत्र**=वहाँ जहाँ कि 'ब्रह्म' को परिधि (रक्षक) बनाया जाता है, **वै**=निश्चय से लोग **न म्रियन्ते**=असमय में मृत्यु का शिकार नहीं होते और **अधमं तमः**=मरणकालीन दुःसह मूर्च्छा को भी **नो यन्ति**=नहीं प्राप्त होते अथवा मृत्यु के बाद अन्धतमस् से आवृत असुर्य लोकों को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—हम रोगादि से हिंसित न होने पर असमय में मृत्यु का शिकार न होंगे। 'ब्रह्म' को अपनी परिधि बनाने पर न असमय में मरेंगे, न ही अन्धकारमय लोकों को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मरूप परिधि

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ २५॥

१. **यत्र**=जहाँ **इदं ब्रह्म**=यह ब्रह्मज्ञान व प्रभु **कं जीवनाय**=सुखपूर्वक जीवन के लिए **परिधिः क्रियते**=प्राकार के रूप में कर लिया जाता है, **तत्र**=वहाँ **वै**=निश्चय से **सर्वः**=सब **जीवति**=जीवित रहते हैं **गौः अश्वः पुरुषः पशुः**=गौ, घोड़े, पुरुष व अन्य पशु—सबका यह ब्रह्म रक्षक होता है। प्रभु का विस्मरण व ज्ञान की प्रवृत्ति का न होना ही भोग-विलास की ओर झुकाव करके मृत्यु का कारण बनता है।

भावार्थ—ब्रह्म को जहाँ प्राकार (रक्षक, चारदीवारी) बनाया जाता है, वहाँ सभी सुरक्षित रहते हैं, कोई भी मृत्यु का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः** ॥

अमम्रिः-अमृतः-अतिजीवः

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्॥ २६॥

१. हे पुरुष! गतमन्त्र में वर्णित ब्रह्मज्ञानमय दुर्ग **त्वा**=तुझे **समानेभ्यः**=तेरे समान बल, आयु व विद्यावाले पुरुषों और **सबन्धुभ्यः**=साथ रहनेवाले बन्धुओं की ओर से होनेवाले **अभिचारात्**=आक्रमण से **परिपातु**=रक्षित करे। २. तू **अमम्रिः भव**=असमय में मरनेवाला न हो, **अमृतः**=नीरोग

हो, **अतिजीवः**=अतिशयित जीवन-शक्तिवाला हो। **असवः**=प्राण **ते शरीरम्**=तेरे शरीर को **मा हासिषुः**=मत छोड़ जाएँ।

भावार्थ—ब्रह्मरूप प्राकार हमें सब आक्रमणों से बचाये। हम असमय में न मरनेवाले, नीरोग, अतिशयित जीवन-शक्तिवाले बनें। प्राण हमारे शरीरों को न छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकशतं मृत्यवः

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्या ऽः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥ २७॥

१. **ये**=जो प्रसिद्ध **मृत्यवः**=मरण के कारणभूत ज्वर-शिरोव्यथा आदि **एकशतम्**=एक सौ संख्या से संख्यात रोग हैं, **याः**=जो **नाष्ट्राः**=नाशकारिणी **अतितार्याः**=अतितरीतव्य—लङ्घनीय—हिंसिका अविद्याग्रन्थियाँ हैं, **तस्मात्**=इन रोगों वा अविद्याग्रन्थियों से **देवाः**=सब देव—ज्ञानीपुरुष **त्वाम्**=तुझे **मुञ्चन्तु**=छुडाएँ। २. वे ज्ञानीपुरुष तुझे इन रोगों व वासनाओं से छुड़ाएँ जो **अग्नेः वैश्वानरात् अधि**=उस अग्रणी सर्वनरहितकारी प्रभु के प्रतिनिधि हैं (अधि पञ्चम्यर्थानुवादी)। उस प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुनाते हुए ये तुझे सब रोगों व वासनाओं से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रतिनिधिभूत ज्ञानीपुरुषों से ज्ञान-सन्देश प्राप्त करके हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'पूतुद्रु' नाम भेषजम्

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहाऽसि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम्॥ २८॥

१. हे ब्रह्मन्! आप **अग्नेः शरीरं असि**=अग्नि का शरीर हैं—अग्नि का आपमें निवास है। प्रत्येक प्रगतिशील जीव प्रभु में निवास करता है। **पारयिष्णु**=आप ही इस भवसागर से हमें पार करनेवाले हैं। **रक्षोहा असि**=सब राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाले हैं, **सपत्नहा**=हमारे रोगरूप व काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हनन करनेवाले हैं। २. **अथो**=(अपि च) और आप **अमीवचातनः**=सब रोगों के विनाशक हैं। इस महिमावाले आप वस्तुतः **पूतुद्रुः नाम**=पूतद्रु नामवाले हैं। आप इस संसार-वृक्ष को पवित्र करनेवाले हैं (पूत=द्रु), **भेषजम्**=आप सब रोगों के औषध हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण सब रोगों का औषध है। प्रभु रोगों व वासनाओं को विनष्ट करके हमें पवित्र करते हैं। रोगों व शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला 'चातन' ही तीसरे व चौथे सूक्त का ऋषि है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिशानः अग्निः

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ १॥

१. **रक्षोहणम्**=राक्षसी भावों को नष्ट करनेवाले, **वाजिनम्**=प्रशस्त बलवाले उस प्रभु को **आजिघर्मि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करता हूँ तथा **मित्रम्**=सबको मृत्यु व पाप से बचानेवाले **प्रथिष्ठम्**=अतिशयित विस्तारवाले—सर्वव्यापक उस प्रभु की **शर्म उपयामि**=शरण में जाता हूँ।

२. **सः अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **क्रतुभिः समिद्धः**=यज्ञादि कर्मों से हृदयदेश में दीप्त किया हुआ **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करनेवाला है। ये बुद्धियाँ ही तो हमारे कर्मों को पवित्र करनेवाली होंगी। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसक तत्त्वों से **पातु**=बचाएँ। प्रभु सदा हमारा रक्षण करनेवाले हों। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम तीव्र बुद्धिवाले और यज्ञादि पवित्र कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयदेश में समिद्ध करें। उत्तम कर्मों में लगे हुए प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से दीप्त बुद्धि पाकर हम दिन-रात अपना रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+उपासना

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वाऽपि धत्स्वासन्॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धः**=गतमन्त्र के अनुसार क्रतुओं द्वारा दीप्त हुए-हुए **अयोदंष्ट्रः**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाले आप **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानज्वाला से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को **उपस्पृशम्**=समीपता से स्पर्श करते हुए भस्म कर देते हैं। आपके द्वारा सब अशुभ वृत्तियाँ दूर की जाती हैं। २. आप **मूरदेवान्**=(दिव् व्यवहारे) मूढ़तापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **जिह्वया**=(Flame) ज्ञानज्वाला के द्वारा **आरभस्व**=(to form) उत्तम जीवनवाला बनाइए। **क्रव्यादः**=मांसभक्षण करनेवालों को **वृष्ट्वा** (to bestow)=ज्ञान देकर **आसन् अपिधत्स्व**=अपने मुख में धारण कीजिए (आसन्=face)। इसे अपने सामने अपनी उपासना में संलग्न कीजिए।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से ज्ञानज्वाला द्वारा हमारे अशुभ कर्म नष्ट हो जाएँ और उपासना के द्वारा हमारा जीवन पवित्र बन जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

' ब्रह्म+क्षत्र ' के द्वारा 'काम-क्रोध का विनाश'

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ३॥

१. हे **उभयाविन्**=ब्रह्म व क्षत्र—ज्ञान व शक्ति—दोनों से सम्पन्न प्रभो! **उभा**=हमारे दोनों शत्रुओं को—काम-क्रोध को (तौ ह्यस्य परिपंथिनौ) **दंष्ट्रौ उपधेहि**=दंष्ट्रान्तर्वर्ती कीजिए—इन्हें समाप्त कर दीजिए। ज्ञान 'काम' को शान्त करेगा तो 'शक्ति क्रोध को समाप्त करनेवाली होगी। हे प्रभो! आप **शिशानः**=हमारी बुद्धि को तीव्र करते हुए **अवरं परं च**=इस काम को और कामोत्पन्न क्रोध को (कामात् क्रोधोऽभिजायते) **हिंस्रः**=नष्ट करनेवाले होते हैं। काम को यहाँ 'अवर' कहा गया है, यह मनुष्य की हीनता का कारण होता है। क्रोध को 'पर' कहने का कारण यही है कि यह काम से उत्पन्न होता है—पीछे होने के कारण यह 'पर' है। २. **उत**=और हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **परियाहि**=सर्वतः गति करनेवाले होओ। हमारा हृदय आपका निवास-स्थान बने और वहाँ **यातुधानान्**=हमें पीड़ित करनेवाली वासनाओं को **जम्भैः**=अपनी दंष्ट्राओं से **अभिसन्धेहि**=युक्त कीजिए, अर्थात् आप इन वासनाओं के विनाश का कारण बनिए।

भावार्थ—प्रभु 'ब्रह्म और क्षत्र' की चरम सीमा हैं। वे ज्ञान के द्वारा हमारी 'काम' वासना को तथा शक्ति के द्वारा क्रोध को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यातुधान को अयातुधान बनाना

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले राजन्! **यातुधानस्य**=प्रजापीड़क के **त्वचम्**=सम्पर्क को **भिन्धि**=तोड़ दे, इसे अपने साथियों से अलग कर दे। अलग होने पर यह अपने जीवन के मार्ग के विषय में ठीक सोच सकता है। **हिंस्राशनिः**=(अशनि=master) अज्ञान को नष्ट करनेवाला अध्यापक **हरसा**=वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति से **एनं हन्तु**=इस यातुधान को प्राप्त हो (हन् गतौ)। वह ज्ञान देकर इसे अधर्म मार्ग से हटानेवाला हो। २. हे **जातवेदः**=ज्ञानीपुरुष! तू **पर्वाणि**=इसकी वासना-ग्रन्थियों को **प्रशृणीहि**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाला बन। ज्ञान के द्वारा तू इसे वासनामय जगत् से ऊपर उठा। तू उसे इसप्रकार का ज्ञान दे कि वह **क्रविष्णुः**=औरों के मांस की इच्छावाला **क्रव्यात्**=मांसभक्षक पुरुष—औरों के नाश में लगा हुआ पुरुष **एनम्**=इन द्वेषों व दोषों को **वि चिनोतु**=अपने से पृथक् करनेवाला हो। यह औरों के विनाश पर अपने आमोद-भवन को खड़ा न करे।

भावार्थ—राजा यातुधान को उसके साथियों से अलग करे। ज्ञानी पुरुष उसे ज्ञान दें। इस ज्ञान द्वारा वे उसकी वासना-ग्रन्थियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान द्वारा वासना-विनाश

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **इदानीम्**=अब **यत्र**=जहाँ भी **तिष्ठन्तम्**=ठहरे हुए—प्रसुप्त अवस्था में पड़े हुए (यातुधान) हिंसक विचार को **उत वा**=अथवा **चरन्तम्**=गति करते हुए, अर्थात् जागरित अवस्था में कार्य करते हुए **पश्यसि**=देखते हैं, **तम्**=उसको **विध्य**=नष्ट कीजिए। हमारे जागरित व प्रसुप्त सभी अशुभ विचार नष्ट हो जाएँ। २. **उत**=और **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पतन्तम्**=गति करते हुए—विविधरूपों में प्रकट होते हुए **यातुधानम्**=यातुधान को **अस्ता**=सुदूर फेंकनेवाले आप **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीव्र करते हुए **शर्वा** (विध्य)=नाशक शक्ति के द्वारा बींध डालिए। आपकी कृपा से विविधरूपों में हृदय के अन्दर उठनेवाले अशुभ विचार विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और अशुभ वृत्तियाँ विनष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रेरणा व ज्ञान प्राप्त करना

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम्॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! अथवा राष्ट्र की अग्रगति को सिद्ध करनेवाले राजन्! आप **यज्ञैः**=उत्तम कर्मों से **इषुः**=प्रेरणाओं को **संनममानः**=प्रेरित करते हुए और **अशनिभिः**=(अशनि=master) आचार्यों के द्वारा **वाचा**=ज्ञान की वाणियों से **शल्यान्**=हृदयवेधी भावनाओं को **दिहानः**=बढ़ाते हुए **ताभिः**=उन प्रेरणाओं से तथा ज्ञानवाणियों से **यातुधानान्**=प्रजापीड़कों

को **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध कीजिए। इनके हृदयों में इनके अपने अपवित्र कार्य ही चुभने लगें। ज्ञान की वाणियाँ इनके हृदयों में इसप्रकार की तीव्र वेदना उत्पन्न करें कि इनका हृदय तीव्र प्रायश्चित्त की भावनावाला हो उठे। २. इसप्रकार इन्हें पापों के प्रति तीव्र वेदनावाला करके **एषाम्**=इनकी **प्रतीचः बाहून्**=पापकर्म में प्रवृत्त (Turned away—धर्ममार्ग से दूर गई हुई) बाहुओं को **भंग्धि**=तोड़ दे, इनमें पापकर्म करने की शक्ति ही न रहे।

भावार्थ—राजा उत्तम कर्मों तथा ज्ञान-प्रकाश के द्वारा यातुधानों के हृदयों में ऐसी चुभन पैदा करे कि वे पापकर्म से घृणा करनेवाले बनकर, उनके लिए प्रायश्चित्त करके पवित्र हो जाएँ।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

अपरिपक्वता को दूर करनेवाली ज्ञान की वाणियाँ

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **आरेभाणान्**=आपके स्तवन में प्रवृत्त हमें **स्पृणुहि**=(पालय) रक्षित कीजिए, **उत**=और **आरब्धान्**=जिन्होंने हमें जकड़ लिया है। (रभ to clasp) उन **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले राक्षसीभावों को **ऋष्टिभिः**=(ऋष् गतौ, ऋषिर्दर्शनात्) क्रियाशीलता व ज्ञानरूप शस्त्रों के द्वारा (स्पृणुहि) नष्ट कीजिए (स्पृ to kill)। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **शोशुचानः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए आप मुझे भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराके **पूर्वः**=(पृ पालनपूरणयोः) मेरा पालन व पूरण करनेवाले होते हुए **निजहि**=इन राक्षसीभावों को नष्ट कर दीजिए। **आमादः** (आम अद्) कच्चेपन को समाप्त कर देनेवाली **एनीः**=उज्ज्वल—शुभ्र **क्ष्विङ्काः**=(क्ष्वु शब्दे) ज्ञान की वाणियाँ **तम्**=उस राक्षसीभाव को **अदन्तु**=खा जाएँ।

भावार्थ—हमारे अशुभभाव दूर होकर हमारे जीवनों में शुद्धभावों का वर्धन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ हमारी अपरिपक्वता को दूर कर दें। परिपक्व विचारोंवाले बनकर हम अशुभ वासनाओं में न फँस जाएँ।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट जीवन का निर्माण

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥ ८ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ा पहुँचानेवाला है, **(यः) इदं कृणोति**=जो इस जगत् को हानि पहुँचाता है—इस लोक के प्राणियों का हिंसन करता है, **सः यतमः**=वह जो भी है, उसे **इह**=यहाँ **प्रब्रूहि**=प्रकर्षेण उपदेश कीजिए। २. हे **यविष्ठ**=अधिक-से-अधिक बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **तम्**=उसे **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **आरभस्व**=(to form) श्रेष्ठ बना दीजिए। **एनम्**=इसे **नृचक्षसः**=(नॄन् चष्टे) प्रजा का पालन करनेवाले राजा की **चक्षुषे**=आँख के लिए **रन्धय**=(make subject to) वशीभूत कीजिए। राष्ट्र में राजा इन मनुष्यों पर दृष्टि रक्खे और इन्हें प्रजा-विध्वंस के कार्यों से रोककर धीमे-धीमे ज्ञान-प्रकाश के द्वारा इनके सुधार का प्रयत्न करे।

भावार्थ—प्रभु यातुधानों को प्रेरणा देकर परिवर्तित जीवनवाला बनाते हैं। इन्हें राजा के वशीभूत करके इनका सुधार करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

राजकर्त्तव्य

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **तीक्ष्णेन चक्षुषा**=बड़ी तीव्र दृष्टि से **यज्ञं रक्ष**=यज्ञ की रक्षा कर। इस राष्ट्र-यज्ञ को यातुधानों के द्वारा किये जानेवाले विध्वंस से बचा। हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले राजन्! **वसुभ्यः**=उत्तम निवासवालों के लिए—जीवन को उत्तमता से बितानेवालों के लिए तू इस राष्ट्र-यज्ञ को **प्राञ्चं प्रणय**=सदा अग्रगतिवाला कर। यह राष्ट्र निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला हो और यातुधानों से विपरीत वसुओं के लिए—स्वयं उत्तम जीवन बितानेवाले तथा औरों को उत्तम जीवन बिताने देनेवालों के लिए इस राष्ट्र को तू उन्नत कर। यहाँ वसुओं को उन्नति के सब साधन प्राप्त हों। २. हे **नृचक्षः**=प्रजाओं का ध्यान करनेवाले राजन्! **रक्षांसि हिंस्रम्**=राक्षसीवृत्तियों को समाप्त करने के स्वभाववाले **अभि-शोशुचानम्**=बाहर व भीतर दीप्तिवाले—बाहर स्वास्थ्य के तेज से सम्पन्न और भीतर ज्ञानज्योति से दीप्त **त्वा**=तुझे **यातुधानाः**=ये प्रजापीड़क **मा दभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। ये तुझे अपने दबाव में न ला सकें।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य यही है कि वह राष्ट्रयज्ञ के विघ्नकारी यातुधानों को दूर करे। यातुधानों को दूर करके वसुओं के लिए उन्नति के साधन प्राप्त कराए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

त्रिविध दण्ड

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥ १०॥

१. हे राजन्! **नृचक्षाः**=प्रजाओं का पालन करनेवाला तू **विक्षु**=प्रजाओं में **रक्षः**=राक्षसी-वृत्तिवाले को **परिपश्य**=सब ओर से देखनेवाला हो। राष्ट्र में जहाँ भी कोई राक्षसीवृत्तिवाला व्यक्ति हो वह तेरी आँख से ओझल न हो जाए। **तस्य**=उस राक्षस के **त्रीणि**=तीन **अग्रा**=प्रमुख दोषों को **प्रतिशृणीहि**=तू एक-एक करके समाप्त करनेवाला हो। राष्ट्र में सब अपराधों के मूल में 'काम-क्रोध तथा लोभ' ही होते हैं। तू पाप के इन तीनों मूलकारणों को समाप्त करनेवाला बन। ज्ञान देकर तू इन्हें कामादि से ऊपर उठानेवाला हो। २. हे **अग्ने**=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! **तस्य**=उसके **पृष्टिः**=आधारभूत स्थानों व लोगों को तू **हरसा**=अपनी तेजस्विता के द्वारा **शृणीहि**=नष्ट कर डाल। तेरे राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति राष्ट्र के इन अपराधियों के सहायक (पृष्ठ) न बनें। ३. हे राजन्! तू **यातुधानस्य**=इस प्रजापीड़क के **मूलम्**=मूल को—पापकर्म की आधारभूत वृत्ति को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वृश्च**=काट डाल। 'वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, अर्थ वा वधदण्ड' द्वारा तू इस यातुधान की अशुभवृत्ति को समाप्त कर डाल।

भावार्थ—राजा यातुधानों को ज्ञान देकर 'काम-क्रोध-लोभ' का शिकार होने से बचाए। इन्हें शरण देनेवालों को भी दण्डित करे। 'वाग्दण्ड' आदि द्वारा इन्हें पापकर्म से निवृत्त करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अध्यापन व उपदेश द्वारा जीवन-परिवर्तन

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यः**=जो **यातुधानः**=प्रजापीड़क व्यक्ति **अनृतेन**=अनृत से **ऋतं हन्ति**=ऋत को नष्ट करता है, वह **त्रिः**=तीन बार **ते प्रसितिम् एतु**=तेरे बन्धन में प्राप्त हो। प्रथम बार उसे 'वाग्दण्ड' देकर छोड़ दिया जाए। दूसरी बार उसके लिए 'धिग्दण्ड' का प्रयोग हो। तीसरी बार उसे 'अर्थदण्ड और वधदण्ड' के योग्य समझा जाए। २. हे **जातवेदः**=राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले राजन्! **तम्**=उस यातुधान को **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **स्फूर्जयन्**=(स्फूर्ज् to shine) दीप्त करने के हेतु से **गृणते समक्षम्**=स्तोता व उपदेष्टा के सामने **एनं नियुंग्धि**=इसे नियुक्त कर। प्रभुभक्त उपदेष्टा इसे उचित ज्ञान व प्रेरणा देकर इसके जीवन को ऋतमय बनाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—क़ैदियों के लिए अध्यापन व उपदेश की व्यवस्था करके राजा को उनके जीवन को परिवर्तित करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

पति-पत्नी व मित्रों को परस्पर कटुता के लिए 'वाग्दण्ड'

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! **यत्**=जो **अद्य**=आज **मिथुना**=पति-पत्नी परस्पर **शपातः**=एक-दूसरे को आक्रुष्ट करनेवाले होते हैं—परस्पर अपशब्द बोल बैठते हैं और क्रोध में आकर राजाधिकरण (न्यायालय) में जाते हैं, **यत्**=जो **रेभाः**=बहुत बोलने के स्वभाववाले मित्र **वाचः तृष्टम्**=वाणी की कटुता को (harsh, pungent) **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, अर्थात् परस्पर कड़वे शब्द बोलते हुए न्यायालय में आ पहुँचते हैं, इन **यातुधानान्**=एक-दूसरे को पीड़ित करनेवालों को **तया हृदये विध्य**=उस वाणी से हृदय में बींध (विद्ध कर) **या**=जो **मन्योः**=कुछ भी विचारशील पुरुष के **मनसः**=मन की **शरव्या**=शरसंहति (बाणसमूह) **जायते**=बन जाती है, अर्थात् यह उपदेश-वाणी उनके हृदय में प्रभाव पैदा करती है और वे आत्मग्लानि अनुभव करते हुए अपने कर्म के लिए पश्चात्तापयुक्त होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर कटु शब्द बोल बैठें या मित्र तेजी में आकर अशुभ शब्द बोल जाएँ तो राजा उन्हें 'वाग्दण्ड' द्वारा भविष्य में वैसा न करने के लिए प्रेरित करे।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'तप, तेज व ज्योति' से पाप दूर करना

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराऽग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ १३॥

१. **तपसा**=तप के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवालों को **पराशृणीहि**=दूर विनष्ट कर। जिस समय जीवन में तप की कमी आ जाती है तब भोगवृत्ति बढ़ जाती है, उसी समय मनुष्य औरों को पीड़ित करनेवाला बनता है। यदि प्रजा में तपस्या की भावना बनी रहे तो उनके जीवनों में 'यातुधानत्व' आता ही नहीं। हे **अग्ने**=राजन्! आप **हरसा**=(ज्वलितेन तेजसा—द०) तेजस्विता

के द्वारा **रक्षः**=राक्षसीवृत्तिवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट करनेवाले होओ। तेजस्विता अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाली है। २. **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **मूरदेवान्**=मूर्खतापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **पराशृणीहि**=विनष्ट कीजिए। ज्ञान-प्रसार के द्वारा मूर्खता के नष्ट होने पर सब व्यवहार विवेक व सभ्यता के साथ होने लगते हैं। **असुतृपः**=केवल अपने प्राणों को तृप्त करने में लगे हुए **शोशुचतः**=(to burn, consume) औरों के शोक का कारण बनते हुए इन लोगों को तू **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट कर।

भावार्थ—जीवन में तपस्या के द्वारा यातुधानत्व का विनाश हो, तेजस्विता से राक्षसीवृत्ति का विलोप हो और ज्ञान-प्रसार के द्वारा 'मूर्खतापूर्ण व्यवहार तथा केवल अपने को तृप्त करने की वृत्ति' का—स्वार्थ का विलोप हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

हम 'वाचास्तेन' न बनें

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॒नं शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑॥ १४॥

१. **अद्य**=आज **देवाः**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले विद्वान् **वृजिनम्**=पाप को **पराशृणन्तु**=दूर शीर्ण कर दें। ज्ञान-प्रसार से पापवृत्ति दूर हो। राष्ट्र में राजा ज्ञान-प्रसार का पूर्ण ध्यान करे। **तृष्टाः**=उत्पन्न किये हुए कर्कश **शपथाः**=अभिशाप **एनम्**=इस शाप देनेवाले को **प्रत्यक् यन्तु**=लौटकर आभिमुख्येन प्राप्त हों। समझदार मनुष्य गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देता और इसप्रकार अपशब्द बोलनेवाले के पास ही उसके अपशब्द लौट जाते हैं। २. **वाचास्तेनम्**=वाणी की चोरी करनेवाले, अर्थात् अनृत व कटु शब्द बोलनेवाले इस व्यक्ति को इसके वचन ही **शरवः मर्मन् ऋच्छन्तु**=शरतुल्य होकर मर्मस्थलों में प्राप्त हों। इस वाचास्तेन को जहाँ अपने शब्द ही पीड़ाकर हों, वहाँ यह **यातुधानाः**=औरों को पीड़ित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के (विशति सर्वत्र) **प्रसितिं एतु**=बन्धन को प्राप्त हो। यह वाचास्तेन पशु-पक्षियों की योनियो में भटकता है। अपने जीवनकाल में भी अपने वचनों से स्वयं कष्ट प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञान से पाप दूर होता है। ज्ञानी अपशब्दों को न लेकर बोलनेवाले को ही लौटा देता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मनुष्यों व पशुओं पर क्रूरता को रोकना

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒सापि॑ वृश्च॥ १५॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! **तेषाम्**=उनके **शीर्षाणि**=शिरों को **हरसा**=अपने ज्वलित तेज से **वृश्च**=तू छिन्न करनेवाला हो, अर्थात् इनको उचित दण्ड देकर इनके अपवित्र कार्यों से इन्हें रोक। सबसे प्रथम उसे रोक **यः**=जो अपने को **पौरुषेयेण क्रविषा**=पुरुष-सम्बन्धी मांस से **समंक्ते**=संगत करता है। जो नर-मांस का सेवन करता है अथवा औरों को नष्ट करके अपने भोगों को बढ़ाता है, २. उसे तू रोक **यः**=जो **अश्व्येन**=घोड़े के मांस से अपने को संगत करता है—जो घोड़े को दिन-रात जोते रखकर अपनी भोगवृत्ति को बढ़ाने का यत्न करता है। **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ित करनेवाला **पशुना**=अन्य पशुओं को पीड़ित करके अपने धन को बढ़ाना चाहता है। हे राजन्! तू उसे रोक **यः**=जो **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य गौ के **क्षीरं भरति**=दूध को दूहने की बजाय पीड़ित करके हरना चाहता है। 'बछड़े को भी उचित मात्रा में दूध न देकर सारे दूध को स्वयं

ले-लेने की कामना करता है,' उसे भी राजा दण्ड देकर इस अपराध से रोके।

भावार्थ—राजनियम ऐसा हो कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों पर, घोड़ों व अन्य पशुओं पर, विशेषकर गौओं पर क्रूरता न कर सके।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विष, न कि दूध

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम्॥ १६॥

१. **यातुधानाः**=गौओं को पीड़ित करके गौओं का दूध निकालनेवाले लोग **गवाम्**=गौओं के **विषम्**=विष को **भरन्ताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः जब गौओं को पीड़ित किया जाता है तब उनके दूध आदि में विष की उत्पत्ति हो जाती है। इस विषैले दूध को पीनेवाले लोग दूध क्या पीते हैं, विष ही पीते हैं। **अदितये**=शरीर के अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए दूध का अतिमात्र प्रयोग करनेवाले ये **दुरेवाः**=(दूर एव) ग़लत मार्ग पर चलते हुए यातुधान **आवृश्चन्ताम्**=अपने स्वास्थ्य को छिन्न कर लें। इन दुराचारी यातुधानों का स्वास्थ्य उस विषैले दूध को पीने से नष्ट हो जाए। २. **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **एनान्**=इन लोगों को **पराददातु**=स्वरभंग आदि अनुभवों को प्राप्त कराके इन अपकर्मों से पृथक् करे। ये लोग दूध के साथ **ओषधीनां भागम्**=ओषधियों के सेवनीय अंश को **पराजयन्ताम्**=(लभन्ताम्) प्राप्त करनेवाले हों। **'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'** इस मन्त्र की प्रेरणा के अनुसार ये पशुओं के अविषाक्त दूध तथा ओषधियों के रसों का सेवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—गौ को पीड़ित करके प्राप्त किया गया दूध विषमय हो जाता है, उसका प्रयोग ठीक नहीं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

गोपीड़क को दण्ड

संवत्सरीणं पय उस्त्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि॥ १७॥

१. हे **नृचक्षः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले प्रजापालक राजन्! **यातुधानः**=गौओं को पीड़ित करके उनके दूध को छीननेवाला यातुधान **उस्त्रियायाः**=गौ का जो **सवंत्सरीणं पयः**=वर्षभर में मिलनेवाला दूध है **तस्य मा अशीत्**=उसका भोजन न करें। उस यातुधान को वर्षभर गौ का दूध पीने को न मिले। वह गौ की सेवा करे, परन्तु उसे गौ के दूध से वंचित रक्खा जाए। क्रूरता से दुग्धहरण का यही समुचित दण्ड है। २. **यतमः**=जो भी यातुधान, **अग्ने**=हे राजन्! **पीयूषम्**=अभिनव पय को—सर्वारम्भ में स्तनों से बाहर आनेवाले दूध को जोकि वस्तुतः बछड़े का भाग है, **तितृप्सात्**=अपनी तृप्ति का साधन बनाने की इच्छा करता है, **तम्**=उस **प्रत्यञ्चम्**=प्रतिकूल मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के **मर्मणि**=मर्मस्थलों को तू **अर्चिषा**=ज्ञानज्वाला से **विध्य**=बींध दे। तू उसे ऐसे शब्दों में समझाने का प्रयत्न कर कि 'बच्चे भूखे बैठे हों और माता-पिता आनन्द से खा रहे हों' तो क्या यह दृश्य माता-पिता की मानवता का सूचक है? इसीप्रकार गौ का बछड़ा तरसता रह जाए और तुम गौ के ऊधस् से एक-एक बूँद दूध को निकालने का प्रयत्न करो तो यह कहाँ तक ठीक है? इसप्रकार उसे ज्ञान दिया जाए कि यह उसके हृदय में घर कर जाए—उसे अपना अपराध मर्माहत करने लगे।

भावार्थ—पीड़ा देकर गोदुग्ध हरण करनेवाले को वर्षभर दूध न मिलने का दण्ड दिया जाए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान-प्रसार द्वारा यातुधान का अन्त

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-जानेवाले राजन्! तू **सनात्**=चिरकाल से **यातुधानान्**=प्रजा व पशुओं के पीड़कों को **मृणसि**=कुचल देता है। **त्वा**=तुझे **पृतनासु**=संग्रामों में **रक्षांसि**=ये राक्षसीवृत्ति के लोग **न**=नहीं **जिग्युः**=जीत पाते। तू **क्रव्यादः**=इन मांसभक्षियों को **सहमूरान्**=जड़ समेत (सह+मूर=मूल) **अनुदह**=भस्म कर दे। इन्हें जड़ समेत भस्म करने का भाव यह है कि 'ये न तो मांस खाएँ और न ही इनकी मांस खाने की रुचि रह जाए। विषय तो जाएँ विषरस भी जाए'। **ते**=आपके **दैव्यायाः हेत्याः**=दिव्य वज्र से—प्रकाशमय वज्र से **मा मुक्षत**=कोई भी यातुधान मुक्त न रह जाए। ज्ञान-प्रकाश के फैलने से उनका यातुधानत्व व क्रव्यादपना ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार के द्वारा यातुधानत्व को समाप्त करे।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अघशंस का दहन

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु॥ १९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें '**अधरात्**=नीचे से **उदक्तः**=ऊपर से', अर्थात् दक्षिण व उत्तर से, **त्वम्**=आप '**पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से', अर्थात् पश्चिम से और पूर्व से **रक्ष**=रक्षित कीजिए। २. **शोशुचतः**=सर्वत्र पवित्रता व दीप्ति का संचार करनेवाले **ते**=आपके **त्ये**=वे **अजरासः**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तपिष्ठः**=अत्यन्त सन्तापक दण्ड **अघशंसम्**=पाप का शंसन करनेवाले को **प्रतिदहन्तु**=भस्म कर दें। आपकी फैलायी हुई ज्ञान-रश्मियों से इनकी अघशंसन की वृत्ति समाप्त हो जाए। ये ठीक मार्ग को देखकर अशुभ मार्ग से विमुख हो जाएँ। ३. राजा को भी यही चाहिए कि राष्ट्र में सत्यज्ञान के प्रसार की ऐसी व्यवस्था करे कि लोग अशुभ बातों की प्रशंसा न करते रहें।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से रक्षित करें। प्रभु का प्रकाश व प्रभु से दिये जानेवाले दण्ड अशुभ के शंसन की वृत्ति को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

रक्षण व पूर्ण जीवन

पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्तां अमर्त्यस्त्वं नः॥ २०॥

१. हे **राजन्**=ज्ञानदीप्त प्रभो! अथवा ब्रह्माण्ड को नियमित करनेवाले प्रभो! आप **कविः**=क्रान्तदर्शी—तत्त्वज्ञानी हैं, आप **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य के द्वारा (पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **पश्चात् पुरस्तात्**=पीछे व आगे से—पश्चिम व पूर्व से **अधरात् उत उत्तरात्**=नीचे व ऊपर से—दक्षिण व उत्तर से हमें **परिपाहि**=रक्षित कीजिए। आपके इस काव्य की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम सदा सुरक्षित जीवन बिता पाएँ। २. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **सखा**=हमारे मित्र हो, **सखायम्**=मुझ सखा को

आप (परिपाहि) रक्षित कीजिए। **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले आप हमें **जरिम्णे**=पूर्ण जरावस्थावाले जीवन को प्राप्त कराइए। **त्वं अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं, **नः मर्तान्**=हम मरणधर्मा अपने मित्रों को पूर्ण जीवनरूप अमरता प्राप्त करानेवाले हैं। आपके मित्र बनकर हम पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदरूपी काव्य के द्वारा पाप से बचाकर पूर्ण जीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'शफारुज्, यातुधान व रेभ' पर कड़ी दृष्टि रखना

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष॥ २१॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **येन**=जिस दृष्टि से **शफारुजः**=(शफाः=नखाः सा०) नखों से औरों का विदारण करनेवाले **यातुधानान्**=प्रजाओं को पीड़ित करनेवाले राक्षसों को **पश्यसि**=देखता हैं, **तत् चक्षुः**=उस आँख को **रेभे**=व्यर्थ कोलाहल करनेवाले—पागल के समान बकनेवाले पुरुष पर भी **प्रतिधेहि**=स्थापित कर। तू राष्ट्र में 'शफारुजों, यातुधानों व रेभों' पर दृष्टि रख। ये धार्मिक प्रजा को पीड़ित करनेवाले न बन पाएँ। इनपर तेरा नियन्त्रण हो। २. **अथर्ववत्**=(न थर्व=move) कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होनेवाले प्रजापति (राजा) के समान **दैव्येन ज्योतिषा**=प्रभु-प्रदत्त वेदज्ञान की ज्योति के द्वारा **सत्यं धूर्वन्तम्**=सत्य को हिंसित करनेवाले **अचितम्**=(अ चित्) इस नासमझ, कर्त्तव्यविमुख व्यक्ति को **न्योष**=तू नितरां दग्ध करनेवाला हो। ज्ञानज्योति प्राप्त करके सत्य का हिंसन न करता हुआ यह एक समझदार नागरिक बन जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में उन लोगों पर कड़ी दृष्टि रक्खे जो नखों से औरों का विदारण करते हैं, नाना प्रकार से प्रजा को पीड़ित करते हैं तथा व्यर्थ का कोलाहल मचाये रहते हैं। राजा को चाहिए कि अपने कर्त्तव्य में ढीला न होता हुआ, वेदज्ञान के द्वारा इन्हें समझदार बनाने का प्रयत्न करे, जिससे ये सत्य का हिंसन करने से निवृत्त हों।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का धारण

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः॥ २२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सहस्य**=शत्रुओं का मर्षण करनेवालों में उत्तम प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने में धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=(पृ पालनपूरणयोः) हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हम रोगाक्रान्त शरीरोंवाले नहीं होते और आपकी कृपा से ही हमारे मन हीन भावनाओं से रहित रहते हैं। आप **विप्रम्**=ज्ञान देकर हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। २. उन आपको हम धारण करते हैं, जिनके **धृषद् वर्णम्**=गुणों का वर्णन व नामोच्चारण ही हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। उन आपको हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन हृदय में धारण करने का प्रयत्न करते हैं। आप **भंगुरावतः**=हमारा भंग करनेवाली राक्षसीवृत्तियों का **हन्तारम्**=नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, प्रभु को हृदय में धारण करें। प्रभु हमारी राक्षसीवृत्तियों का विनाश करके हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

व्यापक ज्ञान व सूर्यवत् गति

विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिर्ऋष्टिभिः ॥ २३ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **विषेण**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक ज्ञान के द्वारा **भंगुरावतः**=हमारी शक्तियों का भंग करनेवाली **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तियों को **प्रति जहि स्म**=निश्चय से एक-एक करके नष्ट कर दीजिए, ज्ञानाग्नि में सब वासनाएँ भस्म हो ही जाती हैं। २. **तिग्मेन शोचिषा**=तीव्र ज्ञान की ज्योति से तथा **तपुः अग्रभिः**=(तपु=The sun) सूर्य है आगे जिसके ऐसी **ऋष्टिभिः**=(ऋष् गतौ) गतियों से हमारी राक्षसीवृत्तियों को समाप्त कीजिए। सूर्य को सम्मुख करके, अर्थात् सूर्य को आदर्श मानकर की जानेवाली गतियाँ 'तपुरग्रा ऋष्टियाँ' हैं। 'सूर्याचन्द्रमसाविव' सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से अशुभ वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—व्यापक व दीप्त ज्ञान से तथा सूर्य की भाँति नियमित गति से हम अशुभ वृत्तियों को नष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शृंगद्वयी

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥ २४ ॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **बृहता ज्योतिषा**=हमारी वृद्धि की कारणभूत महती ज्ञानज्योति से **विभाति**=विशिष्टरूप से दीप्त हो रहा है। वह प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **विश्वानि**=सब लोक-लोकान्तरों को **आविः कृणुते**=प्रकट करता है अथवा तेज के द्वारा सबके प्रति अपने को प्रकट करता है। २. वे हृदयस्थ प्रभु **अदेवीः**=आसुरी **दुरेवाः**=दुर्गमन-(दुराचार)-रूप **मायाः**=छल-कपट को **प्रसहते**=अभिभूत करते हैं—प्रभु छल-कपट की वृत्तियों को विनष्ट करते हैं। वे प्रभु **रक्षोभ्यः विनिक्ष्वे**=राक्षसी वृत्तियों के विनाश के लिए **शृङ्गे शिशीते**=उपासक के शृंगों को तीव्र करते हैं। (शृंगे शृणातेः—नि०) 'ज्ञान और कर्म' ही साधक के शृंग हैं। ये उसके शत्रुभूत काम-क्रोध का विनाश करनेवाले होते हैं। उपासक के 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करके प्रभु काम-क्रोध को दूर भगा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु अपनी महिमा से सब लोकों को प्रकाशित करते हैं। वे ही हमारी आसुरी वृत्तियों को विनष्ट करते हैं और हमारे राक्षसीभावों के विनाश के लिए हमारे 'ब्रह्म+क्षत्र' को विकसित करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भाजगती ॥

दुष्ट हृदयता आदि का निराकरण

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व ॥ २५ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **अजरे**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तिग्महेती**=तीक्ष्णता से हनन के साधनभूत **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र किये गये **शृंगे**=शत्रुओं को शीर्ण करने के साधनरूप 'ब्रह्म व क्षत्र' रूप शृंग हैं, **ताभ्याम्**=उनके द्वारा हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! इस **दुर्हार्दम्**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष को **अर्चिषा विनिक्ष्व**=तीव्र ज्वाला से—ज्ञानशक्ति की ज्वाला से

विनष्ट कर दीजिए, जोकि **अभिदासन्तम्**=सर्वतः उपक्षय करनेवाला है, **किमीदिनम्**=दूसरे के जान व माल को तुच्छ समझनेवाला है (किम् इदानीम् इति वदन्तम्) तथा **प्रत्यञ्चम्**=(प्रति अञ्च्) हमारे सम्मुख आक्रमण के लिए आनेवाला है। प्रभु ज्ञान व शक्ति देकर 'दुष्टहृदयता' आदि को विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराके शुभ हृदयवाला—औरों का उपक्षय न करनेवाला—औरों के जान व माल को तुच्छ न समझनेवाला व औरों पर आक्रमण न करनेवाला बनाएँ।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

शुचिः पावकः

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः। शुचिः॑ पाव॒क ईड्यः॑ ॥ २६ ॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **रक्षांसि सेधति**=हमारी राक्षसीवृत्तियों को दूर करते हैं। **शुक्रशोचिः**=वे प्रभु दीप्त प्रकाशवाले हैं, **अमर्त्यः**=अविनाशी हैं, **शुचिः**=वे दीप्त हैं, **पावकः**=(पावयिता) हमें पवित्र करनेवाले हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से राक्षसीवृत्तियाँ दूर भाग जाती हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

इन्द्र और सोम

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

१. **इन्द्रासोमा**=हे इन्द्र और सोम—जितेन्द्रियता व सौम्यता के भाव! अथवा सोमशक्ति का रक्षण! आप **रक्षः तपतम्**=राक्षसीभावों को सन्तप्त कर डालो और उन्हें **उब्जतम्**=हिंसित कर दो। जितेन्द्रियता से अशुभ वृत्तियाँ दूर होती हैं और सोमरक्षण के द्वारा रोगों के कारणभूत रोगकृमियों का (**रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि) संहार होता है। हे **वृषणा**=हममें शक्ति का सेचन करनेवाले 'इन्द्र और सोम'! **तमोवृधः**=तमोगुण से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले दुष्टभावों को **न्यर्पयतम्**=आप नीचे भेजो, अर्थात् पादाक्रान्त करके समाप्त कर दो। २. **अचितः**=अज्ञानों को **पराशृणीतम्**=सुदूर विनष्ट कर दो, **निओषतम्**=इन्हें निश्चय से जला दो, **हतम्**=मार डालो, **नुदेथाम्**=इन्हें परे धकेल दो। **अत्त्रिणः**=हमें खा-जानेवाली 'काम-क्रोध-लोभ' की वृत्तियों को **निशिशीतम्**=नितरां क्षीण कर दो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, सोम का अपने में रक्षण करें। इससे हमारे 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रु तो विनष्ट होंगे ही हमारे शरीर भी नीरोग बनेंगे। ये इन्द्र और सोम हमें खा-जानेवाले हमारे शत्रुओं को क्षीण कर दें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

'ब्रह्मद्विट्, क्रव्याद, घोरचक्षाः, किमीदी' न बनना

इन्द्रा॑सोमा॒ सम॒घशं॑सम॒भ्य१॒॑घं तपु॑र्ययस्तु च॒रुर॑ग्नि॒माँ इ॑व।
ब्र॒ह्म॒द्विषे॑ क्र॒व्यादे॑ घो॒रच॑क्षसे॒ द्वेषो॑ धत्तमनवा॒यं कि॑मी॒दिने॑ ॥ २ ॥

१. **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के दिव्यभावो! **अघशंसम्**=पाप का शसंन करनेवाले **अघम्**=पापी को **सम्**=आप दोनों मिलकर **अभि** (भवतम्)=अभिभूत करो। **तपुः**=यह सन्तापक

राक्षसीभाव **अग्निमान् चरुः इव**=अग्निवाले हविर्द्रव्य की भाँति **ययस्तु**=आयास को प्राप्त हो—भस्मीभूत हो जाए। जैसे अग्नि में डाला हुआ चरु भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ये सन्तापकभाव जितेन्द्रियता व सौम्यता में भस्म हो जाएँ। २. हे इन्द्रासोमा! आप **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान से अप्रीतिवाले, **क्रव्यादे**=मांसभक्षक, **घोरचक्षसे**=क्रूरदृष्टि, **किमीदिने**=(किम् इदानीं इति पृच्छते) पिशुनता के भाव के लिए **अनवायम्**=(अव्यवधानं यथा भवति तथा—सा०) निरन्तर **द्वेषः**=अप्रीति को **धत्तम्**=धारण करो। जितेन्द्रियता व सौम्यता हमें 'ब्रह्मद्विट्, क्रव्याद, घोरचक्षसा व किमीदी' बनने से बचाएँ।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व सौम्यता की अग्नि में सब सन्तापकभाव भस्म हो जाएँ। हम 'ज्ञान की रुचिवाले, वानस्पतिक भोजन करनेवाले, सौम्यदृष्टि व अनिन्दक' बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दुष्ट-दमन

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः॥ ३॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के भावों से युक्त शासक पुरुषो! आप **दुष्कृतः**=पापकारियों को **वव्रे**=वारक—प्रकाश को दूर करनेवाले **अनारम्भणे**=आलम्बनरहित **तमसि**=अन्धकार में (कारागार में) **अन्तः प्रविध्यतम्**=अन्दर करके दण्डित करो। २. इन्हें इसप्रकार दण्डित करो कि **यतः**=जिससे **एषां एकः चन**=इनका कोई एक भी **पुनः न उदयत्**=फिर उद्गत न हो। इनमें से कोई भी हमें प्राप्त होकर पीड़ित करनेवाला न हो। **वाम्**=आपका **तत्**=वह **मन्युमत्**=ज्ञान से युक्त **शवः**=बल **सहसे**=सब शत्रुओं के पराभव करने के लिए **अस्तु**=समर्थ हो।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय व सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला हो। ज्ञानयुक्त बलवाला होता हुआ वह ऐसी समझदारी से दण्ड का प्रणयन करे कि राष्ट्र में दुष्टों का अभाव हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दिवः पृथिव्यः पर्वतेभ्यः

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत्तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः॥ ४॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के भावो! (**इन्द्र**=राजा, **सोमः**=न्यायाधीश) जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! आप दोनों **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से—ज्ञान से **वधम्**=पापी के विनाशक आयुध को **वर्तयतम्**=प्रवृत्त करो। इसप्रकार ज्ञानपूर्वक दण्ड दो कि पापी की पापवृत्ति नष्ट हो जाए। **पृथिव्याः**=पृथिवी से ऐसे आयुध को **सम्** (वर्तयतम्)=उत्पन्न करो जोकि **अघशंसाय**=पाप का शंसन करनेवाले के लिए **तर्हणम्**=विनाशक हो। पार्थिव अस्त्रों से—तलवार आदि से शत्रु का विनाश किया जाए। २. **पर्वतेभ्यः**=पर्ववान् मेघों से **स्वर्यम्**=शब्दपूर्वक सन्तप्त करनेवाली विद्युत्-शक्ति से उत्पन्न शस्त्र को **उत्तक्षतम्**=बनाओ, **येन**=जिससे कि **वावृधानम्**=दुष्टता में बहुत बढ़ते हुए **रक्षः**=राक्षसीवृत्ति के पुरुष को **निजूर्वथः**=आप हिंसित कर दें।

भावार्थ—पापी को ज्ञान के अस्त्र से विनष्ट किया जाए—समझाकर उसके पाप को दूर किया जाए। ऐसा न होने पर पार्थिव अस्त्रों से दण्डित कर उसे पाप-निवृत्ति के लिए प्रेरित किया जाए। विवशता में विद्युत्-शस्त्र से (electric chair पर बिठाकर) उसे समाप्त कर दिया जाए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

दुष्टों का देश से निर्वासन

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्मंहन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम्॥ ५॥

१. **इन्द्रासोमा**=हे जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! **युवम्**=आप दोनों **दिवः**=अन्तरिक्ष से **परि**=चारों और **वर्तयतम्**=आयुधों को प्रेरित करो। **अग्नितप्तेभिः**=अग्नि से तपाये हुए **तपुर्वधेभिः**=तापक प्रहरणों से तथा **अजरेभिः**=न जीर्ण होनेवाले, अर्थात् दृढ़ **अश्महन्मभिः**=अश्मसारभूत लोह से बने हुए हनन-साधन आयुधों से **अत्त्रिणः**=औरों को खा-जानेवाले राक्षसों के **पर्शाने**=पार्श्वस्थानों में **निविध्यतम्**=प्रहार करो। २. इसप्रकार इन प्रजापीड़क राक्षसों को विध्य करो कि वे **निस्वरम्**=बिना शब्द के **यन्तु**=यहाँ से दूर चले जाएँ। ये प्रजा में अपना रोना रोते हुए ग़लत प्रचार न कर पाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र की ठीक व्यवस्था के लिए दुष्टों को उचित दण्ड दिया जाए और उन्हें राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

'मति' रूप 'कक्ष्या'

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीइव जिन्वतम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रिय व सौम्य (विनीत) पुरुषो! **इयम् मतिः**=यह मननीय स्तुति, मननपूर्वक किया गया प्रभुस्तवन **वाम्**=आपके **विश्वतः**=चारों ओर **परिभूतु**=हो। यह आपको इसप्रकार घेरे रहे **इव**=जैसेकि **कक्ष्या**=कमरबन्द **वाजिना अश्वा**=शक्तिशाली घोड़ों को चारों ओर से घेरनेवाला होता है। यह कक्ष्या घोड़ों को सदा सन्नद्ध रखती है, इसी प्रकार यह स्तुति इन्द्र और सोम को सन्नद्ध रक्खे। २. **याम्**=जिस **होत्राम्**=वाणी को **मेधया**=बुद्धि के साथ **वां परिहिनोषि**=आपके लिए प्रेरित करता हूँ, **उभा इमा ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **नृपती इव जिन्वतम्**=(ना चासौ पतिश्च) अग्रगतिवाले व अपने स्वामियों की भाँति अपने अन्दर प्रेरित करो। 'ना' बनो—अग्रगतिवाले बनो, 'पति' अपने स्वामी बनो और ज्ञान-वाणियों को प्राप्त करो।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें इसप्रकार घेरे रहे जैसेकि कमरबन्द घोड़े को घेरे रहता है। हम अग्रगतिवाले व अपने स्वामी बनकर ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्रेरित करें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

शत्रु-संहार व प्रभु-स्मरण

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः॥ ७॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! आप **तुजयद्भिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **एवैः**=कर्मों से **प्रति स्मरेथाम्**=प्रभु का स्मरण करो। आपका प्रभुस्मरण यही है कि आपकी क्रियाएँ शत्रु-संहार करनेवाली हों। **द्रुहः**=द्रोह की वृत्तिवाले **भंगुरावतः**=तोड़फोड़ करनेवाले **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवाले पुरुषों को **हतम्**=नष्ट करो। २. हे इन्द्र और सोम! आप ऐसी व्यवस्था करो कि **दुष्कृते**=अशुभ कर्म करनेवाले के लिए **सुगम्**=सुगमता से इधर-उधर जाना **मा भूत्**=मत हो। **यः**=जो भी **नः**=हमें **कदाचित्**= कभी **द्रुहुः**=द्रोह की वृत्तिवाला **अभिदासति**=

कमज़ोर करना चाहता है, उसके लिए इधर-उधर जाना सुगम मत हो।

भावार्थ—राजा व न्यायाधीश द्रोही व्यक्तियों को ऐसे दण्डित करें कि वे प्रजा में सुगमता से विचरण न कर सकें। इसप्रकार शत्रुओं का संहार ही वस्तुतः 'इन्द्र और सोम' का प्रभुस्मरण है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

असतः वक्ता असन् अस्तु

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आपइव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता॥ ८॥

१. **यः**=जो **पाकेन मनसा**=पवित्र मन से **चरन्तम्**=व्यवहार करते हुए **मा**=मुझे **अनृतेभिः वचोभिः**=असत्य दोष से **अभिचष्टे**=दोषारोपित करता है, वह **असतः वक्ता**=असत्य बोलनेवाला **असं अस्तु**=अविद्यमान सत्तावाला हो जाए, अर्थात् वह नष्ट हो जाए। २. हे **इन्द्र**= शत्रुविद्रावक राजन्! **इव**=जैसे **काशिना**=मुट्ठी से **संगृभीताः**=ग्रहण किये हुए **आपः**=जल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार यह असत्य बोलनेवाला नष्ट हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि औरों पर झूठे दोष लगानेवाले लोग पनपें ही नहीं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अहये प्रददातु

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥ ९॥

१. **ये**=जो **पाकशंसम्**=परिपक्व व पवित्र वचनोंवाले मुझे **एवैः**=अपने प्राप्तव्य कामों के हेतु से—अपने स्वार्थों के हेतु से **विहरन्ते**=विशिष्टरूप से अपहृत (क्षीण) करते हैं **वा**=अथवा **ये**=जो **भद्रम्**=शुभ कर्मरत मुझे **स्वधाभिः**=अपने वेतन आदि के बल से वेतनभोगी पुरुषों द्वारा **दूषयन्ति**=दूषित करते हैं। **सोमा**=न्यायाधीश **तान्**=उन्हें **अहये प्रददातु**=सर्प के लिए दे-दे—उन्हें सर्पदंशन द्वारा समाप्त करा दे **वा**=अथवा उन्हें **निर्ऋतिः उपस्थे**=मृत्यु की गोद में **आ दधातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—सत्यवचन व भद्र कर्मोंवाले पुरुषों को क्षीण व नष्ट करनेवाले लोगों को सर्पदंश द्वारा व अन्य प्रकार से मृत्यु की गोद में स्थापित करना ही ठीक है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'रिपु व स्तेन' को दण्डित करना

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्।
रिपु स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यः**=जो **नः**=हमारे **पित्वः**=अन्न के **रसं दिप्सति**=सार को नष्ट करना चाहता है, **यः**=जो हमारी **अश्वानाम्**=कर्मेन्द्रियों की शक्ति (रस) को नष्ट करना चाहता है, **यः**=जो **गवाम्**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों के रस को समाप्त करना चाहता है तथा **यः तनूनाम्**=जो हमारे शरीरों के रस को ही समाप्त करना चाहता है, वह **रिपुः**=हमारा विदारण करनेवाला **स्तेयकृत्**=चोरी करनेवाला **स्तेनः**=चोर **दभ्रम् एतु**=हिंसा को प्राप्त हो। **सः**=वह **तन्वा**=अपने शरीर से **च**=और **तना**=अपने पुत्रों से **निहीयताम्**=हीन हो।

भावार्थ—राजा ऐसे व्यक्तियों को अवश्य दण्डित करे जिनका लक्ष्य औरों के अन्नों व

शरीरों को नष्ट करना ही हो।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हिंसक वृत्तिवाले का बहिष्कार

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥ ११ ॥

१. **यः**=जो **मा**=मुझे **दिवा**=दिन में **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है **च यः**=और जो **नक्तम्**=रात्रि में हमें नष्ट करना चाहता है, हे **देवाः**=देवो! **अस्य यशः प्रतिशुष्यतु**=उसका यश सूख जाए—वह सर्वत्र बदनाम हो जाए। २. **सः**=वह जिघांसावाला व्यक्ति **तन्वा**=अपने शरीर से **तना च**=और अपने पुत्रों से **परः अस्तु**=दूर हो जाए। इसे शरीर व पुत्रों से वियुक्त कर दिया जाए। पुत्रों से इसका कोई सम्बन्ध न रहे, जिससे यह पुत्रों को भी अशुभ वृत्तिवाला न बना दे। यह व्यक्ति **विश्वाः**=प्राणियों का जिनमें प्रवेश है उन **तिस्राः**=तीनों **पृथिवीः**=लोकों के **अधः अस्तु**=नीचे हो, अर्थात् उनका तीनों लोकों से बहिष्कार हो जाए।

भावार्थ—औरों की जिघांसावाला मनुष्य अपकीर्ति को प्राप्त करे, शरीर व पुत्रों से वियुक्त हो, लोकत्रयी से उसका बहिष्कार हो।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सत्य Vs (बनाम) असत्य

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ १२ ॥

१. **चिकितेषु जनाय**=एक समझदार व्यक्ति के लिए **सुविज्ञानम्**=यह बात सम्यग् जानने योग्य है कि **सत् च असत् च वचसी**=सत्य और असत्य वचन **पस्पृधाते**=परस्पर स्पर्धावाले होते हैं, इनमें परस्पर विरोध है। इनके विरोध को समझदार तुरन्त जान लेता है। **तयोः**=उन दोनों में से **यत्**=जो **सत्यम्**=सत्य है, **यतरत् ऋजीयः**=जो अधिक सरल है, **तत् इत्**=उसे ही **सोमः अवति**=वह शान्त प्रभु रक्षित करता है और **आसत् हन्ति**=असत्य को विनष्ट करता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति सत्य और असत्य के विरोध को देखता हुआ सत्य को ग्रहण करता है और असत्य को छोड़ता है। प्रभु सत्यवादी का रक्षण करते हैं और असत्यवक्ता को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पाप व असत्य का विनाश

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥ १३ ॥

१. **सोमः**=वे शान्त प्रभु **वृजिनम्**=पाप को—पाप करनेवाले को **न वा उ**=निश्चय से नहीं **हिनोति**=बढ़ाते हैं। **मिथुया धारयन्तम्**=मिथ्या से—छलकपट से धारण करते हुए **क्षत्रियम्**=बलशाली पुरुष को भी **न**=वे प्रभु नहीं बढ़ाते हैं। २. वे प्रभु **रक्षः हन्ति**=राक्षसीवृत्तिवालों को नष्ट करते हैं। **असत् वदन्तम्**=झूठ बोलनेवाले को भी **हन्ति**=नष्ट करते हैं। **उभौ**=वे दोनों राक्षसीवृत्तिवाले व झूठ बोलनेवाले **इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **प्रसितौ शयाते**=बन्धन में निवास करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था में पापी व मिथ्याचारी का वर्धन नहीं होता। राक्षसीवृत्तिवाले व झूठ बोलनेवाले का विनाश ही होता है।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अनृतदेव' का हिंसन

यदि वाऽहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम्॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यदि वा अहम्**=यदि मैं **अनृतदेवः**=असत्य से व्यवहार करनेवाला **अस्मि**=हूँ (दिव् व्यवहारे) **वा**=अथवा **देवान्**=ज्ञानियों के समीप **अपि**=भी **मोघम् ऊहे**=व्यर्थ का ही तर्क-वितर्क करता हूँ, श्रद्धाशून्य होता हुआ सत्य बात को समझने का प्रयत्न नहीं करता। यदि मैं ऐसा हूँ तब तो आप मुझे दण्डित कीजिए, अन्यथा हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **किम्**=क्यों **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **हृणीषे**=आप क्रोध करते हैं। हे प्रभो! हम 'अनृतदेव व व्यर्थ का तर्क-वितर्क' करनेवाले न होते हुए आपके प्रिय ही बनें। २. **द्रोघवाचः**=द्रोहयुक्त वाणीवाले ही **ते**=आपके **निर्ऋथम्**=हिंसन को **सचन्ताम्**=प्राप्त करनेवाले हों। द्रोहयुक्त वाणीवाले ही आपके द्वारा हिंसित किये जाएँ।

भावार्थ—न हम असत्य व्यवहार करनेवाले हों और न ही व्यर्थ का तर्क-वितर्क करनेवाले हों। हम कभी द्रोहयुक्त वाणी का प्रयोग न करें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

न यातुधान, न सन्तापक

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह॥ १५॥

१. **यदि**=यदि मैं **यातुधानः**=पीड़ा का आधान करनेवाला राक्षस **अस्मि**=हूँ, तो **अद्या मुरीय**=आज ही मर जाऊँ। **यदि वा**=अथवा यदि **पूरुषस्य**=किसी भी पुरुष के **आयुः ततप**=जीवन को मैं सन्तप्त करता हूँ तो मैं उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ। पापी बनने से मर जाना अच्छा है। २. परन्तु **यः**=जो **मा**=मुझे **मोघम्**=व्यर्थ ही **यातुधान इति आह**=पीड़ित करनेवाला कहता है, अर्थात् मुझपर व्यर्थ ही दोषारोपण करता हैं, **सः**=वह **दशभिः वीरैः**=दसों पुत्रों से—सब बन्धुओं से **वियूयाः**=पृथक् हो जाए। सब बन्धु उसे अच्छा न समझें और उसका सामाजिक बहिष्कार कर दें।

भावार्थ—न मैं राक्षसीवृत्तिवाला बनूँ और न ही किसी के जीवन को कष्टमय करनेवाला होऊँ।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मिथ्या दोषारोपण का दण्ड

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट॥ १६॥

१. **यः**=जो **अयातुम्**=राक्षस न होते हुए **मा**=मुझे **यातुधान इति आह**='राक्षस' इस नाम से कहता है, **यः वा**=अथवा जो **रक्षाः**=राक्षसीवृत्तिवाला पुरुष **शुचिः अस्मि**='मैं पवित्र हूँ' **इति आह**=ऐसा कहता है, **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **तम्**=उसे **महता वधेन हन्तु**=महान् अस्त्र से नष्ट करे। २. ऐसा व्यक्ति **विश्वस्य जन्तोः**=सब प्राणियों से **अधमः पदीष्ट**=निकृष्ट होता हुआ गति करे, इसकी स्थिति सबसे नीचे हो।

भावार्थ—औरों पर मिथ्या दोषारोपण करनेवाला और अपने को पवित्र माननेवाला व्यक्ति

दण्डित हो तथा निकृष्ट स्थिति में रक्खा जाए।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

व्यभिचारिणी का दण्ड

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमप द्रुहुस्तन्वं गूहमाना।

वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षस उपब्दैः ॥ १७ ॥

१. **या**=जो **खर्गला इव**=उलूकी के समान **नक्तम्**=रात्रि में **द्रुहुः**=पति के प्रति द्रोह की वृत्तिवाली होती हुई **तन्वं गूहमाना**=अपने शरीर को छिपाती हुई, अर्थात् चुपके-चुपके छद्मवेष में **अप प्रजिगाति**=घर से बाहर जाती हैं, अर्थात् व्यभिचारिणी (जारिणी) के समान आचरण करती है, **सा**=वह **अनन्तं वव्रम्**= अनन्त गहरे गड्ढे को **अवपदीष्ट**=जानेवाली हो—नरक-कुण्डों में गिरनेवाली हो। २. **ग्रावाणः**=उपदेष्टा लोग **उपब्दैः**=ज्ञान के शब्दों से इन **रक्षसः**=राक्षसी-वृत्तिवाले लोगों को **घ्नन्तु**=प्राप्त हों (हन् गतौ) और इनके राक्षसीभावों को विनष्ट करें।

भावार्थ—व्यभिचार द्वारा पति के जीवन को कड़वा करनेवाली स्त्री अनन्त गड्ढों में गिरनेवाली हो। ज्ञानोपदेष्टा ज्ञान के शब्दों द्वारा इसकी इन बुरी वृत्तियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

रक्षापुरुषों का कर्त्तव्य

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वीच्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।

वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे ॥ १८ ॥

१. हे **मरुतः**=रक्षापुरुषो! **विक्षु**=प्रजाओं में **वितिष्ठध्वम्**=विशेषरूप से स्थित होओ। **इच्छत**=प्रजा-पीड़कों को पकड़ने की कामना करो। **गृभायत**=इनका निग्रह करो और **रक्षसः**=इन राक्षसीवृत्तिवालों को **संपिनष्टन**=संचूर्णित कर दो। २. उन व्यक्तियों को नष्ट कर डालो **ये**=जो **वयः भूत्वा**=(वी खादने) प्रजा के भक्षक बनकर **नक्तभिः पतयन्ति**=रात्रि में इधर-उधर औरों के विनाश के लिए गति करते हैं—जो 'नक्तंचर' हैं। **ये वा**=अथवा जो **देवे अध्वरे**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले यज्ञों में—हिंसारहित कर्मों में **रिपः दधिरे**=हिंसाओं को धारण करते हैं। यज्ञों में विघ्न करनेवाले इन राक्षसों को भी मरुत् दण्डित करें।

भावार्थ—प्रजा में विचरण करते हुए राजपुरुष दुष्टों को पकड़ें और उन्हें दण्डित करें। इन नक्तंचरों और यज्ञ-विहन्ता पुरुषों को विनष्ट करें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दुष्टों पर अश्म-प्रवर्तन

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि।

प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तोऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥ १९ ॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **दिवः**=अन्तरिक्षलोक से **अश्मानम्**=अशनि को (Thunder bolt) **प्रवर्तय**=प्रवृत्त कीजिए। इस अशनिरूप वज्र से दुष्टों का संहार कीजिए। हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **सोमशितम्**=सोमरक्षण द्वारा बुद्धि को तीव्र बनानेवाले पुरुष को **संशिशाधि**=सम्यक् अनुशिष्ट कीजिए—इसे संस्कृत जीवनवाला बनाइए। २. **प्राक्तः अपाक्तः**=पूर्व से व पश्चिम से, **अधरात् उदक्तः**=दक्षिण से व उत्तर से, अर्थात् सब दिशाओं से **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तिवाले पुरुषों को **पर्वतेन**=पर्ववाले वज्र से **अभिजहि**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—अपने को प्रभु का कार्यकर्त्ता समझता हुआ राजा दुष्टों को सब ओर से दण्डित

करे।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

श्वयातवः

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः॥ २०॥

१. **एते**=ये **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे **श्वयातवः**=कुत्तों की चालवाले—औरों को काटनेवाले राक्षस लोग **पतयन्ति**=इधर-उधर गतिवाले होते हैं। ये **दिप्सवः**=हिंसन की भावनावाले राक्षस **अदाभ्यम्**=अहिंसनीय **इन्द्रम्**=शासक राजा को भी **दिप्सन्ति**=नष्ट करना चाहते हैं, जिससे अराजक स्थिति में वे अपना कार्य अधिक क्रूरता से कर सकें। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु इन **पिशुनेभ्यः**=निर्दयी पुरुषों (harsh, cruel) के लिए **नूनम्**=निश्चय से **वधम्**=हनन-साधन आयुध को **शिशीते**=तीक्ष्ण करते हैं, ये प्रभु **यातुमद्भ्यः**=पीड़ा देनेवाले लोगों के लिए **अशनिं सृजत्**=अशनिरूप वज्र को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार प्रभु की व्यवस्था से ये दुष्ट दण्डित होते हैं।

भावार्थ—औरों को पीड़ित व अराजकता पैदा करनेवाले लोग प्रभु की व्यवस्था से विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

'प्रजापीड़क, यज्ञ-विध्वंसक, आक्रामक' राक्षसों का विनाश

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्याविवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः॥ २१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **यातूनाम्**=पीड़ा देनेवालों को **पराशरः अभवत्**=सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है। **हविर्मथीनाम्**=यज्ञ के विध्वंसकों का तथा **अभि आविवासताम्**=हमारी आर आनेवालों, अर्थात् हमपर आक्रमण करनेवालों का विनाशक होता है। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **सतः**=प्राप्त होनेवाले **रक्षसः**=राक्षसों को इसप्रकार **भिन्दन् अभि एतु**=विदीर्ण करता हुआ आता है, **इव**=जैसेकि **इत् उ**=निश्चय से **परशुः वनम्**=कुल्हाड़ा वन को तथा **यथा**=जैसे मुद्गर **पात्रा**=पात्रों को नष्ट करता हुआ आता है।

भावार्थ—प्रभु 'प्रजापीड़क, यज्ञ-विध्वंसक, आक्रामक' राक्षसों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उलूकयातुं, गृध्रयातुम्

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ २२॥

१. **उलूकयातुम्**=उल्लू के समान गतिवाले **रक्षः**=राक्षस को हे **इन्द्र**=प्रभो! **दृषदा इव**=जैसे पत्थर से किसी वस्तु को मसल देते हैं, इसप्रकार **प्रमृण**=मसल डालिए। उल्लू अन्धकार में हिंसन करता है, इसी प्रकार अन्धकार में हिंसन करनेवाले चोरों को समाप्त कर दीजिए। २. **शुशुलूकयातुम्**=बड़े कर्कश स्वर में चीखनेवाले छोटे उल्लू की चालवाले राक्षस को **जहि**=मार डालिए। सदा कर्कश स्वर में ही बोलनेवालों को हमसे दूर कीजिए। ३. **श्वयातुम्**=कुत्ते की भाँति लड़ने-झगड़ने—एक-दूसरे को काटनेवालों को नष्ट कीजिए, **उत**=और **कोकयातुम्**=चकवा-चकवी की भाँति कामासक्तिवाले को नष्ट कीजिए। ४. **सुपर्णयातुम्**=गरुड़ की भाँति अभिमान

की चालवाले को पीस डालिए, **उत**=और **गृध्रयातुम्**=गिद्ध की भाँति लोभवृत्तिवाले को समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम 'अज्ञानान्धकार, कर्कश स्वर, ईर्ष्या-द्वेष, कामासक्ति, अभिमान व लोभ' से दूर हों।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

पार्थिव व दिव्य कष्टों से दूर

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमें **यातुमावत् रक्षः**=कोई भी हिंसक राक्षसीभाव **मा अभिनट्**=व्याप्त न कर ले। **किमीदिनः**=(किम् इदानीम् इति चरन्तः), अब किसका संहार करें—इसप्रकार सोचकर गति करते हुए ये **मिथुनाः**=जो मिथुनभूत स्त्री-पुमान् हैं, वे **अप उच्छन्तु**=हमसे दूर हो जाएँ। हमारा सम्पर्क इन राक्षसों व किमीदियों से न हो। २. **पृथिवी**=यह पृथिवी **नः**=हमें **पार्थिवात् अंहसः**=शरीररूप पृथिवी से होनेवाले कष्टों से **पातु**=रक्षित करे, तथा **अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष **अस्मान्**=हमें **दिव्यात्**=मस्तिष्करूप द्युलोक से होनेवाले कष्ट से **पातु**=बचाए। हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में कभी अन्धकार का राज्य न हो।

भावार्थ—हम राक्षसी वृत्तिवाले हिंसक लोगों के सम्पर्क से दूर रहें, पार्थिव व दिव्य कष्टों से बचे रहें।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मूरदेवाः ऋदन्तु

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **पुमांस यातुधानम्**=पुरुष राक्षस को तो आप **जहि**=नष्ट कीजिए ही, **उत**=और **मायया**=प्रवञ्चन के द्वारा **शाशदानाम्**=हिंसन करती हुई **स्त्रियम्**=स्त्री शरीरवाली राक्षसी को **उत**=भी आप विनष्ट कीजिए। २. **मूरदेवाः**=मारण ही जिनकी क्रीड़ा है (दिव् क्रीडायाम्), वे राक्षस **विग्रीवासः**=गर्दनरहित हुए-हुए **ऋदन्तु**=नष्ट हो जाएँ। **ते**=वे **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **मा दृशन्**=न देखें, अर्थात् ये लोग दीर्घजीवी न हों।

भावार्थ—प्रजा को पीड़ित करनेवाले स्त्री-पुरुष समाज से दूर हों, औरों को मारने में ही आनन्द लेनेवाले लोग विनाश को प्राप्त हों।

ऋषिः—चातनः ॥ देवता—इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रतिचक्ष्व-विचक्ष्व

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

१. हे **सोम**=शान्त स्वभाववाले न्यायाधीश। तू **च**=और **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक राजा **जागृतम्**=सदा जागते रहो—राष्ट्ररक्षा के लिए सदा सावधान रहो। **प्रतिचक्ष्व**=प्रत्येक दुष्ट को देखनेवाले होओ। **विचक्ष्व**=विशेषरूप से इनपर दृष्टि रक्खो, जिससे कि ये हमें पीड़ित न कर सकें। २. **रक्षोभ्यः**=इन राक्षसीवृत्तिवालों के लिए **वधम्**=हनन-साधन आयुध को **अस्यतम्**=फेंको। **यातुमद्भ्यः**=पीड़ा देनेवालों के लिए **अशनिम्**=वज्र का प्रहार करो। राष्ट्र से राक्षसों व यातुधानों

को दूर रखना इन 'इन्द्र और सोम' का मुख्य कर्त्तव्य है। राक्षसों व यातुधानों से राष्ट्ररक्षा के लिए इन्हें सदा जागरित व सावधान रहना चाहिए।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, 'सोम' न्यायाधीश। इन्हें राष्ट्र में राक्षसी वृत्तिवालों पर दृष्टि रखनी चाहिए और उन्हें उचित दण्ड देकर राष्ट्र का रक्षण करना चाहिए।

अगले सूक्त का ऋषि 'शुक्र' है। यह अपने अन्दर 'शुक्र' का रक्षण करता हुआ 'वीर्यवान्, सपत्नहा, शूरवीर, परिपाण व सुमंगल' बनता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रतिसरो मणिः

अ॒यं प्र॑ति॒स॒रो म॒णिर्वी॒रो वी॒राय॑ बध्यते।
वी॒र्य॒॑वान्त्सपत्न॒हा शूर॑वीरः परि॒पाणः॑ सुम॒ङ्गलः॑॥ १॥

१. **अयम्**=यह **मणिः**=वीर्यरूप मणि **प्रतिसरः**=(यःकृत्याः करोति तम् प्रतिसरति) हमारा हिंसन करनेवाले रोगों पर आक्रमण करती है। **वीरः**=(विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुम्) रोगों को कम्पित करके दूर करती है। **वीराय बध्यते**=वीरतापूर्ण कार्यों को करने के लिए शरीर में बाँधी जाती है। इस मणि का शरीर में सुरक्षित रखना ही इसे शरीर में बाँधना है। २. इस मणि को शरीर में बाँधनेवाला पुरुष **वीर्यवान्**=शक्तिशाली बनता है। **सपत्नहा**=रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शूरवीरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला व रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। इसप्रकार **परिपाणः**=सब ओर से अपना रक्षण करनेवाला व **सुमङ्गलः**=उत्तम मङ्गलवाला होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित किया गया वीर्य 'प्रतिसर मणि' है। यह रोगों पर आक्रमण करनेवाला है। इसे शरीर में सुरक्षित करनेवाला अपना रक्षण करता है और अपना मङ्गल सिद्ध करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'सपत्नहा' मणिः

अ॒यं म॒णिः स॑पत्न॒हा सु॒वीरः॒ सह॑स्वान्वा॒जी सह॑मान उ॒ग्रः।
प्र॒त्यक्कृ॒त्या दू॒षय॑न्नेति वी॒रः॥ २॥

१. **अयम्**=यह **मणिः**=वीर्यरूप मणि **सपत्नहा**=शरीरस्थ रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **सुवीरः**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला वीर है, **सहस्वान्**=बलवान् है। यह मणि **वाजी**=अत्यधिक शक्ति देनेवाली, **सहमानः**=शत्रुओं को कुचलनेवाली व **उग्रः**=उद्गूर्ण बलवाली है। २. यह **वीरः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाली मणि **प्रत्यक्**=हमारे अन्दर **कृत्याः**=छेदन-भेदन को **दूषयन्**=दूषित करती हुई—रोगों द्वारा उत्पन्न होनेवाली सब प्रकार की हिंसाओं को विनष्ट करती हुई **एति**=प्राप्त होती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यरूपी मणि रोगों का पराभव करती है। शरीर में रोग-जनित सब छेदन-भेदन को दूर करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

वृत्र-विनाश व असुर पराभव

अ॒नेनेन्द्रो॑ म॒णिना॑ वृ॒त्रम॑हन्न॒नेनासु॑रा॒न्परा॑भावयन्मनी॒षी।
अ॒नेना॑जय॒द् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जयत्प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अनेन मणिना**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा **वृत्रम् अहन्**=ज्ञान पर आ जानेवाले 'काम' रूप आवरण को नष्ट करता है। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और दीप्त ज्ञानाग्नि से काम का दहन होता है। **मनीषी**=वीर्यरक्षण द्वारा सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त मनुष्य **अनेन**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा ही **असुरान्**=सब आसुरवृत्तियों को **परा अभावयत्**=सुदूर पराभूत करनेवाला होता है। २. **अनेन**=इसके द्वारा ही **इमे उभे द्यावापृथिवी**=इन दोनों द्यावापृथिवी को—मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवी को **अजयत्**=जीतता है, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है तो शरीर को सशक्त करता है। **अनेन**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों दिशाओं और उपदिशाओं को **अजयत्**=जीतनेवाला होता है। सब दिशाओं में इस वीर्यवान् पुरुष की शोभा होती है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यरक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उससे काम का विध्वंस करता है, सब आसुरीभावों को पराभूत करता है, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त व शरीर को सशक्त बनाता है और सब दिशाओं में शोभावाला होता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'स्त्राक्त्यः मणिः'

अयं स्त्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः॥ ४॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यरूप मणि **स्त्राक्त्यः** (स्त्रै पाके, अक् गतौ, त्य)=तपस्या के द्वारा परिपाक की ओर गति करनेवालों में होनेवाली है। अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला ही इसका रक्षण कर पाता है, विलासी पुरुष में इसका निवास नहीं होता। **प्रतीवर्तः** (प्रतिकूलं वर्तयति अनेन)=शत्रुओं के मुख को मोड़ देनेवाला है। **प्रतिसरः**=यह वीर्य रोगरूप शत्रुओं पर धावा बोलनेवाला है। २. **ओजस्वान्**=यह हमें प्रशस्त ओजवाला बनाता है, **विमृधः**=शत्रुओं का विमर्दन करनेवाला है और **वशी**=सबको अपने वश में करनेवाला है। **सः**=वह मणि **अस्मान्**=हमें **सर्वतः पातु**=सब ओर से रक्षित करे।

भावार्थ—यह वीर्यरूप मणि अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवालों में रहती है। यह प्रतीवर्त व प्रतिसर है। यह हमें ओजस्वी बनाती है व हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्संस्तारपङ्क्तिः** ॥

'अग्नि-सोम' आदि का महत्त्वपूर्ण कथन

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥ ५॥

१. सोम-(वीर्य)—रक्षण के द्वारा मनुष्य उन्नति करता हुआ 'अग्नि' बनता है। इससे शक्तिशाली बनकर 'सोम'—शान्त स्वभाववाला होता है। निर्बलता ही चिड़चिड़ेपन को पैदा करती है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमें 'बृहस्पति' बनाता है। वीर्यरक्षण करनेवाला पुरुष निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त 'सविता' होता है, और शक्तिशाली बनकर शत्रुओं को दूर भगानेवाला 'इन्द्र' होता है। वीर्यरक्षक पुरुष ही दिव्य वृत्तियोंवाले 'देव' बनते हैं और सबका हित करनेवाले 'पुरोहित' होते हैं (पुरोहितवत् हितकारिणः)। २. यह **अग्निः**=अग्रणी पुरुष **तत् आह**=वही बात कहता है, **उ**=और **सोमः**=शान्त पुरुष भी **तत् आह**=वही बात कहता है। **बृहस्पतिः**=ज्ञानी, **सविता**=निर्माणकार्य-प्रवृत्त, **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक पुरुष भी **तत्**=उस बात को ही कहता है। **ते**=वे **पुरोहिताः**=सबका पूर्ण हित करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मे**=मेरे लिए यही कहते हैं कि लोगों को चाहिए कि **प्रतीचीः**=अपनी ओर आनेवाली **कृत्याः**=सब हिंसन-क्रियाओं को

प्रतिसरैः=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाली वीर्यमणियों द्वारा **अजन्तु**=दूर भगा दें। सुरक्षित वीर्य ही हमें सब हिंसनों से बचाता है। यही हमें अग्नि आदि बनने की क्षमता प्रदान करता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा सब हिंसकतत्त्वों को दूर करके हम 'अग्नि,सोम,बृहस्पति, सविता, इन्द्र, देव व पुरोहित' बनते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'द्यावापृथिवी' का अन्तःस्थापन

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥ ६॥

१. वीर्यरक्षण द्वारा मैं **द्यावापृथिवी अन्तः दधे**=द्युलोक व पृथिवीलोक को अपने अन्दर सुरक्षित रूप से धारण करता हूँ। मस्तिष्करूप द्युलोक को व शरीररूप पृथिवी को अज्ञानान्धकार व रोगों का शिकार नहीं होने देता, **उत**=और **अहः**=दिन को, **उत**=और **सूर्यम्**=सूर्य को मैं अन्दर धारण करता हूँ। 'अहन्' शब्द अ-विनाश का सूचक है—शरीर को मैं रोगों से विनष्ट नहीं होने देता। 'सूर्य' ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक है—मैं मस्तिष्क को ज्ञानसूर्य से दीप्त करता हूँ। २. **ते**=वे **देवाः**=दिव्य वृत्तिवाले **पुरोहिताः**=(पृ पालनपूरणयोः, पुरः च हिताः च) सबका पालन व पूरण करनेवाले तथा हित में प्रवृत्त व्यक्ति **प्रतीचीः**=अपने अभिमुख आनेवाली **कृत्याः**=हिंसाओं को **प्रतिसरैः**=रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाली वीर्यमणियों द्वारा **अजन्तु**=दूर भगा दें।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य 'मस्तिष्क व शरीर' के स्वास्थ्य का साधन बनता है। यह शरीर को रोगों से नष्ट नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। वीर्यरक्षक, पुरोहित, देव रोगरूप शत्रुओं को दूर भगा देते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

मणिरूप कवच

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्यइव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी॥ ७॥

१. **ये**=जो **जनाः**=लोग **स्राक्त्यम्**=तपस्या के द्वारा अपने को परिपक्व बनानेवाले लोगों में निवास करनेवाली **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **वर्माणि कृण्वते**=अपना कवच बनाते हैं, उनके जीवन में यह वीर्यमणि **वशी**=सब रोगादि शत्रुओं को वशीभूत करता हुआ **सूर्यः इव दिवम् आरुह्य**=सूर्य जैसे द्युलोक में आरोहण करता है, उसी प्रकार मस्तिष्करूप द्युलोक में आरुढ़ होकर **कृत्याः**=सब प्रकार के हिंसनों को **विबाधते**=दूर रोकनेवाला होता है। २. वीर्यरूप मणि मस्तिष्करूप द्युलोक का ज्ञानसूर्य बनती है तथा शरीररूप पृथिवीलोक पर आक्रमण करनेवाले सब रोगरूप शत्रुओं को सुदूर विनष्ट करनेवाली होती है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमारा कवच बनता है। यह रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से हमें बचाता है। मस्तिष्क में यह ज्ञानसूर्य के उदय का साधन बनता है और सब छेदन-भेदन को हमसे दूर रखता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

ऋषिणा इव मनीषिणा

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः॥ ८॥

१. **स्राक्त्येन मणिना**=अपने-आपको तपस्या की अग्नि में परिपाक करनेवालों में निवास करनेवाली इस वीर्यमणि के द्वारा **सर्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को मैं **अजैषम्**=जीतता हूँ। २. **ऋषिणा इव**=(ऋष् to kill) समस्त वासनाओं का संहार करनेवाले तत्त्वद्रष्टा की भाँति **मनीषिणा**=मुझे बुद्धिमान् बनानेवाली इस मणि के द्वारा **मृधः**=मेरा विमर्दन करनेवाले **रक्षसः**=राक्षसीभावों को **विहन्मि**=नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—अपने-आपको तपस्या की अग्नि में परिपाक करनेवाला व्यक्ति वीर्यरूप मणि को अपने में सुरक्षित करता है। यह वीर्यरूप मणि उसे सब संग्रामों में विजयी बनाती है और राक्षसीभावों को विनष्ट करती हुई उसे 'मनीषी ऋषि' बनानेवाली होती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतिर्जगती** ॥

'आङ्गिरसीः आसुरीः' कृत्याः

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति॥ ९॥

१. **याः कृत्याः**=जो छेदन-भेदन—हिंसा-प्रयोग **आङ्गिरसीः**=अङ्ग-रसों से सम्बद्ध हैं, अर्थात् जिनका घातक प्रभाव 'रस-रुधिर' आदि शरीर की धातुओं पर पड़ता है, **याः कृत्याः आसुरीः**=जो हिंसन-क्रियाएँ (असुषु रमन्ते) प्राणों में क्रीड़ा करनेवाली हैं, अर्थात् जिस छेदन-भेदन का घातक प्रभाव प्राणशक्ति पर पड़ता है, **याः कृत्याः स्वयंकृताः**=जो छेदन-भेदन की क्रियाएँ स्वयं आत्मदोष से उत्पन्न कर ली जाती हैं, **च उ**=और निश्चय से **याः अन्येभिः आभृताः**=जो छेदन-भेदन की क्रियाएँ हमारे साथ सम्बद्ध अन्य पुरुषों से प्राप्त कराई जाती हैं, **ताः**=वे **उभयीः**=दोनों प्रकार की (स्वयंकृत या अन्याभृत) कृत्याएँ **नाव्याः नवतिम् अति**=नौकाओं से तैरने योग्य नव्वे महानदियों को लाँघकर **परावतः परायन्तु**=दूर देश से भी दूर चली जाएँ—हमारे समीप उनका पहुँचना सम्भव ही न रहे। २. जैसे 'सात समुद्र पार' एक काव्यमय शब्द प्रयोग है, उसी प्रकार यहाँ नव्वे महानदियों के पार यह प्रयोग है। ये छेदन-भेदन हमसे दूर ही रहें। हमारे समीप न आ पाएँ। हमारे रस-रुधिर आदि अङ्ग-रसों पर इनका कुप्रभाव न हो, न ही हमारी प्राणशक्ति इन घातक प्रयोगों से प्रभावित हो। हमारे स्वयंकृत खान-पान के दोष इन हिंसाओं का कारण न बनें व अन्यों के साथ सम्पर्क इन हिंसनों को प्राप्त कराने का कारण न बने।

भावार्थ—न तो हमारे रस-रुधिर आदि अङ्ग-रस और न ही हमारे प्राण छेदन-भेदन को प्राप्त हों। न हमारे निजू दोषों से और न ही सम्बन्धित पुरुषों के दोषों से हमें छेदन-भेदन प्राप्त हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मणिबन्धन

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे॥ १०॥

१. **अस्मै**=इस साधक के लिए **देवाः**=सब दिव्यवृत्तियाँ **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **वर्म बध्नन्तु**=कवच के रूप में बाँधें। दिव्यवृत्तियाँ होने पर शरीर में वीर्यमणि सुरक्षित रहती है। यह रोगादि से बचानेवाले कवच की भाँति काम करती है। इन दिव्यवृत्तियों का ही परिणाम 'इन्द्रः, विष्णुः, सविता, रुद्रः, अग्निः, प्रजापतिः, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानरः' शब्दों से अभिव्यक्त हुआ है। ये सब नाम प्रभु के हैं। इन नामों से प्रभु का स्मरण करता हुआ यह साधक **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक—उदारवृत्तिवाला, **सविता**=निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त, **रुद्रः**=रोगों को दूर भगानेवाला, **अग्निः**=अग्रणी—अपने को आगे-और-आगे ले-चलनेवाला,

प्रजापतिः=प्रजा के रक्षण में तत्पर, **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित—तम व रज से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित, **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला व **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त होता है। ये सब दिव्यवृत्तियाँ शरीर में वीर्यरूप मणि को कवचरूप में बाँधनेवाली बनती हैं। २. **च**=और **सर्वे ऋषयः**=सब ऋषि भी इस साधक के लिए इस वीर्यमणि को कवचरूप में बाँधनेवाले हों। 'ऋषि' तत्त्वद्रष्टा पुरुष हैं। ये उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हुए वृत्तियों के सुन्दर निर्माण के द्वारा वीर्य का रक्षण करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम दिव्य वृत्तियोंवाले व उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनकर वीर्यरूप मणि को शरीर में कवच के रूप में धारण करें। ये कवच हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं के आक्रमण से बचाएगा।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सर्वोत्तम औषध

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वाञ्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम्॥ ११॥

१. हे वीर्यमणे! तू **ओषधीनां उत्तमः असि**=ओषधियों में उत्तम है, सब रोगों को नष्ट करनेवाली—रोगों का आक्रमण ही न होने देनेवाली है। तू इसप्रकार उत्तम है, **इव**=जैसेकि **जगताम्**=गतिशील पशुओं में **अनड्वान्**=गाड़ी खेंचनेवाला बैल अथवा **इव**=जैसे **श्वपदाम् व्याघ्रः**=हिंस्र पशुओं में व्याघ्र। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू ही शरीर-रथ का संचालक है—इन्द्रियरूप घोड़ों में तेरी ही शक्ति काम करती है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू रोगरूप गीदड़ों के लिए व्याघ्र के समान होता है। २. तेरे शरीर में सुरक्षित होने पर **यम् ऐच्छाम तं अविदाम**= 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' रूप जिन ऐश्वर्यों को हम चाहते हैं, उन्हें प्राप्त करनेवाले बनते हैं। तेरे शरीर में सुरक्षित होने पर हम **प्रतिस्पाशनम्**=(स्पश् to obstruct) शत्रुरूप बाधक को—विरोधी के रूप में आक्रमण करनेवाले को **अन्तितम्**=(अन्तःजातः अस्य) समाप्त किया हुआ प्राप्त करें—इन शत्रुओं को नष्ट कर पाएँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह जीवन की गाड़ी को चलाता है, विघ्नभूत रोगादि को विनष्ट करता है। इसके द्वारा वाञ्छनीय सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और विरोधी तत्त्व विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्याघ्रः सिंहः इव

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा। अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १२॥

१. **यः**=जो भी **इमं मणिं बिभर्ति**=इस वीर्यरूप मणि को धारण करता है, **सः इत्**=वह ही **व्याघ्रः भवति**=व्याघ्र होता है, **अथो सिंहः**=और शेर के समान ही होता है। व्याघ्र व सिंह के समान यह सब शत्रुओं को शीर्ण करने में समर्थ होता है। **अथो वृषा**=अब यह सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सेचन करनेवाला होता है। २. इसप्रकार सब अङ्गों को बलवान् बनाकर **अथो**=अब यह **सपत्नकर्शनः**=सब शत्रुओं का विनाशक होता है। न तो रोग और न ही वासनाएँ इसे अभिभूत कर पाती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यमणि हमें सिंह व व्याघ्र के समान शत्रुओं के अभिभव में समर्थ करती है और सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सेचन करती हुई हमारे सब रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करती है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

न अप्सरसः, न गन्धर्वाः, न मर्त्याः

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १३॥

१. **यः**=जो **इमं मणिं बिभर्ति**=इस वीर्यरूपमणि को धारण करता है, **एनम्**=इसे **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) यज्ञादि कर्मों में गतिवाले कर्मकाण्डी **न घ्नन्ति**=(हन् to conquer) पराजित नहीं कर पाते, अर्थात् यह यज्ञों में उनसे पीछे नहीं रहता। **न गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी भी इसे पराजित नहीं कर पाते। यह ज्ञानियों में अग्रभाग में स्थित होता है। २. इसी प्रकार इस वीर्यरूप मणि के धारक को **न मर्त्याः**=सामान्य धनार्जन में प्रवृत्त मनुष्य भी पराजित नहीं कर पाते। यह वीर्य-रक्षण उसे यज्ञादि कर्म करने, ज्ञानोपार्जन व धनार्जन में क्षमता प्रदान करता है। इसप्रकार यह वीर्य-रक्षक पुरुष **सर्वाः दिशः विराजति**=सब दिशाओं में शोभावाला होता है।

भावार्थ—वीर्य का धारण मनुष्य को सब क्षेत्रों में विजयी बनाता है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

'सहस्रवीर्यमणि' रूप कवच

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत्।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत॥ १४॥

१. हे वीर्यमणे! **कश्यपः**=सर्वद्रष्टा प्रजापति ने **त्वाम् असृजत्**=तुझे उत्पन्न किया है। **कश्यपः**=वह सर्वद्रष्टा प्रजापति ही **त्वा समैरयत्**=तुझे सर्वोपकार के लिए सम्यक् प्रेरित करता है। **त्वा**=तुझे **इन्द्रः अबिभः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने में धारण करता है। **मानुषे**=(मानुषेषु मध्ये—सा०) मनुष्यों में जो भी पुरुष तुझे **बिभ्रत्**=धारण करता है, वह **संश्रेषिणे**=परस्पर संश्लेषण के स्थानभूत संग्राम में **अजयत्**=विजयी होता है। २. इसप्रकार इस स्राक्त्य मणि के महत्त्व को समझते हुए **देवाः**=ज्ञानी पुरुष **सहस्रवीर्यम् मणिम्**=इस अनन्त शक्तिशाली मणि को **वर्म अकृण्वत**=अपना कवच बनाते हैं। इस कवच से सुरक्षित हुए-हुए वे रोगादि से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु ने इस वीर्यमणि को जन्म दिया है, प्रभु ने सर्वोपकार के लिए इसे हममें स्थापित किया है। जितेन्द्रिय पुरुष इसे धारण करता है। इसका धारक संग्राम में विजयी बनता है। यह 'सहस्रवीर्य मणि' देवों का कवच है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

दीक्षामय व यज्ञमय जीवन

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा॥ १५॥

१. **यः**=जो **त्वा**=तुझे **कृत्याभिः**=छेदन-भेदन की क्रियाओं से **जिघांसति**=जीतने की कामना करता है, **यः**=जो **त्वा**=तुझे **दीक्षाभिः**=व्रतों द्वारा (वाग्यमन 'मौन' आदि नियमविशेषों से) जीतना चाहता है, **यः त्वा**=जो तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा जीतने की कामना करता है, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **तं प्रत्यक्**=उसके अभिमुख **शतपर्वणा**=शतवर्षपर्यन्त तेरा पूरण

करनेवाले **वज्रेण**=इस वीर्यमणिरूप वज्र के द्वारा **जहि**=जानेवाला हो (हन् गतौ)। २. यह वीर्यमणिरूप वज्र जहाँ तुझे छेदन–भेदन का शिकार न होने देगा, वहाँ तू इसके द्वारा 'दीक्षा व यज्ञों' में किसी से पराजित नहीं होगा। इस मणि–रक्षा से तेरा जीवन भी दीक्षामय व यज्ञमय बन जाएगा।

भावार्थ—वीर्यमणिरूप वज्र हमारा शतवर्षपर्यन्त पूरण करनेवाला होता है। यह हमारे जीवन को दीक्षामय व यज्ञमय बनाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिपाणः, सुमङ्गलः

अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्त्संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः॥ १६॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यरूपमणि **इत् वै**=निश्चय से **प्रतीवर्तः**=कृत्याओं के पराङ्मुख करने का साधन है। यह हमें रोगादि जनित छेदन–भेदन से बचानेवाली है। **ओजस्वान्**=यह हमें ओजस्वी बनाती है और **सञ्जयः**=सम्यक् विजयी करती है। २. शरीर में सुरक्षित यह वीर्यमणि **प्रजां धनं च**=प्रजा और धन की **रक्षतु**=रक्षा करे, अर्थात् हमें उत्तम प्रजावाला और उत्तम साधनों से धन कमाने योग्य बनाए। यह **परिपाणः**=सब प्रकार से हमारी रक्षक है और **सुमङ्गलः**=उत्तम कल्याण करनेवाली है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब छेदन–भेदन को दूर रखनेवाला है। यह हमें ओजस्वी बनाकर विजयी बनाता है, उत्तम प्रजा व उत्तम धनवाला बनाता है। यह हमारा रक्षण व मङ्गल करनेवाला है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असपत्नम् ज्योतिः

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥ १७॥

१. हे प्रभो! इस वीर्यमणि के द्वारा **नः**=हमें **अधरात्**=दक्षिण दिशा से **असपत्नम्**=शत्रुरहित **कृधि**=कीजिए। इसी प्रकार **उत्तरात्**=उत्तर दिशा से भी **नः**=हमें **असपत्नम्**=शत्रुरहित कीजिए। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से भी **असपत्नम्**=शत्रुराहित कीजिए। **पुरः**=सामने से वा पूर्व से भी शत्रुरहित कीजिए। २. इस वीर्यमणिरूप कवच को धारण करने पर हमें किसी भी दिशा में रोगादि शत्रुओं का भय न हो। हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हमारे लिए आप **ज्योतिः** (**कृधि**)=प्रकाश करनेवाले होओ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि हमें सब दिशाओं में शत्रुरहित करके ज्योतिर्मय जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र, अग्नि व धाता

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माऽहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे॥ १८॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक—मस्तिष्क व शरीर **मे**=मेरे लिए **वर्म**=कवच को **दधातु**=धारण कराएँ। **अहः**=दिन (अ–हन्) समय को नष्ट न करने की वृत्ति **वर्म**=कवच को

धारण कराए। **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **वर्म**=कवच को धारण कराए। वीर्यमणि ही कवच है। इस कवच को धारण करनेवाला मस्तिष्करूप द्युलोक को दीप्त बनाता है, शरीररूप पृथिवीलोक को दृढ़ बनता है। इस कवच को धारण करनेवाला सारे दिन उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहता है और अपने जीवन में ज्ञानसूर्य को उदित करता है। २. **मे**=मेरे लिए **इन्द्रः च अग्निः च**=इन्द्र और अग्नि **वर्म**=इस कवच को धारण कराएँ। जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की भावनावाला बनकर मैं इस वीर्य को अपने में सुरक्षित करूँ। **धाता**=वह धारक प्रभु **मे**=मुझे **वर्म**=वीर्यमणिरूप कवच धारण कराए। धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ मैं इस वीर्यमणि को अपने में सुरक्षित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—वीर्य को अपने अन्दर वह धारण कर पाता है जो अपने मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व दृढ़ बनाने का निश्चय करता है (द्यावापृथिवी), जो दिन में एक-एक क्षण को यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताता है (अहः), अपने अन्दर ज्ञानसूर्य को उदित करने के लिए यत्नशील होता है (सूर्यः)। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र),आगे बढ़ने की वृत्तिवाला (अग्नि), धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति (धाता) ही इस वीर्य को अपना कवच बना पाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

ऐन्द्राग्नं वर्म

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे॑देवा नाति विध्य॑न्ति सर्वे॑।
तन्मे॑ तन्वं᳡ त्रायतां सर्वतो॑ बृहदायु॑ष्मां जरद॑ष्टिर्यथासा॑नि॥ १९॥

१. यह **ऐन्द्राग्नम्**=इन्द्र और अग्नि का—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से धारण किया जानेवाला वीर्यरूप **वर्म**=कवच **बहुलम्**=(बहून् अर्थान् लाति) 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति' रूप अनेक अर्थों को प्राप्त करानेवाला है। **यत्**=जो यह कवच **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाला है (बढ़े हुए बलवाला है), **सर्वे**=सारे **विश्वे**=शरीर में प्रविष्ट होनेवाले **देवाः**=देव **न अतिविध्यन्ति**=इसका अति वेधन नहीं कर पाते, अर्थात् कोई भी देव इससे बढ़कर नहीं है। वस्तुतः सब देवों की स्थिति इसके ही कारण है। शरीर में वीर्य के सुरक्षित होने पर ही यहाँ सब देवों का वास होता है। चक्षु आदि के रूप में रहनेवाले सूर्यादि देव इस वीर्यमणि से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। २. **तत्**=वह वीर्यमणिरूप वर्म **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **सर्वतः त्रायताम्**=सब ओर से रक्षित करे। **यथा**=जिससे **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ मैं **आयुष्मान्**=प्रशस्त जीवनवाला **जरदष्टिः**=पूर्ण जरावस्था का—शतवर्षपर्यन्त जीवन का व्यापन करनेवाला **असानि**=होऊँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले बनकर हम वीर्य का रक्षण करें। यह चक्षु आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर करनेवाला हो। यह मेरे शरीर का रक्षक हो। मैं इसके द्वारा प्रशस्त दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाऽऽस्तारपङ्क्तिः** ॥

देवमणिः

आ मा॑रुक्षद्देवम॒णिर्म॒ह्या अ॑रि॒ष्टता॑तये।
इ॒मं मे॒थिम॑भि॒संवि॑शध्वं तनू॒पानं॑ त्रिव॑रूथ॒मोज॑से॥ २०॥

१. **देवमणिः**=प्रभु द्वारा शरीर में स्थापित की गई यह वीर्यरूपमणि **मा आरुक्षत्**=मेरे शरीर में सर्वतः आरोहणवाली होती है। शरीर में मैं इसकी ऊर्ध्व गति करनेवाला बनता हूँ। यह **मह्यै**=(महत्यै) महती **अरिष्टतातये**=अहिंसा के लिए होती है। यह सब हिंसनों को दूर करके क्षेम (कल्याण) का साधन बनती है। २. **इमम्**=इस **मेथिम्**=शत्रुओं का विलोडन करनेवाली—

रोगादि का विनाश करनेवाली देवमणि को **अभिसंविशध्वम्**=अभितः सम्यक् सँभालकर रखनेवाले बनो। शरीर में यह तुम्हें नीरोग बनाये और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त। इस मणि का तुम आश्रय करो जोकि **तनूपानम्**=शरीर का रक्षण करनेवाली है, **त्रिवरूथम्**=त्रिविध आवरण से युक्त है—शरीर को रोगों से बचाती है, मन को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देती तथा बुद्धि को लोभ से उपहत नहीं होने देती। यह मणि **ओजसे**=हमारे ओज के लिए होती है—हमें ओजस्वी बनाती है।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्व गति होने पर यह हमारे अहिंसन का कारण बनता है। शत्रुओं का विध्वंस करके यह 'शरीर,मन व बुद्धि' का रक्षक आवरण बनता है। हमें ओजस्वी बनाकर शरीर-रक्षण के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

दीर्घायुत्वाय शतशारदाय

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत्॥ २१॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **अस्मिन्**=इस वीर्यरूप देवमणि में **नृम्णं नि दधातु**=बल स्थापित करे। हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **इमम्**=इस वीर्यमणि को **अभिसंविशध्वम्**=अभितः सम्यक् आश्रित करो, इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। २. इसलिए तुम इसे शरीर में ही समाविष्ट करो, जिससे यह **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्षों के दीर्घजीवन के लिए हो। इसे मनुष्य इसलिए धारण करे **यथा**=जिससे वह **आयुष्मान्**=प्रशस्त जीवनवाला व **जरदष्टिः**=पूर्ण जरावस्था को प्राप्त करनेवाला **असत्**=हो।

भावार्थ—प्रभु ने इस वीर्यमणि में बल की स्थापना की है। देववृत्ति के लोग इसका रक्षण करते हैं और प्रशस्त दीर्घजीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराड्गर्भाभुरिक्शक्वरी** ॥

स्वस्तिदाः—अपराजितः

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः॥ २२॥

१. **स्वस्तिदा**=कल्याण करनेवाला, **विशां पतिः**=प्रजाओं का रक्षक **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करनेवाला, **विमृधः**=शत्रु-विनाशकारी, **वशी**=सबका वशयिता, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **ते मणिं बध्नातु**=तेरे शरीर में इस वीर्यमणि को बाँधे। प्रभुकृपा से वीर्य शरीर में ही सुरक्षित हो। वस्तुतः इस वीर्य के द्वारा ही प्रभु हमारे लिए कल्याण व विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **जिगीवान्**=जयशील हैं, **अपराजितः**=कभी पराजित नहीं होते, **सोमपाः**=प्रभु ही हमारे शरीर में सोम (वीर्य) का पान करनेवाले हैं। इस सोमपान द्वारा **अभयंकरः**=हमें निर्भयता प्राप्त कराते हैं और **वृषा**=हमारे लिए सब सुखों का सेचन करते हैं। **सः**=वे 'अभंयकर वृषा' प्रभु इस मणिबन्धन द्वारा **त्वा**=तुझे **सर्वतः रक्षतु**=सब भयनिमित्तों से बचाएँ। वे प्रभु **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **विश्वतः**=सब ओर से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में इस वीर्यमणि का बन्धन किया है। इसप्रकार प्रभु हमें कल्याण व विजय प्राप्त कराते हैं। यह वीर्यमणि दिन-रात सब ओर से हमारा रक्षण करती है।

अगले सूक्त की ऋषिका 'मातृनामा' है। यह अपनी युवति कन्या के लिए उत्तम पति का

वरण करती हुई सचमुच 'उत्तम परिवार का निर्माण करनेवाली' होने से मातृनामा कहलायी है। विषय (देवता) भी यही है। कैसे पति का वरण करना है? इस विचार से सूक्त का आरम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशः प्रपाठकः ॥

अथैकोनविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दुर्णामा तथा अलिंश वत्सप

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒तायाः॑ पति॒वेद॑नौ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सपः॑॥ १॥

१. हे युवति! **जातायाः ते**=(जनी प्रादुर्भावे) यौवन के ठीक रूप से प्रादुर्भाववाली तेरे लिए **पति-वेदनौ**=पति के रूप में प्राप्त होनेवाले **यौ**=जिनको **माता**=तेरी माता ने **उन्ममार्ज**=(ऊर्ध्वमुखं ममार्ज, पत्युः परिग्रहाय परिहृतवती—सा०) स्पष्ट ही अस्वीकार कर दिया है। वे दोनों ही **तत्र मा गृधत्**=तुझ युवति के साथ विवाह के लिए आकांक्षा न करें। २. उनमें से एक तो **दुर्णामा**=कुष्ठ या अर्श (बवासीर) नामक पापरोगवाला है, **उत**=और दूसरा **अलिंशः**=(अलिं श्यति—अल्=शक्ति) शक्ति को क्षीण करनेवाला, अतएव **वत्सपः** (वत्सपिवः)=बच्चों को पी जानेवाला—शिशुनाशक है।

भावार्थ—वर के वरण के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कुष्ठ व अर्श आदि पापरोगों से पीड़ित न हो तथा क्षीणशक्ति और शिशुनाशक न हो।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

'पलाल-अनुपलाल' विवाह के लिए निषिद्ध

प॒ला॒लानु॒प॒ला॒लौ शर्कुं॒ कोकं॑ मलिम्लु॒चं प॒लीज॑कम्।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑सस॒मृक्ष॑ग्रीवं प्रमी॒लिन॑म्॥ २॥

१. माता इन व्यक्तियों को भी वरण में अस्वीकार कर दे—**पलाल-अनुपलालौ**=जो तृण की भाँति है—अति निर्बल है, अथवा सींकया-सा प्रतीत होता है। **शर्कुम्**='शम् शम् इति कौति' जिसकी आवाज़ शरशराती-सी है। **कोकम्**=चक्रवाक के स्वभाववाला, अथवा (A wolf) भेड़िये कि भाँति बहुत खानेवाला है। **मलिम्लुचम्**=चोरी की वृत्तिवाला—मलिन स्वभाववाला है, **पलीजकम्**=पलित केशोंवाला—वृद्ध-सा है। **आश्रेषम्**=(आश्लिष्य हन्तारम्) जो आलिङ्गन से पीड़ित करनेवाला—किसी संक्रामक रोग से पीड़ित है, **वव्रिवाससम्**=(रूपोपेतवसनवन्तम्) दिखावे के लिए तड़क-भड़क के कपड़े पहने हुए है। **ऋक्षग्रीवम्**=रीछ की भाँति गर्दनवाला है तथा **प्रमीलिनम्**=चुँधी-चुँधी आँखोंवाला है।

भावार्थ— माता-पिता अपनी कन्या के लिए इन 'पलाल,अनुप्रलाल' आदि का भी वरण न करें।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दुर्णामचातन 'बज'

मा सं वृ॑तो॒ मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा।
कृणो॒म्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम्॥ ३॥

१. दुर्णामाख्यरोगाभिमानिन्! तू इस युवति के **ऊरू अन्तरा**=ऊरूओं के मध्य में **मा संवृतः**=संवृति—संकोच मत कर तथा **मा उपसृपः**=उपसर्पण—अन्तःप्रवेश मत कर और ऊरूओं के बीच में **मा अवसृपः**=नीचे की ओर गति न कर। २. मैं **अस्यै**=इस युवती के लिए **दुर्णामचातनम्**=दुर्नामाख्य दोष के विनाशक **बजम्**=श्वेत सर्षपरूप **भेषजम्**=औषध को **कृणोमि**=करता हूँ।

भावार्थ—श्वेत सर्षप का प्रयोग दुर्नामाख्य रोग का विनाशक है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामा बनाम सुनामा

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम्॥ ४॥

१. **दुर्णामा च**=दुष्टरोगाक्रान्त पुरुष और **सुनामा च**=उत्तम रूपादियुक्त सुगुण पुरुष **उभा**=दोनों **संवृतम्**=संवरण को—स्वयंवर पर वरे जाने को **इच्छतः**=चाहते हैं। विवाहित होने की इच्छा स्वाभाविक हैं। रोगी भी विवाहित होना चाहता ही है। २. परन्तु हम इस अवसर पर **अरायान्**=अलक्ष्मीक—उत्तम गुण-सम्पत्तिरहित पुरुष को **अपहन्मः**=दूर भगाते हैं। **सुनामा**=उत्तम गुण-सम्पत्तिवाला यशस्वी पुरुष ही **स्त्रैणम्**=स्त्री-शरीर को (स्त्रियाः सम्बन्ध्यङ्गम्—सा०) **इच्छताम्**=चाहे—वही इसे प्राप्त करे।

भावार्थ—दुर्नामाख्य रोगपीड़ित पुरुष के साथ हम युवति कन्या का सम्बन्ध न करें। अलक्ष्मीक पुरुषों को दूर भगाकर यशस्वी पुरुष से ही उनका सम्बन्ध करें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अराय' पुरुष

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि॥ ५॥

१. **यः कृष्णः**=जो अति कृष्णवर्ण का है, **केशी**=बहुत अधिक बालोंवाला है—सब स्थानों पर बाल-ही-बालवाला है, **असुरः**=असुर—राक्षस-सा प्रतीत होता है, केवल प्राणपोषी (खाऊ=पीऊ) है **स्तम्बजः**=(स्तम्बेः जातः) जंगली-सा प्रतीत होता है, **उत**=और **तुण्डिकः**=कुत्सित मुखवाला है—इन सब **अरायान्**=अलक्ष्मीक पुरुषों को **अस्याः**=इस युवति के **मुष्काभ्याम्**=मुष्कों से—अण्डकोषों से (व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः०) तथा **भंससः**=कटिसन्धिप्रदेश से **अपहन्मसि**=दूर करते हैं।

भावार्थ— कृष्ण, केशी, असुर, स्तम्बज व तुण्डिक पुरुष स्त्री-सम्बन्ध के अयोग्य हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुजिघ्र आदि कृमियों का विनाश

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत्॥ ६॥

१. **अनुजिघ्रम्**=(आघ्रायैव हिंसकम्) सूँघकर ही हिंसित करनेवाले **प्रमृशन्तम्**=(प्रमृश्यैव हन्तारं) छूकर नष्ट करनेवाले, **क्रव्यादम्**=मांस खा जानेवाले—हमें अमांस बना देनेवाले, **उत**=और **रेरिहम्**=(लीढ्वैव हन्तारम्) चाटकर नष्ट कर देनेवाले—इन सब **अरायान्**=अलक्ष्मी के कारणभूत रोगकृमियों को जोकि **श्वकिष्किणः**=(किष्क हिंसायाम्) कुत्ते की भाँति हिंसित

करनेवाले हैं, **पिङ्गः बजः**=पिशङ्गवर्ण का सर्षप **अनीनशत्**=खूब ही नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—अनुजिघ्र, प्रमृशन्, क्रव्याद्, रेरिह नामक कुत्ते के समान हिंसन करनेवाले सभी रोगकृमियों को पिशङ्गवर्ण सर्षप नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

गर्भिणी-रक्षण

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

१. हे वरवर्णिनि! **यः** जो पुरुष **भ्राता**=भाई **च**=अथवा **पिता इव भूत्वा**=पिता का-सा रूप बनाकर **स्वप्ने**=स्वप्नावस्था में **निपद्यते**=नीचभाव से तेरे समीप आता है, **तान्**=उन सब दुष्टभावयुक्त **क्लीबरूपान्**=नंपुसक **तिरीटिनः**=टेढ़े मार्ग पर जानेवाले पुरुषों को **बजः**=शक्तिशाली—क्रियाशील पति **इतः सहताम्**=इस कुत्सित मार्ग से पराभूत करे।

भावार्थ—पति गर्भिणी युवति का इसप्रकार रक्षण करे कि कोई भी व्यक्ति छिपकर स्वप्नावस्था में भी उससे दुराचार न कर सके।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

छायाम् इव सूर्यः

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

हे गर्भिणी! **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वपन्तीम्**=सोई हुई को **त्सरति**=छल से प्राप्त होता है, **यः**=जो **त्वा**=तुझे **जाग्रतीम्**=जागती हुई को **दिप्सति**=पीड़ित करना चाहता है—दबाना चाहता है, **तान्**=उन्हें **इव**= जैसे **सूर्यः छायाम्**=सूर्य छाया को नष्ट करता है, उसी प्रकार **परिक्रामन्**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में गति करता हुआ (बज) पुरुषार्थी पति **अनीनशत्**=सुदूर अदृष्ट करे। पति ऐसी व्यवस्था करे कि कुटिल पुरुषों का उसके घर पर आना ही न हो।

भावार्थ—कर्त्तव्य-परायण पुरुषार्थी पति को गृहरक्षा की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि कोई भी कुटिलपुरुष उसके घर में न आ सके, न ही वह स्त्रियों के साथ अशुभ व्यवहार कर सके।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

न मृतवत्सा, न अवतोका

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

१. **यः**=जो रोग **इमां स्त्रियम्**=इस स्त्री को **मृतवत्साम्**=मृत-पुत्रा अथवा **अवतोकाम्**=अवपन्न (विनष्ट) गर्भवाली **कृणोति**=करता है, हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वम्**=तू **अस्याः**=इस स्त्री के **तम्**= उस रोग को **नाशय**=नष्ट कर दे। इस रोगविनाश से इसका **कमलम्**=गर्भद्वार **अञ्जिवम्**= अभिव्यक्तिवाला (Shining, brilliant) अथवा स्निग्ध (slippery, smooth) श्लक्ष्णोपेत हो जाए।

भावार्थ—ओषधि के प्रयोग से इस गर्भिणी के गर्भद्वार को इसप्रकार शुद्ध व स्निग्ध किया जाए कि इसकी सन्तान न मृत हो, न अवपन्न हो, अर्थात् यह स्वस्थ सन्तान को जन्म दे सके।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

कृमिविनाश

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय॥ १०॥

१. **ये**=जो भी रोगकृमि **सायं गर्दभनादिनः**=सायं गधे की भाँति शब्द करते हुए **शालाः परिनृत्यन्ति**=गृहों के चारों ओर नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं, ये **कुसूलाः**=जो कुसूल की आकृतिवाले हैं अथवा चिपट जानेवाले हैं(कुस संश्लेषणे), **च**=और **कुक्षिलाः**=बृहत् कुक्षि (बड़े पेटवाले) हैं, **ककुभाः**=अर्जुनवृक्ष की भाँति भयंकर आकृतिवाले हैं, **करुमाः**=(कम् रवन्ते रुवङ् वधे) सुख का विनाश करनेवाले, **स्त्रिमाः**=(स्त्रिवु शोषणे) रुधिर का शोषण करनेवाले हैं, **तान्**=उन कृमियों को हे **ओषधे**=गौर व पीत सर्षप **त्वम्**=तू **गन्धेन**=गन्ध के द्वारा—अग्निहोत्र की अग्नि में पड़कर फैलनेवाली गन्ध के द्वारा **विशूचीनां विनाशय**=विरुद्ध दिशाओं में भगाकर नष्ट कर दे।

भावार्थ—स्वास्थ्य के लिए सायं प्रबल हो उठनेवाले, विविध कृमियों का विनाश आवश्यक है। हव्यद्रव्य के गन्ध से इनका विनाश करना इष्ट है। हमारे घरों के पास ये कृमि न रहें।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

'कुकुन्ध' आदि कृमियों का विनाश

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।
क्लीबाइव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि॥ ११॥

१. **ये**=जो **कुकुन्धाः**=(कु+कु+धा) बुरा शब्द करते हैं, **कुकूरभाः**=(कुकूलः तुषानलः तद्वद् भान्ति) कुछ थोड़ा-सा चमकनेवाले हैं, **कृत्तीः**=काटनेवाले तथा **दूर्शानि**=दंश करने के साधनों को **बिभ्रति**=धारण करते हैं, **ये**=जो **क्लीबाः इव प्रनृत्यन्तः**=नुपंसकों की भाँति नृत्य करते हुए **वने घोषं कुर्वते**=वन में शब्द करते हैं, **तान्**=उन कृमियों को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—बुरा शब्द करनेवाले, कुछ-कुछ चमकनेवाले, मुख से काटने व दंश का साधन रखनेवाले, वन में नृत्य के साथ घोष करनेवाले मच्छरादि को यहाँ से दूर कर दो।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्ते

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि॥ १२॥

१. **ये**=जो कृमि **दिवः**=द्युलोक से **आतपन्तम्**=सर्वतः ताप करते हुए **अमुं सूर्यम्**=उस सूर्य को न **तितिक्षन्ते**=नहीं सहन करते, अर्थात् गर्मी से नष्ट हो जाते हैं, उन **अरायान्**=श्री के विनाशक—श्रीरहित **वस्तवासिनः**=चर्म में निवास करनेवाले—त्वचा पर चिपट जानेवाले **दुर्गन्धीन्**=दुष्ट गन्धवाले **लोहितास्यान्**=लाल-लाल मुखवाले, अर्थात् रुधिर लिप्त मुखवाले **मककान्**=कुत्सित गतिवाले कृमियों को **नाशयामसि**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—सूर्य की गर्मी में जो नष्ट हो जाते हैं, उन अलक्ष्मी के कारणभूत, चमड़े में चिपटनेवाले, दुर्गन्धियुक्त, रक्तमुख कृमियों को हम नष्ट करते हैं।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिनः

य आत्मानमतिमात्रमंसं आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय॥ १३ ॥

१. **ये**=जो कृमि **अतिमात्रम्**=बहुत ही अधिक **अंसे आधाय**=औरों को पीड़ा में स्थापित करके **आत्मानम् बिभ्रति**=अपने को धारण करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन औरों की पीड़ा पर ही आश्रित है, उन **स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिनः**=स्त्रियों के कटिप्रदेश को पीड़ित करनेवाले **रक्षांसि**=रोगकृमियों को, हे **इन्द्र**=राजन्! **नाशय**=नष्ट कर राजा स्वच्छता आदि की इसप्रकार व्यवस्था कराये कि रोगकृमि उत्पन्न ही न हों।

भावार्थ—औरों को पीड़ित करने पर ही जिनका जीवन निर्भर करता है, स्त्रियों के कटिप्रदेशों को अतिशयेन व्यथित करनेवाले उन रोगकृमियों के विनाश के लिए राजा की ओर से समुचित व्यवस्था होनी आवश्यक है।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

आपाकेस्थाः प्रहासिनः

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥ १४ ॥

१. **ये**=जो कृमि **हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः**=हाथ में हिंसा-साधन धारण करते हुए **वध्वः पूर्वे यन्ति**=वधुओं के आगे जाते हैं, **आपाकेस्थाः**=जो पाकशालाओं में स्थिर होते हैं, **प्रहासिनः**=जो अपने दंश से हँसाते-से हैं, **ये**=जो कृमि **स्तम्बे**=तृणादि के गुच्छों में **ज्योतिः कुर्वते**=प्रकाश करते हैं, अर्थात् झाड़ियों में चमकते हैं **तान्**=उन सबको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—जिन कृमियों के हाथ में सींग-सा दंश है, जो पाकगृह में रहते हैं, जो चमकते हैं और स्त्रियों के पास जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, उन रोगकृमियों को यहाँ से विनष्ट कर दो।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ब्राह्मणस्पतिः ॥ छन्दः—सप्तपदाशक्वरी ॥

खलजाः शकधूमजाः

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥ १५ ॥

१. **येषाम्**=जिन कृमियों के **प्रपदानि**=पादाग्रप्रदेश **पश्चात्**=पीछे की ओर हैं, **पार्ष्णीः पुरः**=ऐड़ियाँ आगे हैं, **मुखाः पुरः**=प्रपदों के प्रतिकूल मुख आगे ही हैं, **खलजाः**=धान्य शोधन प्रदेशों में होनेवाले, **शकधूमजाः**=गौ-अश्व आदि के पुरीष-पिण्डों के धूम से उत्पन्न होनेवाले **उरुण्डाः**=उद्गत रुण्ड-(सिरोभाग)-वाले **च**=और **ये मट्मटाः**=(मट् अवसादने) जो बहुत पीड़ा देनेवाले हैं, **कुम्भमुष्काः**=कुम्भोपम मुष्क से युक्त हैं, **अयाशवः**=(अयो वायुः) वायु की भाँति शीघ्रगामी हैं, **तान्**=उन सब रोगकृमियों को, हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्याः प्रतिबोधेन**=इस बज (श्वेत सर्षप) ओषधि के प्रतिनियत ज्ञान से **नाशय**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—विकृत रूपवाले तथा अपवित्र स्थानों में उत्पन्न हो जानेवाले विविध कृमियों को हम 'बज' नामक ओषधि के सम्यक् प्रयोग से दूर करें।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

अस्त्रैणाः (सन्तु)

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम्॥ १६ ॥

१. **पर्यस्ताक्षाः**=जिनकी आँखे फिरी हुई हैं—टेढ़ी आँखवाले, **अप्रचङ्कशाः**=बिल्कुल लंगड़े-लूले **पण्डगाः**=नंपुसक लोग **अस्त्रैणाः सन्तु**=स्त्रियों से रहित हों—इन्हें विवाह का अधिकार न हो। २. हे **भेषज**=चिकित्सक राजवैद्य! **यः**=जो **इमाम्**=इस **स्वपतिं स्त्रियम्**=अपने पति के साथ होनेवाली स्त्री को **अपतिः**=किसी का पति न होता हुआ **संविवृत्सति**=प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस पुरुष को **अवपादय**=राष्ट्र से दूर कर। जो विवाहित न होकर अन्य स्त्रियों में वर्तना चाहते हैं, उन्हें राष्ट्र से दूर करना ही ठीक है।

भावार्थ—'पर्यस्ताक्ष, अप्रचङ्कश, पण्डग' लोग विवाह के अयोग्य हैं। जो गृहस्थ न बनकर पर-दाराओं में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें राष्ट्र से निष्कासित करना ही ठीक है।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—सप्तपदाजगती ॥

पदा प्रविध्य

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्। उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना॥ १७॥

१. **उद्धर्षिणम्**=अत्यधिक कामी—मिथ्या व्यवहारवाले (हृषु अलीके), **मुनिकेशम्**=मुनियों के समान जटाओं को बढ़ाए हुए—ढोंगी, **जम्भयन्तम्**=हिंसन करते हुए, **मरीमृषम्**=बार-बार गुह्याङ्गों को स्पर्श करनेवाले **उपेषन्तम्**=(उप+ईष) अधिक आने-जानेवाले, **उदुम्बलम्**=अत्यधिक भोगी या मारनेवाले **तुण्डेलम्**=बन्दर के समान आगे बढ़े हुए मुखवाले **उत**=और **शालुडम्**=घमण्डी पुरुष को हे स्त्रि! तू इसप्रकार **पदा प्र विध्य**=पाँवों से ठोकर मार, **इव**=जैसेकि **स्पन्दना गौः**=कूदनेवाली गौ **पार्ष्ण्या**=ऐड़ी से **स्थालीम्**=दूध दुहे जानेवाली हाँडी को आहत करती है।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष कामासक्ति के कारण ढोंगी-सा बना हुआ अपने पुरुषत्व के घमण्ड में स्त्री के साथ अनुचित सम्पर्क करना चाहता है तो स्त्री उसे पादाहत करके उसकी प्रार्थना को ठुकरा दे।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पिङ्गः

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥ १८ ॥

१. **यः**=जो रोगकृमि **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को—गर्भस्थ सन्तान को **प्रतिमृशात्**=पीड़ित करे, **वा**=अथवा **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **ते**=तेरे पुत्र को **मारयाति**=मार देता है, **तम्**=उसे यह **उग्रधन्वा**=उद्गूर्ण गतिवाला अथवा भंयकर धनुष से युक्त **पिङ्गः**=गौर सर्षप **हृदयाविधम्** **कृणोतु**=विद्ध (पीड़ित हृदयवाला) करे। यह सर्षप औषध देवता ही है, इसी से इसे यहाँ 'उग्रधन्वा' कहा है। यह उन गर्भविघातक कृमियों को हृदय में विद्ध करके नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—योग्य वैद्य गौर सर्षप के प्रयोग से उन कृमियों को नष्ट करें, जो गर्भ में दोष उत्पन्न कर देते हैं।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

स्त्रीभागान् गन्धर्वान्

ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु॥ १९॥

१. **ये**=जो कृमि **अम्नः जातान्**=अर्धोत्पन्न गर्भों को **मारयन्ति**=नष्ट कर डालते हैं (अम्नः अबोध-अमन्)। **सूतिकाः अनुशेरते**=अभिनवप्रसवा स्त्रियों के साथ शयन (निवास) करते हैं, उन **गन्धर्वान्**=(गन्ध अर्दनम्, अर्व हिंसायाम्) पीड़ित व हिंसन करनेवाले **स्त्रीभागान्**=(स्त्रीयः भागो येषाम्) स्त्रियों को पकड़नेवाले कृमियों को **पिङ्गः**=गौर सर्षप इसप्रकार **अजतु**=दूर फेंक दे, **इव**=जैसेकि **वातः अभ्रम्**=वायु बादल को सुदूर फेंक देती है।

भावार्थ—गर्भिणियों को पीड़ित करनेवाले व अर्धविकसित बालकों को नष्ट करनेवाले कृमियों को गौर सर्षप विनष्ट करे।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

नीविभार्यौ (भेषजौ)

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २०॥

१. स्त्री **परिसृष्टं धारयतु**=पति द्वारा प्रदत्त वीर्य को अपने अन्दर धारण करे, **यत् हितम्**=जो वीर्य गर्भस्थिति के लिए धारण किया गया है, **तत् मा अवपादि**=वह नष्ट न हो जाए। हे स्त्रि! **ते गर्भम्**=तेरे इस गर्भ को—गर्भस्थ बालक को **उग्रौ भेषजौ**=उद्गूर्ण बलवाले ये ओषधरूप श्वेत व पीत सर्षप **रक्षताम्**=रक्षित करें। ये दोषों को दूर करनेवाले सर्षप **नीविभार्यौ**=तेरे मूलधनरूप इस आहित वीर्य को सुन्दरता से भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—श्वेत व पीत सर्षप प्रबल भेषज हैं। इनका प्रयोग पति-प्रदत्त वीर्य का स्त्रीगर्भ में धारण करने में सहायक होता है और धारित गर्भ को नष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रजायै पत्ये

पवीनसात्तङ्गल्वाऽच्छायकादुत नग्नकात्।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः॥ २१॥

१. **पवीनसात्**=वज्रतुल्य नासिकावाले **तङ्गल्वात्**=बड़े गालवाले, **छायकात्**=मुख से काटनेवाले (छो छेदने) **उत**=और **नग्नकात्**=नंगे—बालों से रहित, **किमीदिनः**=हर समय भूखे (किम् इदानीं अदानि) इस रोगकृमि से **त्वा**=तुझे **प्रजायै**=उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए तथा **पत्ये**=पति की अनुकूलता के लिए **पिङ्गः**=पिंग वर्णवाला सर्षप **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—पिंग वर्णवाले सर्षप के प्रयोग से रोगकृमियों के संहार के द्वारा गर्भिणी इसप्रकार स्वस्थ हो कि सन्तान भी उत्तम हो और पति की अनुकूलता भी बनी रहे। अस्वस्थ पत्नी से पति की परेशानी बढ़ती है।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

द्व्यास्यात् चतुरक्षात्

द्व्या स्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादादनङ्गुरेः।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात्॥ २२॥

१. **द्व्यास्यात्**=दो मुखवाले, **चतुरक्षात्**=चार आँखोंवाले, **पञ्चपादात्**=पाँच पाँववाले, **अनङ्गुरेः**=अंगुलियों से रहित **वृन्तात् अभिप्रसर्पतः**=लता-पुञ्ज से निकलकर हमारी ओर आते हुए अथवा (वृन्तवद् वृन्तं शिरः, पादाग्रं वा) सिर से आगे बढ़े हुए (अवाग् भूयाभिगच्छतः) **वरीवृतात्**=सब अङ्गों को व्याप्त करनेवाले इस कृमि से, हे ओषधे! तू **परिपाहि**=हमारा रक्षण कर।

भावार्थ—कई कृमि बड़े विचित्र-से होते हैं। उनके दो मुख, चार आँखे व पाँच पाँव होते हैं, इनकी अंगुली नहीं दिखती। सिर के बल आगे बढ़े हुए इन कृमियों से यह सर्षप हमारा रक्षण करे।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मांसाहारी कृमि

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ २३॥

१. **ये**=जो **आमं मांसं अदन्ति**=कच्चा मांस खाते हैं, **च**=और **ये पौरुषेयम् क्रविः**=पुरुष के मांस को विशेषरूप से खानेवाले हैं, जो **केशवाः**=बड़े-बड़े बालोंवाले **गर्भान् खादन्ति**=गर्भस्थ बालकों को ही खा जाते हैं, **तान्**=उन सब कृमियों को **इतः नाशयामसि**=यहाँ से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—कच्चा मांस खा जानेवाले, परिपक्व पौरुष मांस को नष्ट कर डालनेवाले, गर्भस्थ बालकों को खा जानेवाले सब रोगकृमियों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बजः च पिङ्गः च

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्॥ २४॥

१. **ये**=जो कृमि **सूर्यात् परिसर्पन्ति**=सूर्य से—सूर्य प्रकाश से इसप्रकार दूर भागते हैं **इव**=जैसेकि **स्नुषा श्वशुरात् अधि**=पुत्रवधू श्वशुर से दूर हटती है। **तेषाम्**=उन सब कृमियों के **हृदये**=हृदय में **बजः च पिङ्गः च**=यह गौर सर्षप और पिंगल वर्ण का सर्षप **अधिनि-विध्यताम्**=अतिशयेन वेध करनेवाले हों।

भावार्थ—बज और पिंग सर्षप अन्धकार में पनपनेवाले कृमियों को नष्ट करें।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मां पुमांसं स्त्रियं क्रन्

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन्बाधस्वेतः किमीदिनः॥ २५॥

१. हे **पिङ्ग**=पीतवर्ण सर्षप! **जायमानं रक्ष**=उत्पद्यमान शिशु का तू रक्षण कर। **पुमांसं स्त्रियं मा क्रन्**=ये कृमि पुरुष व स्त्री को हिंसित न करें, अथवा जायमान पुंगर्भ को ये स्त्रीगर्भ न कर दें। (केचित् भूतविशेषः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति) कई कृमि पुंगर्भ को स्त्रीगर्भ में परिवर्तित कर देते हैं। २. **आण्डादः**=अण्डप्रदेश को खा जानेवाले ये कृमि **गर्भान् मा दभन्**=गर्भों को हिंसित न करें। हे पिङ्ग! इन **किमीदिनः**=(किम् इदम् किम् इदम् इति चरतः) अब क्या खाएँ, अब क्या खाएँ—इसप्रकार विचरते हुए इन कृमियों को **इतः बाधस्व**=यहाँ से—गर्भिणी के सान्निध्य से दूर कर।

भावार्थ—उन कृमियों को गर्भिणी की समीपता से दूर किया जाए जो (क) जायमान शिशुओं को नष्ट कर देते हैं, (ख) पुंगर्भ को स्त्रीगर्भ कर देते हैं, (ग) अण्डकोश-सम्बन्धी प्रदेशों को खा-सा जाते हैं।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विचित्र माला

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत्॥ २६ ॥

१. **अप्रजास्त्वम्**=सन्तान का न होना, **मार्तवत्सम्**=मृत सन्तान का होना **आत्**=और **रोदम्**=उत्पद्यमान दुःख के कारण सर्वदा हृदय में रोते रहना, **अघम्**=पाप **आवयम्**=गर्भ का न ठहरना (non-conception)—ये जितनी भी बाते हैं, **तत्**=उन सबको, उसी प्रकार माला-सी बनाकर **अप्रिये प्रतिमुञ्च**=समाज के साथ अप्रीतिवाले किसी पुरुष में डाल, **इव**=जैसेकि **वृक्षात्**=वृक्ष से फूलों को लेकर **स्रजं कृत्वा**=माला-सी बनाकर किसी प्रिय मित्र को पहना देते हैं।

भावार्थ—उचित औषध-विनियोग से स्त्री के 'अप्रजास्त्व, मार्तवत्स, रोद, अघ, आवय' आदि दोषों को दूर किया जाए।

गृहस्थ को इन सब कष्टों से बचने के लिए स्थिरवृत्तिवाला बनना आवश्यक है। यही 'अथर्वा' है। रोगों के दूरीकरण के लिए उपादेय ओषधियों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ यह 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है तो 'ओषधयः' देवता हैं।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओषधयः

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥ १ ॥

१. **याः**=जो **बभ्रवः**=भरण करनेवाली—मांस को बढ़ानेवाली **याः च**=और जो **शुक्राः**=वीर्यवर्धक **रोहिणीः**=घाव इत्यादि को भरनेवाली, **उतः**=और **पृश्नयः**=रस का पोषण करनेवाली, **असिक्नीः**=(षिञ् बन्धने) अंगों के बन्धन—जुड़जाने को खोलनेवाली तथा **कृष्णाः**=आवश्यक विलेखन करनेवाली—मोटेपन को दूर करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ हैं, **सर्वाः**=उन सबका **अच्छावदामसि**=सम्यक् उपदेश करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित व उपदिष्ट सब ओषधियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते हुए हम स्वस्थ व दीर्घजीवनवाले बनें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देवेषितात् यक्ष्मात्

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद्देवेषितादधि।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव॥ २ ॥

१. **यासाम्**=जिन **वीरुधाम्**=बेलों का—ओषधियों का **द्यौः पिता**=द्युलोकस्थ सूर्य ही पिता है—सूर्य ही इनमें प्राणदायी तत्त्वों की स्थापना करता है, वही इनके परिपाक का कारण बनता है। **पृथिवी माता**=यह भूमि ही इन वीरुधों की माता है, इसी से इन्हें रस व पुष्टि प्राप्त होती

है। **समुद्रः मूलं बभूव**=समुद्र इनका मूल है, समुद्र से ही वाष्पीभूत हुआ-हुआ जल मेघरूप में परिणत होकर इन्हें सींचता है। ये वीरुध **इमं पुरुषम्**=इस पुरुष को **देवेषितात्**=(दिवु क्रीडायाम्) विषयक्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए-हुए **यक्ष्मात्**=राजयक्ष्मा रोग से **अधित्रायन्ताम्**=बचाएँ।

भावार्थ—विषयों में अतिप्रसक्ति से रोग उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन रोगों को उचित औषध-प्रयोग से दूर किया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आपः=दिव्या ओषधयः

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः। तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन्॥ ३॥

१. **अग्रम्**=सर्वप्रथम **आपः**=ये जल, **दिव्याः ओषधयः**=दिव्य ओषधियाँ हैं। जल सर्वोत्तम औषध है। **ताः**=वे जल **ते**=तेरे **एनस्यम्**=पापजनित—विषयभोग से उत्पन्न **यक्ष्मम्**=रोग को **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग से **अनीनशन्**=अदृष्ट कर दें। २. जलों का समुचित प्रयोग सर्वदोष विनाशक है। जलों में सब औषध विद्यमान हैं—'**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा**'। जल शब्द ही 'जल घातने' धातु से बनकर स्पष्ट कर रहा है कि यह सब रोगों का घात करता है।

भावार्थ—जल सर्वोत्तम दिव्य औषध हैं। इनका समुचित प्रयोग सर्वरोगविनाशक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुबतिजगती** ॥

उग्राः पुरुषजीवनीः

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४॥

१. प्रभु कहते है कि हे पुरुष! मैं तेरे लिए उन **ओषधीः**=ओषधियों को **आवदामि**=उपदिष्ट करता हूँ जो **प्रस्तृणतीः**=भूमि को आच्छादित करनेवाली हैं—खूब फैलनेवाली हैं, **स्तम्बिनीः**=तृणों के गुच्छोंवाली हैं, **एकशुङ्गा**=एक कोंपलवाली हैं (शुङ्ग the awn of a corn) तथा **प्रतन्वतीः**=खूब ही फैलनेवाली हैं। २. मैं **ते**=तेरे लिए उन **वीरुधः**=लताओं को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ **याः**=जोकि **अंशुमतीः**=बहुत तन्तुओंवाली हैं। **काण्डिनीः**=काण्डों या पोरुओंवाली हैं, **विशाखाः**=शाखाओं से रहित हैं। ये ओषधियाँ **वैश्वदेवीः**=सब दिव्य गुणोंवाली व सब रोगों को जीतनेवाली हैं, **उग्राः**=प्रबल प्रभाववाली हैं, **पुरुषजीवनीः**=पुरुष को जीवन प्रदान करनेवाली हैं—इनके प्रयोग से पुरुष पुनः जीवित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु ने विविध ओषधियों को जन्म दिया है। उनका समुचित ज्ञान व प्रयोग करते हुए हम नीरोग व दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सहः, वीर्यं, बलम्

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम्।
तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्॥ ५॥

१. हे **सहमानाः**=रोगों का पराभव करनेवाली ओषधियो! **यत् वः**=जो तुम्हारा **सहः**=रोगों के पराभव का सामर्थ्य है, जो तुम्हारी **वीर्यम्**=रोगों को कम्पित करके दूर करने की शक्ति है (वि+ईर्), **यत् च**=और जो **वः बलम्**=तुम्हारा बल है, **तेन**=उस 'सह,वीर्य व बल' से **इमं पुरुषम्**=इस पुरुष को **अस्मात् यक्ष्मात् मुञ्चत**=इस रोग से मुक्त करो। हे **ओषधीः**=तापनाशक

ओषधियो! मैं **अथो**=अब तुम्हारे बल पर ही **भेषजं कृणोमि**=इस रुग्ण पुरुष की चिकित्सा करता हूँ।

भावार्थ—ओषधियों में रोगों को कुचलने की शक्ति है (सहः), ये रोग को कम्पित करके दूर कर देती हैं (वीर्यम्), ये पुरुष को पुनः शक्ति प्रदान करती हैं (बलम्)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधमः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाभुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जीवन्ती, अरुन्धती, पुष्पा (मधुमती)

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **अस्मै अरिष्टतातये**=इसी रोगी पुरुष को स्वास्थ्य लाभ कराने के लिए **इह**=यहाँ **जीवलाम्**=जीवनप्रद **न-घा-रिषाम्**=निश्चय से हानि नहीं पहुँचानेवाली **जीवन्तीम् ओषधीम्**=जीवनी नामक ओषधि को **हुवे**=पुकारता हूँ। २. **उन्नयन्तीम्**=बिस्तर पर पड़े रोगी को फिर से उठा देनेवाली **अरुन्धतीम्**=अरुन्धती नामक ओषधि को पुकारता हूँ तथा **मधुमतीम्**=मधुर रस से परिपूर्ण इस **पुष्पाम्**=पुष्पा नामक ओषधि को पुकारता हूँ।

भावार्थ—'जीवन्ती' ओषधि इस रोगी को पुनः प्राणशक्ति प्राप्त कराती है, 'अरुन्धती' उसके सब रोगों का निरोध करती हुई इसे ऊपर उठा देती है और 'पुष्पा' इसके जीवन में माधुर्य का संचार करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेदिनीः

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ ७॥

प्रचेतसः मम वचसः=प्रकृष्ट ज्ञानदेनेवाले मुझ वैद्य के वचन से **मेदिनीः इह आयन्तु**=पुष्टिकारक ओषधियाँ यहाँ प्राप्त हों, **यथा**=जिससे **इमं पुरुषम्**=इस रुग्ण पुरुष को **दुरितात्**=पाप जन्य भोगरूप रोग से **अधि पारयामसि**=पार कर दें।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य पौष्टिक ओषधियों के प्रयोग से इस रुग्ण के कष्ट का निवारण करे। वैद्य का प्रकृष्ट ज्ञानवाला होना आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नेः घासः, अपां गर्भः

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः॥ ८॥

१. **अग्नेः घासः**=जो अग्नि का भोजन हैं, अर्थात् जिनके द्वारा वैश्वानर (जाठर) अग्नि दीप्त होती है, जो **अपां गर्भः**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों को गर्भ में धारण करनेवाली हैं, **याः**=जो **पुनर्णवाः रोहन्ति**=फिर-फिर नई होकर उग आती हैं—बढ़ती हैं, **ध्रुवाः**=जो स्थिर प्रभावशाली हैं, वे **सहस्रनाम्नीः**=हज़ारों नामोंवाली **आभृताः**=समन्तात् पैदा हुई वनस्पति व लताएँ **भेषजीः सन्तु**=रोगों की औषध बनें।

भावार्थ—ये वनस्पतियाँ व लताएँ समन्तात् आभृत हुई-हुई हमारी जाठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली हों, वीर्यशक्ति को बढ़ानेवाली हों। शरीर पर स्थिर प्रभाववाली हों तथा रोगों की औषध बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीभुरिगनुष्टुप्** ॥

अवकोल्बाः, उदकात्मानः

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः । व्यृ॑षन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अवका-उल्बाः=जल के शैवाल के भीतर उत्पन्न होनेवाली, **उदकात्मानः**=जलमय देहवाली **तीक्ष्णशृङ्ग्यः**=तीखे सींग व काँटोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **दुरितम्**=अशुभ आचरण से उत्पन्न दुःखदायी रोग को **विऋषन्तु**=विशेषरूप से दूर करें।

भावार्थ—जल के शैवाल के भीतर उत्पन्न होनेवाली तीक्ष्णशृंगी उदकात्मा ओषधियाँ पापरोग को दूर करनेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

विषदूषणीः बलासनाशनी

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः ।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

१. **ताः ओषधीः**=वे ओषधियाँ **इह आयन्तु**=यहाँ प्राप्त हों, **याः**=जोकि **उन्मुञ्चतीः**=रोगों से मुक्त करनेवाली हैं। **विवरुणा**=विशेषरूप से वरणीय हैं, क्योंकि वे रोगों का निवारण करनेवाली हैं, **उग्राः**=जो अति प्रबल हैं, **विषदूषणीः**=विष को भी दूषित करनेवाली हैं। २. **अथो**=और अब **याः**=जो ओषधियाँ **बलासनाशनीः**=कफ़ का नाश करनेवाली हैं **च**=और **कृत्यादूषणीः**=छेदन-भेदन को दूषित करनेवाली हैं—छेदन-भेदन-जनित विकारों को दूर करनेवाली हैं।

भावार्थ—रोग से मुक्त करनेवाली, रोग का निवारण (prevention) करनेवाली, प्रभाववाली, विषदूषणी, कफ़-विकार की निवारक, छेदनजनित विकार को दूर करनेवाली—ये सब ओषधियाँ यहाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहीयसीः (अपक्रीताः) वीरुधः

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपक्रीताः=दूर देश से द्रव्य-विनिमय द्वारा प्राप्त की गई **सहीयसीः**=रोगों का मर्षण करनेवाली **वीरुधः**=लताएँ **याः अभिष्टुताः**=जिनकी सब प्रकार से प्रशंसा सुनाई देती है, **वे अस्मिन् ग्रामे**=इस ग्राम में **गां अश्वं पुरुषं पशुम्**=गौ, घोड़े, पुरुष व पशु को **त्रायन्ताम्**=रोग से बचाएँ।

भावार्थ—कई वीरुध दूर देश से द्रव्य द्वारा प्राप्त की जाती हैं। ये रोगों को कुचलनेवाली औषध हमारे गौ, घोड़े, मनुष्य व पशुओं का रोगों से रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिशक्वरी** ॥

मधोः संभक्ता

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

१. **आसां वीरुधाम्**=इन ओषधिभूत वीरुधों (बेलों) का **मूलं मधुमत्**=मूल माधुर्यवाला

है, **अग्रं मधुमत्**=अग्रभाग माधुर्यवाला है, **मध्यं मधुवत् बभूव**=मध्यभाग भी माधुर्यवाला है। **आसाम्**=इनका **पर्णम्**=पत्ता भी **मधुमत्**=माधुर्यवाला है, **पुष्पं मधुमत्**=फूल भी माधुर्य को लिये हुए हैं। ये वीरुध तो **मधोः संभक्ताः**=मधु से संभक्त हैं—सम्यक् सेवित हुई हैं। २. इन वीरुधों में मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है, अतः ये अमृतमय ओषधियाँ **अमृतस्य भक्षः**=अमृतमय भोजन हैं। अमृत के बने भोजन के समान दीर्घ आयुप्रद हैं। ये ओषधियाँ **गो-पुरोगवम्**=गाय जिसमें अग्रगामी हैं—सबसे प्रथम स्थान में रक्खी हैं, ऐसे **घृतं अन्नं दुह्रताम्**=घृत और अन्न का हमारे लिए दोहन करें। इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौओं से हमें दूध और घी प्राप्त हो तथा ये ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ हमारा उत्तम अन्न बने।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित ओषधियों का मूल, मध्य व अग्रभाग, इनके पत्ते व फूल सब मधु के समान मधुर-(गुणकारी)-रस से परिपूर्ण हैं। ये मधुसिक्त ओषधियाँ हमें गोदुग्ध के साथ घृत व अन्न प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रपर्ण्यः

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः

ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः कियतीः च=जीतनी-कितनी भी **इमाः**=ये **पृथिव्यां अधि**=इस पृथिवी पर **ओषधीः**=ओषधियाँ हैं, **ताः**=वे **सहस्रपर्ण्यः**=हज़ारों प्रकार से पालन व पूरण करनेवाली ओषधियाँ **मा**=मुझे **मृत्योः**=मृत्यु से—रोग से तथा **अहंसः**=कष्टों से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—पृथिवी से उत्पन्न सब ओषधियाँ हज़ारों प्रकार से पालन व पूरण करती हैं। वे ओषधियाँ हमें रोगों व कष्टों से मुक्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्निचृद्बृहती** ॥

वैयाघ्रो मणिः

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः।

अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्तम् ॥ १४ ॥

१. **वीरुधाम्**=लता रूप ओषधियों से बनाई गई **वैयाघ्र**=विशिष्ट प्रकार की गन्ध देनेवाली **मणिः**=रोग स्तम्भन गुटिका **त्रायमानः**=रोगों से बचानेवाली और **अभिशस्तिपाः**=निन्दनीय अभिशाप आदि से भी रक्षा करनेवाली होती है। २. यह वैयाघ्र मणि **सर्वाः अमीवाः**=सब प्रकार के रोगों को, **रक्षांसि**=सब रोगकृमियों को **अस्मत् अधि**=हमसे **दूरम् अपहन्तु**=सुदूर विनष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—ओषधियों से निर्मित विविध गन्धोंवाली गोलियाँ सब रोगकृमियों व रोगों को हमसे दूर भगाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।

गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

१. **इव**=जिस प्रकार पशु **सिंहस्य स्तनथोः संविजन्ते**=शेर के गर्जन से भयभीत होकर भाग उठते हैं और **इव**=जिस प्रकार ये पशु **अग्नेः विजन्ते**=अग्नि से व्याकुल हो उठते हैं। २. इन **वीरुद्भिः**=ओषधिभूत बेलों से **अतिनुत्तः**=अतिशयेन परे धकेला हुआ यह **गवां पुरुषाणां**

यक्ष्मः=गौओं (पशुओं) व पुरुषों का रोग **नाव्याः स्त्रोत्याः एतु**=नावों से तरने योग्य नदियों से भी परे चला जाए—निन्यानवे नदियों के पार चला जाए।

भावार्थ—ओषधिनुत्त रोग 'सात समुन्द्र पार' पहुँच जाए। ये रोग हमारे जीवन के निन्यानवे वर्षों से परे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुमुचानाः भूमिं सन्तन्वतीः

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि।
भूमिं सन्तन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः॥ १६॥

१. **यासां राजा वनस्पतिः**=जिन ओषधियों का राजा 'सोम' वनस्पति है। यह सोम ज्ञान की रश्मियों का रक्षक हैं। सोमलता शरीर में 'सोम' शक्ति को स्थापित करती हुई ज्ञानाग्नि को दीप्त करती हैं। हे 'सोम' रूप राजावाली **ओषधयः**=ओषधियो! आप **अग्नेः वैश्वानरात् अधि**=शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि के द्वारा—जाठराग्नि के सम्यक् दीपन द्वारा **मुमुचानाः**—हमें रोगों से मुक्त करती हुई और **भूमिम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **सन्तन्वतीः**=(तनु विस्तारे) विस्तृत शक्तिवाला करती हुई **इतः**=हमें प्राप्त होओ।

भावार्थ—पृथिवी में उत्पन्न ये ओषधियाँ जाठराग्नि के ठीक दीपन द्वारा हमें रोगमुक्त करती हैं और हमारी शक्तियों का विस्तार करती हैं। इन ओषधियों का राजा 'सोम' है। इस सोमलता का रस शरीर में सोम को स्थापित करता हुआ बुद्धि को दीप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आङ्गिरसीः पयस्वतीः

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे॥ १७॥

१. **याः आङ्गिरसीः**=जो अंगों में रस का वर्धन करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **पर्वतेषु समेषु च**=पर्वतों में व समस्थलों में **रोहन्ती**=उगती हैं, **ताः**=वे **पयस्वतीः**=आप्यायन-(वर्धन)-कारी रसवाली **शिवाः**=कल्याणकर **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे **हृदे**=हृदय के लिए **शं सन्तु**=शान्तिकर हों।

भावार्थ—पर्वतों व मैदानों में प्रादुर्भूत होनेवाली आङ्गिरसी (अंगों में रस का संचार करनेवाली) ओषधियाँ हमारा वर्धन करती हुई हमारे हृदय के लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

औषध आनन्त्य

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम्॥ १८॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ १९॥

१. **अहम्**=मैं **याः च वीरुधः वेद**=जिन लताओं को निश्चय से जानता हूँ, **याः च**=और जिनको **चक्षुषा पश्यामि**=आँख से देखता हूँ, **अज्ञाताः च याः जानीमः**=और आज तक अज्ञात जिन ओषधियों को हम अब जानने लगे हैं, **च**=और **यासु**=जिनमें **संभृतम्**=सम्यक् भरणशक्ति को **विद्म**=हम जानते हैं, २. वे **सर्वाः**=सब **समग्राः**=सम्पूर्ण 'मूल, मध्य व अग्र' भाग समेत

ओषधीः=ओषधियाँ **मम वचसः**=मेरे वचन से **बोधन्तु**=यह समझ लें **यथा**=जिससे **इमं पुरुषम्**=इस रोग-पीड़ित पुरुष को **दुरितात् अधि पारयामसि**=दुःखप्रद रोग से—रोगजनित कष्ट से पार लगा दें। एक वैद्य ओषधियों को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि 'इस पुरुष को अवश्य नीरोग करना ही है'।

भावार्थ—कुछ औषध हमें ज्ञात हैं, बहुत-से अज्ञात हैं। कई अज्ञात औषधों को समय-प्रवाह में हम जान पाते हैं। इन सब औषधों के सम्यक् प्रयोग से रुग्ण पुरुष को रोग-कष्ट से मुक्त किया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्रीहिः यवः (च)

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥ २०॥

१. **अश्वत्थः**=पीपल, **दर्भः**=कुशा घास, **वीरुधां राजा सोमः**=वीरुधों (बेलों) का राजा 'सोम'—ये तीनों **अमृतं हविः**=अमृत हवि हैं-अमृत भोजन हैं (हु अदने)। इनका प्रयोग मनुष्य को मृत्यु (रोग) से बचाता है। २. **व्रीहिः**=चावल **यवः च**=और जौ ये दोनों तो **भेषजौ**=औषध ही हैं, **दिवः पुत्रौ**=(दिवु मदे) सब प्रकार के उन्माद से हमारा त्राण करनेवाले (पुनाति त्रायते) तथा **अमर्त्यौ**=रोगों के कारण हमें असमय में न मरने देनेवाले हैं।

भावार्थ—'अश्वत्थ, दर्भ, सोम, व्रीहि और यव' ये हमें नीरोग बनाकर दीर्घजीवन देनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पृश्निमातरः (ओषधीः)

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसाऽवति॥ २१॥

१. हे **पृश्निमातरः**=(पृश्नि—संस्प्रष्टा रसान्—नि०) रसों को अपने अन्दर ले-लेने में समर्थ पृथिवी माता से उत्पन्न **ओषधीः**=ओषधियो! **यदा**=जब **पर्जन्यः**=मेघ **स्तनयति**=गरजता है, **अभिक्रन्दति**=खूब ही ध्वनि करता है तब तुम **उज्जिहीध्वे**=ऊपर उठती हो—प्रसन्न होती हो। उस समय यह मेघ **वः**=तुम्हें **रेतसा**=उदक से—जल से **अवति**=प्रीणित करता है। २. मेघ का गर्जन मानो भूमि में प्रसुप्त ओषधियों को ललकारता है, तब वे ओषधियाँ भी अपना सिर ऊपर उठाती हैं। यह पर्जन्य उन-उन ओषधियों को वृष्टि-जल से प्रीणित करता है। पृथिवी इन ओषधियों की माता है तो मेघ इनका पितृ-स्थानीय होता है।

भावार्थ—भूमि में वृष्टि-जल में उत्पन्न हुई ओषधियाँ वस्तुतः ओषधियाँ हैं—ये हमारे शरीर में उत्पन्न दोषों का दहन करनेवाली हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतहायनः

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।
अथो कृणोमि भेषजं यथाऽसच्छतहायनः॥ २२॥

१. **तस्य अमृतस्य**=गतमन्त्र में वर्णित उस मेघ के अमृत (जल) के—उस जल से उत्पन्न **इमं बलम्**=(बल shoot, sprout) इस अंकुरभूत औषध को **पुरुषं पाययामसि**=पुरुष को पिलाते

हैं। **अथो**=और इसप्रकार **भेषजं कृणोमि**=इसके रोगों की प्रतिक्रिया (चिकित्सा) करते हैं। **यथा**=जिससे कि यह पुरुष नीरोग रहता हुआ **शतहायनः असत्**=सौ वर्ष तक जीनेवाला हो।

भावार्थ—मेघजल से उत्पन्न औषध इस पुरुष को नीरोग व शतवर्ष के दीर्घजीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वराहः, नकुलः, सर्पाः, गन्धर्वाः

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २३॥

१. **वराहः**=सूकर (वरं वरं आहन्ति) **वीरुधं वेद**=रोगहारी वरणीय लताओं को जानता है। **नकुलः**=नेवला **भेषजं वेद**=रोग व विष दूर करनेवाली ओषधि को जानता है। **सर्पाः**=सर्प और **गन्धर्वाः**=गन्ध से अपने खाद्य पदार्थ को प्राप्त करनेवाले प्राणी **याः विदुः**=जिन औषधभूत वीरुधों को जानते हैं, **ताः**=उन्हें **अस्मै**=इस रुग्ण पुरुष की **अवसे**=प्राणरक्षा के लिए **हुवे**=पुकारता हूँ।

भावार्थ—'वराह, नकुल, सर्प व गन्धर्व' जिन मूल कन्दों को खोदकर भूपृष्ठ पर लाते हैं, वे अद्भुत औषध का कार्य करते हैं। रुग्ण पुरुष की प्राणरक्षा में ये बड़े सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

सुपर्णाः मृगाः

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २४॥

१. **याः**=जिन **आङ्गिरसीः**=अंगों में रस का संचार करनेवाली ओषधियों को **सुपर्णाः** (**विदुः**)=गरुड़ जानते हैं, **याः दिव्याः**=जिन दिव्य गुणोंवाली ओषधियों को **रघटः विदुः**=अति वेग से उड़नेवाले पक्षी जानते हैं (रघु अटति)। **याः**=जिन औषधों को **वयांसि**=कौवे **हंसाः**=और हंस **विदुः**=जानते हैं, **याः च**=और जिन्हें **सर्वे पतत्रिणः**=पंखोंवाले सब प्राणी जानते हैं, **याः ओषधीः**=जिन ओषधियों को **मृगाः विदुः**=आरण्य हरिण आदि पशु जानते हैं, **ताः**=उन ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अवसे हुवे**=रोगों से रक्षण के लिए पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पशु-पक्षियों में वह स्वाभाविक चेतना रक्खी है, जिससे वे अद्भुत ओषधियों को उपलब्ध कर पाते हैं। हम उन ओषधियों के समुचित प्रयोग से इस रुग्ण पुरुष को नीरोग बनानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

गावः अजा अवयः

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥ २५॥

१. **यावतीनाम् ओषधीनाम्**=जितनी ओषधियों को **अघ्न्या गावः**=कभी भी न मारने योग्य गौएँ **प्राश्नन्ति**=खाती हैं **यावतीनाम् अजा अवयः**=जितनी ओषधियों को भेड़-बकरियाँ खाती हैं, **तावतीः**=उतनी, अर्थात् वे सब **ओषधीः**=ओषधियाँ **आभृताः**=आभृत हुई-हुई—समन्तात् धारण की हुई **तुभ्यम् शर्म यच्छन्तु**=तुझे सुख प्रदान करें।

भावार्थ—गौओं, भेड़ों व बकरियों से खाई जानेवाली ओषधियाँ हमारे लिए सुखकर हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥

विश्वभेषजीः (वीरुधः)

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥

१. **यावतीषु**=जितनी वीरुधों में **भिषजः मनुष्याः**=वैद्य लोग **भेषजं विदुः**=रोग की चिकित्सा करनेवाले औषध को जानते हैं, **तावतीः**=उतनी **विश्वभेषजीः**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाली वीरुधों को **त्वां अभि आभरामि**=तुझे चारों ओर से प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—औषध-निर्माण के लिए साधनभूत सब लताएँ हमारे लिए सुलभ हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

संमातरः इव

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत। संमातरइव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥

१. **पुष्पवतीः**=पुष्पोंवाली **प्रसूमतीः**=सुन्दर कोंपलवाली, **फलिनीः**=फलवाली **उत**=और **अफलाः**=फलरहित सब ओषधियाँ **संमातरः इव**=सम्मिलित माताओं के समान **अस्मै अरिष्ट-तातये**=इस पुरुष के रोग-निवारणरूप कौशल के लिए **दुह्राम्**=रस का दोहन करें।

भावार्थ—विविध ओषधियाँ माताओं के समान हमारे लिए पुष्टिकर रस का दोहन करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

पञ्चशलात् दशशलात्

उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत।
अथो यमस्य पड्बीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥

१. **त्वा**=तुझे **पञ्चशलात्**=पाँच भूतों से बने इस शरीर में (शल गतौ) गति करनेवाले रोग से **उत आहार्षम्**=ऊपर उठाता हूँ, **अथो**=और अब इस नीरोग शरीर में **दशशलात् उत**=दस इन्द्रियों में गति करनेवाले शक्तिक्षीणतारूप दोष से भी ऊपर उठाता हूँ। २. **अथो**=अब **यमस्य पड्बीशात्**=यम के पादबन्धन से तुझे मुक्त करता हूँ—दीर्घजीवी बनाता हूँ और **विश्वस्मात्**=सम्पूर्ण **देवकिल्बिषात्**=देवों के विषय में किये गये पापों से भी तुझे ऊपर उठाता हूँ।

भावार्थ—हम शरीर व इन्द्रियों में स्वस्थ बनें। हमें अजितेन्द्रियता के कारण असमय की मृत्यु प्राप्त न हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए प्रभु के प्रिय बनें।

अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला यह उपासक 'भृगु' कहलाता है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला होने से 'अङ्गिराः' है, यही अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शक्रः, शूरः, पुरन्दरः

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **मन्थिता**=शत्रुओं का विलोडन करनेवाला होता है। यह **मन्थतु**=शत्रु-सैन्य का विलोडन (हिंसन) करे, **शक्रः**=शक्तिमान् हो, **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो, **पुरन्दरः**=शत्रुओं की पुरियों का विदारण करे। २. हे प्रभो! आप ऐसा

अनुग्रह करो **यथा**=जिससे कि **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सहस्रशः सेनाः**=हज़ारों की सेनाओं को **हनाम**=हम नष्ट करनेवाले बनें।

भावार्थ—राजा शक्तिशाली हो, शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो, शत्रु-दुर्गों का विध्वंस करे। शत्रु-सैन्यों का विलोडन करता हुआ शत्रुसैन्य का विध्वंस कर दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

उपध्मानी पूतिरज्जुः

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्याऽमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्॥ २॥

१. **उपध्मानी**=बड़े शब्द (विस्फोट) के साथ आग लगा देनेवाली, **पूतिरज्जुः**=दुर्गन्धयुक्त रस्सी (बारुद की बत्ती) **अमूम् सेनाम्**=इस शत्रु-सैन्य को **पूतिं कृणोतु**=दुर्गन्धि से तितर-बितर (पूतिः विशरणम्) कर दे। इस उपध्मानी पूतिरज्जु के **धूमं अग्निम्**=धूएँ व अग्नि को **परादृश्य**=दूर से ही देखकर **अमित्राः**=शत्रु **हृत्सु**=हृदयों में **भयं आ दधताम्**=भय धारण करें।

भावार्थ—विस्फोट के साथ जल उठनेवाली बारूद की बत्ती के प्रयोग से शत्रु तितर-बितर हो जाएँ। वे इसके धूएँ व अग्नि को दूर से ही देखकर भयभीत हो उठें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥

अश्वत्थ, खदिर, वधक

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून्खदिराजिरम्।
ताजद्भङ्गइव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः॥ ३॥

१. हे **अश्वत्थ**=(अश्वे तिष्ठति) घुड़सवार सैनिक! **अमून्**=उन शत्रुओं को **निः शृणीहि**=निश्चितरूप से हिंसित करनेवाला बन। हे **खदिर** (खद् स्थैर्यहिंसयोः)=स्थिरता से शत्रुओं का हिंसन करनेवाले! **अमून्**=उन शत्रुओं को **अजिरम्**=शीघ्र ही **खाद**=खा जा—मार दे। ये शत्रु इसप्रकार **भज्यन्ताम्**=भाग खड़े हों—रण में इनका इसप्रकार भंग हो जाए, **इव**=जैसेकि **ताजद्भङ्गः**=(ताजत् क्षिप्रम्) शीघ्रता से टूट जानेवाला (ताजत् भङ्गो यस्य) सरकण्डा टूट जाता है। **एनान्**=रण में व्यस्त इन शत्रुओं को **वधकः**=शत्रु-वध करनेवाला **वधैः हन्तु**=वध-साधन आयुधों से नष्ट करे, तलवार आदि से उन्हें छिन्नमस्तक करे।

भावार्थ—अश्वत्थों, खदिरों व वधकों द्वारा शीघ्र ही शत्रुसैन्य का हिंसन किया जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**बृहतीपुरस्तात्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

परुषाह्व

परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः।
क्षिप्रं शरइव भज्यन्तां बृहज्जालेन सन्दिताः॥ ४॥

१. **परुषाह्वः**=कठोर व भयंकर आह्वान (ललकारवाला) यह सेनापति **अमून् परुषान् कृणोतु**=उन कठोर शत्रुओं को भी हिंसित करनेवाला हो (कृणोति kills)। **वधकः**=शत्रु-वध करनेवाला यह सेनापति **एनान् वधैः हन्तु**=इन शत्रु-सैन्यों को वध-साधन आयुधों से नष्ट कर डाले। **बृहत् जालेन**=हमारे विशाल सैन्य जाल से **संदिताः**=बद्ध-से हुए-हुए ये शत्रु **क्षिप्रम्**=शीघ्र ही इसप्रकार **भज्यन्ताम्**=टूट जाएँ, **इव**=जैसेकि **शरः**=एक सरकण्डा टूट जाता है। इन शत्रुओं में जमकर लड़ने का सामर्थ्य न रहे और ये रणांगण से भाग खड़े हों। हमारा सैन्य-जाल इन्हें

इसप्रकार घेर-सा ले कि इनके सामने पराजय को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहे।

भावार्थ—सेनापति शत्रुवध करनेवाला हो। शत्रुओं को सैन्य-जाल से घेरकर शत्रुओं के घुटने टिकवा दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विशाल जाल (बृहज्जाल)

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो मही:।

तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥ ५॥

अन्तरिक्षं जालम् आसीत्=इन्द्र (शक्र=सेनापति) का सैन्य-जाल इतना विशाल था कि मानो अन्तरिक्ष ही जाल था। **महीः दिशः जालदण्डाः**=ये महान् दिशाएँ ही उस जाल की दण्ड थी। **तेन**=उस महान् सैन्य-जाल से **अभिधाय**=बाँधकर **शक्रः**=इस शक्तिशाली सेनापति ने **दस्यूनां सेनाम्**=दस्युओं की सेना को **अपावपत्**=सुदूर खदेड़ दिया। शत्रु-सैन्य का छेदन-भेदन करके राष्ट्र-रक्षण करना ही तो इस शक्र का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—सेनापति शक्तिशाली हो। वह अपने विशाल सैन्य-जाल से शत्रु-सैन्य को घेर कर छिन्न-भिन्न करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

पूर्ण शत्रु-पराजय

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।

तेन शत्रूनभि सर्वान्न्यु ॒॑ब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम्॥ ६॥

१. **वाजिनीवतः**=शक्तिशाली सैन्यवाले **शक्रस्य**=इस शक्तिशाली राजा का **जालम्**=सैन्य-जाल **हि**=निश्चय से **बृहतः बृहत्**=विशाल-से-विशालतर है। इसकी सेना इतनी बड़ी है जितनी बड़ी कि हो सकती है। **तेन**=उस सैन्य-जाल से **सर्वान् शत्रून्**=सब शत्रुओं को **अभि न्युब्ज**=झुका दे—पराजित कर दे—नीचे गिरा दे (bend, press down, throw down)। इनका इस सैन्य-जाल से इसप्रकार बन्धन करे कि **एषाम्**=इनमें से **कतमश्चन**=कोई भी न **मुच्यातै**=छूट न पाये। तेरा सैन्य-जाल सब शत्रुओं का बन्धन करनेवाला हो।

भावार्थ—शक्तिशाली सेनावाला यह राजा अपने विशाल सैन्य-जाल से शत्रु-सैन्य का अशेषेण पराजय करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्माचतुष्पदाऽतिजगती** ॥

सहस्त्रार्घ, शतवीर्य

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्त्रार्घस्य शतवीर्यस्य।

तेन शतं सहस्त्रमयुतं न्य ॒॑र्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥ ७॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले! **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक राजन्! **बृहतः**=बढ़ी हुई सैन्य-शक्तिवाले **सहस्त्रार्घस्य**=हज़ारों से पूज्य **शतवीर्यस्य**=सैकड़ों सामर्थ्योंवाले **ते**=तेरा **जालम्**=सैन्य-जाल **बृहत्**=विशाल है। **शक्रः**=शक्तिशाली सेनापति ने **सेनया**=अपनी सेना से **तेन**=उस जाल से **अभिधाय**=बाँधकर **दस्यूनाम्**=इन दस्युओं के **शतं सहस्त्रं अयुतं अर्बुदम्**=सौ, हज़ार, दस हज़ार व लाख सैनिकों को **नि जघान**=समाप्त कर दिया।

भावार्थ—राजा अपने सैन्य-जाल को विशाल बनाये। यह विजयी होता हुआ पूज्य व शक्तिशाली बने। शत्रु हज़ारों व लाखों हों तो भी इन्हें पराजित करनेवाला बने।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'महान् लोक' रूप जाल

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान्॥ ८॥

१. **अयम् महान् लोकः**=यह महान् लोक **महतः शक्रस्य**=महनीय (पूजनीय) शक्तिशाली प्रभु का **जालं आसीत्**=जाल है। इस जाल में फँसा हुआ व्यक्ति अपने स्वरूप को ही नहीं पहचान पाता—योगमाया से समावृत होने के कारण वह प्रभु जीव को दृष्टिगोचर नहीं होता। जीव का जीवन अन्धकारमय-सा बीत जाता है। २. इसी प्रकार एक राजा भी कहता है कि **अहम्**=मैं **तेन इन्द्रजालेन**=उस इन्द्रजाल से—शत्रु-विद्रावक सेनापति से संचालित सैन्यसमूह से **अमून् सर्वान्**=उन सब शत्रुओं को **तमसा अभिदधामि**=अन्धकार से बाँधता हूँ (Fasten, bind)। मेरे सैन्य से घिरे हुए शत्रु किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं—उन्हें कुछ सूझता ही नहीं।

भावार्थ—हमारे सैन्य-समूह से घिरे हुए शत्रु इसप्रकार से मूढ़-से हो जाएँ जैसेकि मायामय लोक से मूढ़ बने हुए मनुष्य अपने को ही नहीं पहचान पाते।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

उग्रा सेदिः—मोहः

सेदिरुग्रा व्यृ॒द्धिरार्तिश्चानपवाचना।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान्॥ ९॥

१. **उग्रा सेदिः**=तीव्र महामारी आदि क्लेश (Exhaustion), **व्यृद्धिः**=निर्धनता (विगत ऋद्धि) **च**=और **अनपवाचना आर्तिः**=अकथनीय पीड़ा **श्रमः**=थकावट (Fatigue), **तन्द्रीः च मोहः च**=आलस्य और मूढ़ता, **तैः**=उन सब बातों से **अमून् सर्वान्**=उन सब शत्रुओं को मैं **अभिदधामि**=बाँधता हूँ—घेरता हूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं को ऐसे अस्त्रों से आक्रान्त करते हैं कि वे तीव्र महामारी आदि से पीड़ित होकर विनष्ट हो जाते हैं। इन्हें घेरकर ऐसी स्थिति में कर देते हैं कि ये अन्नादि के अभाव से भूखे मरने लगते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

मृत्यु के 'अघ-ल' दूत

मृत्यवेऽमून्प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान्प्रति नयामि बद्ध्वा॥ १०॥

१. **अमून्**=उन शत्रुओं को **मृत्यवे प्रयच्छामि**=मृत्यु के लिए देता हूँ। **अमी**=वे शत्रु **मृत्युपाशैः सिताः**=मृत्यु के पाशों से बद्ध होते हैं। 'विषाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, मूर्च्छा' आदि ही मृत्यु के पाश हैं, इनसे मैं इन शत्रुओं को बाँधता हूँ। २. **ये**=जो **मृत्योः**=मृत्यु का **अघलाः**=कष्ट प्राप्त करानेवाले **दूताः**=दूत हैं, **तेभ्यः**=उन रोग-विकारादि यमदूतों के लिए **एनान्**=इन शत्रुओं को **बद्ध्वा**=बाँधकर **प्रतिनयामि**=प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं को 'विषाद, दरिद्रता, पीड़ा' आदि मृत्यु के दूतों के लिए प्राप्त कराके नष्ट करते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—पथ्याबृहती ॥

मृत्युदूताः—यमदूताः

नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।
परः सहस्त्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य॥ ११ ॥

१. हे **मृत्युदूताः**='विषाद, पीड़ा' आदि मृत्युदूतो! **अमून् नयत**=इन शत्रुओं को ले-जाओ—विनष्ट कर दो। हे **यमदूताः**=यम (नियन्ता प्रभु) के 'आँधी, तूफान, अतिवृष्टि' रूप दूतो! **अप उम्भत**=(उंभ् to confine) उन्हें हमसे दूर बद्ध करो—ये शत्रु हमारे समीप न आ सकें। २. **परः सहस्त्राः**=ये हज़ारों शत्रु **हन्यन्ताम्**=मारे जाएँ। **एनान्**=इन शत्रुओं को **भवस्य**=सर्वोत्पादक प्रभु से प्राप्त कराई गई **मत्यम्**=तीव्र मानस पीड़ा (harrowing) **तृणेढु**=हिंसित करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारे शत्रु आधिदैविक कष्टों से पीड़ित होकर हमसे दूर रहें। तीव्र मानस पीड़ाएँ उनके विनाश का कारण बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥

'साध्य, रुद्र, वसु, आदित्य'

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः॥ १२ ॥

१. **साध्याः**=साधनामय जीवनवाले लोग **एकं जालदण्डम्**=इस लोकरूप जाल के एक दण्ड को **उद्यत्य**=अपने से दूर (keep back, stop) करके **ओजसा यन्ति**=ओजस्विता के साथ गति करते हैं। रुद्राः=(रुत् द्र) रोगों को अपने से दूर करनेवाले—प्राणसाधना में प्रवृत्त लोग **एकम्**=इस लोकजाल के एक दण्ड को अपने से दूर करके गतिवाले होते हैं। इसी प्रकार **एकं वसवः**=एक दण्ड को वसु लोग—अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग अपने से दूर करते हैं **एकः**=चौथा बचा हुआ एक जालदण्ड **आदित्यैः उद्यतः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान व गुणों का आदान करनेवालों से दूर किया गया है। २. संसार जाल में 'साध्य, रुद्र, वसु व आदित्य' ही बद्ध नहीं होते। साधना की प्रवृत्ति से उत्तम जीवन का प्रारम्भ होता है। जीवन के उत्कर्ष के लिए रोग-विद्रावण आवश्यक है। अपने निवास को उत्तम बनाकर हम औरों को बसानेवाले (वासयन्ति इति वसवः) बनें। अधिक-से-अधिक ज्ञान व गुणों का ग्रहण करते हुए हम आदित्य हों, तभी हम इस संसार-जाल में फँसने से बच सकेंगे।

भावार्थ—हम 'साध्य, रुद्र, वसु व आदित्य' बनते हुए इस संसार में न फँसकर ओजस्विता के साथ आगे बढ़ें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विश्वेदेवाः—अङ्गिरसः

विश्वेदेवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम्॥ १३ ॥

१. **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **उपरिष्टात्**=ऊपर से—विषयों से ऊपर उठने की वृत्ति से **उब्जन्तः**=इन वासनारूप शत्रुओं को पादाक्रान्त (subdue, press down) करते हुए—दबाते हुए **ओजसा यन्तु**=ओजस्विता के साथ आगे बढ़ें। २. **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले ये प्रगतिशील पुरुष (अगि गतौ) **मध्येन**=मध्यमार्ग को अपनाने के द्वारा—'अति' से बचने के द्वारा **महीं सेनाम्**=इन वासनारूप शत्रुओं की महती सेना को **घ्नन्तः**=नष्ट करते हुए **यन्तु**=आगे बढ़ें।

भावार्थ—वासनारूप शत्रुओं को पादाक्रान्त करके ही हम 'देव' बनेंगे और मध्य-मार्ग को अपनाने के द्वारा वासनारूप शत्रु-सैन्य को कुचलकर 'अङ्गिरस' बन पाएँगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सेना के लिए आवश्यक पदार्थों का जुटाना

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ १४॥

१. **वनस्पतीन्**=बिना पुष्प के फलवाली वनस्पतियों को, **वानस्पत्यान्**=पुष्पों से फलवाले वानस्पत्यों को **ओषधीः**=फलपाकान्त धान्य आदि को, **उत**=और **वीरुधः**=वीरुधों को—बेलों को, इनके अतिरिक्त **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्यों को तथा **चतुष्पात्**=बैल-घोड़े आदि पशुओं को इसप्रकार **इष्णामि**=शीघ्रता से यथास्थान पहुँचाता हूँ, **यथा**=जिससे **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसेना को ये **हनन्**=मारनेवाले हों। २. अपनी सेना को आवश्यक पदार्थ प्राप्त न होंगे तो सैनिकों में शत्रुओं से लड़ने का उत्साह मन्द पड़ जाएगा। उस स्थिति में शत्रुसैन्यविध्वंस की बात तो दूर रही, यही भय रहेगा कि अपनी सेना में ही कुछ उपद्रव न खड़ा हो जाए।

भावार्थ—सेना को खान-पान के व अन्य सब साधन प्राप्त कराने आवश्यक हैं। उनके अभाव में सैनिकों के उत्साह में कमी होगी और वे शत्रुसैन्य को पराजित न कर पाएँगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ १५॥

१. **गन्धर्वान्**=(गां धारयन्ति) पृथिवी का धारण करनेवाले 'पदातियों, रथियों व घुड़सवारों' को **अप्सरसः**=जल में विचारनेवाले नौसैनिकों (Navy) को, **सर्पान्**=भूमि पर पेट के बल आगे बढ़नेवाले सैनिकों को, **देवान्**=विजिगीषुओं को, **पुण्यजनान्**=धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों को, **पितॄन्**=प्रेरणा देनेवाले पितरों को **दृष्टान्**=देखे हुए, अर्थात् परीक्षित रणकुशल पुरुषों को तथा **अदृष्टान्**=अपरीक्षित नव सैनिकों को भी **इष्णामि**=इसप्रकार प्रेरित करता हूँ, **यथा**=जिससे **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसैन्य को ये सब **हनन्**=मारनेवाले हों।

भावार्थ—मैं जल, थल के सभी सैनिकों को इसप्रकार प्रेरित करता हूँ, जिससे वे शत्रुसैन्य का विध्वंस करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृत्युपाश

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः॥ १६॥

१. **इमे**=ये **मृत्युपाशाः उप्ताः**=शत्रुसैन्य को मृत्यु प्राप्त करानेवाले पाश लगा दिये गये हैं, हे शत्रुसैन्य! **यान् आक्रम्य**=जिन पाशों पर पग रखकर तू **न मुच्यसे**=फिर छूट नहीं पाता, उस जाल में तू फँस ही जाता है। २. **इदं कूटम्**=यह जाल (trap) **अमुष्याः सेनायाः**=उस शत्रुसेना के **सहस्रशः हन्तु**=हज़ारों ही सैनिकों को नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—भूमि पर इसप्रकार घातक प्रयोगों का जाल बिछाया जाए कि उसपर पग रखकर सहस्रशः शत्रु-सैन्य विध्वस्त हो जाए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अयं होमः, सहस्रहः

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम्॥ १७॥

१. **घर्मः**=कुण्ड (cauldron) **अग्निना समिद्धः**=अग्नि से दीप्त हो उठा है—कुण्ड में अग्नि सम्यक् प्रज्वलित हो गई है। **अयं होमः**=ये होम **सहस्रहः**=हज़ारों रोगकृमियों का विनाशक है। २. हे **शर्वः**=शत्रुसंहारक प्रभो! **भवः च**=हमें जन्म देनेवाला पिता **च**=और **पृश्निबाहुः**=(पृश्नी a ray of light, बाहुः यस्य, बाह्व प्रयत्ने) ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त कराने में प्रयत्न है जिसका ऐसा आचार्य—ये दोनों ही **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुभूत वासना-सैन्य का **हतम्**=विनाश करें।

भावार्थ—घर में अग्निहोत्र होने से रोगकृमियों का विनाश होता है तथा पिता, माता व आचार्य वासनात्मक वृत्तियों का विनाश करते हैं। उचित शिक्षण के द्वारा वे हममें वासनाओं को नहीं पनपने देते।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्षुधं, सेदिं, वधं, भयम्

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम्॥ १८॥

१. हमारे शत्रु **मृत्योः आषम्**=(अष् दीप्तौ) मृत्यु की दीप्त ज्वाला को **आ पद्यन्ताम्**=प्राप्त हों। **क्षुधम्**=भूख को, **सेदिम्**=विनाशक महामारी को, **वधम्**=वध को, **भयम्**=भय को—ये प्राप्त हों। हे **शर्व**=शत्रुसंहारक प्रभो! आप **इन्द्रः च**=और शत्रुविद्रावक राजा **अक्षुजालाभ्याम्**=(अक्षुः=a kind of net) बन्धनों व जालों से **अमूं सेनां हतम्**=उस शत्रु-सैन्य को विनष्ट करें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके राजा शत्रुसैन्य के संहार में समर्थ हो। वह शत्रुसैन्य में भुखमरी, महामारी, वध व भय उत्पन्न करके उसका विनाश करे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—पुरस्ताद्विराड्बृहती ॥

'बृहस्पतिप्रणुत्त' शत्रु

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन॥ १९॥

१. हे **पराजिताः**=पराजित हुए-हुए **अमित्राः**=शत्रुओ! तुम **प्रत्रसत**=भयभीत हो उठो। **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **नुत्ताः**=दूर धकेले हुए तुम **धावत**=भाग जाओ। **बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्**=बृहस्पति—ज्ञानपूर्वक धकेले हुए **अमीषाम्**=उन शत्रुओं का **कश्चन**=कोई भी **मा मोचि**=न छूट जाए। २. अध्यात्म में वासनारूप शत्रु ज्ञानग्नि में दग्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हम वासनारूप शत्रुओं का पराजय करें। ये शत्रु ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। ज्ञान के सामने वासना नहीं ठहरती।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—निचृत्पुरस्ताद्बृहती ॥

भयभीत शत्रु

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम्।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि॥ २०॥

१. भय के कारण **एषाम्**=हमारे शत्रुओं के **आयुधानि**=अस्त्र-शस्त्र **अवपद्यन्ताम्**=नीचे गिर जाएँ। ये **इषुं प्रतिधां मा शकन्**=बाण को धनुष् पर धारण करने में समर्थ न हों। **अथ**=अब **इषवः**=हमारे बाण **बहु बिभ्यताम्**=बहुत भयभीत हुए-हुए **एषाम्**=इनके **मर्मणि घ्नन्तु**=मर्म-स्थलों को हिंसित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमसे शत्रुसैन्य इसप्रकार भयभीत हो उठें कि उनके हाथों के अस्त्र नीचे गिर जाएँ। वे धनुष् पर बाण धारण करने में समर्थ न हों। हमारे बाण इन भयभीत शत्रुओं को मर्माहित करनेवाले हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्

सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥ २१ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **एनान् संक्रोशतम्**=इनकी निन्दा करें। **देवताभिः सह**=सब देवों के साथ **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **सम्**=इनकी निन्दा करे। **ज्ञातारं मा विदन्त**=ये ज्ञानी को प्राप्त न करें, **मा प्रतिष्ठाम्**=ये प्रतिष्ठा को भी प्राप्त न हों, **मिथः विघ्नानाः**=परस्पर लड़ते हुए **मृत्युं उपयन्तु**=मृत्यु को प्राप्त करें।

भावार्थ—आपस में लड़ते हुए व्यक्ति लोकत्रयी में निन्दित होते हैं। इन्हें ज्ञानियों के सम्पर्क की रुचि नहीं होती। ये सब प्रतिष्ठा को खो बैठते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥
छन्दः—२२ चतुष्पदाशक्वरी, २३ उपरिष्टाद्बृहती ॥

देवरथ

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम्॥ २२ ॥
संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः॥ २३ ॥

१. वे महेन्द्र (प्रभो) जब इस विश्वरूप त्रिपुर का विजय करते हैं तब **देवरथस्य**=उस विजेता प्रभु के रथ (ब्रह्माण्डरूप रथ) की **चतस्रः दिशः**=चारों दिशाएँ **अश्वतर्यः**=चार घोड़ियों के समान हैं। **पुरोडाशाः**=यज्ञ में डाले जानेवाले चरुद्रव्य **शफाः**=घोड़ियों के खुर हैं। **अन्तरिक्षं उद्धिः**=अन्तरिक्ष अक्षों के ऊपर का भाग है (the part which rests on the axles)। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **पक्षसी**=दोनों पासे हैं। **ऋतवः अभीशवः**=ऋतुएँ रासें (लगाम) हैं। **अन्तर्देशाः**=बीच के प्रदेश या लोक **किंकराः**=रथ में पीछे खड़े होनेवाले चाकर हैं। **वाक्**=वाणी **परिरथ्यम्**=रथचक्र परिधि है। २. **संवत्सरः**=वर्ष **रथः**=रथ है, **परिवत्सरः**=(सूर्य=परिवत्सरः—ता० १७.१३.१७) सूर्य **रथोपस्थः**=रथ में बैठने का स्थान (seat) है, **विराट्**=ब्रह्मा की प्रथम सन्तानभूत 'समष्टि बुद्धि', **ईषा**=युगदण्ड है। **अग्निः रथमुखम्**=अग्नि रथ का अग्रभाग है। **इन्द्रः**=मेघ (cloud) **सव्यष्ठाः**=वाम् पार्श्व में बैठनेवाला है और **चन्द्रमाः सारथिः**=चन्द्रमा सारथि है।

भावार्थ—मन्त्र वर्णित 'देवरथ' पर आरूढ़ होकर प्रभु त्रैलोक्य पर विजय कर रहे हैं। हम भी इस देवरथ के अनुकरण में इस शरीर को रथ बनाएँ और उसपर आरूढ़ होकर विजयी बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥
छन्दः—त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भापराशक्वरीपञ्चपदाजगती ॥

नील-लोहितेन

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा। इमे जयन्तु परामी जयन्तां
स्वाहैभ्यो दुराहाऽमीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥

१. हे पुरुष! **इतः जय**=इधर जय प्राप्त कर, **इतः विजय**=इधर विजय प्राप्त कर। **संजय**=सम्यक् विजय प्राप्तकर, **जय**=विजयी ही हो, **स्वाहा**=इसके लिए तू (सु आ हा) अपना समन्तात् त्याग करनेवाला बन। २. **इमे जयन्तु**=ये हमारे वीर विजयी हों, **अमी पराजयन्ताम्**=वे शत्रु लोग पराजित हों। **एभ्यः स्वाहा**=इन हमारे वीरों के लिए (सु आह) उत्तम यश के शब्द उच्चरित हों। **अमीभ्यः दुराहा**=उन शत्रुओं के लिए अपकीर्ति हो। **अमून्**=उन शत्रुओं को **नीललोहितेन**=नीले रुधिर से **अभ्यवतनोमि**=आच्छादित कर देता हूँ—भय के कारण शत्रुओं का रक्त नीला पड़ जाता है।

भावार्थ—स्वार्थ-त्याग करते हुए हम शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करें। शत्रु पराजित हों—अपकीर्ति को प्राप्त हों, भय से उनका रुधिर नीला पड़ जाए।

शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला यह साधक '**अथर्वा**' बनता है—न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यह ज्ञानी बनता है, '**कश्यपः**' नामवाला होता है—तत्त्व का द्रष्टा (पश्यकः)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। सूक्त का देवता 'विराट्' है—विशिष्ट दीप्तिवाला प्रभु। उसके विषय में प्रश्न करते हैं कि—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वत्सौ

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥ १ ॥

१. प्रभु विराट् हैं—विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। प्रकृति सलिलरूप है—सत् है और सारा संसार इसमें लीन हुआ-हुआ है, जैसे बच्चा मातृगर्भ में। प्रकृति के इस रूप को 'आपः' भी कहा गया है। यह प्रारम्भ में सूक्ष्म जल-कणों के बादल की भाँति व्याप्त-सी हो रही है तभी इसे 'नभस्' (nebula) नाम भी दिया जाता है। प्रभु और प्रकृति इस चराचर जगत् के पिता व माता हैं। पञ्चभूतों से बना सम्पूर्ण जगत् जड़ है। इन्हीं पञ्चभूतों से बना शरीर जब आत्मा को प्राप्त होता है तब वह चेतन हो उठता है। शरीरधारी जीव चेतनजगत् कहाता है। यह चेतन व जड़ जगत् ही चराचर संसार है। २. मन्त्र के प्रश्न हैं कि **कुतः तौ जातौ**=वे 'जड़-चेतन' कहाँ से प्रादुर्भूत हो गये। **कतमः सः अर्धः**=कौन-सी वह (ऋधु वृद्धौ) ऋद्धिमान् सत्ता है, जिसने कि इन्हें जन्म दिया? **कस्मात् लोकात्**=किस (लोकृ दर्शने) प्रकाशमय सत्ता से और **कतमस्याः पृथिव्याः**=किस फैले हुए तत्त्व से (प्रथ विस्तारे) ये जड़-चेतन उत्पन्न हो गये? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वत्सौ**=ये दोनों जड़-चेतनारूप वत्स (सन्तान) **विराजः**=उस विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु से तथा **सलिलात्**=सलिलरूप प्रकृति से **उत् एताम्**=उद्गत हुए। प्रश्नकर्ता पुनः पूछता है कि **तौ त्वा पृच्छामि**=उन दोनों वत्सों को लक्ष्य करके ही तुझसे पूछता हूँ कि **कतरेण दुग्धा**=इन दोनों में से किसने वेदवाणीरूप गौ का दोहन किया—प्रभु से दी गई वेदवाणी को कौन प्राप्त हुआ?

भावार्थ—प्रभु विराट् हैं, प्रकृति सलिलरूप से चारों ओर फैली हुई है। प्रभुरूप पिता प्रकृतिरूप माता में चराचर जगद्रूप दो वत्सों को जन्म देते हैं। इनमें से चेतन (चर) जीवरूप

वत्स प्रभु से वेदज्ञान प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

त्रिभुज् योनि

यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥ २॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **महित्वा**=अपनी महिमा से **सलिलम्**=इस सलिलरूपा प्रकृति को **अक्रन्दयत्**=गर्जना-सी कराते हैं—इस अणु-समुद्ररूप प्रकृति में विक्षोभ पैदा करते हैं। वे प्रभु इस **त्रिभुजम्**=सत्त्व, रजस् व तमरूप त्रिगुणों का पालन करनेवाली प्रकृति को **योनिं कृत्वा**=घर-सा बनाकर **शयानः**=निवास कर रहे हैं। यह प्रकृति प्रभु की योनि है, प्रभु इसमें गर्भ धारण करते हैं, तब यह सम्पूर्ण संसार आविर्भूत होता है। २. यह जीव उस **कामदुघः**=सब कामनाओं को पूरण करनेवाले **विराजः**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु का **वत्सः**=वत्स है—पुत्र है। **सः**=वह वत्स (जीव) **पराचैः**=(परा अञ्च्) बहिर्गमनों से—प्रकृति के विषयों में फँसने से **तन्वः गुहा चक्रे**=शरीररूप संवरणों (hiding places) को उत्पन्न कर लेता है। यदि जीव विषयों में न भटके तो उसे पुनः इस तनुरूप गुहा में न आना पड़े।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति को विक्षुब्ध करते हैं तभी सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रभु इस त्रिगुणमयी प्रकृति को योनि बनाकर रह रहे हैं। जीव कामनाओं के पूरक विराट् प्रभु का वत्स है। यह विषयों में भटकने के कारण शरीररूप संवरणों (क़ैदखानों) को प्राप्त किया करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

त्रिगुणा प्रकृति के साथ चौथा प्रभु

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम्॥ ३॥

१. **यानि त्रीणि**=जो ये प्रकृति के तीन 'सत्त्व, रज व तम' रूप गुण हैं ये **बृहन्ति**=(बृहि वृद्धौ) इस चराचर संसार के रूप में बढ़ते हैं। **येषां चतुर्थम्**=जिनका चौथा—इन तीनों गुणों से बनी प्रकृति को धारण करनेवाला चतुर्थ प्रभु **वाचम् वियुनक्ति**=वेदवाणी को जीवों के साथ जोड़ता है। वे प्रभु ही संसार का निर्माण करके जीवों के लिए ज्ञान देते हैं। २. **विपश्चित्**=ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि **तपसा**=तप के द्वारा **एनत् ब्रह्म विद्यात्**=इस ब्रह्म को जाने, **यस्मिन्**=जिस ब्रह्म में **एकं युज्यते**='एक' इस संख्या का प्रयोग होता है, **यस्मिन् एकम्**=जिसमें 'एक' ही संख्या का प्रयोग होता है (**स एष एक एकवृदेकव**—अथर्व० १३.१.२०)।

भावार्थ—सत्त्व, रज व तमरूप प्रकृति के तीन गुण इस संसार के रूप में आते हैं। चौथा ब्रह्म जीवों के लिए वेदज्ञान देता है। वह ब्रह्म एक ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संसार का निर्माण

बृहतः परि सामानि षष्ठात्पञ्चाधि निर्मिता।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता॥ ४॥
बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता।
माया ह जज्ञे मात्राया मायाया मातली परि॥ ५॥

१. '**अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहम्**' इस (पार० कां० १ कं० ६।३) वाक्य

के अनुसार पुरुष स्त्री का द्वन्द्व 'साम' है। इन द्वन्द्वों के शरीर प्रभु ने पञ्चमहाभूतों के द्वारा बनाये (तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना)। **षष्ठात्**=उस छठे प्रभु के द्वारा **पञ्च सामानि**=पाँच स्त्री-पुरुषों के द्वन्द्वरूप शरीर—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी द्वन्द्व **बृहतः परि**=(परि—from, out of) महाभूत (बृहत्=महान्) समाधि में से **अधिनिर्मिता**=बनाये गये। पाँच साम हैं, छठा इनका अधिष्ठाता प्रभु है। **बृहत्**=ये महाभूतसमूह **बृहत्या**=बृहती से—महत्तत्त्व से (प्रकृतेर्महान्) **निर्मितम्**=बनाया गया। अब प्रश्न होता है कि यह **बृहती**=महत्तत्त्व **कुतः**=कहाँ से **अधिमिता**=निर्मित हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं कि—२. **बृहती**=महत्तत्त्व **मात्रायाः परि**=(मात्रा=matter=मूल प्रकृति) प्रकृति में से निर्मित हुआ। **मातुः**=इस निर्माता प्रभु की अध्यक्षता में **मात्रा अधिनिर्मिता**=('माता प्रजाता'=माता ने बच्चे को जन्म दिया) प्रकृति ने इस महत्तत्त्वरूप सन्तान को जन्म दिया। ३. 'इस संसार को बनाने के लिए प्रभु को प्रज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ'? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि **माया**=प्रज्ञा **ह**=निश्चय से **मायायाः जज्ञे**=प्रज्ञा से ही प्रादुर्भूत हुई, अर्थात् 'प्रभु की प्रज्ञा कहीं और से उत्पन्न हो' ऐसी बात नहीं। प्रभु 'प्रज्ञानघन' ही हैं। **मायायाः**=इस प्रज्ञा के **परि मातली**=परे (beyond, more than) प्रभु हैं। प्रभु केवल सर्वज्ञ न होकर सर्वशक्तिमान् व सर्वैश्वर्यवान् भी हैं। 'माया व प्रज्ञा' प्रभु का एक रूप है। प्रभु उससे अधिक हैं। 'मातली' इन्द्र-सारथि कहलाता है। 'इन्द्र' जीव है, प्रभु इन जीवों को घुमा रहे हैं। जीवों के शरीररूप रथों के सञ्चालक प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पञ्चमहाभूतों से ब्राह्मण आदि पाँच वर्णों के स्त्री-पुरुषों के शरीरों के द्वन्द्वों का निर्माण किया है। ये महाभूत महत्तत्त्व से हुए। महत्तत्त्व प्रकृति से। प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति ने इन महत्तत्त्व आदि को जन्म दिया। प्रभु की प्रज्ञा किसी और से प्रादुर्भूत नहीं हुई। प्रभु केवल प्रज्ञानस्वरूप न होकर सर्वशक्तिमान् व सर्वेश्वर भी हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानर

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः॥ ६॥

१. **वैश्वानरस्य**=सब नरों के हितकारी व सबका नयन करनेवाले प्रभु की **प्रतिमा**=माप (extent, measure) विस्तार वहाँ तक है, **यावत् उपरि द्यौः**=जहाँ तक ऊपर द्युलोक है। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **रोदसी विबबाधे**=द्यावापृथिवी का आलोडन करनेवाले हैं। २. **ततः अमुतः षष्ठात्**=उस छठे (मन्त्र चार में) दूरतम (दूरात् सुदूरे) प्रभु से **स्तोमाः**=प्राण (शत० ८।४।१।३ प्राणा वै स्तोमाः) **आयन्ति**=चारों ओर आते हैं, अर्थात् दूर-से-दूर स्थित प्रभु सब प्राणियों में प्राणों का सञ्चार करते हैं। वे प्रभु जोकि **अह्नः**=(अहन्) कभी नष्ट होनेवाले नहीं, इन प्राणों को प्राप्त कराते हैं, और **इतः उत्**=यहाँ से ऊपर उठकर—शरीर से निकलकर **षष्ठं अभियन्ति**=ये प्राण पुनः उस छठे प्रभु की ओर चले जाते हैं।

भावार्थ—वैश्वानर प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रभु ही सर्वत्र प्राणों का सञ्चार करते हैं, और ये प्राण फिर—मृत्यु होने पर, प्रभु की ओर चले जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वेदवाणी

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः॥ ७॥

१. हे **कश्यप**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **षट् त्वा**=पाँच सामों को (मन्त्र चार में) बनानेवाले छठे आपको **इमे ऋषयः**=ये ऋषि **पृच्छाम**=पूछते हैं। **त्वं हि**=आप ही **युक्तम्**=हमारे साथ सम्बद्ध इन बुद्धि आदि पदार्थों को **योग्यं च**=और जोड़ने योग्य ज्ञानादि को **युयुक्षे**=जोड़ते हैं। आप ही बुद्धि व ज्ञानादि देनेवाले हैं। २. (वाग्वै विराट्—शत० ३।५।१।३४) **विराजम्**=इन सब ज्ञानों का दीपन करनेवाली वेदवाणी को **ब्रह्मणः पितरम् आहुः**=ज्ञान का रक्षक कहते हैं। **ताम्**=उस वेदवाणी को हम **सखिभ्यः**=सखाओं के लिए **यतिधा**=जितने भी प्रकार से सम्भव हो **विधेहि**=धारण कीजिए—हमें वेदवाणी प्राप्त कराइए।

भावार्थ—ऋषि लोग प्रभु को जानने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु ही बुद्धि व ज्ञान देनेवाले हैं। ज्ञान की रक्षिका वेदवाणी को प्रभु ही हमारे लिए सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्यो॒मन्॥ ८॥

१. प्रभु ने जीव के लिए वेदवाणी द्वारा ही यज्ञों का प्रतिपादन किया है, अतः वेदवाणी वह है **यां प्रच्युताम् अनु**=जिसके प्रच्युत (हमसे पृथक्) होने पर **यज्ञाः प्रच्यवन्ते**=यज्ञों का भी विलोप हो जाता है और **उपतिष्ठमानाम् (याम्) अनु**=जिसके उपासित होने पर **उपतिष्ठन्ते**=यज्ञ भी हमारे जीवन में उपस्थित रहते हैं। २. **यस्याः**=जिसके **व्रते**=व्रत में—नियमपूर्वक अध्ययन के पुण्यकार्य में, **प्रसवे**=जिसकी प्रेरणा में **यक्षं एजति**=वह उपासनीय प्रभु हमें प्राप्त होता है। **सा विराट्**=सब ज्ञानों में दीप्त होनेवाली वह वेदवाणी ही है। हे **ऋषयः**=ऋषयो! यह वेदवाणी **परमे व्योमन्**=(वि ओम् अन्) उस सर्वोत्कृष्ट प्रभु में है जिसने एक ओर प्रकृति 'वी' और दूसरी ओर जीव 'अन्' को आश्रय दिया हुआ है। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु है। प्रभु के प्रतिपादन में जीव व प्रकृति का प्रतिपादन होता ही है।

भावार्थ—वेद अध्ययन के साथ ही यज्ञ चलते हैं—वेद अध्ययन विलुप्त हुआ तो यज्ञ भी विलुप्त हुए। इनकी प्रेरणा में ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभिरूपा विराट्

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्ये॒ति पश्चात्।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम्॥ ९॥

१. यह वेदवाणी **अप्राणा**=प्राणधारण न करती हुई—जड़ होती हुई भी **प्राणतीनां प्राणेन एति**=प्राणधारण करनेवाली प्रजाओं के प्राणों के साथ ही आती है। प्रभु मनुष्य को प्राणित करते हैं और उसे वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। यह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाली वेदवाणी सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान देती हुई **पश्चात्**=पीछे **स्वराजम् अधि एति**=उस स्वयं देदीप्यमान् प्रभु की ओर प्राप्त होती है, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान द्वारा इन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती है। इसप्रकार यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती है। २. **एनाम्**=इस **विश्वं मृशन्तीम्**=सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का विवेचन करती हुई **अभिरूपाम्**=कमनीय (सुन्दर) **विराजम्**=दीप्त वेदवाणी को **त्वे पश्यन्ति**=कई देखते हैं—**त्वे न पश्यन्ति**=कई नहीं देखते। सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष इस वेदवाणी के भाव को समझ पाते हैं। वृत्ति के तामस् व राजस् होने पर इसका दर्शन सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—'अभिरूपा विराट्' (कमनीय दीप्त) वेदवाणी सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करती है। इसे सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष ही देख पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा की पत्नी 'सरस्वती'

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून्क उ कल्पमस्याः।
क्रमान्को अस्याः कतिधा विदुग्धान्को अस्या धाम कतिधा व्यु॒ष्टीः॥ १०॥

१. **कः**=कौन—कोई बिरला ही **विराजः**=इस विशिष्ट दीप्तिवाली वेदवाणी के **मिथुनत्वम्**=प्रभु के साथ सम्पर्क को **प्रवेद**=जानता है। '**स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम्**'—इन शब्दों में प्रभु जीव से कहते हैं कि 'मैंने यह वेदवाणीरूप माता तेरे सामने प्रस्तुत कर दी है। यह तुझे प्रेरणा देनेवाली हो'। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभु हमारे पिता हैं तो ये वेदवाणी हमारी माता है। **कः ऋतून्**=कोई बिरला ही इसके प्रकाश को (ऋतु=light, splendour) देख पाता है, **उ**=और **कः**=कोई ही **अस्याः कल्पम्**=इसके पवित्र निर्देशों (law, sacred precept) को समझता है। २. **कः**=कोई विरल पुरुष ही **अस्याः**=इसके **क्रमात्**=सामर्थ्यों (power, strength) को जानता है, और यह भी कि **कतिधा विदुग्धान्**=कितने प्रकार से उन सामर्थ्यों का हममें प्रपूरण होता है। **कः**=कोई विरला ही **अस्याः**=इस वेदवाणी के **धाम्**=तेज को जानता है कि **कतिधा व्युष्टीः**=कितने प्रकार से इसके द्वारा अन्धकारों का विनाश होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं, वेदवाणी हमारी माता है। वेदवाणी का प्रकाश हमें पवित्र कर्त्तव्यकर्मों का निर्देश करता है। यह हमें शक्ति प्रदान करती है और हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रथमा जनित्री वेदवाणी

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ११॥

१. **इयं एव सा**=यही वह वेदवाणी है (विराट् है), **या**=जो **प्रथमा**=सर्वप्रथम—सृष्टि के आरम्भ में **व्यौच्छत्**=सब अज्ञानान्धकार का विवासन (निराकरण) करती है। **आसु**=इन **इतरासु**=सृष्टि के प्रारम्भ के बाद तत्त्वद्रष्टाओं से प्रतिपाद्य ज्ञान की वाणियों में **प्रविष्टा**=प्रविष्ट हुई-हुई यह वेदवाणी ही **चराति**=गतिवाली होती है। इन तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की स्मृतियाँ श्रुतिमूलक ही होती हैं। २. **अस्यां अन्तः**=इस वेदवाणी में **महान्तः महिमानः**=महान् दीप्तियाँ व शक्तियाँ (glory, might, power) हैं। **वधूः**=वहन (धारण) करने योग्य यह वेदवाणी **जिगाय**=सब शत्रुओं पर विजय करती है—अन्धकार को दूर करके राक्षसी वृत्तियों का विनाश करती है। **नवगत्**=यह उस स्तुत्य प्रभु की ओर हमें ले-चलनेवाली है और **जनित्री**=सब सद्गुणों का हममें प्रादुर्भाव करनेवाली है।

भावार्थ—यह श्रुति (वेदवाणी) ही सर्वप्रथम हमारे अज्ञान को दूर करती है। श्रुतिमूलक स्मृतियाँ ही प्रामाणिक होती हैं। यह श्रुति 'शक्ति व दीप्ति' से हमें परिपूर्ण करती है। यह हमारे शत्रुओं का विनाश करती हुई सद्गुणों को हममें भरती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वेदवाणी को अपनानेवाली प्रजाएँ

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा॥ १२॥

१. उल्लिखित वेदवाणी गायत्री आदि छन्दों में है। इन **छन्दःपक्षे**=(पक्ष परिग्रहे) छन्दों का परिग्रह करनेवाली पुरुष व स्त्रीरूप प्रजाएँ **उषसा**=(उष दाहे) अपने दोषों को दग्ध करनेवाली और **पेपिशाने**=अपने रूप को अति सुन्दर बनानेवाली होती हैं। ये प्रजाएँ उस **समानम्**=(सम आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले **योनिम्**=सबके उत्पत्तिस्थान प्रभु की **अनु**=ओर **संचरेते**=सम्यक् गतिवाली होती हैं। २. ये प्रजाएँ **सूर्यपत्नी**=ज्ञानसूर्य का अपने अन्दर रक्षण करनेवाली, **प्रजानती**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली, **केतुमती**=प्रशस्त बुद्धि-(intellect)-वाली **अजरे**=अजीर्ण शक्तिवाली व **भूरिरेतसा**=पालक व पोषक रेतःकणोंवाली होती हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनानेवालों के जीवन दग्धदोष व सुन्दर बनते हैं। ये प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। अपने अन्दर ज्ञानसूर्य का उदय करते हुए ये ज्ञानी, बुद्धिमान्, अजीर्ण व शक्तिशाली होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋतु+रेतस्

ऋतस्य पन्थामनु तिस्त्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ १३॥

१. **ऋतस्य पन्थाम् अनु**=ऋत के (ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्य करने के) मार्ग पर चलने के पश्चात् **तिस्त्रः**=(तिस्रो देवीर्मयो भुवः—'इडा सरस्वती मही') तीन कल्याणकर दिव्य भावनाएँ 'इडा, सरस्वती और मही (भारती)' **आगुः**=प्राप्त होती हैं। 'इडा' प्रभु स्तवन की वाणी है, 'सरस्वती' विद्या है तथा 'मही वा भारती' शरीर का उचित भरण है। इन देवियों का आराधन मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर शरीर में रेतस् के रक्षण के योग्य बनाता है। **रेतः अनु**=रेतस् का रक्षण होने पर **त्रयः घर्माः**=तीन यज्ञ—देवपूजा, संगतिकरण व दान **आगुः**=मानव-जीवन में प्राप्त होते हैं। २. **एका**=पूर्वोक्त तीन देवियों में से एक 'इडा'—प्रभु की स्तुतिवाणी **प्रजां जिन्वती**=प्रजा को उत्तम प्रेरणा (to impel) प्राप्त कराती है। घर में माता-पिता को प्रभुस्तवन में प्रवृत्त देखकर सन्तानों को उत्तम प्रेरणा मिलती है। **एका**=एक 'सरस्वती' **ऊर्जं** (जिन्वती)=शरीर में बल व प्राणशक्ति का सञ्चार करती है। **एका**=एक 'मही'—शरीरों के उचित पोषण की वृत्तिवाले **देवयूनाम्**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले युवकों के सहारे **राष्ट्रं रक्षति**=राष्ट्र का रक्षण करती है। राष्ट्र के व्यक्तियों के स्वस्थ व त्यागशील (देवो दानात्) होने पर राष्ट्र कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता।

भावार्थ—हम वेदोपदिष्ट ऋत के मार्ग पर चलते हुए 'प्रभुस्तवन, ज्ञान व शक्ति सम्भरण' को प्राप्त हों। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए 'देवपूजा, संगतिकरण व दान की वृत्ति' वाले बनें। परिणामतः 'उत्तम सन्तानोंवाले, उत्तम प्राणशक्तिवाले व उत्तम राष्ट्रवाले' हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—चतुष्पदाऽतिजगती ॥

तुरीया स्थिति

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद्यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्व ऽराभरन्तीम्॥ १४॥

१. जीवन एक यज्ञ है। इस यज्ञ की उत्तमता के लिए 'अग्नि और सोम' दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। केवल अग्नितत्त्व जीवन को जलाता है। केवल सोमतत्त्व जीवन को एकदम ठण्डा कर देता है। दोनों का मिश्रण ही जीवन को रसमय व नीरोग बनाता है (आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म) और तभी ब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। इसलिए **ऋषयः**=ऋषि लोग **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोमतत्त्वों को **यज्ञस्य पक्षौ**=जीवन यज्ञ के दो पक्षों के रूप में **कल्पयन्तः**=बनाते हुए उस स्थिति को **अदधुः**=धारण करते हैं, **या तुरीया आसीत्**=जो चतुर्थी है। 'जागरित, स्वप्न व सुषुप्ति' से ऊपर उठकर समाधि की स्थिति 'तुरीया' है। अग्नि व सोम का सम्मिश्रण ऋषियों को इस स्थिति में पहुँचने के योग्य बनाता है। २. यह वह स्थिति है जो **गायत्रीम्**=(गयाः प्राणाः तान्तत्रे) प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाली है, **त्रिष्टुभम्**=(त्रिष्टुभ्) काम, क्रोध व लोभ के आक्रमण को रोक (stop) देनेवाली है, **जगतीम्**=लोकहित में प्रवृत्त करनेवाली है, **अनुष्टुभम्**=प्रतिदिन प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली है, **बृहद् अर्कीम्**=प्रभु की महती पूजा है, तथा **यजमानाय**=अपने साथ 'अग्नि व सोम' का सङ्गतिकरण करनेवाले यजमान के लिए (यज् सङ्गतिकरणे) **स्वः आभरन्तीम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—हमें जीवन में 'अग्नि व सोम' (विद्या व श्रद्धा, शक्ति व शान्ति, उग्रता व शीतलता) दोनों तत्त्वों का समन्वय करते हुए समाधि की स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह स्थिति ही हमें प्रकाश व सुख प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पञ्च

पञ्च व्यु ऽष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम्॥ १५॥

१. **पञ्च व्युष्टीः** (उष दाहे) **अनु**=पाँच मलों के दहन के पश्चात्, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मल को दग्ध कर देने पर (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) **पञ्च दोहाः**=पाँचों ज्ञानों का हमारे जीवन में प्रपूरण होता है। निर्मल होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने ज्ञान-प्राप्ति के कार्य को समुचित प्रकार से करती हैं। **पञ्च नाम्नीम्**=(पचि विस्तारे) सर्वव्यापक प्रभु के नामवाली **गां अनु**=वाणी के पीछे **पञ्च ऋतवः**=(ऋ गतौ) पाँचों कर्मेन्द्रियों के कार्य नियमित होते हैं—प्रभु-स्मरण के साथ समय पर पाँचों यज्ञ हमारे जीवन में स्थान पाते हैं। २. जिस समय ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को ठीक प्रकार से करती हैं, उस समय **पञ्चदशेन**=(आत्मा पञ्चदशः—तां० १९।११।३) 'पाँच प्राणों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों' के अधिष्ठाता जीव से **पञ्च दिशः क्लृप्ताः**=पाँचों दिशाएँ शक्तिशाली बनाई जाती हैं। यह उपासक 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची व ध्रुवा' इन सब दिशाओं का अधिपति बनने का संकल्प करता है। **ताः**=वे पाँचों दिशाएँ **एकमूर्धनीः**=एक ऊर्ध्वादिग्रूप शिखरवाली होती हुई—इस साधक को ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' बनाती हुई **एकं लोकं अभि**=अद्वितीय प्रकाशमय ब्रह्मलोक की ओर ले-जाती हैं।

भावार्थ—हम १. प्राणायाम द्वारा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मलों का दहन करें, २. पाँचों कर्मेन्द्रियों से प्रभुस्मरणपूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें, ३. 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची

व ध्रुवा' इन पाँचों दिशाओं के अधिपति बनते हुए 'ऊर्ध्वा' दिक् की ओर बढ़ें। अन्ततः प्रकाशमय ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

षट्

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥ १६॥

१. **षट्**=छह **भूता**=(भू प्राप्तौ) ज्ञान प्राप्त करानेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छठा मन **जाता**=प्रादुर्भूत हुए। ये छह **ऋतस्य**=ऋत के **प्रथमजा**=प्रथम प्रादुर्भाव हैं। प्रभु से ऋत का प्रादुर्भाव हुआ, ऋत से इन छह का प्रादुर्भाव हुआ अथवा प्रभु सत्यज्ञान का प्रथम प्रादुर्भाव करनेवाले हैं—सत्यज्ञान देनेवाले हैं। **उ**=और **षट्**=पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा छठा मन **सामानि**=(षोऽन्तकर्मणि) किसी भी वस्तु को समाप्ति तक ले-जानेवाले हैं, अर्थात् क्रियाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ तथा मन **षट् अहम्**=(अह व्याप्तौ) इन छह में व्याप्तिवाले प्रभु को **वहन्ति**=प्राप्त कराती हैं। जिस समय बुद्धि के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन के साथ कर्मेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तब ये प्रभु को प्राप्त कराती हैं, उसी को 'परमा गति' कहते हैं। २. (**सेरं ह्येतद् यत् सीरम्। इरामेवास्मिन्नेतद् दधाति**' श० ७।२।२।२) **सीरम्**=यह शरीर जब **षट् योगम्**=इन छह के योग-(वृत्तिनिरोध)-वाला हो जाता है, तब **अनु सामसाम**=उस समय शान्ति-ही-शान्ति होती है। जब ये विषयों में भटकते हैं तभी अशान्ति का कारण बनते हैं। वृत्ति के शान्त होने पर **द्यावापृथिवीः**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **षट् आहुः**=उस पाँच भूतों के अधिष्ठाता छठे प्रभु को कहते हैं—उसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **उर्वीः**=ये विशाल लोक-लोकान्तर **षट्**=उस छठे प्रभु को ही कहते हैं—प्रभु की ही महिमा को दिखाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व बुद्धि को जन्म दिया, जिससे हम सत्यज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रभु ने ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन को प्राप्त कराया, जिससे हम कर्मों को पूर्ण कर सकें। ये सब हमें उस प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं। जब ये विषयों में नहीं भटकते, तभी शान्ति होती है। उस समय ये द्यावापृथिवी तथा अन्य लोक-लोकान्तर प्रभु की महिमा को ही दिखाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शीतान्+उष्णान्

षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः॥ १७॥

१. प्रभु ने संसार में इस काल-प्रवाह में जो ऋतुएँ बनाई हैं, उनमें **षट्**=छह **शीतान् मासः आहुः**=शीत मास कहाते हैं, **उ**=और **षट् उष्णान्** (आहुः)=छह गरमी के मास हैं। **ऋतुं नो ब्रूत**=उस ऋतु को हमें बतलाओ तो सही **यतमः अतिरिक्तः**=जो इनसे अतिरिक्त है। वास्तव में मूल तत्त्व दो ही हैं 'सरदी और गरमी'। मानव स्वभाव में ये ही 'आपः, ज्योतिः' कहलाते हैं। इन्हीं को यहाँ (९.१४) 'अग्नीषोमौ' शब्द से कहा है। मनुष्य इन दोनों तत्त्वों को धारण करता है तभी इनके समन्वय में उसका जीवन पूर्ण बनता है। २. इस पूर्ण-से जीवन में **सप्त**=सात **सुपर्णाः (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्)**='दो कान, दो नासा-छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सात सुपर्ण=उत्तमता से पालन करनेवाली इन्द्रियाँ **कवयः**=(कुवन्ति सर्वाः विद्याः) सब विद्याओं का ज्ञान देती हुई **निषेदुः**=शिरोदेश में निषण्ण होती हैं। (कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि)—इन **सप्त छन्दांसि अनु**=पापों से बचानेवाली (छादयन्ति) इन्द्रियों के अनुसार **सप्त**

दीक्षाः=हम जीवनों में सात इन्द्रियों से सात व्रत ग्रहण करते हैं। इसप्रकार हम पुण्यकर्मों को ही करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम जीवन में अग्नि व सोमतत्त्व का समन्वय करें (गरमी+सरदी)। तब हमारी सातों ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान देती हुई हमें पापों से बचाएँगी और जीवन को व्रतमय बनाएँगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त आज्यानि व सप्त गृध्राः

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥ १८॥

१. '**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**' शरीर में सात ऋषि रक्खे गये हैं। इन ऋषियों के द्वारा इस जीवन में **सप्त होमाः**=सात होम सदा चलते हैं '**येन यज्ञस्तायते सप्तहोता**'। इन यज्ञों से उत्पन्न होनेवाली **समिधः**=दीप्तियाँ भी ह=निश्चय से **सप्त**=सात हैं। इन दीप्तियों के साथ **मधूनि सप्त**=सात माधुर्यों की जीवन में उत्पत्ति होती है और **ऋतवः ह सप्त**=सात ही नियमित गतियाँ (ऋ गतौ) होती हैं। २. वस्तुतः **सप्त आज्यानि**=सात जीवन को अलंकृत व दीप्त बनाने के साधन **भूतं परि आयन्**=प्राणि को प्राप्त हुए हैं। **ताः**=वे ही **सप्त गृध्राः**=सात गिद्ध हो जाते हैं, **इति वयं शुश्रुमः**=ऐसा हमने सुना है। प्रभु ने दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषि हमारे शरीर में रक्खे हैं। ये सात ऋषि हैं। ये ज्ञान का ग्रहण करते हुए जीवन को अलंकृत कर देते हैं, परन्तु जब हम विषयों से आकृष्ट होकर विषयों की ओर चले जाते हैं तब ये 'सात गृध्र' हो जाते हैं। जीवन को अलंकृत करने के स्थान में विषय-पङ्क से उसे मलिन कर डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से 'कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मन' द्वारा जीवन में सात होम चलते हैं। इनके द्वारा जीवन 'दीप्त, मधुर व नियमित गति' वाला बनता है। ये सात जीवन को दीप्त करने के साधन विषयाकृष्ट होकर 'सप्त गृध्र' बन जाते हैं—विषय-तृष्णा से बद्ध होकर ये जीवन को मलिन कर देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अन्तःकरण व बहिरिन्द्रियाँ

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि॥ १९॥

१. '**प्राणा छन्दांसि**' कौ० ११.८ तथा '**प्राणा वै स्तोमाः**' शत० ८.४.१.३ के अनुसार प्राणों को वैदिक साहित्य में 'छन्दस् व स्तोम' कहा गया है। ये कान आदि सप्त ऋषि मनुष्य को छादित (सुरक्षित) करने के व प्रभुस्तवन के साधन बनते हैं। **सप्त छन्दांसि**=सात छन्द 'शीर्षण्य प्राण' तो शरीर में हैं ही, **चतुः उत्तराणि**='मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' इनसे ऊपर हैं। ये बहिरिन्द्रिय हैं, तो वे अन्तरिन्द्रिय। वस्तुतः ये **अन्यः अन्यस्मिन् अधि आर्पितानि**=एक-दूसरे में अर्पित हैं—एक-दूसरे से मिलकर ही ये कार्य करते हैं। २. प्रभु ने शरीर में यह भी एक अद्भुत व्यवस्था की है कि **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **स्तोमाः**=प्राण **तेषु**=उन 'मन, बुद्धि' आदि में **प्रतितिष्ठन्ति**=प्रतिष्ठित हैं और **तानि**=वे 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार' भी **कथम्**=कैसे **स्तोमेषु**=उन प्राणों पर **आर्पितानि**=सर्वथा आश्रित हैं।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में कान आदि सात स्तोमों व छन्दों को स्थापित किया है तथा मन, बुद्धि आदि रूप अन्तःकरण चतुष्टय की स्थापना की है। ये शरीर में अन्योन्याश्रित-से हैं। एक-दूसरे से मिलकर ही ये अपना कार्य कर पाते हैं। यदि अन्तःकरण के बिना बहिरिन्द्रियों का

कार्य नहीं चलता तो बहिरिन्द्रियों के बिना अन्तःकरण भी व्यर्थ-सा हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्

कथं गायत्री त्रिवृतं व्या ∫ प कथं त्रिष्टुप्पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप्कथमेकविंशः॥ २०॥

१. **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **गायत्री**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों का रक्षण **त्रिवृतं व्याप**=(त्रिषु ज्ञानकर्मोपासनेषु वर्तते) ज्ञान, कर्म व उपासना में प्रवृत्त पुरुष को व्याप्त करता है। जो भी ज्ञान, कर्म व उपासना में प्रवृत्त होगा, वह प्राणशक्ति का रक्षण कर पाएगा। **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **त्रिष्टुप्**=काम, क्रोध, लोभ का निरोध (त्रि+ष्टुप्) **पञ्चदशेन कल्पते**=(आत्मा पञ्चदशः तां० १९।११।३) आत्मा को सामर्थ्यवाला बनाता है। वस्तुतः 'काम, क्रोध, लोभ' का निरोध ही आत्मा को शक्तिशाली बनाता है। २. **त्रयस्त्रिंशेन**=तेतीस देवों को अपने में स्थापित करनेवाले साधक से **कथम्**=कैसे अद्भुत रूप में **जगती**=लोकहित का कार्य होता है, और **अनुष्टुप्**=प्रतिदिन प्रभुस्तवन करनेवाला **कथम्**=कैसे **एकविंशः**='पाँच भूत, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा इक्कीसवें सशक्त मन' वाला होता है। स्तोता के ये इक्कीस-के-इक्कीस तत्त्व बड़े ठीक रहते हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, कर्म व उपासन' में प्रवृत्त होकर हम प्राणों का रक्षण करें; काम, क्रोध, लोभ का निरोध करके आत्मा को प्रबल बनाएँ; अपने में दिव्य गुणों को धारण करके लोकहित में प्रवृत्त हों तथा प्रभुस्तवन करते हुए हम जीवन के धारक इक्कीस तत्त्वों को अपने में ठीक रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अष्ट

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति॥ २१॥

१. '**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥**' के अनुसार **अष्ट भूता जाता**=आठ पदार्थ प्रकट हुए। ये **ऋतस्य प्रथमजा**=ऋत के प्रथम प्रादुर्भाव थे। प्रभु के दीप्त तप से ऋत का प्रादुर्भाव हुआ। ऋत से 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठ का प्रादुर्भाव हुआ। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ये **अष्ट**=आठ वे हैं **ये**=जो **दैव्याः ऋत्विजः**=उस देव प्रभु के द्वारा जीवन-यज्ञ को चलाने के लिए उत्पादित किये गये हैं। 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' को जीवन-यज्ञ के ऋत्विजों के रूप में देखने से जीवन कितना पवित्र बनता है! २. वस्तुतः यह **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति **अष्टयोनिः**=इन आठ का घर है। ये आठों ऋत्विज् इस प्रकृतिरूप घर में ही रहते हैं। इसी से यह प्रकृति **अष्टपुत्रः**=इन आठ पुत्रोंवाली कहलाती है। '**रात्रिर्वै संयच्छन्दः**' य० १५।५ के अनुसार रात्रि संयच्छन्द है—संयम की प्रबल अभिलाषा से जब मनुष्य पृथिवी आदि का संयम करते हुए अन्ततः **अष्टमीं रात्रिम्**=अहंकार का आठवें स्थान में संयम करता है तब वह **हव्यं अभि एति**=उस अर्पणीय प्रभु को प्राप्त होता है। अहंकार का विजय करके ही हम प्रभु को प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद २६.१ में '**अष्टमी भूतसाधनी**' ऐसा कहा है। यह अष्टमी जीवों को सिद्धि प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—प्रभु ने ऋत का प्रादुर्भाव करके 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठ का प्रादुर्भाव किया। ये आठ ही जीवन-यज्ञ के ऋत्विज् हैं। प्रकृति इन्हीं आठ पुत्रोंवाली है। मनुष्य एक-एक करके जब आठवें स्थान पर अहंकार पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, तब

प्रभु को प्राप्त होता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

समानजन्मा 'क्रतु'

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन्॥ २२॥

१. विराट् प्रभु कहते हैं कि **इत्थं श्रेयः मन्यमाना**='इसप्रकार कल्याण है', ऐसा मानता हुआ मैं **इदं आगमम्**=तुम्हारे जीवन-यज्ञ में आया हूँ। जब प्रभु उपस्थित रहते हैं, अर्थात् जब तक हम प्रभु को भूलते नहीं, तब तक जीवन पवित्र बना रहता है और अकल्याण का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। **युष्माकं सख्ये**=तुम्हारी मित्रता में **अहं शेवा अस्मि**=मैं कल्याणकर हूँ। जब जीव प्रभु का मित्र बन जाता है तब प्रभु उसका कल्याण करते ही हैं। २. प्रभु कहते हैं कि यह **वः**=तुम्हारे **समानजन्मा**=जन्म के साथ ही उत्पन्न हुआ-हुआ **क्रतुः**=यज्ञ **शिवः अस्ति**=कल्याणकर है। **'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'** प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया है। ये यज्ञ 'कामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है। **सः**=वह यज्ञ **वः सर्वाः**=तुम सबका **प्रजानन्**=ध्यान करता हुआ **संचरति**=गतिवाला होता है। यह यज्ञ जीवनों को स्वर्गमय बना देता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ में उपस्थित रहते हैं तो कल्याण-ही-कल्याण होता है। प्रभु ने इस यज्ञ को हमारे साथ ही उत्पन्न किया है। यह यज्ञ हमारा कल्याण करता है और हम सबका पालन करता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

इन्द्र, यम, ऋषि

अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे॥ २३॥

१. **इन्द्रस्य अष्ट**=जितेन्द्रिय पुरुष के 'शरीर के उपादानभूत पाँचों भूतांशों तथा 'मन, बुद्धि व अहंकार' को **यमस्य षट्**=संयत जीवनवाले पुरुष के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व मन को, **ऋषीणाम्**=(ऋष् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुषों के **सप्तधा सप्त**=सात-सात प्रकार से विभक्त होकर कार्य करनेवाले, अर्थात् उनचास मरुतों (प्राणों) को **पञ्च अनुसेचिरे**=पाँचों तत्त्व (पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश) अनुकूला से समवेत होते हैं, परिणामतः इन्द्र के आठ, यम के छह तथा ऋषियों के ये उनचास पदार्थ ठीक बने रहते हैं, अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करते हैं। २. **उ**=और **अपः मनुष्यान् ओषधीः**=उन मनुष्यों को जिनमें कि एक ओर जल हैं (अपः) और दूसरी ओर ओषधियाँ, **तान्**=उन्हें **उ**=भी ये पाँच अनुकूलता से सेवन करनेवाले होते हैं। मनुष्य का खान-पान यदि जल व ओषधियाँ ही रहें तो पाँचों तत्त्वों के ठीक रहने से उसका स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। यहाँ वेद ने मनुष्य को बड़ी सुन्दरता से संकेत किया है कि जल तेरे दक्षिण हस्त में हो तो ओषधियाँ वाम हस्त में, अर्थात् तुझे पानी पीना है और वानस्पतिक भोजन का ही सेवन करना है। अन्यत्र यही भाव **'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'** इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि तुझे पशुओं का दूध ही लेना है, मांस नहीं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय (इन्द्र), नियन्त्रित जीवनवाले (यम) व वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋषि) बनें। जलों व ओषधियों से ही शरीर का पोषण करें, मांस से नहीं। ऐसा होने पर हमें पञ्चभूतों की अनुकूलता से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देव, मनुष्य, असुर, ऋषि

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान्मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन्॥ २४॥

१. वेदवाणी 'केवली' है (के+वल्) आनन्दमय प्रभु में विचरण करनेवाली है। यह **इन्द्राय दुदुहे**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए दुही जाती है। **हि**=निश्चय से **गृष्टिः**=यह वेदवाणीरूप सकृत् प्रसूता गौ—सृष्टि के प्रारम्भ में जिसका एक बार ही ज्ञान दे दिया जाता है, वह वेदधेनु **वशम्**=कमनीय—चाहने योग्य, **प्रथमम्**=सर्वोत्कृष्ट व विस्तृत **पीयूषम्**=ज्ञानामृत का **दुहाना**=प्रपूरण करती है। २. **अथ**=अब यह **देवान् मनुष्यान् असुरान् उत ऋषीन्**=देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन **चतुः**=चारों को **चतुर्धा अतर्पयत्**=चार प्रकार से तृप्त करती है। ब्रह्मचर्याश्रम में विचरनेवाले—ज्ञान की स्पर्धा में एक-दूसरे से आगे बढ़ने की भावनावाले विजिगीषु (दिव् विजिगीषायाम्) ब्रह्मचारियों को प्रकृतिज्ञान (ऋग्वेद द्वारा) देती हुई प्रीणित करती है। गृहस्थ में मननपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यों को (यजुर्वेद के द्वारा) कर्त्तव्य-कर्मों का उपदेश देती हुई तृप्त करती है। अब प्राणसाधना में प्रवृत्त (असुषु रमन्ते) वानप्रस्थों को (सामवेद द्वारा) प्रभु के उपासन में प्रवृत्त करती हुई आनन्दित करती है तथा अन्ततः सब वासनाओं का संहार करनेवाले ऋषिभूत संन्यासियों को यह ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) के द्वारा ब्रह्म के समीप प्राप्त कराती है, तब यह संन्यस्त वाचस्पति बनकर नीरोग व निर्द्वन्द्व बनता है—लोगों को भी यह ऐसा बनने का ही उपदेश करता है।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में जिसका ज्ञान दिया गया है, वह वेदवाणी हमें 'कमनीय, व्यापक, अमृतमय' ज्ञान प्राप्त कराती है। यह हमें 'देव, मनुष्य, असुर (प्राणसाधक) व ऋषि' बनाती हुई सफल जीवनवाला करती है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'एकवृत्' यक्ष

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः॥ २५॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते॥ २६॥

१. **कः**=कौन **नु**=निश्चय से **गौः**=संसार-शकट का खेंचनेवाल बैल (अनड्वान्) है? **कः**=कौन **एकः**=अद्वितीय **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है, **उ**=और **किं धाम**=कौन तेज है? **काः आशिषः**= (आशास् to order, to command) कौन-सी शासक शक्तियाँ हैं। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **यक्षम्**=सबका संगतिकरण करनेवाला—सब पदार्थों को एक सूत्र में पिरोनेवाला **एकवृत्**=अकेला ही होनेवाला **एकर्तुः**=अकेला ही गति देनेवाला (ऋ गतौ), **सः**=वह **कतमः नु**=निश्चय ये कौन-सा है? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि—**एकः गौः**=वह संसार शकट का वहन करनेवाला अनड्वान्=अद्वितीय प्रभु ही है। **एकः एकऋषिः**=वही अद्वितीय तत्त्वद्रष्टा है। **एकं धाम**=वही अद्वितीय तेज है। **एकधा आशिषः**=एक प्रकार की ही शासक शक्ति है—भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न शासक शक्तियाँ नहीं हैं। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **यक्षम्**=पूज्य, सब लोकों का संगतिकरण करनेवाला **एकवृत्**=एक ही है, **एकर्तुः**=वह एक ही गति देनेवाला है। **न अतिरिच्यते**=उससे बढ़कर कोई नहीं है।

भावार्थ—प्रभु इस संसार-शकट का वहन कर रहे हैं। वे तत्त्वद्रष्टा हैं, तेजःपुञ्ज हैं, एकमात्र शासक हैं। वे सब लोक-लोकान्तरों का संगतिकरण करनेवाले प्रभु एक ही हैं। वे ही सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है।

इसप्रकार प्रभु से शासित संसार को देखनेवाला यह ज्ञानी मानव-समाज में भी शासन-व्यवस्था लाने का चिन्तन करता है। इसका उपदेश देनेवाला यह आचार्य स्वयं स्थिर वृत्तिवाला होने से 'अथर्वा' बनता है। यह 'अथर्वाचार्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०. [दशमं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ आर्चीपङ्क्तिः, २ याजुषीजगती, ३ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

विराट् से गार्हपत्य में

विराड् वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः। सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ १॥
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्य क्रामत्॥ २॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. यहाँ काव्यमय भाषा में शासन-व्यवस्था के विकास का सुन्दर वर्णन हुआ है। **अग्रे**=पहले **वै**=निश्चय से **इदम्**=यह **विराट्**=(वि-राट्) राजा से रहित स्थिति **आसीत्**=थी। कोई शासक न था। **तस्याः जातायाः**=उस प्रादुर्भूत हुई-हुई अराजकता की स्थिति से **सर्वं अबिभेत्**=सभी भयभीत हो उठे कि **इयं एव**=यह विराट् अवस्था ही **इदं भविष्यति**=इस जगत् को प्राप्त होगी (भू प्राप्तौ) **इति**=क्या इसी प्रकार यह सब रहेगा? २. इसप्रकार सबके भयभीत होने पर सबमें विचार उठा। एक घर में परिवार के व्यक्तियों ने मिलकर सोचा कि क्या करना चाहिए? परिणामतः **सा**=वह विराट् अवस्था **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। उसमें कुछ सुधार हुआ और प्रत्येक घर में एक व्यक्ति प्रमुख बनाया गया। इसप्रकार **सा**=विराट् अवस्था उत्क्रान्त होकर **गार्हपत्ये न्यक्रामत्**=गार्हपत्य में आकर स्थित हुई। प्रत्येक घर में गृहपति का शासन स्थापित हो गया। घर में अराजकता का लोप हो गया। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार गार्हपत्य व्यवस्था के महत्त्व को समझ लेता है, वह **गृहमेधी भवति**=गृहस्थ यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाला होता है, **गृहपतिः भवति**=गृहपति बनता है—अराजकता पैदा न होने देकर घर का रक्षण करता है।

भावार्थ—विराट् (अराजकता) की स्थिति सबको भयंकर प्रतीत हुई, अतः लोगों ने विचार कर प्रत्येक घर में एक को मुखिया नियत किया। यही 'गार्हपत्य' कहलायी। इससे घर में अराजकता का लोप होकर शान्ति की स्थिति उत्पन्न हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**४ याजुषी जगती, ५ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

आहवनीय (ग्रामपंचायत)

सोदक्रामत्साहवनीये न्य क्रामत्॥ ४॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद॥ ५॥

१. गार्हपत्य-व्यवस्था हो जाने पर प्रत्येक घर में तो शान्ति स्थापित हो गई, 'परन्तु यदि दो घरों में परस्पर कोई संघर्ष उपस्थित हो जाए तो उसके लिए क्या किया जाए', इस विचार के उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=विराट् व्यवस्था में और उन्नति हुई और **सा**=वह विराट् **आहवनीये न्यक्रामत्**=आहवनीय में विश्रान्त हुई। घरों के प्रतिनिधियों की एक सभा बनी। यह आहवनीय कहलायी, जिसमें प्रतिनिधि आहूत होते हैं। २. इस आहवनीय का भी एक मुखिया बना, वही 'ग्राम-प्रधान' कहलाया। **अस्य देवहूतिं देवाः यन्ति**=इस प्रधान की सभा के ज्ञानी

प्रतिनिधियों (देवों की पुकार होने) पर वे देवसभा में जाते हैं। 'आहवनीय' में वे सब देव उपस्थित होते हैं। उसमें घरों के पारस्परिक कलह को सुनकर वे उसका उचित निर्णय करते हैं। इसप्रकार घरों में परस्पर मेल बना रहता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार आहवनीय के महत्त्व को समझ लेता है, वह **देवानाम् प्रियः भवति**=ज्ञानी प्रतिनिधियों का प्रिय होता है।

भावार्थ—घरों के पारस्परिक कलहों को समाप्त करने के लिए एक ग्रामसभा बनी। यही 'आहवनीय' कहलायी। ऐसे कलहों के पैदा होने पर प्रधान की पुकार पर सब देव (ज्ञानी प्रतिनिधि) उपस्थित होते हैं और सब पक्षों को सुनकर उचित निर्णय करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**६ याजुषीजगती, ७ विराड्गायत्री** ॥

दक्षिणाग्नि

सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्य ऽक्रामत्॥ ६॥
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद॥ ७॥

१. अब एक ग्राम के घरों में तो अराजकता की स्थिति समाप्त हो गई, 'परन्तु दो ग्रामों में कोई संघर्ष उपस्थित हो जाने पर क्या किया जाए', यह समस्या विचारणीय हो गई। परिणामतः **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई तथा **सा**=वह **दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्**=दक्षिणाग्नि में स्थित हुई। प्रत्येक ग्राम का दक्षिण (कुशल) अग्नि (नेता) इस सभा में उपस्थित होता है। इससे सभा का नाम ही दक्षिणाग्नि हो गया है। २. **यः एवं वेद**=जो इस 'दक्षिणाग्नि' संगठन के महत्त्व को समझ लेता है वह **यज्ञर्त्तः**=संगठन में गतिवाला, **दक्षिणीयः**=(दक्षिण fame) यशस्वी व **वासतेयः**=लोगों को उत्तमता से बसानेवाला **भवति**=होता है। साथ ही 'दक्षिणाग्नि' के सभ्यों को कुछ दक्षिणा भी दी जाती है तथा निवासस्थान भी दिया जाता है। ये दक्षिणाग्नि के सभ्य दक्षिणीय व वासतेय हैं। इन्हें अपने ग्राम से दूर आना पड़ता है, अतः यह व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।

भावार्थ—ग्रामों के पारस्परिक कलहों को निपटाने के लिए ग्रामों के कुशल नेताओं की जो सभा बनती है, वह 'दक्षिणाग्नि' कहलाती है। जो कुशल नेता इस संगठन में उपस्थित होते हैं, वे 'दक्षिणीय व वासतेय' होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**८ याजुषिजगती, ९ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सभा

सोदक्रामत्सा सभायां न्य ऽक्रामत्॥ ८॥
यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद॥ ९॥

१. 'दक्षिणाग्नि' के बन जाने पर एक प्रान्त के ग्रामों के कलह ठीक रूप से निर्णीत हो जाते हैं, 'परन्तु यदि प्रान्तों की कोई समस्या परस्पर उठ खड़ी हो तो क्या करें'? वह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई, और **सा सभायां न्यक्रामत्**=वह सभा में आकर स्थित हुई। प्रत्येक प्रान्त की दक्षिणाग्नि के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित होते हैं। इसमें वे 'सह भान्ति यस्याम्'—मिलकर शोभायमान होते हैं। **यः एवं वेद**=जो इस सभा के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस सभा का प्रमुख सदस्य बनता है और **अस्य सभां यन्ति**=इस प्रमुख का सभा में सब दक्षिणाग्नियों के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। यह सभाप्रधान उन सब प्रतिनिधियों के प्रति **सभ्यः भवति**=अत्यन्त सभ्य व्यवहारवाला होता है। इसप्रकार प्रान्तों के परस्पर कलह सुलझ जाते हैं और देश में शान्ति बनी रहती है।

भावार्थ—प्रान्तों के पारस्परिक कलहों को निपटाने के लिए जो संगठन बनता है, वह 'सभा' कहलाती है। इसका प्रधान सब प्रतिनिधियों से सभ्यतापूर्वक वर्तता हुआ सबके साथ प्रेम बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१० याजुषीजगती, ११ साम्नीबृहती** ॥

समिति

सोद॑क्राम॒त्सा समि॑तौ॒ न्य॑क्रामत्॥ १०॥
यन्त्य॑स्य॒ समि॑तिं सामि॒त्यो भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ११॥

१. 'अब एक महाद्वीप के देशों में यदि परस्पर कोई कलह उपस्थित हो जाए तो क्या हो', यह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई और **सा समितौ न्यक्रामत्**=वह समिति में विश्रान्त हुई। एक महाद्वीप के देशों के प्रतिनिधियों की यह सभा समिति कहलायी—जिसमें विविध देशों के प्रतिनिधियों का 'सम् इति' मिलकर गमन होता है। २. **यः एवं वेद**=जो इस समिति के महत्त्व को समझता है और लोगों को इसके महत्त्व को समझाता है वह **सामित्यः भवति**=(समितौ साधुः आदरणीयः) समिति में उत्तम होता है और इसके पुकारने पर सब सभ्य **समितिं यन्ति**=समिति में उपस्थित होते हैं। ये समिति के सदस्य देशों के पारस्परिक संघर्षों को पनपने नहीं देते।

भावार्थ—देशों के प्रतिनिधियों की सभा 'समिति' कहलाती है, इसका प्रधान 'सामित्य' कहा जाता है। इसकी अध्यक्षता में समिति के सदस्य देशों के कलहों को दूर करने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१२ याजुषीजगती, १३ विराड्गायत्री** ॥

आमन्त्रण (U.N.O.)

सोद॑क्राम॒त्सामन्त्र॒णे॒ न्य॑क्रामत्॥ १२॥
यन्त्य॑स्या॒मन्त्र॑णमामन्त्र॒णीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १३॥

१. 'यदि महाद्वीपों का कलह उपस्थित हो जाए तो क्या करें', यह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई और **सा आमन्त्रणे न्यक्रामत्**=वह 'आमन्त्रण' में आकर विश्रान्त हुई। यह इस पृथिवी पर सबसे बड़ा संगठन है। इसमें सब महाद्वीपों से प्रतिनिधि आमन्त्रित होते हैं और वे मिलकर समस्याओं को सुलझाने का यत्न करते हैं। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस आमन्त्रण के बनाने की बात को समझता है, वही **आमन्त्रणीयः भवति**=इस आमन्त्रण का प्रधान बनने के योग्य समझा जाता है और सब सदस्य **अस्य**=इसके पुकारने पर **आमन्त्रणं यन्ति**='आमन्त्रण' में जाते हैं—आमन्त्रण में उपस्थित होकर गम्भीर विषयों पर अपना-अपना विचार देने का प्रयत्न करते हैं। यह आमन्त्रण ही 'विश्वशान्ति' का साधन बनता है। यह मानवजाति का सर्वोत्तम संगठन है। इसके होने पर भी कुछ-न-कुछ विराट् अवस्था रह ही जाती है। विराट् अवस्था ही तो उत्क्रान्त होकर यहाँ तक पहुँची है। मनुष्य की सहज अपूर्णता संगठन की अपूर्णता का कारण होगी ही।

भावार्थ—'आमन्त्रण' वह संगठन है, जो महाद्वीपों के पारस्परिक कलहों को निपटाकर मनुष्यों को युद्धों की स्थिति से ऊपर उठाता है। युद्धों के अभाव में ही वास्तविक उन्नति सम्भव है।

१०. [दशमं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ त्रिपदासाम्न्यनुष्टुप्, २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदोपरिष्टाद्विराड्बृहती, ३ एकपदायाजुषीगायत्री, ४ एकपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

ऊर्क्, स्वधा, सूनृता, इरावती

सोदक्रामत्साऽन्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्ताऽतिष्ठत्॥ १ ॥

तां देवमनुष्या ऽअब्रुवन्नियमेव तद्वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति॥ ४ ॥

१. विराट् अवस्था उत्क्रान्त होकर, 'आमन्त्रण' तक पहुँचकर, सचमुच '**विराट्**'='विशिष्ट दीप्तिवाली' हो जाती है। **सा**=वह विराट् **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई और उन्नत होकर **सा**=वह **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **चतुर्धा**=चार प्रकार से **विक्रान्ता अतिष्ठत्**=विक्रमवाली होकर ठहरी, अर्थात् विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था होने पर सारे वातावरण में चार बातों का दर्शन हुआ, तब **ताम्**=उस विराट् को **देवमनुष्याः अब्रुवन्**=देव और मनुष्य, अर्थात् विद्वान् और सामान्य लोग बोले कि **इयम् एव**=यह विराट् ही **तत् वेद**=उस बात को प्राप्त कराती है, **यत् उभये उपजीवेम**=जिसके आधार से हम दोनों जीते हैं, अतः **इमाम् उपह्वयामहे इति**=इस विराट् को हम पुकारते हैं। ज्ञानी व सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि यह विराट्—विशिष्ट दीप्तिवाली राष्ट्र-व्यवस्था हमारे जीवनों के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराती है, अतः देव-मनुष्यों ने **ताम् उपाह्वयन्त**=उस विराट् को पुकारा। हे **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति देनेवाली विराट्! **एहि**=तू हमें प्राप्त हो। **स्वधे**=आत्मधारण-शक्तिवाली विराट्! **एहि**=तू आ। **सुनृते**=हे प्रिय, सत्यवाणि! तू **एहि**=आ और **इरावति**=अन्नवाली विराट्! **एहि इति**=आओ ही।

भावार्थ—उत्क्रान्त विराट् स्थिति होने पर देव व मनुष्य अनुभव करते हैं कि अब हम 'बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बन पाएँगे, आत्मधारण के सामर्थ्यवाले होंगे, सर्वत्र प्रिय, सत्यवाणी का श्रवण होगा और सबके लिए अन्न सुलभ होगा'।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**५ विराड्गायत्री, ६ आर्च्यनुष्टुप्**॥

विराट् रूप कामधेनु

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद्गायत्र्य ऽभिधान्यभ्रमूधः॥ ५ ॥

बृहच्च रथन्तरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ॥ ६ ॥

१. उल्लिखित विराट् को—विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था को कामधेनु के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि—**तस्याः**=उस विराट्रूप कामधेनु का **इन्द्रः वत्सः आसीत्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष वत्स (बछड़ा) है अथवा प्रिय पुत्र है। इस कामधेनु की **गायत्री अभिधानी**=गान करनेवाले का त्राण करनेवाली (गायन्तं त्रायते) यह वेदवाणी बन्धन-रज्जु है। **अभ्रम् ऊधः**=इस विराट्रूप कामधेनु का मेघ ही दुग्धाशय है। जहाँ विराट् होती है, वहाँ पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वेदविद्या का गान करते हुए वे अपना त्राण करते हैं, उस राष्ट्र में मेघ समय पर बरसकर अन्नादि की कमी नहीं होने देता। २. इस विराट्रूप कामधेनु के **बृहत् च रथन्तरं च**=बृहत् और रथन्तर **द्वौ स्तनौ आस्ताम्**=दो स्तन हैं। **यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ**=और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव दो स्तन हैं। **'द्यौर्वै बृहत्'**—शत० ९।१।३।३७ के अनुसार बृहत् का अर्थ द्युलोक

है। **'इयं पृथिवी वै रथन्तरम्'**—शत० ९।१।३।३६ के अनुसार पृथिवी 'रथन्तर' है। **'चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियम्'**—शत० ९।१।२।३९ के अनुसार यज्ञायज्ञिय का अर्थ चन्द्रमा है। **'प्राणो वै वामदेव्यम्'**—शत० ९।१।२।३८ में वामदेव्य का अर्थ प्राण किया गया है।

भावार्थ—विराट्‌रूप कामधेनु का वत्स 'इन्द्र' है, अभिधानी 'गायत्री' है तथा ऊधस् (अभ्र) है, अर्थात् दीप्त शासन-व्यवस्थावाले राष्ट्र में पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वेदविद्या का गान होता है, वहाँ समय पर बादल बरसता है। इस कामधेनु के द्युलोक व पृथिवीलोक, चन्द्र व प्राण—चार स्तन हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**७ साम्नीपङ्क्तिः, ८ आसुरीगायत्री, ९ साम्न्यनुष्टुप्, १० साम्नीबृहती** ॥

रथन्तर, बृहत्, वामदेव्य, यज्ञायज्ञिय

ओष॑धीरे॒व र॑थन्त॒रेण॑ दे॒वा अ॑दुह्र॒न्व्यचो॑ बृह॒ता ॥ ७ ॥
अ॒पो वा॑मदे॒व्येन॑ य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञियेन॑ ॥ ८ ॥
ओष॑धीरे॒वास्मै॑ रथन्त॒रं दु॑हे॒ व्यचो॑ बृ॒हत् ॥ ९ ॥
अ॒पो वा॑मदे॒व्यं य॒ज्ञं य॑ज्ञाय॒ज्ञियं॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १० ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **रथन्तरेण**=पृथिवी से **ओषधीः एव अदुह्रन्**=ओषधियों का ही दोहन किया। ये ओषधियाँ ही उनका भोजन बनीं। **बृहता**=द्युलोक से **व्यचः**=विस्तार को (Expanse, Vastness) दोहा। द्युलोक की भाँति ही अपने हृदयाकाश को विशाल बनाया। विशालता ही तो धर्म है। **वामदेव्येन**=प्राण से—प्राणशक्ति से इन्होंने **अपः**=कर्मों का दोहन किया—प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर ये क्रियाशील हुए। **यज्ञायज्ञियेन**=चन्द्रमा के हेतु से—आह्लाद-प्राप्ति के हेतु से (चदि आह्लादे) **यज्ञम्**=इन्होंने यज्ञों को अपनाया। २. **एवम्**=इसप्रकार यह जो विराट् को **वेद**=ठीक से समझ लेता है, **असौ**=इस पुरुष के लिए **रथन्तरम्**=विराट् का पृथिवी-रूपी स्तन—**ओषधीः एव दुहे**=ओषधियों का दोहन करता है, **बृहत्**=द्युलोकरूप स्तन **व्यचः**=हृदय की विशालता को प्राप्त कराता है। **वामदेव्यम्**=प्राणशक्तिरूप स्तन **अपः**=कर्मों को प्राप्त कराता है और **यज्ञायज्ञियम्**=चन्द्ररूप स्तन यज्ञों को प्राप्त कराता है, अर्थात् यज्ञ करके यह वास्तविक आह्लाद को अनुभव करता है।

भावार्थ—विराट्‌रूप कामधेनु हमें 'ओषधियाँ, हृदय की विशालता, कर्म व यज्ञ' को प्राप्त कराती है।

१०. [दशमं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ चतुष्पदाविराडनुष्टुप्, २ आर्चीत्रिष्टुप्** ॥

वनस्पतियों का विराट् को प्राप्त होना

सोद॑क्राम॒त्सा व॑न॒स्पती॒नाग॑च्छ॒त्तां
व॑न॒स्पत॑योऽघ्नत॒ सा सं॑वत्स॒रे सम॑भवत् ॥ १ ॥
तस्मा॒द्व॑न॒स्पती॑नां संवत्स॒रे वृ॒क्णमपि॑ रोहति
वृश्च॑ते॒ऽस्याप्रि॑यो॒ भ्रातृ॑व्यो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ २ ॥

१. **सा**=वह विराट्‌रूप कामधेनु (विशिष्ट शासन-व्यवस्था) **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा वनस्पतीन् आगच्छत्**=वह वनस्पतियों को प्राप्त हुई, **वनस्पतयः तां अघ्नत**=वनस्पतियों ने उसे प्राप्त किया (हन् गतौ)। **सा**=वह **संवत्सरे**=सम्पूर्ण वर्ष में **समभवत्**=उन वनस्पतियों के साथ

हुई—खूब अच्छी फसल हुई। **तस्मात्**=इस कारण से **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **वृक्णम्**=छिन्न भाग **अपि**=भी **संवत्सरे**=वर्षभर में **रोहति**=प्रादुर्भूत हो जाता है। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि 'वनस्पतियों का छिन्नभाग भी फिर ठीक हो जाता है, तो हमारा छिन्नभाग भी क्यों न ठीक हो जाएगा' **अस्य**=इसका **अप्रियः भ्रातृव्यः वृश्चते**=अप्रिय शत्रु भी कट जाता है।

भावार्थ—शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर राष्ट्र में वृक्ण वृक्षों का रोहण होता है। जैसे वर्षभर में ये वृक्ष पुनः प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसी प्रकार इस राष्ट्र में लोग शत्रुओं से शत्रुता को भी समाप्त कर लेते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**३ चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ४ आर्चीबृहती** ॥

पितरों का विराट् को प्राप्त होना

सोद॑क्रामत्सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त्तां पि॒तरो॑ऽघ्नत॒ सा मा॒सि सम॑भवत्॥ ३॥

तस्मा॑त्पि॒तृभ्यो॑ मा॒स्युप॑मास्यं ददति॒ प्र पि॑तृ॒याणं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ४॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा पितॄन् आगच्छत्**=वह पितरों को प्राप्त हुई। **पितरः ताम् अघ्नत**=पितृजन उस विराट् को प्राप्त हुए। **सा**=वह विराट् **मासि**=सम्पूर्ण मास में **सम् अभवत्**=उन पितरों के साथ हुई। **तस्मात्**=विराट् के पितरों के साथ होने से **पितृभ्यः**=पितृजनों के लिए **मासि**=प्रत्येक मास पर **उपमास्यं ददति**=मासिक वृत्ति दे देते हैं। उत्तम सन्तान प्रतिमास पितरों के लिए आवश्यक धन देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही उनका पितृयज्ञ होता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस पितृयज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह **पितृयाणं पन्थां प्रजानाति**=पितृयाणमार्ग को सम्यक् जान लेता है। इस पितृयाण से चलता हुआ वह चन्द्रलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है।

भावार्थ—विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्थावाले राष्ट्र में युवक पितृयज्ञ को सम्यक् निभाते हैं। प्रतिमास पितरों के लिए आवश्यक धन प्राप्त करा देना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**५ चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ६ आर्चीबृहती** ॥

देवों का विराट् को प्राप्त होना

सोद॑क्रामत्सा दे॒वानाग॑च्छ॒त्तां दे॒वा अ॑घ्नत॒ सार्ध॑मा॒से सम॑भवत्॥ ५॥

तस्मा॑द्दे॒वेभ्यो॑ऽर्धमा॒से वष॑ट् कुर्व॑न्ति॒ प्र दे॑व॒यानं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ६॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा देवान् आगच्छत्**=वह देवों को प्राप्त हुई। **देवाः**=देव **ताम् अघ्नत**=उसे प्राप्त हुए। **सा**=वह **अर्धमासे सम् अभवत्**=प्रत्येक अर्धमास में उनके साथ रही। **तस्मात्**=इसी कारण से **देवेभ्यः**=देवों के लिए **अर्धमासे**=प्रत्येक अर्धमास पर, अर्थात् प्रत्येक पक्ष पर पूर्णिमा और अमावास्या के दिन **वषट् कुर्वन्ति**=अग्निहोत्र करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि प्रति पूर्णिमा और अमावास्या पर विशिष्ट यज्ञ करके वायु आदि देवों को शुद्ध करना आवश्यक है, वह **देवयानं पन्थां प्रजानाति**=देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है। इस देवयान मार्ग में चलता हुआ वह पुरुष 'सूर्यलोक' को प्राप्त करता है। सूर्य ही सर्वमुख्य देव है। देवयज्ञ करनेवाला सूर्यलोक को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए विराट्वाले देश में, पूर्णिमा व अमावास्या पर बड़े-बड़े यज्ञ होते हैं। इन यज्ञों के करनेवाले देवलोक को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—अथर्वाचार्यः ॥ देवता—विराट् ॥ छन्दः—७ चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ८ आर्चीबृहती ॥

मनुष्यों का विराट् को प्राप्त होना

सोदक्रामत्सा मनुष्या३नागच्छत्तां मनुष्या ऽअघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥
तस्मान्मनुष्ये ऽभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥

१. सा=वह विराट् उदक्रामत्=उत्क्रान्त हुई। सा=वह **मनुष्यान् आगच्छत्**=मनुष्यों को प्राप्त हुई। **मनुष्याः तां अघ्नत**=मनुष्य उस विराट् को प्राप्त हुए। **सा**=वह **सद्यः**=शीघ्र ही **सम् अभवत्**=उनके साथ हुई। **तस्मात्**=मनुष्यों के साथ उस विशिष्ट शासन-व्यवस्था के सम्पर्क के कारण, अर्थात् जब राष्ट्र में शासन-व्यवस्था अति उत्तम होती है तब शासक **मनुष्येभ्यः**=मनुष्यों के लिए **उभयद्युः**=दिन में दो बार—प्रातः वा सायं—**उपहरन्ति**=भोजन प्राप्त कराते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि दिन में दो बार ही भोजन करना ठीक है, **अस्य गृहे**=इसके घर में **उपहरन्ति**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराती हैं। यह दो बार भोजन करनेवाला स्वस्थ रहता है और सब आवश्यक पदार्थों को जुटाने में समर्थ होता है।

भावार्थ—विशिष्ट शासन-व्यवस्था होने पर मनुष्य अग्निहोत्र की भाँति दिन में दो बार ही भोजन करते हुए स्वस्थ रहते हैं और सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्, चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—अथर्वाचार्यः ॥ देवता—विराट् ॥ छन्दः—१ चतुष्पदासाम्नीजगती, २ साम्नीबृहती, ३ साम्न्युष्णिक्, ४ आर्च्यनुष्टुप् ॥

असुरों द्वारा माया-दोहन

सोदक्रामत्साऽसुरानागच्छत्तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥
तस्या विरोचनः प्राह्लादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥ २ ॥
तां द्विमूर्धाऽऽत्व्यों ऽधोक्तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

१. सा=वह विराट् राष्ट्र-व्यवस्था **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा असुरान् आगच्छत्**=वह (असुषु रमन्ते) प्राणसाधना में रमण करनेवाले लोगों के समीप प्राप्त हुई। विशिष्ट शासन-व्यवस्था के कारण एक शान्त राज्य में कुछ लोग प्राण-साधना में प्रवृत्त हुए। **ताम्**=उस विराट् को **असुराः**=इन प्राणसाधकों ने **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि **माय**=हे प्रज्ञे! **एहि इति**=आओ तो। प्राणसाधकों को इस विराट् ने प्राणसाधना के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त कराया और इसप्रकार यह प्रज्ञावृद्धि का कारण बनी। **तस्याः**=उस प्राणसाधना के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त करानेवाली विराट् का **वत्सः**=वत्स—प्रिय व्यक्ति **विरोचनः**=विशिष्ट दीप्तिवाला **प्राह्लादिः**=प्रकृष्ट आनन्द का पुत्र, अर्थात् प्रकृष्ट आनन्दवाला **आसीत्**=हुआ, तथा इसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **अयस्पात्रम्**=लोहे का शरीर बना—बड़ा दृढ़ बना। २. **ताम्**=उस विराट्रूप कामधेनु का **द्विमूर्धा**='शरीर व मस्तिष्क' दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचनेवाले **आर्त्व्यः**=ऋतु के अनुसार कर्त्तव्य-कर्मों को करने में कुशल पुरुष ने **अधोक्**=दोहन किया और **ताम्**=उस विराट् से **मायाम् एव**=प्रज्ञा को ही **अधोक्**=दुहा। **असुराः**=ये प्राणसाधक **तां मायाम् उपजीवन्ति**=इस बुद्धि के आश्रय से ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार प्राणसाधना द्वारा प्रज्ञादोहन के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों को भी जीवन देनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्र में विशिष्ट शासन-व्यवस्था के कारण शान्त वातावरण में प्राणसाधक लोग प्राणसाधना द्वारा प्रज्ञा (माया) प्राप्त करते हैं। ये विशिष्ट दीप्तिवाले, प्रकृष्ट आनन्दवाले व दृढ़ शरीरवाले होते हैं। 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचनेवाले ये व्यक्ति ऋतु के अनुसार कर्म करने में कुशल होकर प्रज्ञापूर्वक जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं, औरों को भी उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराने में साधन बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**५ चतुष्पदासाम्नीजगती, ६ साम्नीबृहती, ७ आसुरीगायत्री, ८ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

पितरों द्वारा स्वधा-दोहन

सोद॑क्रामत्सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त्तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एहीति॑॥ ५॥

तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द्रजतपा॒त्रं पात्र॑म्॥ ६॥

तामन्त॑को मार्त्य॒वोऽधो॒क्तां स्व॒धामे॒वाधो॑क्॥ ७॥

तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ८॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **पितॄन्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों को प्राप्त हुई। **पितरः तां उपाह्वयन्त**=पितरों ने उसे पुकारा कि **स्वधे एहि इति**=हे आत्मधारणशक्ते! आओ तो। शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर ही रक्षणात्मक कार्य ठीक से सम्पन्न हो सकते हैं। ये रक्षणात्मक कार्यों में संलग्न व्यक्ति आत्मधारणशक्तिवाले होते हैं। इन कार्यों को करते हुए वे यही समझते हैं कि इन कार्यों द्वारा वे औरों का नहीं अपितु अपना ही धारण कर रहे हैं। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह रक्षणात्मक कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति **यमः**=अपनी इन्द्रियों का नियमन करनेवाला व **राजा**=दीप्त जीवनवाला **आसीत्**=होता है। ऐसा बनकर ही तो यह रक्षणात्मक कार्यों को कर पाता है। उसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **रजतपात्रम्**=प्रजा का रञ्जन करनेवाला शरीर होता है। वह शरीर को स्वस्थ रखते हुआ प्रजा के रञ्जन में प्रवृत्त होता है। २. **ताम्**=उस विराट् को **मार्त्यवः**=(तदधीते तद् वेद) मृत्यु को समझनेवाले—मृत्यु को न भूलनेवाले और इसप्रकार **अन्तकः**=वासनाओं का अन्त करनेवाले इस पुरुष ने **अधोक्**=दोहन किया। **ताम्**=उस विराट् से इसने **स्वधाम् एव अधोक्**=आत्मधारण-शक्ति का ही दोहन किया। **पितरः**=ये रक्षण करनेवाले लोग **तां स्वधां उपजीवन्ति**=उस आत्मधारणशक्ति के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करते हैं और **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार स्व-धा के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों की जीवन-यात्रा की पूर्ति में सहायक होता है।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग, इस विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था से युक्त देश में, आत्मधारणशक्ति का उपार्जन करते हैं। ये संयमी व दीप्त होते हैं, अपने शरीर को प्रजा-रञ्जन के कार्यों में आहुत करते हैं। ये मृत्यु को न भूलकर वासनाओं का अन्त करते हैं और आत्मधारण-शक्तिवाले होते हैं। स्वयं सुन्दर जीवन बिताते हुए औरों की सुन्दर जीवन-यात्रा में भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**९ चतुष्पदोष्णिक्, १० साम्नीबृहती, ११ प्राजापत्यानुष्टुप्, १२ आर्चीत्रिष्टुप्** ॥

मनुष्यों द्वारा कृषि व इरा (अन्न) का दोहन

सोद॑क्रामत्सा म॑नुष्या॒३॑ नाग॑च्छ॒त्तां म॑नु॒ष्या॒३॑ उपा॑ह्व॒यन्तेराव॒त्येहीति॑॥ ९॥

तस्या॒ मनु॑र्वैवस्व॒तो व॒त्स आसी॑त्पृ॒थि॒वी पात्र॑म्॥ १०॥

तां पृथी वैन्यो ऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥
ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति
कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा मनुष्यान् आगच्छत्**=वह विचारपूर्वक कर्म करनेवालों को (मत्वा कर्माणि सीव्यति) प्राप्त हुई। **ताम्**=उसे **मनुष्याः उपाह्वयन्त**=मनुष्यों ने पुकारा कि **इरावति**=हे अन्नवाली! **एहि इति**=आओ तो। शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर मनुष्य सब अन्नों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय—विचारपूर्वक कर्म करनेवाला मनुष्य **मनुः**=विचारशील व **वैवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाला (सूर्यपूत्र) **आसीत्**=था। इस मनु-वैवस्वत की **पृथिवी पात्रम्**=पृथिवी ही पात्र थी—रक्षण-साधन थी। २. **ताम्**=उस विराट् को **पृथी**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **वैन्यः**=मेधावी पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। **ते मनुष्याः**=वे विचारपूर्वक कर्म करनेवाले लोग **कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति**=कृषि व कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न से अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार कृषि व अन्न के महत्त्व को समझ लेता है, वह **कृष्टराधिः**=कृषि को सिद्ध करनेवाला होता हुआ **उपजीवनीयः भवति**=जीवन-यात्रा निर्वहण में औरों का सहायक होता है।

भावार्थ—विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले लोग विशिष्ट शासन-व्यवस्थावाले देश में कृषि द्वारा अन्न प्राप्त करते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण करते हैं। शक्तियों का विस्तार करनेवाले ये मेधावी बनते हैं। ये जीवन-यात्रा में औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः**॥ देवता—**विराट्**॥ छन्दः—**१३ चतुष्पदोष्णिक्, १४ साम्न्युष्णिक्, १५ विराड्गायत्री, १६ आर्चीत्रिष्टुप्**॥

सप्तर्षियों द्वारा ब्रह्म व तप का दोहन

सोदक्रामत्सा सप्तऋषीनागच्छत्तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति॥ १३॥
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम्॥ १४॥
तां बृहस्पतिराङ्गिरसो ऽधोक्तां ब्रह्म च तपश्चाधोक्॥ १५॥
तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति।
ब्रह्मवर्चस्यु ऽपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १६॥

१. **सा**=वह विराट् **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **सप्त ऋषीन्**=सात ऋषियों को प्राप्त हुई। मनुष्य के जीवन में '**सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे**'—सप्त ऋषि 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' प्रभु द्वारा स्थापित किये गये हैं। इन **सप्तऋषयः**=सात ऋषियों ने **ताम्**=उस विराट् को **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि हे **ब्रह्मण्वति एहि इति**=ज्ञानवाली वेदवाणि! तू आ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह व्यक्ति **सोमः**=सौम्य स्वभाव का तथा **राजा**=व्यवस्थित जीवनवाला **आसीत्**=हुआ। **छन्दः**=वेदवाणी के छन्द ही उसके **पात्रम्**=रक्षासाधन बनें। २. **ताम्**=उस विराट् को **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। **ताम्**=उससे **ब्रह्म च तपः च अधोक्**=ज्ञान और तप का ही दोहन किया। **सप्तऋषयः**=ये शरीरस्थ सप्तर्षि **तत्**=उस **ब्रह्म च तपः च**=ब्रह्म और तप को ही **उपजीवन्ति**=जीवन का आधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ब्रह्म और तप के महत्त्व को समझ लेता है, वह **ब्रह्मवर्चसी**=ब्रह्मवर्चस्वाला व **उपजीवनीयः भवति**=जीवन-यात्रा में औरों को सहायता देनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्र में शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर शरीरस्थ सप्तर्षि वेदवाणी के द्वारा ज्ञान

व तप का जीवन बनानेवाले होते हैं। यह ज्ञानी व तपस्वी व्यक्ति ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करके औरों की जीवनयात्रा में सहायक होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम् पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—अथर्वाचार्यः ॥ देवता—विराट् ॥ छन्दः—१ चतुष्पदासाम्नीजगती, २, ३ साम्न्युष्णिक्, ४ आर्च्यनुष्टुप् ॥

देवों द्वारा 'ऊर्जा' का दोहन

सोद॑क्रामत्सा दे॒वानाग॑च्छ॒त्तां दे॒वा उपा॑ह्वय॒न्तोर्ज॒ एहीति॑ ॥ १ ॥

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑च्चम॒सः पात्र॑म् ॥ २ ॥

तां दे॒वः स॑विताऽधो॒क्तामू॒र्जामे॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥

तामू॒र्जां दे॒वा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा देवान् आगच्छत्**=वह देवों को—ज्ञानी पुरुषों को प्राप्त हुई। **तां देवाः उपाह्वयन्त**=उसे देवों ने पुकारा कि **उर्जे एहि इति**=हे बल व प्राणशक्ते! आओ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह देव **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता (जितेन्द्रिय पुरुष) था। **चमसः**=ये सिर ही **पात्रम्**=रक्षासाधन हैं। देवलोग इस चमस्—शिरोभाग को ठीक रखने से ही अपने पर शासन करते हुए इन्द्रियों के दास व विषयासक्त नहीं होते। २. **ताम्**=उस विराट् को **देवः**=उस प्रकाशमय जीवनवाले **सविता**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवाले पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। उत्तम शासन-व्यवस्था होने पर शान्त वातावरण में देववृत्ति के पुरुष अपने जीवन को विषय-प्रवण न बनाकर जितेन्द्रिय बनें और सोम-सम्पादन में प्रवृत्त हुए। **तां ऊर्जाम्**=उस बल व प्राणशक्ति को **देवाः**=देव **उपजीवन्ति**=अपना जीवन आधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ऊर्जा के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों के जीवन का भी आधार बनता है औरों का उपजीव्य होता है।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था के शान्त होने पर जितेन्द्रिय देववृत्ति के पुरुष सोम का शरीर में रक्षण करते हुए 'बल व प्राणशक्ति' का दोहन करते हैं और अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए औरों के लिए भी सहायक एवं मार्गदर्शक होते हैं।

ऋषिः—अथर्वाचार्यः ॥ देवता—विराट् ॥ छन्दः—५ चतुष्पदाप्राजापत्याजगती , ६ साम्नीबृहतीत्रिष्टुप्, ७ विराड्गायत्री, ८ आर्चीत्रिष्टुप् ॥

ब्राह्मण व क्षत्रिय द्वारा 'पुण्यगन्ध' का दोहन

सोद॑क्रामत्सा ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒ आग॑च्छ॒त्तां ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒
उपा॑ह्वयन्त॒ पुण्य॑गन्ध॒ एहीति॑ ॥ ५ ॥

तस्या॑श्चि॒त्ररथः सौर्यवर्च॒सो व॒त्स आसी॑त्पुष्करप॒र्णं पात्र॑म् ॥ ६ ॥

तां वसु॑रुचिः सौर्यवर्च॒सो ऽधो॒क्तां पुण्य॑मे॒व ग॒न्धम॑धोक् ॥ ७ ॥

तं पुण्यं॑ ग॒न्धं ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒ उप॑ जीव॒न्ति
पुण्य॑गन्धिरुपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **गन्धर्वाप्सरसः**=ज्ञान की वाणी को धारण करनेवाले ब्राह्मणों के पास तथा (आपः=नरसूनवः) प्रजाओं में विचरनेवाले (सृ गतौ) क्षत्रियों के पास **आगच्छत्**=आई। **ताम्**=उसे **गन्धर्वाप्सरसः**=ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि **पुण्यगन्धे एहि इति**=पवित्र ज्ञान (पुण्य) के साथ सम्बन्धवाली

(गन्ध=सम्बन्धे) आओ तो। **तस्याः**=उसका **वत्सः**=प्रिय **चित्ररथः**=अद्भुत शरीर-रथवाला अथवा (चित् ज्ञाने) ज्ञानयुक्त शरीर-रथवाला **सौर्यवर्चसः**=सूर्य के समान वर्चस्वाला **आसीत्**=था। **पात्रम्**=उसका यह रक्षणीय शरीर **पुष्करपर्णम्**=(पुष् कर, पृ पालनपूरणयोः) पोषण करनेवाला तथा पालन व पूरण में प्रवृत्त था। २. **ताम्**=उस विराट् को **वसुरुचिः**=शरीर में उत्तम निवास के द्वारा दीप्त होनेवाले **सौर्यवर्चसः**=सूर्यसम वर्चस्वाले ने **अधोक्**=दुहा। इस 'वसुरुचि सौर्यवर्चस्' ने **ताम्**=उस विराट् से **पुण्यं एव गन्धम्**=पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध को ही **अधोक्**=दुहा। ये **गन्धर्वाप्सरसः**=ज्ञान की वाणी को धारण करनेवाले और प्रजाओं में विचरनेवाले क्षत्रिय **तम्**=उस **पुण्यगन्धं उपजीवन्ती**=पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध को ही जीवनाधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'पुण्यगन्ध' के महत्त्व को समझ लेते हैं, वे **पुण्यगन्धिः**=इस पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्धवाले **उपजीवनीयः**=औरों के लिए जीवन में सहायक **भवति**=होते हैं।

भावार्थ—उत्तम शासन-व्यवस्था होने पर ब्राह्मण व क्षत्रिय 'पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध' प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। इससे वे शरीर में उत्तम ज्ञान व निवास से दीप्त व सूर्यसम वर्चस्वाले होकर उत्तम जीवन प्राप्त करते हैं और औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**९ चतुष्पदोष्णिक्, १० साम्नीबृहती, ११ विराड्गायत्री, १२ त्रिपदाब्राह्मीभुरिग्गायत्री** ॥

इतरजनों द्वारा तिरोधा का दोहन

सोदक्रामत्सेतरजनानागच्छत्तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति॥ ९ ॥
तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम्॥ १० ॥
तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक्तां तिरोधामेवाधोक्॥ ११ ॥
तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं
पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा इतरजनान् आगच्छत्**=(इ-तर) वह काम (वासना) को तैर जानेवाले लोगों को प्राप्त हुई। **ताम्**=उसे **इतरजनाः उपाह्वयन्त**=वासना को तैरनेवाले लोग पुकारते थे कि **तिरोधे एहि इति**=(तिरोधा=Over power, conquer, defeat) हे शत्रुपराजयशक्ते! आओ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय—यह वासना को पराजित करनेवाला व्यक्ति **कुबेरः**=(कुबि आच्छादने) शरीर में शक्ति को आच्छादित करनेवाला **वैश्रवणः आसीत्**=विशिष्ट श्रवण-(ज्ञान)-वाला था। **पात्रम्**=उसका यह रक्षणीय शरीर **आमपात्रम्**=सब उत्तम गतियों (अम गतौ) का आधार था। २. **ताम्**=उस विराट् को, **रजतनाभिः**=रञ्जन की साधनभूत शक्ति को अपने अन्दर बाँधनेवाला **काबेरकः**=शक्ति को अपने अन्दर ही आच्छादित करनेवाला, यह **इतरजन**=कामजयी व्यक्ति **अधोक्**=दुहता था। **तां तिरोधाम् एव अधोक्**=उसने उस शक्ति के आच्छादन का—शत्रु पराजय का ही दोहन किया। **इतरजनाः**=ये वासना को तैर जानेवाले लोग **तां तिरोधाम् उपजीवन्ति**=उस शक्ति के आच्छादान की वृत्ति को—शत्रु-पराजय की वृत्ति को ही जीवनाधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार शक्ति के अन्तरधान के महत्त्व को व कामरूप शत्रु को पराजित करने के महत्त्व को समझ लेता है, वह **सर्वं पाप्मानं तिरोधत्ते**=वह सारे पाप को पराजित कर डालता है तथा **उपजीवनीयः भवति**=औरों के जीवन में भी सहायक होता है।

भावार्थ—विशिष्ट शासन-व्यवस्था होने पर कामवासना को पराजित करनेवाला व्यक्ति अपने अन्दर शक्ति को आच्छादित करता है और विशिष्ट ज्ञानवाला बनता है। यह पाप को

पराजित करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है और औरों के लिए सहायक होता है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१३ चतुष्पदासाम्नीजगती, १४ साम्नीबृहती, १५ साम्न्यनुष्टुप्, १६ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

सर्पों द्वारा विष-दोहन

सोद॑क्राम॒त्सा स॒र्पाना॑गच्छ॒त्तां स॒र्पा उपा॑ह्वयन्त॒ विष॑व॒त्येहीति॑॥ १३॥

तस्या॑स्तक्ष॒को वैशाले॒यो व॒त्स आसी॑दलाबुपा॒त्रं पात्र॑म्॥ १४॥

तां धृ॒तरा॑ष्ट्र ऐराव॒तो ऽधो॒क्तां वि॒षमे॒वाधो॑क्॥ १५॥

तद्वि॒षं स॒र्पा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १६॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा सर्पान् आगच्छत्**=वह (सृप गतौ) गतिशील व्यक्तियों को प्राप्त हुई। **ताम्**=उस विराट् को **सर्पाः उपाह्वयन्त**=इन गतिशील पुरुषों ने पुकारा कि **विषवति एहि इति**=(विषम्=जलम्) हे प्रशस्त जलवाली! आओ तो। उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था में पानी का समुचित प्रबन्ध होता है। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय वह क्रियाशील व्यक्ति **तक्षकः**=(तक्षक त्विषेर्वा) ज्ञान की दीप्तिवाला व **वैशालेयः**=उदार चित्तवृत्तिवाला (विशाला का पुत्र) **आसीत्**=था। इसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **अलाबुपात्रम्**=(लबि अवस्रंसने) न चूनेवाली शक्ति का पात्र होता है। इसके शरीर से शक्ति का अवस्रंसन नहीं होता। २. **ताम्**=उस विराट् को **धृतराष्ट्रः**=शरीररूप राष्ट्र का धारण करनेवाले **ऐरावतः**=(इरा-Water) प्रशस्त जलवाले—प्रशस्त जल से शरीर को नीरोग रखनेवाले ने **अधोक्**=दुहा। **तां विषम् एव अधोक्**=उसने प्रशस्त जल का ही दोहन किया। **सर्पाः**=वे क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति **तत् विषम् उपजीवन्ति**=उस जल के आधार से जीवन-यात्रा को सुन्दरता से निभाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार जल के महत्त्व को समझता है, वह अपने तथा **उपजीवनीयः भवति**=औरों के लिए जीवन में सहायक होता है।

भावार्थ—उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था होने पर क्रियाशील व्यक्ति प्रशस्त जल पाकर जीवन को स्वस्थ बना पाते हैं। ये शरीररूप राष्ट्र का उस प्रशस्त जल द्वारा धारण करते हुए औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्, षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ त्रिपदाविराड्गायत्री, २ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्यानुष्टुप्, ४ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

विषम्=जलम् (आपः रेतो भूत्वा०)

तद्यस्मा॑ ए॒वं वि॒दुषे॑ऽलाबु॒नाऽभषि॒ञ्चेत्प्र॒त्याह॑न्यात्॥ १॥

न च॑ प्र॒त्याह॒न्यान्मन॑सा त्वा प्र॒त्याह॒न्मीति॑ प्र॒त्याह॑न्यात्॥ २॥

यत्प्र॑त्या॒हन्ति॑ वि॒षमे॒व तत्प्र॒त्याह॑न्ति॥ ३॥

वि॒षमे॒वास्याप्रि॑यं॒ भ्रातृ॑व्यमनु॒विषि॑च्यत॒े य ए॒वं वेद॑॥ ४॥

१. **यस्मै**=जिस **एवं विदुषे**=इसप्रकार जल के महत्त्व को समझनेवाले व्यक्ति के लिए **अलाबुना**=न चूने के द्वारा **तत्**=उस जल का—'**आपः रेतो भूत्वा०**' रेतःकणों का **अभिषिञ्चेत्**=सेचन करे, अर्थात् यदि प्रभुकृपा से रेतःकणरूप इन जलों का अवस्रंसन न होकर शरीर में अभिसेचन हो तो वह **प्रत्याहन्यात्**=प्रत्येक रोग का विनाश करता है **च**=और **न**

प्रत्याहन्यात्=प्रत्येक रोग का विनाश न भी कर पाये तो भी **मनसा**=मन से '**त्वा प्रत्याहन्मि इति**' **प्रत्याहन्यात्**=तुझे नष्ट करता हूँ, इसप्रकार नष्ट करनेवाला हो। रोग से अभिभूत न होकर वह रोग को अभिभूत करनेवाला बने। मन में 'स्वस्थ हो जाने' का पूर्ण निश्चय रक्खे। २. **यत् प्रत्याहन्ति**=जो तत्त्व रोगों का नाश करता है **तत्**=वह **विषम् एव**=जलरूप रेत:कण ही उन्हें **प्रत्याहन्ति**=नष्ट करता है। वस्तुत: रेत:कण ही रोगों का नाश करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार **विषम्**=जल—रेत:कणों के महत्त्व को समझा लेता है, **अस्य**=इसके **अप्रियं भ्रातृव्यम्**=अप्रीतिकर शत्रु (रोगरूप शत्रु) को **अनु**=लक्ष्य करके **विषम् एव विषिच्यते**=यह जल शरीर में सिक्त किया जाता है। शरीर-सिक्त रेत:कण रोग-शत्रुओं के विनाश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—जब मनुष्य रेत:कणों के महत्त्व को समझ लेता है तब इनका अवस्रंसन न होने देकर इन्हें शरीर में ही सिक्त करता है। शरीर-सिक्त रेत:कण रोगों का विनाश करते हैं। इनके रक्षण से रोगी का मन रोगाभिभूत नहीं होता।

अथैकोनविंशः प्रपाठकः॥

॥इत्यष्टमं काण्डम्॥

अथ नवमं काण्डम्

अथ विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मधुकशा

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वाऽमृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥ १ ॥

१. 'कशा' वाणी का नाम है। सारभूत मधुरज्ञान को 'मधु' कहा गया है। वेदवाणी मधुकशा है। यह सारभूत ज्ञान देनेवाली है। इस ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु-दर्शन करनेवाला 'अथर्वा' प्रथम दो सूक्तों का ऋषि है। यह **मधुकशा**=वेदवाणी **दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के हेतु से—इन सबका ज्ञान प्राप्त कराने के हेतु से **समुद्रात् अग्नेः वातात्**=समुद्र, अग्नि व वायु के हेतु से—इन सबका तात्त्विक ज्ञान देने के हेतु से **हि**=निश्चय से **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुई है। प्रभु इसका प्रकाश सब लोक-लोकान्तरों के ज्ञान के हेतु से करते हैं। २. **ताम्**=उस **अमृतं वसानाम्**=अमृतत्त्व (नीरोगता) को अपने द्वारा आच्छादित करनेवाली—नीरोगता प्राप्त करानेवाली वेदवाणी को **चायित्वा**=(चायृ पूजानिशामनयोः) सुनकर—इसके ज्ञान का श्रवण करके **सर्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति**=हृदयों से आनन्दित होती हैं। यह वेदवाणी हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

भावार्थ—यह वेदवाणी सब लोकों और लोकस्थ सब पदार्थों का ज्ञान देकर हमें नीरोगता व अमरता प्राप्त कराती है। यह हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्राण+अमृतम्

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥

१. **अस्याः**=इस मधुकशा—वेदवाणी का **पयः**=ज्ञानदुग्ध **महत्**=महनीय—पूजनीय है और **विश्वरूपम्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला है **उत**=और हे मधुकशे! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स मुद्) उस आनन्दमय प्रभु का **रेतः आहुः**=रेतस् (वीर्य) कहते हैं। ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। सर्वज्ञ होने से वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं (knowledge is power)। २. **यतः**=जिधर से यह **मधुकशा**=वेदवाणी **रराणा**=ज्ञानोपदेश करती हुई—ज्ञान देती हुई **आ एति**=गति करती है, **तत्**=वह ज्ञान **प्राणः**=प्राणरूप होता हुआ, **तत्**=वह ज्ञान **अमृतम्**=अमृत (आरोग्य दाता) होता हुआ **निविष्टम्**=स्थापित होता है। वह वेदज्ञान प्राण व अमृतत्त्व को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—महनीय वेदज्ञान संसार के सब पदार्थों का निरूपण करता है। यह ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। जहाँ यह वेदज्ञान होता है, वहाँ प्राणशक्ति और नीरोगता का निवास होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पराऽनुष्टुप्** ॥

वेदार्थ की बहुधा मीमांसा

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः॥ ३॥

१. **पृथक्**=अलग-अलग **बहुधा मीमांसमानाः**=नाना प्रकार से विचार करते हुए **नरः**=मनुष्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **अस्याः**=इस वेदवाणी के **चरितं पश्यन्ति**=विस्तार को—ज्ञान को देखते हैं (ऋ गतौ, गतिः ज्ञानम्)। कोई एक मनुष्य वेद के पूर्ण ज्ञान को देखनेवाला नहीं होता। किसी को किसी अर्थांश का स्पष्टीकरण होता है, किसी को किसी अन्य अर्थांश का। किसी ने आधिदैविक अर्थ को देखा तो किसी ने आधिभौतिक और तीसरे ने आध्यात्मिक अर्थ पर ही बल दिया। २. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **हि**=निश्चय से **अग्नेः वातात् जज्ञे**=अग्नि व वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से प्रादुर्भूत होती है। यह मधुकशा **मरुताम्**=प्राणसाधक पुरुषों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी, न गिरने देनेवाली शक्ति है (न पातयित्री)। प्राणसाधक पुरुष इस वेदज्ञान को प्राप्त करके उत्थान की ओर ही चलते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के विचारक इसके विविध अर्थों को देखनेवाले होते हैं। इस वेदवाणी द्वारा प्रभु अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान का प्रकाश करते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी बनाकर उन्हें उन्नत करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यवर्णा मधुकशा

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु॥ ४॥

१. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **आदित्यानां माता**=आदित्यों की—'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवालों की निर्मात्री है। इसका अध्येता सब ज्ञानों का अपने अन्दर उपादान करता है, क्योंकि यह सब विद्याओं का भण्डार तो है ही। यह **वसूनां दुहिता**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों की प्रपूरिका है—यह शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त करती है। यह वेदवाणी वस्तुतः **प्रजानां प्राणः**=प्रजाओं का प्राण ही है—सब प्रजाओं को प्राणशक्ति-सम्पन्न करती है। वेदवाणी हमें विलास से दूर करके विनाश से बचाती है। इसप्रकार यह **अमृतस्य नाभिः**=अमृत का केन्द्र है—हममें अमृतत्व को बाँधनेवाली है (णह बन्धने)। २. **हिरण्यवर्णा**=हित-रमणीय ज्ञानों का वर्णन करनेवाली है, **घृताची**=मल-क्षरण व ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करानेवाली है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। यह मधुकशा महान् **भर्गः**=महनीय तेज है—महनीय प्रभु का प्रकाश है, यह **मर्त्येषु चरति**=मानवों के निमित्त—मानवमात्र के हित के लिए गतिवाली होती है। यह मधुकशा मनुष्य को ठीक ज्ञान देती हुई, कर्त्तव्य-मार्ग का दर्शन कराती हुई, उसका कल्याण करती है।

भावार्थ—वेदवाणी आदित्यों की माता है, वसुओं की दुहिता, प्रजाओं का प्राण व अमृत की नाभि है। यह हिरण्यवर्णा, घृताची, मधुकशा एक महान् तेज है, जो मानवमात्र के हित में प्रवृत्त है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जात+तरुण

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे॥ ५॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मधोः कशाम् अजनयन्त**=मधुविद्या की कशा (वेदवाणी) को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, इनके हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। **तस्याः**=उस वेदवाणी का **गर्भः**=ग्रहण **विश्वरूपः अभवत्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला होता है। २. **माता**=यह वेदमाता **तम्**=वेदवाणी के धारण करनेवाले **जातम्**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले तथा **तरुणम्**=वासनाओं को तैरनेवाले को **पिपर्ति**=पालित व पूरित करती है। वेद का धारण इस व्यक्ति को विकसित शक्तियोंवाला व वासनाओं को तैरनेवाला बनाता है। **सः**=वह **जातः**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला व्यक्ति **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब प्राणियों को देखता है—सबका ध्यान करता है।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्तियों के हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। इससे वे सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं। उनकी शक्तियों का विकास होता है। वे वासनाओं को तैरनेवाले होते हैं और सब प्राणियों का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

ब्रह्मा+सुमेधाः

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन्मदेत॥ ६॥

१. **यः**=जो व्यक्ति **अस्याः**=इस मधुकशा (वेदवाणी) के **हृदः**=सार का (The essence of anything) **कलशः**=घट बनता है, अर्थात् वेदवाणी के सार को धारण करता है, **सोमधानः**=सोमशक्ति को अपने में धारण करता है, **अक्षितः**=रोग आदि से क्षीण नहीं होता, वह **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **तं प्रवेद**=उस प्रभु को जानता है **उ**=और **कः**=वह विरल व्यक्ति ही **तं चिकेत**=(कित निवासे) उस प्रभु में निवास करता है। प्रभु के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि हम (क) वेदज्ञान को धारण करें, (ख) सोम को सुरक्षित करें, (ग) रोग आदि से शरीर को क्षीण न होने दें। २. यह 'नीरोग, वासनाशून्य हृदयवाला ज्ञानी' ही **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक ज्ञानी बनता है। **सः**=वह **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला ब्रह्मा **अस्मिन् मदेत**=इस वेदज्ञान में व प्रभु में आनन्दित होता है, रमण करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सार को धारण करनेवाला, सोम का रक्षण करनेवाला, अक्षीणशक्ति सुमेधा 'ब्रह्मा' ही वेदज्ञान व प्रभु में रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

'सहस्रधारौ अक्षितौ' स्तनौ

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ॥ ७॥

१. इस मधुकशा (वेदधेनु) के दो स्तन हैं। एक स्तन प्रकृति का ज्ञानदुग्ध देता है तो दूसरा आत्मतत्त्व का ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराता है। **यौ**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु के **स्तनौ**=ज्ञानदुग्ध देनेवाले स्तन हैं, वे **सहस्रधारौ**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं और **अक्षितौ**=हमें क्षीण न होने देनेवाले हैं। ये स्तन हममें **ऊर्जं दुहाते**=बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं तथा

अनपस्फुरन्तौ=(स्फुर सञ्चलने, not refusing to be milked) सदा ज्ञानदुग्ध देनेवाले हैं। २. **यः**=वह गतमन्त्र का 'सुमेधा ब्रह्मा' ही **तौ प्रवेद**=वेदधेनु के उन स्तनों को प्रकर्षेण जाननेवाला है, **उ**=और **सः**=वह ही **तौ चिकेत**=उनमें निवास करता है अथवा उनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदधेनु के दोनों स्तन हमें ज्ञान देकर हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करते हैं। वे हमें क्षीण नहीं होने देते, हममें बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं, सदा ज्ञानदुग्ध देते हैं। सुमेधा ब्रह्मा ही इन्हें जानता है और इनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भासंस्तारपङ्क्तिः** ॥

हिंकरिक्रती—उच्चैर्घोषा

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाऽभ्येति या व्रतम्।
त्रीन्घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ ८॥

१. **हिंकरिक्रती**=(हि गतिवृद्ध्योः) गति व वृद्धि करनेवाली यह वेदधेनु **बृहती**=वृद्धि का कारण बनती है और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करती है। **या**=जो यह **उच्चैः घोषा**=उच्च घोषवाली—यह वेदधेनु ज्ञान की वाणियों का गर्जन करनेवाली है, वह **व्रतम् अभि एति**=व्रतमय जीवनवाले पुरुष को प्राप्त होती है। व्रती पुरुष इस वेदधेनु को प्राप्त करता है। २. **त्रीन् घर्मान् अभिवावशाना**=जीवन के 'प्रातः, माध्यन्दिन व सायन्तन'—इन तीनों सवनों का लक्ष्य करके ज्ञान की वाणियों का प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी **मायुं मिमाती**=शब्द करती है तथा **पयोभिः पयते**=ज्ञानदुग्धों के साथ हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदधेनु व्रतमय जीवनवालों को ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराती है तथा ज्ञान-वाणियों के द्वारा ज्ञानदुग्ध देती हुई उनका वर्धन करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पराबृहतीप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

शाक्वराः, वृषभाः, स्वराजः

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः॥ ९॥

१. **शाक्वराः**=शक्तिशाली, **वृषभाः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले **स्वराजः**=अपना शासन करनेवाले **आपः**=आप्त पुरुष **याम्**=जिस **आपीनाम्**=सर्वतः आप्यायित वेदधेनु के **उपसीदन्ति**=समीप उपस्थित होते हैं, उसके उपस्थान से **ते वर्षन्ति**=वे अपने में 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करते हैं और **ते**=वे वृषभ **तत् विदे**=उस वेदवाणी को जाननेवाले के लिए **कामम्**=आनन्द को **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **आपः**=ज्ञानजलों को **वर्षयन्ति**=सिक्त करते हैं, बरसाते हैं।

भावार्थ—हम आत्मशासन द्वारा अपने में शक्ति का सेचन करते हुए शक्तिशाली बनें। शक्तिशाली बनकर ज्ञानदुग्ध से भरपूर वेदधेनु का उपासन करें। यह उपासन हममें 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करनेवाला होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

ज्ञान+शक्ति (वाक् शुष्मम्)

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः॥ १०॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक्**=आपकी वाणी **स्तनयित्नुः**=मेघ-गर्जना के

समान है (हरिरेति कनिक्रदत्०), सबसे सुनने के योग्य है, परन्तु दौर्भाग्यवश सामान्यतः लोग इसे सुनते नहीं। **वृषा**=शक्तिशाली आप **भूम्याम्**=हमारे शरीरों में **शुष्मं अधिक्षपसि**=शक्ति प्रेरित करते हैं। २. **मधुकशा**=मधुरता से ज्ञान का उपदेश करनेवाली वेदवाणी **अग्नेः वातात् हि जज्ञे**=अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से ही प्रादुर्भूत की गई है। प्रभु ने इन पदार्थों को प्राप्त कराया है तथा वेदवाणी द्वारा इनका ज्ञान दिया है। यह वेदवाणी **मरुताम्**=प्राणसाधकों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी व न गिरने देनेवाली शक्ति है। वेदवाणी द्वारा ये प्राणसाधक सदा उत्थान के पद पर ही चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघ-गर्जना के समान है। उसे न सुनना हमारा दुर्भाग्य ही है। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और अग्नि, वायु आदि पदार्थों का वेदवाणी द्वारा ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी व उन्नत बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्विनोः, इन्द्राग्न्योः, ऋभूणाम्

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ ११॥
यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १२॥
यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १३॥

१. जीवन में प्रथम २४ वर्ष ही जीवन-यज्ञ का प्रातःसवन है। **यथा**=जैसे इस **प्रातःसवने**=प्रातःसवन में **सोमः**=शरीर में रस, रुधिर आदि क्रम से उत्पन्न सोम **अश्विनोः**=प्राणापान के साधकों का **प्रियः भवति**=प्रिय होता है। सोमरक्षण से ही प्राणापान की शक्ति बढ़ती है और प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः ध्रियताम्**=ब्रह्मवर्चस्=ज्ञानप्रकाश का धारण किया जाए। हम जीवन के इस प्रथम आश्रम में प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण करते हुए ब्रह्मवर्चस्वाले बनें—ज्ञान संचय करें। २. जीवन के अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है। गृहस्थ का काल ही माध्यन्दिन सवन है। **यथा**=जैसे **द्वितीये सवने**=जीवन के द्वितीये (माध्यन्दिन) सवन में **सोमः**=सोम **इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति**=इन्द्र और अग्नि का प्रिय होता है, अर्थात् जितेन्द्रिय (इन्द्र) व प्रगतिशील (अग्नि) बनकर एक गृहस्थ भी सोम का रक्षण कर पाता है, **एव**=इसी प्रकार हे **इन्द्राग्नी**= जितेन्द्रियता व प्रगतिशीलता! **मे आत्मनि**=मेरे आत्मा में **वर्चः**=शक्ति **ध्रियताम्**=धारण की जाए। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर हम शक्तिशाली बने रहें। ३. जीवन के अन्तिम ४८ वर्ष जीवन का तृतीय सवन है। **यथा**=जैसे इस **तृतीये सवने**=तृतीय सवन में वानप्रस्थ व संन्यास में **सोमः ऋभूणां प्रियः भवति**=सोम ऋभुओं का (ऋतेन भान्ति, उरु भान्ति वा) प्रिय होता है। ये ऋभु वानप्रस्थ में नित्य स्वाध्याययुक्त होकर ज्ञान से खूब ही दीप्त होते हैं तथा संन्यास में पूर्ण सत्य का पालन करते हुए सत्य से देदीप्यमान होते हैं, **एव**=इसी प्रकार से **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व सत्यदीप्त व्यक्तियो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में भी वर्चस् का धारण किया जाए। ज्ञानदीप्ति व सत्यदीप्ति से मेरा जीवन भी दीप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन में प्रथमाश्रम में प्राणसाधना द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन करते हुए सोम का रक्षण करें। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर सोमी बनें तथा अन्त

में ज्ञान व सत्य से दीप्त बनकर सोम-रक्षण द्वारा वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मधु, अश्विनौ ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥

मधु जनिषीय, मधु वंशिषीय

मधु॑ जनिषीय॒ मधु॑ वंशिषीय। पय॑स्वानग्न॒ आग॑म॒ं तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा॥ १४॥

१. **मधु जनिषीय**=मैं अपने जीवन में सोम का रक्षण करता हुआ वर्चस्वी बनकर मधु को ही प्रादुर्भूत करूँ, अर्थात् सदा मधुर शब्द ही बोलूँ, **मधु वंशिषीय**=मधु की ही याचना करूँ, अर्थात् मेरा स्वभाव मधुर ही हो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! मैं **पयस्वान्**=प्रशस्त ज्ञानदुग्धवाला व शक्तियों को बढ़ानेवाला होकर **आगमम्**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा संसृज**=वर्चस् से युक्त कीजिए। वर्चस्वी बनकर ही मैं मधुर बन पाऊँगा।

भावार्थ—मैं जीवन में मधुर शब्द ही बोलूँ, मधुरता की ही याचना करूँ। मैं शक्तियों को आप्यायित करके प्रभु को प्राप्त होऊँ, प्रभु मुझे वर्चस्वी बनाएँ।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मधु, अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर्चसा, प्रजया, आयुषा

सं मा॑ऽग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा।
वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ विद्यात्स॒ह ऋषि॑भिः॥ १५॥

१. इस मन्त्र की व्याख्या ७।९।३ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मधु, अश्विनौ ॥ छन्दः—१६ अनुष्टुप्, १७ उपरिष्टाद्विराड्बृहती ॥

मधुकृतः, मक्षाः

यथा॒ मधु॑ मधु॒कृत॑ः सं॒भर॑न्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॑ आ॒त्मनि॑ ध्रियताम्॥ १६॥
यथा॒ मक्षा॑ इ॒दं मधु॑ न्य॒ञ्जन्ति॒ मधा॒वधि॑।
ए॒वा मे॑ अश्विना॒ वर्च॒स्तेजो॒ बल॒मोज॑श्च ध्रियताम्॥ १७॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **मधुकृतः**=भ्रमर **मधु**=मधुरस को **अधिसंभरन्ति**=आधिक्येन संग्रहीत करते हैं, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में वर्चस् का धारण किया जाए। २. **यथा**=जिस प्रकार **मक्षाः**=मधुमक्खियाँ **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **इदं मधु**=इस मधुरस को **अधिन्यञ्जन्ति**=(अञ्ज गतौ) आधिक्येन प्राप्त करती है, **एव**=इसी प्रकार **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः तेजः बलम् ओजः च**=ब्रह्मवर्चस्, तेज, बल और ओज **ध्रियताम्**=धारण किये जाएँ।

भावार्थ—जैसे भ्रमर और मधुमक्षिकाएँ थोड़ा-थोड़ा करके मधु का सञ्चय करती हैं, इसी प्रकार हम प्राणसाधना करते हुए 'वर्चस्, तेज, ओज व बल' को धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मधु, अश्विनौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

माधुर्य

यद्गि॒रिषु॒ पर्व॑तेषु॒ गोष्वश्वे॑षु॒ यन्मधु॑। सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नाया॒ं यत्तत्र॒ मधु॒ तन्मयि॑॥ १८॥

१. **यत्**=जो **मधु**=मधुररस—जीवनप्रद ओषधियों का रस **गिरिषु**=बड़े-बड़े पर्वतों में है, **यत्**=जो **पर्वतेषु**=छोटे पर्वतों पर ओषधियों व फलों का रस है, **यत् मधु**=जो मधुरस **गोषु अश्वेषु**=गौओं में मधुर दूध का तथा तीव्र वेगवाले घोड़ों में जो विजय-लक्ष्मी का मधुर आनन्द

है, इसी प्रकार **सिच्यमानायाम्**=पृथिवी पर मेघों से सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=वृष्टिजल में **यत्**=जो **तत्र मधु**=वहाँ मधु है, **तत् मयि**=वह मधु मुझमें भी हो।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्वतों की ओषधियों में मधुर रस है, जैसे गोदुग्ध में मधुरता है, घोड़े की तीव्र गति में जो विजय-लक्ष्मी का मधु है तथा मेघ-सिक्त वृष्टिजल में जो माधुर्य है, वही माधुर्य मेरी वाणी में भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सारघेण मधुना

अश्विना सारघेण मा मधुनाऽङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ १९॥

१. हे **शुभस्पती**=हमारे जीवनों में शुभ का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=(सारं धारयति संग्राहयति) सार को प्राप्त करानेवाले मधुर ज्ञान से **अंक्तम्**=अलंकृत कीजिए अथवा मधुमक्षिकाओं से संगृहीत (सारघ) मधु से अलंकृत कीजिए। **यथा**=जिससे **जनान् अनु**=लोगों के प्रति **वर्चस्वतीं वाचम् आवदानि**=तेजस्विनी वाणी को बोलूँ। मेरी वाणी में भी वैसा ही माधुर्य हो जैसाकि 'सारघ मधु' में है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा ज्ञानी बनकर मैं मधुर व तेजस्विनी वाणी ही बोलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्विष्टारपङ्क्तिः** ॥

इषम्, ऊर्जम्

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥ २०॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक् स्तनयित्नुः**=आपकी वाणी मेघगर्जन के समान गम्भीर है। आप **वृषा**=समस्त सुखों के वर्षक हो। **भूम्याम्**=इस भूमि पर **दिवि**=तथा द्युलोक में आप **शुष्मं क्षिपसि**=बल को प्रेरित करते हैं। शरीर (भूमि) तथा मस्तिष्क (द्युलोक) को आप सबल बनाते हैं। २. **ताम्**=आपकी उस वाणी को ही आधार बनाकर **सर्वे पशवः उपजीवन्ति**=सब तत्त्वद्रष्टा (पश्यन्ति इति पशवः) जीवित होते हैं—अपने जीवन का आधार उस वाणी को ही बनाते हैं। **तेन उ**=उस जीवन को देने के हेतु से ही **सा**=वह वाणी **इषम्**=मस्तिष्क में सत्कर्म की प्रेरणा को तथा शरीर में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पिपर्ति**=पूरित करती है। इस शक्ति के द्वारा ही हम उस प्रेरणा को अपने जीवन का अङ्ग बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघगर्जन के समान है। वे सुखवर्षक प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर को सबल बनाते हैं। सब तत्त्वद्रष्टा प्रभु की वाणी को ही अपने जीवन का आधार बनाते हैं। यह वाणी मस्तिष्क में प्रेरणा और शरीर में शक्ति को पूरित करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप् (एकावसाना)॥

पृथिवी दण्डः, हिरण्ययो बिन्दुः

पृथिवी दण्डोऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत्प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः॥ २१॥

१. गतमन्त्र में कथित प्रजापति का **पृथिवी दण्डः**=पृथिवी दमन स्थान है (दमनात् दण्डः)। सब प्राणी अपना कर्मफल भोगने के लिए पृथिवी पर ही आते हैं। **अन्तरिक्षं गर्भः**=अन्तरिक्ष प्रजापति का गर्भ है। इसमें ही सब लोक स्थित हैं, **द्यौः कशा**=द्युलोक सूर्य द्वारा सबको कर्मों में प्रेरित करता है। सूर्य-किरणें ही प्रजापति के हाथ हैं, उनसे वह सबको जगाता-सा है (कशा

चाबुक)। २. **विद्युत् प्रकशः**=विद्युत् उस प्रभु की प्रकृष्ट ध्वनि है (कश् to sound)। विद्युत् गर्जन मनुष्य को विद्युत् के समान ही शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दे रहा है। **हिरण्ययः बिन्दुः**=तैजस् सूर्य आदि उस प्रभु के वीर्य-बिन्दु के समान हैं। ये हमें यही तो प्रेरणा कर रहे हैं कि तुम इस बिन्दु (वीर्य) के रक्षण से ही हिरण्यय=ज्योतिर्मय बनोगे।

भावार्थ—यह पृथिवी प्रजापति का दमन स्थान है, अन्तरिक्ष सब लोकों का आधार (गर्भरूप) है, द्युलोक सूर्यप्रकाश द्वारा कर्म का प्रेरक है। विद्युत् अपने समान प्रकाशमय बनने की प्रेरणा दे रही है और ज्योतिर्मय पदार्थ प्रभु के वीर्य-बिन्दु हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**द्विपदाब्राह्मीपुरउष्णिक्** ॥

सप्त मधूनि

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान्भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्॥ २२॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **कशायाः**=वेदवाणी के—वेद में प्रतिपादित **सप्त**=सात **मधुनि**=मधुओं को **वेद**=जानता है, वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त मधुवाला—अत्यन्त मधुर जीवनवाला होता है। २. वेदवाणी के सात मधु ये हैं—**ब्राह्मणः च राजा च**=ब्राह्मण और राजा, अर्थात् ब्रह्म और क्षत्र। मनुष्य को ब्रह्म और क्षत्र दोनों का जीवन में समन्वय करके श्रीसम्पन्न बनना है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'। **धेनुः च अनड्वान् च**=गौ और बैल। गौ इसे अमृतमय दूध देकर अमृत जीवनवाला बनाती है तो बैल इसके अन्नादि की उत्पत्ति का साधन बनता है। **व्रीहिः च यवः च**=चावल और जौ। चावल इसके शरीरस्थ रोगों को दूर करते हैं और जौ इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाते हैं—**'यवे ह प्राण आहितः, अपानो व्रीहिराहितः'** इन छह के बाद **सप्तमम्**=सातवाँ **मधु**=शहद है। यह स्थूलता और कृशता को दूर करता हुआ वास्तव में ही जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रतिपादित सात मधुओं का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपनाकर हम जीवन को मधुमान् बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः** ॥

मधुमान्

मधुमान्भवति मधुमदस्याहार्यं भवति। मधुमतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ २३॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार वेदवाणी के सप्त मधुओं को जान लेता है वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त माधुर्यवाला होता है। **अस्य आहार्यं मधुमत् भवति**=इसका भोजन भी अत्यन्त मधुरता को लिये हुए होता है। यह कटु-तिक्त वस्तुओं का प्रयोग नहीं करता रहता। यह **मधुमतः लोकान् जयति**=माधुर्यवाले लोकों को जीतता है—आनन्दप्रद लोकों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सात मधुओं को जानकर उनका ठीक प्रयोग व व्यवहार करता हुआ साधक मधुर जीवनवाला, मधुर आहारवाला व मधुमान् लोकों का विजेता होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽष्टिः** ॥

प्रभु के प्रति प्रीति

यद्वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत्प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
तस्मात्प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद॥ २४॥

१. **यत्**=जब **वीध्रे**=(वि इन्ध) विगत दीप्तिवाले अन्तरिक्ष में **स्तनयति**=गर्जना होती है तब **तत् प्रजापतिः एव**=वह प्रजापालक प्रभु ही **प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति**=प्रजाओं के लिए प्रादुर्भूत हो जाता है—मेघगर्जना में प्रभु की महिमा ही प्रकट होती है। **तस्मात्**=उसी कारण से **प्राचीनोपवीतः**=(प्राचीन, उप वि=कान्ति) इस सनातन प्रभु के प्रति प्रीतिवाला (कामनावाला) मैं स्थित होता हूँ। २. **प्रजापते**=हे प्रजापालक प्रभो! **मा अनु बुध्यस्व**=मुझपर अनुग्रह कीजिए, **इति**=यही मेरी आराधना है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार मेघगर्जना आदि में प्रभु की महिमा का अनुभव करता है, **एनम्**=इसे **प्रजाः अनु**=अनुकूलतावाली प्रजाएँ प्राप्त होती हैं तथा इसपर **प्रजापतिः अनुबुध्यते**=प्रजापति प्रभु अनुग्रहवाले होते हैं।

भावार्थ—हम मेघगर्जना आदि प्रकृतिक घटनाओं में प्रभु की महिमा का अनुभव करते हुए प्रभु के प्रति प्रीतिवाले हों। ऐसा होने पर हमें अनुकूल प्रजाएँ प्राप्त होंगी और प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होगा।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतेन हविषा आज्येन

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान्मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्ये ॥ण॥ १॥

१. **सपत्नहनम्**=शत्रुओं के विनाशक **ऋषभम्**=शक्तिशाली **कामम्**=कमनीय (कामना के योग्य) प्रभु को **घृतने**=मलों का क्षरण व ज्ञानदीप्ति से, **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **आज्येन**=(to honour, celebrate) भक्तिपूर्वक आदृत करने से **शिक्षामि**=प्राप्त करने के लिए मैं यत्नशील होता हूँ। २. हे प्रभो! **अभिष्टुतः त्वम्**=प्रातः-सायं मेरे द्वारा स्तुत होते हुए आप **महता वीर्येण**=महान् पराक्रम के साथ **मम सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः पादय**=पादाक्रान्त कर दीजिए (नीचे पहुँचा दीजिए)।

भावार्थ—हम 'मलों को दूर करने, ज्ञान प्राप्त करने, दानपूर्वक अदन तथा भक्तिपूर्वक स्मरण' करने के द्वारा प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करने के लिए हमें महान् पराक्रमवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्तवन द्वारा उत्थान

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुःष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **मे मनसः न प्रियम्**=मेरे मन का प्रिय नहीं, **न चक्षुषः**=न आँख का प्रिय है, **यत् मे बभस्ति**=जो मेरा भर्त्सन-सा करता है **न अभिनन्दति**=कुछ आनन्दित नहीं करता **तत्**=उस **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्न के कारणभूत पाप को मैं **सपत्ने प्रतिमुञ्चामि**=अपने शत्रुओं के प्रति छोड़ता हूँ, अर्थात् ऐसी अशुभ वृत्तियाँ शत्रुओं को ही प्राप्त हों। २. **अहम्**=मैं तो **कामं स्तुत्वा**=उस कमनीय प्रभु का स्तवन करके **उत् भिदेयम्**=शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ ऊपर उठूँ।

भावार्थ—अप्रिय पाप हमें सतानेवाले न हों। वे शत्रुओं को ही प्राप्त हों। मैं प्रभु-स्तवन करता हुआ ऊपर-ही-ऊपर उठता चलूँ।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—कामः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अशुभ चाहनेवाले की दुर्गति

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन्यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥ ३॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों की कारणभूत आपत्तियों को **च**=और **काम**=हे चाहने योग्य प्रभो! **दुरितम्**=दुर्गति व दुराचरण को **अप्रजस्ताम्**=प्रजाराहित्य (सन्तानहीनता) को, **अस्वगताम्**=निर्धनता की प्राप्ति व **अवर्तिम्**=वृत्ति के अभाव (निर्जिविका) को **उग्रः**=तेजस्वी व **ईशानः**=सबके स्वामी होते हुए आप **तस्मिन् प्रति मुञ्च**=उस व्यक्ति में छोड़िए, **यः**=जो **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अंहूरणा**=पाप कर्मों को **चिकित्सात्**=चाहे (कित इच्छायाम्)।

भावार्थ—हे प्रभो! वही व्यक्ति दुर्गति में पड़े जो औरों के लिए अशुभ की कामना करता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—कामः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शत्रुत्व का दण्ड

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **ये मम सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं, उन्हें **नुदस्व**=धकेलिए, **प्रणुदस्व**=खूब ही दूर धकेल दीजिए। हे **काम**=कमनीय प्रभो! वे **अवर्तिं यन्तु**=निर्जीविका (दरिद्रता) की स्थिति को प्राप्त हों, **अधमा तमांसि**=घने अँधेरे में **नुत्तानाम्**=धकेले हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=घरों को हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **निर्दह**=भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—हे कमनीय प्रभो! औरों से शत्रुता करनेवाले लोग समाज से पृथक् कर दिये जाएँ। ये अवर्ति (दरिद्रता), अन्धकार व गृहशून्यता (बेघरबारी) को प्राप्त हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—कामः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥

दुहिता 'धेनुः'

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।
तया सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ ५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **सा**=वह **ते**=आपकी **धेनुः**=वेदधेनु—ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणी **दुहिता**=सब कामनाओं का प्रपूरण करनेवाली **उच्यते**=कही जाती है। **यां वाचम्**=जिस वेदवाणी को **कवयः**=ज्ञानी लोग **विराजम् आहुः**=विशिष्ट दीप्तिवाला कहते हैं, **तया**=उस वेद-वाणी द्वारा **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान् परिवृङ्ग्धि**=शत्रुओं को दूर कीजिए। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण **पशवः**=गौ (पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ तथा **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ। इन शत्रुत्व की वृत्तिवालों की 'प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ व जीवन-शक्ति' नष्ट हो जाए।

भावार्थ—शत्रुत्व की वृत्तिवाले व्यक्ति वेदवाणी से, प्राण, पशुओं व जीवन से पृथक् हो जाएँ।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—कामः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभुपूजन व अग्निहोत्र

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः॥ ६॥

१. **कामस्य**=कमनीय, **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक, **वरुणस्य**=पापनिवारक **राज्ञः**=दीप्त **विष्णोः**=

व्यापक प्रभु के **बलेन**=बल से **सवितुः**=प्रेरक प्रभु के **सवेन**=(यज्ञेन, यज पूजायाम्) पूजने से तथा **अग्नेः होत्रेण**=अग्निहोत्र के द्वारा **सपत्नान् प्रणुदे**=शत्रुओं को इसप्रकार से धकेलता हूँ, **इव**=जैसेकि **धीरः शम्बी**=एक धीर (धैर्य की वृत्तिवाला, समझदार) नाविक **उदकेषु नावम्**=जलों में नाव को प्रेरित करता है।

भावार्थ—पाप-निवारक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर प्रभु का पूजन व अग्निहोत्र करते हुए हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'वाजी उग्रः' कामः

अध्य॑क्षो वा॒जी मम॒ काम॑ उ॒ग्रः कृ॑णोतु॒ मह्य॑मसप॒त्नमे॒व।
विश्वे॑दे॒वा मम॑ ना॒थं भ॑वन्तु॒ सर्वे॑ दे॒वा हव॒मा य॑न्तु म इ॒मम्॥ ७॥

१. **मम**=मेरे **अध्यक्षः**=सब कामों का द्रष्टा प्रभु **वाजी**=शक्तिशाली है, **कामः**=कमनीय है, **उग्रः**=शत्रुओं के लिए भयंकर है। ये प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम्**=शत्रुराहित्य को **एव**=ही **कृणोतु**=करें। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनकर मैं 'काम-क्रोधादि' सब शत्रुओं को कुचलनेवाला बनूँ। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **मम नाथं भवन्तु**=मेरे रक्षक व मेरा ऐश्वर्य हों। काम के विनाश के लिए मेरा जीवन पवित्र प्रेम से परिपूर्ण हो, क्रोधविनाश से मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो। लोभ को नष्ट करके मैं त्याग की वृत्तिवाला बनूँ। ऐसा होने पर **सर्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **मे इमं हवम्**=मेरी इस पुकार को सुनकर **आयन्तु**=मुझे प्राप्त हों। देवों का सम्पर्क मुझे भी देव बनाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं शक्ति-सम्पन्न (वाजी, उग्र) बनकर 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट करूँ। इन्हें विनष्ट करके मैं 'प्रेम, करुणा व त्याग' को अपनाऊँ। देवों के सम्पर्क में मैं देव बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः** ॥

'घृतवृत् आज्यं' जुषाणः

इ॒दमाज्यं॑ घृ॒तव॑ज्जुषा॒णाः काम॑ज्येष्ठा इ॒ह मा॑दयध्वम्। कृ॒ण्वन्तो॒ मह्य॑मसप॒त्नमे॒व॥ ८॥

१. **इदम्**=इस **घृतवत्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से युक्त **आज्यम्**=(to honour) प्रभुपूजन को **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **कामज्येष्ठाः**=उस कमनीय प्रभु को सबसे ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) मानते हुए देवो! **इह**=यहाँ—हमारे घर पर **मादयध्वम्**=आप आनन्दित होओ। हमारे आतिथ्य से ये देव प्रसन्न हों। २. ये देव ज्ञान देकर तथा अपने जीवन का उदाहरण उपस्थित करके **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम् एव**=शत्रुराहित्य को ही **कृण्वन्तः**=करनेवाले हों। इन देवों का अनुकरण करता हुआ मैं भी देव बनूँ—'काम-क्रोध-लोभ' का विजेता बनूँ (दिव् विजिगीषायाम्)।

भावार्थ—देव वे होते हैं जोकि मलों को दूर करते हुए तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हुए प्रभु का उपासन करते हैं और कमनीय प्रभु को ही ज्येष्ठ मानते हैं। इन देवों का सम्पर्क मुझे भी 'काम, क्रोध व लोभ' से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाश+पराक्रम

इ॒न्द्रा॒ग्नी का॑म स॒रथं॒ हि भू॒त्वा नी॒चैः स॒पत्ना॒न्मम॑ पादयाथः।
तेषां॑ प॒न्नाना॑मध॒मा तमां॒स्यग्ने॒ वास्तू॒न्यनु॒निर्द॑ह॒ त्वम्॥ ९॥

१. 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देवो! हे **काम**= कमनीय प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सरथं भूत्वा**=मेरे साथ इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर **मम**=मेरे **सपत्नान्**=शत्रुओं को **नीचैः पादयाथः**=नीचे गिरा देते हो। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अधमा तमांसि**=निकृष्ट अन्धकारों में **पन्नानाम्**=प्राप्त हुए-हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=निवास-स्थानों को **त्वम्**=आप **अनुनिर्दह**=अनुक्रम से विदग्ध कर दीजिए, अर्थात् प्रभुकृपा से काम-क्रोध की उत्पत्ति के कारण भी विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—कमनीय प्रभु की कृपा से हम प्रकाश व पराक्रम को प्राप्त करके काम व क्रोध को तथा उनके उत्पत्ति-कारणों को विनष्ट करके प्रेम व करुणा से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'निरिन्द्रियाः, अरसाः' सपत्नाः

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **मम ये सपत्नाः**=मेरे जो शत्रु हैं, **एनान्**=इन शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर दीजिए और **अन्धा तमांसित अवपादय**=इन्हें घने अँधेरे में नीचे पहुँचा दीजिए। २. **ते सर्वे**=वे सब शत्रु **निरिन्द्रियाः**=निर्वीर्य व **अरसाः**=रसहीन—मृतप्राय **सन्तु**=हो जाएँ। वे **कतमत् चन आहः**=कुछ भी दिन **मा जीविषुः**=न जीएँ, अर्थात् मैं शीघ्र ही उन्हें विनष्ट कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँ। हम उन्हें क्षीण करके विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'उरु एधतु' लोक

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥

१. **कामः**=वे कमनीय प्रभु उन्हें **अवधीत्**=नष्ट कर दें, **मम ये सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं। मेरे काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं को नष्ट करके प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **एधतुम्**=वृद्धि के कारणभूत **उरुं लोकम्**=विशाल प्रकाश को **अकरत्**=करें। २. इन शत्रुओं का विजय कर लेने पर **चतस्रः प्रदिशः**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण (प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा) ये चारों प्रधान दिशाएँ **मह्यं नमन्ताम्**=मेरे लिए झुक जाएँ। मैं चारों दिशाओं का अधिष्ठाता बनूँ—आगे बढ़ूँ (प्राची), इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करूँ (प्रतीची) ऊपर उठूँ (उदीची) और निपुण बनूँ (दक्षिणा)। **मह्यम्**=मेरे लिए **षट् उर्वीः**=आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी, ऐशानी, ध्रुवा व ऊर्ध्वा' नाम्नी छह विशाल दिशाएँ **घृतम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति को **आवहन्तु**=सब ओर से प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरे शत्रु नष्ट हों। वृद्धि का कारणभूत प्रकाश मुझे प्राप्त हो। सब दिशाएँ मेरे लिए झुक जाएँ—मैं चतुर्दिग्विजय प्राप्त करूँ। सब ओर से मलों को नष्ट करता हुआ मैं ज्ञानदीप्ति प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुविद्रावण

ते ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ १२ ॥

१. **ते**=वे हमारे शत्रु **अधराञ्चः**=निम्न गतिवाले होकर **प्रप्लवन्ताम्**=उसी प्रकार बह जाएँ, **इव**=जैसेकि **बन्धनात्**=बन्धन से **छिन्ना**=छिन्न हुई-हुई **नौः**=नाव बह जाती है। **सायक-प्रणुत्तानाम्**=बाणों के द्वारा दूर प्रेरित किये हुए इन शत्रुओं का **पुनः**=फिर **निवर्तनं न अस्ति**=लौटना नहीं है।

भावार्थ—दुर्गति को प्राप्त शत्रु बन्धन से छिन्न नौका की भाँति बह जाएँ। बाणों के द्वारा परे धकेले शत्रु फिर लौटने का नाम न लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

'अग्नि, इन्द्र, सोम'=यव

अ॒ग्निर्यव॒ इन्द्रो॒ यवः॒ सोमो॒ यवः॑। य॒व॒यावा॑नो दे॒वा या॑वय॒न्त्वेन॑म्॥ १३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यवः**=यव हैं—वे हमसे बुराइयों को पृथक् करनेवाले हैं। **इन्द्रः यवः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु हमसे बुराइयों को दूर करते हैं। **सोमः यवः**=सोम (शान्त) प्रभु बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। हम आगे बढ़ने की भावनावाले (अग्नि), जितेन्द्रिय (इन्द्र) व शान्त=विनीत (सोम) बनें। ऐसा बनकर ही हम सब बुराइयों को अपने से दूर कर पाएँगे। २. **देवाः**=माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **यवयावानः**=(यवाः च यावानः च) बुराइयों को पृथक् करनेवाले व शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं (या गतौ)। **एनम्**=इस अपने उपासक को ये देव **यावयन्तु**=सब शत्रुओं से पृथक् करें।

भावार्थ—हम 'अग्नि, इन्द्र व सोम' इन नामों से प्रभु-स्मरण करते हुए आगे बढ़ें, जितेन्द्रिय बनें व शान्त वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम बुराइयों को अपने से पृथक् कर पाएँगे। माता-पिता, आचार्य व अतिथियों का सान्निध्य हमें शत्रुओं को दूर भगाने में सशक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

द्वेष्यः मित्राणां, परिवर्ग्यः स्वानाम्

अस॑र्ववीरश्चरतु॒ प्रणु॑त्तो॒ द्वेष्यो॑ मि॒त्राणां॑ परिव॒र्ग्य१ः स्वाना॑म्।
उ॒त पृ॑थि॒व्याम॑व स्यन्ति वि॒द्युत॑ उ॒ग्रो वो॑ दे॒वः प्र मृ॑णत्स॒पत्ना॑न्॥ १४॥

१. हमारा शत्रु **असर्ववीरः**=सब वीरों से रहित हुआ-हुआ **प्रणुत्तः**=परे धकेला हुआ **चरतु**=इधर-उधर भटके। यह **मित्राणां द्वेष्यः**=सब मित्रों का द्वेष्य (अप्रीति योग्य) हो जाए। २. **स्वानां परिवर्ग्यः**=अपनों का छोड़ने योग्य हो जाए, अर्थात् अपने लोग भी इसे छोड़ जाएँ। **उत**=और **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तिवाले अस्त्र हमारे शत्रुओं का **अवस्यन्ति**=अन्त कर देते हैं। वह **उग्रः देवः**=शत्रुभयंकर विजेता प्रभु **वः**=तुम्हारे **सपत्नान् प्रमृणत्**=शत्रुओं को कुचल डाले।

भावार्थ—हमारे शत्रु वीरों से रहित, मित्रों के द्वेष्य व अपनों से छोड़ने योग्य हों। हमारे दीप्त अस्त्र उनका अन्त करें और प्रभु उन्हें कुचल देने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सहस्वान् आदित्यः

च्युता॑ चे॒यं बृ॑ह॒त्यच्यु॑ता च वि॒द्युद्बि॑भर्ति स्तनयि॒त्नूंश्च॒ सर्वा॑न्।
उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यो द्रवि॑णेन॒ तेज॑सा नी॒चैः स॒पत्ना॑न्नुदतां मे॒ सह॑स्वान्॥ १५॥

१. **इयं बृहती**=सब वृद्धियों की साधनभूत यह **विद्युत्**=विशिष्ट दीप्तिवाली ब्रह्मशक्ति **च्युता च अच्युता च**=(च्युङ् गतौ) गतिमय व स्थिर—चराचर सब पदार्थों को **च**=तथा **सर्वान्**

स्तनयित्नून्=गर्जना करनेवाले सब मेघादि को **बिभर्ति**=धारण करती है। २. **उद्यन्**=मेरे हृदयाकाश में उदित होता हुआ **आदित्यः**=सूर्यसम दीप्त **सहस्वान्**=बलवान् प्रभु **द्रविणेन**=बल (नि० २.९) व **तेजसा**=तेज से **मे सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः नुदताम्**=नीचे धकेल दे।

भावार्थ—दीप्त ब्रह्मशक्ति ही चराचर जगत् को व गर्जना करते हुए मेघादि को धारित करती है। हृदयाकाश में उदित प्रभु बल व तेज प्राप्त कराके मुझे मेरे शत्रुओं को विनष्ट करने में समर्थ करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाशक्वरीगर्भापराजगती** ॥

ब्रह्म वर्म

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
तेन सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्यैनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ १६॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **शर्म**=सुखद **त्रिवरूथम्**='शरीर, मन व बुद्धि' को रक्षित करनेवाला **उद्भु**=उत्तम शक्तिसम्पन्न **ब्रह्म**=ज्ञान है, वह **विततम्**=विस्तृत **अनतिव्याध्यम्**=न वेधने योग्य **वर्म कृतम्**=कवच बनाया गया है। आपका दिया हुआ ज्ञान मेरा कवच बना है। इस कवच को काम-क्रोधादि शत्रु विद्ध नहीं कर सकते। २. **तेन**=उस वेदवाणीरूप कवच से **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान्**=शत्रुओं को **परिवृङ्ग्धि**=दूर हटा दीजिए। **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण, **पशवः**=(पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ, **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेदवाणी वह कवच है, जिसे काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं किया जा सकता। इस कवच से मैं शत्रुओं को दूर करूँ। इन शत्रुओं को प्राण, इन्द्रियाँ व जीवन छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देव+इन्द्र

येन देवा असुरान्प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात्प्र णुदस्व दूरम्॥ १७॥

१. **येन**=जिस बल से **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **असुरान् प्राणुदन्त**=आसुरभावों को अपने से दूर धकेल देते हैं, **येन**=जिस बल से **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दस्यून्**='काम-क्रोध-लोभ' रूप विनाशक वृत्तियों को **अधमं तमः निनाय**=घने अँधेरे में पहुँचा देता है, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तेन**=उस बल से **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दो, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—हम 'देव व इन्द्र'=दिव्यवृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर आसुर व दास्यव भावों को—अपने ही पोषण (आसुर) व दूसरों के विनाश (दस्यु) के भावों को अपने से दूर धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

असुर व दस्यु-विनाश

यथा देवा असुरान्प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात्प्र णुदस्व दूरम्॥ १८॥

१. **यथा**=जैसे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **असुरान्**=आसुरभावों को—अपने ही प्राणपोषण,

अर्थात् स्वार्थ के भावों को **प्राणुदन्त**=परे धकेल दिया। **यथा**=जिस प्रकार **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष ने **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को—औरों के विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ आदि) को **अधमं तमः बबाधे**=घने अँधेरे में पहुँचा दिया, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तथा**=उसी प्रकार **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दें, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार देव स्वार्थ के भावों से ऊपर उठते हैं, जिस प्रकार एक जितेन्द्रिय पुरुष विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ) से दूर रहता है, उसी प्रकार प्रभुकृपा से मैं उन असुरों व दस्युओं को अपने से दूर कर पाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रथम' प्रभु

कामो॑ जज्ञे प्र॒थमो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ १९॥

१. **कामः**=वह कमनीय प्रभु **प्रथमः जज्ञे**=सबसे पूर्व प्रादुर्भूत हुए-हुए हैं—वे सबसे प्रथम स्थान पर हैं, अग्नि हैं—अग्रणी। प्रभु सब गुणों की चरम सीमा ही तो हैं, अतः वे प्रथम हैं। श्रेष्ठता में **एनम्**=इस प्रभु को **न**=न तो **देवाः**=देव (ज्ञानी ब्राह्मण) **आपुः**=प्राप्त कर पाते हैं, **न पितरः मर्त्याः**=न ही रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त पितर (क्षत्रिय) तथा धन-धान्यादि के अर्जन में प्रवृत्त मनुष्य (वैश्य) पा सकते हैं। २. **ततः**=इसप्रकार हे प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=सबसे अधिक प्रशस्य **असि**=हैं, **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय हैं। हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ—मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रथम हैं। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य भी प्रभु के समान नहीं। उस सदा प्रशस्त व महान् के लिए मैं नतमस्तक होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**२० भुरिक्त्रिष्टुप्, २१ जगती**॥

'महान्' प्रभु

याव॑ती॒ द्यावा॑पृथि॒वी व॑रि॒म्णा याव॒दाप॑ः सिष्य॒दुर्याव॑द॒ग्निः।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ २०॥
याव॑ती॒र्दिश॑ः प्र॒दिशो॒ विषू॑ची॒र्याव॑ती॒राशा॑ अभि॒चक्ष॑णा दि॒वः।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न्वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒ नम॒ इत्कृ॑णोमि॥ २१॥

१. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **वरिम्णा**=विस्तार से **यावती**=जितने बड़े हैं, **यावत्**=जितनी भी दूर तक **आपः सिष्यदुः**=ये जल बह रहे हैं, **यावत्**=जितनी यह **अग्निः**=अग्नि विस्तृत है, **यावतीः**=जितनी दूर तक **विषूचीः**=(वि सु अञ्च) चारों ओर फैलनेवाली **दिशः प्रदिशः**=ये दिशाएँ व उपदिशाएँ फैली हैं, **यावतीः**=जितनी दूर तक **दिवः अभिचक्षणाः**=द्युलोक के प्रकाश को प्रकट करनेवाली **आशाः**=ये दिशाएँ हैं, २. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ततः**=उनसे **ज्यायान् असि**=अधिक बड़े हैं। **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय व पूजनीय हैं, **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा 'द्यावापृथिवी, जल, अग्नि, दिशा-प्रदिशाओं' से महान् है। उस महान् प्रभु के लिए हम सदा प्रणाम करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—कामः॥ छन्दः—२२ जगती, २३ भुरिक्त्रिष्टुप्, २४ त्रिष्टुप्॥

ज्यायान् प्रभु

यावतीर्भृङ्गा जत्वऽः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २२॥
ज्यायान्निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २३॥
न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २४॥

१. **यावतीः**=जितने भी **भृङ्गाः**=भौंरे, **जत्वः**=चमगादड़, **कुरूरवः**=चीलें हैं, **यावतीः**=जितने भी **वघाः**=टिड्डी आदि जन्तु हैं, जितने भी **वृक्षसर्प्यः**=वृक्षों पर सरकनेवाले कीट **बभूवुः**=हैं—उन सबकी सम्मिलित शक्ति से भी आप महान् हैं। हे **काम**=कमनीय **मन्यो**=ज्ञानस्वरूप प्रभो! आप **निमिषतः**=आँखों को बन्द किये हुए—निमेषोन्मेष के व्यापारवाले जीवों से **ज्यायान्**=बड़े हो, **तिष्ठतः**=इन खड़े हुए वानस्पतिक जगत् से आप बड़े हो, **समुद्रात्**=इन समुद्रों से भी अथवा अन्तरिक्ष से भी आप **ज्यायान्**=बड़े हो। ३. **न वै**=निश्चय से न ही **वातः चन**=यह वायु भी **कामम् आप्नोति**=उस कमनीय प्रभु को व्याप्त कर पाता है, **न अग्निः**=न अग्नि उस प्रभु की महिमा को व्यापता है, **सूर्यः**=सूर्य भी नहीं व्यापता **उत**=और **न चन्द्रमाः**=न चन्द्रमा ही उस प्रभु की महिमा को व्याप सकता है। **ततः**=उन वायु, अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा से हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=बड़े हो। **विश्वहा महान्**=सदा महनीय (पूजनीय) हो। **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को सारे 'भृंग व कृमि—कीट-पतङ्ग' नहीं व्याप सकते। वे प्रभु चराचर जगत् व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष से महान् हैं। वायु, अग्नि, व चन्द्र में ही प्रभु की महिमा समाप्त नहीं हो जाती। प्रभु इन सबसे महान् हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—कामः॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

शिवाः (भद्राः) बनाम (Vs) पापीः (धियः)

यास्ते शिवास्तन्वऽः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ २५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपके **शिवाः भद्राः तन्वः**=शुभ, कल्याणकारी शक्ति-विस्तार हैं, **याभिः**=जिन शक्ति-विस्तारों से **यत्**=जो **सत्यं भवति**=सत्य होता है, उसी का **वृणीषे**=आप वरण करते हैं, **ताभिः**=उन शक्ति-विस्तारों से **त्वम्**=आप **अस्मान् अभिसंविशस्व**=हमें प्राप्त होओ। **पापीः धियः**=पापमय बुद्धियों को—विचारों को अन्यत्र **अपवेशय**=हमसे दूर अन्य स्थानों पर ही रखिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'भद्र व शिव' शक्तियों को प्राप्त करें, पापमय विचार हमसे दूर रहें।

विशेष—इन शुभ विचारों को ग्रहण करानेवाला 'भृगु' बनता है। ज्ञानपरिपक्व होकर यह पाप-विचारों को अपने समीप नहीं आने देता। इसी से यह अङ्गिरा भी होता है—अङ्ग-अङ्ग में रसवाला। यह किस प्रकार एक सुन्दर गृह का निर्माण करता है। इस विषय का वर्णन अगले सूक्त में देखिए—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विश्ववारा शाला

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत। शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

१. **विश्ववारायाः**=(वार=द्वार व वरणीय पदार्थ) सब ओर द्वारोंवाली व वरणीय पदार्थोंवाली **शालायाः**=शाला की **उपमिताम्**=उपमायुक्त (देखने में सराहने योग्य) **प्रतिमिताम्**=प्रतिमानयुक्त (जिसके आमने-सामने की भीतें, द्वार, खिड़की आदि एक नाप में हों) **अथो**=और **परिमिताम्**=परिमाणयुक्त (चारों ओर से नापकर चौरस की हुई) बनावट को **उत**=और **नद्धानि**=बन्धनों को (चिनाई व काष्ठ आदि के मेलों को) **विचृतामसि**=हम अच्छी प्रकार ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम गृह को 'उपमित, प्रतिमित व परिमित' बनाने का ध्यान करें। इसमें सब ओर द्वार हों। यह सब वरणीय वस्तुओं से युक्त हो। इसके बन्धन दृढ़ व सुग्रथित हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पाशों व ग्रन्थियों की दृढ़ता

यत्ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय पदार्थोंवाली व सब ओर द्वारोंवाली शाले! **यत् ते नद्धम्**=जो तेरा बन्धन **यः पाशः**=जो जाल **ग्रन्थिः च**=और जोड़ **कृतः**=किया गया है, **अहम्**=मैं **तत्**=उसे उसी प्रकार **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार **विस्रंसयामि**=(स्रंसु अधःपतने) विगत पतनवाला करता हूँ, **इव**=जैसेकि **बृहस्पतिः**=एक ज्ञानी पुरुष **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ **बलम्**=बल को विगत पतनवाला करता है।

भावार्थ—मैं वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ इस शाला के बन्धनों, जालों व ग्रन्थियों को पतनशून्य व दृढ़ करता हूँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आयमन+संबर्हण+दृढ़ीकरण

आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वाञ्छस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि ॥ ३ ॥

१. हे शाले! शिल्पी ने **ते ग्रन्थीन् आययाम**=तेरी ग्रन्थियों को सम्यक् बाँधा है, **संबबर्ह**=इन्हें सम्यक् मिलाया है (संवर्द्धितवान् संयोजितवान्) तथा **दृढान् चकार**=दृढ़ किया है। **विद्वान् शस्ता इव**=जिस प्रकार एक ज्ञानी चीर-फाड़ करनेवाला वैद्य सम्यक् पट्टी बाँधता है, इसी प्रकार हम **इन्द्रेण**=प्रभु के स्मरण के साथ **परूंषि**=तेरे जोड़ों को, पर्वों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जैसे वैद्य टूटे अवयवों को जोड़कर ठीक से पट्टी बाँध देता है, उसी प्रकार हम इस शाला के जोड़ों को नियमित करें, मिला दें और दृढ़ कर दें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

बन्धनों की दृढ़ता

वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि ॥ ४ ॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय वस्तुओंवाली शाले! **ते**=तेरे **वंशानाम्**=बाँसों के **नहनानाम्**=बन्धनों के **च**=और **प्राणाहस्य** (प्र नह) **तृणस्य**=प्रकृष्ट बन्धनवाले तृणों के तथा **ते पक्षाणाम्**=तेरे पार्श्वों को, **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम वरणीय वस्तुओं से युक्त इस शाला के वंश-बन्धनों, तृण-बन्धनों तथा पार्श्व-बन्धनों को सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'मानस्य पत्नी' शाला

सन्दंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि॥ ५॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब **मानस्य पत्न्याः**=मान की रक्षा करनेवाली, अर्थात् सर्वत्र मान-(माप)-पूर्वक बनाई गई इस शाला के **सन्दंशानाम्**=कैंची के आकार की जुड़ी लकड़ियों के **पलदानाम्**=(पल straw, husk) तृणों से बनी चटाइयों के **च**=और **परिष्वञ्जलस्य**=(परि स्वञ्ज्) चारों ओर के पारस्परिक आलिंगन (बन्धन) के **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—शाला नाप-तोलकर बनाई जाए। इसके 'सन्दंशों, पलदों व परिष्वञ्जल्य' के बन्धन सुदृढ़ हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

'शिक्यों से आबद्ध सुन्दर' शाला

यानि तेऽन्तः शिक्या॑न्याबेधू रण्या॑य कम्।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे॑ भव॥ ६॥

१. हे शाले! **यानि शिक्यानि**=जिन छींको को (A loop or swing made of rope) **कम्**=सुख से **रण्याय**=रमणीयता के लिए **ते अन्तः आबेधुः**=शिल्पियों ने तेरे अन्दर बाँधा है, **ते तानि**=तेरे उन छींकों को **प्रचृतामसि**=प्रकर्षेण दृढ़ करते हैं। २. तू **शिवा**=कल्याणकर हो, **मानस्य पत्नी**=हमारे सम्मान का रक्षण करनेवाली हो। **नः तन्वे**=हमारे शक्ति=विस्तार के लिए, **उत् हिता भव**=ऊपर स्थापित हुई-हुई हो अथवा उत्कृष्ट हित करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारा घर कार्यार्थ बँधे हुए छींकों से सुन्दर प्रतीत हो। यह घर कल्याणकर व सम्मानप्रद तथा हमारे शरीरों के स्वास्थ्य के लिए हितकर हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—परउष्णिक् ॥

दिव्य गृह का स्वरूप

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥ ७॥

१. हे **देवि शाले**=प्रकाशमय गृह! (दिव् द्युतौ) तू **हविर्धानम् असि**=हवि को आहित करने का स्थान है। तेरा मुख्य कमरा 'अग्निहोत्र का कमरा' है। सबसे प्रथम तुझमें इस पूजागृह की व्यवस्था की गई है। तब **अग्निशालम्** (असि)=तू अग्निशाला है, तुझमें रसोईघर (Kitchen) की व्यवस्था की गई है। इसके पश्चात् तीसरा **पत्नीनां सदनम्**=गृहपत्नियों के उठने-बैठने का स्थान है। 'पत्नीनां' शब्द सम्मिलित परिवार की सूचना दे रहा है। इसके बाद **सदः**=पुरुषों के उठने-बैठने का कमरा है। २. इन पूजाग्रह आदि के अतिरिक्त **देवानां सदः असि**=आये-गये अतिथियों (अतिथिदेवो भव) का कमरा भी है। यही सामान्य बैठक (Drawing room)

कहलाती है।

भावार्थ—एक प्रकाशमय आदर्श गृह में पाँच कमरे होने चाहिएँ—'पूजागृह, रसोईघर, स्त्रियों का कमरा, पुरुषों का कमरा व अतिथिगृह'। इनके अतिरिक्त गोष्ठादि अलग होंगे ही।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओपशं अक्षु

अक्षुमोपशं विततं सहस्राक्षं विषूवति। अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

१. जब कभी घरों पर कुछ लम्बे यज्ञों का विधान होता है तब उन यज्ञ के दिनों में केन्द्रीभूत दिन 'विषूवत्' कहाता है (The central day in sacrifical session)। इस **विषूवति**=यज्ञों के केन्द्रीभूत दिन के अवसर पर **ओपशम्**=गृह के शिरोभूषणरूप इस **अक्षुम्**=जाल को **ब्रह्मणा**=वेद के निर्देशानुसार—ज्ञानपूर्वक **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं। २. यह जाल **विततम्**=फैला हुआ—विस्तृत है, **सहस्राक्षम्**=हज़ारों आँखों—झरोखोंवाला है, **अवनद्धम्**=नीचे से सम्यक् बद्ध है तथा **अभिहितम्**=चारों ओर से सम्यक् बद्ध हुआ है।

भावार्थ—यज्ञों के अवसर पर केन्द्रीभूत (मुख्य) दिन में घर में जो जाल (तम्बू)-सा लगाया जाए वह शोभा को बढ़ानेवाला, प्रकाश व वायु के लिए सहस्रों झरोखोंवाला, नीचे से चारों ओर से सम्यक् बद्ध हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उभौ जीवतां जरदष्टी

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम्।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥

१. हे **मानस्य पत्नि**=सम्मान का रक्षण करनेवाली शाले! **यः त्वा प्रतिगृह्णाति**=जो तुझे स्वीकार करता है, अर्थात् जो व्यक्ति तुझमें निवास करते हैं **च**=और **येन**=जिस गृहपति से **त्वं मिता असि**=तू मानपूर्वक बनायी गई है **उभौ तौ**=वह गृहपति व अन्य गृह-सदस्य दोनों ही **जरदष्टी जीवताम्**=पूर्ण वृद्धावस्था का व्यापन करनेवाले होते हुए जीएँ, अर्थात् इस घर में सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—घर को वास्तुकला के अनुरूप उचित माप से बनानेवाला गृहपति व घर में रहनेवाले सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दृढा, नद्धा, परिष्कृता

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥

१. हे शाले! **यस्याः ते**=जिस तेरे **अङ्गम् अङ्गम्**=एक-एक अङ्ग को तथा **परुः परुः**=एक-एक जोड़ को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं, वह तू **दृढा**=बड़ी दृढ़, **नद्धा**=सुबद्ध व **परिष्कृता**=सम्यक् अलंकृत हुई-हुई तेरा निर्माण करनेवाले गृहपति को **अमुत्र**=भविष्य में—अगले समय में **आगच्छतात्**=प्राप्त हो, अर्थात् तू प्रतिदिन टूटती-फूटती न रह।

भावार्थ—घर के एक-एक अङ्ग व पर्व को सुग्रथित किया जाए। यह दृढ़, सुबद्ध व परिष्कृत घर भविष्य में गृहपति को सुखी करनेवाला हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अमांस भोजन व उत्तम सन्तान-निर्माण

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन्।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः॥ ११॥

१. हे **शाले**=गृह! **यः त्वा निमिमाय**=जो तुझे मानपूर्वक बनाता है और इस घर में **वनस्पतीन्**=वानस्पतिक पदार्थों का **संजभार**=संग्रह करता है, हे **शाले**=गृह! वह **त्वा**=तुझे **प्रजायै चक्रे**=उत्तम सन्तान के लिए बनाता है। जिस घर में मांस आदि पदार्थों का प्रवेश होता है, वह उत्तम सन्तानवाला नहीं बनता। २. उत्तम सन्तानों का निर्माता यह गृहपति **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित होता है—मोक्ष को प्राप्त करता है और यहाँ **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक होता है।

भावार्थ—घर को मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें वानस्पतिक पदार्थों का ही संग्रह करना चाहिए, परिणामतः घर में सन्तान उत्तम होते हैं और यह गृहपति प्रजारक्षक होता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

घर में नियमित अग्निहोत्र

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः।
नमोऽग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः॥ १२॥

१. **तस्मै**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तम सन्तान का निर्माण करनेवाले प्रजापति के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। **दात्रे नमः**=दानशील पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं **च**=और **शालापतये**=घर का रक्षण करनेवाले के लिए **नमः कृण्मः**=नमस्कार करते हैं और **ते**=तुझ **अग्नये प्रचरते पुरुषाय**=अग्नि की सेवा करनेवाले—नियमित रूप से अग्निहोत्र करनेवाले पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—गृहस्थ को चाहिए कि घर में सन्तानों को उत्तम बनाने का प्रयत्न करे, दानशील हो, गृहरक्षण का ध्यान करे तथा घर में अग्निहोत्र के नियम को छिन्न न होने दे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'विजावती प्रजावती' शाला

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि॥ १३॥

१. इस घर में होनेवाले **गोभ्यः अश्वेभ्यः**=गौओं व घोड़ों के लिए **नमः**=उचित अन्न—दाना-घास प्राप्त कराते हैं (नमः=अन्न)। **शालायां विजायते**=इस घर में विशिष्टरूप से **यत्**=जो पदार्थ है, उस सबके लिए हम आदर का भाव रखते हैं, उन सबका समुचित प्रयोग करते हैं। समुचित प्रयोग ही उनका आदर है। २. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली, **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! **ते पाशान्**=तेरे सब जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—घर में होनेवाली गौओं और घोड़ों को समुचित दाना-घास प्राप्त कराया जाए। गृह के सब पदार्थों का समुचित प्रयोग हो। गृह के सब बन्धनों को सुदृढ़ बनाया जाए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अग्निहोत्र व नीरोगता

अ॒ग्निम॒न्तश्छा॑दयसि॒ पुरु॑षान्प॒शुभि॑: स॒ह।
विजा॑वति॒ प्रजा॑वति॒ वि ते॒ पाशां॑श्चृतामसि॥ १४॥

१. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! तू **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **छादयसि**=सुरक्षितरूप में रखती है, **पशुभिः सह**=गौ आदि पशुओं के साथ **पुरुषान्**=इस घर के पुरुषों को भी सुरक्षित रखनेवाली है। नियमपूर्वक अग्निहोत्र होने से रोग नहीं होते और सभी स्वस्थ रहते हैं। २. हे शाले! हम **ते पाशान्**=तेरे जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जिस घर में नियमपूर्वक अग्निहोत्र होता है, वहाँ सब पुरुष और पशु स्वस्थ रहते हैं। प्रशस्त प्रजाओंवाले इस घर के बन्धनों को हम सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—पञ्चपदातिशक्वरी ॥

द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष

अ॒न्त॒रा द्यां च॑ पृ॒थि॒वीं च॒ यद् व्यच॒स्तेन॒ शाला॒ं प्रति॑ गृह्णामि त इ॒माम्।
यद॒न्तरि॑क्षं॒ रज॑सो वि॒मान॒ं तत्कृ॑ण्वे॒ऽहमु॒दरं॑ शेव॒धिभ्य॑:।
तेन॒ शाला॒ं प्रति॑ गृह्णामि॒ तस्मै॑॥ १५॥

१. **द्यां च पृथिवीं च अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवी लोक के बीच में **यत् व्यचः**=जो विस्तार है, **तेन**= उसी विस्तार के हेतु से **ते**=तेरे लिए **इमां शालाम्**=इस शाला को **प्रति गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। इस मन्त्रभाग से यह स्पष्ट है कि निवासगृह एकमंजिला ही शोभा देता है, जिसके ऊपर आकाश है और नीचे पृथिवी है। ऐसे घर में सूर्य का प्रकाश सुविधा से पहुँचेगा। यह सूर्यप्रकाश रोगकृमियों को न पनपने देगा। २. **यत्**=जो **रजसः**=इस गृहलोक का (लोका रजांसि उच्यन्ते—नि० ४।९) **अन्तरिक्षम्**=मध्यभाग **विमानम्**=विशेष मानपूर्वक निर्मित हुआ है, **तत्**=उसे **अहम्**=मैं **शेवधिभ्यः**=कोशों के लिए—धन के रक्षण के लिए **उदरं कृण्वे**=पेट के समान करता हूँ। इस गृह के मध्य में धन के रक्षण के लिए सुगुप्त स्थान है, **तेन**=उसी कारण से **तस्मै**=उस धन-रक्षण के लिए मैं **शालां प्रतिगृह्णामि**=इस गृह को स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—मकान विशेष मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें सूर्य का प्रकाश और वायु सम्यक् आ सकें, अतः इसकी छत पर आकाश हो, फर्श के नीचे पृथिवी, अर्थात् सामान्यतः यह एक मंजिला ही हो। मध्य में कोश को सुरक्षित रखने के लिए एक गुप्त तलघर (उदर) हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती

ऊर्ज॑स्वती॒ पय॑स्वती पृथि॒व्यां निमि॑ता मि॒ता।
वि॒श्वा॒न्नं बिभ्र॑ती शाले॒ मा हिं॑सीः प्रतिगृह्ण॒तः॥ १६॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **ऊर्जस्वती**=अन्न और रसवाली है, **पयस्वती**=प्रशस्त दूध से परिपूर्ण है। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=बड़े माप से **निमिता**=बनाई गई है। २. **विश्वान्नम्**=सब अन्नों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई तू **प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः**=तुझे स्वीकार करनेवालों का हिंसन मत कर।

भावार्थ—हमारे घर अन्न, रस व दुग्ध से परिपूर्ण हों। ये बड़े मापकर बने हुए घर अन्नों

को धारण करते हुए, इनमें रहनेवाले हम लोगों का हिंसन न करें।

सूचना—घरों में मांस का स्थान नहीं। मांस आया और स=वह माम्=मुझे ही खाता है (मां-स)।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

पद्वती हस्तिनी इव

तृणैरावृ॑ता पलदान्वसा॑ना रात्री॑व शाला जग॑तो निवेश॑नी।
मिता पृ॑थिव्यां ति॑ष्ठसि हस्तिनी॑व प॒द्वती॑॥ १७॥

१. यह **शाला**=गृह **तृणैः आवृता**=तृणों से आच्छादित है, **पलदान् वसाना**=चटाईयों को ओढे हुए है—इसकी छत तथा दीवारें तृणों व पलदों से बनी हुई हैं। यह **रात्रीः इव**=रात्रि के समान **जगतः निवेशनी**=गतिशील प्राणियों को अपने में निवास देनेवाली है। दिनभर कार्य करके थके हुए लोग रात्रि में घर में आश्रय पाते हैं। २. हे शाले! तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=मापकर बनाई हुई **तिष्ठसि**=इसप्रकार स्थित है **इव**=जैसेकि **पद्वती हस्तिनी**=प्रशस्त (सुदृढ़) पाँवोंवाली हथिनी स्थित होती है।

भावार्थ—इस घर पर घास का छप्पर रक्खा है, चारों ओर चटाईयों के वेष्टन हैं। सब स्थान प्रमाण से बने हैं। इसप्रकार का यह घर सुदृढ़ स्तम्भों पर इसप्रकार सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हथिनी अपने चार पाँवों पर।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्यप्रकाश के लिए द्वार का खुलना

इट॑स्य ते वि चृ॑ताम्यपि॑नद्धमपोर्णुवन्।
वरु॑णेन समु॑ब्जितां मि॒त्रः प्रा॒तर्व्यु॑ब्जतु॥ १८॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **इटस्य अपिनद्धम्**=(इट गतौ, गमनागमन स्थानस्य—क्षेम०) गमनागमन द्वार के बन्धन को **अपोर्णुवन्**=समय-समय पर खोलता हुआ **विचृतामि**=पुनः विशेरूप से ग्रथित करता हूँ। द्वार के खोलने और बन्द करने का ध्यान रखता हूँ। २. **वरुणेन समुब्जिताम्**=आवरक अन्धकार से आवृत हुई-हुई तुझ शाला को **प्रातः**=रात्रि की समाप्ति पर प्रातः **मित्रः**=सूर्य **व्युब्जतु**=पुनः प्रकाशमय कर दे।

भावार्थ—हमारी शालाओं के द्वार अन्धकार के समय बन्द होकर प्रातः सूर्य के प्रकाश के स्वागत के लिए खुल जाएँ। घर में सूर्य का प्रकाश सम्यक् प्रवेश पाये।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सौम्यं सदः

ब्रह्म॑णा शालां निर्मि॑तां क॒विभि॒र्निर्मि॑तां मि॒ताम्।
इन्द्रा॒ग्नी र॑क्षतां शाला॑ममृतौ॑ सो॒म्यं सदः॑॥ १९॥

१. **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **निमिताम्**=बनाई गई **कविभिः मितां निमिताम्**=ज्ञानियों से मापी गई और मानपूर्वक बनाई गई इस **शालाम्**=शाला को **इन्द्राग्नी रक्षताम्**=बल और प्रकाश रक्षित करनेवाले हों। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। इस **शालाम्**=शाला को **अमृतौ**=विषय-वासना के पीछे न मरनेवाले—विषयों से अनाक्रान्त पति-पत्नी (माता-पिता) रक्षित करें। २. **सदः**=यह घर **सोम्यम्**=सौम्य न कि आग्नेय भोजनों से युक्त हो। सौम्य भोजन इस घर में रहनेवालों को 'अमृत'—नीरोग व दीर्घजीवी बनाएँ।

भावार्थ—घर ज्ञानियों द्वारा ज्ञानपूर्वक मापकर बनाया जाए। इस घर में 'बल व प्रकाश'

दोनों तत्त्वों को सिद्ध करने का यत्न किया जाए। सौम्य भोजनों का ही प्रयोग करते हुए यहाँ के लोग नीरोग व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विश्व प्रजनन

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद्विश्वं प्रजायते॥ २०॥

१. 'कुलम् अयते अत्र' इस व्युत्पत्ति से कुलाय शब्द 'एक परिवार के रहने के स्थान' का वाचक है। **कुलाये अधि**=एक कुलाय पर **कुलायम्**=कुलाय तथा **कोशे**=एक कोश पर **कोशः**=दूसरा कोश **समुब्जितः**=सम्यक् आवृत्त हुआ-हुआ है। एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के मकान में रहता है तो दूसरा ऊपर रह रहा है। २. **तत्र**=वहाँ **मर्तः**=मनुष्य **विजायते**=विशिष्टरूप से अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करता है, **यस्मात् विश्वं प्रजायते**=जिससे कोई भी सन्तान असर्वाङ्ग (अ-विश्व, विकलांग) उत्पन्न नहीं होती—सब सन्तान सर्वाङ्ग ही होती हैं।

भावार्थ—एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के गृह में रहता है तो दूसरा ऊपर के। सब मिलकर प्रेम से अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं, परिणामतः इनकी सब सन्तानें सर्वाङ्ग ही होती हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः ॥

द्विपक्षा-दशपक्षा

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवा शये॥ २१॥

१. **या द्विपक्षा**=जो शाला दो पक्षों—कक्षागृहोंवाली है, **चतुष्पक्षा**=चार कक्षागृहोंवाली है, **या**=जो **षट्पक्षा निमीयते**=छह कक्षागृहोंवाली मानपूर्वक बनाई गई है। जो शाला **अष्टापक्षाम्**=आठ कक्षागृहोंवाली है, **दशपक्षां शालाम्**=और जो दस पक्षोंवाली शाला है, जो शाला **मानस्य पत्नीम्**=मान का रक्षण करनेवाली है, अर्थात् बड़े माप से बनाई गई है, उसमें मैं इसप्रकार **आशये**=निवास करता हूँ **इव**=जैसेकि **अग्निः**=जाठराग्नि **गर्भे**=उदर में निवास करती है अथवा जैसे जाठराग्नि और गर्भस्थ बालक अपने-अपने स्थान में सुरक्षित रहते हैं।

भावार्थ—परिवार के छोटे-बड़े होने के अनुसार शाला दो से दस कक्षागृहों तक बनाया जा सकता है। ये सब कक्षागृह बड़े माप से बने हों। इनमें हम अतिशयेन सुरक्षितरूप में निवास करें।

सूचना—पं० जयदेवजी शर्मा के अनुसार 'अग्निर्गर्भइव' का अर्थ यह है कि जैसे 'गर्भः अग्निः' गर्भस्थ बालक मातृगर्भ में सुरक्षित रहता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अग्निः आपः

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्।
अग्निर्ह्य१न्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः॥ २२॥

१. हे **शाले**=गृह! **प्रतीचीम्**=मेरे सम्मुख स्थित हुई-हुई **अहिंसतीम्**=किसी भी प्रकार से हिंसन न करती हुई **त्वा**=तेरे प्रति **प्रतीचीनः**=मुख किये हुए आता हुआ **प्र एमि**=तुझे प्राप्त होता हूँ। **अन्तः हि**=तेरे अन्दर निश्चय से **अग्निः आपः च**=अग्नि और जल—दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं जोकि **ऋतस्य**=यज्ञ के **प्रथमा द्वाः**=मुख्य द्वार हैं। प्रत्येक यज्ञ की सिद्धि के लिए 'अग्नि और

जल' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अनुकूल परिस्थितिवाले घरों को प्राप्त हों। इन घरों में रोगादि से किसी भी प्रकार हमारा हिंसन न हो। घरों में 'अग्नि और जल' दोनों तत्त्व सुलभ हों, क्योंकि इन्हीं के द्वारा सब यज्ञ सिद्ध होंगे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अयक्ष्माः, आपः, अमृता अग्निः

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ २३॥

१. **इमाः आपः**=इन जलों को जोकि **अयक्ष्माः**=रोगरहित हैं—जिनमें किन्हीं रोगकृमियों के होने की आशंका नहीं है और जो **यक्ष्मनाशनीः**=रोगों का नाश करनेवाले हैं, उन जलों को **प्रभरामि**=मैं घर में प्रकर्षेण प्राप्त कराता हूँ। २. मैं **गृहान्**=इन घरों को **उपप्रसीदामि**=समीपता से, प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त होता हूँ—इन घरों में प्रसन्नतापूर्वक स्थित होता हूँ जोकि **अमृतेन अग्निना सह**=कभी न मरनेवाली—कभी न बुझनेवाली व नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि के साथ हैं—यज्ञाग्नि से युक्त हैं।

भावार्थ—हमारे घर रोगनाशक जलों से युक्त हों तथा इन घरों में नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

घर, न कि सतत बन्धन

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥ २४॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **नः पाशं मा प्रतिमुचः**=हमारे लिए बन्धन करनेवाला न हो—हम सदा घर में ही बँधे न रह जाएँ। **गुरुः भारः**=एक घर का भार बहुत है, **लघुः भव**=प्रभुकृपा से यह हल्का हो जाए। हम गृहस्थ के बोझ को उठाने में समर्थ हों और धीरे-धीरे अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए हल्के हो सकें। २. हे शाले! इसप्रकार उत्तरदायित्व के बोझ से रहित होकर अब हम इसी प्रकार तुझे **यत्र कामम्**=इच्छानुसार जहाँ-तहाँ **भरामसि**=ले-जानेवाले हों, **इव**=जिस प्रकार कि हम एक दिन **वधूम्**=वधू को पितृगृह से इच्छानुसार अपने घर में लाये थे। एक दिन हम गृहस्थ बने थे। अब गृहस्थ के बोझ को सम्यक् उठाने के बाद वनस्थ होते हुए घर के बन्धन से मुक्त होते हैं तथा इच्छानुसार किसी अन्य स्थान में डेरा डालते हैं।

भावार्थ—घर हमारे लिए सदा के लिए बन्धन न हो जाएँ। गृहस्थ का बोझ धीमे-धीमे हल्का होता जाए। अन्ततः इस बोझ का निर्वहन करके हम वनस्थ होकर इच्छानुसार स्थानान्तर में बसेरा करें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः॥ देवता—शाला॥ छन्दः—२५, ३१ त्रिपदाप्रजापत्याबृहती, २६ त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप्, २७-३० त्रिपदाप्रतिष्ठानामगायत्री (एकावसाना)

प्रभु-नमन—देववन्दन

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये भ्यः॥ २५॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये भ्यः॥ २६॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये भ्यः॥ २७॥

उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ २८॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ २९॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३१॥

१. **शालायाः**=इस शाला की **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से **महिम्ने नमः**=उस प्रभु की महिमा के लिए हम नतमस्तक हों और साथ ही **स्वाह्येभ्यः**=(सु आह) उत्तम शब्द बोलने योग्य—प्रशस्य **देवेभ्यः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुषों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशस्त शब्दों को कहें—विद्वानों का समुचित आदर करें। २. इसी प्रकार **शालायाः**=शाला की दक्षिण दिशा से, **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **उदिच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुव (नीचे की) दिशा से **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से तथा **दिशःदिशः**=सब दिशाओं-प्रदिशाओं से हम उस प्रभु की महिमा के लिए नतमस्तक हों और प्रशंसनीय देवों के लिए प्रशंसा के शब्दों को कहें।

भावार्थ—हमारे घरों में सर्वत्र प्रभु की महिमा के प्रति नमन हो तथा वन्दनीय विद्वानों का उचित समादर हो।

विशेष—घर में ब्रह्म की महिमा के प्रति सदा नतमस्तक होता हुआ तथा देववन्दन करता हुआ यह उन्नत होता हुआ 'ब्रह्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह ऋषभ नाम से प्रभु-स्तवन करता है—

४ [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'साहस्रः-उस्रियः' प्रभु

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन्बार्हस्पत्यउस्रियस्तन्तुमातान्॥ १॥

१. **साहस्रः**=सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं व अनन्त सामर्थ्यों से युक्त **त्वेषः**=कान्तिमान् **ऋषभः**=(ऋष गतौ दर्शने च) सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा, **पयस्वान्**=प्रशस्त आप्यायनवाले—आनन्दरस से परिपूर्ण वे प्रभु **विश्वा रूपाणि**=समस्त लोकों व प्राणियों को **वक्षणासु बिभ्रत्**=अपनी कोखों में धारण किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में हैं। २. वे प्रभु **दात्रे**=दानशील अथवा आत्म-समर्पण करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील उपासक के लिए **भद्रं शिक्षन्**=कल्याण करनेवाले हैं। वे **बार्हस्पत्यः**=आकाश आदि महान् लोकों के स्वामी **उस्रियः**=सब लोकों को अपने अन्दर बसानेवाले **तन्तुम्**=इस ब्रह्माण्ड तन्तु को **आतान्**=चारों ओर विस्तृत कर रहे हैं (अतानीत्)।

भावार्थ—वे प्रभु 'साहस्र, त्वेष, ऋषभ व पयस्वान्' हैं। वे सब लोकों को अपनी कोख में धारण किये हुए हैं। समर्पण करनेवाले यजमान का वे कल्याण करते हैं। वे सब लोकों के स्वामी, सबको अपने में बसानेवाले प्रभु, इस संसार-तन्तु का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपां प्रतिमा

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु॥ २॥

१. **यः**=जो **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **अपाम्**=प्रजाओं का (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **प्रतिमा बभूव**=निर्माता (Maker, Creator) हुआ (महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारे, मनवस्तथा। मद्भावा मनसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥) वह **देवी पृथिवी इव**=इस दिव्य गुणोंवाली, सब पदार्थों को देनेवाली पृथिवी के समान **सर्वस्मै प्रभूः**=सबके लिए—सबको आधार देने के लिए समर्थ है। २. वह **वत्सानाम्**=(वदति) स्तवन करनेवालों का अथवा वेदवचनों का उच्चारण करनेवालों का **पिता**=रक्षक है। **अघ्न्यानाम्**=अहन्तव्य वेदवाणियों के **पतिः**=वे प्रभु स्वामी हैं। सब वेदवाणी प्रभु में ही निवास करती हैं। ये प्रभु **साहस्त्रे पोषे**=सहस्त्रों पराक्रमों से युक्त पोषण में **नः कृणोतु**=हमें करें, अर्थात् सब प्रकार से हमें पुष्ट करें।

भावार्थ—प्रभु सर्गारम्भ में अमैथुनी सृष्टि को जन्म देते हैं, सबका धारण करते हैं, स्तोताओं के रक्षक हैं, वेदवाणियों के पति हैं। वे हमें सहस्त्रों प्रकार से पुष्ट करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुमान् पयस्वान्' प्रभु

पुमानन्तर्वान्त्स्थविरः पयस्वान्वसोः कबन्धमृषभो बिभर्ति।
तमिन्द्राय पथिभिर्देवयानैर्हुतमग्निर्वहतु जातवेदाः॥ ३॥

१. **पुमान्**=(पू) सबको पवित्र करनेवाले, **अन्तर्वान्**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने में धारण किये हुए **स्थविरः**=स्थिर—कूटस्थ, **पयस्वान्**=आनन्दरसवाले, **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **वसोः**=सबको बसानेवाले संसार के **क-बन्धम्**=सुखमय बन्धन को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। इसमें आसक्ति, अतियोग व व्यवहार का दोष दुःखों को पैदा करता है। २. **तं हुतम्**=उस सर्वप्रद प्रभु को (हु दाने) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए **जातवेदाः**=उत्पन्न ज्ञानवाला **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **वहतु**=धारण करे। यदि हम ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर देवयान मार्ग से चलेंगे तो क्यों न उस प्रभु को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। अयोग व व्यवहार-दोष से हम इसे दुःखमय बना लेते हैं। ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर हम देवयान मार्गों से चलें तो प्रभु को प्राप्त करेंगे और परमैश्वर्य के भागी होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रतिधुक् पीयूषः' प्रभुः

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम्।
वत्सो जरायु प्रतिधुक्पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः॥ ४॥

१. वे प्रभु **वत्सानां पिता**=स्तुतिवाणियों का उच्चारण करनेवालों के रक्षक हैं, **अघ्न्यानां पतिः**=अहन्तव्य—नित्य स्वाध्याय के योग्य वेदवाणियों के स्वामी हैं, **अथो**=और **महताम्**=महनीय—आदरणीय **गर्गराणाम्**=ज्ञानोपदेष्टाओं के भी वे प्रभु **पिता**=पिता हैं—गुरुओं के भी गुरु हैं (**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**)। २. वे प्रभु **वत्सः**=(वदति) सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान का उपदेश देनेवाले हैं, **जरायुः**=गर्भ वेष्टनचर्म के समान हैं—सारे ब्रह्माण्ड को अपने में आवृत्त किये हुए हैं, **प्रतिधुक्**=प्रत्येक पिण्ड में उस-उस शक्ति का प्रपूरण करनेवाले हैं। सूर्य में प्रभा, चन्द्र में ज्योत्स्ना, पृथिवी में पुण्य गन्ध, जलों में रस, अग्नि में तेज, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज और बलवानों में बल के स्थापित करनेवाले प्रभु ही हैं। **पीयूषः**=(पीय् प्रीतौ)

वे भक्तों को अवर्णनीय आनन्द से प्रीणित करनेवाले हैं, **आमिक्षा**=(आ मेषति, मिषु सेचने) सर्वत्र आनन्द का सेचन करनेवाले हैं। जहाँ कहीं भी **घृतम्**=(घृ दीप्तौ) दीप्ति है **उ**=और **रेतः**=शक्ति है, **तत् अस्य**=वह सब उस प्रभु की ही तो है।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के रक्षक, अहन्तव्य वेदवाणियों के स्वामी, महनीय ज्ञानोपदेष्टाओं के पिता, वेदज्ञान के उपदेष्टा, सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर करनेवाले, प्रत्येक पदार्थ में उस-उस शक्ति का पूरण करनेवाले, भक्तों को अलौकिक आनन्द से प्रीणित करनेवाले, सर्वत्र सुखों के वर्षक हैं। सब दीप्ति व शक्ति प्रभु की ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शरीरं बृहन् अद्रिः

देवानां भाग उपनाह एषो३पां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्॥ ५॥

१. वे प्रभु **देवानां भागः**=दिव्यवृत्ति के सब पुरुषों से सेवनीय हैं (भज सेवायाम्)। **एषः**=यह **उपनाहः**=(नह बन्धने) संसार के सब पिण्डों को एक सूत्र में बाँधनेवाला है—सूत्रों का सूत्र है। **अपाम्**=जलों का, **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **घृतस्य**=घृत का **रसः**=रस प्रभु ही हैं। २. **शक्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु हम पुत्रों के लिए **सोमस्य भक्षम्**=सोम के भोजन को **अवृणीत**=वरते हैं, अर्थात् प्रभु हमारे लिए सौम्य भोजनों को ही नियत करते हैं। इस भोजन से **यत् शरीरम्**=जो यह शरीर है, वह **बृहन् अद्रिः**=एक बड़े पर्वत की भाँति **अभवत्**=हो जाता है। यह शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति शरीर में सुरक्षित होती हुई शरीर को सुदृढ़ बनाती है।

भावार्थ—प्रभु दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों से उपासनीय हैं, सब लोकों को एक सूत्र में बाँधनेवाले हैं। जल, ओषधि व घृत में रसरूप में रह रहे हैं। सौम्य भोजनों के द्वारा हमारे शरीरों को सुदृढ़ बनाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

याः इमाः, याः अमूः

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्य१स्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः॥ ६॥

१. हे प्रभो! आप गतमन्त्र में वर्णित सौम्य भोजनों के द्वारा उत्पन्न **सोमेन पूर्णम्**=सोम से पूर्ण **कलशम्**=इस शरीरकलश को **बिभर्षि**=धारण करते हो। आप ही **रूपाणां त्वष्टा**=सब रूपों के निर्माता हैं—इन रूपवान् पिण्डों को बनानेवाले हैं और **पशूनां जनिता**=सब प्राणियों के उत्पादक हैं। २. हे प्रभो! **याः इमाः ते प्रजन्वः**=जो ये आपकी प्रजनन शक्तियाँ हैं, वे **इह शिवाः सन्तु**=यहाँ कल्याणकारक हों। हे **स्वधिते**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! **याः अमूः**=जो वे आपकी धारणशक्तियाँ हैं, उन्हें **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **नियच्छ**=निश्चय से दीजिए। '**याः इमाः**' से शारीरिक शक्तियों के विकास का संकेत है और '**याः अमूः**' से आत्मिक शक्तियों के विकास का। प्रभु हमें दोनों ही शक्तियाँ प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर-कलशों को सोम (वीर्य) से पूर्ण करके धारण करते हैं। सब पिण्डों का निर्माण करते हैं और सब प्राणियों को जन्म देते हैं। प्रभु की प्रजनन शक्तियाँ हमारे शरीरों का कल्याण करें और हमें आत्मिक विकास की शक्तियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ऋषभः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'शिवः दत्तः' प्रभु

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्त्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान्देवाः शिव ऐतु दत्तः॥ ७॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **घृतम्**=ज्ञान-दीप्ति हमारे जीवनों में **आज्यम्**=कान्ति को (अञ्ज कान्तौ) **बिभर्ति**=धारण करती है। (अस्य) रेतः=प्रभु के द्वारा हमारे शरीरों में उत्पन्न किया हुआ वीर्य **साहस्त्रः पोषः**=सहस्त्रों प्रकार से हमारा पोषण करनेवाला है। **तम् उ**=उस प्रभु को ही निश्चय से **यज्ञम्**=पूजनीय व संगति करने योग्य **आहुः**=कहते हैं। यह प्रभु का मेल ही हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराता है। २. **सः**=वह **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली के **रूपम्**=रूप को **वसानः**=धारण करता हुआ **अस्मान् आ एतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। हे **देवाः**=विद्वानो! वे प्रभु **शिवः**=कल्याणकर हैं, और **दत्तः**=(दत्तम् अस्य अस्ति) सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को कान्त बनाता है। प्रभु से दी गई शक्ति हमारा बहुत प्रकार से रक्षण करती है। वे प्रभु ही उपास्य हैं। परमैश्वर्यवाले वे प्रभु हमें प्राप्त हों। वे प्रभु सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं और हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ऋषभः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

धीरासः, कवयः, मनीषिणः

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः॥ ८॥

१. वे प्रभु **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **ओजः**=बल हैं, जितेन्द्रिय पुरुष में बल के रूप में रहते हैं, **वरुणस्य**=पाप से अपना निवारण करनेवाले की **बाहू**=भुजाएँ हैं (बाह प्रयत्ने)। वस्तुतः प्रभु से ही उसे पापनिवारक शक्ति प्राप्त होती है। **अश्विनोः**=कर्मों में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) रहनेवाले पति-पत्नी के वे प्रभु **अंसौ**=कन्धों के समान हैं। प्रभुकृपा से ही वे कर्मव्याप्त पति-पत्नी अपने कन्धों पर गृहस्थ-भार को उठाने में समर्थ होते हैं। **मरुताम्**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणः) प्राणसाधक व मितभाषी—कर्मशूर पुरुषों के **इयं ककुत्**=ये प्रभु शिखर हैं, अर्थात् इन्हें वे शिखर पर पहुँचानेवाले हैं। २. **एतम्**=इस प्रभु को **बृहस्पतिम्**=आकाश आदि सब बड़े-बड़े लोकों का स्वामी तथा **संभृतम्**=उनका सम्यक् भरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। **ये**=जोकि **धीरासः**=धीर हैं (धी+ईर्), बुद्धिपूर्वक गति करनेवाले हैं, **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वदर्शी हैं व **मनीषिणः**=(मनसः ईशते) मन का शासन करनेवाले हैं, वे पुरुष प्रभु को ऐसा ही कहते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों के स्वामी व सम्यक् भरण करनेवाले हैं। वे जितेन्द्रिय पुरुष को शक्ति देते हैं, पाप-निवारण की वृत्तिवाले को पाप-निवारण में समर्थ करते हैं, कर्मव्याप्त पति-पत्नी को गृहस्थ-भार उठाने में समर्थ करते हैं तथा प्राणसाधक मितरावी पुरुषों को शिखर पर पहुँचाते हैं। 'धीर, कवि व मनीषी' प्रभु को इसी रूप में देखते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ऋषभः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'इन्द्र सरस्वान्' प्रभु

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः॥
सहस्त्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ ९॥

१. हे प्रभो! **पयस्वान्**=सब शक्तियों के दृष्टिकोण से आप्यायनवाले आप **दैवीः विशः**=दिव्य गुणयुक्त प्रजाओं को **आतनोषि**=चारों ओर विस्तृत करते हैं। प्रभु का सम्पर्क प्रजाओं को दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली **आहुः**=कहते हैं। **त्वाम्**=आपको ही **सरस्वन्तम्**=ज्ञानों के प्रवाहवाला—सरस्वती का पति कहते हैं। २. **यः**=जो **ब्राह्मणे**=इस वेदज्ञान में (ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्रों में) **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को ग्रहण करता है (हु आदाने), **सः**=वह **एकमुखाः**=एक ब्रह्म ही जिनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, उन **सहस्रम्**=हज़ारों वेदवाणियों को **ददाति**=जनहित के लिए देनेवाला होता है।

भावार्थ—शक्तियों के आप्यायनवाले प्रभु प्रजाओं को दिव्य गुणयुक्त करते हैं। प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। जो भी व्यक्ति वेदवाणियों में प्रभु का ग्रहण करता है, वह प्रभु के द्वारा प्रतिपादित इन शतशः वेदवाणियों को लोकहित के लिए देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'बृहस्पति, सविता, त्वष्टा, वायु' प्रभु

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः**=वह आकाशादि महान् लोकों का स्वामी, **सविता**=सर्वोत्पादक प्रभु **ते वयः दधौ**=तेरे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। उस **त्वष्टुः**=सर्वनिर्माता **वायोः**=गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले प्रभु से **ते आत्मा**=तेरा आत्मा **परि आभृतः**=समन्तात् पुष्ट किया गया है। २. हे प्रभो! मैं **अन्तरिक्षे**=अपने हृदयान्तरिक्ष में **मनसा**=मनन के द्वारा **त्वा**=आपके प्रति **जुहोमि**=अपने को अर्पित करता हूँ। **ते**=आपके बनाये हुए **उभे द्यावापृथिवी**=ये दोनों मस्तिष्क व शरीर **बर्हिः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धिवाले **स्ताम्**=हों। आपके अनुग्रह से मैं अपने मस्तिष्क व शरीर को वृद्धियुक्त कर पाऊँ।

भावार्थ—वह 'बृहस्पति, सविता' प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। 'त्वष्टा, वायु' हमारे आत्मा का पोषण करें। हम मनन द्वारा प्रभु को हृदय में धारण करें—हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों वृद्धिशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया

य इन्द्रइव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवेषु इन्द्रः इव**=देवों में इन्द्र के समान हैं। इन्द्रियाँ देव हैं, इनका अधिष्ठाता जीवात्मा 'इन्द्र' है। जैसे इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव है, उसी प्रकार प्रभु सूर्यादि देवों का अधिष्ठाता है। ये प्रभु **गोषु**=वेदवाणियों में **विवावदत्**=खूब ही ज्ञानोपदेश करते हुए **एति**=गति करते हैं—हमें प्राप्त होते हैं। २. **तस्य**=उस **ऋषभस्य**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु के **अङ्गानि**=अङ्गों का **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् **भद्रया संस्तौतु**=कल्याणी वेदवाणी द्वारा स्तवन करे।

भावार्थ—प्रभु सूर्यादि देवों के इसप्रकार अधिष्ठाता हैं, जैसेकि जीवात्मा इन्द्रियों का। वे प्रभु वेदवाणी द्वारा हमें कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं। ब्रह्मा प्रभु का वर्णन करने में आनन्द का अनुभव करे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ऋषभः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विराट् प्रभु का दर्शन

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति॥ १२॥
भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः॥ १३॥
गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन्।
उत्थातुरब्रुवन्पद ऋषभं यदकल्पयन्॥ १४॥
क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत्सर्व ऋषभं व्यकल्पयन्॥ १५॥

१. ब्रह्मा प्रभु के विराट् शरीर की कल्पना इसप्रकार करता है कि उस विराट् पुरुष के **पार्श्वे**=दोनों पार्श्व **अनुमत्याः आस्ताम्**=अनुमति के हैं—एक कला से हीन पूर्णिमा के चाँद के हैं (कलाहीने सानुमतिः) **अनूवृजौ**=पसलियों के दोनों भाग **भगस्य आस्ताम्**=सूर्य के हैं। **मित्रः इति अब्रवीत्**=प्राणवायु ने यह कहा है कि उस विराट् के **एतौ अष्ठीवन्तौ**=ये घुटने तो **केवलौ मम**=केवल मेरे ही हैं। २. **भसत्**=प्रजनन भाग **आदित्यानाम् आसीत्**=आदित्यों का है, **श्रोणी**=कटि के दोनों भाग **बृहस्पतेः आस्ताम्**=बृहस्पति के हैं, **पुच्छम्**=पुच्छ भाग **देवस्य वातस्य**=दिव्य गुणयुक्त वायु का है। **तेन**=वायुनिर्मित पुच्छ से वह **ओषधीः धूनोति**=सब ओषधियों को कम्पित करता है। ३. **गुदाः**=गुदा की नाड़ियाँ **सिनीवाल्याः आसन्**=सिनीवाली (सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली) जिसमें चन्द्रमा की एक कला प्रादुर्भूत हो रही है, उस अमावस की हैं, **त्वचम्**=त्वचा को **सूर्यायाः अब्रुवन्**=सूर्या का (सूर्या—The daughter of the sun—उषा)—उषा का कहते हैं। **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को **यत् अकल्पयन्**=जब विराट् पुरुष के रूप में कल्पित किया—सोचा गया तो **पदः**=उसके पाँवों को **उत्थातुः अब्रुवन्**=उत्थाता—[प्राण का] कहा गया। ४. **जामिशंसस्य**=सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले, मातृरूप प्रभु का शंसन करनेवाले की वे **क्रोडः आसीत्**=गोद हैं। यह भक्त सदा मातृरूप प्रभु की गोद में आनन्दित होता है। यह प्रभु तो **सोमस्य कलशः**=सोम का—आनन्दरस का कलश ही **धृतः**=धारण किया गया है। **यत्**=जब **सर्वे देवाः**=सब देव **संगत्य**=मिलकर **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को **व्यकल्पयन्**=एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पित करते हैं, तब उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्मा द्वारा उस प्रभु के अङ्गों का प्रतिपादन होता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड के सब पिण्ड उस विराट् पुरुष के विविध अङ्गों के रूप में है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ऋषभः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वस्तुमात्र की अव्यर्थता

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन्॥ १६॥

१. **ते**=उन दोनों ने **कुष्ठिकाः**=(A kind of poison) शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले विषों को **सरमायै**=सरमा (शुनी) के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये विषतुल्य शरीराङ्ग भी कुत्तों के लिए ग्राह्य रसोंवाले बन जाते हैं—वे उन्हें चबाते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। **शफान्**=खुरों को **कूर्मेभ्यः**=कछुओं के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये पशुओं के खुर भी इनका भोजन बन

जाते हैं। तथा **अस्य**=इस प्रभु की व्यवस्था से पेट में रह जानेवाले **ऊबध्यम्**=अजीर्ण अन्न को भी **श्ववर्तेभ्यः**=(श्वः वर्तन्ते) एक-दो दिन जीनेवाले **कीटेभ्यः**=कीटों के लिए **अधारयन्**=धारण किया।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से इस संसार में होनेवाले 'कुष्ठिका, शफ, ऊबध्य' आदि मलभूत पदार्थ भी किन्हीं प्राणियों के लिए भोजन बन जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान व सुन्दर जीवन

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः॥ १७॥

१. **यः**=जो भी **गवां पतिः**=वेदवाणियों का स्वामी बनता है, वह **अघ्न्यः**=विषय-वासनाओं से अहन्तव्य होता है। यह वैषयिक वृत्तियोंवाला नहीं बनता। **कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति**=कानों से भद्र को ही सुनता है। यह निन्दा की बातों को सुनने में रुचि नहीं लेता। **शृंगाभ्याम्**=(शृणाति) शरीरस्थ दोषों को विनष्ट करनेवाले प्राणापानरूप शृंगों से **रक्षः**=सब रोगकृमियों को **ऋषति**=नष्ट कर देता है तथा **चक्षुषा**=ज्ञानदृष्टि से **अवर्तिं हन्ति**=दौर्भाग्य (bad fortune, poverty, distress, want) को दूर भगाता है।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्येता 'विषयों में नहीं फँसता, कानों से सदा शुभ सुनता है, प्राणसाधना द्वारा रोगकृमियों का विनाश करता है तथा ज्ञानदृष्टि से दौर्भाग्य को दूर करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'प्रभुस्मरण' व 'स्वस्थ, पवित्र जीवन'

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ १८॥

१. **यः ब्राह्मणे**=जो ब्रह्मज्ञान के निमित्त **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को अपने में अर्पित करता है, अर्थात् प्रभु को अपने हृदय में स्थापित करने के लिए यत्नशील होता है, **सः**=वह **शतयाजं यजते**=शतवर्षपर्यन्त यज्ञों को करनेवाला होता है। **एनम्**=इस प्रभु-स्मरणपूर्वक यज्ञ करनेवाले व्यक्ति को **अग्नयः**=अग्नियाँ न **दुवन्ति**=सन्तप्त नहीं करतीं, अर्थात् यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तापों से पीड़ित नहीं होता। २. **तम्**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देव **जिन्वन्ति**=प्रीणित करनेवाले होते हैं। सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देवों की अनुकूलता से यह यज्ञशील उपासक पूर्ण स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ऐसा करने पर हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम कष्टाग्नियों से पीड़ित नहीं होंगे और सूर्यादि सब देवों की अनुकूलता से हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋषभ-दान

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते॥ १९॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए **ऋषभं दत्वा**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को—

प्रभु का ज्ञान देकर यह उपदेष्टा **मनः वरीयः कृणुते**=अपने हृदय को विशाल (उदार) बनाता है। ज्ञान का आदान-प्रदान इन ज्ञानियों के मनों को उदार व पवित्र करता है। २. **सः**=वह ज्ञानोपदेष्टा **स्वे गोष्ठे**=अपने गोष्ठ में (An assembly), अपनी सभाओं में **अघ्न्यानाम्**=इन अहन्तव्य वेदवाणियों की **पुष्टिम्**=पुष्टि को **अवपश्यते**=देखता है। इनकी सभाओं में इन ज्ञान की वाणियों की ही चर्चा होती है और उस प्रकार इन्हीं का प्रसार होता है।

भावार्थ—हम गोष्ठियों में अहन्तव्य वेदवाणियों की ही चर्चा करें। ब्रह्मज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए विशाल व पवित्र हृदयोंवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गावः प्रजाः तनूबलम्

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ २०॥

१. इस **ऋषभदायिने**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु का ज्ञान देनेवाले के लिए **गावः सन्तु**=इन्द्रियाँ हों, अर्थात् इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, **प्रजाः सन्तु**=इसे उत्तम सन्तान प्राप्त हों **अथो**=और **तनूबलम् अस्तु**=इसके शरीर का बल ठीक बना रहे। २. **देवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव ब्रह्मज्ञान देनेवाले के लिए **तत् सर्वम्**='इन्द्रियों, प्रजाओं व बल' उन सबको **अनुमन्यन्ताम्**=अनुमत करें। सब देवों की अनुकूलता से ये सब पदार्थ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हम परस्पर ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते हुए सब देवों की अनुकूलता से उत्तम इन्द्रियों, सन्तानों व शरीर-बल को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

चेतनी रयि

अयं पिपान इन्द्र इद्रयिं दधातु चेतनीम्।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः॥ २१॥

१. **अयम्**=यह **पिपानः**=सदा से आप्यायित (वृद्ध) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **चेतनीं रयिम्**=चेतना प्राप्त करानेवाले ज्ञानैश्वर्य को **दधातु**=धारण करे। प्रभुकृपा से हमें वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो जो हमें चेतना प्राप्त करानेवाला है। २. **अयम्**=यह **दिवः परः**=ज्ञान के दृष्टिकोण से सर्वोत्कृष्ट (पर)—सर्वज्ञ प्रभु **वशं विपश्चितम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले ज्ञानी को **धेनुं दुहाम्**=वेद-धेनु को दुहे। 'वश विपश्चित' के लिए प्रभु वेदज्ञान दें। इसके लिए उस वेद-धेनु का दोहन करें जोकि **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन के योग्य है तथा **नित्यवत्साम्**=सदा वत्सवाली है, अर्थात् सदा नवसूतिका होने से सदा ही ज्ञान-दुग्ध देनेवाली है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करनेवाले व ज्ञान में रुचिवाले हों। प्रभु हमें चेतानेवाला ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराएँ और वेदधेनु हमारे लिए सदा नित नया ज्ञान देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयु-प्रजा-धन

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत्प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम्॥ २२॥

१. **पिशङ्गरूपः**=(पिश् to light, irradiate) तेजस्वीरूपवाला **नभसः**=(The sky) आकाशवत् व्यापक (खं ब्रह्म) **वयोधा**=उत्कृष्ट जीवन प्रदाता **ऐन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली (इन्द्र एव ऐन्द्रः),

शुष्मः=बलवान्, **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण पदार्थों का निरूपण करनेवाला (विश्वं रूपयति), सब पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान देनेवाला प्रभु **नः आगन्**=हमें प्राप्त हो। २. ये प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन **च प्रजाम्**=और उत्तम सन्तान प्राप्त कराएँ, **च**=तथा **नः**=हमें **रायः पोषैः**=धनों के पोषणों से **अभिसचताम्**=आभिमुख्येन समवेत करें। प्रभु के अनुग्रह से आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम दीर्घजीवी व उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी, व्यापक, उत्कृष्ट जीवन देनेवाले, परमैश्वर्यशाली, शक्तिमान् व सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। वे हमें आयु, प्रजा व धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतस् व वीर्य

उपेहोपपर्चनास्मिन्गोष्ठ उप पृञ्च नः।
उप ऋषभस्य यद्रेत उपेन्द्र तव वीर्य॑म्॥ २३॥

१. हे **उपपर्चन**=अत्यन्त समीपता से सबके साथ सम्पर्कवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **उप**=आप हमें समीपता से प्राप्त होओ। **अस्मिन् गोष्ठे**=इस ज्ञानसभा में **नः उपपृच**=हमारे साथ सम्पृक्त होओ। ज्ञान-चर्चाओं को करते हुए हम आपके साथ सम्पृक्त हों। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **ऋषभस्य तव**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा आपका **यत्** रेतः=जो प्रजनन सामर्थ्य व **वीर्यम्**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला सामर्थ्य है, वह हमें **उप उप**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—ज्ञानचर्चाओं को करते हुए हम प्रभु से दूर न हों। प्रभु से हमें रेतस् व वीर्य की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

आत्मक्रीड़

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ २४॥

१. हे जीवो! **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **एतं युवानं प्रतिदध्मः**=इस (यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से पृथक् करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले प्रभु के प्रति धारण-करते हैं, अर्थात् प्रभु से तुम्हारा मेल कराते हैं। **तेन**=उस प्रभु के साथ **क्रीडन्तीः**=क्रीड़ा करते हुए तुम **वशान् अनु चरत्**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में प्रभु के साथ गति करो। जितना-जितना तुम इन्द्रियों को वश में करोगे, उतना-उतना ही प्रभु के साथ विचरनेवाले बनोगे। आत्मक्रीड़ बनो, इन्द्रियों को वश में करो तथा प्रभु के साथ विचरो। २. यह आत्मवशी प्रार्थना करता है कि—हे **सुभागाः**=उत्तम ऐश्वर्यवाली वेदवाणियो! आप **नः**=हमें **जनुषा मा हासिष्ट**=जन्म से ही मत छोड़ो, अर्थात् जन्म से ही हमारा तुम्हारे साथ सम्बन्ध बना रहे **च**=तथा **रायः पोषैः**=धन के पोषणों के साथ **नः**=हमें **सचध्वम्**=समवेत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के साथ मेल बनाये रक्खें, आत्मक्रीड़ बनते हुए जितेन्द्रिय बनें। जन्म से ही वेदवाणियों के साथ हमारा सम्बन्ध हो और हम धनों का पोषण प्राप्त करें।

विशेष—वेदवाणियों में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले सूक्त का ऋषि यह भृगु ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तृतीयं नाकम्

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ १ ॥

१. **एतम्**=गतमन्त्र में वर्णित इस 'युवा (प्रभु)' को **आनय**=अपने हृदयदेश में प्राप्त करा और **आरभस्व**= कर्त्तव्य-कर्मों का आरम्भ कर, प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों में लग जा। **प्रजानन्**=ज्ञानवाला होता हुआ पुरुष **सुकृतां लोकम्**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक को **अपि गच्छतु**=प्राप्त हो। २. **महान्ति तमांसि**=महान् अन्धकारों को **बहुधा**=नाना प्रकार से **तीर्त्वा**=तैरकर **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से परे फेंकनेवाला यह 'पञ्चौदन' (पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला) जीव **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर दुःख के अभाववाले तृतीय सुखमय (आनन्दस्वरूप) प्रभु में **आक्रमताम्**=विचरण करे। प्रकृति के भोगों से हम ऊपर उठें तथा जीव के प्रति भी मोह (राग-द्वेष) से दूर हों। इसप्रकार हम आनन्दमय प्रभु में विचरनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए। हम पुण्यकर्मा लोगों के लोकों को प्राप्त करें। अन्धकार से ऊपर उठकर हम प्राकृतिक भोगों व जीव के प्रति राग-द्वेष में न उलझते हुए तृतीय स्थान में स्थित आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इन्द्राय यजमानाय

इन्द्रा॑य भा॒गं परि॑ त्वा नयाम्य॒स्मिन्य॒ज्ञे यज॑मानाय सू॒रिम्।
ये नो॑ द्वि॒षन्त्यनु॒ तान्र॑भ॒स्वाना॑गसो॒ यज॑मानस्य वी॒राः ॥ २ ॥

१. **भागम्**=सेवनीय (भज सेवायाम्) **सूरिम्**=ज्ञानी प्रभु को **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **यजमानाय**= यज्ञशील **त्वा**=तेरे लिए **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **परिनयामि**=प्राप्त कराता हूँ। जितेन्द्रिय व यज्ञशील पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनता है। २. **ये**=जो **नः**=हमें **द्विषन्ति**=अप्रीति से वर्तते हैं, अर्थात् जो दोष हमारे लिए हानिकर होते हैं, **तान् अनु**=उन्हें लक्ष्य करके **रभस्व**=(clasp, embrace) उस प्रभु का आलिंगन करनेवाला बन। प्रभु का आलिंगन इन सब अप्रीतिकर दोषों को दूर कर देगा। इस निर्दोष जीवनवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वीराः**=वीर सन्तान **अनागसः**=निर्दोष होते हैं। वे सन्तान यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व यज्ञशील बनते हुए उस भजनीय, ज्ञानी प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु का आलिंगन हमारे जीवन को निर्दोष बनाएगा। निर्दोष यज्ञशील पुरुष के सन्तान भी निष्पाप ही बनते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—चतुष्पदापुरोऽतिशक्वरी जगती ॥

शुद्धैः शफैः

प्र प॒दोऽव॑ नेनिग्धि दुश्च॑रितं॒ यच्च॒चार॑ शु॒द्धैः श॒फैरा क्र॑मतां प्रजा॒नन्।
ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा वि॒पश्य॑न्न॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! आप इस उपासक के **पदः**=पाँव से **दुश्चरितम्**=दुश्चरित को **प्र+अव+ नेनिग्धि**=प्रकर्षेण दूर धो डालिए, **यत् चचार**=जिस भी दोष को इसने किया है, उस सब

दुश्चरित को इससे पृथक् कीजिए। अब यह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **शुद्धैः शफैः**=(शम् शान्तिकरणे आलोचने च) पवित्र, शान्त विचारों के साथ **आक्रमताम्**=समन्तात् कार्यों में प्रवृत्त हो। २. यह **अजः**=गति के द्वारा मलों को परे फेंकनेवाला जीव **बहुधा विपश्यन्**=बहुत प्रकार से देखता हुआ—यह आलोचना करता हुआ कि उसका यह कार्य किसी की हानि का कारण तो न बनेगा—**तमांसि तीर्त्वा**=अज्ञान-अन्धकारों को तैरकर **तृतीयं नाकम्**=तृतीय—प्रकृति व जीव से ऊपर परमात्मरूप—आनन्दमय मोक्षधाम में **आक्रमताम्**= विचरनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे पाँव दुश्चरित से सदा दूर रहें। हम सदा शान्त विचारों के साथ गति करें। अन्धकारों को तैरकर प्रकाशमय लोकों में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—जगती ॥

श्यामेन असिना

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम्॥ ४॥

१. हे **विशस्तः**=विशेषरूप से प्रभु-शंसन करनेवाले व पापों को काटनेवाले साधक! **एतां त्वचम्**=ज्ञान पर आये हुए मलिनता व अज्ञान के आवरण को तू **श्यामेन**=(श्येङ् गतौ) गतिशील **असिना**=(अस दीप्तौ) ज्ञानदीप्ति से—क्रियायुक्त ज्ञान से **यथापरु**=एक-एक पर्व करके **अनुच्छ्य**=काट डाल। २. इस मलिनता को दूर करके भी **मा अभिमंस्थाः**=अभिमान मत कर, **मा अभिद्रुहः**=किसी भी प्राणी से द्रोह न कर। **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह को **परुशः**=एक-एक पोरी करके **कल्पय**=काट डाला। इसप्रकार **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह से शून्य आत्मा को **तृतीये नाके अधिविश्रय**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय (न अकः) दुःखरहित आनन्दमय प्रभु में आश्रित कर।

भावार्थ—क्रियायुक्त ज्ञान से हम मलिनता के आवरण को नष्ट करें। अभिमान व द्रोह से रहित होकर अपने को प्रभु में स्थापित करें। प्रभु ही 'तृतीय नाक' हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

कुम्भी का अग्नि पर श्रयण

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम्।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः॥ ५॥

१. **ऋचा**=विज्ञान के हेतु से **कुम्भीम्**=इस अपने शरीर-कलश को **अग्नौ अधिश्रयामि**=ज्ञानाग्नि के पुञ्जभूत आचार्य में अधिश्रित करता हूँ। शरीर कलश है, यह सोलह कलाओं का आधार है। आचार्य इसे ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है। एक ब्रह्मचारी ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से आचार्य की ज्ञानाग्नि में परिपक्व होने के लिए अपने को आचार्य के प्रति अर्पित करता है और आचार्य से कहता है कि इस कुम्भीरूप मुझमें **उदकम्**=ज्ञान-जल को **आसिञ्च**=सिक्त कीजिए। **एनम्**=इस मुझे **अवधेहि**=दूषित प्रवृतियों से दूर (अव) स्थापित कीजिए (धेहि)। २. **शमितारः**=(शम् आलोचने) हे उत्तम आलोचन (तत्त्वदर्शन) से युक्त आचार्यो! मुझे **अग्निना**=ज्ञानाग्नि से **परि आधत्त**=चारों ओर से धारण करो। मैं ज्ञानाग्नि में आहित हुआ-हुआ अपने को परिपक्व कर पाऊँ। **शृतः**=ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह आपका शिष्य वहाँ **गच्छतु**=जाए, **यत्र**=जहाँ कि **सुकृतां लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का निवास है, अर्थात् ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह व्यक्ति एक उत्तम गृही बने।

भावार्थ—विज्ञान के हेतु से हम आचार्य के समीप रहते हुए अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें और दूषित प्रवृत्तियों से दूर रहते हुए परिपक्व ज्ञानवाले बनकर सद्गृहस्थ बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तप्त चरु व ज्योतिर्मय लोक

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम्॥ ६॥

१. हे जीव! **चेत्**=यदि तू **अतः**=ज्ञानाग्नि में परिपाकरूप इस कार्य से **परि अतप्तः**=सब प्रकार से सन्तप्त (दुःखी) नहीं हो गया, अर्थात् आचार्यकुल में निवास की तपस्या से तू व्याकुल व निर्विण्ण नहीं हो गया तो **तप्तात् चरोः**=खूब दीप्त ज्ञान के भोजन से (चर गतौ, गतिः=ज्ञानम्) **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति और जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में **अधि उत्क्राम**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। २. हे साधक! तू **अग्नेः अधि**=अग्निरूप आचार्य से **अग्निः संबभूविथ**=अग्नि ही बन गया है। आचार्य ज्ञानाग्नि से दीप्त था, तू भी ज्ञानाग्नि से दीप्त बना है, अतः अब **एतम्**=इस **ज्योतिष्मन्तम्**=प्रकाशमय **लोकम् अभिजय**=लोक को जीतनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्यकुल मे तपस्यापूर्वक निवास करता हुआ ब्रह्मचारी यदि अपने को ज्ञानाग्नि में खूब परिपक्व करता है तो इस संसार में प्राकृतिक भोगों व पारस्परिक कलहों का शिकार न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है और अपने गृहस्थ को भी ज्योतिर्मय बना पाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अज='अग्नि+ज्योति'

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ७॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव **अग्निः**=अग्नि है, यह प्रगतिशील होता है, **उ**=और **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले को **ज्योतिः आहुः**=प्रकाश कहते हैं। यह अज प्रकाशमय जीवनवाला होता है। **जीवता**=जीवन को धारण करनेवाले पुरुष से **अजम्**=इस अज को—जीवात्मा को **ब्रह्मणे**=प्रभु व ज्ञान के लिए **देयम् आहुः**=देने योग्य कहते हैं। हमें चाहिए कि हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें और ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रत् दधानेन दत्तः**=श्रद्धायुक्त पुरुष से प्रभु के प्रति अर्पित किया हुआ **अजः**=आत्मा—गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला व्यक्ति **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को दूर फेंकते हुए गतिशील व ज्योतिर्मय जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए श्रद्धामय जीवनवाले बनकर अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पञ्चौदन

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ ८॥

१. प्रभु ने जीव को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानरूप भोजनों को प्राप्त करने के लिए दी हैं, अतः जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता हुआ 'पञ्चौदन' कहलाता है। यह

पञ्चौदनः=पञ्चौदन जीव **त्रीणि**=तीन **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **आक्रंस्यमानः**=आक्रान्त (प्राप्त) करने की इच्छा करता हुआ **पञ्चधा विक्रमताम्**=पाँच प्रकार से विक्रमवाला हो, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे। प्रकृति का ज्ञान 'प्रथम ज्योति' है, जीव का ज्ञान 'द्वितीय ज्योति' तथा परमात्मा का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। इसे इन तीनों ही ज्योतियों को प्राप्त करना है। यह सम्भव तभी होगा जबकि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति को ही मुख्य उद्देश्य बनाये रक्खेंगी। इनका विषयों की ओर झुकाव होते ही ज्ञान-प्राप्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। २. अतः ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ तू **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **मध्यं प्रेहि**=मध्य में प्राप्त हो। तू भी यज्ञशील व सुकर्मा बनकर अपने को **तृतीये नाके अधिविश्रयस्व**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में स्थापित कर।

भावार्थ—हम पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के कार्य में लगे रहें। यज्ञशील व पुण्यकर्मा बनकर ब्रह्मलोक में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

दुर्ग-लंघन

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति॥ ९॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव! तू **सुकृतां यत्र लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का जहाँ लोक है, वहाँ **आरोह**=आरोहण कर। तू **चत्तः**=(चति याचने, चत्तम् अस्य अस्तीति) याचना—प्रार्थनावाला होता हुआ **शरभः न**=(शॄ हिंसायाम्) शरभ के समान होता है—सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाला होता है। ऐसा तू **दुर्गाणि अति एषः**=(इष् गतौ) सब दुर्गों को—कठिनाइयों को लाँघ जाता है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को प्राप्त करनेवाला जीव **ब्रह्मणे**=प्रभु के लिए **दीयमानः**=दिया जाता है—अर्पित होता है। **दातारम्**=अपने को प्रभु के लिए देनेवाले को **सः**=वे प्रभु **तृप्त्या तर्पयाति**=तृप्ति से प्राणित (आनन्दित) करते हैं। '**सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।**' (मुण्डकोपनिषत्)

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाले बनकर पुण्यकर्मा लोगों के लोक में आरूढ़ हों। प्रार्थनामय जीवनवाले बनकर शरभ के समान शत्रुओं को शीर्ण करते हुए दुर्गों को लाँघ जाएँ। ज्ञान-प्राप्ति में लगकर अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें। इस अर्पण करनेवाले को प्रभु आनन्दविभोर कर देते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—जगती ॥

कामदुघा धेनुः

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघाऽस्येका॥ १०॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव! **ददिवांसम्**=प्रभु के प्रति दे डालनेवाले अपने को **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में **दधाति**=स्थापित करता है। उस आनन्दमय लोक के आधार में स्थापित करता है जोकि **त्रिनाके**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से शून्य है (न+अक=दुःख), **त्रिदिवे**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों के प्रकाशवाला है, **त्रिपृष्ठे**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला जीव **ब्रह्मणे दीयमानः**=उस ब्रह्म के लिए दिया जाता है, यह ब्रह्म के प्रति अपना अर्पण कर डालता है। यह उस ब्रह्म का साक्षात् करते हुए

कह उठता है कि हे प्रभो! आप तो **विश्वरूपा**=सारे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का निरूपण करनेवाली **एका धेनुः असि**=वह अद्वितीय धेनु हो, जोकि **कामदुघा**=सब कामनाओं को पूरण करनेवाली है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को परे फेंकते हुए अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें और इसप्रकार अपने को मोक्ष-सुख में स्थापित करें। हम ब्रह्म को इसी रूप में अनुभव करें कि प्रभु 'विश्वरूपा कामधेनु' हैं। वे सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले व सब कामनाओं को पूरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तमो निवारण

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिँल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ११ ॥

१. हे **पितरः**=पालन करनेवाले जीवो! **एतत्**=यह **वः**=तुम्हारे लिए **तृतीयं ज्योतिः**=तृतीय ज्योति है। प्रकृति व जीव के ज्ञान के पश्चात् प्रभु का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। ये प्रभु **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव को **ब्रह्मणे ददाति**=ज्ञान के लिए दे देते हैं। इसे निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने की प्रवृत्तिवाला बनाते हैं। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रद्दधानेन**=श्रद्धायुक्त मन से **दत्तः**=उस प्रभु के प्रति दिया हुआ (दत्तं यस्य अस्ति) **अजः**=यह जीव **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है। जब जीव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है तब उसका सब अज्ञान-अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान ही 'तृतीय ज्योति' है। इसे प्राप्त करनेवाला अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है। प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला उपासक अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

इस लोक पर विजय व परमानन्द-प्राप्ति

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन्पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
स व्या∫प्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३ऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥ १२ ॥

१. **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **लोकम् ईप्सन्**=लोक को चाहता हुआ व्यक्ति **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले अपने को **ब्रह्मणे ददाति**=ब्रह्म के लिए दे डालता है। जो भी पुण्यलोक की कामना करता है, वह अपने को ब्रह्म के प्रति दे डालता है। २. **सः**=वह तू **व्याप्तिम् अभि**=(वि आप्ति) सुखविशेष की प्राप्ति का लक्ष्य करके **एतं लोकं जय**=इस लोक को जीतनेवाला बन। इस लोक के विजय के बिना उस परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। वह **प्रतिगृहीतः**=प्रत्येक पिण्ड (वस्तु) में ग्रहण किया गया—प्रत्येक वस्तु में विद्यमान प्रभु **अस्मभ्यं शिवः अस्तु**=हमारे लिए कल्याणकर हो।

भावार्थ—उत्तम लोकों को प्राप्त करने की इच्छा से हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। परमानन्द की प्राप्ति के लिए इस लोक की विजय आवश्यक है। प्रत्येक पिण्ड में विद्यमान प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अज, विप्र, विपश्चित्

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद्विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद्देवा ऋतुशः कल्पयन्तु॥ १३॥

१. **अग्नेः**=प्रकाशमय अग्रणी प्रभु की **शोकात्**=दीप्ति से यह उपासक भी **हि**=निश्चय से **अजः अजनिष्ट**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनता है। प्रभु की दीप्ति इसके जीवन को पवित्र बना डालती है। यह **विप्रस्य**=(वि+प्रा) विशेषरूप से पूरण करनेवाले प्रभु के **सहसः**=बल से **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला **विपश्चित्**=ज्ञानी बनता है। २. यह 'अज, विप्र, विपश्चित्' गति-(कर्म)-शील, अपना पूरण करनेवाला (उपासना), ज्ञानी (ज्ञान) देव बनता है। ये **देवाः**=देव **वषट् कृतम्**=जिसमें स्वार्थ की आहुति दे दी जाती है, **तत् इष्टम्**=उस यज्ञ को तथा **अभिपूर्तम्**=मनुष्यों व पशु-पक्षियों—दोनों के पूरण करनेवाले **पूर्तम्**=वापी, कूप तड़ागादि के निर्माणरूप कार्य को **ऋतुशः**=प्रत्येक ऋतु में—ऋतु की आवश्यकता के अनुसार **कल्पयन्तु**=सिद्ध करें। इष्ट व पूर्त के द्वारा ये संसार को सुखमय बनाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति जीवों को 'अज'=गति द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनाती है। 'सर्वतः पूर्ण' प्रभु की शक्ति से यह जीव पूर्ण व ज्ञानी (विप्र-विपश्चित्) बनता है। इन देवपुरुषों को चाहिए कि ऋतु के अनुसार 'इष्ट और पूर्त' को सिद्ध करते हुए संसार का पूरण करें—इसे सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अमोतं वासः+हिरण्यम्'=दक्षिणा (प्रभुदक्षिणा)

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः॥ १४॥

१. जीव को कर्मानुसार यह शरीर प्राप्त होता है। यह शरीर एक वस्त्र है जोकि हमारे कर्मों से बुना गया है (वासांसि जीर्णानि यथा विहाय)। इस **अमा उतम्**=हमारी गतियों (अम गतौ) से बुने गये **वासः**= शरीररूप वस्त्र को तथा **हिरणयम् अपि**=(हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः) अपनी शक्ति व ज्योति को भी **दक्षिणां दद्यात्**=दक्षिणारूप से प्रभु को दे दे। वस्तुतः प्रभु ही तो हमारे जीवन-यज्ञ को चला रहे हैं, अतः इस 'शरीर, शक्ति व ज्योति' को प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में देना ही चाहिए। इन्हें प्रभु का ही समझना न कि अपना। २. **तथा**=वैसा करने पर, अर्थात् 'शक्ति व ज्योति' सहित शरीर को प्रभु के प्रति अर्पण करने पर यह उपासक **लोकान्**=उन सब लोकों को **समाप्नोति**=प्राप्त करता है, ये **दिव्याः**=जो दिव्य लोक हैं **च**=और **ये पार्थिवाः**=जो पार्थिव लोक हैं। दिव्य लोक मस्तिष्क है और पार्थिक लोक यह शरीर है। प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देनेवाले व्यक्ति का शरीर शक्ति से पूर्ण होता है तथा इसका मस्तिष्क ज्योति से देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम कर्मानुसार प्राप्त इस शरीर को, शरीर की शक्ति व ज्योति को हमारे जीवन-यज्ञ का संचालन करनेवाले प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में दे दें। ऐसा करने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही उत्तम बनते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रकाशमय व आनन्दमय लोक में

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ॥ १५॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले जीव! **एताः**=ये **सोम्याः**=सोम-सम्बन्धी (वीर्य की) **धाराः**=धारणशक्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों। ये धाराएँ **देवीः**=सब रोगों की विजिगीषावाली हैं—नीरोग बनानेवाली हैं, **घृतपृष्ठाः**=ज्ञानदीप्ति से सिक्त करनेवाली हैं (पृष् सेचने) और **मधुश्चुतः**=हृदय में माधुर्य को क्षरित (संचरित) करनेवाली हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हमें नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर स्वभावाला बनाता है। २. इस सोमरक्षण के द्वारा तू **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **स्तभान**=थाम। तू सोम-रक्षण करता हुआ शरीर को शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बना। ऐसा करता हुआ तू **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में स्थित हो तथा **सप्तरश्मौ अधि**=सप्त छन्दोमयी ज्ञान किरणोंवाली इस वेदवाणी में स्थित हो।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम जीवन को नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर बनाएँ। शरीर व मस्तिष्क का धारण करते हुए प्रकाशमय व आनन्दमय लोकों में विचरें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिपदानुष्टुप् ॥

अज—स्वर्ग

अजो३॒स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ १६॥

१. हे **अज**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशील जीव! तू **अजः असि**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से दूर फेंकनेवाला है। बुराइयों को दूर फेंककर **स्वर्गः असि**=प्रकाश व सुख की ओर जानेवाला है। **त्वया**=तेरे साथ **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले ये गतिशील लोग **लोकं प्रजानन्**=उस प्रकाशमय प्रभु को जान पाते हैं। तेरे साथ ज्ञानचर्चा करते हुए वे अङ्गिरस् प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. मनुष्य यही कामना करे कि **तम्**=उस **लोकम्**=प्रकाशमय **पुण्यम्**=पवित्र प्रभु को **प्रज्ञेषम्**=मैं जान पाऊँ। अन्ततः यह ज्ञान ही मनुष्य का कल्याण करनेवाला है।

भावार्थ—जीव 'अज' है, 'स्वर्ग' है। उसे गतिशील बनकर बुराई को अपने से परे फेंक कर प्रकाश प्राप्त करना है। उसके साथ ज्ञानचर्चा करते हुए अन्य लोग भी प्रभु को जान पाएँ। इस 'अज' की एक ही कामना हो कि 'मैं उस प्रकाशमय पवित्र प्रभु को प्राप्त कर पाऊँ'।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञ व स्वर्ग

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्व॒र्देवेषु गन्तवे॥ १७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **येन**=जिस सामर्थ्य से आप **सहस्रम्**=इन हज़ारों लोक-लोकान्तरों को **वहसि**=धारण करते हैं और **येन**=जिस सामर्थ्य से **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण ज्ञान व ऐश्वर्य (विद् लाभे) को धारण करते हैं, **तेन**=उसी सामर्थ्य से **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः वह**=हमें प्राप्त कराइए। इस यज्ञ द्वारा हम **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में स्थित होते हुए **स्वः गन्तवे**=प्रकाश व सुख को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु सब लोकों, ऐश्वर्यों व ज्ञानों को धारण करनेवाले हैं। प्रभु हमें यज्ञों को प्राप्त

कराएँ, जिससे हम देव बनकर स्वर्ग को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

'पञ्चौदन पक्व अज'

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम॥ १८॥

१. **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ, **अतएव पक्वः**=ज्ञान में परिपक्व हुआ-हुआ **अजः**=गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव **निर्ऋतिम्**=विनाश को **बाधमानः**=रोकता हुआ—अपने को पतन के मार्ग से दूर करता हुआ **स्वर्गे लोके दधाति**=अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करता है। स्वर्ग को प्राप्त करने का मार्ग यही है कि हम 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनें और दुर्गति को अपने से दूर करें। **तेन**=उसी मार्ग से हम भी **सूर्यवतः लोकान्**=(ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) सूर्यसम दीप्त ब्रह्मवाले लोकों को **जयेम**=जीतनेवाले बनें, अर्थात् हम भी 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनकर निर्ऋति का बाधन करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम इस जीवन में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों। इसप्रकार अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें। गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले बनें। पतन के मार्ग को अपने से दूर रक्खें। इससे हमारा जीवन स्वर्गोपम बनेगा और हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'आदित्य, रुद्र व वसु' ब्रह्मचारियों का ज्ञान

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम्॥ १९॥

१. **यम्**=जिस आत्मज्ञान को प्रभु ने **ब्राह्मणे निदधे**=ब्रह्मज्ञानी में (आदित्य ब्रह्मचारी में) स्थापित किया है, **च**=और **यम्**=जीव के कर्त्तव्यों के जिस ज्ञान को **विक्षु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाओं में (रुद्र ब्रह्मचारियों में) रक्खा है तथा **या**=जो **अजस्य**=जीवात्मा के **ओदनानाम्**=प्रकृति विज्ञानों के **विप्रुषः**=जलकण हैं, (जिन्हें कि वसु ब्रह्मचारी प्राप्त करते हैं), हे **अग्ने**=प्रभो! **तत् सर्वम्**=वह सब—ब्रह्मज्ञान, जीव-कर्त्तव्यज्ञान व प्रकृति विज्ञान **नः**=हमें भी **जानीतान्**=जाने, अर्थात् हमें भी प्राप्त हो। २. यह ज्ञान हमें उस समय प्राप्त हो जबकि हम **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में निवास करनेवाले बनें तथा **पथीनां संगमने**=मार्गों पर सम्यक् गमन करनेवाले हों। पुण्य-कर्मों को करते हुए व मार्ग-भ्रष्ट न होते हुए हम उस सब ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु जो आत्मज्ञान आदित्य ब्रह्मचारियों को प्राप्त कराते हैं, जिस जीवनकर्त्तव्य-ज्ञान को रुद्र ब्रह्मचारियों को देते हैं तथा जो प्रकृतिविज्ञान के बिन्दु वसु ब्रह्मचारियों को प्राप्त होते हैं, हम पुण्य-कर्म करते हुए व शुभ-मार्ग पर बढ़ते हुए, उस सब ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप् ॥

विराट् पुरुष

अजो वा इदमग्रे व्य क्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ २०॥

१. **अजः**=उस (न जायते) अजन्मा प्रभु ने **वा**=निश्चय से **इदम्**=इस जगत् को **अग्रे**=सर्वप्रथम **व्यक्रमत**=(वि अक्रमत) नाना प्रकार से रचा। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** उसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु का शरीर-सा हो गया—यही विराट् पुरुष हुआ। २. **तस्य**=उस विराट् पुरुष की **इयम्**=यह पृथिवी ही **उरः अभवत्**=छाती हुई, **द्यौः पृष्ठम्**=द्युलोक पीठ बनी और **अन्तरिक्षं मध्यम्**=अन्तरिक्ष ही मध्यभाग हुआ। **दिशः पार्श्वे**=दिशाएँ पार्श्वभाग बनी और **समुद्रौ**=पृथिवीस्थ समुद्र तथा अन्तरिक्षस्थ समुद्र (मेघ) **कुक्षी**=कुक्षी-प्रदेश (कोख) हुए।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष के शरीर के समान है। पृथिवी छाती है, द्युलोक पीठ, अन्तरिक्ष मध्य है और दिशाएँ पार्श्वभाग हैं। पृथिवी व अन्तरिक्षस्थ समुद्र उस विराट् पुरुष के कुक्षी-प्रदेश हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सत्य व ऋतरूप आँखें

स॒त्यं च॒र्तं च॒ चक्षु॑षी॒ विश्वं॑ स॒त्यं श्र॒द्धा प्रा॒णो वि॒राट् शिरः॑।
ए॒ष वा अप॑रिमितो य॒ज्ञो यद॒जः पञ्चौ॑दनः॥ २१ ॥

१. **सत्यं च ऋतं च**=जीवात्म-सम्बन्धी नियम तथा प्रकृति-सम्बन्धी नियम **चक्षुषी**=उस विराट् पुरुष की आँखें हैं, **विश्वं सत्यम्**=सब सत्यज्ञान तथा **श्रद्धा**=श्रद्धा—उस विराट् शरीर में **प्राणः**=प्राण हैं। **विराट्**=विशिष्ट रूप से दीस सूर्यादि पिण्ड **शिरः**=उसके शिर-स्थानीय हैं। २. प्रभु के विराट् शरीर की यह कल्पना हुई है, परन्तु वस्तुतः **एषः**=यह प्रभु **वा**=निश्चय से **अपरिमितः**=किसी भी प्रकार से सीमित नहीं है। वे प्रभु **यज्ञः**=पूजनीय—संगतिकरण योग्य व दानीय (अर्पणीय) हैं। **यत्**=जो ये **अजः**=अजन्मा प्रभु हैं, वे **पञ्चौदनः**=प्रलय के समय पाँचों भूतों से बने इस संसार को ओदन के रूप में ले-लेते हैं। **'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने। मृत्युर्यस्योपसेचनम्'**।

भावार्थ—सत्य और ऋत उस विराट् पुरुष की आँखें हैं। सत्यज्ञान और श्रद्धा प्राण हैं, देदीप्यमान सूर्यादि पिण्ड सिर हैं। वस्तुतः वे प्रभु अपरिमित हैं, पूजनीय हैं, अजन्मा हैं और प्रलयकाल के समय पञ्चभूतों से बने इस संसार को खा-सा जाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु व प्रभु-प्रकाश की प्राप्ति

अप॑रिमितमे॒व य॒ज्ञमा॒प्नोत्यप॑रिमितं लो॒कमव॑ रुन्द्धे।
यो॒३॒॑जं पञ्चौ॑द॒नं दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ २२ ॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान के प्रकाशवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को—प्रभु के ज्ञान को **ददाति**=पात्रभूत शिष्यों के लिए देता है, वह **अपरिमितम्**=उस असीम **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **एव आप्नोति**=ही प्राप्त होता है और **अपरिमितं लोकम्**=अपने में अनन्त ज्ञान को **अवरुन्धे**=रोकनेवाला बनता है—खूब ही ज्ञान के प्रकाशवाला होता है।

भावार्थ—औरों को प्रभु का ज्ञान देता हुआ ज्ञानी प्रभु को व प्रभु-प्रकाश को प्राप्त करता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—पुरउष्णिक् ॥

स्वस्थ व दृढ़ शरीर का प्रभु के प्रति अर्पण

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्। सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत्॥ २३॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि **अस्य**=इस शरीर की **अस्थीनि**=हड्डियों को **न भिन्द्यात्**=न तोड़े। इस शरीर की अस्थियों को दृढ़ बनाये। **मज्ज्ञः न निर्धयेत्**=मज्जाओं को भी पी न जाए—इन्हें सारशून्य न कर दे। इसप्रकार **एनम्**=इस शरीर को **सर्वम्**=पूर्ण व स्वस्थ (Whole) **समादाय**=लेकर **इदम् इदम्**=इस शरीर को इस प्रभु में ही **प्रवेशयेत्**=प्रविष्ट कर दे। अपने को पूर्णरूप से प्रभु में अर्पित करनेवाला बने।

भावार्थ—हम स्वस्थ व दृढ़ शरीरवाले बनकर इस स्वस्थ व दृढ़ शरीर को प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताविराड्जगती ॥

इषं, मह, ऊर्जम्

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २४॥

१. **इदम् इदम् एव**=यह यह ही, अर्थात् प्रत्येक प्राणी ही **अस्य रूपं भवति**=इस प्रभु का रूप होता है। **तेन एनं संगमयति**=उस प्रभु के साथ इस आत्मा को यह मिला देता है, अर्थात् प्राणियों की सेवा में लीन होकर यह अपने को प्रभु के साथ युक्त कर लेता है। प्राणियों की सेवा ही इसका प्रभुपूजन हो जाती है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो प्रभु का सच्चा भक्त है। २. **यः**=जो उस **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने जगत् को ओदन के रूप में प्रलयकाल के समय अपने अन्दर ले-लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले (सर्वत्र दानों के प्रकाशवाले) **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=इसके लिए प्रभु **इषम्**=प्रेरणा, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति तथा **महः**=तेजस्विता प्रदान करते हैं।

भावार्थ—सब प्राणियों में प्रभु के रूप को देखते हुए हम अपने को प्रभु में संगत कर दें। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करेंगे तो प्रभु हमें 'प्रेरणा, बल व तेजस्विता' प्राप्त कराएँगें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—२५ पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्, २६ त्रिष्टुप्॥

दीप्ति-ही-दीप्ति तथा स्वर्ग-प्राप्ति

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २५॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २६॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने संसार को प्रलयकाल में अपना ओदन बना लेता है उस **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र दानों व प्रकाशवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=अपने को प्रभु के लिए अर्पण करनेवाले इस पुरुष के लिए **पञ्च रुक्मा**=पाँचों कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हुई-हुई देदीप्यमान (रुच दीप्तौ) **भवन्ति**=हो जाती हैं। **पञ्च वस्त्रा**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व

आनन्दमय' कोशरूप पाँचों वस्त्र **नवानि**=नये व स्तुत्य हो जाते हैं। **पञ्च धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **कामदुघाः**=कमनीय ज्ञानदुग्ध को देनेवाली व सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो जाती हैं। २. **पञ्च रुक्मा**=देदीप्यमान पाँचों इन्द्रियाँ **अस्मै**=इसके लिए **ज्योतिः भवन्ति**=प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाती हैं। **वासांसि**=पाँचों कोशरूप वस्त्र **तन्वे**=इसके शरीर के लिए व शक्ति-विस्तार के लिए **वर्म भवन्ति**=कवच बन जाते हैं। इन कवचों से आवृत्त हुआ-हुआ यह किन्हीं भी वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। इसप्रकार यह **स्वर्गं लोकम् अश्नुते**=स्वर्गलोक को प्राप्त करता है—आनन्दमय जीवनवाला व मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण करने से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं, पाँचों कोश स्तुत्य बनते हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कमनीय व ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली होती हैं। यह समर्पक स्वर्ग व आनन्दमय लोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभुस्मरणपूर्वक सखा का वरण

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ २७॥

१. **या**=जो युवति **पूर्वम्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले (पॄ पालनपूरणयोः) **पतिम्**=रक्षक प्रभु को **वित्त्वा**=प्राप्त करके **अथ**=अब **अन्यम्**=दूसरे **अपरम्**=और पति को **विन्दते**=प्राप्त करती है, अर्थात् यह युवति सर्वरक्षक प्रभु को साक्षी बनाकर लौकिक सखा (पति) को स्वीकार करती है, **च**=और यदि **तौ**=वे दोनों पति-पत्नी **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददातः**=अपने को दे डालते हैं, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देते हैं तो **न वियोषतः**=कभी पृथक् नहीं होते। इन्हें विधुरता व वैधव्य का कष्ट नहीं सहना पड़ता—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरणपूर्वक एक युवति अपने जीवनसाथी को चुनती है और गृहस्थ में यदि ये दोनों प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, तो ये एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समानलोकता

समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २८॥

१. प्रभु को अपना प्रथम पति समझनेवाली युवति जब एक लौकिक पति का वरण करती है तब यह 'पुनर्भूः' कहलाती है। प्रभु से भिन्न **यः**=जो **अपरः पतिः**=दूसरा लौकिक पति है, वह **पुनर्भुवा**=उस पुनर्भू युवति के साथ **समानलोकः भवति**=समान लोक में रहनेवाला होता है। होता यह तभी है यदि वह **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को **ददाति**=अपने को दे डालता है, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला युवक अपने जीवन-साथी (पत्नी) के साथ समान लोक में निवास करनेवाला होता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रभु के प्रति अर्पण से 'अभ्युदय-निःश्रेयस' की सिद्धि

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्॥ २९॥

१. ते=वे गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पति-पत्नी **दत्त्वा**=प्रभु के प्रति अपने को देकर, अर्थात् अपना आत्म-समर्पण करके **अनुपूर्ववत्साम्**=यथाक्रम (एक के पीछे दूसरे) बछड़ों को देनेवाली **धेनुम्**=गौ को **अनड्वाहम्**=कृषि व शकट-वहन के साधनभूत बैल को, **उपबर्हणम्**=तकिया आदि विष्टर सामग्री को, **वासः**=वस्त्रों को व **हिरण्यम्**=सोने (धन-धान्य) को **यन्ति**=प्राप्त होते हैं और ये **उत्तमां दिवम् (यन्ति)**=सर्वोत्कृष्ट प्रकाशमय लोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करनेवाले पति-पत्नी ऐहिक ऐश्वर्य (अभ्युदय) को प्राप्त करके आमुष्मिक निःश्रेयस (उत्तमां दिवम्) को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—ककुम्मत्यनुष्टुप् ॥

इष्ट-बन्धु-स्मरण

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये॥ ३०॥

१. गृहस्थ को समय-समय पर इष्ट-बन्धुओं को आमन्त्रित करना ही चाहिए। उन प्रसङ्गों में सर्वप्रथम **आत्मानम् उपह्वये**=प्रभु को पुकारे। प्रभु-प्रार्थना से ही प्रत्येक कार्य का आरम्भ होना चाहिए। इसके बाद **पितरम्**=पिता को **पौत्रम्**=पुत्र-पौत्रों को **पितामहम्**=दादा को **जायाम्**=पत्नी को **जनित्रीं मातरम्**=जन्म देनेवाली माता को तथा **ये प्रियाः**=जो भी प्रिय इष्ट-बन्धु हैं **तान् (उपह्वये)**=उन सबको सम्मानपूर्वक पुकारे।

भावार्थ—घरों में जब कोई कार्यविशेष उपस्थित हो, तब उन अवसरों पर सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करना चाहिए, तदनन्तर पिता, दादा, माता, पत्नी व पुत्र-पौत्रों को भी बुलाना चाहिए। यज्ञ के समय घर के सब व्यक्ति उपस्थित हों। उस समय पत्नी पाकशाला में कुछ पका न रही हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—३१ सप्तपदाऽष्टि, ३२, ३३ दशपदाप्रकृतिः ॥

नैदाघ, कुर्वन्, संयन्

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद। एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३१॥
यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३२॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।

निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३३॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **नैदाघं नाम ऋतुं वेद**='नैदाघ' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को ग्रहण करनेवाला **अजः**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला जीव ही **वै**=निश्चय से **नैदाघः नाम ऋतुः**=नैदाघ नामक ऋतु है। यह जीव नियमपूर्वक गतिवाला होने से ऋतु है (ऋ गतौ) अपने को ज्ञान व तपस्या की अग्नि में खूब ही दग्ध करनेवाला होने से 'नैदाघ' है। **यः**=जो नैदाघ **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों से बने संसार को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, वह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'काम' की **श्रियं निर्दहति एव**=शोभा को, दग्ध ही कर देता है और **आत्मना भवति**=अपने साथ होता है, अर्थात् अपना सन्तुलन नहीं खोता, शान्त रहता है। २. **यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'कुर्वन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **कुर्वन् नाम ऋतुः**=कुर्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से ऋतु है तथा निरन्तर क्रियाशील होने से 'कुर्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'क्रोध' की **कुर्वतीं कुर्वतीम्**=उन-उन कार्यों को करती हुई **श्रियम् आदत्ते**=श्री को छीन लेता है। क्रोध को श्रीशून्य (पराजित=विनष्ट) करके यह अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करने में लगा रहता है। ३. **यः संयन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'संयन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **संयन् नाम ऋतुः**=संयन् नामवाला ऋतु है। नियमित गति के कारण ऋतु है, तो संयम के कारण 'संयन्' है। यह पुरुष **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर 'लोभ' रूप शत्रु की **संयतीं संयतीम् एव**=हमें बारम्बार बाँधनेवाली **श्रियम्**=श्री को आदत्ते छीन लेता है। लोभ को विनष्ट करके यह इन्द्रियों का संयम करता हुआ सचमुच 'संयन्' बनता है।

भावार्थ—हम अपने को ज्ञान व तपस्या में दग्ध करके 'नैदाघ' बनें, निरन्तर कर्म करते हुए 'कुर्वन्' बनें, संयम को सिद्ध करते हुए 'संयन्' हों। 'नैदाघ' बनकर काम पर विजय करें, 'कुर्वन्' बनते हुए 'क्रोध' से दूर रहें तथा 'लोभ' को नष्ट करके 'संयन्' हों। इन सब बातों के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—३४, ३५ दशपदाप्रकृतिः,
३६ दशपदाऽऽकृतिः॥

पिन्वन्, उद्यन्, अभिभूः

यो वै पि॒न्वन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑।
पि॒न्व॒तींपि॑न्वतीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते।
ए॒ष वै पि॒न्वन्नाम॒र्तुर्यद॒जः पञ्चौदनः।
निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॑जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३४॥
यो वा उ॒द्यन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑।
उ॒द्यतीमु॒द्यतीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते।
ए॒ष वा उ॒द्यन्नाम॒र्तुर्यद॒जः पञ्चौदनः।

निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३५॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३६॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=पिन्वन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन को ग्रहण करनेवाला **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव ही **पिन्वन् नाम ऋतुः**=पिन्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से 'ऋतु' है और वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होने से 'पिन्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिवाले शत्रुभूत 'मोह' की **पिन्वतीं पिन्वतीम्**=निरन्तर बढ़ती हुई **एव**=भी **श्रियम्**=श्री को **आदत्ते**=छीन लेता है। मोह को श्रीशून्य (विनष्ट) करके यह वस्तुतः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ 'पिन्वन्' बनता है। २. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद**=उद्यन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः वै**=पञ्चौदन अज ही **उद्यन् नाम ऋतु**=उद्यन् नामक ऋतु है। यह 'उद्यन् ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=मदरूप शत्रु की **उद्यतीम् उद्यतीम् एव श्रियम् आदत्ते**=उन्नत होती हुई श्री को छीन लेता है। मद को विनष्ट करके ही यह उत्थान को प्राप्त होता है। अभिमान ही तो पतन का हेतु बनता है। ३. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **अभिभुवं नाम ऋतुं वेद**=अभिभू नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः वै**=पञ्चौदन अज ही निश्चय से **अभिभूः नाम ऋतुः**=अभिभू नामक ऋतु है, वह 'अभिभू ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर मत्सररूप शत्रु की **अभिभवन्तीम् अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते**=अभिभूत करती हुई श्री को छीन लेता है। मात्सर्य को अभिभूत करके ही शत्रुओं का अभिभव कर पाते हैं।

भावार्थ—हम शक्तियों का वर्धन करते हुए 'पिन्वन्' बनें, उन्नत होते हुए 'उद्यन्' हों और सब शत्रुओं का अभिभव करके 'अभिभू' नामवाले हों। पिन्वन् बनकर मोह को परास्त करें, 'उद्यन्' होते हुए 'मद' को नष्ट करें तथा 'अभिभू' बनकर 'मत्सर' से ऊपर उठें।

ऋषिः—भृगुः॥ देवता—अजः पञ्चौदनः॥ छन्दः—३७ त्रिपदाविराड्गायत्री,
३८ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)॥

अज व ओदनों का पाचन

अजं च पचत पञ्च चौदनान्।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम्॥ ३७॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि॥ ३८॥

१. हे जीवो! **अजं च पचत**=उल्लिखित 'नैदाघ', 'कुर्वन्', 'संयन्', 'पिन्वन्', 'उद्यन्' व 'अभिभू' नामक वृत्तियों से जीवात्मा का ठीकरूप में परिपाक करो **च**=और **पञ्च ओदनान्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान-भोजनों का भी परिपाक करो। **सर्वाः**=सब **सान्तर्देशाः**=अन्तर्देशोंसहित **दिशः**=दिशाएँ—दिशाओं में स्थित प्राणी **संमनसः**=उत्तम मनवाले होकर **सध्रीचीः**=सम्मिलित गतिवाले होकर **ते**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को **प्रतिगृह्णन्तु**=ग्रहण करनेवाले हों। ज्ञान-

परिपक्व व्यक्ति जब ज्ञान का प्रसार करे तब सब दिशाओं में स्थित प्राणी उस ज्ञान के ग्रहण की रुचिवाले हों। २. **ताः**=वे सब दिशाएँ **ते**=तेरी हों—तुझे उन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। **तव**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को (ज्ञान के ओदन को) **तुभ्यम्**=तेरे लिए **रक्षन्तु**=रक्षित करें। मैं **ताभ्यः**=उन सब दिशाओं के लिए—उनकी अनुकूलता के लिए **इदम्**=उस **आज्यम्**=घृत को और **हविः**=हवियों को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। अग्निहोत्र से वायु शुद्ध होकर नीरोगता प्राप्त होती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए नीरोगता की नितान्त आवश्यकता है।

भावार्थ—हम तपस्या की अग्नि में आत्मा का परिपाक करें तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों को प्राप्त करें। इस ज्ञान को सब दिशाओं में स्थित मनुष्य ग्रहण करें। हमें इन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। अग्निहोत्र द्वारा ये सब दिशाएँ शुद्ध वायुवाली होकर नीरोगता को सिद्ध करें।

॥ इति विंशः प्रपाठकः ॥

विशेष—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाला 'ब्रह्मा' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

अथैकविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम् (१) प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—१ नागीनामत्रिपाद्गायत्री, २ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री ॥

यः (संयमी)

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्य म्॥ १ ॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥

१. **यः**=(यम्+ड) संयमी पुरुष **प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्**=प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है। उस ब्रह्म को जानता है **यस्य**=जिसकी **संभाराः**=यज्ञ-सामग्रियाँ ही—यज्ञ के लिए एकत्र किये जानेवाले द्रव्य ही **परूंषि**=परु हैं—जोड़ हैं, **ऋचः**=ऋचाएँ ही **यस्य**=जिसकी **अनूक्यम्**=रीढ़ की हड्डी (spine) है। २. **सामानि**=साम-मन्त्र ही **यस्य**=जिसके **लोमानि**=लोम हैं, **यजुः**=यजुर्मन्त्र को **हृदयम्**=हृदय **उच्यते**=कहा जाता है और **परिस्तरणम्**=चारों ओर बिछाने के आसन ही **हविः**=हवि हैं—दानपूर्वक अदन हैं। इसप्रकार का पवित्र यज्ञमय जीवनवाला पुरुष ही मानो 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' है। एक संयमी पुरुष को चाहिए कि ऐसे अतिथि में ब्रह्म के दर्शन का प्रयत्न करे और उसका उचित सत्कार करे।

भावार्थ—पवित्र, यज्ञमय, वेदज्ञ, विद्वान् अतिथि में हम प्रत्यक्ष ब्रह्म को देखने का प्रयत्न करें और उसका उचित सम्मान करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—३ साम्नीत्रिष्टुप्, ४ आर्च्यनुष्टुप्, ५ आसुरीगायत्री ॥

अतिथियज्ञ—देवजन

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते॥ ३ ॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति॥ ४ ॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

१. **यत्**=जब **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक गृहपति (गृहस्थ Host) **अतिथीन् प्रतिपश्यति**= अतिथियों की ओर देखता है, तब वह **वै देवयजनं प्रेक्षते**=निश्चय से देवयजन को देखता है। वह यही सोचता है कि यह अतिथियज्ञ ही मेरा देवयज्ञ है। इसके द्वारा मैं अपने

साथ देवों का (दिव्य गुणों का) यजन करूँगा—दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनूँगा। २. **यत् अभिवदति**=जब अतिथि का अभिवादन करता है तब वह **दीक्षाम् उपैति**=यज्ञ में दीक्षा (व्रत-ग्रहण) को प्राप्त करता है। **यत्**=जब **उदकं याचति**=जल-पात्रों में जल के द्वारा 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' आदि लेने के लिए कहता है तब वह **अपः प्रणयति**=मानो देवयज्ञ में जलों को प्रणीता-पात्र में लाता है। ३. **याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते**=जो भी जल यज्ञ में प्रणीता-पात्र में लाये जाते हैं, **ताः एव ताः**=वे ही ये जल हैं जो अतिथियज्ञ में 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार 'देवयज्ञ' ही है। यह अपने जीवन में दिव्य गुणों को धारण करने का उत्तम साधन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**६ त्रिपदासाम्नीजगती, ७ साम्नीत्रिष्टुप्, ८ याजुषीत्रिष्टुप्, ९ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

आतिथ्य व स्वर्ग

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥
यदावसथान्कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥ ९ ॥

१. **यत्**=जो **तर्पणम्**=अतिथि के लिए तृप्तिकारक मधुपर्क आदि पदार्थ प्राप्त कराये जाते हैं और **यः एव**=जो **अग्नीषोमीयः**=अग्नि व सोम देवतावाला **पशुः बध्यते**=पशु बाँधा जाता है. **सः एव सः**=वह तर्पण वह पशु ही हो जाता है। सिंह आदि अग्नितत्त्व प्रधान पशु हैं, तो गौ आदि सोमतत्त्व प्रधान। यज्ञों में दोनों प्रकार के ही पशु बाँधे जाते हैं। इसप्रकार यज्ञ में उपस्थित बालकों व युवकों को प्राणी-शास्त्र का ज्ञान खेल-खेल में ही हो जाता था। २. **यत्**=जो अतिथि के निवास के लिए **आवसथान् कल्पयन्ति**=उचित गृह बनाते हैं, **तत्**=वह एक प्रकार से **सदोहविर्धानानि**=(सदस) प्राचीन वंशगृह (सभास्थान) और हविर्धान नामक पात्रों को ही **कल्पयन्ति**=बनाते हैं। ३. **यत्**=जो अतिथि के लिए **उपस्तृणन्ति**=चारपाई या टाट बिछाते हैं, **तत् बर्हिः एव**=वह यज्ञ में कुशाओं का बिछौना ही है। ४. **यत् उपरिशयनम् आहरन्ति**=जो गद्दा लाकर चारपाई पर बिछाते हैं अथवा अपने से ऊँचे स्थान में अतिथि को सुलाते हैं तो **तेन**=उस अतिथि-सत्कार की क्रिया से **स्वर्गं लोकम् एव अवरुन्द्धे**=अपने लिए स्वर्गलोक को ही सुरक्षित कर लेते हैं (रोक लेते हैं)।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार हमारे घरों को स्वर्ग-तुल्य बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१० साम्नीभुरिग्बृहती, ११ साम्न्यनुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ साम्नीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥

अतिथि के लिए 'बिछौना, स्नान, भोजन' आदि की व्यवस्था

यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥
यत्पुरा परिवेषात्खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥

१. **यत्**=जो **कशिपु उपबर्हणम्**=(a bed) बिस्तरा वा तकिया **आहरन्ति**=प्राप्त कराते हैं,

ते परिधयः एव=वे यज्ञ में परिधि नामक पलाश-दण्डों के समान हैं (A stick of a sacred tree like पलाश laid around the sacrificial fire)। २. **यत्**=जो **आञ्जन**=आँखों के लिए अञ्जन वा **अभ्यञ्जनम्**=शरीर-मालिश के लिए तेल, उबटन आदि **आहरन्ति**=लाते हैं, **तत् आज्यम् एव**=वह यज्ञ में लाया जानेवाला घृत ही है। **यत्**=जो **परिवेषात्**=घर के लोगों के लिए भोजन परोसने से **पुरा**=पूर्व ही अतिथि के लिए **खादम् आहरन्ति**=भोजन लाते हैं, **तौ पुरोडाशौ एव**=वे यज्ञ की दो पुरोडाश आहुतियाँ ही हैं। ४. **यत्**=जो **अशनकृतं ह्वयन्ति**=भोजन बनानेवाले कुशल पुरुष को बुलाते हैं, **तत् हविष्कृतम् एव ह्वयन्ति**=वह यज्ञ में चरु तैयार करनेवाले पुरुष को ही बुलाते हैं।

भावार्थ—अतिथि के लिए रात्रि में सोने के लिए बिछौना और प्रातः उठने पर स्नान-सामग्री व तदनन्तर भोजनादि प्राप्त कराना—अतिथियज्ञ की ये सब क्रियाएँ देवयज्ञ की क्रियाओं के समान ही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१४-१६ साम्न्यनुष्टुप्, १७ त्रिपदाभुरिग्विराड्गायत्री** ॥

अतिथियज्ञ की वस्तुएँ देवयज्ञ की वस्तुएँ

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते॥ १४॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते॥ १५॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः॥ १६॥
स्रुग्दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्॥ १७॥

१. **ये**=जो **व्रीहयः यवाः**=अतिथियज्ञ के अवसर पर चावल व जौ **निरुप्यन्ते**=बिखेरे जाते हैं, **अंशवः एव ते**=वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं। २. **यानि**=जो भोजन की तैयारी के लिए **उलूखलमुसलानि**=ऊखल व मूसल हैं, **ग्रावाणः एव ते**=वे यज्ञ में सोम कूटने के लिए उपयोगी पत्थरों के समान हैं। ३. **शूर्पम्**=अतिथि के अन्नशोधन के लिए काम में लाया जानेवाला छाज **पवित्रम्**=सोम के छानने के लिए 'दशापवित्र' नामक वस्त्रखण्ड के समान जानना चाहिए, **तुषाः**=छाज से फटकने पर अलग हो जानेवाले अन्न के तुष **ऋजीषा**=सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं। **अभिषवणीः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले **आपः**=जल यज्ञ में सोमरस में मिलाने योग्य 'वसनीवरी' नामक जलधाराओं के समान हैं। ४. **स्रुक् दर्विः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए जो कड़छी है, वह यज्ञ के घृत-चमस के समान है, **आयवनम्**=भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि के चलाने का कार्य किया जाता है, वह **नेक्षणम्**=यज्ञ में बार-बार सोमरस को मिलाने के समान है। **कुम्भ्यः**=खाना पकाने के लिए जो देगची आदि पात्र हैं, वे **द्रोणकलशाः**=सोमरस रखने के लिए द्रोणकलशों के समान हैं। **पात्राणि**=अतिथि को खिलाने के लिए जो कटोरी, थाली आदि पात्र हैं, वे यज्ञ में सोमपान करने के निमित्त **वायव्यानि**=वायव्य पात्रों के समान हैं और अतिथि के लिए **इयम् एव**=जो उठने-बैठने के लिए भूमि है, वही **कृष्णाजिनम्**=यज्ञ की कृष्ण मृगछाला के समान है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुएँ देवयज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली उस-उस वस्तु के समान हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (२) द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—१ विराट्पुरस्ताद्बृहती, २ साम्नीत्रिष्टुप्, ३ आसुरीत्रिष्टुप् ॥

अतिथियज्ञ से दीर्घजीवन

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्या ∫णि
प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥ १ ॥
यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ २ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

१. यत्=जब **अतिथिपतिः**=अतिथि का पालक गृहस्थ **आहार्याणि**=अतिथि के लिए देने योग्य पदार्थों पर **प्रेक्षते**=दृष्टि करता है और प्रार्थना करता है कि **इदं भूयाः**=यह और अधिक है, **इदम् इति**=यह और अधिक हो, ऐसा कहता है जो **एतत्**=इसप्रकार वह गृहस्थ उस विद्वान् अतिथि को **वै**=निश्चय से **यजमानब्राह्मणम्**=यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान **कुरुते**=कर लेता है। २. **यत् आह**=और जब गृहमेधि कहता है कि **भूयः उद्धर इति**=इस आहार योग्य पदार्थ में से कुछ और अधिक लीजिए तो **तेन**=उस प्रार्थना से **प्राणम् एव वर्षीयांसं कुरुते**=अपनी प्राणशक्ति को चिरस्थायी करता है और ३. जब **उपहरति**=अन्नादि पदार्थ उसके समीप लाता है तब **हवींषि आसादयति**=यज्ञ की हवियों को ही लाता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ के रूप में देवयज्ञ करते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—४ साम्न्युष्णिक्, ५ साम्नीबृहती, ६ आर्च्यनुष्टुप् ॥

अतिथि ऋत्विज्

तेषामासन्नानामतिथिरात्मञ्जुहोति ॥ ४ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥

१. **तेषाम् आसन्नानाम्**=उन समीप बैठे हुए गृहसदस्यों के समीप बैठा हुआ **अतिथिः**=अतिथि **आत्मन् जुहोति**=जब भोजन को अपनी जाठराग्नि में आहुत करता है तब **स्रुचा हस्तेन**=यज्ञचमस के तुल्य हाथ से **यूपे प्राणे**=यज्ञस्तम्भ के तुल्य प्राण के निमित्त **वषट्कारेण स्रुक्कारेण**=स्वाहा शब्द के समान 'स्रुक्-स्रुक्' इसप्रकार के शब्द के साथ वह जाठराग्नि में अन्नरूप हवि को डालता है। इसप्रकार यह अतिथि का भोजन देवयजन (अग्निहोत्र) ही होता है। ३. **एते यत् अतिथयः**=ये जो अतिथि हैं, वे **प्रियाः च अप्रियाः**=चाहे प्रिय हों, चाहे अप्रिय हों, ये **ऋत्विजः**=ऋत्विज् यजमान को **स्वर्गं लोकं गमयन्ति**=स्वर्गलोक को प्राप्त कराते हैं। जिन घरों में अतिथियज्ञ होता रहता है, वे घर स्वर्ग-से बन जाते हैं।

भावार्थ—अतिथि को प्रेमपूर्वक भोजन कराने से गृहस्थ अपने घरों को स्वर्ग-तुल्य बना लेते हैं। ये अतिथि 'ऋत्विज्' होते हैं। ये यजमान को स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—७ पञ्चपदाविराट्पुरस्ताद्बृहती, ८, ९ साम्न्यनुष्टुप् ॥

सप्रेम आतिथ्य व पाप-विनाश

स य एवं विद्वान्न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न
मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

सर्वो॑ वा ए॒ष ज॒ग्धपा॑प्मा॒ यस्या॒न्नम॒श्नन्ति॑॥ ८॥

सर्वो॑ वा ए॒षोऽज॑ग्धपाप्मा॒ यस्या॒न्नं॒ नाश्नन्ति॑॥ ९॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार ब्रह्मज्ञानी है, **सः**=वह **द्विषन् न अश्नीयात्**=किसी के प्रति द्वेष करता हुआ न खाये और **द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्**=द्वेष करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **न मीमांसितस्य**=शंका के पात्र (सन्देहास्पद) पुरुष के अन्न को भी न खाए, **मीमांसमानस्य न**=हमपर शंका करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **एषः सर्वः वै**=ये सब लोग निश्चय से **जग्धपाप्मा**=नष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नम्**=जिसके अन्न को **अश्नन्ति**=अतिथि खाते हैं और ३. **एषः सर्वः वै**=ये सब निश्चय से **अजग्धपाप्मा**=अनष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नं न अश्नन्ति**=जिसका अन्न अतिथि लोग नहीं खाते।

भावार्थ—प्रेमवाले स्थल में ही आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए। जिसके आतिथ्य को विद्वान् अतिथि स्वीकार करते हैं, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः जहाँ विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहता है, वहाँ पापवृत्ति पनप ही नहीं पाती।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—१० त्रिपदाऽऽर्चीत्रिष्टुप्,
११ भुरिक्साम्नीबृहती, १२ साम्नीत्रिष्टुप्॥

आतिथ्य प्राजापत्ययज्ञ

स॒र्व॒दा वा ए॒ष यु॒क्तग्रा॑वा॒र्द्रप॑वित्रो॒ वित॑ताध्वर॒
आहृ॑तयज्ञक्रतु॒र्य उ॑प॒हर॑ति॥ १०॥

प्रा॒जा॒प॒त्यो वा ए॒तस्य॑ य॒ज्ञो वित॑तो॒ य उ॑प॒हर॑ति॥ ११॥

प्रजाप॑ते॒र्वा ए॒ष विक्र॒मान॑नु॒विक्र॑मते॒ य उ॑प॒हर॑ति॥ १२॥

१. **यः उपहरति**=जो अतिथियों के लिए 'पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय व मधुपर्क' आदि प्राप्त कराता है **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **सर्वदा**=सदा ही **युक्तग्रावा**=सोमरस का अभिषव करनेवाले पाषाणों से सोमरस निकालनेवाला होता है, **आर्द्रपवित्रः**=उसका सोमरस सदा 'दशापवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है, **विततध्वरः**=सदा विस्तृत यज्ञवाला होता है और **आहृतयज्ञक्रतुः**=सदा यज्ञकर्म का फल प्राप्त करनेवाला होता है। २. **यः उपहरति**=जो अतिथि के लिए 'अर्घ्य-पाद्य' आदि प्राप्त कराता है, **एतस्य**=इसका **प्राजापत्यः यज्ञः विततः**=प्राजापत्य यज्ञ विस्तृत होता है—प्रजापति (गृहस्थ) के लिए हितकर यज्ञ विस्तृत होता है, अर्थात् इस अतिथियज्ञ से सन्तानों पर सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है। ३. **यः उपहरति**=जो अतिथि-सत्कार के लिए इन उचित पदार्थों को प्राप्त कराता है, **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते**=प्रजापति के महान् कार्यों का अनुकरण करता है।

भावार्थ—आतिथ्य करनेवालों का यज्ञ सदा चलता है। इसके सन्तानों पर इस आतिथ्य का सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है और यह स्वयं प्रभु के महान् कार्यों का अनुसरण करता हुआ उत्तम कार्यों को करनेवाला बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः॥

अतिथियज्ञ में अग्नित्रय का स्थान

योऽति॑थीना॒ं स आ॑हव॒नीयो॒ यो वेश्म॑नि॒ स
गार्ह॑पत्यो॒ यस्मि॒न्पच॑न्ति॒ स द॑क्षिणा॒ग्निः॥ १३॥

१. **यः**=जो **अतिथीनाम्**=अतिथियों का शरीर है **सः**=वह **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि के

समान है, यः वेश्मनि=जो गृहस्थ के घर में निवास करना है सः गार्हपत्यः=वह गार्हपत्य अग्नि के समान है और यस्मिन्=जिस अग्नि में गृहमेधी लोग पचन्ति=अतिथि के लिए अन्नादि पकाते हैं, सः दक्षिणाग्निः=वह दक्षिणाग्नि है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में 'आहवनीय, गार्हपत्य व दक्षिणाग्नि' तीनों ही अग्नियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसप्रकार यह यज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

[षष्ठं सूक्तम् (३) तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री ॥

अतिथि से पूर्व भोजन करने का परिणाम

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ १॥
पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ २॥
ऊ॒र्जां च॒ वा ए॒ष स्फा॒तिं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ३॥
प्र॒जां च॒ वा ए॒ष प॒शूंश्च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ४॥
की॒र्तिं च॒ वा ए॒ष यश॑श्च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ५॥
श्रियं॑ च॒ वा ए॒ष सं॒विदं॑ च गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽति॑थेर॒श्नाति॑॥ ६॥

१. **यः**=जो **अतिथेः पूर्वः अश्नाति**=अतिथि को खिलाने से पूर्व स्वयं खा लेता है, **एषः वै**=यह निश्चय से **गृहाणाम्**=घरों के **इष्टं च पूर्तं च**=यज्ञ व कूप-तड़ाग आदि निर्माणात्मक पूर्त कर्मों को **अश्नाति**=खा जाता है, विनष्ट कर बैठता है। २. **पयः च वै रसं च**=यह घर के दूध व रस को निश्चय से विनष्ट कर देता है। ३. **ऊर्जां च वै स्फातिं च**=यह बल व प्राणशक्ति को तथा घर की समृद्धि को नष्ट कर बैठता है। ४. यह अतिथि से पहले ही खा लेनेवाला गृहस्थ **प्रजां च पशून् च**=सन्तानों व पशुओं को नष्ट कर बैठता है। ५. **कीर्तिं च यशः च**=यह कीर्ति व यश को नष्ट कर बैठता है और ६. **श्रियं च संविदं च**=श्री (लक्ष्मी) व सौहार्द (सौहार्दभाव) को नष्ट कर देता है।

भावार्थ—अतिथि को खिलाने से पूर्व ही भोजन कर लेनेवाला व्यक्ति घर के 'इष्ट-पूर्त को, दूध व रस को, बल व समृद्धि को, प्रजा और पशुओं को, कीर्ति और यश को तथा श्री और संज्ञान को नष्ट कर बैठता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—७ साम्नीबृहती, ८ पिपीलिकामध्योष्णिक्, ९ त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री ॥

अतिथि का लक्षण

ए॒ष वा अति॑थि॒र्यच्छ्रोत्रि॑य॒स्तस्मा॒त्पूर्वो॒ नाश्नी॑यात्॥ ७॥
अ॒शि॒ताव॒त्यति॑थावश्नीयाद्य॒ज्ञस्य॑ सात्म॒त्वाय॑। य॒ज्ञस्यावि॑च्छेदाय॒ तद् व्र॒तम्॥ ८॥
ए॒तद्वा उ॒ स्वादी॑यो॒ यद॑धिग॒वं क्षी॒रं वा॑ मां॒सं वा॒ तदे॒व नाश्नी॑यात्॥ ९॥

१. **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **अतिथिः**=अतिथि है, **यत् श्रोत्रियः**=जो वेद का विद्वान् है, **तस्मात् पूर्वः**=उससे पहले **न अश्नीयात्**=भोजन न करे। २. **अतिथौ अशितावति अश्नीयात्**= अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन खाये ताकि **यज्ञस्य सात्मत्वाय**=यज्ञ की संगतता बनी रहे, अर्थात् यज्ञ सम्पूर्णता से सफल हो, **यज्ञस्य अविच्छेदाय**=यज्ञ का विच्छेद (विनाश) न हो, **तत् व्रतम्**=यह व्रत ही लेना चाहिए कि 'अतिथि से पूर्व नहीं खाऊँगा'। ३. **एतत् वै उ**=यह ही निश्चय से **स्वादीयः**=सब पदार्थ बहुत स्वादिष्ट हैं, **यत् अधिगवम्**=जो गौ से प्राप्त होता

है, **क्षीरं वा**=दूध या **मांसं वा**=या अन्य मन को अच्छा लगनेवाला (मानसं अस्मिन् सीदति इति—निरु०) दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोया, खीर आदि पदार्थ है, **तत् एव**=उन पदार्थों को गृहस्थ अतिथि से पूर्व **न अश्नीयात्**=न खाये। अतिथि को खिलाकर ही इन पदार्थों का यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ—श्रोत्रिय अतिथि को दूध, रबड़ी आदि स्वादिष्ट पदार्थों को खिलाकर उसके बाद ही गृहस्थ को यज्ञशेष के रूप में उन पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। यह गृहस्थ का व्रत है। इस व्रत के पालन से ही यज्ञ की पूर्णता व जीवन का कल्याण हुआ करता है।

[षष्ठं सूक्तम् (४) चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—अतिथिः, विद्या॥ छन्दः—१, ३, ५, ७ प्राजापत्याऽनुष्टुप्,
२, ४, ६, ८ त्रिपदागायत्री॥

क्षीर, सर्पि, मधु, मांस

स य एवं विद्वान्क्षीरमुपसिच्योपहरति॥ १॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ २॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति॥ ३॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ४॥
स य एवं विद्वान्मधूपसिच्योपहरति॥ ५॥
यावत्सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ६॥
स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति॥ ७॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ८॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **क्षीरम् उपसिच्य**=दूध को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो २. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=उत्तम रीति से सम्पादित **अग्निष्टोमेन इष्ट्वा**=अग्निष्टोम यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है। ३. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **सर्पिः उपसिच्य**=घृत आदि पौष्टिक पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो ४. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=सम्यक् सम्पादित **अतिरात्रेण**='अतिरात्र' नामक यज्ञ से **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथि-सत्कार से प्राप्त कर लेता है। ५. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **मधु उपसिच्य**=मधु आदि मधुर पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, ६. तो **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन सत्रसद्येन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'सत्रसद्य' से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ के करने से प्राप्त करता है। ७. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **सः**=वह **मांसम् उपसिच्य**=मन को रुचिपूर्ण लगनेवाले घी, मलाई, फल (The fleshy part of a fruit) आदि पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो ८. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'द्वादशाह' यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—अतिथि के लिए 'दूध, घृत, मधु, मांस (मन को अच्छा लगनेवाले पदार्थ) प्राप्त

कराने से क्रमशः अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्रसद्य, द्वादशाह यज्ञों के करने का फल मिलता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—९ भुरिक्प्राजापत्यागायत्री,
१० चतुष्पदाप्रस्तारपङ्क्तिः ॥

अतिथि-सत्कार से गृहस्थ की उत्तमता

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥

प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां

भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **उदकम्**=जल को **उपसिच्य उपहरति**=पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो वह २. **प्रजानां प्रजननाय**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाला होता है, **प्रतिष्ठां गच्छति**=प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, **प्रजानां प्रियः भवति**=अपनी प्रजाओं का प्रिय होता है। **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता हुआ **उदकम् उपसिच्य उपहरति**=जल को पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम अतिथि-सत्कार के महत्त्व को समझते हुए आये हुए अतिथि से जलादि के लिए पूछें। अतिथि के लिए जल प्राप्त कराने से भी हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करके एक सद्गृहस्थ की प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (५) पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—१ साम्न्युष्णिक्, २ पुरउष्णिक्,
३ भुरिक्साम्नीबृहती ॥

भूति, प्रजा, पशु

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥

बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम् ॥ २ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **तस्मै**=उसके लिए **उषा**=उषा **हिङ्कृणोति**=आनन्द का सन्देश देती है, **सविता प्रस्तौति**=सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, **बृहस्पतिः**=प्राण **ऊर्जया उद्गायति**=बल के साथ उसके गुणों का गान करता है, **त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति**=त्वष्टा उसे पुष्टि प्रदान करता है, **विश्वे देवा निधनम्**=अन्य सब देव उसे आश्रय प्रदान करते हैं, अतः वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार करनेवाला सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—४ साम्न्यनुष्टुप्, ५ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदानिचृद् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती ॥

सूर्य के द्वारा अतिथियज्ञ करनेवाले का शंसन

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥

मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

१. अतिथि-सत्कार करनेवाले **तस्मै**=उस यज्ञमय जीवनवाले पुरुष के लिए **उद्यन् सूर्यः हिङ्कृणोति**=उदय होता हुआ सूर्य आनन्द का सन्देश देता है, **संगवः प्रस्तौति**=संगवकाल (सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है) उसकी विशेष प्रशंसा (स्तुति) करता है। २. **माध्यन्दिनः**=मध्याह्न **उद्गायति**=उसके गुणों का गान करता है, **अपराह्णः प्रतिहरति**=अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिए 'प्रतिहार' करता है—उसे पुष्टि देता है। **अस्तंयन् निधनम्**=अस्त को जाता हुआ सूर्य उसे आश्रय देता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार आतिथ्य सत्कार करता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में अतिथि-सत्कार करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता और उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार यह अतिथियज्ञ करनेवाला 'सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं' का आश्रय स्थान बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—६ साम्न्यनुष्टुप्, ७ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदाविराड् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती ॥

मेघ द्वारा आतिथ्य करनेवाले का शंसन

तस्मा अभ्रो भवन्हिङ्कृणोति स्तनयन्प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

१. **तस्मै**=उस अतिथि-सत्कार करनेवाले के लिए **अभ्रः भवन् हिङ्कृणोति**=उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द का सन्देश देता है। **स्तनयन् प्रस्तौति**=गर्जना करनेवाला मेघ उसकी प्रशंसा करता है। **विद्योतमानः प्रतिहरति**=विद्युत् से प्रकाशित होनेवाला मेघ उसे पुष्टि देता है, **वर्षन् उद्गायति**=वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है, **उद्गृह्णन्**=जल को ऊपर उठाता हुआ मेघ **निधनम्**=आश्रय देता है। २. **एवम्**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को **यः वेद**=जो समझता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम् भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—मेघ भी अपनी पाँचों स्थितियों में उस आतिथ्य करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता तथा उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार अतिथियज्ञ का कर्त्ता सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—८ त्रिपदाविराडनुष्टुप्, ९ साम्न्यनुष्टुप्, १० भूरिक्साम्नीबृहती ॥

अतिथियज्ञ, सामगान

अतिथीन्प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति
प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

१. जब यह अतिथि-सत्कार करनेवाला **अतिथीन् प्रतिपश्यति**=अतिथियों का दर्शन करता है, तब मानो **हिङ्कृणोति**=सामगान का हिंकार करता है, **अभिवदति**=जब अभिवादन करता

है तब मानो **प्रस्तौति**=स्तुति करता है। **उदकं याचति**=अतिथि के लिए उदक माँगता है तो **उद्गायति**=उद्‌गान करता है। **उपहरति**=जब उसके सामने खाद्य पदार्थ रखता है तब **प्रतिहरति**=प्रतिहार करता है—'प्रतिहर्त्ता' का कार्य करता है, **उच्छिष्टम् निधनम्**=उसके भोजन कर चुकने पर जो शेष भोजन बचता है, वह निधन है—यज्ञ का अन्तिम प्रसाद है। २. **एवम्**=इसप्रकार आतिथ्य के महत्त्व को **यः वेद**=जो जानता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम्**=आश्रय **भवति**=होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ करनेवाला सामगान करता हुआ प्रभु का उपासक बनता है, अतः सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रय होता है।

[षष्ठं सूक्तम् (६) षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—१ आसुरीगायत्री, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ४ एकपदाप्राजापत्यागायत्री ॥

'गृहपति—क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोगों' का यज्ञ

यत्क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत्॥ १॥
यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत्॥ २॥
यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते॥ ३॥
तेषां न कश्चनाहोता॥ ४॥

१. **यत्**=जब यह आतिथ्य करनेवाला पुरुष **क्षत्तारम्**=(An attendant, the manager of a treasure) सेवक वा कोठारी को **ह्वयति**=बुलाता है, तब मानो **तत्**=उस समय अध्वर्यु-कर्म में **आश्रावयति एव**=आश्रवण ही कराता है। **यत् प्रतिशृणोति**=जब कोठारी उसकी आज्ञा स्वीकार करता है, तब मानो **तत्**=वह **प्रतिश्रावयति एव**=आध्वर्यवकाण्ड का प्रत्याश्रावण करता है। २. **यत्**=जो **परिवेष्टारः**=रसोई परोसनेवाले लोग **पात्रहस्ताः**=हाथ में भोजन के पात्र लिये हुए **पूर्वे च अपरे च**=आगे और पीछे **अवपद्यन्ते**=आ पहुँचते हैं, **चमसाध्वर्यवः एव ते**=वे मानो चमसा लिये हुए यज्ञ के चमसाध्वर्यु लोग ही हैं, **तेषाम्**=उनमें से **कश्चन**=कोई भी **अहोता न**=आहुति न देनेवाला नहीं होता।

भाषार्थ—अतिथि-सत्कार के समय 'गृहपति, उसका क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोग' भी मानो हवि की आहुति ही दे रहे होते है, अतः अतिथि-सत्कार ही इनका यज्ञ हो जाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—५ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ६ आर्चीबृहती ॥

अवृभथ-उदवसान

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति॥ ५॥
यत्सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत्॥ ६॥

१. **यत् वै**=जब निश्चय से **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक—गृहस्थ **अतिथीन् परिविष्य**=अतिथियों को भोजन परोसकर **गृहान् उप उदैति**=पुनः अपने घरों के (गृहस्थ-सम्बन्धियों के) समीप आता है तब मानो **तत्**=वह **अवभृथम् एव उप अवैति**=यज्ञ कर चुकने के पश्चात् अवभृथ स्नान ही कर लेता है। २. **यत् सभागयति**=जो उन्हें कुछ धन भेंट करता है, तो मानो **दक्षिणाः सभागयति**=यज्ञ में ऋत्विजों को दक्षिणा ही देता है और **यत्**=जो **अनुतिष्ठते**=उनकी विदाई के समय समीप स्थित होता है, **तत्**=वह **उद् अवस्यति एव**=यज्ञ का उदवसान करना है।

भावार्थ—अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना यज्ञ के अन्त में अवभृथ-

स्नान के समान है। अतिथि को विदा करके लौटाना यज्ञ के उदवसान पर यज्ञ-स्थान से घर लौटने के समान है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—७ आर्चीबृहती ॥

पृथिवी के विश्वरूप पदार्थों की प्राप्ति

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यत्पृथिव्यां विश्वरूपम्॥ ७॥

१. **सः**=वह—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला गृहस्थ **पृथिव्याम् उपहूतः**=इस पृथिवी पर निमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (इसका सेवन) करता है, **यत् पृथिव्यां विश्वरूपम्**=जो इस पृथिवी पर नाना रूपोंवाले अन्नादि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को पार्थिव पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—८-११ आर्चीबृहती ॥

'अन्तरिक्ष, द्युलोक, देवों व लोकों' में आमन्त्रण

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यदन्तरिक्षे विश्वरूपम्॥ ८॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्दिवि विश्वरूपम्॥ ९॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्देवेषु विश्वरूपम्॥ १०॥
स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यल्लोकेषु विश्वरूपम्॥ ११॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में, **दिवि**=द्युलोक में, **देवेषु**=विद्वानों (ब्राह्मणों) में तथा **लोकेषु**=अन्य लोकों में (क्षत्रिय, वैश्यादि में) **उपहूतः**=आमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (सेवन) करता है, **यत् अन्तरिक्षे दिवि देवेषु लोकेषु**=जो अन्तरिक्ष में, द्युलोक में, देवों में व सामान्य लोगों में **विश्वरूपम्**=नाना रूपोंवाले वायु (अन्तरिक्ष), सूर्यप्रकाश (द्युलोक), ज्ञान (देव), बल, धन व अन्न (लोक) आदि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को 'अन्तरिक्षस्थ, द्युलोकस्थ, दैवस्थ व लोकस्थ' किन्हीं भी पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—अतिथिः, विद्या ॥ छन्दः—१२ एकपदासुरीजगती,
१३ याजुषीत्रिष्टुप्, १४ एकपदासुर्युष्णिक् ॥

यह लोक, वह लोक व ज्योतिर्मय लोक

स उपहूत उपहूतः॥ १२॥
आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्॥ १३॥
ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ १४॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **उपहूतः**=सादर आमन्त्रित होता है और **उपहूत**=अवश्य ही आमन्त्रित होता है। वह **इमं लोकम् आप्नोति**=इस लोक को प्राप्त करता है और **अमुं लोकम् आप्नोति**=उस लोक को भी प्राप्त करता है—इस लोक के अभ्युदय को और परलोक के निःश्रेयस को यह प्राप्त करनेवाला होता है। **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है और उसे साङ्ग सम्पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, वह **ज्योतिष्मतः लोकान् जयति**=प्रकाशमय लोकों को जीतनेवाला होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को साङ्ग पूर्ण करनेवाला व्यक्ति सादर आमन्त्रित होता है। वह अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वह प्रकाशमय लोकों का विजेता होता है।

७ [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—१ आर्चीबृहती, २ आर्च्युष्णिक्, ३ आर्च्यनुष्टुप् ॥

प्रजापति से घर्म तक

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम् ॥ १ ॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्य धरहनुः ॥ २ ॥

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

१. वेदधेनु के विराट् शरीर की यहाँ कल्पना की गई है। इस वेदवाणी में उस प्रभु का वर्णन है जोकि सब देवों के अधिष्ठान हैं—'**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**'। सब देवों को इस गौ के विराट् शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में दिखलाते हैं। **प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे**=प्रजापति और परमेष्ठी दोनों इस गौ के सींग हैं, **इन्द्रः शिरः**=इन्द्र सिर है, **अग्निः ललाटम्**=अग्नि ललाट है, **यमः कृकाटम्**=यम गले की घंटी है। २. **सोमः राजा मस्तिष्कः**=सोम राजा उसका मस्तिष्क है, **द्यौः उत्तरहनुः**=द्युलोक उसका ऊपर का जबड़ा है, **पृथिवी अधरहनुः**=पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है। ३. **विद्युत् जिह्वा**=विद्युत् उसकी जिह्वा है। **मरुतः दन्तः**=मरुत् (वायुएँ) उसके दाँत हैं, **रेवतीः ग्रीवाः**=रेवतीनक्षत्र उसकी गर्दन है, **कृत्तिकाः स्कन्धाः**=कृत्तिका नक्षत्र कन्धे हैं और **घर्मः वहः**=प्रकाशमान् सूर्य व ग्रीष्मऋतु उसके ककुद के पास का स्थान है।

भावार्थ—वेदवाणी में 'प्रजापति परमेष्ठी' के प्रतिपादन के साथ 'इन्द्र, अग्नि, यम, सोम, द्यौ, पृथिवी, विद्युत्, वायु, रेवती व कृत्तिका आदि नक्षत्र व घर्म' का ज्ञान उपलभ्य है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—४ साम्नीबृहती, ५ आर्च्यनुष्टुप्, ६ आसुरीगायत्री ॥

वायु से उपसद तक

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥ ४ ॥

श्येनः क्रोडो३ऽन्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः ॥ ६ ॥

१. **वायुः विश्वम्**=वायु उसके सब अवयव हैं। **स्वर्गः लोकः**=स्वर्गलोक **कृष्णद्रम्**=आकर्षक गति है (कृष्ण द्रु), **विधरणी**=लोकों को पृथक्-पृथक् स्थापित करनेवाली शक्ति **निवेष्यः**=उसका बैठने का कूल्हा है। २. **श्येनः**=श्येनयाग **क्रोडः**=उसका गोद-भाग है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **पाजस्यम्**=पेट है, **बृहस्पतिः ककुद्**=बृहस्पति उसका ककुद है। **बृहतीः**=ये विशाल दिशाएँ **कीकसाः**=उसके गले के मोहरे हैं। ३. **देवानां पत्नीः**='सूर्या, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नाणी' आदि देवपत्नियाँ **पृष्टयः**=पृष्ठ के मोहरे, **उपसदः**=उपसद इष्टियाँ **पर्शवः**=उसकी पसलियाँ हैं।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रभु के बनाये हुए वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के साथ कर्त्तव्यभूत उपसद आदि इष्टियों का भी प्रतिपादन किया गया है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—७ त्रिपदापिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री, ८ आसुरीगायत्री, ९, १३ साम्नीगायत्री, १० पुरउष्णिक्, ११, १२ साम्न्युष्णिक् ॥

मित्र से प्रजा तक

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू ॥ ७ ॥

इन्द्राणी भसद्वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः
कुष्ठिका अदितिः शफाः॥ १०॥
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत्॥ ११॥
क्षुत्कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः॥ १२॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः॥ १३॥

१. **मित्रः च वरुणः च**=मित्र और वरुण **अंसौ**=कन्धे हैं, **त्वष्टा च अर्यमा च**=त्वष्टा और अर्यमा **दोषणी**=भुजाओं के ऊपर के भाग हैं, **महादेवः बाहूः**=महादेव बाहु हैं (अगली टाँगों का पिछला भाग), **इन्द्राणी**=विद्युत्-शक्ति **भसत्**=गुह्यभाग है, **वायुः पुच्छम्**=वायु पूँछ है, **पवमानः बालाः**=बहता हुआ वायु उसके बाल हैं। २. **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ब्रह्म और क्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) **श्रोणी**=उसके श्रोणीप्रदेश (कूल्हे) हैं, **बलम्**=बल (सेना) **ऊरू**=जाँघें हैं। **धाता च सविता च**=धाता और सविता उसके **अष्ठीवन्तौ**=टखने हैं, **गन्धर्वाः जंघाः**=गन्धर्व जंघाएँ हैं **अप्सरसः**=रूपवती स्त्रियाँ (अप्सराएँ) **कुष्ठिकाः**=खुरों के ऊपर-पीछे की ओर लगी अंगुलियाँ हैं, **अदितिः**=पृथिवी **शफाः**=खुर हैं। ३. **चेतः**=चेतना **हृदयम्**=हृदय है, **मेधा**=बुद्धि **यकृत्**=जिगर है, **व्रतं पुरीतत्**=व्रत उसकी आँतें है, **क्षुत् कुक्षिः**=भूख कोख है, इरा=अन्न व जल **वनिष्ठुः**=गुदा व बड़ी आँतें हैं, **पर्वताः**=पर्वत व मेघ **प्लाशयः**=छोटी आँतें हैं, **क्रोधः**=क्रोध **वृक्कौ**=गुर्दे हैं, **मन्युः**=शोक व दीप्ति **आण्डौ**=अण्डकोश हैं, **प्रजा शेपः**=प्रजाएँ उसका लिंगभाग हैं (वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः। वीर्यवाहिशिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ। गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः—शार्ङ्गधर)।

भावार्थ—वेद में मित्र, वरुण से लेकर क्रोध, मन्यु, प्रजा आदि का सुचारुरूपेण प्रतिपादन है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः॥ छन्दः—१४-१६ साम्नीबृहती, १७ साम्न्युष्णिक्,
१८ एकपदाऽऽसुरीजगती॥

नदी से निधन तक

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः॥ १४॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम्॥ १५॥
देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम्॥ १६॥
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम्॥ १७॥
अभ्रं पीबो मज्जा निधनम्॥ १८॥

१. **नदी सूत्री**=नदी इस वेदधेनु की सूत्री (जन्म देनेवाली नाड़ी), **वर्षस्य पतयः**=वृष्टि के पालक मेघ **स्तनाः**=स्तन हैं, **स्तनयित्नुः ऊधः**=गर्जनशील मेघ ऊधस् (औड़ी) है। **विश्वव्यचाः**=सर्वव्यापक आकाश **चर्म**=चमड़ा है, **ओषधयः लोमानि**=ओषधियाँ लोम हैं, **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र उसके रूप, अर्थात् देह पर चितकबरे चिह्न हैं। २. **देवजनाः**=देवजन (ज्ञानी लोग) **गुदाः**=गुदा हैं, **मनुष्याः आन्त्राणि**=मननशील मनुष्य उसकी आँतें हैं, **अत्ताः उदरम्**=अन्य खाने-पीनेवाले प्राणी उसके उदर हैं, **रक्षांसि लोहितम्**=राक्षस लोग रुधिर हैं, **इतरजनाः ऊबध्यम्**=इतर जन अनपचे अन्न के समान हैं, **अभ्रम्**=मेघ **पीवः**=मेदस् (चर्बी) हैं, **निधनम्**=निधन **मज्जा**=मज्जा है (निधन=यज्ञ का अन्तिम प्रसाद)।

भावार्थ—वह वेदवाणी 'नदियों व निधन' सबका प्रतिपादन कर रही है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—१९ एकपदाऽऽसुरीपङ्क्तिः, २० याजुषीजगती, २१ आसुर्यनुष्टुप्, २२ एकपदाऽऽसुरी जगती, २३ एकपदाऽऽसुरी बृहती ॥

वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रभु'

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥
इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा तिष्ठन्यमः ॥ २० ॥
प्रत्यङ् तिष्ठन्धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

१. वेदवाणी में सभी पदार्थों, जीव के कर्त्तव्यों व आत्मस्वरूप का वर्णन है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु हैं। यह प्रभु हमारे हृदय में **आसीनः**=आसीन हुए-हुए **अग्निः**=अग्नि हैं—हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले हैं (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया), **उत्थितः**=हमारे हृदय में उठे हुए ये प्रभु **अश्विना**=प्राणापान हैं, जब प्रभु की भावना हमारे हृदयों में सर्वोपरि होती है तब हमारी प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है। **प्राङ् तिष्ठन्**=पूर्व में (सामने) ठहरे हुए वे प्रभु **इन्द्रः**=हमारे लिए परमैश्वर्यशाली व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। **दक्षिणा तिष्ठन्**=दक्षिण में स्थित हुए-हुए वे **यमः**=यम हैं, हमारे नियन्ता हैं, **प्रत्यङ् तिष्ठन्**=पश्चिम में ठहरे हुए वे प्रभु **धाता**=हमारा धारण करनेवाले हैं। **उदङ् तिष्ठन्**=उत्तर में ठहरे हुए **सविता**=हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। २. ये ही प्रभु **तृणानि प्राप्तः**=तृणों को प्राप्त हुए-हुए **सोमः राजा**=देदीप्यमान (राज् दीप्तौ) सोम होते हैं। ये तृण भोजन के रूप में उदर में प्राप्त होकर 'सोम' के जनक होते हैं। **ईक्षमाणः**=हमें देखते हुए, ये प्रभु **मित्रः**=हमें प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रायते= मित्रः), **आवृत्तः**=हममें व्याप्त हुए-हुए वे प्रभु **आनन्दः**=हमारे लिए आनन्दरूप हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'अग्नि, अश्विना, इन्द्र, यम, धाता, सविता, सोम' मित्र व आनन्दरूप हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—साम्नीभुरिग्बृहती ॥

वैश्वदेव, प्रजापति, सर्व

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥ २४ ॥

१. **युज्यमानः**=जब हम अपने मनों को इस प्रभु के साथ जोड़ते हैं, तब वे **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणों को हमारे साथ जोड़ते हैं। **युक्तः**=हमारे साथ युक्त हुए-हुए वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम प्रजाओं का रक्षण करनेवाले हैं। **विमुक्तः**=सब बन्धनों से विमुक्त वे प्रभु **सर्वम्**='सर्व' हैं—सबमें समाये हुए हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हममें दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं, हमारे रक्षक हैं और सबमें समाये हुए हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः ॥ छन्दः—२५ साम्न्युष्णिक्, २६ साम्नीत्रिष्टुप् ॥

'विश्वरूप, सर्वरूप' गोरूप

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥

१. **एतत्**=यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णन **वै**=निश्चय से **विश्वरूपम्**=वेदधेनु का सब पदार्थों का (संसार का) निरूपण करनेवाला विराट्रूप है, **सर्वरूपम्**=यह 'सर्व' (सब में समाये) प्रभु का

निरूपण करनेवाला-सा है, **गोरूपम्**=वेदवाणी का गौ के रूप में निरूपण है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है, **एनम्**=इसे **विश्वरूपाः**=भिन्न-भिन्न वर्णों व आकृतियोंवाले, **सर्वरूपाः**= 'सर्व' प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाले—व्यक्त व अव्यक्त वाक् सब प्राणी—मनुष्य व पशु-पक्षी आदि **उपतिष्ठन्ति**=पूजित करते हैं। यह उन सब प्राणियों से जीवन के लिए आवश्यक लाभ प्राप्त करता हुआ उनमें प्रभु की महिमा देखता है।

भावार्थ—वेदवाणी में विश्व के सब पदार्थों का निरूपण है। इसमें 'सर्व' (सबमें समाये हुए) प्रभु का भी निरूपण है। वेदधेनु के इस विराट्रूप को देखनेवाला व्यक्ति सब प्राणियों से उचित लाभ प्राप्त करता है, सब प्राणियों में उस 'सर्व' प्रभु की महिमा को देखता है।

विशेष—इसप्रकार वेदधेनु को अपनानेवाला यह व्यक्ति ज्ञानरूप अग्नि में परिपक्व होकर 'भृगु' बनता है, अङ्ग-अङ्ग में रसवाला (नीरोग) यह व्यक्ति 'अङ्गिरस' होता है। यह भृग्वङ्गिरा ही अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शिरोरोग निराकरण

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ १॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ २॥
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ३॥
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ४॥
अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ५॥

१. **शीर्षक्तिम्**=शिरःपीड़ा को **शीर्षामयम्**=सिर के अन्य रोग को (मस्तकशूल व शिरोव्यथा को) **कर्णशूलम्**=कान के दर्द व **विलोहितम्**=जिसमें रुधिर की कमी आ जाती है तथा विकृत रुधिरवाले **ते**=तेरे **सर्वम्**=सब प्रकार के **शीर्षण्यं रोगम्**=सिर में होनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर आमन्त्रित करते हैं—दूर करते हैं। **कर्णाभ्याम्**=कानों से तथा **ते कङ्कूषेभ्यः**=तेरे कानों के अन्दर व्याप्त नाड़ियों से **विसल्पकम्**=नाना प्रकार से रेंगनेवाली—चीस चलानेवाली **कर्णशूलम्**=कान की पीड़ा को बाहर करते है। **यस्य हेतोः**=जिस कारण से **कर्णतः**=कान से और **आस्यतः**=मुख से **यक्ष्मः**=रोगकारी, पीड़ाजनक मवाद **प्रच्यवते**=बहता है, उस समस्त शिरोरोग को हम दूर करते हैं। २. **यः**=जो रोग **प्रमोतं कृणोति**=बहरा कर देता है और **पूरुषम् अन्धं करोति**=पुरुष को अन्धा कर देता है, उस सब रोग को दूर करते हैं। **अङ्गभेदम्**=शरीर के अङ्गों को तोड़ डालनेवाले, **अङ्गज्वरम्**=शरीर के अङ्गों में ज्वर उत्पन्न करनेवाले, **विश्वाङ्ग्यम्**=सब अङ्गों में व्यापनेवाले **विसल्पकम्**=विशेषरूप से तीव्र वेदना के साथ फैलनेवाले **सर्वं शीर्षण्यम्**=सब शिरोरोग को हम तुझसे दूर करते हैं।

भावार्थ—सब शिरोरोगों को दूर करके हम स्वस्थ मस्तिष्क बन जाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ज्वरादि को दूर करना

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ६ ॥
य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ७ ॥
यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ८ ॥
हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्। यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ ९ ॥

१. **यस्य**=जिसका **भीमः**=भयानक **प्रतीकाशः**=स्वरूप ही **पूरुषम् उद्वेपयति**=पुरुष को कम्पित कर देता है, ऐसे **तक्मानम्**=दुःखदायी ज्वर को **विश्वशारदम्**=(शार दौर्बल्ये) सब अङ्गों को निर्बल करनेवाले ज्वर को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निमन्त्रित करते हैं। **यः**=जो रोग **ऊरू अनुसर्पति**=जंघाओं की ओर बढ़ता है, **अथो**=और **गवीनिके एति**=मूत्राशय के समीप 'गवीनिका' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है, उस **यक्ष्मम्**=रोग को **ते अन्तः अङ्गेभ्यः**=तेरे अन्दर के अङ्गों से बाहर आमन्त्रित करते हैं। २. **यदि**=यदि **बलासम्**=(बल अस् क्षेपणे) शरीर के बल का नाशक कफ़ रोग **कामात्**=हमारे इच्छाकृत कर्मों से **अकामात्**=बिना कामना के बाह्य जलवायु के विकार से **हृदयात् परि**=हृदय के समीप **जायते**=उत्पन्न हो जाए तो उसे **हृदः अङ्गेभ्यः**=हृदय के साथ सम्बद्ध अङ्गों से बाहर निकालते हैं। **ते अङ्गेभ्यः**=तेरे अङ्गों से **हरिमाणम्**=पीलिया रोग को, **उदरात् अन्तः**=पेट के भीतर होनेवाले **अप्वाम्**=उदर रोग को **आत्मनः अन्तः**=शरीर के भीतर से **यक्ष्मोधाम्**=यक्ष्मा रोग के अंशों को रखनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निकाल दें।

भावार्थ—शरीर के अन्दर उत्पन्न हो जानेवाले 'ज्वर, यक्ष्मा, पीलिया, जलोदर व यक्ष्मोधा' आदि रोगों को दूर करके हम नीरोगता के सुख का अनुभव करें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—१०, ११ अनुष्टुप्,
१२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मतीचतुष्पदोष्णिक् ॥

सर्वाङ्ग नीरोगता

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १० ॥
बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ ११ ॥
उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

१. **बलासः**=शरीर के बल का नाशक कफ़-रोग **आसः**=बाहर फेंका हुआ **भवतु**=हो—थूक के रूप में बाहर फेंक दिया जाए। **आमयत्**=रोगकारी पदार्थ **मूत्रं भवतु**=मूत्ररूप होकर बाहर आ जाए। **सर्वेषाम्**=सब **यक्ष्माणाम्**=रोगों के **विषम्**=विष को **अहम्**=मैं **त्वत्**=तेरे शरीर से **निर् अवोचम्**=बाहर निकालकर बताऊँ, अर्थात् तुझे नीरोग कर दूँ। २. **तव उदरात्**=तेरे उदर से **काहाबाहम्**=खाँसी आदि को लानेवाला **बिलम्**=फूटन रोग (कास आवह) अङ्गों को कड़-कड़ानेवाला रोग **बहिः निर्द्रवतु**=बाहर निकल जाए। **ते उदरात्**=तेरे उदर से **क्लोम्नः**=कलेजे से, **नाभ्याः**=नाभि से और **हृदयात् अधि**=हृदय से भी सब रोगों के विष को मैं तेरे शरीर से बाहर कर दूँ।

भावार्थ—कफ़-रोग थूक के रूप में, अन्य रोगकारी पदार्थ मूत्र के रूप में शरीर से पृथक् हो जाएँ। खाँसी करनेवाला फूटन रोग भी शरीर से पृथक् हो जाए। हमारा उदर, क्लोम, नाभि व हृदय सब स्वस्थ हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—१३, १४, १६-१८ अनुष्टुप्, १५ विराडनुष्टुप् ॥

बहिः बिलम् (निर्द्रवन्तु)

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १४ ॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १५ ॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १६ ॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १७ ॥
या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च । अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

१. **याः**=जो पीड़ाजनक रोग-मात्राएँ **मूर्धानं प्रति अर्षणीः**=मस्तक की ओर गतिवाली होती हैं और **सीमानं विरुजन्ति**=सिर के ऊपरी भाग (खोपड़ी) को नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं, वे सब **अनामयाः**=रोगशून्य होकर **अहिंसन्तीः**=हमें हिंसित न करती हुई **बिलं बहिः**=शरीर के छिद्रों से बाहर **निर्द्रवन्तु**=निकल जाएँ। **याः**=जो रोग-मात्राएँ **हृदयम् उपर्षन्ति**=हृदय की ओर तीव्र वेग से बढ़ी चली आती हैं और **कीकसाः अनुतन्वन्ति**=हँसली की हड्डियों में फैल जाती हैं **याः पार्श्वे उपर्षन्ति**=जो पीड़ाएँ दोनों पार्श्वों (कोखों) में तीव्र वेदना करती हुई प्राप्त होती हैं और **पृष्टीः अनुनिक्षन्ति**=पीठ के मोहरों का चुम्बन करने लगती हैं, वे सब रोगरहित व अहिंसक होती हुई शरीर-छिद्रों से बाहर निकल जाएँ। २. **याः अर्पणीः**=जो महापीड़ाएँ **तिरश्चीः**=तिरछी होकर आक्रमण करती हुई **ते वक्षणासु उपर्षन्ति**=तेरी पसलियों में पहुँच जाती हैं, **याः**=जो पीड़ाएँ **गुदाः अनुसर्पन्ति**=गुदा की नाड़ियों में गतिवाली होती हैं **च**=और **आन्त्राणि मोहयन्ति**=आँतों को मूर्च्छित (काम न करनेवाला) कर देती हैं, **याः**=जो **मज्ज्ञः**=मज्जाओं को **निर्धयन्ति**=चूस-सा लेती हैं और सुखा-सा डालती हैं, **च**=और **परूंषि विरुजन्ति**=जोड़ों में दर्द (फूटन) पैदा कर देती हैं, वे सब रोगशून्य व अहिंसक होकर शरीर-छिद्रों से बाहर चली जाएँ।

भावार्थ—जो भी पीड़ादायक तत्त्व शरीर में विकृतियों का कारण बनते हैं, वे पसीने आदि के रूप में शरीर से बाहर हो जाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यक्ष्माविष-निराकरण

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १९ ॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

१. **ये**=जो **यक्ष्मासः**=रोगजनक पदार्थ **ते अङ्गानि मदयन्ति**=तेरे अङ्गों को मदयुक्त करते हैं—कम्पित-सा करते हैं और **तव रोपणाः**=तेरी व्याकुलता व मूर्च्छा का कारण बनते हैं, **अहम्**=मैं **सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्**=उन सब रोगों के विष को **त्वत् निरवोचम्**=तेरे शरीर से बाहर निकालकर बताता हूँ। २. **विसल्पस्य**=नाना प्रकार के फैलनेवाले पीड़ाकारी रोग (dry spreading itch) **विद्रधस्य**=गिल्टियों की सूजन, **वातीकारस्य**=बाय की पीड़ा **वा अलजेः**=और

आँख के भीतर दाने या रोहे फूलना आदि सब रोगों के विष को मैं तुझसे पृथक् किये देता हूँ।

भावार्थ—पीड़ाजनक व कम्पित करनेवाले विसल्प आदि सब रोगों के विष को शरीर से पृथक् करके हम स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

नीरोग अङ्ग

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम्॥ २१॥

१. **ते पादाभ्याम्**=तेरे चरणों से, **जानुभ्याम्**=गोड़ों से **श्रोणिभ्याम्**=कूल्हों से **परिभंससः**=जघन-भाग से, **अनूकात्**=रीढ़ से **उष्णिहाभ्यः**=गर्दन की नाड़ियों से **अर्षणीः**=तीव्र वेदनाओं को तथा **शीर्षणः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशम्**=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—हम पैर, श्रोणि, भंसस्, अनूक व उष्णिहा' जन्य पीड़ाओं को तथा सिर के रोग को दूर कर स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'सिर व हृदय की पीड़ा' की चिकित्सा सूर्यरश्मियाँ

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः॥ २२॥

१. हे रोगिन्! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः कपालानि**=सिर के कपाल-भाग **च**=और **हृदयस्य यः विधुः**=जो हृदय की विशेष प्रकार की पीड़ा थी, उस सबको **सम्**=(अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है। हे **आदित्य**=(आदानात्, दाप लवणे) सब रोगों को उखाड़ फेंकनेवाले सूर्य! **उद्यन्**=उदय होता हुआ तू **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **शीर्ष्णः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशः**=नष्ट कर देता है तथा **अङ्गभेदम्**=अङ्गों की वेदना को तूने **अशीशमः**=शान्त कर दिया है।

भावार्थ—उदय होते हुए सूर्य की किरणें शिरोरोग व हृत्-पीड़ाओं को शान्त कर देती हैं। इसी से सूर्याभिमुख होकर ध्यान करने का महत्त्व है।

विशेष—नीरोग बनकर प्रभु-स्तवन करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और उस सुन्दर-ही-सुन्दर 'वाम' प्रभु का स्मरण करता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वाम-अश्न-घृतपृष्ठ=प्रभु-जीव-प्रकृति

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १॥

१. **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर-ही-सुन्दर, सब मलिनताओं से रहित, **पलितस्य**=सब जीवों का पालन करनेवाले, **होतुः**=सब आवश्यक पदार्थों के प्रदाता **तस्य**=उस प्रभु का **भ्राता**=भ्राता **मध्यमः**=मध्य में रहनेवाला जीव है जोकि **अश्नः**=खानेवाला है। जीव के एक ओर प्रकृति है, दूसरी ओर प्रभु। इन दोनों के मध्य में है जीव। यह न तो प्रभु के समान पूर्ण चेतन है और न ही प्रकृति के समान एकदम जड़। प्रभु पूर्ण तृप्त होने से नहीं खाते, प्रकृति जड़ होने से भूख

का अनुभव नहीं करती। जीव ही खाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु का **तृतीयः भ्राता**=तीसरा भाई यह प्रकृति है जोकि **घृतपृष्ठः**=चमकते हुए पृष्ठवाली है। इसकी यह चमक ही जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मैं **अत्र**=यहाँ—प्रकृति में भोगासक्त न होकर **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक **सप्तपुत्रम्**=सात लोकों के रूप में सात पुत्रों को जन्म देनेवाले प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। 'भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामक सात लोक ही प्रभु के सात पुत्र हैं।

भावार्थ—प्रभु सुन्दर, पालक व दाता हैं, जीव प्रकृति व प्रभु के मध्य में स्थित हुआ-हुआ सब भोगों को भोगता है, प्रकृति से बना हुआ संसार सोने की भाँति चमकीला है। यहाँ हमें प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सब लोकों का अधिष्ठानभूत 'रथ' (शरीर)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

१. यह शरीर रथ है। **रथम्**=इस शरीररूप रथ में **सप्त युञ्जन्ति**='**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख-(जिह्वा)-रूप सात दीपक जुड़े हुए हैं। यह शरीर-रथ 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' आठ चक्रोंवाला होता हुआ भी **एकचक्रम्**=अद्वितीय चक्रोंवाला है (एक=अद्वितीय)। इसके सब चक्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे नीचे मूलाधारचक्र है। इसमे संयम होने पर वीर्यरक्षण होकर मनुष्य अद्भुत शक्ति का अनुभव करता है। सबसे ऊपर 'सूर्यचक्र' है। वहाँ संयम होने पर 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' सारे भवनों का ज्ञान हो जाता है। **एकः अश्वः**=मुख्य प्राणरूप अश्व इस रथ को **वहति**=ले-चलता है, जो अश्व कि **सप्तनामा**=सात नामोंवाला है। '**प्राणाः वाव इन्द्रियाणि**'—ये सब इन्द्रियाँ प्राण ही हैं। '**आँख, नाक, कान, मुख**' ये सब प्राण के ही नाम हैं। २. वह **चक्रम्**=शरीर-चक्र **त्रिनाभिः**=तीन नाभियों-(बन्धनों)-वाला है (णह बन्धने)। ये तीन नाभियाँ '**इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि**' हैं। **अजरम्**=यह चक्र अतिशयेन गतिशील है। यहाँ 'इन्द्रियाँ, मन व वासनात्मक बुद्धि' सभी अस्थिर हैं। ये **अनर्वम्**='इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' हिंसित होनेवाले नहीं। अगले शरीरों में भी ये ही हमारे साथ रहेंगे। यह शरीररूप रथ वह है **यत्र**=जहाँ **इमा विश्वा भुवना**=ये सभी लोक **अधितस्थुः**=ठहरे हुए हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष तथा पाँव पृथिवीलोक है। '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते**' यह शरीर ब्रह्माण्ड के सभी देवों का अधिष्ठान है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ अद्भुत है। यह सब लोकों का अधिष्ठान है। सब देव इसमें उपस्थित हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'सप्तचक्र' रथ का वर्णन

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ ३॥

१. **इमं रथम् अधि**=इस शरीररूप रथ पर **ये**=जो **सप्त**=सात (सप् sip) ज्ञान-जल का आचमन करनेवाले सात ऋषि (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) **तस्थुः**=स्थित हैं। ये **सप्त अश्वाः**=सात ऋषि—इन्द्रिय-अश्व **सप्तचक्रम्**=(सप् to know, to worship) श्रद्धारूपी चक्रोंवाले इस रथ को **वहन्ति**=धारण करते हैं, जीवन-मार्ग में आगे और आगे ले-चलते हैं। २. इस शरीर में **सप्त**=(सप् to obtain) सब शक्तियों को प्राप्त करानेवाले (सप् to do, to

perform) या सब कार्यों को करनेवाले **स्वसार:**=(स्वयं सरणा:) अपने आप निरन्तर चलते रहनेवाले—हम सो जाते हैं तो भी ये चलते ही हैं (स्व: आदित्य: तेन सारिता:), अथवा सूर्य से प्रेरित होनेवाले (प्राण: प्रजानामुदयत्येष सूर्य:) ये प्राण इस शरीर को **अभिसंनवन्त**=(सम्यक् नवीकुर्वन्ति) प्रतिदिन इस शरीर-रथ को नया और नया (तरोताज़ा) कर देते हैं। यह शरीर-रथ वह है, **यत्र**=जिसमें **गवां सप्त नामा निहिता**=(गो Diamond) 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि व वीर्यरूप सात नामोंवाले रत्नों का स्थापन हुआ है। ये रस आदि ही शरीर को रमणीय बनाते हैं।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में सात ऋषियों की स्थिति है। आदरणीय (सात) चक्रोंवाले इस शरीर-रथ को सात इन्द्रियाश्व धारण करते हैं। सात प्राण इसे सदा नया बनाये रखते हैं। इसमें सात धातुओं का स्थापन हुआ है।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्य:, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

को ददर्श प्रथम जायमानम्

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुप गात्प्रष्टुमेतत्॥ ४॥

१. **क:**=(कामन:, क्रमण:, सुखी वा—निरु०) जो कामना करता है, क्रमण (पुरुषार्थ) करता है और परिणामत: सुखी होता है, वह विरल पुरुष ही **प्रथमं जायमानम्**=पहले से ही प्रादुर्भूत हुए-हुए (अजायमानो बहुधा विजायते) इस आत्मतत्त्व को **ददर्श**=देखता है। यह कितने आश्चर्य की बात है **यत्**=कि **अनस्था**=स्वयं अस्थिरहित होता हुआ यह **अस्थन्वन्तं बिभर्ति**=अस्थियों के पञ्जरवाले इस शरीर को धारण करता है। २. **भूम्या:**=इस पार्थिव शरीररूप रथ का **असु:**=यह प्राण **असृक्**=रुधिर और **आत्मा**=रथी **क्वस्वित्**=भला कहाँ-कहाँ रहते हैं, इसप्रकार का प्रश्न उत्पन्न होते ही **क:**=वह ज्ञान की कामनावाला पुरुष **एतत् प्रष्टुम्**=इस बात को पूछने के लिए **विद्वांसम् उपगात्**=ज्ञानी पुरुष के समीप उपस्थित होता है।

भावार्थ—कोई विरल व्यक्ति ही आत्मतत्त्व का द्रष्टा बनता है। शरीर में प्राण, रुधिर व आत्मा की स्थिति को समझने के लिए यह ज्ञानी के पास उपस्थित होता है।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्य:, अध्यात्मम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श उपदेष्टा

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे:।
शीर्ष्ण: क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदाऽपु:॥ ५॥

१. **य:**=जो **ईम्**=अब **अस्य वामस्य**=इस सुन्दर **वे:**=(goer) क्रियाशील प्रभु के (द्वा सुपर्णा) **निहितं पदम्**=रक्खे हुए पग को **अङ्ग**=(well, indeed) ठीक-ठीक **वेद**=जानता है, वह **इह ब्रवीतु**=इस मानव-जीवन में उपदेश दे। यह ज्ञानी प्रभु के (त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्य:) तीनों पगों को इसप्रकार स्पष्ट करता है कि प्रथम पग में सर्वत्र व्याप्त (विष् व्याप्तौ) प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं, द्वितीय पग में वे 'गोपा:' रक्षक हैं, तृतीय पग में अदाभ्य:—अहिंसित होते हुए वे प्रभु प्रलय करनेवाले हैं। २. **अस्य**=इस ज्ञानी पुरुष की **शीर्ष्ण: गाव:**=सिर की (शिरोभाग में स्थित) ज्ञानेन्द्रियाँ जनता के मानस में **क्षीरं दुह्रते**=ज्ञान-दुग्ध का पूरण करती हैं। इसका ज्ञान जनता के मन व मस्तिष्क के लिए दूध की भाँति पौष्टिक व मधुर भोजन का काम करता है। ३. ये प्रवचनकर्ता **वव्रिं वसाना:**=रूप को—तेजस्विता को धारण करने के हेतु से **पदा**=(पद गतौ) क्रियाशीलता के द्वारा **उदकम्**=(आप: रेतो भूत्वा) वीर्यशक्ति

को अपु:=पीते हैं। प्रवचनकर्ता तेजस्वी हो तो वह जनता पर छा-सा जाता है, अतः वीर्यरक्षण आवश्यक ही है। इस वीर्यरक्षण से विचार-शुद्धि भी बनी रहती है। वीर्यरक्षण के लिए यह क्रियाशील बना रहता है (पदा)। अकर्मण्यता ही वासनाओं को पैदा करके वीर्यनाश का कारण बनती है।

भावार्थ—उपदेष्टा को चाहिए कि वह १. प्रभु के निहित तीनों चरणों को जानता हो, सृष्टि की उत्पत्ति, धारण व प्रलय को समझता हो, २. उसकी इन्द्रियाँ क्षीर-तुल्य मधुर शब्दों में उत्तम ज्ञान का दोहन करती हों, ३. वीर्यरक्षण द्वारा उसने तेजस्विता व मधुरता का सम्पादन किया हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जिज्ञासु का प्रश्न

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ६॥

१. जिज्ञासु कहता है कि—**पाकः**=पक्तव्य प्रज्ञावाला, **अविजानन्**=विशेषरूप से न जानता हुआ मैं **देवानाम्**=सूर्य-चन्द्र आदि देवों के **एना**=इन **निहिता पदानि**=रक्खे हुए पदों को **मनसा**=मन से **पृच्छामि**=आपसे पूछता हूँ। सूर्य-चन्द्र आदि देव शरीर में कहाँ-कहाँ रहते हैं—यह जानने के लिए मैं हृदय से उत्सुक हूँ, अतः आपसे पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। २. **वत्से**=सदा स्पष्टरूप से बोलनेवाले **बष्कये अधि**=(वट् सत्यम् कष् शासने) सत्य का शासन (अनुशासन, उपदेश) करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना में स्थित हुए-हुए **कवयः**=ज्ञानी लोग **सप्त तन्तून् वितत्निरे**=जिसमें ज्ञान का विस्तार किया गया है (तन्) उन सात गायत्री आदि छन्दों के ज्ञानरूप ताने को तानते हैं। तानते इसलिए हैं कि **ओतवै उ**=उसमें कर्म का बाना बुना ही जाए, अर्थात् ये ज्ञान के ताने में कर्म का बाना बुनते हैं—ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से अनुशासन प्राप्त करनेवाले क्रियाशील विद्वानों से मैं अपनी आत्मविषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पूछता हूँ कि इस देह में किस-किस देवता ने कहाँ-कहाँ स्थिति की है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

छह लोक और सातवाँ लोक

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्वनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ७॥

१. **अचिकित्वान्**=अविद्वान् होता हुआ-इस शरीर व शरीरी के रूप को ठीक-ठीक न समझता हुआ **चित्**=ही **अत्र**=इस मानव-जीवन में **चिकितुषः कवीन् विद्वनः**=ज्ञानी, क्रान्तदर्शी विद्वानों से **पृच्छामि**=पूछता हूँ। **न विद्वान्**=न जानता हुआ मैं ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। २. उस प्रभु के विषय में पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ **यः**=जोकि **इमा**=इन **षट्**=छह **रजांसि**=लोकों को **वि**=अलग-अलग, अपने-अपने स्थान में **तस्तम्भ**=थामे हुए हैं। इस प्रभु के आधार में इतनी तीव्र गति से क्रमण करते हुए भी ये लोक परस्पर टकराते नहीं। मैंने ऐसा सुना है कि सातवाँ लोक तो **अजस्य रूपे**=उस कभी न उत्पन्न होनेवाले प्रभु के स्वरूप में ही विद्यमान है। **एकं किम् अपि स्वित्**=यह लोक तो कुछ अद्वितीय-(एकम्)-सा ही है। इन लोकों की भाँति न होकर वह प्रभु का 'सत्य' स्वरूप ही है।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर प्रभु के आश्रय में स्थित छह लोकों का ज्ञान

प्राप्त करके उस अद्वितीय सातवें प्रभुरूप लोक को भी जानने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श शिष्य

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥

१. **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाला विद्यार्थी **पितरम्**=ज्ञानप्रद पितृरूप आचार्य को **ऋते**=सत्यज्ञान की प्राप्ति के निमित्त **आ बभाज**=सर्वथा सेवित करता है। आचार्य के प्रति श्रद्धा व भक्ति के अभाव में यह आचार्य से क्या ज्ञान प्राप्त करेगा? सत्यज्ञान की प्राप्ति की लालसा से यह आचार्य के पास आता है और **धीत्यग्रे**=(धीतिः अग्रे यस्मिन् तेन) ध्यान व कर्म है प्रमुख जिसमें उस **मनसा**=मन से यह **हि**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=ज्ञान से संगत होता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी श्रमशील हो (student-studious) तथा आचार्य के मुख से निकलते हुए एक-एक शब्द को ध्यान से सुने। उसकी प्रार्थना यही हो कि **'सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि'**। २. ऐसा विद्यार्थी आचार्य का प्रिय होता है। आचार्य इसे उपनीत करता हुआ मानो अपने गर्भ में ही धारण करता है। यह आचार्य की सन्ततिरूप हुआ-हुआ **बीभत्सुः**=आचार्य के साथ अपने को बाँध देने की इच्छावाला होता है। **गर्भरसा**=गर्भरस से—रहस्यमय ज्ञान के जल से **निविद्धा**=हृदय के अन्तस्तल तक सिक्त होता है। आचार्य के गर्भ में रहता हुआ यह गर्भस्थ बालक के समान गर्भरस से पोषित होता है। गर्भरस शुद्ध साररूप है। यह विद्यार्थी भी आचार्य के शुद्ध साररूप ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है और सबसे प्रमुख बात यह है कि **नमस्वन्तः इत्**=नमस्वाले, अर्थात् नम्रता से युक्त विद्यार्थी ही आचार्य के समीप पहुँचकर **वाकम्**=उपदेश को—वेदवाणी को **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। नम्र शिष्य ही आचार्य से ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

भावार्थ—शिष्य में १. जीवन के निर्माण की भावना होनी चाहिए (माता)। २. उसका एकमात्र उद्देश्य सत्यज्ञान की प्राप्ति हो (ऋते)। ३. वह श्रम व ध्यान-प्रधान मनवाला हो (धीत्यग्रे)। ४. आचार्य के सदा समीप हो (बीभत्सुः)। ५. नम्रता की भावना से ओत-प्रोत हो (नमस्वन्तः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दक्षिणायाः धुरि

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

१. **माता**=जीवन के निर्माण की इच्छावाला शिष्य **दक्षिणायाः धुरि**=दक्षिणा के जुए में (दक्षिणे सरलोदारौ) सरलता व उदारता के अग्रभाग में **युक्ता आसीत्**=आचार्य द्वारा जोड़ा जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को सरल व उदार वृत्ति का बनाता है। सरलता के अभाव में पारस्परिक प्रेम का विकास नहीं और उदारता के अभाव में पवित्रता नहीं, विशालता ही तो हृदय को पवित्र बनाती है। यह विद्यार्थी **वृजनीषु**=(Battles, Struggles) जब तक काम-क्रोधरूप वासनाओं से उसका संघर्ष चलता है, तब तक **अन्तः गर्भः अतिष्ठत्**=अन्तर्गर्भ के समान रहता है—आचार्य-गर्भ में तब तक ठहरता है, जब तक कि वह परिपक्व न हो जाए। २. आचार्यकुल में रहता हुआ यह आचार्य का प्रिय **वत्सः**=पुत्र-तुल्य शिष्य **अनु अमीमेत्**=आचार्य के पीछे-ठीक आचार्य के उच्चारण के अनुसार शब्द करता है। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ यह

विद्यार्थी **गाम्**=वेदवाणी को **अपश्यत्**=देखता है। इस वेदवाणी का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। यह उस वेदवाणी को देखता है जो **विश्वरूप्यम्**=सब विषयों का निरूपण करनेवाली है। यह विद्यार्थी इस वेदवाणी को **त्रिषु योजनेषु**=तीनों योजनाओं में देखता है—इसके प्रकृति, जीव व परमात्म-सम्बद्ध तीनों अर्थों को देखने का प्रयत्न करता है। ऋग्वेद मुख्यरूप से प्रकृति का वर्णन करता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है। यजुर्वेद जीव के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करता हुआ 'कर्मवेद' है और अध्यात्मज्ञान देता हुआ सामवेद 'उपासना वेद' है। अथर्व मनुष्य को रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर उन्नत राष्ट्र में सुन्दर जीवनवाला बनकर प्रभु-प्राप्ति का उपदेश करता है, एवं विश्व का निरूपण करनेवाले ये वेद विद्यार्थी को 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के विषय में ज्ञान प्राप्त कराते हुए 'नीरोग, निर्द्वेष व पूर्णपवित्र (सत्य)' बनाते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'सरल व उदार' वृत्तिवाला बनाए। विद्यार्थी परिपक्व होने से पूर्व आचार्य कुल में ही निवास करे। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ शिष्य अपने ज्ञान को परिपक्व करे। इस वेदवाणी के 'अध्यात्म, अधिभूत व अधिदेव' तीनों क्षेत्रों में होनेवाले अर्थों को देखे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन माता, तीन पिता

ति॒स्रो मा॒तॄस्त्रीन्पि॒तॄन्बि॒भ्र॒देक॑ ऊ॒र्ध्वस्त॑स्थौ॒ नेम॑व॑ ग्लापयन्त।
म॒न्त्र॒य॑न्ते दि॒वो अ॒मुष्य॑ पृ॒ष्ठे वि॑श्व॒वि॑दो॒ वाच॒मवि॑श्वविन्नाम्॥ १०॥

१. जीवन के निर्माण की भावना से आर्चाकुल में रहते हुए '**वसु, रुद्र व आदित्य**' ब्रह्मचारी तीन माताओं के रूप में स्मरण किये गये हैं। ऋचाओं के द्वारा विज्ञान का उपदेश देनेवाले आचार्य 'अग्नि' हैं, यजुर्मन्त्रों द्वारा 'कर्म' का उपदेश देनेवाले आचार्य 'वायु' हैं, साम-मन्त्रों द्वारा प्रभु से सम्बन्ध का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य 'सूर्य' हैं। ये आचार्य ही यहाँ तीन पिता कहे गये हैं। इन सबको धारण करनेवाला वह प्रभु ही है। **तिस्रः मातॄः**=तीन माताओं को और **त्रीन् पितॄन्**=तीन पितरों को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **ऊर्ध्वः तस्थौ**=सृष्टि की समाप्ति पर भी अपने चैतन्यरूप में स्थित होता है। ये प्रभु ही अगली सृष्टि के आरम्भ में पुनः वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। प्रभु अग्नि आदि ऋषियों को ज्ञान देते हैं। वे अगले शिष्यों को ज्ञान देते हैं। इसप्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से चलनेवाला यह ज्ञान नष्ट नहीं होता। आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए शिष्य **ईम्**=निश्चय से **न-अवग्लापयन्त**=ग्लानि को प्राप्त नहीं होते—ये कभी ऊबते नहीं। आचार्य इन्हें रमण कराते हुए बड़े प्रिय ढंग से ज्ञान प्राप्त कराते हैं '**वसोष्पते निरमय, मय्येवास्तु मयि श्रुतम्**'। २. वे आचार्य व शिष्य **अमुष्य दिवः पृष्ठे**=उस उत्कृष्ट ज्ञान के स्तर पर स्थित हुए-हुए **विश्वविदः**=विश्व का ज्ञान प्राप्त करानेवाले **वाचं मन्त्रयन्ते**=इस वेदवाणी का परस्पर विचार करते हैं। ये उस वेदवाणी का विचार करते हैं जो **अविश्वविन्नाम्**=सब व्यक्तियों से प्राप्त नहीं की जाती। सामान्य मनुष्य प्रकृति के भोगों के पीछे जाकर उस वेदवाणी को पढ़ने का यत्न नहीं करता। विरल व्यक्ति ही इसे अपनाते हैं।

भावार्थ—'वसु, रुद्र व आदित्य' ब्रह्मचारी जीवन का निर्माण करनेवाले होने से तीन माताओं के समान हैं। 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान देनेवाले 'अग्नि, वायु व आदित्य' आचार्य तीन पितर हैं। इन सबका धारण करनेवाला अद्वितीय प्रभु है। आचार्यकुल में आचार्य शिष्यों को यह वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान की ओर सभी का झुकाव नहीं होता।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

भूगोल (The globe of our earth)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥ ११॥

१. यह पृथिवीचक्र पाँच अरोंवाला है। इस भूमण्डल का पहला भाग भूमध्यरेखा के दोनों ओर २३×½ डिग्री तक 'उष्ण-कटिबन्ध' कहलाता है। २३×½डिग्री से ६६×½ डिग्री तक उत्तर तथा दक्षिण में दो 'समशीतोष्ण-कटिबन्ध' कहलाते हैं तथा ६६×½ डिग्री से ९० डिग्री तक दोनों ओर 'हिम-कटिबन्ध' हैं। इस **परिवर्त्तमाने**=अपनी कीली पर निरन्तर परिवृत्त होते हुए **पञ्चारे चक्रे**=पाँच अरोंवाले इस पृथिवीचक्र में **यस्मिन्**=जिसमें **विश्वा भुवनानि आतस्थुः**=सभी प्राणी स्थित हैं। **तस्य**=उस पृथिवीचक्र का **भूरिभारः**=पृथिवी के अनन्त-से बोझवाला **अक्षः**=अक्ष (axle) **न तप्यते**=सन्तप्त नहीं होता। 'कितना दृढ़ यह अक्ष है' यह सोचकर ही मनुष्य का सिर चकरा जाता है। यह चक्र **सनात्**=सदा से **सनाभिः**=समान नाभिवाला होता हुआ **एव**=भी **न छिद्यते**=छिन्न नहीं होता।

भावार्थ—यह भूमण्डल का चक्र अपनी कीली पर निरन्तर घूम रहा है। यह पाँच भागों में बटा हुआ है। अनन्त बोझ से लदा हुआ इस पृथिवी का अक्ष सन्तप्त नहीं होता। समान नाभिवाला होता हुआ भी यह चक्र कभी छिन्न नहीं होता। 'पृथिवी च दृढा' यह नितान्त सत्य ही है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—जगती॥

कालचक्र

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥ १२॥

१. ज्ञानी लोग कालचक्र को **पञ्चपादम्**=पाँच पावोंवाला **आहुः**=कहते हैं। **'उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन'**—ये पाँच कर्म ही इसकी गति के द्योतक हैं। क्रिया होती है और वह क्रिया की गति ही काल के रूप में नापी जाती है। **पितरम्**=काल को वे पिता कहते हैं। **'कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत'** (अथर्व० १९.५३.५)। काल ही द्युलोक व पृथिवीलोकों को जन्म देता है, अतः यह उनका पिता है। **द्वादशाकृतिम्**=इसे बारह आकृतियोंवाला कहते हैं। बारह मास ही इसकी बारह आकृतियाँ हैं। इस काल को ही **दिवः परे अर्धे**=द्युलोक के उत्कृष्ट स्थान में **पुरीषिणम्**=जलवाला कहते हैं। कालविशेष में ही सूर्य की तीव्र किरणों से पृथिवीस्थ समुद्र वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र के रूप में परिणत हो जाता है। यह मेघरूप जलपूर्ण कुम्भ काल में ही स्थित है—'पूर्णः कुम्भो अधि काल आहितः (अथर्व० १९.५३.३)। २. **अथ**=अब **इमे अन्ये**=ये अन्य विद्वान् इस रूप में भी कालचक्र का वर्णन करते हैं कि **विचक्षणे**=अपनी सहस्रों आँखों से देखनेवाले (**काले चक्षुर्विपश्यति**—अथर्व० १९.५३.६) सबकी आँखों को देखने की शक्ति देनेवाले **सप्तचक्रे**=सात चक्रोंवाले (दिन-रात का चक्र, सात वारों का चक्र, दो पक्षों का चक्र, मासचक्र, ऋतुचक्र, अयनचक्र, शतवर्षचक्र) **षट् अरे**=छह ऋतुरूप छह अरोंवाले **उपरे**=(उपरमन्ते अस्मिन् प्राणिनः) प्राणियों के उपराम (दीर्घ विश्राम) के स्थानभूत इस काल में **अर्पितम्**=यह सारा विश्व अर्पित है।

भावार्थ—कालचक्र का विचार करते हुए हम उसे व्यर्थ न गँवाने का निश्चय करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

द्वादशार-चक्र

द्वादशारं नहि तज्जराय ववर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥

१. यह कालचक्र **द्वादशारम्**=बारह अरोंवाला है। वैशाख आदि बारह मास ही इसके बारह अरे हैं। यह कालचक्र निरन्तर चलता है। **तत्**=वह **जराय नहि**=कभी जीर्ण नहीं होता। यह **चक्रम्**=चक्र तो **द्यां परि**=इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र **ववर्ति**=नित्य चलता ही चला जा रहा है। यह चक्र **ऋतस्य**=ऋत का—नियमित गति का है। हमें भी यह नियमित गतिवाला होने का उपदेश कर रहा है। २. हे **अग्ने**=निरन्तर आगे और आगे चलनेवाले कालचक्र! तेरे **सप्तशतानि विंशतिः च**=सात सौ बीस दिन-रातरूप **मिथुनासः**='दिवस-रजनी', 'वासर-वाशुरा', 'घस्र-निशा' नामक द्वन्द्वरूप **पुत्राः**=पुत्र **अत्र**=यहाँ—ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में **आतस्थुः**=स्थित हैं। दिन कार्य करने के लिए है और रात्रि विश्राम के लिए। दिनभर काम करता हुआ और रात्रि में विश्राम लेता हुआ यह व्यक्ति पवित्र बना रहता है। यह पवित्रता उसे सुन्दर, दीर्घजीवनवाला बनाती है। एवं, ये दिन-रातरूप मिथुन 'पु-त्र' हैं (पुनन्ति-त्रायन्ते)।

भावार्थ—बारह मासरूप बारह अरोंवाला यह कालचक्र इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र गति कर रहा है। इस कालचक्र में सात सौ बीस दिन-रात हैं। ये हमें कार्य व विश्राम के चक्र में चलाते हुए पवित्र और सुरक्षित बनाये रखते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—जगती ॥

'रजः आवृतं' सूर्य चक्षु

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १४ ॥

१. यह पृथिवी भी एक चक्र की भाँति है और इस चक्र की 'नेमि' बदलती नहीं रहती। यह **सनेमि**=समान नेमिवाला है—इस पृथिवीचक्र की परिधि जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। यह **चक्रम्**=समान नेमिवाला पृथिवीचक्र **अजरम्**=अजर है—कभी जीर्ण नहीं होता। यह **विवावृते**=विशेष तीव्र गति से सूर्य के चारों ओर बारम्बार घूम रहा है। प्रतिवर्ष यह अपना चक्राकार भ्रमण पूर्ण कर लेता है। २. इस **उत्तानायाम्**=न तो सम और न ही अवतल (Concave), अपितु उत्तान, (Convex) इस भूचक्र पर अवस्था व विकास के दृष्टिकोण से **दश**=दस स्थितियों में वर्त्तमान पुरुष **युक्ताः**=अपने-अपने व्यापार में लगे हुए **वहन्ति**=जीवन का वहन कर रहे हैं। आयुष्य की दश दशतियों में चलते हुए व्यक्ति ही यहाँ 'दश' कहे गये हैं। ३. **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य का प्रकाश **रजसा**=अन्तरिक्षस्थ जलवाष्पों से आवृत्त हुआ-हुआ **एति**=हम तक पहुँचता है। इतने दीर्घ आवरणों को पार करने के कारण ही हमें सूर्यकिरणों की प्रचण्ड उष्णता अनुभव नहीं होती। यह सूर्यचक्षु वह है, **यस्मिन्**=जिस रजःआवृत्त सूर्यप्रकाश में ही **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आतस्थुः**=स्थित हैं। इस प्रकाश के अभाव में जीवन सम्भव नहीं।

भावार्थ—इस भूचक्र की परिधि कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। इस उत्तान भूचक्र में जीवन की दस दशतियों में वर्त्तमान मनुष्य अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए चल रहे हैं। इस भूचक्र पर सूर्य का प्रकाश विशाल अन्तरिक्ष-समुद्र में से होकर हम तक पहुँचता है। इस सूर्यप्रकाश से ही सब जीवित हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पुत्रः=पितुः पिता

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिताऽसत्॥ १५॥

१. इन्द्रियाँ विषयों से मेल (संघात) के कारण 'स्त्रियः' कहाती हैं। (स्त्यै संघाते)। यास्क कहते हैं—'**स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः**'—शब्दादि विषयों का हरण करने से ये स्त्रियाँ ही हैं। ये ही इन्द्रियाँ संयत होने पर ज्ञानोपार्जन का साधन बनकर रक्षा करनेवाली होती हैं, अतः 'पुमस्' (पा डुयसुन्) कहलाती हैं। एक संयमी पुरुष कहता है कि **स्त्रियः सतीः**=स्त्री होते हुए **तान् उ**=उन इन्द्रियों को ही **मे**=मेरे लिए **पुंसः आहुः**=पुमान् कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रियों की इस द्विरूपता को **पश्यत्**=देखनेवाला व्यक्ति ही **अक्षण्वान्**=उत्तम आँखोंवाला है, परन्तु जो **न विचेतत्**=इस द्विरूपता को नहीं समझता वह **अन्धः**=अन्धा है। विषयों में ले-जाकर, क्षणिक आनन्द के भोगों में फँसाकर ये हमें समाप्त भी कर सकती हैं और संयत होकर उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति का साधन होती हुई ये हमारी रक्षा करनेवाली भी हो सकती हैं। २. **यः**=जो **ईम्**=अब **आचिकेत**=इन इन्द्रियों के स्वरूप का सर्वथा अनुशीलन करके इन्हें समझ लेता है, **सः**=वह **कविः**=ज्ञानी बनता है और **पुत्रः**=ज्ञान द्वारा अपना पवित्रीकरण करके अपना रक्षण करनेवाला होता है। **यः**=जो **ताः**='स्त्रियः' शब्द से कही गई इन इन्द्रियों को **विजानात्**=अच्छी प्रकार समझ लेता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् रक्षक होता है। वह इन्द्रियों को विषयों में फँसने से रोककर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनाता हुआ अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयासक्त करके हमारे संघात (विनाश) का भी कारण बनती हैं और ज्ञान-प्राप्ति का साधन होती हुई ये इन्द्रियाँ हमें पवित्र बनाती हैं। इनके स्वरूप को समझकर हम इनका ठीक प्रयोग करते हुए ज्ञान द्वारा अपना रक्षण करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—आदित्यः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—जगती ॥

धामशः, न कि रूपशः

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ १६॥

१. जब जीव शरीर ग्रहण करता है तब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आत्मा के साथ ही शरीर में प्रवेश करते हैं (सह उत्पन्नानां षड् इन्द्रियाणाम्—यास्क)। ये **साकंजानाम्**=साथ ही होनेवाली इन इन्द्रियों के **सप्तथम्**=सातवें बुद्धितत्त्व को भी **एक-जम्**=उस मुख्य आत्मतत्त्व के साथ रहनेवाली **आहुः**=कहते हैं। आत्मा शरीर-रथ का रथी है तो बुद्धि सारथि है। यह सारथि मनरूप लगाम के द्वारा इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में रखता है। ये **षट्**=मन व इन्द्रियाँ बुद्धिरूप सारथि से नियन्त्रित होने पर **यमाः इत्**=निश्चय से यम (नियन्त्रित) कहलाती हैं। उस समय ये **ऋषयः**=तत्त्वदर्शन करनेवाली होती हैं और **देवजाः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली होती हैं। ये हमें ज्ञान व दिव्य सम्पत्ति से भर देती हैं। **इति**=बस, नियन्त्रित हुई-हुई ये ज्ञान व दिव्य गुणों को देनेवाली-सी बनती हैं। २. प्रभु ने **तेषाम्**=उन मन, इन्द्रियों व बुद्धि का **धामशः**=शक्ति के दृष्टिकोण से **इष्टानि विहितानि**=वाञ्छनीय पदार्थों का निर्माण किया है। हमें इन सांसारिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, **रूपशः**=सौन्दर्य व स्वादादि के मापक से इन पदार्थों का प्रयोग होने पर **विकृतानि**=विकृत हुई-हुई ये इन्द्रियाँ **स्थात्रे**

रेजन्ते=इस शरीररूप रथ पर रहनेवाले अधिष्ठाता जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली हो जाती हैं, अतः हमें इन पदार्थों का प्रयोग शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, न कि सौन्दर्य व स्वाद के लिए।

भावार्थ—शरीर में आत्मा के साथ प्रवेश करनेवाली इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं। बुद्धि से नियन्त्रित इन्द्रियाँ व मन हमें ज्ञान व दिव्य गुणों से भर देते हैं। यदि हम प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति को बढ़ाने के दृष्टिकोण से करते हैं तो ठीक है, परन्तु स्वाद व सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुई तो ये विकृत होकर जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी के चार लाभ

अवः परेण पर एनाऽवरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ १७॥

१. **गौः**=यह वेदवाणी **पदा**=अपने अर्थगमक पाँवों से **वत्सम्**=(वदति) उच्चारण करनेवाले प्रिय जीव को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **उदस्थात्**=जीव को उन्नत स्थान में स्थित करती है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र तिष्ठति)। यह वेदवाणी **अवः**=इस निचले क्षेत्र में **परेण**=पर के द्वारा और **परः**=पर क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अवर के द्वारा—हमारा धारण करती है। 'पर' पराविद्या, 'अवर' अपराविद्या। अपराविद्या हमारे लिए सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करती है, परन्तु यदि यह पराविद्या से युक्त न हो तो मनुष्य इन पदार्थों का स्वादादि के लिए प्रयोग करता हुआ नष्ट हो जाता है। वह असुर-सा बन जाता है। इसी प्रकार पराविद्या के क्षेत्र में चलते हुए व्यक्ति के लिए यह अपराविद्या प्रकृति के अन्दर सौन्दर्य व व्यवस्था के अद्भुत चमत्कारों को दिखाती हुई साधक को प्रभु की महिमा को देखने योग्य बनाती है। एवं ये अवर पद उसे प्रभुभक्त बनाते हुए पर क्षेत्र में धारण करते हैं। २. **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चति) पृथिवी पर गति करती हुई **कं स्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=ऋद्ध स्थान को—सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर प्राप्त होती है। इस वेदवाणी के अवर पद इस पृथिवी पर प्राकृतिक देवों का बोध देते हैं तो पर पद उस प्रणेता (निर्माता) प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। एवं यह वेदवाणी हमें प्रकृति-विज्ञान में निष्णात करती हुई ब्रह्म का दर्शन कराती है। यह ब्रह्मद्रष्टा मुक्त हो जाता है, अतः यह वेदवाणी **क्व स्वित् सूते**=भला, फिर यह जन्म कहाँ देती है?, अर्थात् उस तत्त्वद्रष्टा को सुदीर्घकाल के लिए मुक्त कर देती है। यदि यह वेदाध्येता एक जन्म में मुक्त न भी हो सके तो भी निश्चय से वह **यूथे अस्मिन् नहि**=इस सामान्य लोकसमूह में तो उसे जन्म नहीं देगी। यह 'शुचीनां श्रीमताम्' अथवा 'योगिनामेव', शुचि, श्रीमान् व योगियों के घरों में जन्म लेनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें १. ज्ञानद्वारा उच्च स्थान पर पहुँचाती है। २. यह प्रकृति विद्या से जाने गये पदार्थों से हमें शक्तिसम्पन्न बनाती हुई आत्मविद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त कराती है। ३. देवों का ज्ञान देती हुई महादेव की महिमा का दर्शन कराती है। मोक्ष को प्राप्त करने योग्य न होने पर भी यह हमें उत्कृष्ट कुलों में जन्म देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवं मनः

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।
कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ १८॥

१. **अवः**=(अवस्तात्) प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **पितरम्**=पालक को **वेद**=जानता है और **अवः परेण**=जैसे प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से, इसी प्रकार **परः**=पराविद्या के क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अपरा विद्या के प्रतिपादक वाक्यों से वह प्रभु को जानता है। विद्या और अविद्या (अपराविद्या) को मिला देने से ही मनुष्य प्रकृति द्वारा अपना पालन करता हुआ प्रभु को पानेवाला बनता है। २. **कवीयमानः**=एक क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा की भाँति आचरण करता हुआ यह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला व्यक्ति **इह**=यहाँ **प्रवोचत्**=इस ज्ञान का प्रवचन करता है। इस तत्त्वद्रष्टा के जीवन में **कु-तः अधि**=(कु पृथिवी) पृथिवी से ऊपर उठकर **देवं मनः**=दैवी वृत्तिवाला मन **प्रजातम्**=प्रादुर्भुत हुआ है। 'देवो दानात्' यह प्रजाओं के लिए ज्ञान देने में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—अपराविद्या व पराविद्या को मिलाकर जो ब्रह्माण्ड के पिता प्रभु को जानने का प्रयत्न करता है वह क्रान्तदर्शी, आनन्दमय स्वभाववाला व्यक्ति औरों के लिए इस तत्त्वज्ञान को देता हुआ आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र+सोम

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ १९॥

१. **ये**=जो **अर्वाञ्चः**=अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **पराचः आहुः**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य कहते हैं। अपराविद्या के वाक्यों को समझने पर एक-एक प्राकृतिक पदार्थ में प्रभु की महिमा दीखने लगती है। इसप्रकार ये हमें पराविद्या की ओर ले-जाते हैं। ये **पराञ्चः**=जो पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **अर्वाचः आहुः**=अपराविद्या के प्रतिपादक कहते हैं। कर्त्ता को समझते हुए हम कर्ता की रचना को भी समझने लगते हैं। २. **न**=जैसे एक रथ के दो पहिंए **धुरा**=अक्ष से **युक्ता**=जुड़े हुए रथ की अग्रगति के साधक होते हैं, उसी प्रकार ये अपरा और परा-विद्याएँ परस्पर जुड़ी हुई मनुष्य को **रजसः वहन्ति**=रजोगुण से ऊपर उठा देती है। केवल अपराविद्या मनुष्य को विलासी बना देती है और केवल पराविद्या उसे अकर्मण्य-सा कर देती हैं। इनका मेल उसे क्रियाशील व अनासक्त बनाकर सत्त्वगुण में अवस्थित करनेवाला होता है। २. यें अपरा व पराविद्या के प्रतिपादक वेदवाक्य **तानि**=वे हैं **या**=जिन्हें **इन्द्रः च**=जितेन्द्रिय पुरुष और **सोम**=हे सौम्यस्वभाव सम्पन्न पुरुष! **चक्रथुः**=तुम दोनों साक्षात् किया करते हो। आदर्श विद्यार्थी 'इन्द्र' है, आदर्श आचार्य सोम है। ये आचार्य व विद्यार्थी दक्षिण व उत्तर अरणि हैं, इनके मिलने से ही ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में अपरा व पराविद्या का समन्वय करते हुए रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित हों। सौम्यता व जितेन्द्रियता का मेल हमारे जीवन में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वा सुपर्णा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

१. **द्वा सुपर्णा**=जीवात्मा व परमात्मा दो सुपर्ण हैं—उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले

हैं। परमात्मा का पालनात्मक कर्म सर्वत्र प्रत्यक्ष है। जीव भी सद्गृहस्थ बनकर एक परिवार का पालन करता है। ये दोनों **सयुजा**=एक साथ मिलकर हृदयान्तरिक्ष में रहनेवाले हैं, **सखाया**=सखा हैं—दोनों का इकट्ठा ही दर्शन होता है। ये दोनों **समानं वृक्षम्**=एक ही संसाररूप वृक्ष का **परिषस्वजाते**=आलिंगन करते हैं, दोनों इस संसार में रहते हैं। २. **तयोः अन्यः**=उन दोनों सुपर्णों में से एक जीव **पिप्पलम्**=संसार-वृक्ष के फल को **स्वादु अत्ति**=मज़ा लेकर खाता है। **अन्यः**=दूसरा प्रभु **अनश्नन्**=फलों का किसी प्रकार से भोग न करता हुआ **अभिचाकशीति**=चारों ओर, इन फलों को खाते हुए जीवों को देखता है। जीव शरीर रक्षण के लिए खाता है तो ठीक है, स्वाद के लिए खाने लगता है, तो प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा 'सुपर्ण' हैं, 'सयुज्' हैं, 'सखा' हैं। एक ही प्रकृतिवृक्ष पर रहते हैं। जीव स्वाद से इस प्रकृतिवृक्ष के फलों को खाता है, परन्तु प्रभु उसे केवल देखते हैं और आवश्यक होने पर दण्डित करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु का ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २१॥

१. **यस्मिन् वृक्षे**=विकृतिरूप जिस संसार-वृक्ष पर **मध्वदः सुपर्णाः**=(मधुः अदः) बड़े स्वाद से इस वृक्ष के फलों को भोगनेवाले व बड़े प्रयत्न से (सु) अपने पालन के लिए विविध भोगों को अपने भण्डार में पूरित करनेवाले जीव **निविशन्ते**=(निविश् to be attached to) अनुरक्ति व आसक्तिवाले हो जाते हैं **च**=और इस आसक्ति के कारण **विश्वे**=इसमें प्रविष्ट हुए-हुए, अर्थात् उलझे हुए-हुए ये जीव **अधि सुवते**=खूब अधिकता से इन विषयरूप फलों का लाभ करते हैं (विषयान् लभन्ते—सा०)। २. **तस्य**=उस संसार-वृक्ष का **यत्**=जो **अग्रे स्वादुः**=स्वादिष्टों में अग्रगण्य **पिप्पलम्**=(मोक्षरूप) फल है, **तत्**=उस मोक्षरूप फल को **न उत् नशत्**=नहीं प्राप्त होता, **यः**=जोकि **पितरं न वेद**=इस वृक्ष पर ही रहनेवाले सब जीवों के रक्षक पिता को नहीं जानता।

भावार्थ—प्रभु को जाननेवाला ही प्रभु की महिमा को समझकर उस परमानन्द की प्राप्ति की तुलना में इन भोगों की तुच्छता को समझता है तो इन भोगों के प्रति निर्विण्ण हो जाता है। प्रभु को जाने बिना मोक्ष-सुख सम्भव नहीं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान परिपक्वता व प्रभु-प्राप्ति

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ २२॥

१. **यत्र**=जब **सुपर्णाः**=(सुपत्नानि इन्द्रियाणि वा) उत्तम गतिवाली इन्द्रियाँ **अनिमेषम्**=बिना पलक झपकाए, अर्थात् निरन्तर दिन-रात **विदथा**=ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से **अमृतस्य भक्षम्**=(अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्—तै०उ० १.२५.१०) ज्ञान के भोजन का **अभिस्वरन्ति**=लक्ष्य करके इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करती हैं, तब **एना**=इस ज्ञान की वाणी के उच्चारण से, अर्थात् जीवन को ज्ञानप्रधान बना देने से **सः**=वह **विश्वस्य भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक **धीरः**=(धियं ईरयति) बुद्धि को प्रेरणादेनेवाला प्रभु **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **पाकः**=(परिपक्वमनस्कम्—सा०) ज्ञान से परिपक्व मनवाले **मा**=मुझे **आविवेश**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम दिन-रात ज्ञान की वाणियों के अपनाने का प्रयत्न करें। इसप्रकार ज्ञान से परिपक्व मनवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त होनेवाले होंगे।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—जगती॥

तीन बातों को समझना

यद्गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभं वा त्रैष्टुभान्निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः॥ १॥

१. पहली बात यह है **यत्**=कि **गायत्रे**=यज्ञ में (गायत्रो वै यज्ञः—गो०पू० ४.२४) **गायत्रम्**=पुरुष (गायत्रो वै पुरुषः—ए० ४.३) **अधि आहितम्**=अधीन करके रक्खा गया है। पुरुष का जीवन यज्ञ पर आश्रित है। यज्ञ के अभाव में पुरुष नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन का केन्द्र है। २. **वा**=और **त्रैष्टुभात्**=त्रिवेद-विद्या के स्तवन के द्वारा—अपने में 'ज्ञान, कर्म व उपासना'—इन तीनों को स्थिर करने के द्वारा **त्रैष्टुभं निरतक्षत**=अपने जीवन को तीनों सुखों से सम्बद्ध किया करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा प्रभु के उपासन से आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक'—इन तीनों तापों से निवृत्त होकर (त्रि+ष्टुभ्) मानव जीवन तीन सुखों से सम्बद्ध होता है। (त्रैष्टुभः त्रिभिः सुखैः सम्बद्धः—द०, त्रिवेदविद्यास्तवनेन—द०)। ३. तीसरी बात यह है **यत्**=कि **वै**=निश्चय से **जगत्**=सर्वत्र गतिवाला **पदम्**=मुनियों से जाए जाने योग्य वह प्रभु **जगति आहितम्**=सारे ब्रह्माण्ड में—कण-कण में आहित हैं। **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस कण-कण में वर्त्तमान प्रभु को जानते हैं, **ते**=वे **अमृतत्वम् आनशुः**=मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मोक्ष को वे ही प्राप्त करते हैं जोकि यह समझ लेते हैं कि १. यज्ञ में ही पुरुष का जीवन निहित है, २. ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय ही त्रिविध दुःखों को रोकता है तथा ३. वे गतिशील मुनियों से गम्य प्रभु ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

गायत्र-अर्क-साम (त्रैष्टुभ)-वाक्

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥ २॥

१. **गायत्रेण**=यज्ञ के द्वारा **अर्कम्**=उपासना को—पूजा को **प्रतिमिमीते**=सम्यक्तया सिद्ध करता है, अर्थात् प्रभु का वास्तविक उपासन यज्ञों के द्वारा ही निष्पन्न होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**—देव यज्ञरूप विष्णु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना करते हैं। **अर्केण**=इस अर्चना से ही **साम**=सच्ची शान्ति प्राप्त होती है। उपासना से ही त्रिविध तापों का निरोध होकर जीवन शान्त बनता है। **त्रैष्टुभेन वाकम्**=त्रिविध तापों के समाप्त होने पर ज्ञान (वेदवाणी) की प्राप्ति होती है। सब प्रकार से शान्त वातावरण में ही ज्ञान का विकास होता है। २. **वाकेन वाकम्**=अब एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान **द्विपदा चतुष्पदा**=दिन दुगना और रात चौगुना (by leaps and bounds) बढ़ने लगता है, अर्थात् हम ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर पूर्ण तीव्रता से बढ़ चलते हैं। प्रारम्भिक साधना ही समय की अपेक्षा करती है, फिर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है और यह साधक **अक्षरेण**=अविनाशी, सर्वव्यापक प्रभु के द्वारा **सप्त वाणीः प्रति मिमते**=सप्त छन्दोमयी इस वेदवाणी को मापने लगते हैं। हृदयस्थ प्रभु ही इन्हें वेद का साक्षात्कार कराने लगते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करें। इस उपासन से हमारा जीवन दुःखत्रय निवृत्ति द्वारा शान्त बनेगा। शान्त जीवन में ज्ञानवृद्धि होगी और उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि होती हुई, हमें हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान-सन्देश के सुनने के योग्य बनाएगी।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

रथन्तरे सूर्यम्

जग॑ता॒ सिन्धुं॑ दि॒व्य॑ स्कभायद्रथन्त॒रे सूर्यं॒ पर्य॑पश्यत्।
गा॒य॒त्रस्य॑ स॒मिध॑स्ति॒स्र आ॑हुस्ततो॑ म॒ह्ना प्र रि॑रिचे महि॒त्वा॥ ३॥

१. **जगता**=उस सर्वगत, सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वं वा इदमात्मा जगत्) प्रभु के द्वारा उपासक **सिन्धुम्**=अपने ज्ञान-समुद्र को (वाग्वै समुद्रः—तां० ६।४।७) **दिवि अस्कभायत्**=द्युलोक में, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर थामता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने पर **रथन्तरे**=इस पृथिवी पर ही (इयं पृथिवी वै रथन्तरम्—कौ० ३।५), **सूर्यम्**=स्वर्ग को (एष आदित्यः स्वर्गो लोकः—तै० ३।८।१०।३) **परि अपश्यत्**=चारों ओर देखता है। ज्ञान निष्कामता को जन्म देता है, निष्कामता स्वर्ग को। ज्ञानवृद्धि से द्वेषशून्य होकर हम इस पृथिवी पर स्वर्ग को अवतीर्ण करनेवाले बनेंगे। २. 'गायत्र से उपासना, उपासना से शान्ति, शान्ति से ज्ञान' इस ज्ञानचक्र में ज्ञान-सिन्धु का आदिस्रोत गायत्र ही है। इस **गायत्रस्य**=यज्ञ की **समिधः**=समिन्धन—दीप्त करनेवाली वस्तुएँ **तिस्रः आहुः**=तीन कही गई हैं। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा'—इन पाँच देवों का पूजन पहली समिधा है। इनके साथ मेल (संगतिकरण) दूसरी तथा इनके प्रति अर्पण तीसरी समिधा है। इस ज्ञानयज्ञ की अग्नि में शिष्य से डाली जानेवाली ये तीन समिधाएँ हैं। आचार्य से डाली जानेवाली समिधाओं का नाम 'पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान, अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान' है। **ततः**=उस ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य **मह्ना**=बल के दृष्टिकोण से और **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **प्ररिरिचे**=सभी को लाँघ जाता है। यही मनुष्य की महिमा है कि वह ज्ञान के द्वारा इस मर्त्यलोक को ही स्वर्गलोक बना दे।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की उपासना द्वारा सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा इस भू-मण्डल को वह स्वर्ग बना देता है। इस ज्ञान-यज्ञ में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक'-स्थ पदार्थों के ज्ञान की आहुति देता हुआ वह बल व महिमा के दृष्टिकोण से सभी को लाँघ जाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सुदुघा धेनु

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दोह॑देनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत्॥ ४॥
हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सुपत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒ऽभ्याग॑त्।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां म॒हते सौभ॑गाय॥ ५॥

व्याख्या देखें—अथर्व० ७।७३।७-८ वहाँ 'अभ्यागात्' के स्थान पर 'न्यागन्' पाठ है। अर्थ समान ही है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

गौः, अमीमेत्

गौर॑मीमेद॒भि व॒त्सं मि॒षन्तं॑ मू॒र्धानं॒ हिङ्ङ॑कृणो॒न्मात॒वा उ॑।
सृक्वा॑णं घ॒र्मम॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः॥ ६॥

१. **गौः**=यह वेदवाणीरूप गौ **मिषन्तम्**=(मिष् to look at) ध्यान से देखते हुए **वत्सम् अभि**=उच्चारण करनेवाले के प्रति **अमीमेत्**=शब्द करती है—बोलती है। यदि हम इस वेदवाणी को ध्यान से देखेंगे और इसे पढ़ेंगे तो यह हमारे प्रति बोलेगी, अर्थात् यह हमें अवश्य समझ में आएगी। यह वेदमाता ध्यान से पढ़नेवाले के **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **हिंकृणोत्**=ज्ञान की किरणों से जगमग कर देती है (रश्मयो वै हिंकारः)। इसलिए इसके मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करती है कि **मातवा उ**=यह उत्तम ज्ञानी बनकर निर्माण का कार्य कर सके। २. **सृक्वाणम्**=(सृज उत्पन्न करना) उत्पादक **घर्मम्**=तेज को **अभिवावशाना**=पाठक के लिए चाहती हुई, यह वेदवाणी अपने पाठक को **मायुम्**=(माया=ज्ञान) ज्ञानवाला **मिमाति**=बनाती है। एवं, वेदज्ञ विद्वान् ध्वंस के साधनों को नहीं अपितु निर्माण के लिए उपयोगी वस्तुओं को ही आविष्कृत करता है। इसप्रकार यह वेदवाणी **पयोभिः**=अपने ज्ञानरूपी दुग्ध से **पयते**=अपने पाठक को आप्यायित करती है। यदि व्यक्ति इस वेदवाणी का ध्यान से पाठ करता है, तो यह उसका प्रतिफल ज्ञानरूप दूध से देती है।

भावार्थ—यदि हम वेदवाणी को ध्यान से पढ़ेंगे तो यह अवश्य समझ में आएगी। समझ में आने पर यह हमें निर्माण में प्रवृत्त करेगी। इस प्रवृत्ति के साथ हममें उत्पादन की शक्ति भी होगी और हम उत्पादन-शक्ति से इस संसार को अवश्य सुन्दर बना पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

वेदज्ञान का क्रम

अ॒यं स शि॑ङ्क्ते॒ येन॒ गौर॒भीवृ॑ता॒ मिमा॑ति मा॒युं ध्व॒सना॒वधि॑ श्रि॒ता।
सा चि॒त्तिभि॒र्नि हि च॒कार॒ मर्त्या॒न्विद्यु॒द्भव॑न्ती॒ प्रति॑ व॒व्रिमौ॑हत॥ ७॥

१. **येन**=जिसने **गौः अभिवृता**=चारों ओर से अपना ध्यान हटाकर वेदवाणी को वरा है, अर्थात् उसी में अपने मन को केन्द्रित किया है, **अयं सः**=यह वेदाध्येता **शिंक्ते**=अव्यक्त ध्वनि करता है। यद्यपि उसे वेदार्थ अभी व्यक्त नहीं, तो भी श्रद्धापूर्वक, ध्यान से उसका पाठ करता है, तो **ध्वसनौ**=अज्ञान के ध्वसं में **अधिश्रिता**=लगी हुई यह वेदवाणी उस पुरुष को **मायुं मिमाति**=ज्ञानवाला बनाती है। २. **सा**=वह वेदवाणी **चित्तिभिः**=कर्त्तव्याकर्त्तव्यों के ज्ञान द्वारा **हि**=निश्चय से **मर्त्यम्**=मनुष्य को **निचकार**=ऊँचा उठाती है, (निकार lift up) और **विद्युत् भवन्ती**=विशेषरूप से द्योतमान होती हुई **वव्रिम्**=अपने रूप को **प्रति औहत**=प्रकट करती है।

भावार्थ—वेद को समझने के लिए १. मनुष्य अन्यत्र श्रम न करके श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन में ही लगे। अर्थ समझ में न भी आये तो भी उसका पाठ करे। २. धीरे-धीरे यह वेदवाणी उसके अज्ञान को नष्ट करती हुई उसे ज्ञानी बनाएगी। ३. कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के द्वारा उसके आचरण व व्यवहार के स्तर को ऊँचा करेगी और ४. अन्त में यह वेदवाणी उसके सामने स्पष्ट हो जाएगी। वह इसका ऋषि—द्रष्टा बनेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीव 'शरीर में व शरीर के बाहर'

अ॒न॒च्छ॑ये तु॒रगा॑तु जी॒वमेज॑द् ध्रु॒वं मध्य॒ आ प॒स्त्या॑नाम्।
जी॒वो मृ॒तस्य॑ चरति स्व॒धाभि॒रम॑र्त्यो॒ मर्त्ये॑ना॒ सयो॑निः॥ ८॥

१. यह जीव **पस्त्यानां मध्ये**=इन शरीररूप गृहों के बीच में **अनत्**=श्वासोच्छ्वास की क्रिया को चलाता हुआ **आशये**=निवास करता है। प्राणों का कार्य तभी तक चलता है, जब तक इस शरीर में जीव का निवास है। **तुरगातु**=यह तूर्णगमन है—बड़ी तीव्रता से सब व्यापारों को

करनेवाला है। एक ही सैकिण्ड में कितनी ही आकृतियों को देख जाता है। **जीवम्**=इसी के कारण शरीर जीवनवाला कहाता है। यह गया और देह निर्जीव हुई। **एजत्**=यही सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गतिवाला करता है। इस प्राकृतिक अतएव जड़ शरीर में स्वयं गति नहीं। **ध्रुवम्**=यह आत्मा ध्रुव है। यह ध्रुव आत्मा ही इस पिण्ड को गतिमय बनाता है। २. **मृतस्य**=इस मृत—त्यक्त-प्राण शरीर का **जीवः**=जिलानेवाला आत्मा **स्वधाभिः**=अपनी धारक शक्तियों के द्वारा **चरति**=ब्रह्म के साथ इस वायु में विचरता है (अयं वै यमः योऽयं पवते)—यमलोक, अर्थात् वायुलोक में जाता है। यह **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा होता हुआ भी **मर्त्येन सयोनिः**=इस मर्त्य शरीर के साथ समान योनिवाला होता है। सामान्य भाषा में इसे 'पैदा होता हुआ और मरता हुआ' कह देते हैं।

भावार्थ—इस शरीर के साथ होता हुआ यह जीव प्राण धारण करता हुआ, विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गति देता हुआ शीघ्रता से कार्य करता है। मृत शरीर को छोड़कर यह अपनी धारण-शक्तियों के साथ यमलोक (वायुलोक) में विचरता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

जीवन का प्रारम्भ, मध्य व अन्त

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥ ९॥

१. जिस दिन जीव शरीर धारण किये हुए मातृगर्भ से बाहर आता है, उस दिन वह **विधुम्**=चन्द्रमा-सा प्रतीत होता है। **सलिलस्य पृष्ठे**=जल के समान प्रवाहमय इस संसार के पृष्ठ पर चन्द्रमा के समान उदित हुए-हुए, कुछ देर बाद **दद्राणम्**=टेढ़ी-मेढ़ी गति करते हुए, धीमे-धीमे **युवानं सन्तम्**=युवा होते हुए इस पुरुष को **पलितः जगार**=पालित्य—बालों की सफेदी निगल लेती है। हे जीव! **देवस्य**=उस सारे संसार-व्यवहार को चलानेवाले प्रभु के **काव्यम्**=काव्य को—कविकर्म को—ज्ञानयुक्त इस कर्म को **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **पश्य**=देख कि **अद्या ममार**=आज वह मर गया है, **सः**=वह जोकि **ह्यः समान**=कल ही सम्यक् प्राणधारण किये हुए था। यह जीवन व मृत्यु भी उस अचिन्त्य प्रभु का एक रहस्यम काव्य ही है।

भावार्थ—जीव 'चन्द्र' के समान आता है, टेढ़े-मेढ़े पग रखने लगता है, युवा होता है और अब धीरे-धीरे उसे बालों की सफेदी निगलने लगती है। एक दिन क्या देखते हैं कि वह चला गया जोकि कल ही सम्यक् प्राणित था और सब व्यवहार कर रहा था।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

रहस्यमय जन्म-मरणचक्र

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥ १०॥

१. **यः**=जो पिता **ईम्**=निश्चय से **चकार**=अपने वीर्यदान से इसके शरीर को बनाता है, **सः**=वह पिता भी **अस्य न वेद**=इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। 'यह कहाँ था, हमारा इससे क्या सम्बन्ध था' इस विषय में पिता को कुछ भी पता नहीं। **यः**=जो माता व पिता **ईम्**=अब **ददर्श**=इसे देख रहे हैं, **तस्मात् इत् न हिरुक्**=उनसे वह अन्तर्हित ही है। २. **सः**=वह **मातुः योनौ अन्तः**=माता की योनि के अन्दर **परिवीतः**=उल्व व जरायु से परिवेष्टित हुआ-हुआ—मानो एकदम एकान्त में छिपा हुआ यही सोच रहा होता है कि **बहुप्रजाः**=(बहुजन्मभाक्—सा०) अरे! मैं तो कितने ही जन्मों का भागी बना हूँ। **निर्ऋतिः**=दुर्गति का पुतला बना हुआ

मैं यहाँ **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ हूँ। न जाने कब इससे मेरा छुटकारा हो पाएगा। **'अहो दुःखोदधौ मग्रा न पश्यामि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥'** दुःख-समुद्र में डूबे हुए मुझे कुछ सूझता ही नहीं। अब यदि इस योनि से मुक्त होकर संसार में आऊँगा तो प्रभु का उपासन करूँगा और इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए यत्नशील होऊँगा।

भावार्थ—जन्म-मरण का चक्र रहस्यमय है। गर्भस्थ बालक अपने पिछले जन्मों व कष्टों का स्मरण करता हुआ निश्चय करता है कि इस बार जन्म लेने पर वह प्रभु-स्मरण में प्रवृत्त होगा और इस चक्र से मुक्त होने का प्रयत्न करेगा।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

लोकहित के लिए शरीर-धारण

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ११॥

१. **गोपाम्**=इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले को **अनिपद्यमानम्**=फिर-फिर विविध योनियों में नीचे न गिरते हुए को **अपश्यम्**=मैंने देखा है। जितेन्द्रियता द्वारा मुक्त हुए-हुए इस पुरुष को **आ च परा च**=समीप और दूर—हमारी ओर आनेवाले व हमसे दूर जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **चरन्तम्**=विचरण करते हुए को मैंने देखा है। जहाँ हम हैं, वहाँ भी आता है, और हमसे दूर अन्य लोक-लोकान्तरों में भी जाता है। २. **सः**=वह मुक्तात्मा लोकहित के लिए **सध्रीचीः**=(सह अञ्चति) जिन शरीरों से हमारे साथ उठता-बैठता है, उन शरीरों को **वसानः**=धारण करने के स्वभाववाला होता है। इन शरीरों से हमें उपदेश देता हुआ अपने जन्म-धारण के उद्देश्य को पूरा करता है। **सः विषूचीः**=वह चारों ओर विविध लोकों में जानेवाले शरीरों को भी धारण करता है। इसप्रकार यह समय-समय पर शरीर धारण करता हुआ **भुवनेषु अन्तः**=इन भुवनों में **आवरीवर्ति**=चारों ओर फिर-फिर आवर्तनवाला होता है। लोकहित के लिए जन्म लेनेवाले ये पुरुष ही 'अतिमानव' व महापुरुष हुआ करते हैं।

भावार्थ—पूर्ण जितेन्द्रिय पुरुष मुक्त हो जाता है। यह समय-समय पर शरीर धारण करके लोकहित के लिए भुवनों में विचरण करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

पिता, माता (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १२॥

१. **द्यौः**=यह द्युलोक **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमारा **पिता**=सूर्य के द्वारा वृष्टि व प्राणशक्ति प्राप्त कराके रक्षण कर रहा है। **जनिता**=यही हमें जन्म देनेवाला है—हमारी शक्तियों के प्रादुर्भाव का कारण बनता है। **नाभिः**=यह सब लोकों का बन्धन-स्थान (केन्द्र) है। **इयम् मही पृथिवी**=यह महनीय विस्तृत भूमि **नः बन्धुः**=हमारी मित्रवत् हितकारिणी है। **माता**=यही हमारे जीवन की निर्मात्री है—सब अन्नों को उत्पन्न करके हमारा पालन करती है। २. इन **उत्तानयोः चम्वोः**=(चम्वौ द्यावापृथिव्यौ—निरु०) उत्तमता से विस्तृत द्यावापृथिवी का **योनिः**=शक्ति के मिश्रण का स्थान **अन्तः**=मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में है। **अत्र**=यहाँ अन्तरिक्षलोक में ही **पिता**=सबका रक्षक यह द्युलोक **दुहितुः**=अन्न आदि के द्वारा सबका धारण करनेवाली पृथिवी में **गर्भम् आधात्**=गर्भ को धारण करता है। अन्तरिक्ष से ही वृष्टि आदि होकर पृथिवी में अन्नादि

को पैदा करने की शक्ति का स्थापन किया जाता है।

भावार्थ—द्युलोक हमारा पिता है तो पृथिवी हमारी माता है। इन दोनों का मेल अन्तरिक्ष में होता है। द्युलोक वृष्टि द्वारा इस पृथिवी में गर्भ का धारण करता है और तब सब अन्नादि पदार्थों का उत्पादन होता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—१३ त्रिष्टुप्, १४ जगती ॥

चार प्रश्न चार उत्तर

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्यो॑म ॥ १३ ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्यो॑म ॥ १४ ॥

१. हे आचार्य! मैं **त्वा**=आपसे **पृथिव्याः परम् अन्तं पृच्छामि**=इस पृथिवी के परले सिरे के विषय में पूछता हूँ, अथवा इस पृथिवी का पर अन्त=अन्तिम उद्देश्य क्या है? आचार्य उत्तर देते हए कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि—जहाँ बैठे हुए हम विचार कर रहे हैं, **पृथिव्याः परः अन्तः**=पृथिवी का परला सिरा है। वर्तुलाकार होने से यह पृथिवी यहीं तो आकर समाप्त भी होती है, और हमारा अन्तिम उद्देश्य यही है कि हम पृथिवी को यज्ञवेदि बना दें। यह देवयजनी ही तो है। २. मैं **वृष्णः**=तेजस्वी **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पुरुष की **रेतः पृच्छामि**=शक्ति के विषय में पूछता हूँ। उत्तर यह है कि **अयं सोमः**=यह वीर्य ही इस **वृष्णः अश्वस्य**=शक्तिशाली अनथक कार्यकर्ता पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। यही उसे तेजस्वी व कार्यक्षम बनाती है। ३. **विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि, बन्धनस्थान व केन्द्र को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ ही तो **भुवनस्य नाभिः**=भुवन का केन्द्र है। यज्ञ ही सबका पालन कर रहा है। ४. अन्त में मैं **वाचः**=इस वेदवाणी के आधारभूत **परमं व्योम**=परमव्योम (आकाश) को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यह वेदवाणी शब्द किस आकाश का गुण है? उत्तर यह है कि **अयं ब्रह्मा**=यह सदा से बढ़ा हुआ प्रभु ही **वाचः**=वेदवाणी का **परमं व्योम**=परमव्योम है। **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**। सब ऋचाएँ उस परमव्योम में ही स्थित व इनका कोश है।

भावार्थ—हम पृथिवी को यज्ञवेदि के रूप में परिणत कर दें। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए तेजस्वी व अनथक कार्यकर्ता बनें। यज्ञ को ही पृथिवी का केन्द्र जानें और प्रभु को इस वेदवाणी का आधार जानते हुए प्रभु की उपासना से ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मनोबन्धन से मुक्ति

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥

१. **यदि वा इदम् अस्मि**='मैं यह हूँ या कुछ और हूँ' इसप्रकार ठीक-ठीक अपने ही रूप को **न विजानामि**=मैं नहीं जानता। न जानने का कारण यह है कि मैं **निण्यः**=अन्तर्हित हूँ—ढका हुआ-सा हूँ। ढके हुए होने का कारण यह है कि **मनसा**=मन से **सन्नद्धः**=सम्बद्ध होकर **चरामि**=मैं यहाँ संसार में विचर रहा हूँ। मन ने मुझे बुरी तरह से बाँधा हुआ है। २. **यदा**=जब कभी प्रभुकृपा से, सत्सङ्ग में श्रवण आदि के क्रम से **मा**=मुझे **ऋतस्य**=सब सत्य विद्याओं का

प्रकाश करनेवाली **प्रथमजाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई-हुई यह वेदवाणी **आगन्**=प्राप्त होती है, तब **आत् इत्**=उस समय अविलम्ब ही **अस्याः**=इस वेदवाणी से मैं **भागम्**=उस भजनीय आत्मज्ञान को **अश्नुवे**=प्राप्त कर लेता हूँ। वेदवाणी का सेवन मुझे सब व्यसनों से बचाकर मन की इस जकड़ से बचा लेता है।

भावार्थ—मन के वशीभूत हुआ-हुआ मैं आत्मस्वरूप को ही विस्मृत-सा कर बैठा था। अब वेदवाणी के सेवन से व्यसनों से ऊपर उठकर, अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनकर आत्मदर्शन के योग्य हुआ हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'आत्मस्वरूप का अज्ञान'-रूप महान् आश्चर्य

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ १६॥

१. जीव कर्मानुसार **अपाङ्**=कभी स्थावर, कभी पक्षी-मृगादि की निचली योनियों में **एति**=जाता है और कभी **प्राङ्**=ऋषि-मुनि आदि की उत्कृष्ट योनियों को (एति) प्राप्त होता है। इस शरीर को छोड़ने पर **स्वधया**=अपनी धारण-शक्ति से **गृभीतः**=युक्त हुआ-हुआ यह दूसरे शरीरों में प्रवेश करता है। अपने लिए (स्व) जिन पाप-पुण्यों का उसने धारण किया है (धा lay by), उनसे युक्त हुआ-हुआ वह दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। **अमर्त्यः**=स्वरूप से जरामृत्यु से रहित भी यह **मर्त्येन सयोनिः**=मरणधर्मा शरीर के साथ ही समान जन्मवाला होता है। शरीर के साथ संयुक्त-वियुक्त होने से ही इसके लिए जन्म व मृत्यु के शब्दों का प्रयोग होने लगता है। २. **ता शश्वन्ता**=ये दोनों क्षर शरीर और अक्षर आत्मा सनातन काल से मिलते चले आ रहे हैं। ऐसा कोई समय नहीं जबकि यह शरीर प्रथम बार मिला हो। ये शरीर+आत्मा **विषूचीना**=ब्रह्माण्ड में चारों ओर भिन्न-भिन्न लोकों में जानेवाले हैं, केवल पृथिवी पर जन्म होता हो—ऐसी बात नहीं है। जब कभी यह जीव एक शरीर को छोड़ता है तब ये **वियन्ता**=विरुद्ध स्थितियों में जानेवाले होते हैं। गति देनेवाला अभौतिक आत्मा अमर है और इसके विपरीत यह भौतिक शरीर भस्म में परिणत हो जाता है—'**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्**'। सब कोई **अन्यम्**=इस शरीर को तो **निचिक्युः**=जानते हैं, इसे ही वस्तुतः अपना स्वरूप समझते हैं। **अन्यम्**=उस आत्मतत्त्व को **न निचक्युः**=नहीं जानते। 'अपने को ही न जानना' कितनी विचित्र बात है!

भावार्थ—अपने अर्जित पाप-पुण्यों के अनुसार जीव निचली व उपरली योनियों में जन्म लिया करता है। ये शरीर और आत्मा सदा से मेलवाले हैं, भिन्न-भिन्न लोकों में गतिवाले हैं। जीव शरीर को छोड़ता है तो आत्मा तो नये शरीर में प्रवेश पाता है और पुराना शरीर भस्मान्त होकर पञ्च तत्त्वों में मिल जाता है। 'हम शरीर को ही जानते हैं, अपने को नहीं जानते' यह कितना बड़ा आश्चर्य है!

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रकृति में प्रभु का दर्शन

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ १७॥

१. प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला 'महत्तत्त्व', महान् से उत्पन्न अहंकार तथा अहंकार से उत्पन्न पञ्च तन्मात्राएँ—ये **सप्त**=सात **अर्धगर्भाः**=समृद्ध उत्पादन सामर्थ्यवाले तत्त्व **भुवनस्य रेतः**=सारे

भुवनों की शक्ति हैं—उत्पत्ति के कारण हैं। ये सब **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **प्रदिशः**=शासन से **विधर्मणि तिष्ठन्ति**=धारणात्मक कार्य में स्थित हैं। उस प्रभु के शासन में ही अपना-अपना धारण-कार्य कर रहे हैं। २. **ते विपश्चितः**=वे विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले, **ते**=वे **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा और **मनसा**=मनन के द्वारा **परिभुवः**=उन पदार्थों का चारों ओर से (परि) विचार करनेवाले लोग **विश्वतः परिभवन्ति**=सब प्रकार से इन इन्द्रियों का परिभव करते हैं, इन्हें सब ओर से वशीभूत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से उत्पन्न होते हुए इस संसार के अधिष्ठाता उस प्रभु को न भूलेंगे तो संसार के विषयों में न फँसकर इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—जगती॥

प्रभुरूप 'परम' व्योम में

ऋचो अक्षरे परमे व्यो॑मन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते॥ १८॥

१. **ऋचः**=ऋचाएँ—गुण-वर्णनात्मक सभी मन्त्र **अक्षरे**=उस अविनाशी प्रभु का वर्णन कर रहे हैं, जोकि **परमे**=परम हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रकृति 'अपरा' है जीव 'पर' है और प्रभु 'परम' हैं। ये ऋचाएँ उस प्रभु का वर्णन करती हैं जोकि **व्योमन्**=(वि ओम् उन्) जिनके एक कन्धे पर प्रकृति है और दूसरे पर जीव (वि=प्रकृति, 'गति, प्रजनन, कान्ति, असन् व खादन' का यही तो आश्रय है, अन्=प्राणित होनेवाला जीव)। ये ऋचाएँ उस प्रभु में निषण्ण हैं, **यस्मिन्**=जिसमें कि **विश्वेदेवाः**=सब देव **अधि निषेदुः**=अधीन होकर निषण्ण हो रहे हैं। २. **यः**=जो **तत् न वेद**=उस प्रभु को नहीं जानता **ऋचा**=वह ऋचाओं से **किं करिष्यति**=क्या लाभ प्राप्त करेगा ? **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस व्यापक प्रभु को जानते हैं, **ते अमी**=वे ये लोग **समासते**=इस संसार में सम्यक् आसीन होते हैं—वे परस्पर प्रेम से उठते-बैठते हैं।

भावार्थ—सब ऋचाओं का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है, जोकि अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधार हैं। उसी प्रभु में सब देव निषण्ण हैं। प्रभु को नहीं जाना तो ऋचाओं का कुछ लाभ नहीं। प्रभु को जाननेवाले परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

निष्पाप ब्रह्म

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १९॥

१. **ऋचः**=ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषयभूत ब्रह्म के **पदम्**=ज्ञातव्य स्वरूप को **मात्रया**=जगत् का निर्माण करनेवाली शक्ति से **कल्पयन्तः**=कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष **अर्धर्चेन**=उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमयस्वरूप से इस **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=विश्व को **चाक्लृपुः**=बना हुआ मानते हैं। संसार की रचना में वे प्रभु की बुद्धिपूर्वक कृति व महिमा को देखते हैं। २. **त्रिपात् ब्रह्म**=सृष्टि की 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप' तीन पगों को रखनेवाला ब्रह्म **पुरुरूपम्**=नाना रूपों को धारण करता हुआ **वितष्ठे**=विविधरूपों में स्थित हो रहा है (रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव)। **तेन**=उसी प्रभु के सामर्थ्य से **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ—चारों दिशाओं में स्थित प्राणी **जीवन्ति**=प्राण धारण कर रहे हैं। प्रभु ही सर्वाधार है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखते हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करनेवाले प्रभु ही नानारूपों में इस ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए

हैं। वे ही सर्वाधार हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सूयवसाद् भगवती

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ २०॥

इस मन्त्र की व्याख्या अथर्व० ७।७३।११ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—पञ्चपदाऽतिशक्वरी ॥

एकपदी—नवपदी

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य
पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ २१॥

१. **गौः**=वेदवाणी **इत्**=निश्चय से **मिमाय**=शब्द करती है। यह वेदवाणी इन शब्दों के द्वारा **सलिलानि**=(सति लीनानि) सत् परमात्मा में लीन ज्ञानों को **तक्षती**=हमारे लिए बनानेवाली है। जब हम इन वेदवाणियों को पढ़ेंगे तब ये हमारे अन्दर ज्ञान का निर्माण करती हुई इन शब्दों का उच्चारण करेंगी। इसका एक-एक शब्द हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण बनेगा। **सा**=वह वेदवाणी **एकपदी**=(पद गतौ) उस अद्वितीय परमात्मा में गति-(ज्ञान)-वाली होती है—उस अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। कभी **द्विपदी**=परमात्मा और जीवात्मा—दोनों का साथ-साथ ज्ञान देती है, ताकि उनकी तुलना ठीक रूप से हो जाए और जीव अपने आदर्श को समझ ले। यह वेदवाणी **चतुष्पदी**=जीव के पुरुषार्थभूत 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष' चारों पुरुषार्थों का ज्ञान देती है। २. **अष्टापदी**=शरीरस्थ आठों चक्रों का ज्ञान देती हुई, इन चक्रों के विकास के लिए योग के अङ्गभूत 'यम-नियम' आदि आठों अङ्गों का प्रतिपादन करती है। **नवपदी बभूवुषी**=शरीरस्थ नव इन्द्रिय-द्वारों का ज्ञान देनेवाली होती हुई यह वेदवाणी **सहस्राक्षरा**=हज़ारों रूपों से उस प्रभु को व्याप्त करती है (अक्षर व्याप्तौ)—अनेक रूपों में यह प्रभु का वर्णन करती है। **भुवनस्य पंक्तिः**=(पची विस्तारे) यह ब्रह्माण्ड को विस्तृत करती है—ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती है। **तस्याः**=उस वेदवाणी से ही **समुद्राः अधि विक्षरन्ति**=ज्ञान के समुद्रों का प्रवाह चलता है।

भावार्थ—वेदवाणी अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। जीव व परमात्मा का तुलनात्मक चित्रण करती है। जीव के चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन करती है। शरीरस्थ आठों चक्रों व नौ इन्द्रिय=द्वारों का ज्ञान देती है। प्रभु तथा ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती हुई यह ज्ञान के समुद्रों के प्रवाहवाली है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू ॑दुः॥ २२॥

१. **कृष्णम्**=(कृष् श्रम का प्रतीक है, ण ज्ञान का) उत्पादक श्रम व ज्ञान से बने हुए **नियानम्**=बाड़े में **हरयः**=इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाले—कर्मेन्द्रियों को उत्पादन श्रम में तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रखनेवाले और इसप्रकार **सुपर्णाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **अपः वसानः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों का धारण करनेवाले लोग **दिवम् उत्पतन्ति**=स्वर्ग

को जाते हैं। २. जब कभी **ते**=वे सत्य-मार्ग पर चलनेवाले लोग **ऋतस्य सदनात्**=सत्य के निवास-स्थान से **आववृत्रन्**=लौट आते हैं, अर्थात् मोक्ष से लौटते हैं तो **आत् इत्**=इसके पश्चात् शीघ्र ही **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से **पृथिवीं व्यदुः**=इस पृथिवी को क्लिन्न कर देते हैं। मोक्ष से लौटने पर ये पृथिवी पर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को ज्ञान व कर्म के बाड़े में प्रत्याहृत करें, अपना पालन व पूरण करें, सदा क्रियामय जीवनवाले हों। मोक्ष से लौटने पर हम ज्ञान-प्रसार के कार्य में ही प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ऋत का पालन, अनृत-विनाश

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति॥ २३॥

१. **पद्वतीनाम्**=पाँववाली प्रजाओं में **अपात्**=बिना पाँववाली होती हुई यह ब्रह्मशक्ति **प्रथमा एति**=सर्वप्रथम प्राप्त होती है। शरीरधारी जीव पाँववाले हैं, प्रभु अपात् हैं, परन्तु अपात् प्रभु को कोई पाँववाला जीत नहीं पाता। हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **वाम्**=आपमें से **तत् चिकेत**=उस ब्रह्म को जो जानता है, वह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। २. वह प्रभु ही **गर्भः**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किये हुए **चित्**=निश्चय से **अस्याः**=इस पाँववाली प्रजा की **भारं आभरति**=पोषण क्रिया को सर्वतः सम्यक् धारण करता है। वे प्रभु ही **ऋतं पिपर्ति**=सत्य का पालन करते हैं और **अनृतं निपाति**=अनृत को नीचे रखते हैं। सत्य की विजय और अनृत का पराभव प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—पाँववाली प्रजाओं में अपात् होते हुए भी वे प्रभु प्रथम हैं। प्राणसाधना द्वारा प्रभु का ज्ञान होने पर जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु ही सबका पोषण कर रहे हैं। वे हि ऋत का रक्षण व अनृत का विनाश करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—चतुष्पदापुरस्कृतिर्भुरिगतिजगती ॥

विराट्

विराड्वाग्विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं
भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥ २४॥

१. वह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला प्रभु ही **वाक्**=वाणी है। वही सृष्टि के आरम्भ में इस वेदज्ञान को देता है। **विराट् पृथिवी**=वे विराट् प्रभु ही पृथिवी हैं—सर्वाधार हैं अथवा सर्वत्र प्रथन-(विस्तार)-वाले हैं। **विराट् अन्तरिक्षम्**=वे प्रभु ही अन्तरिक्ष हैं—सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं (अन्तः क्षि निवासे) **विराट्**=ये विराट् प्रभु ही **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पालन करनेवाले हैं। २. **विराट् मृत्युः**=ये विराट् प्रभु ही आचार्य (आचार्यो मृत्युः) हैं, अथवा सबका अन्त करनेवाले हैं। ये विराट् प्रभु **साध्यानाम्**=पर-कार्यसाधक पुरुषों के **अधिराजः बभूव**=अधिराज हैं—सर्वाधिक पर-कार्यसाधक हैं। यह **भूतं भव्यम्**=भूत व भविष्यत् सब **तस्य वशे**=उस विराट् प्रभु के ही वश में हैं। **सः**=वे प्रभु इस **भूतं भव्यम्**=भूत और भव्य को **मे वशे कृणोतु**=मेरे वश में करें।

भावार्थ—विराट् प्रभु की उपासना करता हुआ मैं भी विराट् बनूँ। भूत और भव्य को वश

में करनेवाला होऊँ। मेरा भूत भी सुन्दर हो और भविष्य भी सुन्दर बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धूएँ से अग्नि का ज्ञान

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनाऽवरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ २५॥

१. **शकमयम्**=(शकृन्मयं शुष्कगोमयसंभूतम्) उपलों की अग्नि से उठे हुए **धूमम्**=धूएँ को **आरात् अपश्यम्**=मैंने दूरी पर देखा है और **एना**=इस **विषूवता**=व्याप्तिवाले—चारों ओर फैले हुए **अवरेण**=समीप ही विद्यमान धूएँ से **परः**=(परस्तात् तत्कारणात् तम् अग्निम्) दूर—आँखों से ओझल अग्नि को मैंने जाना है। जिस प्रकार धूएँ को देख मैं अग्नि को जान पाता हूँ, उसी प्रकार यहाँ अपराविद्या में रचना के ज्ञान से रचयिता का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इसप्रकार इस अपराविद्या की अन्तिम सीमा ही पराविद्या हो जाती है। प्रकृति का ज्ञान ही प्रभु के दर्शन में परिणत हो जाता है। २. प्रभु संसारशकट का वहन करनेवाले 'महान् उक्षा' हैं, तो यह जीव इस पिण्ड का वहन करता हुआ 'पृश्नि (अल्पतनू) उक्षा' है। इस **पृश्निम् उक्षाणम्**=छोटे शरीरवाले जीवरूप उक्षा को **वीराः अपचन्त**=ज्ञान शूर आचार्य ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हैं। इसे वे विदग्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **तानि धर्माणि**=ये 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञानों में परिपक्व करना रूप धर्म ही **प्रथमानि आसन्**=मुख्य धर्म हैं। यह ज्ञान ही उसे प्रकृति की रचना में प्रभु की महिमा को देखने के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—धूएँ से जैसे अग्नि का ज्ञान होता है, इसी प्रकार इस सृष्टि-रचना से इसके रचयिता का। व्याप्त विद्यावाले आचार्य जीव को प्रकृति, जीव व प्रभु का ज्ञान देते हैं। यह ज्ञान देना ही मुख्य धर्म है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

त्रयः केशिनः

त्रयः केशिनं ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एकं एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ २६॥

१. **त्रयः केशिनः**=तीन प्रकाशमय पदार्थ हैं। 'प्रकृति' तो हिरण्मय पात्र है ही। 'आत्मा' शरीरस्थरूपेण शरीर को दीप्त किये रखता है। प्रभु 'सहस्रांशुसमप्रभ' हैं। उनकी ज्योति को योगी ही देख पाते हैं। ज्ञानी लोग **ऋतुथा विचक्षते**=(ऋतु Light, splendour) प्रकाश के अनुसार इनका व्याख्यान करते हैं—शिष्य की योग्यता देखकर उसके अनुसार इनका प्रतिपादन करते हैं। प्रकृति का ज्ञान वे इस रूप में देते हैं कि **एषाम् एकः**=इन तीनों में से एक 'प्रकृति' **संवत्सरे**=उचित काल में बीजोत्पत्ति करती है—एक बीज को साठ बीजों में करके उनका फैलाव कर देती है। **'प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**—चराचर को यह प्रकृति ही तो उत्पन्न करती है। २. प्रकृति का यह सारा फैलाव प्रभु की अध्यक्षता में हो रहा है। वह **अन्यः**=विलक्षण प्रभु **शचीभिः**=अपनी विविध शक्तियों से **विश्वम्**=इस सारे ब्रह्माण्ड को **अभिचष्टे**=सब ओर से देख रहा है। उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु की अध्यक्षता में इस प्रकृति के फैलाव में ग़लती नहीं होती। तीसरा एक जीव है। इस **एकस्य**=एक जीव की **ध्राजिः ददृशे**=दौड़—चहल-पहल दीखती है, **न रूपम्**=इसका स्वरूप हमारी आँखों का विषय नहीं बनता। चहल-पहल सब जीव की है। 'प्रकृति व परमात्मा' माता-पिता के समान हैं। जीव बच्चों के समान हैं। बच्चों की ही तो चहल-पहल होती है।

भावार्थ—तीन पदार्थ हैं। प्रकृति से इस संसार का फैलाव होता है। प्रभु इस फैलाव को करते हैं। यहाँ जीव की ही चहल-पहल है—वस्तुतः उसी के लिए तो यह संसार बना है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान के चार विभाग

च॒त्वारि॒ वाक्परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्रा॑ह्म॒णा ये म॑नी॒षिण॑ः।
गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीयं॑ वा॒चो म॑नु॒ष्या᳡ वदन्ति॥ २७॥

१. **वाक्**=(वाचः) वाणी के **पदानि**=प्रतिपाद्य विषय **चत्वारि परिमिता**=चार की संख्या में मपे हुए हैं। 'ऋक् प्रकृतिविज्ञान, यजुः कर्मविज्ञान, साम उपासना व अध्यात्मशास्त्र, अथर्व रोगशास्त्र व युद्धशास्त्र'। **तानि**=उन चारों वेदों को **ये**=जो **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले, आमोद-प्रमोदों की इच्छा से ऊपर उठे हुए **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी व्यक्ति हैं, वे ही **विदुः**=जानते हैं। २. सामान्य मनुष्यों के अन्दर तो **गुहा**=हृदयगुहा में **निहिता**=रक्खे हुए **त्रीणी**=ऋग्यजुः व सामरूप ये मन्त्र **न इङ्गयन्ति**=नाममात्र भी गतिवाले नहीं होते। '**यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः**'। ये हम सबके मनों में स्थित हैं। उन्हें प्रसुप्तावस्था से जाग्रदवस्था में लाना मनीषी ब्राह्माणों का ही काम है। **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य तो **वाचः**=वाणी के **तुरीयम्**=चतुर्थांश का ही **वदन्ति**=उच्चारण करते हैं। ये आयुर्वेद व युद्धशास्त्र तक ही सीमित ज्ञानवाले रह जाते हैं।

भावार्थ—हम आयुर्वेद और अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ ज्ञान, कर्म व उपसना' पर बल देते हुए 'चतुष्पाद् ज्ञानवृक्ष' वाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गौः, विराट्, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'इन्द्र—मातरिश्वा' प्रभु

इन्द्रं॑ मि॒त्रं वरु॑णम॒ग्निमा॑हु॒रथो॑ दि॒व्यः स सु॑प॒र्णो ग॒रुत्मा॑न्।
एकं॒ सद्विप्रा॑ बहु॒धा व॑दन्त्य॒ग्निं य॒मं मा॑त॒रिश्वा॑नमाहुः॥ २८॥

१. **विप्राः**=अपने को विशेषरूप से ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले (वि+प्रा) लोग **एकं सत्**=उस अद्वितीय (पूर्ण स्वतन्त्र) सत्ता को ही **बहुधा वदन्ति**=भिन्न-भिन्न नामों से कहते हैं। **इन्द्रम्**=उस सत्ता को ही 'परमैश्वर्यशाली', **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहमय, **वरुणम्**=श्रेष्ठ, **अग्निम्**=सबसे अग्र स्थान में स्थित **आहुः**=कहते हैं। **अथ उ**=और निश्चय से **सः**=वे प्रभु ही **दिव्यः**=सब ज्योतिर्मय पदार्थों में दीप्त होनेवाले हैं, **सुपर्णः**=पालनादि उत्तम कर्म करनेवाले हैं, **गरुत्मान्**=ब्रह्माण्ड-शकट का महान् भार उठानेवाले हैं। २. उस अद्वितीय सत्ता को ही **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाला, **यमम्**=सर्वनियन्ता, **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त (मातरि अन्तरिक्षे श्वयति) **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' आदि नामों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

॥ इत्येकविंशः प्रपाठकः ॥

॥ इति नवमं काण्डम् ॥

अथ दशमं काण्डम्

नवम काण्ड के अन्तिम सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है। यह उत्तम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान में स्थित है। यह सब प्रकार की हिंसाओं को समाप्त करता हुआ प्रत्येक अङ्ग में रसवाला 'प्रत्यङ्गिरस' बनता है। यही दशम काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि है। इस सूक्त का विषय कृत्या-दूषण है—हिंसा का दूषण—हिंसा को समाप्त करना—

अथ द्वाविंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—महाबृहती ॥

'विश्वरूपा-हस्तकृता' कृत्या

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्॥ १॥

१. **चिकित्सवः**=(चिकिति to know) समझदार निर्माता लोग **याम्**=जिस **विश्वरूपाम्**=अनेक रूपोंवाली **हस्तकृताम्**=हाथ से बनाई गई कृत्या को—हिंसा प्रयोग को (Bomb इत्यादि के रूप में) **कल्पयन्ति**=बनाते हैं, **वहतौ वधूम् इव**=विवाहकाल में विभूषित वधू की भाँति सुन्दर बनाते हैं। **सा**=वह कृत्या **आरात् एतु**=हमसे दूर हो, **एनाम् अपनुदामः**=हम इसे अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—चतुर शत्रुवर्ग हमारे विनाश के लिए जिन वधू के समान सजे हुए कृत्या-प्रयोगों को करते हैं—विचित्र, सुन्दर आकृतिवाले बम्ब इत्यादि बनाते हैं, ये भिन्न-भिन्न रूपोंवाले आकर्षक, क्रीड़नकों के समान होते हैं। हम इन्हें अपने से दूर करें। इनका शिकार न हो जाएँ।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराण्नामगायत्री ॥

'शीर्षण्वती, नस्वती' कृत्या

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सारादेत्वप नुदाम एनाम्॥ २॥

१. **कृत्याकृता**=विनाशकारिणी मूर्त्ति (बम्ब आदि) बनानेवाले पुरुष से **संभृता**=बनाई गई **विश्वरूपा**=नाना रूपोंवाली **शीर्षण्वती**=सिरवाली, **नस्वती**=नाकवाली, **कर्णिनी**=कानवाली **सा**=वह कृत्या **आरात् एतु**=दूर हो। **एनाम् अपनुदामः**=हम इसे अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—सिर, कान, नाकवाली, विविध रूपोंवाली कृत्या को हम अपने से दूर करते हैं।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

जाया पत्या नुत्ता इव

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु॥ ३॥

१. **शूद्रकृता**=श्रमिकों से की गई, **राजकृता**=राजाओं से की गई, **स्त्रीकृता**=स्त्रियों से की गई तथा **ब्रह्मभिः कृता**=ब्राह्मणों से की गई कृत्या **कर्तारम्**=कृत्या के करनेवाले को इसप्रकार **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **इव**=जैसे **पत्या नुत्ता**=पति से परे धकेली हुई **जाया**=पत्नी **बन्धु**=अपने मातृ-बन्धुओं को पुनः प्राप्त होती है।

भावार्थ—शूद्रों, राजाओं, स्त्रियों व ब्राह्मणों से की गई कृत्या कर्त्ता को पुनः इसप्रकार प्राप्त हो, जैसेकि पति से परे धकेली हुई पत्नी अपने मातृबन्धुओं को पुनः प्राप्त होती है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्षेत्रे गोषु पुरुषेषु

अनयाऽहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ ४॥

१. **अहम्**=मैं **अनया ओषध्या**=इस अपामार्ग नामक ओषधि से (अ० ४.१८.५) उन **सर्वाः कृत्याः**=सब हिंसा-प्रयोगों को **अदूदुषम्**=दूषित करता हूँ, **याम्**=जिस हिंसा-प्रयोग को **क्षेत्रे**=मेरे शरीररूप क्षेत्र के विषय में **चक्रुः**=करते हैं (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते), **याम्**=जिस हिंसा-प्रयोग को **गोषु**=इन्द्रियों के विषय में करते हैं, **वा**=अथवा **यां ते पुरुषेषु**=जिसे तेरे पुरुषों—बन्धुओं के विषय में करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि के प्रयोग से शरीर और इन्द्रियों के सब रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अघ अघकृत् के लिए, The biter bit

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक्प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत्॥ ५॥

१. **अघम्**=यह हिंसारूप पाप **अघकृते अस्तु**=इस पाप को करनेवाले के लिए ही हो। **शपथः**=यह आक्रोश **शपथीयते**=शाप देनेवाले के लिए ही हो। हम इस अघ व शपथ को **प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मः**=वापस भेजे देते हैं, **यथा**=जिससे यह **कृत्याकृतं हनत्**=हिंसा करनेवाले को ही नष्ट करे।

भावार्थ—अघकृत् को ही उसका पाप प्राप्त होता है, शाप देनेवाले को ही शाप लगता है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रतीचीनः आङ्गिरसः

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून्कृत्याकृतो जहि॥ ६॥

१. **प्रतीचीनः**=(प्रति अञ्च्) प्रत्याहार की वृत्तिवाला—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करनेवाला, अतएव **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला, **अध्यक्षः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह व्यक्ति **नः**=हमारा **पुरोहितः**=पुरोहित है। यह **कृत्याः**=शत्रुकृत् सब हिंसाप्रयोगों को **प्रतीचीः**=फिर लौट जानेवाला **आकृत्य**=करके **अमून्**=उन **कृत्याकृतः**=हिंसा करनेवालों को ही **जहि**=विनष्ट करे।

भावार्थ—हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले अतएव अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले, इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर औरों के लिए आदर्शरूप हों और उनसे की गई कृत्याओं को वापस भेजकर उन्हीं का विनाश करें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मा अस्मान् इच्छः अनागसः

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्य ॑म्।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः॥ ७॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसा के प्रयोग! **यः**=जिसने **त्वा उवाच**=तुझे यह कहा कि **परा इह एति**=परे जा और अमुक को मार, तू **तम्**=उस **प्रतिकूलम्**=हमारे विरोध में **उदाय्यम्**=(उत् अय्+य) उठनेवाले शत्रु के पास ही **अभिनिवर्तस्व**=वापस लौट जा, **अनागसः अस्मान् मा इच्छः**=निरपराध हम लोगों को मारने की इच्छा मत कर।

भावार्थ—कृत्या-प्रयोग हम निरपराधियों को मारनेवाला न हो। यह प्रयोक्ता का ही विनाश करे।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋभुः धिया रथस्य इव

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येवर्भुर्धिया।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः॥ ८॥

१. **इव**=जैसे **ऋभुः**=शिल्पी **रथस्य**=रथ के जोड़ों को **धिया**=बुद्धि के द्वारा मिला देता है, उसी प्रकार **यः**=जिसने बड़ी चतुरता से हे कृत्ये! **ते परूंषि संदधौ**=तेरे पर्वों को जोड़ा है, तू **तं गच्छ**=उसी को प्राप्त हो, **तत्र ते अयनम्**=वहाँ ही तेरा निवास-स्थान है, **अयं जनः**=यह जन, अर्थात् हम लोग **ते अज्ञातः**=तेरे अज्ञात ही हों।

भावार्थ—कृत्या का चतुर निर्माता ही कृत्या का शिकार बने। हिंसा का प्रयोग करनेवाला ही उस प्रयोग से हिंसित हो।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रतिवर्त्म पुनःसरम्

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि॥ ९॥

१. हे कृत्ये! **ये**=जो **विद्वला**=(विद् वेदनायाम्) वेदना प्राप्त करानेवाले **अभिचारिणः**=हिंसा-प्रयोगों को करनेवाले लोग **त्वा**=तुझे **कृत्वा**=करके **अलेभिरे**=प्राप्त करते हैं, **इदम्**=यह **प्रतिवर्त्म**=उलटे रास्ते (वापस) उसे **पुनःसरम्**=फिर लौटा देना **कृत्यादूषणम्**=हिंसक प्रयोग को दूषित करना है। **इदम्**=यह **शम्भु**=शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, **तेन**=उस उलटे रास्ते (वापस) लौटा देने के द्वारा **त्वा**=तुझे हे कृत्ये! **स्नपयामसि**=शुद्ध कर डालते हैं—तेरा सफ़ाया कर देते हैं।

भावार्थ—हिंसक प्रयोग को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे उलटे रास्ते (वापस) लौटा दिया जाए, अर्थात् गाली का उत्तर गाली में न दिया जाए। **'आक्रुष्टः कुशलं वदेत्'**।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पापम् अपतिष्ठतु द्रविणम् उप तिष्ठतु

यद्दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम।
अपैतु सर्वं मत्पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु॥ १०॥

१. **यत्**=जब **दुर्भगाम्**=दौर्भाग्यवाली, अर्थात् जिसके पति पूर्व ही जा चुके हैं, **प्रस्नपिताम्**=जो शुद्ध आचरणवाली है, **मृतवत्साम्**=जो मृतपुत्रवाली है, अर्थात् जिसकी सन्तान भी चली गई है, अतएव जो बड़ी शोकातुर है, उस स्त्री को **उपेयिम**=हम समीपता से प्राप्त हों, तो उस समय **सर्वं पापम्**=सब पाप, अशुभ मनोवृत्ति **मत् अप एतु**=मुझसे दूर हो। **द्रविणं मा उपतिष्ठतु**=(strength, power, valour, prowess) शक्ति मुझे प्राप्त हो। इस शक्ति के द्वारा पाप से ऊपर उठा हुआ मैं उस शोकातुरा के लिए सहायक हो सकूँ।

भावार्थ—असहाय परन्तु शुद्ध आचरणवाली स्त्री को पाकर हम पाप में न फँस जाएँ,

अपितु शक्तिशाली बनकर हम उसके दुःख को कम करने में सहायक ही बनें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'सन्देश्य-पाप' निवृत्ति

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
सन्देश्यात्सर्वस्मात्पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः॥ ११॥

१. **यत्**=जब **पितृभ्यः ददतः**=पितरों के लिए देते हुए, अर्थात् पितृयज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करते हुए **वा**=अथवा **यज्ञे**=(ददतः) अग्निहोत्र आदि यज्ञों में आहुतियाँ देते हुए **ते**=वे उत्तम आचरण करनेवाले लोग **नाम जगृहुः**=प्रभु-नाम का ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु-स्मरण के कारण ही उन यज्ञों का अहंकार नहीं करते तब **इमाः ओषधीः**=ये दोषों का दहन करनेवाले आचार्य—विद्वान् लोग **त्वा**=तुझे **सर्वस्मात्**=सब **सन्देश्यात्**=(सन्दिश to give, grant) दान-सम्बन्धी **पापात्**=पाप से **मञ्चन्तु**=मुक्त करें, अर्थात् वे ठीक से प्रेरणा देते हुए यज्ञों में अज्ञानवश हो जानेवाले अपराधों से हमें बचाएँ।

भावार्थ—ज्ञानी लोग पितृयज्ञ व देवयज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभुनाम-स्मरण से अहंकारवाले नहीं होते। वे दोषों को दग्ध करनेवाले ज्ञानी पुरुष हमें भी इन दानों में हो जानेवाले अपराधों से बचाएँ।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पङ्क्तिः ॥

वीरुधः वीर्येण, ब्रह्मणः ऋग्भिः, ऋषीणां पयसः

देवैनसात्पित्र्यान्नामग्राहात्संदेश्या॒दभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्ये॒ण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम्॥ १२॥

१. **देवैनसात्**=देवों के विषय में किये गये पाप से, अर्थात् देवयज्ञ आदि न करने से, **पित्र्यात्**=पितरों के विषय में किये गये पाप से—उनका उचित आदर न करने से **नामग्राहात्**=नाम लेते रहने से, अर्थात् दूसरों पर झूठा दोष लगाने से, **सन्देश्यात्**=दान के विषय में होनेवाले पाप से तथा **अभिनिष्कृतात्**=(Injuring, speaking ill of) हिंसन व बुराई करने से **त्वा**=तुझे सब देव **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। सब देव **वीरुधः वीर्येण**=लताओं के वीर्य से—लताओं के भोजन से उत्पन्न शक्ति के द्वारा, **ब्रह्मणः ऋग्भिः**=वेदज्ञान की ऋचाओं से—विज्ञान प्रतिपादक मन्त्रों से तथा **ऋषीणां पयसा**=मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा दिये गये ज्ञानदुग्ध से तुझे दोषों से मुक्त करें।

भावार्थ—हम ओषधि व वनस्पतियों का भोजन करते हुए शरीर में शक्ति का सम्पादन करें। वेद की ऋचाओं से विज्ञान को प्राप्त करें। ऋषियों के प्रवचनों से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करें। इसप्रकार हमारे सब पाप व पापवृत्तियाँ दूर हो जाएँगी।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—उरोबृहती ॥

ब्रह्मनुत्तं दुर्भूतं अपायती

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति॥ १३॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **वातः**=तीव्र वायु **भूम्याः**=भूमि के **रेणुम्**=धूलकणों को **च**=और **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से **अभ्रम्**=मेघ को **च्यावयति**=स्थानभ्रष्ट कर देता है, **एव**=इसी प्रकार **सर्वम्**=सब **दुर्भूतम्**=दुर्भाव—बुरी भावनाएँ, **ब्रह्मनुत्तम्**=ज्ञान द्वारा प्रेरित हुई-हुई **मत्**=मुझसे **अपायति**=पृथक् हो जाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा सब दुर्भाव मानसस्थली से इसप्रकार उखड़ जाते हैं जैसेकि तीव्र गतिवाले वायु के द्वारा भूमि से धूल-कण स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं और अन्तरिक्ष से मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'शक्तियुक्त ज्ञान' द्वारा कृत्या का अपनोदन

अप॑ क्राम॒ नान॑दती॒ विन॑द्धा गर्द॒भीव॑।
क॒र्तॄन्न॑क्षस्वे॒तो नु॒त्ता ब्रह्म॑णा वी॒र्या॑वता ॥ १४ ॥

१. हे कृत्ये=हिंसा की क्रिये! तू **वीर्यावता ब्रह्मणा**=वीर्यवान् ज्ञान के द्वारा **नुत्ता**=दूर प्रेरित हुई-हुई **इतः**=यहाँ से **कर्तॄन्**=अपने उत्पन्न करनेवालों के पास ही **नक्षस्व**=चली जा—उन्हीं को प्राप्त हो। **इव**=जैसेकि **विनद्धा**=बन्धन से रहित हुई-हुई **गर्दभी**=गधी **नानदती**=रेंकती हुई भाग खड़ी होती है, उसी प्रकार **अपक्राम**=तू यहाँ से दूर चली जा।

भावार्थ—ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करते हुए हम शत्रुकृत् कृत्याओं को अपने से दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—चतुष्पदाविराड्जगती ॥

कुरूटिनी वाहिनी

अ॒यं पन्था॑: कृत्य॒ इति॑ त्वा नयामोऽभिप्रहि॑ता॒ं प्रति॑ त्वा॒ प्र हि॑ण्मः।
तेना॒भि या॑हि भञ्ज॒त्यन॑स्वतीव वा॒हिनी॑ वि॒श्वरू॑पा कुरू॒टिनी॑ ॥ १५ ॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसा-क्रिये! तेरे लिए **अयं पन्थाः**=यह मार्ग है। **इति त्वा नयामः**=तुझे इससे ले-जाते हैं। **अभिप्रहिताम्**=हमारी ओर भेजी हुई **त्वा**=तुझे **प्रतिप्रहिण्मः**=भेजनेवाले के प्रति भेजते हैं। २. **तेन**=उस मार्ग से **अभियाहि**=तू शत्रू के प्रति इसप्रकार जा **इव**=जैसेकि **अनस्वती**=रथोंवाली **विश्वरूपा**=नाना रूपों को धारण करनेवाली—'हाथी, घोड़े, रथ व पदातियों' से युक्त **कुरूटिनी**=(कुटिलं प्रतिघातिनी, रुट प्रतिघाते) प्रबल प्रतिघात करनेवाली **वाहिनी**=सेना **भञ्जती**=शत्रुओं का मर्दन करती हुई जाती है।

भावार्थ—कृत्या को हम कर्त्ता के प्रति वापस भेजते हैं। वह पूर्ण सेना के समान शत्रु पर आक्रमण करती हुई गति करती है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

नव्वे नदियों के पार

परा॑क्ते॒ ज्योति॒रप॑थं ते अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मदय॑ना कृणुष्व।
परे॑णेहि न॒वतिं॒ ना॒व्या॒३॒ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्ष॑णिष्ठा॒: परे॑हि ॥ १६ ॥

१. हे कृत्ये! **ते ज्योतिः पराक्**=तेरे लिए परे प्रकाश है। **अर्वाक् ते अपथम्**=इधर तेरे लिए मार्ग नहीं है। **अस्मत् अन्यत्र**=हमसे भिन्न अन्य स्थानों में तू **अयना कृणुष्व**=अपना मार्ग बना। २. **परेण इहि**=तू दूर मार्ग से गति कर। **नाव्याः**=नौका से तैरने योग्य—गहरी **नवतिम्**=नव्वे (अधिक) **दुर्गाः**=अलंघ्य—कठिनता से लाँघने योग्य **स्रोत्याः**=नदियों को **अति**=लाँघकर **परा इहि**=तू दूर चली जा। **मा क्षणिष्ठाः**=हमें हिंसित करनेवाली मत हो (क्षणु हिंसायाम्)।

भावार्थ—कृत्या हमारी ओर आनेवाली न हो। हमसे वह दूर ही रहे। नव्वे नदियों के पार रहती हुई वह हमारा हिंसन करनेवाली न हो।

सूचना—'नव्वे नदियों पार'—यह सुदूरता के भाव का सूचक वाक्यखण्ड (मुहावरा) है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

हिंसा प्रयोग व वंशोच्छेद

वातइव वृक्षान्नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम्।
कर्तॄन्निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय॥ १७॥

१. हे कृत्ये=हिंसा के प्रयोग! तू शत्रुओं को इसप्रकार **निमृणीहि**=निर्मूल कर दे **इव**=जैसेकि **वातः वृक्षान्**=वायु वृक्षों को निर्मूल कर डालता है। **पादय**=इन्हें पाँव तले रौंद डाल—दूर भगा दे। **एषाम्**=इनके **गां अश्वं पुरुषम्**=गौ, अश्व व पुरुषों को **मा उच्छिषः**=जीवित मत छोड़। २. **इतः**=यहाँ से **निवृत्य**=लौटकर **कर्तॄन्**=इन हिंसा-प्रयोग करनेवाले पुरुषों को **अप्रजास्त्वाय बोधय**=प्रजाहीन हो जाने की चेतावनी दे। उन्हें यह स्पष्ट कर दे कि इन प्रयोगों का परिणाम इतना भयंकर होगा कि तुम्हारा वंश ही उच्छिन्न हो जाएगा।

भावार्थ—हिंसक पुरुषों का हिंसा-प्रयोगों से स्वयं ही हिंसन हो जाता है। उनके सन्तान व वंश के ही उच्छेद हो जाने की आशंका हो जाती है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—१८ त्रिष्टुप्, १९ चतुष्पदाजगती ॥

बर्हिषि, श्मशाने, क्षेत्रे

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम्॥ १८॥
उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्वइव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम्॥ १९॥

१. **यां कृत्याम्**=जिस छेदनक्रिया की साधनभूत वस्तु को, **वा**=अथवा **वल-गम्**=(वल् संवरणे, ग=गम्) छिपे रूप में गति करनेवाली बम्ब आदि वस्तु को **ते बर्हिषि**=तेरी कुशादि घासों में, **याम्**=जिसे **श्मशाने**=समीपस्थ श्मशान में व **क्षेत्रे**=खेत में **निचख्नुः**=गाड़ देते हैं, **वा**=अथवा जो **धीरतराः**=(तॄ अभिभवे) धीरों का भी अभिभव करनेवाले—अपने को अधिक बुद्धिमान् माननेवाले लोग **पाकम्**=पवित्र व **अनागसम्**=निरपराध **सन्तं त्वा**=होते हुए भी तुझे **गार्हपत्ये अग्नौ**=गार्हपत्य अग्नि में **अभिचेरुः**=अभिचरित करते हैं। अभिचारयज्ञ द्वारा अथवा किसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि के प्रयोग द्वारा तुझे नष्ट करने का यत्न करते हैं। २. **उपाहृतम्**=उपहाररूप में दी गई **अनुबुद्धम्**=अनुकूल रूप से जानी गई अथवा **निखातम्**=कहीं क्षेत्र आदि में गाड़ी गई **वैरम्**=(वीरस्य भावः, वि+ईर्) विशिष्टरूप से कम्पित करनेवाली **त्सारी**=(त्सर छद्मगतौ) कुटिल गतिवाली—छिपेरूप में गतिवाली (वल-ग) **कर्त्रम्**=(कृत्याम्) घातक वस्तु को **अन्वविदाम**=हमने समझ लिया है, **तत्**=अतः यह **कर्त्रम्**=कृत्या **यतः आभृतम्**=जहाँ से यहाँ पहुँचाई गई है वहीं **एतु**=चली जाए। यह **तत्र**=वहाँ ही—जहाँ से आई है उस आनेवाले स्थान पर **अश्वः इव**=घोड़े की भाँति अथवा व्यापक अग्नि की भाँति **विवर्तताम्**=लौट जाए और **कृत्याकृतः प्रजां हन्तु**=कृत्या करनेवाले की प्रजा को ही नष्ट करे।

भावार्थ—घातक प्रयोग की वस्तु घास आदि में छिपाकर रक्खी जा सकती है, समीप के शमशान या खेत में गाड़ी जा सकती है अथवा गार्हपत्य अग्नि में कोई घातक प्रयोग किया जा सकता है। ये भी सम्भव है कि ऐसी कोई घातक वस्तु बड़ी अनुकूल-सी प्रतीत होती हुई उपहार रूप में दी जाए। ये सब उस कृत्या को करनेवालों को ही प्राप्त हों—उन्हीं की प्रजा के विनाश का कारण बनें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

स्वायसाः असयः

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि॥ २०॥

१. नः गृहे=हमारे घर में स्वायसाः=उत्तम लोहे की बनी हुई असयः सन्ति=तलवारें हैं और हे कृत्ये=शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोग! यतिधा ते परूंषि=जितने प्रकार के तेरे पर्व हैं उन्हें भी विद्म=हम जानते हैं। हम अपने यहाँ शत्रुविनाश के लिए अस्त्र-शस्त्रों को तैयार रक्खें तथा शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों के प्रति सावधान रहें। २. शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोग को सम्बोधित करते हुए हम कह सकें कि उत्तिष्ठ एव=तू यहाँ से उठ ही खड़ा हो, इतः परा इहि=यहाँ से सुदूर स्थान में चला जा। अज्ञाते=हे अज्ञातरूप में रहनेवाली हिंसाक्रिये! इह किम् इच्छसि=यहाँ तू क्या चाहती है, अर्थात् यहाँ तेरा क्या काम है? तुझे हम समझ गये हैं—अब तू यहाँ से दूर ही रह।

भावार्थ—हम अपने शस्त्रों को उत्तम स्थिति में रक्खें। शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों को ठीक से जानकर उन्हें अपने से दूर करें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

इन्द्राग्नी

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान्रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती॥ २१॥

१. हे कृत्ये=शत्रुकृत् छेदन-भेदन क्रिया के लिए मनुष्यरूप में बनाई गई वस्तु! ते ग्रीवाः=तेरी गर्दन की नाड़ियों को च पादौ अपि=और पाँवों को भी कर्त्स्यामि=मैं छिन्न कर डालूँगा, अतः निर्द्रव=तू यहाँ से दूर भाग जा। २. इन्द्राग्नी=राष्ट्र में हमारे सेनापति व राजा अथवा व्यक्ति में बल व प्रकाश के तत्त्व अस्मान् रक्षताम्=हमारा रक्षण करें। यौ=बल व प्रकाश के तत्त्व अथवा सेनापति व राजा प्रजानाम् प्रजावती=प्रजाओं में प्रशस्त प्रजाओंवाले हैं—अथवा माता के समान प्रजाओं का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम शत्रुकृत् घातक प्रयोगों को दूर करनेवाले हों। बल व प्रकाश के तत्त्व हमारा रक्षण करें। ये दोनों तत्त्व प्रजाओं में प्रशस्त प्रजावाले हैं, अथवा सेनापति व राजा हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् (एकावसाना) ॥

'सोमः' राजा अधिपाः मृडिता च

सोमो राजाऽधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु॥ २२॥

१. सोमः=शरीरस्थ सोमशक्ति राजा=हमारे जीवन को दीप्त बनानेवाली है, अधिपाः=हमारा खूब ही रक्षण करनेवाली है च मृडिता=और हमारे जीवन को सुखी बनानेवाली है। २. भूतस्य पतयः=प्राणियों के रक्षक सब तत्त्व नः मृडयन्तु=हमें सुखी करें।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण करते हुए हम दीप्त, रक्षित व सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिपदाभुरिक्विषमागायत्री ॥

पापकृत, कृत्याकृत, दुष्कृत्

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम्॥ २३॥

१. संसार को उत्पन्न करनेवाले प्रभु 'भव' हैं (भूः), संसार का संहार (प्रलय) करनेवाले प्रभु 'शर्व' हैं। भवाशर्वौ=उत्पादक व संहारक प्रभु पापकृते=पाप करनेवाले के लिए,

कृत्याकृते=औरों का छेदन-भेदन करनेवाले के लिए तथा **दुष्कृते**=अशुभ कर्मों को करनेवाले के लिए **देवहेतिम्**=देवों के वज्रभूत **विद्युतम्**=विद्युत् को **अस्यताम्**=फेंकनेवाले हों।

भावार्थ—पापकृत्, कृत्याकृत्, दुष्कृत् लोग उत्पादक व संहारक प्रभु के द्वारा फेंकी गई विद्युत् के शिकार हों। ये लोग आधिदैविक आपत्तियों के द्वारा नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—प्रस्तारपङ्क्तिः॥

अष्टापदी भूत्वा

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतो३ऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने॥ २४॥

१. हे **दुच्छुने**=दुष्ट गतिवाली व दुःखदायिनी कृत्ये! **यदि**=यदि तू **कृत्याकृता**=इन छेदन-भेदन का प्रयोग करनेवाले पुरुषों के द्वारा **संभृता**=सम्यक् बनाई गई, **विश्वरूपा**=अनेक रूपोंवाली **द्विपदी**=दो पाँवोंवाली व **चतुष्पदी**=चार पाँवोंवाली **आ इयथ**=हमारे समीप आती है, तो **सा**=वह तू **अष्टापदी भूत्वा**=आठ पावोंवाली बनकर—दुगुनी व चौगुनी के स्थान में आठ गुनी होकर **इतः**=यहाँ से **पुनः परेहि**=फिर वापस जानेवाली हो।

भावार्थ—हिंसा का प्रयोग हिंसा करनेवाले को ही पुनः द्विगुणित होकर प्राप्त हो।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अभ्यक्ता, अक्ता, स्वरंकृता

अभ्य१क्ताक्ता स्व१रंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम्॥ २५॥

१. **अभ्यक्ता**=चन्दनादि लेप से सब प्रकार से सुन्दर, **अक्ता**=तैलादि से मर्दित, **सु अरंकृता**=उत्तम रीति से आभूषणों से सुसज्जित होकर भी वेश्या के समान **सर्वं दुरितं भरन्ती**=सब दुरित (दुराचरण) को अपने में धारण करती हुई तू हे कृत्ये! **परा इहि**=हमसे दूर जा। २. हे **कृत्ये**=छेदन-क्रिये! तू उसी प्रकार **कर्तारं जानीहि**=अपने उत्पादक को जान, **इव**=जैसेकि **दुहिता स्वं पितरम्**=लड़की अपने पिता को ही समझती है, पति से लौटाई हुई वह पिता के पास ही रहती है और पिता का ही व्यय कराती है। जैसे दुहिता पिता के पास लौट आती है, उसी प्रकार हे कृत्ये! तू कर्ता के पास ही लौट जा।

भावार्थ—बड़ी सुन्दर आकृति की कृत्या का प्रयोग भी कर्त्ता के समीप ही लौट जाए। यह सुन्दराकृति वेश्या के समान विनाशक ही है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मृगः सः, मृगयुः त्वं

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्यैव पदं नय। मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति॥ २६॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसाक्रिये! तू **परा इहि**=यहाँ से दूर जा, **मा तिष्ठः**=हमारे समीप स्थित मत हो। **विद्धस्य एव**=बाण से घायल शिकार के पैरों के निशान देखकर जिस प्रकार शिकार खोज लिया जाता है, उसी प्रकार तू **पदं नय**=शत्रु के पैर खोज-खोजकर उस तक पहुँच जा। २. हे कृत्ये! **सः मृगः**=वह शत्रु मृग है, **त्वं मृगयुः**=तू उस मृग का शिकार करनेवाली है। वह **त्वा**=तुझे **निकर्तुं न अर्हति**=काटने योग्य नहीं है। तू उसी के पास लौटकर उसका छेदन करनेवाली हो।

भावार्थ—हे कृत्ये! तू अपने करनेवाले के समीप ही पहुँच। तू उसी को नष्ट कर। तुझ

मृगयु का वह मृग है। तुझे उसको मारना है, वह तुझे नहीं मार सकता।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रक्षणात्मक, न कि आक्रमणात्मक (युद्ध)

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति॥ २७॥

१. **अपरः**=(अ-परः) शत्रुत्व की भावना से रहित पुरुष **उत**=भी **पूर्वासिनम्**=(असु क्षेपणे) पहले शस्त्र फेंकनेवाले को **प्रत्यादाय**=उलटा पकड़कर—सैन्य द्वारा उसका स्वागत करके—**इष्वा हन्ति**=बाण से मारता है। श्रेष्ठ पुरुष पहले आक्रमण नहीं करता, परन्तु आक्रान्ता का सेना द्वारा स्वागत करके उसे बाणों से प्रहृत करता है। २. **अ-परः**=यह पर (शत्रु) न होता हुआ—व्यर्थ में वैर न करता हुआ **उत**=निश्चय से **पूर्वस्य निघ्नतः**=पहले हनन (चोट) करते हुए के **प्रतिहन्ति**=प्रतिरोध के लिए चोट करता ही है।

भावार्थ—आक्रमणात्मक युद्ध वाञ्छनीय नहीं है, परन्तु रक्षणात्मक युद्ध तो करना ही है।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिपदागायत्री ॥

यः त्वा चकार, तं प्रति

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ। यस्त्वा चकार तं प्रति॥ २८॥

हे कृत्ये! हिंसनक्रिये! **मे एतत् वचः**=मेरे इस वचन को **शृणु हि**=निश्चय से सुन ही। **अथ इहि**=और अब वहाँ ही जा **यतः आ इयथ**=जहाँ से तू आई है। **यः त्वा चकार**=जो तुझे करता है, **तं प्रति**=उसी के प्रति तू जा।

भावार्थ—हम कभी भी पहले आक्रमण न करें, परन्तु शत्रुकृत् हिंसा को उसी के प्रति लौटाएँ।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—मध्येज्योतिष्मतीजगती ॥

निरपराध का हिंसन भयंकर पाप है

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥ २९॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसनक्रिये! **अनागः हत्या**=निष्पाप का मारना **वै**=निश्चय से **भीमा**=भयंकर है—भयप्रद परिणामों को पैदा करनेवाला है। तू **नः**=हमारे **गां अश्वं पुरुषम्**=गौ, घोड़े व पुरुषों को **मा वधीः**=मत मार। २. हे कृत्ये! तू **यत्र यत्र निहिता असि**=जहाँ-जहाँ भी रक्खी गई है—घासों में, खेतों में, श्मशानों में—जहाँ कहीं भी शत्रु ने तुझे रखने का प्रयत्न किया है, **ततः त्वा उत्थापयामसि**=वहाँ से तुझे उखाड़ फेंकते हैं—उठाकर दूर कर देते हैं। तू **पर्णात् लघीयसी भव**=पत्ते से भी हल्की हो जा, अर्थात् तेरा उखाड़ फेंकना हमारे लिए कठिन न हो।

भावार्थ—दुष्ट शत्रुभूत लोग निरपराध लोगों को भी आहत करने के लिए बम्बादि भारी-भारी हिंसक प्रयोगों को इधर-उधर छिपाकर रखने का प्रयत्न करते हैं। हम इन प्रयोगों को ढूँढकर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

तमः जालम्

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिताइव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि॥ ३०॥

१. हे लोगो! **यदि**=यदि तुम **तमसा आवृताः स्थ**=अन्धकार से आच्छादित-से हो, अथवा **जालेन**=जाल से **अभिहिताः इव**=बद्ध-से हो, अर्थात् शत्रुकृत् कृत्याओं के कारण यदि चारों ओर अन्धकार-सा छा गया है और ऐसा लगता है कि हमारे लोग जाल से बद्ध-से हो गये हैं, तो **इतः**=यहाँ से **सर्वाः कृत्याः**=सब हिंसा-प्रयोगों को **संलुप्य**=लुप्त करके—छिन्न करके **पुनः**=फिर **कर्त्रे**=इनके करनेवालों के लिए ही **प्रहिण्मसि**=हम भेजते हैं।

भावार्थ—रक्षकवर्ग का यह कर्त्तव्य है कि शत्रुकृत् अन्धकारों व जाल-बन्धनों से प्रजा का रक्षण करे।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

कृत्याकृत्, वलगी, अभिनिष्कारी

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम्।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून्कृत्याकृतो जहि॥ ३१ ॥

१. हे **कृत्ये**=छेदन-भेदन की क्रिये! तू **कृत्याकृतः**=छेदन करनेवालों तथा **वलगिनः**=गुप्त प्रयोगों को करनेवालों की (वल संवरणे) तथा **अभिनिष्कारिणः**=आक्रमण करनेवाले की व बुरा सोचनेवाले की (injuring, thinking ill of) **प्रजाम् मृणीहि**=प्रजा को भी कुचल दे, **मा उच्छिषः**=उन्हें बचा मत। **अमून् कृत्याकृतः**=इन हिंसन करनेवालों को **जहि**=तू नष्ट कर दे।

भावार्थ—कृत्या हिंसन करनेवाले लोगों का ही उच्छेद करे।

ऋषिः—प्रत्यङ्गिरसः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—द्व्यनुष्टुब्गर्भापञ्चपदातिजगती ॥

कृत्या प्रयोगों का विनाश

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥ ३२ ॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः तमसः परिमुच्यते**=सूर्य अन्धकार से मुक्त हो जाता है **च**=और **रात्रिम्**=रात्रि को तथा **उषसः केतून्**=उषा के प्रज्ञापक (प्रकाशमय) चिह्नों को भी **जहाति**=छोड़ देता है, **एव**=इसी प्रकार **अहम्**=मैं **कृत्याकृता**=हिंसनक्रिया करनेवाले पुरुष के द्वारा **कृतम्**=किये हुए **सर्वम्**=सब **दुर्भूतम्**=दुष्ट **कर्त्रम्**=घातक प्रयोग को उसी प्रकार **जहामि**=छोड़ता हूँ, **इव**=जैसेकि **हस्ती**=हाथी **दुरितं रजः**=बुरी प्रकार से प्राप्त हुई-हुई धूल को परे फेंक देता है।

भावार्थ—हम शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों को इसप्रकार दूर कर पाएँ जैसेकि सूर्य अन्धकार को दूर कर देता है और हाथी बुरी तरह से चिपकी धूल को दूर कर देता है।

सब प्रकार के पापों व अन्धकारों को दूर करने के लिए प्रभु का स्मरण करता हुआ यह पुरुष नर-समूह का अयन (रक्षण-स्थान) बनता है, अतः 'नारायण' नामवाला होता है। यह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'पार्ष्णी-प्रतिष्ठा' केन?

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥ १ ॥

१. **पूरुषस्य**=पुरुषदेह की **पार्ष्णी**=दोनों एड़ियाँ **केन आभृते**=किसने बनायी हैं? **मांसं केन**

संभृतम्=मांस को किसने सम्यक् भृत (धारित) किया है? **केन गुल्फौ**=किसने गिट्टों को लगाया है? २. **केन पेशनीः**=किसने सुन्दर अवयवोंवाली (पिश अवयवे) **अंगुलीः**=अंगुलियों को संभृत किया है? **केन खानि**=किसने इन्द्रिय-छिद्रों को बनाया है? **केन उच्छ्लङ्खौ**=(उत् श्लंक् गतौ) किसने उत्कृष्ट गतिवाले दोनों शिरःकपाल बनाये हैं? **मध्यतः**=शरीर के मध्य में **कः**=किसने **प्रतिष्ठाम्**=बैठने के आधारभूत 'श्रोणिफलक'—नितम्ब बनाये हैं?

भावार्थ—एक-एक अंग की रचना में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गुल्फौ-जानू

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्य दधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत॥ २॥

१. **कस्मात्**=किस कारण से **नु**=अब **गुल्फौ**=गिट्टे **अधरौ अकृण्वन्**=नीचे बनाये हैं और **पूरुषस्य**=पुरुष-शरीर के **अष्ठीवन्तौ उत्तरौ**=घुटने ऊपर बनाये गये हैं? २. क्योंकर **जङ्घे**=जाँघें **निर्ऋत्य न्यदधुः**=अलग-अलग करके रक्खी गई हैं? **जानुनोः सन्धी क्वस्वित्**=घुटनों की सन्धियों को कहाँ रक्खा गया है? **कः उ तत् चिकेत**=कौन इसे निश्चय से जानता है?

भावार्थ—इस शरीर की रचना को पूरा-पूरा समझना कठिन है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुसिन्ध (धड़)

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥ ३॥

१. **चतुष्टयम्**=चार प्रकार के **संहित-अन्तम्**=सटे हुए सिरोंवाला यह **शिथिरम्**=शिथिल (flabby) **कबन्धम्**=धड़ **जानुभ्याम् ऊर्ध्वम्**=घुटनों के ऊपर **युज्यते**=जोड़ा गया है और **यत्**=जो **श्रोणी**=दोनों कूल्हे (The hip, the buttocks) और **ऊरू**=जाँघें हैं, **कः उ**=किसने **तत् जजान**=उन्हें निर्मित किया है? **याभ्याम्**=जिनके साथ **कुसिन्धम्**=(कुस श्लेषणे, धा) श्लेष का धारक (परस्पर संभक्त) अथवा (कु+स्यन्द) मलों का प्रवाहक (कु सिन्ध्) व छोटी-छोटी नाड़ियों से पूर्ण यह धड़ **सुदृढं बभूव**=दृढ़ हुआ है।

भावार्थ—यहाँ ऊरू व श्रोणि-प्रदेशों को निर्मित करके उनपर इस धड़ को किसने सुदृढ़ किया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरः-पृष्टीः

कति देवाः कतमे त आसन्य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य।
कति स्तनौ व्य दधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन्॥ ४॥

१. **ते**=वे **कति**=कितने व **कतमे**=कौन-से **देवाः**=दिव्य पदार्थ थे, **ये**=जिन्होंने **पूरुषस्य**=इस पुरुष के **उरः**=छाती को **ग्रीवाः**=और गले की नाड़ियों को **चिक्युः**=चिन दिया। **कति स्तनौ**=कितनों ने दोनों स्तनों को **व्यदधुः**=बनाया। **कः कफोडौ**=किसने दोनों कपोलों को बनाया। **कति**=कितनों ने **स्कन्धान्**=कन्धों को और **कति**=कितनों ने **पृष्टीः अचिन्वन्**=पसलियों को एकत्र किया।

भावार्थ—शरीर में छाती, ग्रीवा, स्तन, कपोल, स्कन्ध व पृष्टियों की रचना अद्भुत ही है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

बाहू-अंसौ

को अस्य बाहू समभरद्वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

१. **कः**=किस अद्भुत रचयिता ने **अस्य**=इस पुरुष की **बाहू समभरत्**=भुजाओं को संभृत किया है, **वीर्यं करवात् इति**=जिससे यह वीरतापूर्ण कर्मों को करनेवाला बनता है, **तत्**=उसी कर्त्तव्य-भार को उठाने के उद्देश्य से ही **कः देवः**=किस दिव्य स्रष्टा ने **अस्य कुसिन्धे अधि**=इस पुरुष के धड़ पर **अंसौ आदधौ**=कन्धों को स्थापित किया है।

भावार्थ—भुजाएँ शक्तिशाली कर्मों को करने के लिए दी गई हैं और कन्धे कर्त्तव्यभार को उठाने के लिए प्राप्त कराये गये हैं। हम कर्त्तव्यभार से घबराएँ नहीं, अपितु वीरता के साथ कर्म करनेवाले बनें।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—जगती ॥

सप्तखानि

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

१. **कः**=किसने **शीर्षणि**=सिर में **सप्त खानि विततर्द**=सात इन्द्रिय-गोलकों को खोदा है—बनाया है। **इमौ कर्णौ**=इन दोनों कानों को, **नासिके**=दोनों नासिका-छिद्रों को **चक्षणी**=दोनों आँखों को और **मुखम्**=मुख को किसने बनाया है? २. **येषाम्**=जिन इन्द्रिय-गोलकों की **विजयस्य मह्मनि**=विजय की महिमा में उनके स्वस्थ रहने पर ही **चतुष्पादः द्विपदः**=चौपाये और दोपाये—पशु व मनुष्य सभी प्राणी **पुरुत्रा**=अनेक प्रकार से **यामं यन्ति**=मार्ग पर चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने किस प्रकार इन दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुखरूप अद्भुत सात इन्द्रिय-गोलकों को बनाया है। इनकी विजय की महिमा में ही सब प्राणी जीवन-मार्ग में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पुरूची जिह्वा

हन्वोर्हि जिह्वामदधात्पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

१. उस आनन्दमय प्रभु ने ही **हन्वोः**=दोनों जबड़ों के बीच में **पुरूचीम्**=बहुत चलनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अदधात्**=स्थापित किया है, **अध**=और इस जिह्वा में **महीं वाचम्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण वाणी को **अधिशिश्राय**=आश्रित किया है। २. **सः**=वे प्रभु **भुवनेषु अन्तः**=सब भुवनों में **आवरीवर्ति**=वर्त्तमान हो रहे हैं। **अपः वसानः**=सब प्रजाओं को उन्होंने आच्छादित किया हुआ है—सबको अपने गर्भ में धारण किया हुआ है। **कः उ**=निश्चय से कौन **तत् चिकेत**=उस ब्रह्म को जानता है? वह प्रभु अज्ञेयस्वरूप ही हैं।

भावार्थ—जबड़ों में गतिशील जिह्वा का स्थापन कितना अद्भुत है। उस जिह्वा में क्या ही अद्भुत वाणी की शक्ति का स्थापन हुआ है। वे प्रभु सब भुवनों में वर्त्तमान हैं, सब प्राणियों को अपने में धारण कर रहे हैं। प्रभु की गरिमा अव्याख्येय है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मस्तिष्कं ललाटं

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः॥ ८॥

१. **यतमः प्रथमः**=जिस प्रथम देव ने—जिस सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) देव ने **अस्य पूरुषस्य**=इस पुरुष के **मस्तिष्कं ललाटम्**=मस्तिष्क (भेजे) व ललाट (माथे) को **यः**=जिसने **ककाटिकाम्**=सिर के पिछले भाग को व **कपालम्**=खोपड़ी को तथा **हन्वोः चित्यम्**=दोनों जबड़ों के सञ्चय को **चित्वा**=चिनकर **दिवं रुरोह**=अपने प्रकाशमय रूप में आरोहण किया है, **सः देवः कतमः**=वह देव कौन-सा है?

भावार्थ—पुरुष के 'मस्तिष्क, ललाट, ककाटि, कपाल व हनुओं' की रचना में उस अज्ञेय प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर हो रही है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रियाप्रियाणि

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्य ऽः।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः॥ ९॥

१. हे पुरुषो! विचारो कि **उग्रः पूरुषः**=तेजस्वी होता हुआ पुरुष **बहुला**=बहुत प्रकार के **प्रियाप्रियाणि**=प्रिय व अप्रिय भावों को, **स्वप्नम्**=स्वप्न को **संबाधतन्द्र्यः**=बाधाओं (पीड़ाओं) व थकानों को **आनन्दान्**=आनन्दों को **च नन्दान्**=और समृद्धियों को **कस्मात् वहति**=किस कारण से प्राप्त करता है?

भावार्थ—किस देव की अधीनता में तेजस्वी-से-तेजस्वी पुरुष भी प्रिय व अप्रिय कर्मफलों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आर्ति-उदिति

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः॥ १०॥

१. **पुरुषे**=इस पुरुष में **आर्तिः**=पीड़ा, **अवर्तिः**=दरिद्रता—वृत्ति का न चलना, **निर्ऋतिः**=कृच्छ्रापत्ति (नि० २।७) कष्ट और **अमतिः**=अज्ञान व कुमति **कुतः नु**=कहाँ से आ जाते हैं। २. इसीप्रकार **राद्धिः**=सिद्धि, **समृद्धिः**=सम्पत्ति **अव्यृद्धिः**=अन्यूनता (विशेष सम्पत्ति का भाव), **मतिः**=बुद्धि, तथा **उदितयः**=उत्थान की क्रियाएँ **कुतः**=कहाँ से होती हैं?

भावार्थ—मनुष्य को कभी पीड़ा, कभी सफलता व कभी उत्थान—ये सब किस परमपुरुष की व्यवस्था में प्राप्त होते हैं?

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—जगती ॥

'रुधिर' रूप अद्भुत जल

को अस्मिन्नापो व्य ऽदधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः॥ ११॥

१. **अस्मिन् पुरुषे**=इस पुरुष-शरीर में **आपः**=रुधिररूप द्रवों को **कः व्यदधात्**=किसने

बनाया है, जोकि **विषूवृतः**=नाना प्रकार से देह में घूमते हैं, **पुरूवतः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करने के दृष्टिकोण से घूमनेवाले, **सिन्धुसृत्याय जाताः**=नाड़ीरूप सिन्धुओं में गति करने के योग्य हो गये हैं। २. ये रुधिरद्रव **तीव्राः**=तीव्र गतिवाले **अरुणाः**=लाल रंगवाले **लोहिनीः**=लोह धातु को साथ ले-जानेवाले, **ताम्रधूम्राः**=तांबे के धूएँ के समान रंगवाले, **ऊर्ध्वा अवाचीः तिरश्चीः**=ऊपर, नीचे व तिरछे चलनेवाले हैं।

भावार्थ—नाड़ियों में प्रवाहित होनेवाले इस अद्भुत रुधिर का निर्माण किसने किया है?

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रूपं चरित्रं

को अस्मिन्रूपमदधात्को मह्यानं च नाम च।
गातुं को अस्मिन्कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे॥ १२॥

१. **कः**=कौन **अस्मिन् पूरुषे**=इस पुरुष में **रूपं अदधात्**=रूप को स्थापित करता है? **च**=और **कः**=कौन **मह्यानं नाम च**=महिमा और नाम को स्थापित करनेवाला है? **कः**=कौन **अस्मिन्**=इस पुरुष में **गातुम्**=गीत को, शब्द को स्थापित करता है? **कः केतुम्**=कौन ज्ञान को, **कः च**=और कौन **चरित्राणि**=आचरणों को स्थापित करता है?

भावार्थ—पुरुष में 'रूप, महिमा, नाम, शब्द, ज्ञान व चरित्रों' का स्थापन कौन करता है?

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्राण-समान

को अस्मिन्प्राणमवयत्को अपानं व्यानमु।
समानमस्मिन्को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे॥ १३॥

१. **कः**=किस आनन्दमय देव ने **अस्मिन् पूरुषे**=इस पुरुष में **प्राणम्**=प्राणवायु को **अवयत्**=बुना है। **कः**=किसने **अपानम्**=अपान को **उ**=और **व्यानम्**=सर्वशरीरगामी व्यानवायु को प्रवाहित किया है? २. **अस्मिन्**=इसमें **कः देवः**=किस दिव्य परमपुरुष प्रभु ने **समानम्**=समानवायु को **अधि शिश्राय**=अधिश्रित किया है?

भावार्थ—इस पुरुष में प्राणादि अवयवों का स्थापक पुरुष कितना अद्भुत स्रष्टा है?

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञ-अमृत

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम्॥ १४॥

१. **कः**=कौन **एकः देवः**=अद्वितीय देव **अस्मिन् पूरुषे अधि**=इस पुरुष में **यज्ञं अदधात्**=यज्ञ को स्थापित करनेवाला हुआ? **कः**=किसने **अस्मिन्**=इसमें **सत्यम्**=सत्य को **कः**=और किसने **अनृतम्**=असत्य को स्थापित किया है? **कुतः मृत्युः**=कहाँ से यह मृत्यु आती है, और **कुतः अमृतम्**=कहाँ से नीरोगता की स्थापना होती है?

भावार्थ—'यज्ञ, सत्य, अनृत, मृत्यु व अमृत' का संस्थापक देव कौन है?

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वासः-जवः

को अस्मै वासः पर्यदधात्को अस्यायुरकल्पयत्।
बलं को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्जवम्॥ १५॥

१. **कः**=कौन **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **वासः पर्यदधात्**=देहरूप वस्त्र को धारण कराता है? **कः**=कौन **अस्य**=इस पुरुष के **आयुः अकल्पयत्**=आयुकाल को नियत करता है? **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **बलम्**=बल को **कः प्रायच्छत्**=कौन देता है? **कः**=कौन **अस्य**=इसके **जवम्**=वेग व क्रिया-सामर्थ्य को **अकल्पयत्**=रचता है?

भावार्थ—किस अद्भुत देव ने हमें शरीररूप वस्त्र, आयु, बल व वेग को प्राप्त कराया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आपः-अहः

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद्रुचे।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे॥ १६॥

१. **केन**=किससे **आपः**=ये जल अथवा शरीरस्थ वीर्यकण **अन्वतनुत**=अनुकूलता से विस्तृत किये गये हैं? **केन**=किसने **रुचे**=प्रकाश के लिए **अहः**=दिन व सूर्य को **अकरोत्**=बनाया है? **केन**=किसने **उषसम्**=उषाकाल को **अन्वैन्द्ध**=पुरुष के अनुकूल दीप्त किया है और **केन**=किसने **सायंभवं ददे**=सायंकाल को दिया है?

भावार्थ—किस अनुपम देव ने 'जलों, दिनों, उषाओं व सायंकालों' का निर्माण किया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतः-नृतः

को अस्मिन्रेतो न्य दधात्तन्तुरा तायतामिति।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत्को बाणं को नृतो दधौ॥ १७॥

१. **अस्मिन्**=इस पुरुष-देह में **रेतः**=वीर्य को **कः**=कौन देव **न्यदधात्**=निहित करता है, **तन्तुः आतायताम् इति**=जिससे इस पुरुष का प्रजातन्तु फैल सके? शरीर में वीर्य स्थापन का मुख्य उद्देश्य यही है कि प्रजातन्तु का विस्तार हो सके। २. **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **अस्मिन्**=इस पुरुष में **कः**=कौन **अधि औहत्**=धारण करता है? **कः बाणम्**=कौन वाक्शक्ति को और **कः**=कौन **नृतः**=हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं को **दधौ**=स्थापित करता है?

भावार्थ—प्रजातन्तु के विस्तार के लिए प्रभु ने शरीर में रेतस् की स्थापना की है। साथ ही 'मेधा, वाक्शक्ति व चेष्टाओं' को स्थापित किया है। प्रत्येक कार्य पहले बुद्धि में, फिर वाणी में और तदनन्तर हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं में उपस्थित होता है—'**यन्मनसा मनुते, तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति**'। ये सब किस अनुपम देव ने बनाये हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमि-द्युलोक

केनेमां भूमिमौर्णोत्केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मह्ना पर्वतान्केन कर्माणि पूरुषः॥ १८॥

१. **पूरुषः**=उस परमपुरुष ने **केन मह्ना**=किस अद्भुत सामर्थ्य से **इमां भूमिं और्णोत्**=इस भूमि को आच्छादित किया है—बिछा-सा दिया है? **केन**=किस सामर्थ्य से **दिवं परि अभवत्**=द्युलोक को समन्तात् व्याप्त किया हुआ है? **केन**=किस अद्भुत सामर्थ्य से **पर्वतान्**=पर्वतों को और **केन**=किस सामर्थ्य से **कर्माणि**=सब कर्मों को **अभि**=(अभवत्) अभिभूत—वशीभूत किया हुआ है?

भावार्थ—उस परमपुरुष ने भूमि को अपनी महिमा से बिछा-सा दिया है और द्युलोक

को व्याप्त किया हुआ है। उसी ने पर्वतों व सब कर्मों को वशीभूत किया हुआ है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पर्जन्य-सोम

केन पर्जन्यमन्वेति केन सोमं विचक्षणम्।
केन यज्ञं च श्रद्धां च केनास्मिन्निहितं मनः॥ १९॥

१. **केन**=किस अद्भुत देव द्वारा यह पुरुष **निहितम्**=अन्तरिक्ष में स्थापित किये हुए **पर्जन्यम्**=मेघ को **अनु एति**=लगातार—प्रतिवर्ष प्राप्त करता है? **केन**=किसके द्वारा शरीर में स्थापित किये गये **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाशवाले **सोमम्**=वीर्य को प्राप्त करता है? शरीर में यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर जीवन को प्रकाशमय बनाता है, यह सोम विचक्षण है। २. **केन**=किस देव के द्वारा स्थापित **यज्ञं च श्रद्धां च**=यज्ञ और श्रद्धा को प्राप्त करता है? और **केन**=किससे **अस्मिन्**=इस देह में **निहितं मनः**=रक्खे हुए मन को अनुकूलता से प्राप्त करता है?

भावार्थ—प्रभु ने मानव-हित के लिए पर्जन्यों का निर्माण करके अन्न को सम्भव किया है (पर्जन्यादन्नसम्भवः)। प्रभु ने इस अन्न द्वारा शरीर में सोम की स्थापना की है। सुरक्षित सोम यज्ञ और श्रद्धा का मूल बनता है और मानसशक्ति का विकास करता है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'ब्रह्म (ज्ञान) का महत्त्व'

केन श्रोत्रियमाप्नोति केनेमं परमेष्ठिनम्। केनेममग्निं पूरुषः केन संवत्सरं ममे॥ २०॥
ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्। ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे॥ २१॥

१. **केन**=किस हेतु से **श्रोत्रियम् आप्नोति**=वेदज्ञ आचार्य को प्राप्त करता है, **केन**=किससे **इमम्**=इस **परमेष्ठिनम्**=परम स्थान में स्थित प्रभु को प्राप्त करता है? और **पूरुषः**=पुरुष **केन**=किससे **इमं अग्निम्**=इस अग्नि को **ममे**=मापता है—जान पाता है? **केन**=किससे **संवत्सरम्**=काल को मापता है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **ब्रह्म**=ज्ञान ही **श्रोत्रियम् आप्नोति**=श्रोत्रिय को प्राप्त करता है, अर्थात् ज्ञान के हेतु से ही मनुष्य श्रोत्रिय के समीप जाता है। **ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्**=ज्ञान ही इस परमेष्ठी को प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है। **पूरुषः**=पुरुष **ब्रह्म इमं अग्निं ममे**=ज्ञान के द्वारा इस अग्नि को मापनेवाला होता है और **ब्रह्म संवत्सरं ममे**=ज्ञान ही काल को मापता है। मनुष्य ज्ञान द्वारा ही यज्ञिय अग्नि के महत्त्व को व कालचक्र की गति को जान पाता है।

भावार्थ—ज्ञान के हेतु से मनुष्य वेदज्ञ आचार्य को प्राप्त करता है। प्राप्त ज्ञान से प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान से ही यज्ञिय अग्नि में यज्ञादि कर्मों को करता है और कालचक्र की गति को समझता हुआ समय पर कार्यों को करनेवाला बनता है।

ऋषिः—नारायणः ॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

न-क्षत्रं=सत् क्षत्रम्

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः। केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत्क्षत्रमुच्यते॥ २२॥
ब्रह्म देवाँ अनु क्षियति ब्रह्म दैवजनीर्विशः। ब्रह्मेदमन्यन्नक्षत्रं ब्रह्म सत्क्षत्रमुच्यते॥ २३॥

१. **केन**=किस सामर्थ्य से मनुष्य **देवान् अनु क्षियति**=देवों के साथ निवास करता है—दिव्य गुणों को अपने में बढ़ानेवाला बनता है? **केन**=किस सामर्थ्य से **दैवजनीः विशः**=प्रभु से उत्पादित प्रजाओं के साथ अनुकूलता से निवास कर पाता है? **केन अन्यत्**=किससे भिन्न—

रहित होकर **इदम्**=यह **न-क्षत्रम्**=क्षतों से अपना त्राण करनेवाला नहीं होता, और **केन**=किसके द्वारा **सत् क्षत्रम्**=उत्तम बलस्वरूप (क्षत्रों से अपना त्राण करनेवाला) **उच्यते**=कहा जाता है। २. **ब्रह्म देवान् अनु क्षियति**=ज्ञान से यह पुरुष देवों के साथ निवास करता है। **ब्रह्म दैवजनीः विशः (अनुक्षियति)**=ज्ञान द्वारा देव से उत्पादित प्रजाओं के साथ अनुकूलता से निवास करता है। **ब्रह्म अन्यत्**=ब्रह्म से रहित **इदं नक्षत्रम्**=यह निर्वीर्य है। **ब्रह्म**=ज्ञान ही **सत् क्षत्रम्**=उत्तम बल **उच्यते**=कहा जाता है।

भावार्थ—ज्ञान से दिव्यगुणों का विकास होता है। ज्ञान से मनुष्य सब प्रजाओं के साथ अनुकूलतापूर्वक निवास करता है। ज्ञानशून्यता ही निर्वीर्यता है। ज्ञान ही उत्कृष्ट बल है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमिः, द्यौः, अन्तरिक्षम्

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २४॥
ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २५॥

१. **केन**=किसने **इयं भूमिः**=यह पृथिवीलोक **विहिता**=बनाया है? **केन**=किसने **उत्तरा द्यौः**=यह द्युलोक ऊपर **हिता**=स्थापित किया है? **केन**=किसने **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **तिर्यक् च**=और तिरछा—एक सिरे से दूसरे सिरे तक **व्यचः**=फैला हुआ (विस्तारवाला) **इदं अन्तरिक्षं हितम्**=यह अन्तरिक्ष स्थापित किया है? २. **ब्रह्मणा भूमिः विहिता**=ब्रह्म ने इस पृथिवीलोक को बनाया है। **ब्रह्म**=प्रभु ने ही **उत्तरा द्यौः हिता**=द्युलोक को ऊपर स्थापित किया है। **ब्रह्म**=प्रभु ने ही **ऊध्वर्म्**=ऊपर **तिर्यक् च**=और तिरछे—एक सिरे से दूसरे सिरे तक **व्यचः**=विस्तृत **इदं अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्ष **हितम्**=स्थापित किया हैं।

भावार्थ—प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी के निर्माता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूर्धानं हृदयं संसीव्य

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ २६॥

१. **अथर्वा**=(अ-थर्व) स्थिरवृत्ति का मनुष्य अथवा आत्मनिरीक्षण करनेवाला मनुष्य (अथ अर्वाङ्) **यत्**=जब **अस्य**=इस देह के **मूर्धानं हृदयं च**=मस्तिष्क व हृदय को **संसीव्य**=सीकर, अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा का परस्पर मेल करके **मस्तिष्कात्**=मस्तिष्क (brain, ज्ञान) के द्वारा अपने को **ऊर्ध्वः प्रैरयत्**=ऊपर प्रेरित करता है। श्रद्धा-विरहित ज्ञान उत्थान का हेतु न होकर अवनति का कारण बन जाता है। २. तब **शीर्षतः अधि**=(अधि पञ्चम्यर्थानुवादी) यह अथर्वा सिर से **पवमानः**=अपने को पवित्र करनेवाला बनता है—ज्ञान इसकी पवित्रता का हेतु होता है।

भावार्थ—हम स्थिर-वृत्तिवाले व आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाले बनें। अपने जीवन में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय करें। यह श्रद्धा-समन्वित ज्ञान हमारे उत्थान का कारण बनेगा। यह हमें पवित्र बनाएगा।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवकोशः समुब्जितः

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥

१. **तत्**=तब जबकि अथर्वा मूर्धा व हृदय को सी लेता है, **वै**=निश्चय से **अथर्वणः**=इस अर्थवा का **शिरः**=मस्तिष्क **देवकोशः**=देवों का कोष बनता है। तब यह **सम् उब्जितः**=सम्यक् वशीभूत रहता है (keep under, check, subdue)। श्रद्धा के अभाव में मस्तिष्क व्यर्थ के तर्क करता हुआ जीवन को अप्रतिष्ठित-सा कर देता है। २. **तत्**=उस **शिरः**=मस्तिष्क को **अथो**=और **मनः**=मन को **प्राणः**=प्राण और **अन्नम्**=अन्न **अभिरक्षति**=सम्यक् रक्षित करते हैं, अर्थात् मस्तिष्क व मन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि प्राणसाधना की जाए तथा सात्त्विक अन्न का सेवन हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना व सात्त्विक अन्न के सेवन द्वारा मन व मस्तिष्क को सुरक्षित करेंगे तो इन दोनों के समन्वय से हमारा मस्तिष्क देवकोश बनेगा—ज्ञान का भण्डार बनेगा। यह संयत रहेगा, व्यर्थ के तर्कों से जीवन को अप्रतिष्ठित करनेवाला न होगा। श्रद्धा इसे वश में रक्खेगी।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्॥ छन्दः—भुरिग्बृहती॥

ऊर्ध्व, तिर्यकः, सर्वाः दिशः

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥

१. **नु**=निश्चय से वह प्रभु **ऊर्ध्वः सृष्टाः**=ऊपर (ascertained=obtained, certain knowledge of) ज्ञात होते हैं—ऊपर द्युलोक के एक-एक पिण्ड में प्रभु की महिमा प्रकट होती है। **तिर्यक् नु सृष्टाः**=निश्चय से एक किनारे से दूसरे किनारे तक (**तिर्यक्**=crosswise) उस प्रभु का निश्चय होता है। कहीं देखो, सर्वत्र उस प्रभु की महिमा दिखती है। **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं में **पुरुषः आबभूव**=वह पुरुष व्याप्त हो रहा है। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'**—'पर्वत, समुद्र, पृथिवी'—सब उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। २. **यः**=(यम्+उ) संयमी पुरुष ही **ब्रह्मणः पुरं वेद**=ब्रह्म की इस नगरी को जान पाता है, **यस्याः पुरुषः उच्यते**=जिस कारण से ये ब्रह्म पुरुष कहलाते हैं—'पुरि वसति'=पुरी में रहनेवाले हैं। ब्रह्माण्ड प्रभु का पुर है, इसमें वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ऊपर द्युलोक के पिण्डों में अपनी महिमा से प्रकट हो रहे हैं। एक सिरे से दूसरे सिरे तक सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में प्रभु की महिमा प्रकट है। सब दिशाओं में वे व्याप्त हो रहे हैं। संयमी पुरुष ही उस ब्रह्म की ब्रह्माण्डरूप पुरी को जान पाता है। इस पुरी में निवास के कारण ही तो प्रभु 'पुरुष' कहलाते हैं।

सूचना—यहाँ 'सृष्टाः३' आदि में 'विचार्यमाणानाम्' इस सूत्र से 'टि' को प्लुत हुआ है।

ऋषिः—नारायणः॥ देवता—पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

चक्षु, प्राण, प्रजा

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥

१. **यः**=जो पुरुष **वै**=निश्चय से **अमृतेन आवृताम्**=नीरोगता से आच्छादित, अर्थात् पूर्ण नीरोग **ताम्**=उस शरीर-नगरी को **ब्रह्मणः वेद**=ब्रह्म का जानता है, अर्थात् जो यह समझ लेता है कि यह शरीर उस प्रभु का है, **तस्मै**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **ब्रह्म च ब्राह्माः च**=प्रभु व प्रभु से उत्पादित ये सूर्यादि देव **चक्षुः प्राणं प्रजाम्**=चक्षु आदि इन्द्रियशक्तियों, प्राणशक्ति व उत्तम

सन्तान को **ददुः**=देते हैं।

भावार्थ—जो इस शरीर को ब्रह्म का समझता है, वह पूर्ण प्रयत्न से इसे स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील होता है। प्रभुकृपा से इसे उत्तम इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति व उत्तम प्रजा प्राप्त होती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'स्वस्थ दीर्घ जीवन'

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

१. **यः**=(यम्+उ) जो संयमी पुरुष **पुरम्**=इस शरीर-नगरी को **ब्रह्मणः वेद**=ब्रह्म की जानता है, इसे प्रभु की ही धरोहर समझता है, **यस्याः**=जिससे वह प्रभु **पुरुषः उच्यते**=पुरुष—पुरी में निवास करनेवाले कहे जाते हैं, **तम्**=उस संयमी पुरुष को **वै**=निश्चय से **चक्षुः न जहाति**=आँख आदि इन्द्रियाँ छोड़ नहीं जातीं—उसकी सब इन्द्रियाँ ठीक बनी रहती हैं, **प्राणः**=प्राण भी उसे **जरसः पुरा**=पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व **न**=नहीं छोड़ जाता, अर्थात् वह पूर्ण दीर्घायुष्य प्राप्त करता है।

भावार्थ—संयमी बनकर जब हम इस शरीर-नगरी को प्रभु का समझकर इसका पूरा ध्यान व आदर करते हैं तब हम स्वस्थ व दीर्घ जीवन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवानाम् पूः

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥

१. यह शरीररूप **पूः**=नगरी **देवानाम्**=सब सूर्यादि देवों की अधिष्ठानभूत है, **'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'**—(सूर्यः चक्षुर्भूत्वा० अग्निर्वाग्भूत्वा०, वायुः प्राणो भूत्वा०, चन्द्रमा मनो भूत्वा०)। **अष्टाचक्रा**=इसमें 'मूलाधार' से लेकर 'सहस्रार' तक आठ चक्र—'मूलाधार' (मेरुदण्ड के मूल में), इसके ऊपर 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूरक' (नाभि में), 'अनाहत' (हृदय में) 'विशुद्धि' (कण्ठ में), 'ललना' (जिह्वा मूल में) 'आज्ञाचक्र' (भ्रूमध्य में) 'सहस्रारचक्र' (मस्तिष्क में) हैं। **नवद्वारा**=नौ इन्द्रिय-द्वारोंवाली यह नगरी **अयोध्या**=शत्रुओं से युद्ध में न जीतने योग्य है। सूर्य का सन्ताप इस नगरी के एक-एक छिद्र से बाहर आये हुए पसीने के रूप में जलकण को वाष्पीभूत कर सकता है, परन्तु नगरी के अन्दर उपद्रव पैदा नहीं कर पाता। २. **तस्याम्**=उस नगरी में एक **हिरण्ययः**=हितरमणीय **कोशः**=कोश है, जिसे 'मनोमय' कोश कहते हैं। यह **स्वर्गः**=आनन्दमय है, **ज्योतिषा आवृतः**=ज्योति से आवृत है। हम इसे राग-द्वेष आदि से मलिन न कर दें, तो यह चमकीला-ही-चमकीला है—यहाँ आह्लाद-ही-आह्लाद है, यह प्रभु की ज्योति से ज्योतिर्मय है।

भावार्थ—आठ चक्रोंवाली, नौ इन्द्रियाँ-द्वारोंवाली इस शरीररूप अयोध्या नामक देवनगरी में एक ज्योतिर्मय मनोमयकोश है, जो आह्लाद व प्रकाश से परिपूर्ण है। इसे हम राग-द्वेष से मलिन न करें।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**साक्षाद् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठित कोश'

तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्य ऽ रे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥

१. **तस्मिन्**=उस **त्र्यरे**='सत्त्व, रजस् व तमस्' रूप तीन अरोंवाले, **त्रिप्रतिष्ठिते**='ज्ञान, कर्म, उपासना' में प्रतिष्ठित **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मयकोश में; **तस्मिन्**=उसी मनोमयकोश में **यत्**=जो **आत्मन्वत्**=सदा जीवित (animate, alive) **यक्षम्**=पूजनीय सत्ता है, **तत्**=उस सत्ता को **वै**=निश्चय से **ब्रह्मविदः**=ज्ञानी पुरुष ही **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु का निवास इस मनोमयकोश में है। तम व रज से ऊपर उठकर जब यहाँ सत्त्व की प्रधानता होती है, तब उस सदा चैतन्य, पूजनीय सत्ता का यहाँ दर्शन होता है। एक ज्ञानीपुरुष इसे 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में प्रतिष्ठित करता है और इसमें प्रभु को देखने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभ्राजमाना-अपराजिता

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३ ॥

१. जिस समय हम इस शरीर-नगरी को पूरी तरह से स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते हैं तब यह अन्नमयकोश में '**प्रभ्राजमानाम्**'=तेजस्विता से दीप्त होती है (भ्राजृ दीप्तौ)। यह प्राणमयकोश में प्राणशक्तिपूर्ण होने से **हरिणीम्**=सब दुःखों को हरण करनेवाली होती है। इसमें रोगों का प्रवेश नहीं होता। मनोमयकोश में यह **यशसा संपरीवृतानाम्**=सब यशस्वी—प्रशस्त भावनाओं से पूर्ण होती है। विज्ञानमयकोश में यह **हिरण्ययीम्**=हितरमणीय ज्ञानज्योति से परिपूर्ण होती है और आनन्दमयकोश में **अपराजिताम्**=किन्हीं भी अशुभ आसुर भावनाओं से पराजित नहीं होती। यह कोश 'सहस्' वाला है—शत्रुकषर्ण शक्तिवाला है, अतएव आनन्दमय है। इस नगरी में **ब्रह्म आविवेश**=प्रभु का प्रवेश होता है, अर्थात् यहाँ प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—हम इस शरीर-नगरी को 'प्रभ्राजमाना, हरिणी, यशःसंपरीवृता, हिरण्ययी व अपराजिता' बनाएँ। इसमें हमें प्रभु का दर्शन होगा।

गतमन्त्र के अनुसार इस शरीर-नगरी को 'प्रभ्राजमाना' बनाने की कामनावाला व्यक्ति 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला बनता है। आत्मनिरीक्षण करता हुआ यह शरीर में वीर्य-रक्षण का पूर्ण प्रयत्न करता है। यह वीर्य उसके लिए 'वरणमणि' बनती है—सब रोग व मलिनताओं का निवारण करनेवाली। यह कहता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सपत्नक्षयणः वृषा' वरणो मणिः

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।
तेना रभस्व त्वं शत्रून्प्र मृणीहि दुरस्यतः॥ १ ॥

१. **अयं**=यह **मे**=मेरी **मणिः**=वीर्यमणि **वरणः**=सब रोगों का निवारण करनेवाली है। **सपत्नक्षयणः**=वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। **वृषा**=हममें शक्ति व सुखों का सेचन करनेवाली है। **तेन**=उस वरण-मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **शत्रून् आरभस्व**=रोगादि शत्रुओं को पकड़ ले (sieze, grasp) और इन **दुरस्यतः**=दुष्ट कामनावालों को—अशुभ चाहनेवालों को **प्रमृणीहि**=कुचल दे।

भावार्थ—वीर्य वरणमणि है, यह शत्रुओं का निवारण करनेवाली है। शत्रुओं के निवारण

के द्वारा यह हममें सुखों का सेचन करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

असुरों के अत्याचार से रक्षण

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः॥ २॥

१. एनान्=शत्रुभूत रोगादि को **प्रशृणीहि**=नष्ट कर, **प्रमृण**=कुचल दे, **आरभस्व**=इन्हें निग्रहीत कर ले। यह **ते मणिः**=तेरी वीर्यमणि **पुरस्तात्**=सर्वप्रथम **पुरएता अस्तु**=आगे चलनेवाली हो, अर्थात् यह मणि ऊर्ध्व गतिवाली बने। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरणेन**=इस वरणमणि के द्वारा—रोगों का निवारण करनेवाली मणि के द्वारा **असुराणाम्**=असुरों के **श्वः श्वः**=कल-कल होनेवाले **अभ्याचारम्**=आक्रमणों को **अवारयन्त**=रोकते हैं। इस वीर्यमणि के रक्षण से आसुरभावों का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—हम शरीर में वीर्यमणि को प्रथम स्थान देनेवाले बनें। यह हमें रोगों व आसुरभावों के आक्रमण से बचाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

हरितः हिरण्ययः

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान्पादयाति पूर्वस्तान्दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति॥ ३॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **वरणः**=रोगों का निवारण करनेवाली है, **विश्वभेषजः**=सब रोगों का औषध है। **सहस्राक्षः**=हज़ारों आँखोंवाली है—सहस्रों प्रकार से हमारा ध्यान करनेवाली है। **हरितः**=सिंह के समान तेजस्वी है—रोगों को नष्ट कर डालनेवाली है। **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है—ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाली है। २. **सः**=वह मणि **ते शत्रून्**=तेरे शत्रुओं को **अधरान् पादयाति**=पाँव तले रौंद डालती है। **पूर्वः**=(पॄ पालनपूरणयोः) इस मणि का पालन व पूरण करनेवाला तू **तान्**=उन सब शत्रुओं को **दभ्नुहि**=हिंसित कर डाल, **ये त्वा द्विषन्ति**=जो तेरे साथ द्वेष करते हैं—तेरे प्रति प्रीतिवाले नहीं हैं।

भावार्थ—यह वीर्यमणि विश्वभेषज है। यह वीरता व ज्योति की वर्धक है। इसके रक्षण द्वारा हम रोग व वासनारूप शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कृत्या, भय व पाप' का निवारण

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्वरणो वारयिष्यते॥ ४॥

१. **अयम्**=यह वीर्यरूप **वरणः**=वरणमणि **ते**=तेरे **विततां कृत्याम्**=विस्तृत 'छेदन-भेदन' को **वारयिष्यते**=रोक देगी। **अयम्**=यह मणि **पौरुषेयात् भयात्**=पुरुषों में प्राप्त होनेवाले भय से रोकेगी। २. **अयं (वरुणः) मणिः**=यह वरणमणि **त्वा**=तुझे **सर्वस्मात् पापात्** (वारयिष्यते)=सारे पापों से रोकेगी।

भावार्थ—यह वीर्यमणि 'छेदन-भेदन, पुरुष में प्राप्त होनेवाले भय व पाप' का निवारण करने से 'वरण' इस अन्वर्थ नामवाली है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वरणमणिः, वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देवः वनस्पतिः

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ ५॥

१. **वरणः**=ये वीर्यरूप वरणमणि **वारयातै**=सब रोगों का निवारण करती है। **अयं देवः**=यह रोगों को जीतने की कामनावाली है। **वनस्पतिः**=यह सेवनीय वस्तुओं की रक्षक है (वन् संभक्तौ)। २. **यः**=जो **यक्ष्मः**=रोग **अस्मिन् आविष्टः**=इस शरीर में प्रविष्ट हो गया है, **तम् उ**=उसे निश्चय से **देवाः**=विजिगीषु लोग (दिव् विजिगीषायाम्) **अवीवरन्**=इसके द्वारा रोकते हैं।

भावार्थ—वीर्यमणि रोगों का निवारण करने से 'वरण' है। यह रोगों को जीतने की कामनावाली होने से 'देव' है। संभजनीय तत्त्वों के रक्षण से यह 'वनस्पति' है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वरणमणिः, वनस्पतिः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

अशुभ स्वप्न व अपशकुन

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते॥ ६॥

१. **स्वप्नं सुप्त्वा**=नींद में जाकर (सोकर) यदि **पापं पश्यासि**=यदि तू अशुभ को देखता है, और **मृगः**=कोई आरण्य पशु **यति**=जितना **अजुष्टाम् सृतिं धावात्**=अप्रीतिकर मार्गों में गति करे—रास्ता काट जाए तो इन अपशुकनों से तथा **शकुनेः**=पक्षी के **परिक्षवात्**=नथुनों के फरफराहट से व **पापवादात्**=अमङ्गल शब्दों से **अयम्**=यह **वरणः मणिः**=वीर्यरूप वरणमणि **वारयिष्यते**=तुझे बचाएगा। २. यह वीर्यरूप मणि शरीर में सुरक्षित होने पर अशुभ स्वप्नों से बचाती है। साथ ही यह हृदय को दृढ़ करके अपशकुनों का हृदय पर भयजनक प्रभाव नहीं पड़ने देती।

भावार्थ—वीर्यमणि के शरीर में सुरक्षित होने पर शरीर के स्वस्थ होने से अशुभ स्वप्न नहीं आते, न ही मन के दृढ़ होने से पशु-पक्षियों के शब्दों व गतियों में अपशकुन का भय होता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वरणमणिः, वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अराति, निर्ऋति, अभिचार, भय व वध' से रक्षण

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।
मृत्योरोजीयसो वधाद्वरणो वारयिष्यते॥ ७॥

१. **वरणः**=यह सब बुराइयों का निवारण करनेवाली वीर्यमणि **त्वा**=तुझे **अरात्याः**=अदानवृत्ति से—कृपणता से **वारयिष्यते**=बचाएगी। **निर्ऋत्याः**=दुराचरण से बचाएगी, **अभिचारात्**=रोगादि के आक्रमण से—अभिचार कर्मों से **अथो**=और **भयात्**=अन्य भयों से बचाएगी तथा **मृत्योः ओजीयसः वधात्**=मृत्यु के अति प्रबल वध से यह तुझे बचाएगी।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण हमें 'कृपणता, दुरवस्था, रोगों के आक्रमण' भय तथा असमय की मृत्यु' से बचाता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—वरणमणिः, वनस्पतिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

पापवारक—'वरण' मणिः

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः॥ ८॥

१. **यत् एनः**=जिस पाप को **मे माता**=मेरी माता ने, **यत् मे पिता**=जिसे मेरे पिता ने, **यत् च मे भ्रातरः स्वाः**=और जिसे मेरे भाइयों व बन्धुओं ने, **यत् (एना) वयं चकृम**=जिस पाप को हमने स्वयं किया है, **ततः**=उस सबसे **अयम्**=यह **देवः**=सब अशुभों को जीतने की कामनावाला **वनस्पतिः**=संभजनीय तत्त्वों का रक्षक वरणमणि (वीर्यरूप मणि) **वारयिष्यते**=बचाएगा।

भावार्थ—यह वीर्यरूप वरणमणि शरीरों में सुरक्षित होने पर 'माता, पिता, भाई, बन्धु व स्वयं हमसे' हो जानेवाले पापों से बचाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबन्धवः भ्रातृव्याः

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः॥ ९॥

१. **वरणेन**=शरीर में सुरक्षित शत्रुविनाशक वीर्यरूप वरणमणि से **प्रव्यथिता**=भय-संचलित हुए-हुए **मे**=मेरे **भ्रातृव्याः**=शत्रु **सबन्धवः**=अपने बन्धुओंसहित—सब रोग अपने उपद्रवोंसहित, **असूर्तम्**=गतिशून्य **रजः**=लोक की **अपि अगुः**=ओर गये हैं। वीर्यरक्षण द्वारा सब रोग उपद्रवोंसहित जड़ीभूत हो गये हैं। **ते अधमं तमः यन्तु**=वे अधम तम को प्राप्त हों—घने अन्धकार में विलीन हो जाएँ।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि के रक्षण से शरीर में आ जानेवाले रोग अपने उपद्रवोंसहित जड़ीभूत होकर विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्मान् सर्वपूरुषः

अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः।
तं माऽयं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः॥ १०॥

१. **अरिष्टः अहम्**=मैं अहिंसित होऊँ—रोगादि शत्रुओं से मैं हिंसित न होऊँ। मैं **अरिष्टगुः**=अहिंसित इन्द्रियों-(गावः इन्द्रियाणि)-वाला बनूँ। मैं **आयुष्मान्**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाला, **सर्वपूरुषः**=पूर्ण पुरुष (सर्व=स्वस्थ whole-some) बन सकूँ। २. **तं मा**=उस मुझे **अयम्**=यह **वरणः मणिः**=शत्रुनिवारक वीर्यरूप वरणमणि **दिशः दिशः परिपातु**=सब दिशाओं से रक्षित करे। वीर्यमणि द्वारा सुरक्षित हुआ-हुआ मैं रोगों व वासनारूप शत्रुओं का शिकार न होऊँ।

भावार्थ—मैं वीर्यरूप वरणमणि के रक्षण से रक्षित हुआ-हुआ अहिंसित इन्द्रियोंवाला, प्रशस्त दीर्घजीवनवाला व पूर्ण स्वस्थ पुरुष बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

राजा, देवः, वनस्पतिः

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून्वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान्॥ ११॥

१. **अयम्**=यह **मे**=मेरा **वरणः**=रोग एवं वासनारूप शत्रुओं का निवारक वीर्यमणि **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाला है, **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है। **वनस्पतिः**=संभजनीय तत्त्वों का रक्षक है। **सा**=वह मणि **उरसि**=छाती में उत्पन्न हो जानेवाले **मे शत्रून्**=मेरे विनाशक रोगरूप शत्रुओं को इसप्रकार **विबाधताम्**=नष्ट करे **इव**=जैसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष

दस्यून्=(दसु उपक्षये) विनाशक **असुरान्**=आसुरभावों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—वीर्यमणि का रक्षण सब हृद्रोगों का बाधन करनेवाला है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'राष्ट्रं, बलं, पशून् ओजः'

इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्॥ १२॥

१. **इमम्**=इस **वरणम्**=रोगादि शत्रुओं के वारक वीर्यमणि को **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ, परिणामतः **आयुष्मान्**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाला होता हूँ, **शतशारदः**=सौ वर्ष तक जीनेवाला होता हूँ। **सः**=वह वीर्यरूप वरणमणि **मे**=मेरे **राष्ट्रं च क्षत्रं च**=राष्ट्र व बल को, **पशून् ओजः च**=गौ आदि पशुओं व ओज को **मे दधत्**=मेरे लिए धारण करे। 'पशु' शब्द का अर्थ अग्नि (fire) भी है। तब अर्थ इसप्रकार होगा कि अग्नितत्त्वों व बल को मेरे लिए धारण करे।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि का रक्षण करता हुआ मैं प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। 'राष्ट्र, बल, अग्नितत्त्व व ओज' को यह मेरे लिए धारण कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**१३-१४ पथ्यापङ्क्तिः, १५ षट्पदाजगती** ॥

रोगरूप शत्रुओं का भञ्जन

यथा वातो वनस्पतीन्वृक्षान्भनक्त्योजसा।
एवा सपत्नान्मे भङ्ग्धि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १३॥
यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन्।
एवा सपत्नान्मे प्साहि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १४॥
यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पय
पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १५॥

१. हे वरणमणे! **यथा**=जैसे **वातः**=तेज वायु **वनस्पतीन्**=बिना फूल के फल देनेवाले पीपल आदि को तथा **वृक्षान्**=अन्य वृक्षों को **ओजसा भनक्ति**=शक्ति से तोड़ डालता है, **एव**=इसी प्रकार **मे**=मेरे **पूर्वान् जातान्**=पहले पैदा हुए-हुए **उत**=और **अपरान्**=पीछे आनेवाले **सपत्नान् भङ्ग्धि**=रोगरूप शत्रुओं को विदीर्ण कर दे। २. **यथा**=जैसे **वातः च अग्निः च**=वायु और अग्नि **वनस्पतीन्**=वनस्पतियों को व **वृक्षान्**=वृक्षों को **प्सातः**=खा जाते हैं, **एव**=उसी प्रकार **मे**=मेरे **पूर्वान् जातान् उत अपरान्**=पहले पैदा हुए-हुए और पिछले **सपत्नान्**=शत्रुओं को खा डाल। ३. **यथा**=जैसे **वातेन**=तीव्र वायु से **प्रक्षीणाः**=पत्तों आदि के गिर जाने से क्षीण हुए **न्यर्पिताः**=नीचे अर्पित किये गये—गिराये गये **वृक्षाः**=वृक्ष **शेरे**=भूमि पर लेट जाते हैं—गिर जाते हैं, **एव**=इसी प्रकार हे वरणमणे! **त्वम्**=तू **मम**=मेरे **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **प्रक्षिणीहि**=क्षीण कर दे और उन्हें **न्यर्पय**=नीचे दबा देनेवाला हो। तेरे द्वारा मैं रोगों को पादाक्रान्त कर पाऊँ। ४. प्रभु अपने आराधक से कहते हैं कि **वरणः**=यह वरणमणि **त्वा अभि रक्षतु**=तेरे शरीर व मन दोनों क्षेत्रों को रक्षित करनेवाली हो। शरीर में यह तुझे रोगों से बचानेवाली हो तथा मन में वासनाओं से रक्षित करनेवाली हो।

भावार्थ—वरणमणि रोग व वासनारूप शत्रुओं को इसप्रकार विनष्ट कर दे जैसेकि तीव्रवायु वृक्षों को। जिस प्रकार जंगल की आग वनस्पतियों को खा जाती है, इसी प्रकार यह वरणमणि रोगों को खा जाए। जैसे तीव्र वायु से वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार इस वरणमणि द्वारा मेरे रोग समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

पुरा दिष्टात्, पुरा आयुषः

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात्पुरायुषः।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः॥ १६॥

१. हे **वरण**=शत्रुओं का निवारण करनेवाली वीर्यमणे! **ये एनम्**=जो इस **पशुषु**=शरीरस्थ अग्नियों को **दिप्सन्ति**=हिंसित करना चाहते हैं, **ये च**=और जो **अस्य**=इसके **राष्ट्रदिप्सवः**=शरीररूप राष्ट्र को ही हिंसित करना चाहते हैं, **तान्**=उन्हें **त्वम्**=तू **प्रच्छिन्द्धि**=छिन्न-भिन्न कर डाल। **दिष्टात् पुरा**=नियति से पूर्व ही तू उसे समाप्त कर दे, **पुरा आयुषः**=जीवन के पूर्ण होने से पूर्व ही तू उन्हें समाप्त कर दे। २. 'रोग अपना पूरा समय लेकर जाए', इसकी बजाए उसे यह वरणमणि पहले ही समाप्त करनेवाली बने, उसे आरम्भ में ही नष्ट कर दे।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि उन रोगों को आरम्भ में ही समाप्त करनेवाली हो जो शरीरस्थ अनिष्टों व शरीर के ही विध्वंस का कारण बनते हैं।

सूचना—यहाँ यह संकेत भी स्पष्ट है कि जिस राष्ट्र में युवक इस वरणमणि का रक्षण करते हैं, उस राष्ट्र को व उस राष्ट्र के पशुओं को शत्रु हिंसित नहीं कर पाते।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

सूर्यः देवः

यथा सूर्यो अतिभाति यथाऽस्मिन्तेज आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १७॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १८॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १९॥
यथा यशः कन्या॑यां यथाऽस्मिन्त्संभृते रथे।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २०॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २१॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २२॥
यथा यशो यजमाने यथाऽस्मिन्यज्ञ आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २३॥
यथा यशः प्रजापतौ यथाऽस्मिन्परमेष्ठिनि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २४॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २५॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **अतिभाति**=अतिशयेन चमकता है, **यथा**=जैसे **अस्मिन्**=इसमें **तेजः आहितम्**=तेज स्थापित हुआ है, **एव**=इसी प्रकार **मे**=मेरे लिए **वरणः मणिः**=यह रोगनिवारक वीर्यमणि **कीर्तिम्**=कीर्ति (fame, glory) व **भूतिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छतु**=दे। यह **मा**=मुझे **तेजसा**=तेजस्विता से **समुक्षतु**=सिक्त करे, **यशसा**=(beauty, splendour) सौन्दर्य से **मा समनक्तु**=मुझे अलंकृत करे। २. **यथा**=जैसे **चन्द्रमसि**=चन्द्रमा में **यशः**=सौन्दर्य है, **च**=और **नृचक्षसि आदित्ये**=जैसा सौन्दर्य मनुष्यों को देखनेवाले—उनका पालन करनेवाले (look after) सूर्य में है, **यथा**=जैसा **यशः**=सौन्दर्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में है, और **यथा**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् जातवेदसि**=इस अग्नि में है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **कन्यायाम्**=इस युवति कन्या में है, और **यथा**=जैसा सौन्दर्य इस **संभृते रथे**=सम्यक् भृत—जिसके सब अवयव सम्यक् जुड़े हुए हैं, ऐसे रथ में हैं। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **सोमपीथे**=सोम (वीर्य) के शरीर में ही सुरक्षित करने में है और **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **मधुपर्के**=अतिथि को दिये जानेवाले पूजाद्रव्य में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **अग्निहोत्रे**=अग्निहोत्र में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **वषट्कारे**=स्वाहाकार के उच्चारण में है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ में **आहितम्**=स्थापित हुआ है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **प्रजापतौ**=प्रजाओं के रक्षक राजा में है और **यथा**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् परमेष्ठिनि**=इस परमस्थान में स्थित प्रभु में है, इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे यश (सौन्दर्य) से अलंकृत करे। ३. **यथा**=जैसे **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **अमृतम्**=नीरोगता आहित होता है, **यथा**=जैसे **एषु**=इन देवों में **सत्यं आहितम्**=सत्य स्थापित होता है। देव नीरोग होते हैं और कभी अनृत नहीं बोलते, इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे कीर्ति व ऐश्वर्य प्राप्त कराए। यह मुझे तेज से सिक्त करे और सौन्दर्य से अलंकृत करे।

भावार्थ—वरणमणि (वीर्य) के रक्षण से जीवन सूर्यसम दीप्तिवाला होता है, जीवन चन्द्र की भाँति चमकता है, शरीर-रथ संभृत होता है, हमारी प्रवृत्ति यज्ञशीलतावाली होती है व हम नीरोगता तथा सत्य का धारण करते हुए देव बनते हैं।

देववृत्ति का पुरुष अपने जीवन में 'गरुत्मान् तक्षकः'=(गरुतः अस्य सन्ति) विविध ज्ञानरूप पक्षोंवाला तथा निर्माता—निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसका चित्रण इसप्रकार है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः॥

'इन्द्र, देव, वरुण'

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्।
अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत्॥ १॥

१. यह शरीर रथ है। प्रभु ने जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए इसे हमें प्राप्त कराया है। यह **रथः**=रथ **इन्द्रस्य प्रथमः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सबसे पहले है। **अपरः**=दूसरा—दूसरे स्थान पर यह **रथः**=शरीर-रथ **देवानाम्**=रोगादि को जीतने की कामनावालों का है। **तृतीयः**=तीसरा यह **इत्**=निश्चय से **वरुणस्य**=द्वेषादि के निवारण करनेवाले का है। हमें इस शरीर-रथ को प्राप्त करके 'इन्द्र, देव व वरुण' बनना है। २. **अहीनाम्**=(आहन्ति इति अहिः) हिंसक वृत्तिवालों का यह **रथः**=रथ **अपमा**=(अपमः विभक्तेराकारः) सबसे निकृष्ट (अपम Lower) है। यदि मनुष्य हिंसावृत्ति से ऊपर 'इन्द्र, देव व वरुण' बनता हुआ **स्थाणुम् आरत्**=स्थिर—भक्तियोग सुलभ स्थाणु (स्थिर) प्रभु को प्राप्त करता है, **अथ**=तो **अर्षत्**=इस रथ को समाप्त कर डालता है (ऋष् to kill), अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम 'जितेन्द्रिय, नीरोग (अजर, अमर) व निर्दोष' बनें, हिंसावृत्तिवाले न हों (अहि), तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे और इस शरीररथ की आवश्यकता न रहेगी।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—त्रिपदायवमध्यागायत्री॥

दर्भः, शोचिः, तरुणकम्

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम्॥ २॥

१. **दर्भः**=कुशा घास **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष की **वारः**=वरणीय वस्तु होती है। यज्ञवेदि पर कुशासन आदि के रूप में कुशा का प्रयोग होता है। यह पवित्र मानी गई है। यज्ञिय संस्कारों में इसका स्थान-स्थान पर प्रयोग होता है। २. इसी प्रकार **शोचिः**=ज्ञान की दीप्ति **परुषस्य**=शत्रुओं के प्रति कठोर (sharp, violent, keen)—शत्रुसंहारक पुरुष की **वारः**=वरणीय वस्तु है। ज्ञानाग्नि में ही तो वह इन काम, क्रोध, लोभ को भस्म कर पाएगा। ३. **तरूणकम्**=पृथिवी से अंकुरित (sprout) होनेवाले ये वानस्पतिक पदार्थ **रथस्य बन्धुरम्**=इस शरीर-रथ के शिखर हैं। इन पदार्थों का प्रयोग करता हुआ ही एक व्यक्ति इस शरीर-रथ के सौन्दर्य को स्थिर रख पाता है (बन्धुर—beautiful)।

भावार्थ—हम यज्ञवेदि को कुशादि स्तीर्ण करके यज्ञ करनेवाले बनें, ज्ञानज्योति में वासनाओं को दग्ध कर दें तथा वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग करते हुए शरीर-रथ के सौन्दर्य को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—पथ्याबृहती॥

श्वेतः अरंघुशः

अव श्वेत पदा जहि पूर्वेण चापरेण च। उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्॥ ३॥
अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत्। उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम्॥ ४॥

१. हे **श्वेत**=शुद्ध आचरणवाले पुरुष! तू **पूर्वेण च अपरेण च पदा**=(पद गतौ, गतिर्ज्ञानम्) पूर्व तथा अपर ज्ञान के द्वारा—आत्मतत्त्व तथा प्रकृति के ज्ञान के द्वारा—परा व अपरा विद्या

के द्वारा **अवजहि**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला हो, **इव**=जैसे **उदप्लुतम्**=पानी से आप्लुत (flooded, filled with) **दारु**=लकड़ी **अरसम्**=निर्बल हो जाती है, इसी प्रकार हम जब ज्ञान प्राप्त करते हैं तब हमारे लिए **अहीनाम्**=(आहन्तॄणाम्) हिंसकों का **विषं** (अरसम्)=विष शक्तिशून्य हो जाता है। ज्ञानी पर हिंसकों के विषैले प्रहारों का प्रभाव नहीं होता। उसका **वाः**=यह ज्ञान-जल **उग्रम्**=तेजस्वी होता है—यह बुराई को धो डालने में समर्थ होता है। २. **अरंघुषः**=प्रभु के स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों का खूब उच्चारण करनेवाला यह पुरुष **निमज्य उन्मज्य**=बारम्बार इन स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों में डुबकी लगाकर **पुनः**=फिर **अब्रवीत्**=कहता है कि ज्ञान होने पर गीली लकड़ी के समान हिंसकों के विषैले प्रहार निर्बल हो जाते हैं। तेजस्वी ज्ञान-जल सब विषों को प्रभावशून्य कर देता है।

भावार्थ—हम परा व अपरा विद्या का अर्जन करके जीवन को अति शुद्ध बनाएँ। प्रभु के स्तोत्रों के जलों व ज्ञान-जलों में खूब ही स्नान करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हम हिंसकों के विषैले प्रहारों से आहत न होंगे। हमारा तेजस्वी ज्ञान-जल विष को धो डालने में समर्थ होगा।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कसर्णीलं, श्वित्रं, असितम् (हन्ति)

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः॥ ५॥

१. **पैद्वः**=(पद गतौ, पैद्वः-अश्वः—नि० १।१४ कर्मव्याप्त) कर्मशील—गतिशील पुरुष **कसर्णीलम्** (कस् to destroy, नील-निधि) विनाशक धन को, अन्याय व छलादि से उपार्जित धन को **हन्ति**=नष्ट करता है। यह क्रियाशील बनता हुआ अन्याय्य धन को कभी उपार्जित करने का विचार नहीं करता। **पैद्वः**=यह क्रियाशील पुरुष **श्वित्रम्**=कुष्ठादि रोगों को नष्ट करता है **उत्**=और **असितम्**=कृष्ण (मलिन) कर्मों को भी विनष्ट करता है—न यह रोगों का शिकार होता है, न ही पापों का। २. यह **पैद्वः**=गतिशील पुरुष **रथर्व्याः**=इस गतिशील (रथर्यतिर्गतिकर्मा—नि० २।१४) **पृदाक्वाः**=(पृ, दा, कु) पालन के लिए अन्न देनेवाली पृथिवी के **शिरः**=सिर को—पृष्ठ को **संबिभेद**=विदीर्ण करता है। कृषि द्वारा इसके पृष्ठ को भिन्न करनेवाला होता है। वेद के '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**' इस उपदेश के अनुसार यह कृषि करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर कृषि आदि कार्यों से—उत्तम कार्यों से उत्तम अन्नों को प्राप्त करें। रोगों व पापों से बचें तथा अन्यायोपार्जित विनाशक धनों के संग्रह से दूर रहें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नेता का कर्त्तव्य

पैद्व प्रेहिं प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि।
अहीन्व्य स्यतात्पथो येन स्मा वयमेमसि॥ ६॥

१. **पैद्व**=हे गतिशील पुरुष! तू **प्रेहि**=प्रकृष्ट गतिवाला बन। **प्रथमः**=शक्तियों के विस्तारवाला हो (प्रथ विस्तारे)। **त्वा अनु वयं आ ईमसि**=तेरे पीछे-पीछे हम भी सब ओर गतिवाले हों। उत्तम नेता स्वयं गतिवाला होता हुआ अनुयायियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनता है। २. हे पैद्व! आप **पथः**=उस मार्ग से **अहीन् व्यस्यतात्**=हिंसक तत्त्वों को दूर फेंकें—दूर करें, **येन**=जिस मार्ग से **वयं आ ईमसि स्म**=हम गतिवाले होते हैं। हमारे नेता हमारे मार्गों को विघ्न-बाधाशून्य करें।

भावार्थ—हमारा नेतृत्व गतिशील व्यक्तियों के हाथ में हो। वे हमारे मार्ग से हिंसक तत्त्वों को दूर करें। हमारे लिए उनका जीवन पथ-प्रदर्शक हो।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अर्वः, अहिघ्न्य, वाजिनीवान्

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम्।
इमान्यर्वतः पदाऽहिघ्न्यो वाजिनीवतः॥ ७॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब **पैद्वः**=यह गतिशील पुरुष **अजायत**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला होता है (जनी प्रादुर्भावे)। **इदम् अस्य परायणम्**=इसका यह उत्कृष्ट मार्ग है (पर+अयनम्)। **इमानि पदा**=इसके ये पग उस व्यक्ति के पग हैं जोकि **अर्वतः**=वासनाओं का संहारक है (अर्व् to kill) **अहिघ्न्यः**=(षष्ठ्याः सुः) विनाशक तत्त्वों को नष्ट करनेवाला है और **वाजिनीवतः**=शक्तियुक्त है।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर अपनी शक्तियों का विकास करें, उत्कृष्ट मार्ग पर चलें, वासनाओं का संहार करें, हिंसक तत्त्वों को नष्ट करें तथा शक्तियुक्त बनें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—उष्णिग्गर्भापरात्रिष्टुप्॥

हिंसासामर्थ्य वञ्चन

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत्।
अस्मिन्क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा॥ ८॥

१. साँप मुख खोलकर डसता है—डसने के समय मुख को भींचता है। यदि उसका खुला हुआ मुख बन्द न हो सके और बन्द हुआ-हुआ खुल न सके तो यह दशन-क्रिया न हो पाएगी। उस स्थिति का ध्यान करते हुए कहते हैं कि—**संयतम्**=बन्द हुआ-हुआ मुख **न विष्परत्**=(स्पृ प्रीतिचालनयोः) न खुल सके, बन्द-का-बन्द ही रह जाए। **व्यात्तम्**=खुला हुआ मुख **न संयतम्**=बन्द न हो पाये। इसप्रकार उसका डसना सम्भव ही न हो। २. **अस्मिन् क्षेत्रे**=इस संसाररूप क्षेत्र में **द्वौ अही**=दो हिंसक हैं, **स्त्री च पुमान् च**=एक स्त्री है, एक पुरुष। 'पुरुष ही हानिकर हों, स्त्रियाँ नहीं' ऐसी बात भी नहीं है, और न ही यह है कि 'स्त्रियाँ हानिकर हों पुरुष नहीं'। दोनों ही हिंसक हो सकते हैं। **तौ उभौ**=वे दोनों **अरसा**=निर्बल हों—असक्त हों। ये हानि करने का सामर्थ्य ही खो बैठें।

भावार्थ—संसार में जो भी पुरुष व स्त्री हिंसक हों, राजपुरुष उन्हें इसप्रकार दण्डित करें कि उनकी हिंसा करने की शक्ति ही न रहे।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वृश्चिक, अहि

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम्॥ ९॥

१. **इह**=इस संसार-क्षेत्र में **ये अहयः**=जो हिंसक तत्त्व **अन्ति**=हमारे समीप हैं, **ये च**=और जो **दूरके**=दूर हैं, वे सब **अरसासः**=नीरस व निर्बल हो जाएँ। **आगतं वृश्चिकम्**=समीप आये हुए बिच्छु को **घनेन हन्मि**=घन से नष्ट करता हूँ तथा **अहिम्**=सर्प को **दण्डेन**=डण्डे से मारता हूँ।

भावार्थ—सर्प व बिच्छु स्वभाववाले पुरुषों को दण्डित करना आवश्यक ही है। प्रजा-रक्षण के लिए इन्हें नष्ट करना अनिवार्य है।

सूचना—वृश्चिक को घन से, सर्प को डण्डे से आहत करने का स्वारस्य चिन्त्य है।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अघाश्व व स्वज

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत्॥ १०॥

१. कामवासना को यहाँ 'अघाश्व' कहा है—यह '**अघम् अश्नुते**' पाप को व्याप्त करनेवाली होती है। लोभ व तृष्णा को 'स्वज' कहा है, क्योंकि यह (स्वञ्ज् आलिङ्गने) चिपट-सी जाती है तथा (सु अज गतिक्षेपणयोः) हमें सदा भाग-दौड़ में विक्षिप्त-सा रखती है। **इदम्**=इस प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्र' व 'पैद्व' शब्द से वर्णित 'जितेन्द्रियता व गतिशीलता' **अघाश्वस्य**=कामवासना, **स्वजस्य च**=और तृष्णा, **उभयोः**=इन दोनों का **भेषजम्**=औषध है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता से अलंकृत **पैद्वः**=यह गतिशील देव **मे**=मेरे **अघायन्तम्**=अघ—अशुभ को चाहनेवाली **अहिम्**=आहन्ति—विनाशिका वासना को **अरन्धयत्**=नष्ट करता है। 'इन्द्र व पैद्व' का स्मरण मुझे भी जितेन्द्रिय व गतिशील बनाये। जितेन्द्रिय बनकर मैं कामवासना को पराजित करनेवाला बनूँ तथा गतिशीलता मुझे श्रमजन्य धन को ही चाहनेवाला बनाये।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व गतिशील बनकर कामवासना व तृष्णा को पराजित करनेवाले बनें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

पृदाकवः प्रदीध्यतः

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते॥ ११॥

१. **वयम्**=हम **स्थिरस्य**=स्थिरवृत्तिवाले, **स्थिरधाम्नः**=स्थिर तेजवाले, **पैद्वस्य**=गतिशील व्यक्ति का **मन्महे**=मनन करते हैं, इसके जीवन का चिन्तन करते हैं। **इमे**=ये पैद्व लोग **पृदाकवः**=(पृदाकु) पालन के लिए दान की वृत्तिवाले **प्रदीध्यतः**=(दीधीङ् दीप्तौ) दीप्त जीवनवाले **पश्चा आसते**=विषय-व्यावृत होकर पीछे ही बैठते हैं। 'प्रत्याहार' की साधना करते हुए ये लोग विषयों में नहीं फँसते।

भावार्थ—'स्थिर, स्थिरधाम्ना, पैद्व' लोगों का चिन्तन करते हुए हम भी 'गतिशील, स्थिर वृत्तिवाले व स्थिर तेजवाले' बनें। दान की वृत्तिवाले व दीप्त जीवनवाले बनकर हम विषय-व्यावृत रहें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—भुरिग्गायत्री॥

वज्री इन्द्रः

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम्॥ १२॥

१. **वज्रिणा**=गतिशील (वज् गतौ) **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष से **हताः**=मारे हुए 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुर **नष्टासवः**=नष्ट-प्राण हो जाते हैं और **नष्टविषाः**=इनका विषैला प्रभाव हमारे जीवन से दूर हो जाता है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **जघान**=इन असुरों को मार डालता है। **वयम् जघ्निमा**=हम भी इन आसुरभावों को नष्ट करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—गतिशील, जितेन्द्रिय पुरुष 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुरों का विनाश करके उनके विषैले प्रभाव से बचाता है। हम भी ऐसे ही बनें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दर्विम् करिक्रतं (जहि)

हुतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि॥ १३॥

१. **तिरश्चिराजयः**=कुटिलता (crooked) व छल-छिद्र की पंक्तियाँ **हताः**=नष्ट की गई हैं। **पृदाकवः**=(पिपर्ति स्वम्, 'पिपर्तेर्दाकुर्ह्रस्वश्च') आत्मम्भरिता व स्वार्थ की वृत्तियाँ **निपिष्टासः**=पीस डाली गई हैं। २. **दर्विम्**=विदारण की वृत्ति को **करिक्रतम्**=अतिशयेन कृन्तन (छेदन) की वृत्ति को **श्वित्रम्**=कुष्ठादि रोगों को व **असितम्**=कृष्ण (मलिन) कर्मों को **दर्भेषु**=यज्ञार्थ यज्ञवेदि पर कुशाओं के आस्तिर्ण होने पर **जहि**=नष्ट कर डाल।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञीय वृत्ति के द्वारा हम 'कुटिलता, स्वार्थ, विदारणवृत्ति, छेदन-भेदन की वृत्ति, रोगों व अशुभ कर्मों को नष्ट कर डालें।'

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कैरातिका, कुमारिका

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु॥ १४॥

१. 'किरात' शब्द 'कु विक्षेपे तथा अत सातत्यगमने' धातुओं से बनकर निरन्तर विक्षिप्त गतिवाले का वाचक है। 'कुमार' शब्द 'कुमार क्रीडायाम्' से बनकर 'खेलते रहनेवाले' का वाचक है। इन दोनों हानिकर वृत्तियों को दूर करने का उपाय ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्यों के समीप रहकर उनकी ज्ञानदान की क्रियाओं में ही इन वृत्तियों को दूर करने का औषध विद्यमान है, अतः कहा है कि **कैरातिका**=निरन्तर विक्षिप्त गतिवाली **कुमारिका**=विषयों में क्रीडा की मनोवृत्तिवाली **सका**=वह कुत्सित आचरणवाली युवति **गिरीणाम्**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश देनेवाले गुरुओं की **सानुषु**=(षणु दाने सनोति) ज्ञानदान की क्रियाओं में **भेषजम्**=अशुभ वृत्तियों के निराकरण की औषध को **हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः**=(अभ्र गतौ) ज्योतिर्मय गतियों के द्वारा **उपखनति**=समीपता से खोदती है। ज्ञान ही औषध है, उसे यह प्राप्त करती है। इस ज्ञान-औषध को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि ज्ञान-प्राप्ति के अनुकूल क्रियाओंवाली हो। यही भाव यहाँ 'हिरण्ययीभिः अभ्रिभिः' शब्दों से व्यक्त हुआ है।

भावार्थ—ज्ञानदाता आचार्यों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनुकूल गतियोंवाले होते हुए हम ज्ञान प्राप्त करें, इस ज्ञान-औषध द्वारा विक्षिप्त गतियों व विषय-क्रीड़ाओं को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

युवा, भिषक्, पृश्निहा, अपराजितः

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला **अयम्**=यह **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने साथ मिलानेवाला **भिषक्**=पापरूप रोगों का चिकित्सक **पृश्निहा**=(पृश्नि A ray of light हन् गतौ) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करनेवाला **अपराजितः**=वासनाओं से पराजित न होनेवाला युवक **आ अगन्**=आया है। २. **सः**=वह **वै**=निश्चय से

स्वजस्य=(स्वज् आलिंगने, सु अज गतिक्षेपणयोः) चिपट जानेवाली व विक्षिप्त गति पैदा करनेवाली तृष्णावृत्ति, **वृश्चिकस्य च**=(व्रश्च् छेदने) और छेदन-भेदन की वृत्ति **उभयोः**=दोनों का ही **जम्भनः**=नाश करनेवाला है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम 'युवा, भिषक्, पृश्निहा व अपराजित' बनें। तृष्णा व छेदन-भेदन की वृत्ति का विनाश करें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—त्रिपदाप्रतिष्ठागायत्री॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण, वात, पर्जन्यः'

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च। वातापर्जन्योरुभा॥ १६॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की देवता **मे**=मेरी **अहिम्**=आहन्ति—कामवृत्ति को—ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासना को **अरन्धयत्**=नष्ट करती है। इसी प्रकार **मित्राः च वरुणः च**=सबके प्रति स्नेह तथा निर्द्वेषता की भावना मेरी इस वासना को नष्ट करती है। इसी प्रकार **उभा**=दोनों **वातापर्जन्या**=वात व पर्जन्य—क्रियाशीलता की देवता(वा गतौ) तथा सुखों को सिक्त करने की भावना (पृषु सेचने—उ० ३।१०३) मेरे लिए वासना को विनष्ट करें।

भावार्थ—'जितेन्द्रियता, स्नेह की भावना, निर्द्वेषता, क्रियाशीलता व सुखसेचनवृत्ति' को धारण करते हुए हम वासना को विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'अहि' आदि का विनाश

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्व ँम्।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम्॥ १७॥

१. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **मे**=मेरी **अहिम्**=आहन्ति—विहिंसिका वृत्ति को **अरन्धयत्**=नष्ट कर दें, **पृदाकुं च पृदाक्वम्**=(पिपर्ति स्वम्, पर्द कुत्सिते शब्दे 'पर्देर्नित् संप्रसारणमल्लोपश्च' उ० ३.८०) स्वात्मम्भरिता (स्वार्थवृत्ति) को और कुत्सित शब्दोच्चारण-वृत्ति को नष्ट करने का अनुग्रह करें। २. **स्वजम्**=चिपट जानेवाली व अत्यन्त विक्षिप्त गतिवाली तृष्णावृत्ति को, **तिरश्चिराजिम्**=कुटिलता व छल-छिद्र की पंक्तियों को, **कसर्णीलम्**=विनाशक धन (निधि) को—अन्यायोपार्जित धन को तथा **दशोनसिम्**=इन्द्रिय दशक में उत्पन्न हो जानेवाली (**ऊनसि**=ऊन परिहाणे) हानि को दूर करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'हिंसा की वृत्ति, स्वार्थ व कुटिल शब्दोच्चारण की वृत्ति, तृष्णा, छल-छिद्र, अन्यायोपार्जित धन तथा इन्द्रिय दशक में आ जानेवाली हानि' से बचें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'अहि के जनिता' का विनाश

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।
तेषामु तृह्यमाणानां कः स्वित्तेषामसद्रसः॥ १८॥

१. हे **अहे**=विहिंसन की वृत्ति! **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तव**=तेरे **जनितारम्**=उत्पन्न करनेवाले भाव को ही **प्रथमं जघान**=सबसे पहले नष्ट कर डालता है। जिन 'काम, क्रोध, लोभ' के कारण यह हिंसनवृत्ति उत्पन्न होती है, उन कामादि को ही यह जितेन्द्रिय पुरुष नष्ट कर देता है। २. **उ**=निश्चय से **तृह्यमाणानाम्**=नष्ट किये जाते हुए **तेषां तेषाम्**=उन-उन काम-क्रोधादि भावों का **स्वित्**=भला **कः रसः असत्**=क्या रस अवशिष्ट हो सकता है? जब मनुष्य काम-क्रोधादि के

नाश के प्रयत्न में लगता है तब इन हिंसन वृत्तियों का स्वयं ही नाश हो जाता है।

भावार्थ—हम हिंसन वृत्तियों के मूलभूत काम, क्रोध, लोभादि को समाप्त करने का प्रयत्न करें। इन्हें नष्ट करके हम हिंसन-वृत्तियों से दूर हों।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिन्धोः मध्यं परेत्य

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठइव कर्वरम्।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्य निजमहेर्विषम्॥ १९॥

१. गतमन्त्र में 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों को अहि (हिंसिका वृत्ति) का जनिता कहा था। यहाँ कहते हैं कि मैं **हि**=निश्चय से इन आसुरवृत्तियों के **शीर्षाणि सम् अग्रभम्**=सिरों को सम्यक् पकड़ लेता हूँ—इनके सिरों को कुचल डालता हूँ। इसप्रकार इन्हें पकड़ लेता हूँ, **इव**=जैसेकि **पौञ्जिष्ठः**=(प्र ओजिष्ठः) प्रकृष्ट तेजस्वी पुरुष **कर्वरम्**=एक चीते (Tiger) को पकड़ लेता है। २. मैं **सिन्धोः मध्यं परेत्य**=ज्ञान-समुद्र के मध्य में दूर तक जाकर—ज्ञान-समुद्र में स्नान करता हुआ—**अहेः विषम्**=हिंसकवृत्ति के विष को—विषैले प्रभाव को—**व्यनिजम्**=धो डालता हूँ। ज्ञान-जल में स्नान करता हुआ मैं हिंसावृत्ति से ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—हम काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरवृत्तियों को कुचल दें और ज्ञान का सम्पादन करते हुए हिंसावृत्ति के ऊपर उठें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

माहिर्भूः, मा पृदाकुः, (यजुः० ८.२३)

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः॥ २०॥

१. **सिन्धवः**=ज्ञान-जल **सर्वेषां अहीनाम्**=सब विहिंसिका वृत्तियों के **विषम्**=विष को—विषैले प्रभाव को **परावहन्तु**=दूर बहा दें। हम ज्ञान प्राप्त करके हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठें। इन ज्ञान-जलों द्वारा ही **तिरश्चिराजयः**=(तिरश्ची crooked) छल-छिद्र की वृत्तियों की पंक्तियाँ **हताः**=नष्ट कर दी गई हैं और **पृदाकवः**=(पर्द कुत्सिते शब्दे; कुत्सितवाक्—यजुः० ८.२३) कुत्सितवाणी बोलने की प्रवृत्तियाँ **निपिष्टासः**=पीस डाली गई हैं। यजुर्वेद ८.२३ में यही तो कहा है कि '**माहिर्भूर्मा पृदाकुः**'=न हिंसक बन, न कुत्सितवाणीवाला।

भावार्थ—ज्ञान-जलों द्वारा शुद्ध जीवनवाले बनकर हम 'हिंसा, कुटिलता व कुत्सितवाणी' से ऊपर उठें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

ओषधिवरण

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम्॥ २१॥

१. हे **अहे**=हिंसावृत्ते! **अहं**=मैं **ओषधीनाम्**=(आचार्यो मृत्युर्वरुण ओषधयः पयः) आचार्यों का **वृणे**=वरण करता हूँ। **इव**=जिस प्रकार **उर्वरीः**=उपजाऊ भूमियों (fertile soil) का **साधुया**=उत्तमता से वरण किया जाता है। इन उपजाऊ भूमियों का वरण अन्नों को प्राप्त कराता है। इसी प्रकार आचार्यों का वरण ज्ञान-जलों को प्राप्त कराता है। २. इन आचार्यों से प्राप्त ज्ञान-जलों को मैं इसप्रकार **नयामि**=अपने जीवन में प्राप्त कराता हूँ, **इव**=जैसेकि **अर्वतीः**=(अर्व् to

kill) शत्रुसंहारक घोड़ियों को योद्धा युद्धभूमि में प्राप्त कराता है, अतः हे हिंसावृत्ते! **ते विषं निरैतु**=तेरा विष मेरे जीवन से बाहर निकल जाए।

भावार्थ—आचार्यों का वरण करते हुए हम ज्ञान-जलों में हिंसा की वृत्तियों के विष को धो डालें। ज्ञान हमसे द्वेष व हिंसा को दूर कर दे।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कान्दाविषम् कनक्नकम्

यद्ग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत्।
कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम्॥ २२॥

१. **यत्**=जो **विषम्**=जल **अग्नौ**=अग्नि में है (अग्नेः आपः), **सूर्ये**=सूर्य में है (सूर्यकिरणों से बादलों का निर्माण होकर यह जल प्राप्त होता है '**सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः**')। **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=पृथिवी में है (कूप आदि से प्राप्त होता है) जो **ओषधीषु**=ओषधियों में रसरूप है, वह जल **ऐतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। २. हे हिंसावृत्ते! **ते**=तेरा जो **कान्दाविषम्**=(विष् व्याप्तौ, कन्द knot) ग्रन्थियों में—जोड़ों में व्याप्त हो जानेवाला **कनक्नकम्**=(कन दीप्तौ, क्नथ हिंसायाम्) दीप्ति को नष्ट कर देनेवाला **विषम्**=विष है, वह **निरैतु**=सब प्रकार से बाहर चला जाए।

भावार्थ—हम अग्नि से उत्पन्न होनेवाले—सूर्य से मेघों द्वारा प्राप्त कराये जानेवाले—पृथिवी से दिये जानेवाले व ओषधिरसों में प्राप्त होनेवाले जलों को प्राप्त करें। हिंसावृत्ति से उत्पन्न हो जानेवाले, जोड़ों में व्याप्त, दीप्तिनाशक विष को दूर करें।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

विद्युतः (अग्निजाः, ओषधिजाः, अप्सुजाः)

ये अग्निजा ओषधिजा अहीनां ये अप्सुजा विद्युत आबभूवुः।
येषां जातानि बहुधा महान्ति तेभ्यः सर्पेभ्यो नमसा विधेम॥ २३॥

१. 'अहि' शब्द सर्प का वाचक है—यह 'आहन्ति'—विनाश कर देता है। इसी प्रकार हिंसन करनेवाले व्यक्ति भी 'अहि' हैं। 'अग्निजाः' वे व्यक्ति हैं जोकि 'अग्नौ जाताः' अग्नि का ही मानो अनुभव लेने के लिए उत्पन्न हुए हैं और अग्निविद्या में निपुण होकर बम्ब आदि घातक शस्त्रों के निर्माण में लगे हैं। इसी प्रकार 'ओषधिजाः' वे हैं, जोकि नाना प्रकार की ओषधियों के प्रयोग में निपुण हैं, परन्तु वे इसप्रकार की ओषधियों के निर्माण में प्रवृत्त हैं, जिनके प्रयोग से मनुष्य बिना किन्हीं भौतिक कष्टों का अनुभव किये विलासमय जीवन बिता पाता है। इसी प्रकार 'अप्सुजाः' वे हैं जोकि जलों की विद्या में निपुण होकर युद्धपोतों व पनडुब्बियों के बनाने में लगे हैं। ये सब **विद्युतः**=विशिष्ट ज्ञानज्योति—द्युतिवाले—तो हैं ही। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **अहीनाम्**=हिंसकवृत्तिवाले पुरुषों में **अग्निजाः ओषधिजाः**=अग्निविद्या व ओषधिविज्ञान में निपुण हैं, **ये अप्सुजाः**=जो जलविद्या में निपुण होते हुए **विद्युतः**=विशिष्ट द्युतिवाले—वैज्ञानिक **आबभूवुः**=बने हैं, **येषाम्**=जिनके **बहुधा**=बहुत प्रकार से **महान्ति**=महान् आश्चर्यजनक कर्म **जातानि**=हुए हैं—एक ही बम्ब से लाखों का विनाश आदि कर्म प्रकट हुए हैं, **तेभ्यः**=उन **सर्पेभ्यः**=कुटिलवृत्तिवाले विनाशक पुरुषों के लिए **नमसा विधेम**=दूर से ही नमन द्वारा पूजा करते हैं—इन्हें दूर से ही नमस्कार करते हैं। प्रभुकृपा से हम इन व्यक्तियों से बचे ही रहें।

भावार्थ—जो वैज्ञानिक 'अग्नि, ओषधि व जलों' की विद्याओं में निपुण होकर विनाशक शस्त्रास्त्रों को तैयार कर रहे हैं, जिनके 'लाखों का विनाश' आदि भयंकर कर्म हमारे सामने

हैं, उन कुटिलवृत्तिवाले, विशिष्ट द्युतिवाले वैज्ञानिकों के लिए हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कन्या (तौदी, घृताची)

तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम्॥ २४॥

१. 'कन्या' नामक ओषधिविशेष है। बड़ी इलायची 'Large cardamoms' के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। कहते हैं कि **तौदी नाम असि कन्या**=तू तौदी नामवाली कन्या है (तुद् व्यथने)। विषपीड़ा को व्यथित करने से, अर्थात् विषपीड़ा को दूर भगाने से इस कन्या का नाम 'तौदी' है। **वा**=अथवा तू **घृताची नाम असि**=(घृत अञ्च्, घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों को क्षरित करके दीप्ति प्राप्त कराने से 'घृताची' नामवाली है। २. **अधस्पदेन**=विषपीड़ा आदि शत्रुओं को पादाक्रान्त करने के हेतु से **ते**=तेरे **विषदूषणम्**=विष को दूषित करनेवाले **पदम्**=मूल को **आददे**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—कन्या नामक ओषधि के मूल के द्वारा विष को नष्ट किया जा सकता है। इसी से इसके 'तौदी व घृताची' नाम हुए हैं।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विषस्य तेजः अवाचीनम्

अङ्गादङ्गात्प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय।
अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते॥ २५॥

१. **अङ्गात् अङ्गात् प्रच्यावय**=एक-एक अङ्ग से विष के इस तेज को प्रच्युत कर दे। **हृदयं परिवर्जय**=हृदय को इस विष के तेज से पृथक् कर दे। 'इर्ष्या, द्वेष, क्रोध' आदि से भी शरीर में विष उत्पन्न हो जाता है। इस विष को हम प्रत्येक अङ्ग से दूर करें—हृदय में तो इसे उत्पन्न ही न होने दें। २. **अध**=अब **विषस्य यत् तेजः**=विष का जो तेज है, **तत्**=वह **ते अवाचीनं एतु**=तेरे नीचे गतिवाला हो, अर्थात् तू उसे पाँव तले रौंद डाल।

भावार्थ—हम ईर्ष्या आदि से उत्पन्न हो जानेवाले विष को अपने से दूर करें—हृदय में तो यह विष स्थान न ही पाए। इस विष के तेज को हम पादाक्रान्त कर पाएँ।

ऋषिः—गरुत्मान्॥ देवता—सर्पविषापाकरणम्॥ छन्दः—षट्पदाबृहतीगर्भाककुम्मती भुरिक्त्रिष्टुप्॥

विष-चिकित्सा क्रम

आरे अभूद्विषमरौद्विषे विषमप्रागपि। अग्निर्विषमहेर्निरधात्सोमो निरणयीत्।
दंष्टारमन्वगाद्विषमहिरमृत॥ २६॥

१. **विषम् आरे अभूत्**=विष दूर हो गया है, चूँकि वैद्य ने विष **अरौत्**=विष को रोक दिया है। दंश स्थान से कुछ ऊपर कसकर पट्टी बाँध देने से शरीर में विष फैला नहीं। अब वैद्य ने **विषे**=उस विष में **विषम्**=सजातीय विष को **अपि**=भी **अप्राक्**=(अपर्चीत्) मिला दिया है। २. अब वैद्य ने उस दंशस्थान को जलाया है और इसप्रकार **अग्निः**=अग्नि ने **अहेः विषम्**=सर्प के विष को **निरधात्**=बाहर कर दिया है। **सोमः निः अनयीत्**=शरीरस्थ सोमशक्ति ने भी इसे बाहर प्राप्त कराया है अथवा सोम ओषधि इसे बाहर ले-जाती है। इसप्रकार करने से **दंष्टारम्**=डसनेवाले साँप को ही **विषम् अनु अगात्**=विष फिर से प्राप्त हुआ है और **अहिः**

अमृत=साँप मर गया है।

भावार्थ—सर्प आदि के दंश में पहले उस स्थान से कुछ ऊपर पट्टी बाँध देना आवश्यक है, पुनः सजातीय विष को वहाँ संपृक्त करना ठीक है। अग्नि से उस स्थान को दग्ध करना चाहिए, 'सोम' नामक ओषधि का प्रयोग वाञ्छनीय है। ऐसा करने पर सर्पविष मानो उसी सर्प को प्राप्त हो जाता है और उसकी मृत्यु का कारण बनता है।

पञ्चम सूक्त के १ से २४ तक मन्त्रों का ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है। 'सिन्धवः आपः द्विः गताः यस्मिन्' शरीर में रेतःकणों के रूप में प्रवाहित होनेवाले जल दो प्रकार से 'शरीर में शक्तिरूप से तथा मस्तिष्क में दीप्ति के रूप से' प्राप्त हुए हैं जिसमें, वह व्यक्ति 'सिन्धुद्वीप' है। यह इन 'आपः' (रेतःकणरूप जलों) को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—१-५ त्रिपदापुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भापङ्क्तिः, ६ चतुष्पदाजगतीगर्भाजगती ॥

'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य, नृम्ण

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि॥ १॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि॥ २॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि॥ ३॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि॥ ४॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि॥ ५॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ॥ ६॥

१. हे जलो! **इन्द्रस्य ओजः स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष के ओज हो (ओजस् ability), उसे सब कर्त्तव्यकर्मों को कर सकने के योग्य बनाते हो। **इन्द्रस्य सहः स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष की वह शक्ति हो, जिससे कि यह काम, क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण कर पाता है। **इन्द्रस्य बलं स्थ**=जितेन्द्रिय पुरुष का तुम्हीं मनोबल हो—इन 'आपः' रेतःकणरूप जलों का रक्षण करनेवाला कभी दुर्बल मानस स्थिति में नहीं होता। **इन्द्रस्य वीर्यं स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष की उत्पादन (virility, genertive power) व रोगनिवारक शक्ति हो। **इन्द्रस्य नृम्णं स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष का उत्साह व धन (courage, wealth) हो। २. इन रेतःकणों के रक्षण से 'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य व नृम्ण' की प्राप्ति होती है, अतः **जिष्णवे योगाय**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं के विजयेच्छु (जिष्णु) उपाय(योग) के लिए मैं **वः**=आपको (रेतःकणों को) **ब्रह्मयोगैः**=ज्ञानप्राप्ति में लगे रहनेरूप उपायों से **युनज्मि**=शरीर में ही युक्त करता हूँ। इसी प्रकार **क्षत्रयोगैः**=बलों का अपने साथ सम्पर्क करने की कामनारूप उपायों से इन्हें मैं शरीर में युक्त करनेवाला बनता

हूँ। **इन्द्रयोगैः**=परमैश्वर्यवाला बनने की कामनारूप उपायों से मैं इन्हें अपने में जोड़ता हूँ। **सोमयोगैः**=सौम्य भोजनों का ही प्रयोग करने के द्वारा मैं इन्हें शरीर में जोड़ता हूँ तथा अन्ततः **अप्सु योगैः**=निरन्तर कर्मों में लगे रहने के द्वारा मैं इन्हें शरीर में ही सुरक्षित करता हूँ। ३. जब मैं शत्रुओं को जीतने के उपाय के रूप में इन रेतःकणों को शरीर में सुरक्षित करता हूँ, तब **विश्वानि भूतानि**=शरीर का निर्माण करनेवाले 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप सब भूत **मा उपतिष्ठन्तु**=मेरे समीप सहायक रूप में उपस्थित हों। इन सब भूतों की अनुकूलता मुझे प्राप्त हो। हे **आपः**=रेतःकणरूप जलो! आप **मे युक्ताः स्थ**=मेरे साथ युक्त रहो। आपकी संयुक्ति ही तो मेरी विजय का कारण बनती है।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण से 'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य व नृम्ण' प्राप्त होता है। इन रेतःकणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानप्राप्ति में लगे रहें—बल व ऐश्वर्य के सम्पादन को अपना लक्ष्य बनाएँ। सौम्य भोजनों का सेवन करें। कर्मों में लगे रहें। इसप्रकार रेतःकणों के रक्षण से सब भूतों की अनुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—७-१४ पञ्चपदाविपरीतपादलक्ष्माबृहती (११, १४ पथ्यापङ्क्तिः)॥

'अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, मित्रावरुण, यम, पितर, देवसविता'

अ॒ग्नेर्भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ ७॥
इन्द्र॑स्य भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ ८॥
सोम॑स्य भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ ९॥
वरु॑णस्य भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ १०॥
मि॒त्रावरु॑णयोर्भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ ११॥
य॒मस्य॑ भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ १२॥
पि॒तॄ॒णां भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ १३॥
दे॒वस्य॑ सवि॒तुर्भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त।
प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒ऽस्मै लो॒काय॑ सादये॥ १४॥

१. हे **देवीः आपः**=दिव्य गुणयुक्त अथवा रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) रेतःकणरूप जलो! आप **अग्नेः**=प्रगतिशील जीव (अग्रणीः) के **भागः स्थ**=भाग हो, अर्थात् प्रगतिशील जीव को प्राप्त होते हो। इसी प्रकार **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के, **सोमस्य**=सौम्य भोजनों के सेवन द्वारा सौम्य स्वभाववाले पुरुष के, **वरुणस्य**=पाप का निवारण करके श्रेष्ठ बने पुरुष के, **मित्रावरुणयोः**=स्नेहवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष के,

यमस्य=संयमी पुरुष के, **पितॄणाम्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुषों के, **देवस्य सवितुः**=देववृत्ति का बनकर निर्माणात्मक कार्यों में लगे हुए पुरुष के **भागः स्थ**=भाग हो। ये रेत:कण इन 'अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, मित्रावरुण, यम, पितर व देवसविता' में ही सुरक्षित रहते हैं। 'अग्नि' आदि बनना ही वीर्यरक्षण का साधन होता है। २. हे (देवी: आपः=) दिव्य गुणयुक्त रेत:कणो! आप **अपां शुक्रम्**=कर्मों में लगे रहनेवाली प्रजाओं का वीर्य हो। आप **अस्मासु**=हममें **वर्चः धत्त**=वर्चस् को—रोगनिवारणशक्ति को धारण करो। मैं **वः**=आपको **प्राजपतेः धाम्ना**=प्रजारक्षक प्रभु के तेज के हेतु से—प्रजापति के तेज को प्राप्त करने के लिए **अस्मै लोकाय**=इस लोक के हित के लिए **सादये**=अपने में बिठाता हूँ। वीर्यरक्षण द्वारा मनुष्य प्रजापति के धाम को प्राप्त करता है और लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—रेत:कणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रगतिशील हों(अग्नि), जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), पापवृत्ति से बचें (वरुण), स्नेह व द्वेष निवारणवाले हों (मित्रावरुण), संयमी बनें (यम), रक्षणात्मक व देववृत्ति के बनकर उत्पादक कार्यों में प्रवृत्त हों(देव सविता)। ये रेत:कण ही कार्यनिरत प्रजाओं का वीर्य हैं, ये हमें रोगनिवारणशक्ति प्राप्त कराते हैं और प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाकर लोकहित के कार्यों के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—१५-१८, २१ दशपदात्रैष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः (१९, २० कृतिः)

रेत:कणों का महत्त्व

यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १५॥
यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १६॥
यो व आपोऽपां वत्सो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १७॥
यो व आपोऽपां वृषभो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १८॥
यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १९॥
यो व आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्योऽप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ २०॥
यो व आपोऽपामग्नयोऽप्स्वन्तर्यजुष्या देवयजनाः।
इदं तानति सृजामि तान्माऽभ्यवनिक्षि।
तैस्तमभ्यतिसृजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ २१॥

१. हे **आपः**=रेत:कणो! **यः**=जो **वः**=आपका **अपाम्**=प्रजाओं का **भागः**=पूजन (भज सेवायाम्) है, अर्थात् आपके रक्षण से प्रजाओं के अन्दर जो प्रभु-पूजन का भाव उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जो **अपाम् ऊर्मिः**=प्रजाओं का प्रकाश है (उर्मि light), आपके रक्षण से जो प्रकाश उत्पन्न होता है। जो **अपां वत्सः**=(वदति) प्रजाओं का ज्ञान की वाणियों का उच्चारण है। **अपां वृषभः**=प्रजाओं में सुखों का सेचन है (वृष् सेचने)। **अपां हिरण्यगर्भः**=प्रजाओं में ज्योति को धारण करना है। **अपां अश्मा**=प्रजाओं का पाषाण-तुल्य दृढ़-शरीर है, **पृश्निः**=अंग-प्रत्यंग में रसों का संस्पर्श है (संस्प्रष्टा रसान्—नि० २।१४) तथा **दिव्यः**=देववृत्तियों का जन्म है और अन्ततः **अपां अग्रयः**=प्रजाओं के अन्दर आगे बढ़ने की वृत्तियाँ हैं। ये सब **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर **यजुष्यः**=यजुष्य हैं—यज्ञात्मकवृत्तियों को जन्म देने के लिए उत्तम हैं। ये सब बातें **देवयजनः**=उस देव के साथ—प्रभु के साथ मेल करानेवाली हैं। २. अतः **इदम्** (इदानीम्)=अब मैं **तम् उ**=उस रेत:कण (वीर्यशक्ति) को ही **अतिसृजामि**=अतिशयेन अपने अन्दर उत्पन्न करता हूँ। **तं मा अभि अवनिक्षि**=उसका मैं सफ़ाया न कर दूँ—उसे अपने अन्दर सुरक्षित करूँ (अवनिज् wipe off) **तेन**=उस वीर्यशक्ति के द्वारा **तम् अभि अतिसृजामः**=उसे अपने से दूर करते हैं (अतिसृज् part with) **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके प्रति अप्रीतिवाला है और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर सकते। **तम्**=उसे **अनेन ब्रह्मणा**=इस ज्ञान के द्वारा **अनेन कर्मणा**=इस यज्ञादि कर्म के द्वारा तथा **अनया मेन्या**=इस उपासनारूप वज्र के द्वारा (मेनिः—मन्) **तं वधेयम्**=उस समाज-विद्विष्ट को समाप्त कर दूँ, **तं स्तृषीय**=उसे नष्ट कर दूँ (स्तृ to kill)।

भावार्थ—रेत:कणों के रक्षण से हममें 'उपासना के भाव, प्रकाश, ज्ञान की वाणियों का उच्चारण, सुख, ज्योति, दृढ़ रसमय दिव्यता व प्रगतिशीलता' की उत्पत्ति होती है, अतः रेत:कणों का रक्षण आवश्यक है। इससे द्वेषभाव भी विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दुरित व अंहस्' से दूर

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः॥ २२॥

१. तीन साल की आयु तक तो पाप लगता ही नहीं, परन्तु **त्रैहायणात् अर्वाचीनम्**=तीन साल की आयु के पश्चात् (on this side of) **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **अनृतं उदिम**=हमने अनृत

(असत्य) बोला है **आपः**=ये रेतःकण **तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात्**=उस सब दुरित (दुराचरण) से तथा **अंहसः**=उस दुरित से जनित चिन्ता से—कष्ट से (trouble, anxiety, care) **मा पान्तु**=मुझे रक्षित करें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें दुरितों व कष्टों से मुक्त करता है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अरिष्टाः सर्वहायसः

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत्॥ २३॥

१. हे रेतःकणो! (आपः) मैं **वः**=तुम्हें **समुद्रम्**=(स मुद्) सर्वदा आनन्दमय उस प्रभु की ओर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ। तुम्हारे रक्षण के द्वारा ही तो मुझे प्रभु को पाना है। तुम **स्वां योनिम् अपि इतन**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर की ओर ही गतिवाले होओ। तुम शरीररूप घर में ही सुरक्षित रहो। २. तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम **अरिष्टाः**=अहिंसित हों—रोगों से आक्रान्त न हों। **सर्वहायसः**=पूर्ण वर्षोंवाले व शतवर्षपर्यन्त जीवनवाले हों। **च**=तथा **नः**=हमें **किञ्चन**=कुछ भी **मा आममत्**=पीड़ित करनेवाला न हो—हम किसी रोग के शिकार न हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम 'रोगों से अहिंसित—शतवर्षपर्यन्त जीवनवाले हों' तथा इनका रक्षण हमें अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

'रिप्रं, एनः, दुरितं, मलम्' (अव प्रवहन्तु)

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु॥ २४॥

१. **आपः**=ये रेतःकण **अरिप्राः**=दोषरहित हैं। ये रेतःकण **रिप्रम्**=दोष को **अस्मत् अप**=हमसे दूर करें। ये **सुप्रतीकाः**=(प्रतीक limb, member) शोभन अंगोंवाले—सब अंगों को सुन्दर बनानेवाले रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **एनः**=पापों को **प्रवहन्तु**=दूर बहा ले-जाएँ। **दुरितम्**=दुराचरण को ये हमसे **प्र (वहन्तु)**=दूर करें। **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत **मलम्**=मल को **प्र (वहन्तु)**=हमसे दूर बहा दें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमसे 'दोष, पाप, दुराचरण व दुःष्वप्न्य मलों' को दूर करनेवाला होता है।

इन रेतःकणों के रक्षण के उद्देश्य से यह कृषि आदि उत्पादक कर्मों में प्रवृत्त रहता है। कृषि में हल का स्थान प्रमुख है। इसके फाल को ही 'कुशिक' (ploughshare) कहते हैं। यह कुशिक का ही हो जाता है (कुशिकस्य अयं), अतः 'कौशिक' कहलाता है। यही अगले (२५-३५) मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २५॥

१. तू **विष्णोः**=एक पवित्र व्यक्ति (A pious man) के **क्रमः**=पराक्रमवाला **असि**=है (क्रमः अस्यास्तीति क्रमः)। **'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्'**=ज्ञानी लोग कृषि आदि निर्माण के कार्यों में ही प्रवृत्त होते हैं। वेद का आदेश भी तो यही है कि **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** पासों से मत खेल, खेती ही कर। इसी से तू **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **पृथिवीसंशितः**=इस शरीररूप पृथिवी में तू तीव्र किया गया है। **अग्नितेजाः**=अग्नि के समान तेजस्वी है। २. तू निश्चय कर कि **पृथिवीम् अनु**=इस शरीररूप पृथिवी का लक्ष्य करके—इसे उत्तम, स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से—**अहम्**=मैं **विक्रमे**=पराक्रम करता हूँ। **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी से **तं निर्भजामः**=उस रोग आदि को दूर भगाते हैं (put to flight) **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे अप्रीति करता है, **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम प्रेम नहीं रखते, **सः मा जीवीत्**=वह हमारा शत्रु न जीए। **तं प्राणः जहातु**=उसे प्राण छोड़ जाएँ।

भावार्थ—कृषि आदि कर्मों में लगे रहने से शरीर स्वस्थ बनता है। अग्नि के समान तेजस्विता प्राप्त होती है। उससे रोग व वासनारूप शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

अन्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २६॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू एक पवित्र व्यक्ति के पराक्रमवाला है। इसी से **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **अन्तरिक्षसंशितः**=तू हृदयरूप अन्तरिक्ष में तीव्र किया गया है, **वायुतेजाः**=वायु के समान तेजस्वी बना है। २. तू निश्चय कर कि **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष को लक्ष्य करके **अहम्**=मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थ करता हूँ और **अन्तरिक्षात्**=हृदयान्तरिक्ष से उन शत्रुओं को दूर भगाता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—कृषि आदि कर्मों में प्रवृत्त रहकर मैं हृदय में पवित्र बनता हूँ। मेरे हृदय में वायु(वा गतिगन्धनयोः) गति द्वारा बुराई के हिंसन का भाव रहता है और मैं निर्द्वेष बनता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

द्यौसंशितः सूर्यतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २७॥

१. तू **विष्णोः क्रमः असि**=एक पवित्र व्यक्ति के पराक्रमवाला है। **द्यौसंशितः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में तीक्ष्ण किया गया है। **सूर्यतेजाः**=सूर्य के समान तेजस्वी हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **दिवम् अनु**=मस्तिष्करूप द्युलोक को लक्ष्य बनाकर **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थ करता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेषपूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यापृत हुआ-हुआ मैं मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसूर्य से दीप्त करता हूँ। मेरे कर्मों का लक्ष्य इस द्युलोक को दीप्त बनाना होता है। इस दीप्ति में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

दिक्संशितो मनस्तेजाः

विष्णोः क्रमौऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २८॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पुरुषार्थवाला है, इसी से **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **दिक् संशितः**=इस शरीर-पिण्ड की 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण' सब दिशाओं में तू तीव्र बना है। **मनस्तेजाः**=सभी दृष्टियों से स्वस्थ होने के कारण तू मानस तेज को प्राप्त हुआ है—तेजस्वी मनवाला बना है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **दिशः अनु**=इन सब दिशाओं का लक्ष्य करके सभी प्रकार से स्वास्थ्य के लिए **विक्रमे**=पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों के द्वारा, शरीर की सब दिशाओं को सशक्त बनाकर, मनस्वी होता हुआ मैं सब शत्रुओं को परास्त करता हूँ।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

आशासंशितो वाततेजाः

विष्णोः क्रमौऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २९॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू एक पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **आशासंशितः**=इस शरीर-पिण्ड के सम्पूर्ण प्रदेशों में (आशा=space, region) तू तीव्र बना है। **वाततेजाः**=वात (गति) के तेजवाला है। सम्पूर्ण प्रदेश में सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की गति ठीक से हो रही है। २. तू निश्चय कर कि **आशाः अनु**=शरीरस्थ सम्पूर्ण प्रदेशों का लक्ष्य करके **अहं विक्रमे**=मैं विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यस्त रहने के द्वारा मैं शरीर के सम्पूर्ण प्रदेश को सशक्त बनाता हूँ। वहाँ से रोगरूप शत्रुओं को दूर भगाता हूँ।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

ऋक्संशितः सामतेजाः

विष्णोः क्रमौऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः।
ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३०॥

१. तू **विष्णोः क्रमः असि**=पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **ऋक् संशितः**=विज्ञान से तीक्ष्ण शक्तियोंवाला होता हुआ तू **सामतेजाः**=उपासना के तेजवाला है। विज्ञान ने तेरी शक्तियों को तीक्ष्ण किया है और उपासना ने तुझे प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाया है। २. तू निश्चय कर कि इन **ऋचः अनु**=विज्ञानों का लक्ष्य करके ही मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में लगे रहने से, विज्ञान व उपासना की वृद्धि के द्वारा हम तेजस्वी

बनते हैं और शत्रुओं को परास्त करते हैं।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३१॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **यज्ञसंशितः**=यज्ञों के द्वारा तीक्ष्ण शक्तिवाला बना है, और **ब्रह्मतेजाः**=वेदज्ञान के तेजवाला हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **यज्ञम् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **अहम्**=मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। यज्ञ मुझे शक्ति सम्पन्न बनाते हैं, अतः मैं यज्ञों के सम्पादन के लिए विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। उस **यज्ञात्**=यज्ञ के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र पुरुषार्थ से पराक्रमवाला होता हुआ मैं यज्ञशील बनता हूँ और ज्ञान के तेज से तेजस्वी होकर मैं सब शत्रुओं को परास्त करता हूँ।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

ओषधिसंशितः सोमतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३२॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है। इस पराक्रम से ही **सपत्नहा**=तू रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **ओषधिसंशितः**=वानस्पतिक (ओषधि) भोजन द्वारा तू तीक्ष्ण शक्तिवाला हुआ है और **सोमतेजाः**=वानस्पतिक भोजन से उत्पन्न सोम से तेजस्वी बना है। २. तू यह निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **ओषधीः अनु विक्रमे**=ओषधि-वनस्पतियों को प्राप्त करने के लक्ष्य से पुरुषार्थवाला होता हूँ और **ओषधिभ्यः**=इन ओषधियों से **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों को करते हुए हम रोगादि शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। ओषधियों के प्रयोग से उत्पन्न सोम(वीर्य) द्वारा मैं तेजस्वी बनता हूँ और इस तेजस्विता के द्वारा निर्द्वेष बनता हूँ।

ऋषिः—कौशिकः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी ॥

अप्सुसंशितः वरुणतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाऽप्सुसंशितो वरुणतेजाः।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं निर्भजामो योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३३॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **अप्सुसंशितः**=रेतःकणों में—रेतःकणों के रक्षण द्वारा—तीक्ष्ण शक्तिवाला हुआ हैं। **वरुणतेजाः**=निर्द्वेष पुरुष के—द्वेष आदि का निवारण करनेवाले

पुरुष के तेजवाला हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **अपः अनु विक्रमे**=रेतःकणों का लक्ष्य करके पुरुषार्थवाला बना हूँ। रेतःकणों के रक्षण के लिए मैंने पुरुषार्थ किया है और **अद्भ्यः**=इन रेतःकणों के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यापृत होकर मैं वीर्यकणों का रक्षण करता हुआ निर्द्वेष जीवनवाला बनता हूँ। इनके रक्षण से ही शत्रुओं को दूर भगाता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

कृषिसंशितोऽन्नतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३४॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, **सपत्नहा**=कर्मों में व्यापृत रहने के द्वारा रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **कृषिसंशितः**=कृषिकर्म द्वारा तीक्ष्ण शक्तिवाला बना है और **अन्नतेजाः**=कृषि से उत्पन्न अन्न के द्वारा तेजस्वी बना है। २. तू निश्चय कर कि **कृषिं अनु**=कृषि का लक्ष्य करके **अहं विक्रमे**=मैं पुरुषार्थवाला होता हूँ और इस **कृष्याः**=कृषिकर्म में लगे रहने के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—हम पवित्र कर्मों को करते हुए कृषि से उत्पन्न अन्न का सेवन करते हुए तेजस्वी बनें और रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

प्राणसंशितः पुरुषतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३५॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, इसप्रकार **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **प्राणसंशितः**=प्राणशक्ति के द्वारा तू तीक्ष्ण बना है, **पुरुषतेजाः**=तुझमें पुरुष को शोभा देनेवाली तेजस्विता है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **प्राणम् अनु**=प्राणशक्ति का लक्ष्य करके **विक्रमे**=पुरुषार्थवाला होता हूँ। **प्राणात्**=इस प्राणशक्ति के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—पवित्र कर्मों को करते हुए हम तीव्र प्राणशक्तिवाले बनें, हममें पुरुषोचित तेजस्विता हो। प्राणशक्ति का सम्पादन करते हुए हम निर्द्वेष बनें।

पवित्र कर्मों द्वारा तीव्रशक्तियुक्त यह पुरुष सब रोग—द्वेष व रोगरूप शत्रुओं को समाप्त करके 'ब्रह्मा' श्रेष्ठ पुरुष बनता है। अगले छह मन्त्रों का ऋषि यह ब्रह्मा ही है—

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशाक्वरातिजागतगर्भाऽष्टिः** ॥

जितम्—उद्भिन्नम्

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ३६॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ करने पर **अस्माकं जितम्**=हमारी विजय होती है। **अस्माकम् उद्भिन्नम्**=हमारे द्वारा शत्रुओं का विनाश (Destroying) होता है। मैं **विश्वाः**=सब **अरातीः पृतनाः**=शत्रुभूत सेनाओं को **अभ्यष्ठाम्**=अभिभूत करता हूँ। २. यह ब्रह्मा निश्चय करता है कि **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं अपने शत्रुभूत **आमुष्यायणस्य**=अमुक पिता के तथा **अमुष्याः**=अमुक माता के **पुत्रस्य**=पुत्र के **वर्चः**=वर्चस् (Vitality) को **तेजः**=तेज को **प्राणम्**=प्राणशक्ति को व **आयुः**=जीवन को **निवेष्टयामि**=संवृत्त (Cover) कर देता हूँ। **इदम्**=अब **एनम्**=इसको **अधराञ्चम् पादयामि**=पाँव तले रौंद डालता हूँ—पादाक्रान्त कर लेता हूँ।

भावार्थ—हम विजयी बनें—शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले हों। शत्रुओं को सदा पादाक्रान्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराट्पुरस्ताद्बृहती ॥

द्रविण—ब्राह्मणवर्चस्

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३७॥

१. मैं **सूर्यस्य आवृतम् अनु आवर्ते**=सूर्य के आवर्तन के अनुसार आवर्तनवाला होता हूँ। सूर्य जिस प्रकार नियम से मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मैं नियमित रूप से अपनी दिनचर्या में चलता हूँ। '**पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन**'=हे सूर्य! तेरे व्रत में हम कभी हिंसित न हों। **दक्षिणाम् आवृतम् अनु (आवर्ते)**=(दक्ष वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत इस आवर्तन के पीछे मैं आवर्तनवाला होता हूँ। २. **सा**=वृद्धि की कारणभूत सूर्य के समान पालिता होती हुई वह दिनचर्या **मे**=मेरे लिए **द्रविणं यच्छतु**=कार्यसाधक धन प्रदान करें।

भावार्थ—सूर्य की भाँति नियमितरूप से मार्ग पर चलते हुए हम धनों व ज्ञान के बलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—३८ पुरउष्णिक्, ३९, ४१ आर्षीगायत्री
४० विराड्विषमागायत्री ॥

दिशाएँ, सप्तर्षि, ब्रह्म, ब्राह्मण

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते। ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३८॥
सप्तऋषीनभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३९॥
ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४०॥
ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४१॥

१. मैं इन **ज्योतिषमतीः दिशः अभि आवर्ते**=ज्योतिर्मय दिशाओं की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। प्रतिदिन सन्ध्या में इनका ध्यान करता हुआ इनसे 'आगे बढ़ने की (प्राची), नम्र बनने की (अवाची), इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने की (प्रतीची) व ऊपर उठने की (उदीची)' प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। २. इसी प्रकार मैं **सप्तऋषीन् अभि आवर्ते**=सात ऋषियों की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। 'गोतम' ऋषि का स्मरण करके प्रशस्त इन्द्रियोंवाला (गावः इन्द्रियणि) बनता हूँ। 'भरद्वाज' का स्मरण मुझे शक्तिभरण का उपदेश देता है। 'विश्वामित्र' की तरह मैं भी सभी के प्रति प्रेमवाला होता हूँ। जाठराग्नि को न बुझने देकर 'जमदग्नि' बनता हूँ। उत्तम वसुओंवाला 'वसिष्ठ' बनता हुआ 'कश्यप'=ज्ञानी बनने के लिए यत्न करता हूँ और इसप्रकार 'अत्रि'='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों से ऊपर उठता हूँ। २. **ब्रह्म अभि आवर्ते**=मैं

अपने प्रत्येक अवकाश के क्षण में ज्ञान की ओर गतिवाला होता हूँ। इसी उद्देश्य से **ब्राह्मणान् अभि आवर्ते**=ज्ञानियों की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। इनके सम्पर्क से ज्ञानी बनता हूँ। ये सब बातें मुझे द्रविण व ब्रह्मवर्चस् प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—दिशाओं से प्रेरणा लेता हुआ, सप्तऋषियों के समान आचरण करता हुआ, अवकाश के प्रत्येक क्षण को ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हुआ, ज्ञानियों के संपर्क में चलता हुआ मैं 'द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त करूँ।

यह 'द्रविण के साथ ब्रह्मवर्चस्' वाला व्यक्ति विशिष्ट हव्योंवाला होता है—उत्तम त्यागवाला बनता है। यज्ञों को करता हुआ यह 'विहव्य' अगले नौ मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आत्मनिरीक्षण द्वारा शत्रु का अन्वेषण व विनाश

यं वयं मृगयामहे तं वधै स्तृणवामहै।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम्॥ ४२॥

१. **यम्**=जिस भी काम, क्रोध व लोभरूप शत्रु को **वयम्**=हम **मृगयामहे**=ढूँढ पाते हैं, **तम्**=उसे **वधैः**=हनन-साधन आयुधों द्वारा **स्तृणवामहै**=समाप्त करते हैं (स्तृणातिर्वधकर्मा—नि० २।१९)। २. **तम्**=उस शत्रु को **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान द्वारा **परमेष्ठिनः**=परम स्थान में स्थित प्रभु की **व्यात्ते**=खुली (विशाल) दंष्ट्रा में **अपीपदाम**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए प्रभु के सान्निध्य में उस शत्रु को समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण द्वारा हम अन्तःस्थ शत्रुओं को खोज-खोजकर ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु की समीपता में समाप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'देवी सहीयसी' आहुतिः

वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्यां हेतिस्तं समधादभि।
इयं तं प्सात्वाहुतिः समिद्देवी सहीयसी॥ ४३॥

१. प्रातः-सायं प्रभु की उपासना ही प्रभु की दो दंष्ट्राएँ हैं। जो भी इस उपासना को अपनाता है उसके लिए यह उपासना शत्रु-नाशन का आयुध बन जाती है। यह **हेतिः**=शत्रुनाशन के लिए वज्र **वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्याम्**=सर्वहितकारी प्रभु की दो दाढ़ों से (प्रातः-सायं की जानेवाली उपासना से) **तम्**=उस शत्रु को **सम् अभि अधात्**=सम्यक् सब ओर से पकड़ ले (दबोच ले)। प्रातः-सायं प्रभु का उपासन हमें शत्रुओं से रक्षा का सामर्थ्य प्राप्त कराता है। २. **इयम्**=यह **देवी**=रोगों को जीतने की कामनावाली **सहीयसी**=रोगरूप शत्रुओं के मर्षण में उत्तम **समित्**=अग्निहोत्र में पड़नेवाली समिधा व **आहुतिः**=हव्य पदार्थ **तं प्सातु**=उस रोगरूप शत्रु को खा जाए। अग्निहोत्र के द्वारा रोगों का विनाश हो जाता है **'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्'**।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हुए हम शत्रुओं को परास्त करें। अग्निहोत्र द्वारा रोगों को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—त्रिपदागायत्रीगर्भाऽनुष्टुप् ॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धः

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि।
सोऽ३ऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान॥ ४४॥

१. **राज्ञः**=संसार के शासक व दीप्त **वरुणस्य**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु को तू **बन्धः असि**=अपने हृदयदेश में बाँधनेवाला है। तू प्रभु को हृदय में 'राजा वरुण' के रूप में स्मरण करता है, इसप्रकार स्मरण करता हुआ तू ऐसा ही बनता है। २. **सः**=वह तू **अमुम्**=उस अपने को **आमुष्यायणम्**=अमुक पिता के व **अमुष्याः पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अन्ने प्राणे बधान**=अन्न व प्राण में बाँधनेवाला हो। तू अन्नों—वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करनेवाला बन तथा इन अन्नों को भी प्राणधारण के उद्देश्य से ही खा—अन्न का भी उतना ही सेवन कर जितना की प्राणधारण के लिए पर्याप्त हो।

भावार्थ—हम हृदय में उस दीप्त, पाप-निवारक प्रभु को स्थापित करने का प्रयत्न करें। अपने माता-पिता का स्मरण करते हुए, उनके नाम को कलङ्कित न होने देने के लिए प्राणशक्ति-रक्षण के हेतु वानस्पतिक भोजनों का सेवन करें।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अन्न का ही सेवन

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते॥ ४५॥

१. हे **भुवस्पते**=इस पृथिवी के स्वामिन् प्रभो! **यत् ते अन्नम्**=जो आपका यह अन्न **पृथिवीं अनु आक्षियति**=पृथिवी पर चारों ओर निवास करता है, अर्थात् इस पृथिवी से उत्पन्न होता है, हे **भुवस्पते**=पृथिवी के स्वामिन्! **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **तस्य**=उस अन्न के अंश को **त्वं**=आप **नः संप्रयच्छ**=हमारे लिए दीजिए।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से इस पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले अन्न को प्राप्त करें और उसके द्वारा प्राणों का धारण करें।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दिव्याः अपः

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ ४६॥
सं माऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ ४७॥

इन मन्त्रों का भाष्य अथर्व० ७।८९।१-२ पर देखिए।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तप द्वारा यातुधानों को शीर्ण करना

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ ४८॥
परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराऽग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
पराऽर्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ ४९॥

इन मन्त्रों का भाष्य अथर्व० ८।३।१२-१३ पर देखिए।

ऋषिः—विहव्यः ॥ देवता—प्रजापतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

चतुर्भृष्टि वज्र

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ ५०॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी (समझदार) बनता हुआ मैं **अस्मै शीर्षभिद्याय**=इस रोगरूप शत्रु के सिर को फोड़ देने के लिए **चतुर्भृष्टिम्**=(भ्रस्ज पाके) चारों ओर **अयः**=फालोंवाले व चारों ओर से भून डालनेवाले **अपां वज्रम्**=रेतःकणों से बने हुए वज्र को **प्रहरामि**=प्रहृत करता हूँ। **सः**=वह वज्र **अस्य**=इस शत्रु के **सर्वा अङ्गानि**=सब अंगों को **प्रशृणातु**=शीर्ण कर दे। **विश्वेदेवाः**=सब देव **मे तत्**=मेरे उस कार्य का **अनुजानन्तु**=समर्थन करनेवाले हों।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण के द्वारा रोगरूप शत्रु के सिर का हम भेदन कर डालते हैं। दिव्यगुणों को अपनाते हुए हम वीर्यरक्षण कर पाते हैं और रोग-विनाश के कार्य में समर्थ होते हैं।

छठे सूक्त का ऋषि 'बृहस्पति' है—इसका देवता 'फालमणि' है—वीर्यशक्तिरूप मणि, जोकि सब रोगों व वासनाओं को विशीर्ण करती है (फल् विशरणे)। इसके रक्षण से ही ज्ञानाग्नि भी दीप्त होती है और इसप्रकार इसका रक्षक 'बृहस्पति' बनता है—ज्ञानी।

अथ त्रयोविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

न अरातीयु, न भ्रातृव्य, न दुर्हार्द, न द्विषन्

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा॥ १॥

१. वीर्यमणि के रक्षण के द्वारा उत्पन्न हुए-हुए **ओजसा**=ओजस् के द्वारा मैं **भ्रातृव्यस्य**=भ्रातृभाव से शून्य शत्रु के **शिरः**=सिर को **अपिवृश्चामि**=काट डालता हूँ। उस शत्रु के सिर को जोकि **अरातीयोः**=अराति की भाँति आचरण करता है, अर्थात् मैं अदानभावरूप शत्रु के सिर को काट डालता हूँ। **दुर्हार्दः द्विषतः**=दुष्ट हृदयवाले—द्वेष करनेवाले शत्रु के सिर को भी मैं काट डालता हूँ।

भावार्थ—वस्तुतः वीर्यमणि के रक्षित होने पर मनुष्य को वह ओज प्राप्त होता है, जिससे वह उदारवृत्ति का, उत्तम हृदयवाला, द्वेषशून्य तथा भ्रातृभाव से भूषित जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मन्थ, रस, वर्चस्

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २॥

१. **फालात्**=(फल् विशरणे) रोगों व वासनाओं को विनष्ट करने के उद्देश्य से **जातः**=उत्पन्न हुई-हुई **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **मह्यम्**=मेरे लिए **वर्म करिष्यति**=कवच का कार्य करेगी—कवच बनेगी। २. यह **वर्चसा सह**=वर्चस्—रोगनिवारकशक्ति के साथ **मन्थेन**=सूक्ष्म तत्त्वों के मन्थन—आलोडन—की शक्ति तथा **रसेन**=मानस आनन्द से **पूर्णः**=भरी हुई **मा आगमत्**=मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि कवच बनती है—यह रोगों व वासनाओं के आक्रमण को विफल करती है। सूक्ष्म तत्त्वों के आलोडन की शक्ति को, मानस आनन्द व शरीर में वर्चस् (प्राणशक्ति) को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'जीवलाः शुचयः' आपः

यत्त्वा शिक्वः पराऽवधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **त्वा**=तुझे **शिक्वः**=छीलनेवाला (शिञ् निशाने to make thin) **तक्षा**=बढ़ई **हस्तेन**=हाथ से **वास्या**=बसूले (chisel) से—हाथ में लिये हुए बसूले से—**परा अवधीत्**=बहुत अधिक हिंसित करता है—घाव कर देता है तो भी ये **जीवलाः**=जीवन-शक्ति प्राप्त करानेवाले **शुचयः**=मानस पवित्रता के कारणभूत **आपः**=वीर्यकण (आपः रेतो भूत्वा०) **शुचिं त्वा**=पवित्र मनवाले—हिंसक के प्रति भी विद्वेषशून्य तुझे **तस्मात्**=उस घाव से **पुनन्तु**=पवित्र कर दें—मुक्त कर दें।

भावार्थ—वीर्यकण शरीर में जीवन-शक्ति को तथा मन में पवित्रता को प्राप्त करानेवाले हैं। यदि कोई बसूले से गहरा घाव भी कर दे, तो भी ये वीर्यकण उस घाव को शीघ्र भर देते हैं और हमारे मनों को आक्रान्ता के प्रति रोषवाला नहीं होने देते।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'हिरण्यस्त्रक्' मणि

हिरण्यस्त्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्। गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥ ४॥

१. शरीर में सुरक्षित **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **हिरण्यस्त्रक्**=हितरमणीय तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाला है (सृज्)। यह **श्रद्धाम्**=हृदय में श्रद्धा को, **यज्ञम्**=हाथों में यज्ञों (श्रेष्ठतम् कर्मों) को, तथा **महः**=शरीर में तेजस्विता को **दधत्**=धारण करता हुआ **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला होता हुआ **नः गृहे**=हमारे शरीरगृह में **वसतु**=निवास करे।

भावार्थ—यह वीर्यमणि शरीर में सुरक्षित होने पर हितरमणीय तत्त्वों को जन्म देती है। यह हृदय में श्रद्धा, हाथों में यज्ञ तथा शरीर में तेज को स्थापित करती है। प्रभुकृपा से यह हमारे शरीर-गृह में ही, गति करती हुई, निवास करे।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

घृतं, सुरां, मधु, अन्नम्-अन्नम्

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे। स नः पितेव पुत्रेभ्यः
श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य॥ ५॥

१. **तस्मै**=उस वीर्यमणि के लिए हम **घृतम्**=घृत को **सुराम्**=(अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा—श० १२।८।१।४) जल व ओषधियों के रस को, **मधु**=शहद को तथा **अन्नं अन्नम्**=खाने योग्य सात्त्विक अन्न को **क्षदामहे**=(क्षद भक्षणे) खाते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न वीर्यमणि शरीर में सुरक्षित रहता है। २. **सः**=वह **मणिः**=वीर्यमणि **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के विकास के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **एत्य**=प्राप्त होकर **नः**=हमें उसी प्रकार **श्रेयः श्रेयः चिकित्सतु**=उत्तम कल्याणों में निवास कराए, **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम निवास प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उत्तम अन्नों द्वारा उत्पन्न वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है। यह हमें उसी प्रकार कल्याण में निवास कराता है जैसे पिता पुत्रों को। सुरक्षित हुआ-हुआ वीर्य हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—सप्तपदाविराट्शक्वरी ॥

अग्नि के लिए आज्य (कान्ति व गति)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं
भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ६॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम्**=ज्ञान का अधिष्ठाता (ज्ञानी) पुरुष **यम्**=जिस **फालम्**=रोगों को विशीर्ण करनेवाली **घृतश्चुतम्**=शरीर में दीप्ति को क्षरित करनेवाली, **उग्रम्**=तेजस्वी **खदिरम्**=स्थिरता को पैदा करनेवाली व वासनारूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाली **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **ओजसे**= ओजस्विता की प्राप्ति के लिए **अबध्नात्**=अपने अन्दर बाँधता है २. **तम्**=उस मणि को **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में बाँधता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **आज्यं दुहे**=कान्ति व गति को प्रपूरित करती है—इसे कान्तिमय व गतिशील बनाती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वं**=तू **द्विषतः जहि**=सब अप्रीतिकर शत्रुओं—रोगों व वासनाओं को विनष्ट कर।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ओजस्विता की प्राप्ति के लिए इस वीर्यमणि को अपने अन्दर धारण करता है। प्रगतिशील जीव इसे अपना कवच बनाता है। वह मणि इसके लिए कान्ति व गति देती है। इससे यह अप्रीतिकर रोग व शत्रुओं का नाश करता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अष्टपदाऽष्टिः ॥

इन्द्र के लिए बल

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्या ऽय कम्।
सो अस्मै बलमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ७॥

१. **बृहस्पतिः.....खदिरम्**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ओजसे**=ओजस्विता के लिए तथा **वीर्याय**=बल के लिए **कम्**=सुख से **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **बलं दुहे**=बल को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वं**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यमणि को कवच के रूप में धारण करता है। यह मणि इसे बलवान् बनाती है। तब यह अप्रीतिकर शत्रुओं का विनाश कर पाता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अष्टपदाऽष्टिः ॥

सोम के लिए वर्चस्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे।
सो अस्मै वर्च इद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ८॥

१. **ओजसे**=ओजस्विता के लिए **बृहस्पतिः खदिरम्**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **सोमः**=शान्तस्वभाववाला व्यक्ति **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। जैसे प्रगतिशीलता व जितेन्द्रियता वीर्यरक्षण में सहायक होती हैं, इसी प्रकार शान्तस्वभाव भी वीर्यरक्षण में साधन होता है। यह सोम इसे **महे**=महत्त्व के लिए, **श्रोत्राय**=श्रवणशक्ति के लिए

व **चक्षसे**=दृष्टिशक्ति के लिए धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **इत्**=निश्चय से **वर्चः**=वर्चस् को—प्राणशक्ति को **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उससे **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट करनेवाला बन।

भावार्थ—सोम (शान्त स्वभाव) और वीर्य-रक्षण द्वारा वर्चस्वी बनकर हम अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट कर डालें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

सूर्य के लिए भूति

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद्दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ९ ॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम् ओजसे**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस वीर्यमणि को **सूर्यः**=सूर्यवत् निरन्तर गतिशील कर्त्तव्यकर्मपरायण मनुष्य **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **तेन**=उससे वह **इमा दिशः अजयत्**=इन दिशाओं का विजय करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **भूतिम्**='स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान' के ऐश्वर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—वीर्यमणि को रक्षित करता हुआ कर्त्तव्यकर्मपरायण पुरुष भूति को प्राप्त करता है तथा अप्रीतिकर शत्रुओं का नाश कर देता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**नवपदाधृतिः** ॥

चन्द्रमा के लिए श्री

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद्दानवानां हिरण्ययीः।
सो अस्मै श्रियमिद्दुहे भूयोभयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १० ॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम् ओजसे**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **चन्द्रमाः**=आह्लादमय स्वभाववाला पुरुष **असुराणाम्**=औरों को विनष्ट करनेवाले (अस् क्षेपणे) **दानवानाम्**=छेदन-भेदन के स्वभाववाले पुरुषों की **हिरण्ययीः**=विलास की ज्योति से जगमगाती **पुरः**=पुरियों को **अजयत्**=जीतता है, अर्थात् यह विलास में न फँसता हुआ औरों का छेदन-भेदन व विनाश नहीं करता। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस आह्लादमय स्वभाववाले पुरुष के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन इत्=निश्चय से **श्रियम्**=श्री को **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—आह्लादमय स्वभाववाला पुरुष इस वीर्यमणि का रक्षण करता हुआ आसुरभावों से ऊपर उठता है। श्री को प्राप्त करके यह शत्रुओं को शीर्ण कर डालता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वाजिनम् (Strength)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ११ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **यं मणिम्**=जिस वीर्यरूप मणि को **अबध्नात्**=अपने शरीर में ही बद्ध करता है, जिससे **आशवे**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त हो सके तथा **वाताय**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन हो जाए (वा गतिगन्धनयोः)। २. **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस बृहस्पति के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **वाजिनं दुहे**=वीरता (Heroism, strength) को, शक्ति को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस वीरता के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर रोगों व वासनारूप शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर वीर्यरक्षण द्वारा शक्तिशाली होते हुए हम शत्रुओं को शीर्ण कर दें।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाशक्वरी ॥

महः

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १२॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तेन मणिना**=उस मणि के द्वारा—वीर्यरूप मणि को अपने में रक्षित करने के द्वारा **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले नर-नारी **कृषिम् अभिरक्षतः**=कृषि का रक्षण करते हैं (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व०)—सट्टे आदि के कामों में रुचिवाले न होकर श्रम-साध्य कर्मों द्वारा ही धनार्जन करते हैं। **सः**=वह मणि भी **भिषग्भ्याम्**=वीर्यरक्षण द्वारा रोगों का प्रतीकार करनेवाले इन वैद्यभूत नर-नारियों के लिए **महः**=तेजस्विता को **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस तेजस्विता से **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=इन अप्रीतिकर शत्रुओं को विनष्ट कर।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मनुष्य में कृषि आदि श्रमसाध्य कर्मों में रुचि होती है। वे सट्टे के कामों में व लॉटरीज़ में नहीं पड़े रहते। ये तेजस्विता को प्राप्त कर नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाशक्वरी ॥

सूनृता

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं बिभ्रत्सविता मणिं तेनेदमजयत्स्वः।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १३॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **सविता**=निर्माण के कर्मों में प्रेरित होनेवाला (सू=उत्पन्न करना) व्यक्ति **तेन**=उस मणि से **इदं स्वः**=इस सुख व प्रकाश का **अजयत्**=विजय करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **सूनृताम्**=प्रिय सत्यवाणियों को **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**= प्रपूरित करता है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा निर्माण के कार्यों में रुचिवाला यह व्यक्ति सुख व प्रकाश में निवास करता हुआ प्रिय, सत्य वाणियों को ही बोलता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाशक्वरी ॥

अमृतम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः।
स आभ्योऽमृतमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १४॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ (आप् व्याप्तौ, आपो नारा इति प्रोक्ताः) **सदा**=सदा **अक्षिताः**=शरीरों में न क्षीण हुई-हुई **धावन्ति**=गतिवाली और शुद्ध-जीवनवाली होती है (धावु गतिशुद्ध्योः)। **सः**=वह मणि **आभ्यः**=इन प्रजाओं के लिए **इत्**=निश्चय से **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **अमृतं दुहे**=नीरोगता को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस निरोगता के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम अक्षीण व पवित्र-जीवनवाले बने रहते हैं। यह वीर्य हमें नीरोगता प्राप्त कराता है और शत्रुओं को विनष्ट करने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाशक्वरी ॥

सत्यम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम्।
सो अस्मै सत्यमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १५॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तम्**=उस **शंभुवम्**=शान्ति को उत्पन्न करनेवाली **मणिम्**=वीर्यमणि को **राजा**=अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated) करनेवाला **वरुणः**=सब पापों व अशुभाचरणों का वारण करेवाला साधक **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस राजा व वरुण के लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **सत्यं दुहे**=सत्य का प्रपूरण करती है—इस वीर्यमणि का रक्षक पुरुष असत्य नहीं बोलता। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषत्**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—व्यवस्थित व सदाचारी जीवनवाले बनकर हम वीर्यमणि को धारण करें। यह 'शान्ति, सत्य व अशत्रुता' को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाशक्वरी ॥

जितिम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वांल्लोकान्युधाऽजयन्।
स एभ्यो जितिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १६॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रतः**=धारण करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **युधा**=युद्ध के द्वारा **सर्वान् लोकान्**='पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक', अर्थात् शरीर, हृदय व मस्तिष्करूप सभी लोकों को **अजयन्**=जीतते हैं। ये इस मणि के द्वारा शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त बनाते हैं। **सः**=वह मणि **एभ्यः**=इनके लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से

जितिम् दुहे=विजय को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—देववृत्ति के बनकर वीर्यमणि का रक्षण करने पर हम इसके द्वारा विजय-ही-विजय प्राप्त करते हुए 'स्वस्थ, निर्मल व दीप्त' बनेंगे।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

विश्वम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १७॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं शंभुवम् मणिम्**=उस शान्ति उत्पन्न करनेवाली वीर्यमणि को **देवताः**=देववृत्ति के पुरुष **प्रत्यमुञ्चन्त**=कवच के रूप में धारण करते हैं। **सः**=वह मणि **आभ्यः**=इन देवलोगों के लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **विश्वं दुहे**=सम्पूर्ण (स्वस्थ) शरीर को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट कर डाल।

भावार्थ—देववृत्ति का पुरुष वीर्यरक्षण द्वारा सम्पूर्ण (स्वस्थ) शरीर प्राप्त करता है और सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतवः, आर्तवाः, संवत्सरः

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत। संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति॥ १८॥

१. **ऋतवः**=(ऋ गतौ) ऋतुओं की भाँति नियमित गतिवाले—व्यवस्थित दिनचर्यावाले लोग **तम्**=उस वीर्यमणि को **अबध्नत**=अपने अन्दर बाँधते हैं। **आर्तवाः**=ऋतुओं के अनुसार चर्यावाले—ऋतुचर्या का ठीक से पालन करनेवाले **तम् अबध्नत**=उस वीर्यमणि को अपने अन्दर बद्ध करते हैं। २. **संवत्सरः**=(संवत्सर इव नियमेन वर्त्तमानः—द० य० २७।४८) वर्ष की तरह नियम में चलनेवाला और इसप्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला (सं वसति इति) व्यक्ति **तं बद्ध्वा**=इस वीर्यमणि को अपने में सुरक्षित करके **सर्वं भूतम्**=सब शरीरस्थ अङ्गों को—पदार्थों व तत्त्वों को **विरक्षति**=रक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम ऋतुओं की भाँति नियमित दिनचर्यावाले बनकर, ऋतुचर्या का भी पालन करते हुए, वर्ष की भाँति नियम में वर्त्तमान होकर वीर्य का रक्षण करें। रक्षित वीर्य शरीरस्थ सब धातुओं व पदार्थों का रक्षण करेगा।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्देशाः—प्रदिशः

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः॥ १९॥

१. **अन्तर्देशाः**=(अन्तः देशो येषाम्) अन्दर ही जिनका देश है—जो अन्तर्मुखी वृत्तिवाले हैं, वे इस वीर्यमणि को **अबध्नत**=शरीर में बाँधते हैं। **प्रदिशः**=(प्रकृष्टा दिक् येषाम्) हृदयस्थ प्रभु के प्रकृष्ट निर्देशों (प्रेरणाओं) को सुननेवाले लोग **तम् अबध्नत**=उस वीर्यमणि को अपने में बाँधते हैं। २. **प्रजापतिसृष्टः**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु से उत्पन्न की गई यह **मणिः**=वीर्यमणि **मे**=मेरे **द्विषतः**=अप्रीतिकर रोगरूप शत्रुओं को **अधरान् अकः**=पादाक्रान्त करती है—पाँव तले

रौंद देती है।

भावार्थ—हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें—अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनें। इसप्रकार वीर्यमणि को अपने अन्दर बद्ध करते हुए रोगों को कुचल देनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अथर्वाणः, आथर्वणाः, अङ्गिरसः

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत।

तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २०॥

१. **अथर्वाणः**=(न थर्वति) स्थिर बुद्धिवाले—विषयों में डाँवाडोल न होनेवाले—पुरुष **अबध्नत**=वीर्यमणि को अपने में बद्ध करते हैं। **आथर्वणाः**=स्थिर प्रभु के उपासक (स्थाणु का संभजन करनेवाले) **अबध्नत**=इस वीर्यमणि को अपने में बाँधते हैं। २. **तैः**=इन अथर्वाओं व आथर्वणों से **मेदिनः**=स्नेहवाले—उनके संग में रहनेवाले—**अङ्गिरसः**=गतिशील (अगि गतौ) लोग **दस्यूनां पुरः**='काम, क्रोध, लोभ' रूप दस्युओं की नगरियों का **बिभिदुः**=विदारण (विध्वंस) कर देते हैं। हे जीव! **तेन**=उस वीर्यमणि के द्वारा **त्वम्**=तू भी **द्विषतः जहि**=इन अप्रीतिकर रोगरूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला बन।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्ति के बनकर तथा स्थिर (स्थाणु) प्रभु के उपासक बनकर और ऐसे ही लोगों के सम्पर्क में रहते हुए वासनाओं को विनष्ट कर डालें—वीर्य को अपने अन्दर सुरक्षित करें और रोगरूप शत्रुओं को नष्ट कर डालें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धाता

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्य कल्पयत्। तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २१॥

१. **तम्**=उस वीर्यमणि को **धाता**=अपनी इन्द्रियों का धारण (स्थिर) करनेवाला व्यक्ति **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह सुरक्षित वीर्यमणि **भूतम्**=इस उत्पन्न शरीर को **व्यकल्पयत्**=विशेषरूप से सामर्थ्यवाला बनाता है (क्लृप् सामर्थ्ये)। प्रभु कहते है कि हे जीव! **तेन**=इस वीर्यमणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=इन रोगरूप शत्रुओं को नष्ट कर।

भावार्थ—इन्द्रियों का धारक 'जितेन्द्रिय' पुरुष इस वीर्यमणि को अपना कवच बनाता है। वह उत्पन्न शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनाता है। इस वीर्यमणि द्वारा हम रोगों को कुचलते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रस + वर्चस्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।

स मायं मणिरागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २२॥

१. **बृहस्पतिः**=सर्वज्ञ प्रभु ने **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **यम्**=जिस **असुरक्षितिम्**=आसुर भावनाओं को—काम, क्रोध, लोभ को विनष्ट करनेवाली **यम्**=जिस वीर्यमणि को **अबध्नात्**=शरीर में बाँधा है। २. **सः अयं मणिः**=वह यह वीर्यमणि **मा**=मुझे **रसेन**=मानस रस (आनन्द) के साथ तथा **वर्चसा सह**=शरीरस्थ वर्चस्—रोगनिरोधक शक्ति के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनेंगे तो शरीर में वीर्यमणि को रक्षित कर पाएँगे। इसकी रक्षा से जहाँ हम आसुरभावों को विनष्ट कर पाएँगे, वहाँ मानस आनन्द व शरीरस्थ प्राणशक्ति को

प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

व्रीहि-यव, मधु-घृत, कीलाल

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह॥ २३॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह॥ २४॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह॥ २५॥

१. **बृहस्पतिः**=(मन्त्र २२ में द्रष्टव्य है) २. **सः अयं मणिः**=वह यह मणि **मा**=मुझे **गोभिः सह**=उत्तम गौवों के साथ, **अजा+अविभिः**=बकरियों व भेड़ों के साथ, **अन्नेन प्रजया सह**=अन्न व उत्तम सन्तान के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो। २. यह मणि मुझे **व्रीहियवाभ्याम्**=चावल व जौ के साथ, **महसा**=तेजस्विता व **भूत्या सह**=ऐश्वर्य के साथ प्राप्त हो। इसी प्रकार यह मणि मुझे **मधोः**=शहद की तथा **घृतस्य**=घृत की **धारया**=धारा के साथ तथा **मणिः**=यह वीर्यमणि **कीलालेन सह**=(कीलालं अन्नं—नि० २.७) सुसंस्कृत अन्न के साथ मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—वीर्यमणि के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन कृत्रिमता से दूर होकर स्वाभाविक हो। हमारे घर गौवों, बकरियों, भेड़ोंवाले व अन्न से युक्त हों। इन्हीं घरों में उत्तम सन्तान सम्भव होती है। इन घरों में चावल व जौ भोज्यपदार्थ हों, तभी तेजस्विता व ऐश्वर्य का विकास होगा। इन घरों में मधु, घृत व सुसंस्कृत अन्न की कमी न हो। (मांस आदि भोजन व अन्य उत्तेजक पेय द्रव्य वीर्यरक्षण के अनुकूल नहीं हैं)।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—२६-२७ पथ्यापङ्क्तिः, २८ अनुष्टुप्॥

ऊर्जया—भूतिभिः

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह॥ २६॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या ſ सह॥ २७॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह॥ २८॥

१. **बृहस्पतिः**=(मन्त्र २२ में द्रष्टव्य है) २. **सः अयं मणिः**=वह यह मणि **मा**=मुझे **पयसा सह ऊर्जया**=शक्तियों के आप्यायन के साथ बल व प्राणशक्ति के साथ तथा **श्रिया सह**=शोभा के साथ **द्रविणेन**=कार्यसाधक धन के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो। **त्विष्या सह तेजसा**=कान्तियुक्त तेज के साथ तथा **कीर्त्या सह**=कीर्ति (fame) के साथ **यशसा**=सौन्दर्य (beauty, splendour) को लेकर, यह मणि मुझे प्राप्त हो तथा यह मणि **सर्वाभिः भूतिभिः सह**=सब ऐश्वर्यों के साथ मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि हमारे लिए 'शक्तियों के आप्यायन के साथ ऊर्जा को

प्राप्त कराती है, श्री के साथ द्रविण देती है। कान्ति के साथ तेज तथा कीर्ति के साथ यश देनेवाली है। यह सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अभिभु-क्षत्रवर्धन' मणि

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये। अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥

१. **देवताः**=संसार के सूर्य, चन्द्र आदि देव **मह्यम्**=मेरे लिए **तम् इमम् मणिम्**=इस वीर्यमणि को **पुष्टये ददतु**=पुष्टि के लिए प्राप्त कराएँ। सब बाह्य देवों की अनुकूलता हमारे शरीरों में इस मणि का रक्षण करे। २. उस **मणिम्**=मणि को देव हमें दें जोकि **अभिभुम्**=सब रोगों का अभिभव करनेवाली है, **क्षत्रवर्धनम्**=बल को बढ़ानेवाली है तथा **सपत्नदम्भनम्**='काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाली है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि सब देवों की अनुकूलता हमारे शरीरों में वीर्यमणि का रक्षण करे। यह रोगों को अभिभूत करती है, बल को बढ़ाती है तथा 'काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को नष्ट करती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मणा+तेजसा

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम्। असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥

१. **तेजसा सह ब्रह्मणा**=तेजस्विता के साथ ज्ञान के हेतु से **मे शिवम्**=मेरे लिए कल्याणकर इस वीर्यमणि को मैं **प्रतिमुञ्चामि**=धारण करता हूँ। यह मणि **असपत्नः**=सपत्नों (शत्रुओं) से रहित है। इसके धारण करने पर कोई शत्रु हमपर आक्रमण नहीं कर सकता। यह मणि **सपत्नहा**=सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। यह **मे सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **अधरान् अकः**=पराजित करे—पाँव तले रौंद दे।

भावार्थ—शरीर में रक्षित वीर्यमणि हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें तेजस्विता व ज्ञान प्राप्त कराती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

द्विषतः, उत्तरं, पयः, श्रैष्ठ्याय

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते।
स माऽयमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

१. **अयं**=यह **देवजाः**=(देवाः जायन्ते यस्मात्) दिव्य गुणों की उत्पत्ति की कारणभूत **मणिः**=वीर्यमणि **माम्**=मुझे **उत्तरं कृणोतु**=शत्रुओं के ऊपर करे—शत्रुओं का विजेता बनाए। **यस्य**=जिस मणि के **दुग्धं पयः**=प्रपूरित आप्यायन को—जिस मणि के द्वारा प्राप्त कराई गई वृद्धि को **इमे त्रयो लोकाः**=ये तीनों लोक **उपासते**=उपासित करते हैं। शरीररूप पृथिवीलोक इस मणि के द्वारा ही दृढ़ किया जाता है, इसी से मनरूप अन्तरिक्षलोक शान्त बनता है, इसी से मस्तिष्करूप द्युलोक दीप्त बनता है। २. **सः अयं मणिः**=वह यह वीर्यमणि **माम् मूर्धतः अधिरोहतु**=मेरे मस्तिष्क की दिशा में—मस्तिष्क की ओर आरूढ़ हो। इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह मेरे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बने, इसप्रकार यह मणि मेरी **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए हो।

भावार्थ—यह दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाली वीर्यमणि मेरे शत्रुओं को परास्त करे।

इससे मेरे 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों लोक आप्यायित हों। यह मणि मुझमें ऊर्ध्वगतिवाली होकर मुझे श्रेष्ठ बनाये।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देव, पितर, मनुष्य

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स माऽयमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३२ ॥

१. **यम्**=जिस वीर्यमणि को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष—ब्राह्मण (ज्ञानी), **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त क्षत्रिय, **मनुष्याः**=मननपूर्वक व्यवहारों को करनेवाले वैश्य **सर्वदा उप जीवन्ति**=सदा आश्रय करके जीते हैं। यह वीर्यमणि ही तो उन्हें उत्तम 'ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य' बनाती है। **सः**=वह **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **मा मूर्धतः अधिरोहतु**=मेरे मस्तिष्क की ओर आरूढ़ हो—इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह मेरे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बने और इसप्रकार यह मेरी **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य ही हमें उत्तम 'देव, पितर व मनुष्य' बनाता है। यह मस्तिष्क की ओर आरूढ़ होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने और मुझे श्रेष्ठता प्रदान करे।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रजा, पशवः, अन्नम् अन्नम्

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥ ३३ ॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **उर्वरायाम्**=उर्वरा भूमि में **फालेन कृष्टे**=हल के लोहफलक से भूमि के कृष्ट होने पर **बीजं रोहति**=बीज उगता है—फल आदि रूप में वृद्धि को प्राप्त करता है। **एव**=इसी प्रकार इस वीर्यमणि के रक्षण से **मयि**=मुझमें **प्रजा**=सन्तान **पशवः**=गौ आदि पशु व **अन्नं अन्नम्**=खाने योग्य सात्त्विक अन्न **विरोहतु**=विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मैं उत्तम सन्तान, गौ आदि पशुओं व सात्त्विक अन्न को प्राप्त होऊँ।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञवर्धन—शतदक्षिण

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

१. हे **यज्ञवर्धन**=यज्ञों की वृत्ति को बढ़ानेवाली **मणे**=वीर्यमणे! **यस्मै**=जिस भी पुरुष के लिए **शिवं त्वा**=कल्याणकर तुझे **प्रत्यमुचम्**=मैं बाँधता हूँ, हे **शतदक्षिण**=शतवर्षपर्यन्त वृद्धि की कारणभूत **मणे**=वीर्यमणे! **त्वम्**=तू **तम्**=उस पुरुष को **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए **जिन्वतात्**=प्रीणित कर।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि यज्ञों की वृत्ति को बढ़ाती है तथा शतवर्षपर्यन्त वृद्धि का कारण बनती है।

ऋषिः—बृहस्पतिः ॥ देवता—वनस्पतिः, फालमणिः ॥ छन्दः—पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भाजगती ॥

सुमति, स्वस्ति, प्रजा, चक्षु, पशु

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः। तस्मिन्विदेम
सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥ ३५ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **एतम्**=इस **इध्मम्**=दीप्त **समाहितम्**=हृदय में स्थापित प्रभु को **होमैः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **प्रतिहर्य**=प्राप्त करने के लिए कामनावाला हो (हर्य गतिकान्त्योः)। २. **तस्मिन्**=उस **जातवेदसि**=सर्वज्ञ प्रभु के **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **समिद्धे**=हृदयदेश में दीप्त होने पर हम **सुमतिम्**=कल्याणी मति को, **स्वस्ति**=कल्याण को, **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को, **चक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा **पशून्**=गौ आदि पशुओं को **विदेम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु को ज्ञान के प्रकाश में, हृदय में समाहित करें। तब हम 'सुमति, स्वस्ति, प्रजा, चक्षु व पशुओं' को प्राप्त करेंगे।

७. [सप्तम् सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

'तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा, सत्य' की स्थिति कहाँ?

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्याहितम्।
क्व व्रतं क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम्॥ १॥

१. इस सप्तम सूक्त में प्रभु को 'स्कम्भ'=सर्वाधाररूप से स्मरण किया गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही प्रभु का इस रूप में अनुभव करता है। वह स्थितिप्रज्ञ 'अथर्वा (न डाँवाडोल होनेवाला) ही इस सूक्त का ऋषि है। यह अथर्वा 'ब्रह्म-जिज्ञासा' को इसप्रकार उठाता है कि **अस्य**=इस स्कम्भ के **कस्मिन् अङ्गे**=कौन-से अङ्ग (अवयव) में **तपः अधितिष्ठति**=तप की स्थिति है? **अस्य कस्मिन् अङ्गे**=इसके कौन-से अंग में **ऋतम् अध्याहितम्**=ऋत स्थापित हुआ है? **अस्य क्व**=इसके कौन से अवयव में **व्रतम्**=व्रत और **क्व**=कहाँ **श्रद्धा तिष्ठति**=श्रद्धा स्थित है। **अस्य**=इसके **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **सत्यं प्रतिष्ठतम्**=सत्य प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु प्रभु को 'सर्वाधार स्कम्भ' के रूप में सोचता हुआ जिज्ञासा करता है कि इस स्कम्भ में किस-किस अङ्ग में 'तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा व सत्य' की स्थिति है?

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

कौन-से अङ्ग से 'अग्नि, वायु व चन्द्र' का निर्माण?

कस्मादङ्गाद्दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात्पवते मातरिश्वा।
कस्मादङ्गाद्वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम्॥ २॥

१. **अस्य**=इस स्कम्भ—सर्वाधार—प्रभु के **कस्मात् अङ्गात्**=किस अङ्ग से **अग्निः दीप्यते**=अग्नि दीप्त होती है? **मातरिश्वा**=वायु **कस्मात् अङ्गात् पवते**=किस अङ्ग से बहनेवाला होता है? **चन्द्रमाः**=यह आह्लादजनक ज्योतिवाला चन्द्र **महः स्कम्भस्य**=उस पूजनीय (महान्) सर्वाधार प्रभु के **अङ्गम् मिमानः**=स्वरूप को प्रकट करता हुआ—प्रभु की महिमा का प्रकाश करता हुआ—**कस्मात् अङ्गात्**=किस अङ्ग से **वि**=विविध प्रकार से **अधिमिमीते**=अपना मार्ग मापता रहता है? यह कभी सोलह कलाओंवाला व कभी निष्कल दीखता है। यह व्यवस्था भी कितनी कौतूहलकारी है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि उस स्कम्भ में किन-किन अङ्गों से इन 'अग्नि, वायु व चन्द्रमा' आदि देवों का प्रकाश होता है?

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक व द्युलोकोत्तर प्रदेश' की स्थिति कहाँ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥ ३॥

१. **अस्य**=इस स्कम्भ के **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **भूमिः तिष्ठति**=भूमि स्थित है? और **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **अन्तरिक्षं तिष्ठति**=अन्तरिक्ष स्थित है? **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **आहिता**=स्थापित हुआ-हुआ यह **द्यौः तिष्ठति**=द्युलोक स्थित है? और **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **दिवः उत्तरम्**=द्युलोक से भी ऊपर का प्रदेश **तिष्ठति**=स्थित है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि उस सर्वाधार प्रभु के किन अङ्गों में ये 'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक व द्युलोकोत्तर प्रदेश' स्थित हैं?

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'सूर्य, वायु व जल' कहाँ चले जा रहे हैं?

क्व प्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन्पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ४॥

१. यह **ऊर्ध्वः अग्निः**=ऊपर द्युलोक में वर्त्तमान अग्नि, अर्थात् सूर्य **क्व प्रेप्सन्**=कहाँ पहुँचने की कामना करता हुआ **दीप्यते**=चमक रहा है? और **क्व प्रेप्सन्**=कहाँ पहुँचने की कामना करता हुआ यह **मातरिश्वा**=वायु **पवते**=बह रहा है? २. **यत्र**=जहाँ **प्रेप्सन्तीः**=पहुँचने की कामना करती हुई **आवृतः**=चारों ओर वर्त्तनवाली ये जलधाराएँ **अभियन्ति**=चारों ओर (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में) गतिवाली होती हैं, **तम्**=उसे **स्कम्भम्**=स्कम्भ—सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः**=वह **स्वित्**=निश्चय से **क-तमः एव**=अतिशयेन आनन्दमय ही है।

भावार्थ—ये 'सूर्य, वायु व जल' न जाने कहाँ पहुँचने की कामना करते हुए निरन्तर गतिमय हैं? वस्तुतः जिसके आधार में ये सब गतिवाले हो रहे हैं, वे सर्वाधार प्रभु ही हैं—वे 'स्कम्भ' हैं। निश्चय से वे परमानन्दमय हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अर्धमास, मास, संवत्सर, ऋतुएँ व आर्तव पुष्प' आदि कहाँ?

क्वाऽर्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ५॥

१. ये **अर्धमासाः**=मास के आधे भाग, अर्थात् पक्ष **क्व यन्ति**=किसमें गतिवाले हो रहे हैं? **संवत्सरेण सह संविदानाः**=वर्ष के साथ संज्ञान-(मेल)-वाले होते हुए **मासाः**=ये मास (महिने) **क्व यन्ति**=किस आधार में गतिवाले हो रहे हैं? २. **यत्र**=जिस आधार में **ऋतवः**=वसन्तादि ऋतुएँ **यन्ति**=गतिवाली हैं, और **यत्र**=जिस आधार में **आर्तवाः**=सब ऋतु-सम्बन्धी पुष्प, फल, मूल गतिवाले हैं, **तम्**=उस आधार को **स्कम्भं ब्रूहि**='स्कम्भ'—सर्वाधार कहो। **सः**=वह **स्वित्**=निश्चय से **कतमः एव**=अत्यन्त आनन्दमय ही है।

भावार्थ—'अर्धमास, मास, संवत्सर, ऋतुएँ व आर्तव पुष्प-फल आदि' ये सब जिस आधार में गतिवाले हो रहे हैं, वे सर्वाधार प्रभु ही 'स्कम्भ' नामवाले हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अहोरात्रे—आपः

क्व१ प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ६ ॥

१. **क्व प्रेप्सन्ती**=कहाँ-पहुँचने की अभिलाषा करती हुई ये दो **विरूपे**=विपरीत रूपवाली—प्रकाश व अन्धकारमयी (एक श्वेता और दूसरी कृष्णा) **संविदाने**=परस्पर मन्त्रणा-सी करती हुई **अहोरात्रे युवती**=दिन व रात्रिरूप युवतियाँ **द्रवतः**=चली जा रही हैं? **यत्र**=जिसके आधार में **प्रेप्सन्तीः**=विविध वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना करती हुई **आपः**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **अभियन्ति**=चारों ओर गति कर रही हैं, **तम्**=उस आधार को **स्कम्भम्**=स्कम्भ—सर्वाधार प्रभु **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—प्रभु के आधार में ही ये दिन व रात निरन्तर चले जा रहे हैं। उसी के आधार में सब प्रजाएँ, विविध पदार्थों को प्राप्त करने की कामना से गतिवाली हो रही हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—परोष्णिक् ॥

द्यावापृथिवी (प्रजापतिः)

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

१. **यस्मिन् स्तब्ध्वा**=जिसमें आधार पाकर (अपने को थामकर) **प्रजापतिः**=('द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः, मातेव च हि पितेव च प्रजापतिः'—श० ५.१.५.२६) ये पिता व माता के समान द्युलोक व पृथिवीलोक **सर्वान् लोकान् अधारयत्**=सब लोकों का धारण कर रहे हैं। सब लोक इस द्यावापृथिवी में ही तो आश्रित हैं और ये द्यावापृथिवी उस स्कम्भ (प्रभु) में आहित है। **तम्**=उस **स्कम्भम्**=आधारभूत प्रभु का ही **ब्रूहि**=प्रतिपादन करो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी, प्रभु में आधारित हुए-हुए, सब लोकों का धारण कर रहे हैं। वे प्रभु स्कम्भ, सर्वाधार हैं, और कतमः=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—भूरिक्त्रिष्टुप् ॥

परम, अवम, व मध्यम' सृष्टि उस असीम प्रभु में

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव ॥ ८ ॥

१. **यत्**=जो **परमम्**=उत्कृष्ट सात्त्विक, **अवमम्**=निकृष्ट तामस, **यत् च मध्यमम्**=और जो मध्यम राजस् **विश्वरूपम्**=सब भिन्न-भिन्न रूपोंवाला वस्तुजगत् **प्रजापतिः ससृजे**=प्रजापालक प्रभु ने उत्पन्न किया है। **'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवैति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि'**। तत्र=उस सारे वस्तु-जगद्रूप ब्रह्माण्ड में **स्कम्भः**=वे सर्वाधार प्रभु **कियता प्रविवेश**=कितने अंश में प्रविष्ट हुए हैं? प्रभु का **यत्**=जो अंश **न प्राविशत्**=यहाँ नहीं प्रविष्ट हुआ, **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** इस पुरुषसूक्त के वाक्य के द्वारा स्पष्ट है कि प्रभु के एकदेश में ही सारा ब्रह्माण्ड स्थित है, प्रभु के तीन अंश तो इससे ऊपर ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ने 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' त्रिविध वस्तुजगत्वाले इस ब्रह्माण्ड को रचा

है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसके एक देश में ही है—उसका त्रिपाद् तो अपने प्रकाशमय स्वरूप में ही स्थित है। एवं, स्थान के दृष्टिकोण से वे प्रभु असीम हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' प्रभु

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥ ९॥

१. **कियता**=अपने कितने अंश में **स्कम्भः**=वह सर्वाधार प्रभु **भूतं प्रविवेश**=भूतकाल में प्रविष्ट हुआ? **अस्य कियत्**=इस स्कम्भ का कितना अंश **भविष्यत् अन्वाशये**=आनेवाले भविष्यकाल में प्रविष्ट होता है? इस स्कम्भ ने **यत्**=जब **एकं अङ्गम्**=अपने एक अङ्ग को (अङ्गभूत अव्यक्त को) **सहस्रधा अकृणोत्**=हज़ारों प्रकारों में वर्त्तमानकाल में प्रकट किया है, **तत्र**=वहाँ—उस वर्त्तमान में वह **स्कम्भः**=सर्वाधार प्रभु **कियता प्रविवेश**=कितने अंश में प्रविष्ट हुआ है? थोड़े ही अंश में प्रकट हुआ है।

भावार्थ—वे सर्वाधार प्रभु भूत, भविष्यत् व वर्त्तमान काल से अवच्छिन्न नहीं हैं। वे प्रभु तो दिक्कालाद्यनवच्छिन्न ही हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती॥

'लोक, कोश, ब्रह्म, सत् व असत्' का आधार 'स्कम्भ'

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १०॥

१. **यत्र**=जिसके आधार में **लोकान् च**=सब लोकों **च कोशान्**=और सब कोशों तथा **ब्रह्म**=ज्ञान को **आपः जनाः**=आप्त जन—ज्ञानी पुरुष **विदुः**=जानते हैं। **यत्र अन्तः**=जिसके अन्दर **सत् च असत् च**=वह कार्यजगत् व कारणजगत् निहित है, **तम्**=उस ब्रह्म को ही **स्कम्भं ब्रूहि**=स्कम्भ (सर्वाधार) नाम से कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—आप्तजन उस प्रभु को ही सब लोकों, सब कोशों, आवरणों व ज्ञानों का आधार जानते हैं। उसी में ये कार्यजगत् व कारणजगत् आधारित हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती॥

सबका धारक 'ब्रह्माश्रित तप'

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्। ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवः सः॥ ११॥

१. **यत्र**=जिसके आश्रय पर **पराक्रम्य**=पराक्रम करके **तपः**=तप **उत्तरं व्रतं धारयति**=उत्कृष्ट आचरण को धारण करता है, अर्थात् आचरण को उत्कृष्ट बनानेवाले तप का आधार वे प्रभु ही तो हैं **च**=और **यत्र**=जिसमें **ऋतं श्रद्धा च**=ऋत और श्रद्धा **आपः ब्रह्म**=सब जीवगण व ज्ञान **समाहिताः**=एक ही साथ (सम्) स्थापित हैं (आहिताः) **तम्**=उस देव को **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार 'स्कम्भ' कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—सब व्रतों के धारक तप, ऋत, श्रद्धा, सब जीवगण व ज्ञान का धारक वह आनन्दमय 'स्कम्भ' नामक प्रभु ही है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती ॥

'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा अग्नि, चन्द्र, सूर्य व वायु' का आधार 'ब्रह्म'

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।

यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥

१. **यस्मिन्**=जिसमें **भूमिः अन्तरिक्षम्**=भूमि और अन्तरिक्ष तथा **यस्मिन्**=जिसमें **द्यौः**=द्युलोक **अध्याहिता**=स्थापित है। **यत्र**=जिसमें **अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः**=अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु **आर्पिताः तिष्ठन्ति**=समन्तात् अर्पित हुए-हुए स्थित हैं, **तम्**=उसी को **स्कम्भम्**=सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा अग्नि, चन्द्र, सूर्य व वायु' को अपने में स्थापित करनेवाला वह प्रभु ही है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—परोष्णिक् ॥

तेतीस देवों का आधार 'ब्रह्म'

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥

१. **यस्य अङ्गे**=जिसके एक अङ्ग (एक देश) में **सर्वे त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=सब तेतीस देव **समाहिताः**=परस्पर संगतरूप में स्थापित हैं, **तम्**=उस प्रभु को ही **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार 'स्कम्भ' कहो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य व इन्द्र और प्रजापति' इन तेतीस देवों के आधार वे आनन्दमय प्रभु ही हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती ॥

प्रथमजाः ऋषयः, ऋचः, साम, यजुर्मही, एकर्षिः

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही।

एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १४ ॥

१. **यत्र**=जिसके आधार में **प्रथमजाः ऋषयः**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' नामक ऋषि तथा इन ऋषियों को प्राप्त कराई गई **ऋचः सामयजुः मही**=ऋग्वेद की वाणियाँ, यजुरूप वाणियाँ, साम-मन्त्र तथा महनीय अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) ये सब स्थित हैं तथा **एक ऋषिः**=(ऋषिः इन्द्रियम्—नि० १२,३६) अद्वितीय मुख्य इन्द्रिय 'मन' **यस्मिन् आर्पितः**=जिसमें अर्पित हुआ है, **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु का **ब्रूहि**=प्रतिपादन कर। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषि, इनके द्वारा दी जानेवाली 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' वाणियाँ तथा अनुपम इन्द्रिय 'मन' जिसमें अर्पित है, वही सर्वाधार आनन्दमय प्रभु है—'स्कम्भ' है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती ॥

अमृत, मृत्यु, समुद्र

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते।

समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥

१. **यत्र पुरुषे**=जिस परम पुरुष में **अमृतं च मृत्युः च**=अमृत (नीरोगता) तथा मृत्यु **अधिसमाहिते**=आश्रित हैं और **समुद्रः**=यह विशाल अन्तरिक्षस्थ मेघ **यस्य**=जिसके महान् ब्रह्माण्डमय शरीर में **पुरुषे नाड्यः इव**=पुरुष के शरीर में रुधिरभरी नाड़ियों के समान **अधि समाहिताः**=स्थापित हैं, **तम्**=उसी को **स्कम्भम्**=सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वह स्कम्भ ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—वह 'स्कम्भ' प्रभु ही सर्वाधार है। उसी के आधार में 'अमृत, मृत्यु व समुद्र' समाहित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

चतस्त्रः प्रदिशः—यज्ञः

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १६॥

१. **चतस्रः प्रदिशः**=ये चारों विशाल दिशाएँ **यस्य प्रथमाः नाड्यः**=जिसकी मुख्य नाड़ियों के समान **समाहिताः**=समाहित हुई **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं। **यत्र**=जिसमें **यज्ञ**=श्रेष्ठतम कर्म—सृष्टिरूप यज्ञ—**पराक्रान्तः**=उत्कृष्टता से सम्पादित होता है। **तं स्कम्भं ब्रूहि**=उस सर्वाधार का तू प्रतिपादन कर। **सः एव**=वह स्कम्भ ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—उस विराट् पुरुष के शरीर की चार मुख्य नाड़ियों के समान ये चार दिशाएँ हैं। उस प्रभु से ही यज्ञादि उत्तम कर्मों का सम्पादन होता है। वे स्कम्भ नामक प्रभु अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

परमेष्ठी, प्रजापति

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥ १७॥

१. **ये**=जो **पुरुषे**=इस पुरुष-शरीर में **ब्रह्म विदुः**=उस ब्रह्म को जानते हैं, **ते**=वे ही **परमेष्ठिनम्**=परम स्थान में स्थित प्रभु को **विदुः**=वस्तुतः जानते हैं। प्रभु का जब भी दर्शन होगा, हृदय में ही तो होगा। सारे विश्व में उसकी महिमा का प्रकाश होता है, हृदय में प्रभु का दर्शन। **यः**=जो **परमेष्ठिनं वेद**=उस परम स्थान में स्थित प्रभु को **वेद**=जानता है, **च**=और **यः**=जो उसे **प्रजापतिं वेद**=सब प्रजाओं का रक्षक जानता है **ये**=जो उस **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ—सर्वमहान् **ब्राह्मणम्**=ज्ञानपुञ्ज प्रभु को **विदुः**=जानते हैं, **ते**=वे **स्कम्भम्**=उस सर्वाधार को **अनुसंविदुः**=अनुकूलता से जाननेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। वे 'परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ, ज्ञानपुञ्ज व सर्वाधार' हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

शिरः वैश्वानरः, चक्षुः अङ्गिरसः

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १८॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १९॥

१. **यस्य**=जिसका **शिरः**=सिर **वैश्वानरः**=वैश्वानर अग्नि है, **चक्षुः**=आँख ही **अङ्गिरसः**=प्राण ('प्राणो वै अङ्गिराः' श० ६।१।२।२८) **अभवन्**=हो गये हैं। **यस्य अङ्गानि**=जिसके अङ्ग **यातवः**=गतिशील प्राणी हैं। **यस्य**=जिसका **मुखम्**=मुख ही **ब्रह्म**=वेदज्ञान हैं, **उत**=और **जिह्वाम्**=जिह्वा को **मधुकशाम्**=मधुरता से प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी **आहुः**=कहते हैं। **यस्य**=जिसके **ऊधः**=ऊधस् (the bosom) वक्षस्थल को **विराजम्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **आहुः**=कहते हैं। २. **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह—उसी का स्तवन कर। **सः**=वह **एव**=ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के भिन्न-भिन्न अङ्गों के समान है। वे सर्वाधार प्रभु अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

ऋग्, यजु, साम, अथर्व

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाऽङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २०॥

१. **यस्मात्**=जिससे **ऋचः**=ऋचाएँ—विज्ञान-प्रतिपादक मन्त्र—**अपातक्षन्**=बनाये गये, **यस्मात्**= जिससे **यजुः**=यजुर्मन्त्र—कर्मप्रतिपादक मन्त्र **अपाकषन्**=निर्मित हुए। **सामानि**=साम-मन्त्र—उपासना प्रतिपादक मन्त्र **यस्य**=जिसके **लोमानि**=लोम तुल्य हैं, तथा **अथर्व-अङ्गिरसः**= अङ्गिरा ऋषि के हृदय में प्रेरित किये गये अथर्ववेद के मन्त्र **मुखम्**=जिसका मुख है। **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह, उसी का स्तवन कर। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—प्रभु ने 'ऋग्, यजुः, साम' मन्त्रों द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना का प्रतिपादन किया तथा अथर्व-मन्त्रों द्वारा 'कम खाने व कम बोलने' का उपदेश देते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनने का संकेत किया।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

'असत् शाखा' का उपासन

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥ २१॥

१. अदृश्य होने से प्रकृति 'अ-सत्' कहलाती है तथा यह दृश्य जगत् 'सत्' कहा गया है। संसार-वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हैं **'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः'**। इस वृक्ष का मूल वह 'असत्' प्रकृति है। यह अनन्त शाखाओंवाला संसार बड़े दृढ़ मूलवाला है। यह हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित-सा हो जाता है। **प्रतिष्ठन्तीम्**=हृदयों में प्रकर्षेण अपना स्थान बनाती हुई इन **असत् शाखाम्**=प्रकृतिमूलक वृक्ष-शाखाओं को ही **जनाः**=सामान्य लोग **परमं इव विदुः**=सर्वोत्तम-सा जानते हैं। २. **उतो**=और **ये**=जो **शाखाम्**=इस संसारवृक्ष-शाखा की **उपासते**= उपासना करते हैं **ते अवरे**=वे निम्न श्रेणी के लोग इसे ही **सत् मन्यन्ते**=श्रेष्ठ समझते हैं। इसी में उलझे हुए वे जन्म-मरण के चक्र से ऊपर नहीं उठ पाते।

भावार्थ—सामान्य लोग प्रकृति से उत्पन्न इस संसार-वृक्ष को ही 'परम' समझते हैं, इसे ही वे सत्(श्रेष्ठ) मानते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती ॥

आदित्य, रुद्र, वसु

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २२॥

१. **यत्र**=जिसमें **आदित्याः च**=बारह आदित्य देव, **रुद्राः च**=ग्यारह रुद्रदेव **च**=तथा **वसवः**=आठ वसु **समाहिताः**=सम्यक् स्थापित हैं। सब देवों के आधारभूत वे प्रभु ही तो स्कम्भ हैं। **यत्र**=जहाँ **भूतं च भव्यं च**=जो लोक भूतकाल में थे तथा भविष्यत् में होंगे तथा वर्त्तमानकाल में **सर्वे लोकाः**=सब लोक **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं, **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह—स्तवन कर। **सः एव**=वे प्रभु ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

भावार्थ—आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के आधार वे प्रभु ही हैं। कालत्रयी में होनेवाले सब लोक उस प्रभु में ही प्रतिष्ठित हैं। उस सर्वाधार 'स्कम्भ' का ही हम स्तवन करें, वे ही आनन्दस्वरूप हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले' वे प्रभु

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ॥ २३॥

१. **त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=तेतीस देव (बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र व प्रजापति) **यस्य निधिम्**=जिसके द्वारा दी गई निधि (कोश) को **सर्वदा रक्षन्ति**=सदा अपने में रखते हैं **'तेन देवा देवतामग्र आयन्'**=उस प्रभु से ही तो ये सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**=उसी की दीप्ति से तो ये सब दीप्त हो रहे हैं। २. हे **देवाः**=देवो! **यं निधिम्**=जिस निधि को तुम **अभिरक्षथ**=अपने अन्दर रक्षित करते हो, **अद्य**=आज **तम्**=उस (निधिम्) उस निधि को **कः वेद**=कौन पूरा-पूरा जानता है। प्रभु ने एक-एक देव में देवत्व स्थापित किया है। उस देवत्व को ही पूर्णतया जानना कठिन है। संस्थापक के जानने की बात तो दूर रही। इस पृथिवी को भी कौन पूर्णतया जानता है?

भावार्थ—प्रभु ने सब देवों में जिस देवत्व को स्थापित किया है, उसे भी पूर्णतया जानना संभव नहीं। प्रभु तो अज्ञेय हैं ही।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद् देवों के सम्पर्क में

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥ २४॥

१. **यत्र**=जहाँ **देवाः**=देववृत्ति के **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **ब्रह्म**=उस प्रभु को ही **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठरूप में **उपासते**=उपासित करते हैं—प्रभु को ही ज्येष्ठ मानकर पूजित करते हैं, वहाँ **यः**=जो भी **वै**=निश्चय से **तान्**=उन ब्रह्मज्ञानियों को **प्रत्यक्षं विद्यात्**=प्रत्यक्ष जानता है—उनके सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान का श्रवण करता है, **सः**=वह भी **ब्रह्म**=सर्वोत्तम सात्त्विक व्यक्ति बनता है और **वेदिता स्यात्**=ज्ञानी होता है।

भावार्थ—ब्रह्मविद् देव तो ब्रह्म को 'ज्येष्ठ' रूप में उपासित करते ही हैं, उनके सम्पर्क

में आकर उनसे दिये गये ज्ञान का श्रोता भी सात्त्विक व ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव—असत्—स्कम्भ (पर—परतर—परतम)

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

१. **ये**=जो **असतः**=अव्यक्त प्रकृति से **परिजज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए हैं, **ते देवाः**=ये सूर्य, वायु, अग्नि आदि देव भी **बृहन्तः नाम**=निश्चय से बृहत् हैं। इन सूर्य आदि देवों की महिमा भी महान् है। इन देवों का कारणभूत वह **असत्**=अव्याकृत (अदृश्य-सा) प्रधान (प्रकृति) **परः**=इन सब देवों से उत्कृष्ट है। कारणात्मना वह प्रधान इन कार्यभूत सूर्यादि देवों से उत्कृष्ट होना ही चाहिए। **जनाः**=ज्ञानी लोग **तत्**=उस असत् को भी **स्कम्भस्य**=सर्वाधार प्रभु का **एकं अङ्गं आहुः**=एक अङ्ग ही कहते हैं। वह अङ्गी स्कम्भ तो इस अङ्गभूत असत् से कितना ही महान् है, '**त्रिपादूर्ध्वं उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**'।

भावार्थ—सूर्य,वायु, अग्नि देव महान् हैं। इनका कारणभूत 'असत्' (प्रधान=प्रकृति) इनसे पर है। वह असत् भी सर्वाधार प्रभु का एक अङ्ग ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्कम्भ का एक अङ्ग 'पुराण'

यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **स्कम्भः**=वे सर्वाधार प्रभु **प्रजनयन्**=इस सृष्टि की उत्पत्ति के हेतु से **पुराणम्**=प्रवाहरूप से सनातन प्रधान (प्रकृति) को **व्यवर्तयत्**=निवृत्त करते हैं—विविध रूपों में परिवर्तित करते हैं। वहाँ ज्ञानी पुरुष **तत् पुराणम्**=उस सनातन प्रधान को **स्कम्भस्य**=उस सर्वाधार प्रभु का ही **एकं अङ्गम्**=एक अङ्ग **अनुसंविदुः**=अनुसन्धान करते हुए सम्यक् जानते हैं। इस प्रधान (Matter) का भी अन्तिम स्वरूप सामर्थ्य=शक्ति (energy) ही है और यह सामर्थ्य प्रभु का ही तो अङ्ग है—गुण है।

भावार्थ—'प्रकृति' कभी विकृति के रूप में और कभी फिर प्रकृति के रूप में चली आती हुई 'पुराण' (सन्तान) है। प्रभु इसी का विवर्तन करते हुए सृष्टि को जन्म देते हैं। यह पुराण—प्रकृति भी अन्ततः सामर्थ्य के रूप में होती हुई उस प्रभु का ही एक अङ्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महादेव के अङ्गभूत तेतीस देव

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

१. **यस्य अङ्गे**=जिस विराट् पुरुष के शरीर में **त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=तेतीस देव **गात्रा विभेजिरे**=भिन्न-भिन्न अङ्गों का सेवन करते हैं। विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्ग ही ये देव हैं। **तान् त्रयस्त्रिंशद् देवान्**=उसे विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गभूत तेतीस देवों को **एके ब्रह्मविदः**=केवल ब्रह्मज्ञानी लोग ही **वै**=निश्चय से **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—तेतीस देवों के आधारभूत वे चौंतीसवें महादेव हैं। सर्वाधार होने से वे 'स्कम्भ' हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

हिरण्यगर्भ

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः। स्कम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

१. **जनाः**=ज्ञानी लोग **हिरण्यगर्भम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) सम्पूर्ण ज्योति जिसके गर्भ में है, उस प्रभु को **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट व **अनति-उद्यम्**='जिसका स्तवन अत्युक्त हो ही नहीं सकता' ऐसा **विदुः**=जानते हैं। वे प्रभु 'वाचाम् अगोचर' हैं—वाणी का विषय बन ही नहीं सकते। २. वे **स्कम्भः**=सर्वाधार प्रभु **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **तत् हिरण्यम्**=उस ज्योति को **लोके अन्तरा**=इस लोक के अन्दर **प्रासिञ्चत्**=सींचते हैं। 'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' आदि ज्योतियों को वे प्रभु ही तो बनाते हैं। '**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**'।

भावार्थ—प्रभु हिरण्यगर्भ हैं—परम हैं—अनत्युद्य हैं। वे सर्वाधार प्रभु ही इस लोक में सूर्य आदि ज्योतियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'लोकों, तप व ऋत' के आधार प्रभु

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम्॥ २९ ॥

१. **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही **लोकाः**=ये सब लोक आहित हैं। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार में ही **तपः**=तप आहित है—'ऋत व सत्य' के जनक तप के आधार प्रभु ही हैं '**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**'। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही **ऋतम् अधि आहितम्**=ऋत स्थापित है। २. हे **स्कम्भ**=सर्वाधार प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **प्रत्यक्षं वेद**=एक-एक पदार्थ में स्पष्ट जानता हूँ। सब पदार्थों में आपकी ही महिमा दीखती है। **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में ही **सर्वं समाहितम्**=सब समाहित है।

भावार्थ—वे प्रभु ही 'लोकों, तप व ऋत' के आधार हैं। इन्द्र में सब लोक समाहित हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

इन्द्रः स्कम्भ

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम्।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ३० ॥

१. **इन्द्रे लोकाः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में सब लोक आहित हैं। **इन्द्रे तपः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में ही तप की स्थिति है। **इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम्**=उस इन्द्र में ही ऋत स्थापित हुआ है। **इन्द्रं त्वा**=परमैश्वर्यशाली आपको मैं **प्रत्यक्षं वेद**=प्रत्येक पिण्ड में प्रत्यक्ष देखता हूँ—सब पदार्थों में आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है। **स्कम्भम्**=सर्वाधार आपमें ही **सर्वं प्रतिष्ठितम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—प्रभु ही इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। 'लोकों, तप व ऋत' के आधारभूत इन्द्र सचमुच 'स्कम्भ' हैं—सर्वाधार हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—स्कम्भः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—मध्येज्योतिर्जगती ॥

नामस्मरण व स्वराज्य प्राप्ति

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव
स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम्॥ ३१ ॥

१. **सूर्यात् पुरा**=सूर्योदय से पूर्व ही, सूर्योदय से क्या? **उषसः पुरा**=उषाकाल से भी पहले **नाम्ना**='इन्द्र, स्कम्भ' आदि नामों से एक साधक **नाम जोहवीति**=उस शत्रुओं को नमानेवाले प्रभु को पुकारता है। इस 'नाम-जप' से प्रेरणा प्राप्त करके **यत्**=जब **अजः**=सब बुराइयों को क्रियाशीलता द्वारा परे फेंकनेवाला जीव (अज गतिक्षेपणयोः) **प्रथमम्**=उस सर्वाग्रणी व सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) प्रभु के **संबभूव**=साथ होता है, अर्थात् प्रभु से अपना मेल बनाता है, तब **सः**=वह अज **ह**=निश्चय से **स्वराज्यम् इयाय**=स्वराज्य प्राप्त करता है—अपना शासन करनेवाला बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। वह उस स्वराज्य को प्राप्त करता है **यस्मात्**=जिससे **परम्**=बड़ा **अन्यत्**=दूसरा **भूतम्**=पदार्थ **न अस्ति**=नहीं हैं।

भावार्थ—जब एक साधक ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का स्मरण करता है तब वह बुराइयों को दूर करके प्रभु के साथ मेलवाला होता है। यह प्रभु-सम्पर्क इसे इन्द्रियों का स्वामी (न कि दास) बनाता है। यह आत्मशासन—स्वराज्य—सर्वोत्तम वस्तु है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**३२, ३४ उपरिष्टाद्विराड्बृहती, ३३ पराविराडनुष्टुप्**॥

प्रभु का विराट् देह

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३४॥

१. **यस्य**=जिसका **भूमिः**=यह पृथिवी **प्रमा**=पादमूल के समान है—पाँव का प्रमाण है, **उत**=और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **उदरम्**=उदर है, **यः दिवं मूर्धानं चक्रे**=जिसने द्युलोक को अपना मूर्धा (मस्तक) बनाया है। **यस्य**=जिसके **सूर्यः**=सूर्य **च**=और **पुनर्णवः चन्द्रमाः**=फिर-फिर नया होनेवाला यह चन्द्र **चक्षुः**=आँख है। **यः अग्निं आस्यं चक्रे**=जिसने अग्नि को अपना मुख बनाया है। **यस्य वातः प्राणापानौ**=जिसके वायु ही प्राणापान हैं। **अङ्गिरसः चक्षुः अभवन्**=(अङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः—छां० १.२.१०) अङ्गरस ही उसकी आँख हुए। **दिशः यः प्रज्ञानीः चक्रे**=दिशाओं को जिसने प्रकृष्ट ज्ञान का साधन (श्रोत्र) बनाया। २. **तस्मै**=उस **ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**=ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए हम नतमस्तक होते हैं। प्रभु के लिए सूर्योदय से पूर्व सूर्योदय से ही क्या, उषाकाल से भी पूर्व उठकर प्रणाम करना चाहिए। यह प्रभु-नमन ही सब गुणों को धारण के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड उस सर्वाधार प्रभु का देह है। इस ब्रह्माण्ड को वे ही धारण कर रहे हैं। इसके अङ्गों में उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस महिमा को देखता हुआ साधक उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाजगती**॥

सर्वाधार 'स्कम्भ'

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश॥ ३५॥

१. **स्कम्भः**=उस सर्वाधार प्रभु ने ही **इमे उभे द्यावापृथिवी**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण किया हुआ है। **स्कम्भः**=स्कम्भ ने ही **उरु अन्तरिक्षं दाधार**=विशाल अन्तरिक्ष को धारण किया है। **स्कम्भः**=स्कम्भ ने ही **षट् उर्वीः प्रदिशः**=छह बड़ी दिशाओं को **दाधार**=धारण किया है। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु के एकदेश में ही **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। प्रभु इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं—प्रभु की व्याप्ति से ही यह उस-उस दीप्ति को धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु ही द्यावापृथिवी को, विशाल अन्तरिक्ष को तथा छह बड़ी दिशाओं को धारण किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में प्रविष्ट है और प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहा है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

श्रमात्, तपसः (जातः)

यः श्रमात्तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३६ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **श्रमात्**=श्रम से व **तपसः**=तप से **जातः**=प्रादुर्भत होते हैं—जिन्हें श्रम व तप के द्वारा ही हृदयदेश में देखा जा सकता है। वे प्रभु **सर्वान् लोकान् समानशे**=सब लोकों को व्याप्त किये हुए हैं। **यः**=जिन प्रभु ने **सोमम्**=सोमशक्ति के पुञ्ज बननेवाले जीव को—वीर्यरक्षा द्वारा ज्ञानदीप्त जीव को—**केवलं चक्रे**=(क वल्) आनन्द में विचरण करनेवाला, अर्थात् मुक्त किया है। **तस्मै**=उस ज्योष्ठाय **ब्रह्मणे**=ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए **नमः**=हम प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन श्रम व तप से होता है। वैसे वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। ब्रह्मचर्य द्वारा सोम (वीर्य) का पुञ्ज बननेवाले साधक को प्रभु आनन्द में विचरनेवाला करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वातः, मनः, अपः

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥ ३७॥

१. **कथम्**=क्यों **वातः**=वायु **न इलयति**=स्थिर होकर शान्त (keep still, become quite) नहीं होता? **कथम्**=क्योंकर **मनः न रमते**=यह मन कहीं भी स्थिरता से रमता नहीं? **किम् सत्यं प्रेप्सन्तीः**=किस सत्य को प्राप्त करने की कामनावाले हुए-हुए ये **आपः**=जल **कदाचन**=कभी भी **न इलयन्ति**=स्थिर होकर शान्त नहीं होते? २. नितरन्तर चल रही वायु को देखकर जिज्ञासु के हृदय में जिज्ञासा होती है कि वायु किधर भागा चला जा रहा है? इसी प्रकार ये जल किस सत्य की खोज में निरन्तर बहते चल रहे हैं? यह मन भी अन्ततोगत्वा कहाँ रति का अनुभव करेगा? संसार के विषय तो कुछ ही देर बाद उसे निर्विण्ण कर डालते हैं।

भावार्थ—जिज्ञासु को इस निरन्तर बहते वायु व जलों को देखकर उत्कण्ठा होती है कि ये किधर भागे चले जा रहे हैं? मन भी किसी एक स्थान में रति का अनुभव क्यों नहीं करता?

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तपसि क्रान्तं, सलिलस्य पृष्ठे

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परितइव शाखाः॥ ३८॥

१. **भुवनस्य मध्ये**=सारे ब्रह्माण्ड में (ब्रह्माण्ड के अन्दर) वे **महद्यक्षम्**=महान् पूजनीय प्रभु स्थित हैं। सब पिण्डों में ओत-प्रोत सूत्र वे प्रभु ही तो हैं। **तपसि क्रान्तम्**=वे प्रभु तप में सबसे आगे बढ़े हुए हैं—सबको लाँघ गये हैं। वे **सलिलस्य**=(सत् लीनं अस्मिन्) प्रलयकाल में यह सब सत्तावाला जगत् जिसमें लीन हो जाता है, उस प्रधान (महद् ब्रह्म) के **पृष्ठे**=पृष्ठ पर ये प्रभु स्थित हैं—प्रकृति के अधिष्ठाता हैं। **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**। २. **ये उ के च देवाः**=और जो कोई भी देव हैं, वे **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **छ्रयन्ते**=आश्रय करते हैं, इसी प्रकार आश्रय करते हैं **इव**=जैसेकि **वृक्षस्य**=वृक्ष के **स्कन्धः**=तने के **परितः**=चारों ओर **शाखाः**=शाखाएँ आश्रित होती हैं।

भावार्थ—वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड के एक-एक पिण्ड में ओत-प्रोत सूत्र के समान हैं। वे तपोमय प्रभु ही प्रकृति के अधिष्ठाता हैं। उन प्रभु में ही सब देव आधारित हो रहे हैं—उस महान् देव से ही इन्हें देवत्व प्राप्त हो रहा है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती** ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा प्रभु-पूजन

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ३९॥

१. **यस्मै**=जिसके लिए और **यस्मै**=जिसके लिए ही **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **हस्ताभ्याम्**=हाथों से, **पादाभ्याम्**=पावों से **वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा**=वाणी, श्रोत्र व आँख से **सदा**=सदा **बलिम्**=पूजा (worship) को **प्रयच्छन्ति**=प्राप्त कराते हैं, और वस्तुतः इस पूजा के कारण ही देव बन पाते हैं। इन देवों के सब कार्य प्रभु-पूजन के लिए ही होते हैं। जो प्रभु **विमिते**=विविधरूपों में बने हुए इस मित (परिमित) संसार में **अमितम्**=असीम—अपरिमित व अनन्त है, **तम्**=उन्हीं को **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार कहो। **सः एव**=वे ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

भावार्थ—देवपुरुषों की सब अङ्गों से होनेवाली क्रियाएँ प्रभु-पूजन के रूप में होती हैं। इस परिमित संसार में वे अपरिमित प्रभु ही अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**४० अनुष्टुप्, ४१ आर्षीत्रिपदागायत्री** ॥

'सृष्टि व प्रभु' को समझनेवाले में तीन बातें

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ॥ ४०॥
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः॥ ४१॥

१. (क) **तस्य**=उसका **तमः अपहतम्**=अन्धकार सुदूर विनष्ट हो जाता है—उसका अज्ञान विनष्ट होकर उसका जीवन प्रकाशमय हो जाता है। (ख) **सः**=वह **पाप्मना**=पाप से **व्यावृत्तः**=दूर (हटा हुआ) होता है। (ग) **तस्मिन्**=उसमें वे **सर्वाणि**=सब **ज्योतींषि**=ज्योतियाँ होती हैं **यानि त्रीणि**=जो तीन **प्रजापतौ**=प्रजारक्षक प्रभु में हैं। ये ज्योतियाँ इसके जीवन में शरीर के स्वास्थ्य की दीप्ति के रूप में, मन के नैर्मल्य के रूप में तथा मस्तिष्क की ज्ञानज्योति के रूप में प्रकट होती हैं। २. उस व्यक्ति के जीवन में ये ज्योतियाँ प्रकट होती हैं, **यः**=जोकि **सलिले**=(सत् लीनम् अस्मिन्) यह कार्यजगत् जिसमें लीन होकर रहता है, उस प्रकृति में **तिष्ठन्तम्**=स्थित

हुए-हुए **हिरण्ययम्**=इस चमकीले (हिरण्मय) **वेतसम्**=(ऊतं स्यूतं) परस्पर सम्बद्ध लोक-लोकान्तरोंवाले संसार को **वेद**=जानता है और जो यह जानता है कि **सः**=वह **वै**=निश्चय से **प्रजापतिः**=प्रजापालक प्रभु **गुह्यः**=मेरी हृदय-गुहा में ही स्थित है। इसप्रकार जाननेवाला व्यक्ति अन्धकार व पाप से दूर होकर ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति इस चमकीले, परस्पर सम्बद्ध लोक-लोकान्तरोंवाले, प्रकृतिनिष्ठ संसार को जानता है तथा प्रभु को हृदयस्थ रूपेण प्रतीत करता है, वह अन्धकार से ऊपर उठता है, पाप से दूर होता है तथा प्रभु की ज्योतियों को प्राप्त करके 'स्वस्थ, निर्मल व दीप्त' जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विरूपे युवती

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥ ४२॥

१. **एके**=कोई दो **युवती**=एक-दूसरे से नित्य संगत (यु मिश्रणे) **विरूपे**=तमः व प्रकाशमय विरुद्धरूपवाली उषा व रात्रिरूप तरुणियाँ **अभ्याक्रामम्**=बार-बार आ-आ और जा-जाकर **षण्मयूखम्**=छह दिशाओं व छह ऋतुओंवाले विश्वरूप **तन्त्रम्**=जाल को **वयतः**=बुन रही हैं। २. इनमें से **अन्या**=एक उषारूप युवति **तन्तून्**=सूर्यकिरणरूप तन्तुओं को **प्रतिरते**=फैलाती है, **अन्या**=दूसरी रात्रिरूप युवति **धत्ते**=उन सब किरणों को अपने अन्दर समेट लेती है। **न अपवृञ्जाते**=वे दोनों कभी अपने कार्य को नहीं छोड़तीं—विश्राम नहीं लेतीं, **न अन्तं गमातः**=न ही कार्य के अन्त तक पहुँचती हैं। उषा और रात्रि के रूप में यह कालचक्र चलता ही रहता है।

भावार्थ—उषा व रात्रिरूप युवतियों द्वारा छह ऋतुओंवाला कालरूप जाल बुना जा रहा है, निरन्तर बुना जा रहा है—पर यह बुनाई चल ही रही है—इसका कहीं अन्त ही नहीं आता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वयन व उद्गिरण

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद्वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके॥ ४३॥

१. **परिनृत्यन्त्योः इव**=नृत्य-सा करती हुई **तयोः**=उन उषा व रात्रिरूप युवतियों में **यतरा परस्तात्**=कौन-सी परली है—कौन-सी पहले उत्पन्न हुई **अहं न विजानामि**=यह मैं नहीं जानता। इनका तो चक्र न जाने कब से चल ही रहा है। २. **पुमान्**=वह परम पुरुष प्रभु **एनत् वयति**=इस समस्त विश्वजाल को बुनता है, **पुमान् एनत् उत् गृणत्ति**=वह परम पुरुष ही इसे उधेड़ डालता है—इसे निगल लेता है। वह परम पुरुष ही **एनत्**=इसे **नाके अधि विजभार**=सुखमय आश्रय में अथवा आकाश में विहृत करता है—धारण करता है।

भावार्थ—यह उषा व रात्रि का चक्र 'अज्ञेय प्रारम्भ' वाला है। इस विश्वजाल को वे परम पुरुष प्रभु ही बुनते हैं व उधेड़ डालते हैं। वे ही आकाश में इसका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥
पञ्चपदानिचृत्पदपङ्क्तिर्वा (एकावसाना)

मयूखाः—सामानि

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे॥ ४४॥

१. **इमे**=ये **मयूखाः**=ज्ञानरश्मियाँ **दिवं उपतस्तभुः**=मस्तिष्करूप द्युलोक को थामनेवाली बनती हैं। जब साधक प्रभु से रचे हुए इस सृष्टियज्ञ को समझने का प्रयत्न करता है, तब उसका मस्तिष्क धीमे-धीमे ज्ञानरश्मियों से दीप्त हो उठता है। ये ज्ञानी पुरुष **सामानि**=साममन्त्रों द्वारा उपासनाओं को **चक्रुः**=करते हैं। ये साम **तसराणि**=(तस् उपक्षये) सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले होते हैं, तथा **वातवे**=गति द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाले होते हैं (वा गतिगन्धनयोः)।

भावार्थ—साधक लोग ज्ञान द्वारा मस्तिष्क को दीप्त करते हुए उपासना द्वारा सब बुराइयों व दुःखों को दूर करते हैं।

आठवें सूक्त का ऋषि 'कुत्स' है (कुथ हिंसायाम्)—सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला। यह प्रभु-स्मरण करता हुआ ही ऐसा बन पाता है। यह स्तवन करता हुआ कहता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्विराड्बृहती ॥

केवलं स्वः

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १॥

१. **यः**=जो **भूतं च भव्यं च**=भूत में हो चुके और भविष्यत् में होनेवाले **यः च सर्वम्**=और जो वर्त्तमान में विद्यमान सब लोकों का **अधितिष्ठति**=अधिष्ठाता है। **यस्य च स्वः**=और जिसका प्रकाश **केवलम्**=आनन्द में संचरण करानेवाला है, **तस्मै ज्येष्ठाय**=उस सर्वश्रेष्ठ—सर्वमहान् **ब्रह्मणे नमः**=ब्रह्म के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु कालत्रयी में होनेवाले सब लोक-लोकान्तरों के अधिष्ठाता हैं। प्रभु का प्रकाश हमें आनन्द में विचरण कराता है। हम उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—बृहतीगर्भाऽनुष्टुप् ॥

स्कम्भ (ब्रह्म)

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥ २॥

१. प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधारभूत स्कम्भ हैं। उस **स्कम्भेन**=सर्वाधार स्कम्भभूत प्रभु के द्वारा **विष्टभिते**=विशेषरूप से थामे हुए **इमे**=ये **द्यौः च भूमिः च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **तिष्ठतः**=स्थित हैं। **इदम्**=यह **सर्वम्**=सब **आत्मन्वत्**=आत्मावाला, **यत् प्राणत्**=जो प्राण धारण कर रहा है—श्वासोच्छ्वास ले-रहा है (चर) **यत् च निमिषत्**=और जो आँखे बन्द किये हुए पड़ा है, यह सब जगत् **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही आश्रित है।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक को धारण कर रहे हैं। सब प्राणी—यह चराचर जगत्—उस प्रभु के ही आधार में है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गुणातीत की प्रभु के समीप स्थिति

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्नन्या१न्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥ ३॥

१. **तिस्रः प्रजाः**='सात्त्विक, राजस् व तामस्' स्वभाववाली प्रजाएँ ह अति आयम् **आयन्**=निश्चय से अत्यधिक(बारम्बार) आवागमन को प्राप्त होती हैं, परन्तु **अन्याः**=इनसे भिन्न

गुणातीत स्थितिवाली (नित्यसत्त्वस्थ) प्रजाएँ **अर्कम् अभितः नि अविशन्त**=उस पूजनीय प्रभु के समीप स्थित होती हैं। २. वे प्रभु **ह**=निश्चय से **बृहन्**=महान् होते हुए, **रजसः विमानः**=लोकों को विशेष मानपूर्वक बनाते हुए **तस्थौ**=स्थित हैं, वे **हरितः**=सूर्यसम दीप्तिवाले प्रभु **हरिणीः**=समस्त दिशाओं में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं। वस्तुतः उस तेजोदीप्त प्रभु की दीप्ति से ही सब पिण्ड दीप्त होते हैं **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**।

भावार्थ—गुणों से बद्ध प्रजाएँ आवागमन के चक्र में चलती हैं। गुणातीत व्यक्ति प्रभु के समीप स्थित होते हैं। वे महान् प्रभु सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके उनमें स्थित हो रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का कालचक्र

द्वा॒द॑श प्र॒धय॑श्च॒क्रमेकं॒ त्रीणि॒ नभ्या॑नि॒ क उ॒ तच्चि॑केत।
तत्राह॑ता॒स्त्रीणि॑ श॒तानि॑ श॒ङ्कवः॑ ष॒ष्टिश्च॒ खीला॒ अवि॑चाचला॒ ये॥ ४॥

१. प्रभु-निर्मित कालचक्र का **एकं चक्रम्**=संवत्सररूप एक चक्र है। इसकी **द्वादश प्रधयः**=बारह मासरूपी बारह प्रधियाँ (पुट्ठियाँ) हैं। **त्रीणि नभ्यानि**='सरदी, गरमी व वर्षा' रूप तीन ऋतुएँ—इस चक्र में तीन नाभियाँ हैं। **तत् कः उ चिकेत्**=उस कालचक्र के रहस्य को कोई विरला ही जान पाता है। २. **तत्र**=उस कालचक्र में **त्रीणी शतानि**=तीन सौ **शंकवः**=बड़े दिनरूप खूँटे, **च**=तथा **षष्टिः खीलाः**=साठ छोटे दिनरूप कील **आहताः**=जड़े हुए हैं—आहत(लगे हुए) हैं। **ये**=जो शंकु और खील **अ-विचाचलाः**=अकुटिल गतिवाले हैं, सदा ठीक गति से चलनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का बनाया हुआ कालचक्र सचमुच अद्भुत ही है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥,

षड् यमाः—एकः एकजः

इ॒दं स॑वित॒र्वि जा॑नीहि॒ षड्य॒मा एक॑ एक॒जः।
तस्मि॑न्हापि॒त्वमि॑च्छन्ते॒ य ए॑षा॒मेक॑ एक॒जः॥ ५॥

१. हे **सवितः**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवाले जीव! **इदं विजानीहि**=तू यह समझ ले कि **षड्**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—ये छह तो **यमाः**=यम हैं—परस्पर जोड़े के रूप में रहनेवाले हैं। अकेली आँख नहीं देखती, मन से मिलकर ही देखनेवाली बनती है। इसी प्रकार कान आदि भी मन से मिलकर ही अपना कार्य कर पाते हैं। **एकः**=एक आत्मा **एकजः**=अकेला ही शरीर में प्रादुर्भूत हुआ करता है। **'एकः प्रजायते जन्तु एक एव विलीयते'**। २. **यः**=जो यह **एषाम्**=इन्द्रियों आदि में **एकः**=एक जीव **एकजः**=अकेला ही प्रादुर्भूत होनेवाला है, **तस्मिन् ह**=उसमें ही निश्चय से ये इन्द्रियाँ व मन **आपित्वम्**=मित्रता को **इच्छन्ते**=चाहते हैं। उस आत्मतत्त्व की मित्रता में ही इन सबका कार्य चलता है। उसके शरीर को छोड़ते ही ये सब भी शरीर को छोड़ जाते हैं।

भावार्थ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन—ये सब मिलकर ही कार्य करनेवाले हैं। जीव अकेला ही संसार में जन्म लेता है, अकेला ही विलीन होता है। इस 'एकज' आत्मा में ही इन्द्रियाँ व मन मित्रता को चाहते हैं। उसके शरीर में आने पर ये शरीर में आते हैं, उसके छोड़ जाने पर ये भी शरीर को छोड़ जाते हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

जरन्नाम

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम्॥ ६ ॥

१. वह **आविः**=एक-एक पदार्थ में अपनी महिमा से प्रकट होनेवाला, **जरत्**=स्तुति के योग्य, **नाम**=प्रसिद्ध **महत्**=महान् व पूजनीय, **पदम्**=पाने के योग्य (पद गतौ) **सत्**=अविनाशी प्रभु गुहा **निहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थित हैं। २. **तत्र**=उस प्रभु में ही **इदं सर्वम्**=यह सब **आर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। **एजत्**=गति करता हुआ व **प्राणत्**=प्राणों को धारण करता हुआ यह सब प्राणिजगत् (तत्र) **प्रतिष्ठितम्**=उस प्रभु में प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—वे सर्वत्र प्रकट महिमावाले पूज्य प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। उन प्रभु में ये सारा ब्रह्माण्ड व प्राणिजगत् प्रतिष्ठित है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—पराबृहती ॥

एकचक्रं—एकनेमि

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव॥ ७ ॥

१. वे प्रभु **एकचक्रम्**=अद्वितीय कर्त्ता **वर्तते**=हैं। **एकनेमि**=(नेमिः नयनं चालनम्) अद्वितीय संचालनवाले हैं। **सहस्राक्षरम्**=हज़ारों (अक्षर=अक्षय) अविनाशी शक्तियोंवाले हैं। **पुरः**=आगे व **पश्चा**=पीछे **प्र**=प्रकर्षेण **नि**=निश्चयपूर्वक वर्त्तमान हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। ये प्रभु **अर्धेन**=एक अंश से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **भुवनम्**=भुवन को **जजान**=प्रादुर्भूत कर रहे हैं (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) **यत्**=जो **अस्य**=इस अविनाशी प्रभु का **अर्धम्**=समृद्ध (ऋधु वृद्धौ) स्वरूप है **तत् क्व बभूव**=वह कहाँ है? (त्रिपादस्यामृतं दिवि) 'प्रभु का वह समृद्ध स्वरूप किसी अन्य आधार में स्थित हो ऐसी बात नहीं है।'

भावार्थ—वे प्रभु अद्वितीय कर्ता, अद्वितीय संचालक, अनन्तशक्तियोंवाले, आगे-पीछे सर्वत्र हैं। प्रभु के एकदेश में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकट हो रहा है। प्रभु का अपना समृद्धस्वरूप, अन्य आधारवाला न होता हुआ प्रकाशमय है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पञ्चवाही

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः॥ ८ ॥

१. **पञ्चवाही**=पञ्चभूतों से बने हुए संसार का वहन करनेवाले वे प्रभु **अग्रं वहति**=हमें आगे और आगे ले-चलते हैं। **एषाम्**=इन भूतों के **प्रष्टयः**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) जिज्ञासु लोग—ज्ञान को प्राप्त करने की कामनावाले लोग—**युक्ताः**=समाहित हुए-हुए (युज समाधौ) **अनुसंवहन्ति**=उस प्रभु के पीछे-पीछे अपनी जीवन-यात्रा का संवहन करते हैं। २. **अस्य**=इस प्रभु का **अयातम्**=न जाना—शरीर में आना व ठहरना तथा **यातम्**=जाना—शरीर को छोड़ना—**न ददृशे**=नहीं दिखता। वे प्रभु जीव की भाँति शरीर में आते-जाते नहीं रहते। **परं नेदीयः**=वे दूर-से-दूर होते हुए समीप हैं, तथा **अवरं दवीयः**=समीप-से-समीप होते हुए दूर हैं (तद्दूरे तद्वन्तिके दूरात् सुदूरे, तदिहान्तिके च)।

भावार्थ—प्रभु पंचभूतात्मक जगत् का वहन करनेवाले हैं। समाहित जिज्ञासु लोग प्रभु के पीछे-पीछे अपनी यात्रा का संवहन करते हैं। प्रभु जीव की भाँति शरीर में आते-जाते नहीं रहते। वे दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'तिर्यग्बिल ऊर्ध्वबुध्न' चमस

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

१. **तिर्यग्बिलः**=तिरछे मुखवाला तथा **ऊर्ध्वबुध्नः**=ऊपर मूल-(पेंदे Bottom)-वाला **चमसः**=एक पात्र है। (शिर एव अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः—बृ० २।२।३) यह शिर ही वह पात्र है। **तस्मिन्**=उसमें **विश्वरूपं यशः**=नाना रूपवाले यश (An Object of glory) **निहितम्**=रक्खे हैं। (प्राणा वै यशो विश्वरूपम्—बृ० २।२।३) प्राण ही नानारूप यश हैं, वे इस पात्र में रक्खे गये हैं। २. **तत्**=(तत्र) वहाँ उस पात्र में **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखे व मुख **साकम्**=साथ-साथ **आसते**=आसीन होते हैं। दो कान ही 'गौतम-भारद्वाज' हैं, दो आँखें ही 'विश्वामित्र-जमदग्नि' हैं, दो नासिका छिद्र 'वसिष्ठ और कश्यप' हैं तथा मुख 'अत्रि' हैं (बृ २।२।४)। ये वे ऋषि हैं **ये**=जो **अस्य महतः**=इस महनीय देव-मन्दिर के (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) **गोपाः**=रक्षक (पहरेदार) हैं।

भावार्थ—शरीर में शिर 'तिर्यग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न' चमस है। इसमें नाना यशस्वी पदार्थ रक्खे गये हैं। यहाँ 'दो कान, दो आँखें' दो नासिका-छिद्र व मुख' सात ऋषि हैं। ये इस महनीय देव-मन्दिर (शरीर) के रक्षक हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप् ॥

ओ३म्

या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचाम् ॥ १० ॥

१. मैं **त्वा**=आपसे **ताम्**=(ऋचं) उस स्तुत्य वाणी को **पृच्छामि**=पूछता हूँ **या**=जो **पुरस्तात् युज्यते**=मन्त्रों के प्रारम्भ में जोड़ी जाती है (ओम् अभ्यादाने—पा०), **च**=और **या**=जो **पश्चात्**=पीछे—समाप्ति पर भी जुड़ती है (प्रणवष्टेः)। **या**=जो वाणी **विश्वतः युज्यते**=चारों ओर से जुड़ती है, **च**=और **या**=जो **सर्वतः**=सब कालों में (सब प्रकार) जुड़ती है। २. **यया**=जिस वाणी से **यज्ञः**=सब श्रेष्ठ कर्म **प्राङ् तायते**=आगे और आगे विस्तृत किये जाते हैं। **सा**=वह ओमरूप वाणी ही **ऋचाम्**=स्तुत्यवाणियों में **क-तमा**=अतिशयित आनन्द देनेवाली है।

भावार्थ—मन्त्रों के प्रारम्भ में व अन्त में 'ओम्' का उच्चारण होता है। सब ओर, सब कालों में 'ओम्' की ध्वनि ही उपादेय है। सब कार्य 'ओम्' से ही प्रारम्भ करने चाहिएँ। इसी से यज्ञों का प्रारम्भ किया जाता है। यह स्तुत्यवाणियों में अतिशयित आनन्द प्राप्त करानेवाली है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—जगती ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव ॥ ११ ॥

१. **यत् एजति**=जो कम्पित होता है, **पतति**=गतिवाला होता है, **यत् च तिष्ठति**=और जो स्थित होता है, **प्राणत् अप्राणत्**=श्वास लेता हुआ, या न श्वास लेता हुआ है, **यत् च**=और जो **निमिषत् भुवत्**=सदा आँखे मूँदे हुए है, **तत्**=उस सबको, **पृथिवीम्**=इस सम्पूर्ण चराचर पदार्थों की आधारभूत पृथिवी को **दाधार**=वे प्रभु धारण कर रहे हैं—'ओम्' शब्द वाच्य प्रभु ही इस सबके आधार हैं। २. **विश्वरूपं तत्**=वह नानारूपोंवाला ब्रह्माण्ड **संभूय**=उस प्रभु के साथ होकर—उसी के एकदेश में स्थिर होकर—**एकम् एव भवति**=वह एक प्रभु ही हो जाता है। प्रभु-मध्य पतित (स्थित) होने से यह प्रभु के ग्रहण से ही गृहीत होता है—इसकी अलग सत्ता नहीं दिखती। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का यही तो अर्थ है।

भावार्थ—सब प्राणिमात्र व सब पिण्ड प्रभु से धारण किये जा रहे हैं। प्रभु से भिन्न देश में स्थित न होने से ये प्रभु के ग्रहण से ही गृहीत होते हैं—ये सब प्रभु में ही समाये हुए हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुब्गर्भाऽऽर्षीपङ्क्तिः** ॥

नाक—पालः

अनन्तं विततं पुरुत्राऽनन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य॥ १२॥

१. **अनन्तम्**=अनन्त—सीमारहित-सा—परम कारण 'प्रकृति' नामक पदार्थ ही **पुरुत्रा विततम्**=नाना रूपों में—कार्यपदार्थों में फैला हुआ है। **अनन्तम्**=वह अन्तरहित-सा कारणपदार्थ, **च अन्तवत्**=और अन्तवाला सीमायुक्त कार्यपदार्थ—ये दोनों **सम् अन्ते**=एक-दूसरे की सीमा हैं—कार्यकारणभाव के रूप से एक-दूसरे से मिले हुए हैं। २. **अस्य**=इस विश्व के **भूतम्**=अतीत में उत्पन्न हुए-हुए **उत**=और **भव्यम्**=भविष्य में उत्पन्न होनेवाले को **विद्वान्**=जाननेवाला वह **नाकपालः**=मोक्षधाम का भी पालक प्रभु **ते विचिन्वन्**=उन अनन्त और अन्तवाले कारणात्मक व कार्यात्मक जगत् को विविक्तरूप से जानता हुआ **चरति**=सर्वत्र गतिवाला है—और प्रलय के समय इस सबको अपने अन्दर ले-लेनेवाला (खा जानेवाला) है।

भावार्थ—अनन्त-सी प्रकृति इन अन्तवाले कार्य-पदार्थों को जन्म देती है। ये दोनों कारण-कार्य परस्पर सम्बद्ध सीमावाले हैं—जुड़े हुए हैं। वे भूत-भव्य के ज्ञाता प्रभु इनका विवेक करते हुए सर्वत्र गतिवाले हो रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कतमः—केतुः

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ १३॥

१. वह **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **गर्भे अन्तः चरति**=सब पदार्थों के अन्दर गतिवाला है—सबमें व्याप्त है। **अदृश्यमानः**=न देखा जाता हुआ—इन्द्रियों का विषय न होता हुआ वह प्रभु **बहुधा विजायते**=नाना रूपों से प्रादुर्भूत होता है। सूर्य और चन्द्र में वह 'प्रभा' रूप से, अग्नि में 'तेज' रूप से, पृथिवी में 'पुण्यगन्ध' रूप से, जलों में 'रस' रूप से तथा नरों में 'पौरूष' रूप से वही प्रकट हो रहा है। २. वे प्रभु **अर्धेन**=अपने एकदेश में स्थित इस प्रकृति से **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं। **यत्**=जो **अस्य**=इस प्रभु का **अर्धम्**=इस प्रकृति से ऊपर जो समृद्धरूप है **सः**=वह **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय व **केतुः**=प्रकाशमय (A ray of light) है।

भावार्थ—वह प्रभु अदृश्य होते हुए भी प्रत्येक पदार्थ में अपनी महिमा से प्रादुर्भूत हो रहे

हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में जन्म व लयवाला होता है। प्रभु का अपना समृद्धरूप आनन्द व प्रकाशमय है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दृश्य होते हुए भी अदृश्य

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्य१म्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः॥ १४॥

१. **इव**=जैसे **कुम्भेन**=घड़े के द्वारा **उदकं ऊर्ध्वं भरन्तम्**=पानी को ऊपर भरते (खेंचते) हुए **उदहार्यम्**=कहार को **सर्वे**=सब **चक्षुषा पश्यन्ति**=आँख से देखते हैं, इसी प्रकार समुद्ररूप कूएँ से, मेघरूप घड़ों के द्वारा, जल को ऊपर अन्तरिक्ष में पहुँचाते हुए प्रभु को सब आँख से देखते हैं। २. प्रभु अन्तरिक्ष में पानी को ऊपर ले-जा रहे हैं—कितनी अद्भुत उस उदहार्य की महिमा है? परन्तु **सर्वे**=सब **मनसा न विदुः**=मन से उस प्रभु को पूरा जान नहीं पाते। वे प्रभु 'अचिन्त्य' हैं 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योयमविकार्योऽयमुच्यते'। सर्वत्र प्रभु की कृति दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वे प्रभु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वे प्रभु दीखते नहीं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—भूरिग्बृहती ॥

महद् यक्षम्

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ १५॥

१. **दूरे**=दूर-से-दूर होता हुआ भी वह प्रभु **पूर्णेन वसति**=पालन व पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष के साथ रहता है। ज्ञानी पुरुष हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करते हैं। **ऊनेन**=परिहीन शक्तियों व ज्ञानवालों से **दूरे हीयते**=वे प्रभु दूर छोड़े जाते हैं, अर्थात् अज्ञानियों व निर्बलों से वे प्रभु दूर ही होते हैं। २. वे **महद् यक्षम्**=महान् पूजनीय प्रभु **भुवनस्य मध्ये**=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। **तस्मै**=उन प्रभु के लिए **राष्ट्रभृतः बलिं भरन्ति**=राष्ट्र का धारण करनेवाले, अर्थात् केवल अपने लिए न जीनेवाले लोग बलि को—भागधेय को—प्राप्त कराते हैं, अर्थात् अर्जित धन का यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष का ही वे सेवन करते हैं। इसप्रकार ही तो प्रभु का पूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानियों के साथ निवास करते हैं, अज्ञानियों से वे दूर हैं। वे पूज्य प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। यज्ञशील पुरुष ही प्रभु को पूजते व पाते हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्येष्ठं (ब्रह्म)

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन॥ १६॥

१. **यतः**=जिस प्रभु के द्वारा **सूर्यः उदेति**=यह सूर्य उदय को प्राप्त करता है, **यत्र च**=और जिस प्रभु के आधार में ही **अस्तं गच्छति**=अस्त होता है, **तत् एव**=उस प्रभु को ही **अहं ज्येष्ठं मन्ये**=मैं सर्वश्रेष्ठ जानता हूँ, **उ**=और **तत्**=उस ब्रह्म को **किञ्चन न अत्येति**=कुछ भी (कोई भी) लाँघ नहीं पाता।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्योदय व सूर्यास्त के—जगत् की उत्पत्ति व लय के आधार व

मूलकारण हैं। वे प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ हैं—उनसे अतिक्रमण करके कोई भी पदार्थ नहीं है (न तत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः)।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

आदित्य, अग्नि, हंस

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥ १७॥

१. **ये**=जो वेदज्ञ **अर्वाङ्**=इस काल में, **मध्ये**=मध्य में **उत वा**=और **पुराणम्**=पुराण काल में, अर्थात् सदा ही **वेदम्**=ज्ञान को **विद्वांसम्**=जाननेवाले ईश को **अभितः**=चारों ओर अथवा दिन के प्रारम्भ व अन्त में—दिन के दोनों ओर—प्रातः-सायं **वदन्ति**=वर्णित व स्तुत करते हैं, **ते सर्वे**=वे सब **आदित्यम् एव परिवदन्ति**=ज्ञानों का अपने में आदान करनेवाले प्रभु को ही कहते हैं। स्तोता लोग यही कहते हैं कि वे प्रभु सदा ही ज्ञानमय हैं—सम्पूर्ण ज्ञानों का आदान करनेवाले वे प्रभु 'सूर्यसम ज्योति' ही तो हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। २. वे स्तोता उस प्रभु को **द्वितीयम्**=(द्वयोः पूरणः) जीव व प्रकृति दोनों का पूरण करनेवाला और **अग्निम्**=अग्रणी प्रतिपादित करते हैं, **च**=तथा वे प्रभु को **त्रिवृतम्**=(त्रिषु वर्तते) तीनों कालों व तीनों लोकों में सदा सर्वत्र वर्त्तमान **हंसम्**=(हन्ति) पापों का विनाशक कहते हैं। प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु सदा ही ज्ञानस्वरूप हैं। हम प्रातः-सायं प्रभु का इस रूप में स्मरण करें कि वे सब ज्ञानों का अपने में आदान करनेवाले 'आदित्य' हैं, प्रकृति व जीव का पूरण करनेवाले वे प्रभु हमें आगे ले-चलनेवाले 'अग्नि' हैं, सदा सर्वत्र वर्त्तमान वे प्रभु हमें पापों से बचानेवाले—हमारी पापवृत्तियों को नष्ट करनेवाले 'हंस' है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हंस—हरि

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥ १८॥

१. **स्वर्गं पततः**=सदा आनन्दमय लोक में गति करनेवाले—सदा आनन्दस्वरूप—**हंसस्य**=हमारे पापों का नाश करनेवाले और पापनाश द्वारा **हरेः**=दुःखों का हरण करनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **पक्षौ**=सृष्टि निर्माण (दिन) व प्रलय (रात्रि)-रूप दो पक्ष **सहस्राह्ण्यम्**=सहस्र युगपर्यन्त परिणामवाले दिन व रात में **वियतौ**=फैले हुए हैं व विशिष्टरूप से नियमबद्ध हैं (**सहस्रयुग-पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः, रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः**)। २. **सः**=वे प्रभु **सर्वान् देवान्**=तेतीस-के-तेतीस सब देवों को **उरसि उपदद्य**=अपने हृदय में—एकदेश में—ग्रहण करके **विश्वा भुवनानि संपश्यन्**=सब लोकों को सम्यक् देखते हुए—उनका धारण करते हुए (सं दृश् to look-after) **याति**=सर्वत्र प्राप्त होते हैं(या प्रापणे)।

भावार्थ—सदा आनन्दमय लोक में निवास करनेवाले, पापविनाशक, दुःखनिवारक प्रभु के सृष्टि-निर्माण व प्रलयरूप दिन व रात सहस्रयुगों के परिणामवाले हैं। वे प्रभु सब देवों को अपने में धारण करते हुए, सब लोकों को देखते हुए सर्वत्र प्राप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यस्मिन् ज्येष्ठम् अधिश्रितम्

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्॥ १९॥

१. **यस्मिन् ज्येष्ठम् अधिश्रितम्**=जिस उपासक के हृदय में वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु अधिश्रित हुए हैं—निरन्तर ठहरे हैं, वह पुरुष **सत्येन ऊर्ध्वः तपति**=सत्य से ऊँचा उठकर—सत्य के द्वारा उन्नत होकर दीप्त होता है—चमकता है, अर्थात् यह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कभी असत्य नहीं बोलता। यह **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अर्वाङ् विपश्यति**=नीचे (Downword) देखता है—नम्र होता है तथा **प्राणेन**=प्राणशक्ति के द्वारा **तिर्यङ्**=एक छोर से दूसरे छोर तक (Transverse)—सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **प्राणति**=प्रकर्षेण जीवन-शक्तिवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति 'शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न, मन में सत्यपूतात्मा तथा मस्तिष्क में ज्ञानविनीत' होता है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अरणी (दो अरणियाँ)

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वाञ्ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ २०॥

१. **यः**=जो उपासक **वै**=निश्चय से **ते अरणी**=उन दो अरणियों को—स्वदेहरूप अधरारणि तथा प्रणवरूप उत्तरारणि को **विद्यात्**=जानता है, **याभ्याम्**=जिन दो अरणियों के द्वारा **वसु**=सबको बसानेवाला वह प्रभु **निर्मथ्यते**=मथा जाता है—मथकर प्रकाशित किया जाता है। **सः विद्वान्**=वह दोनों अरणियों को जाननेवाला पुरुष ही **ज्येष्ठं मन्येत**=उस सर्वश्रेष्ठ प्रभु का मनन कर पाता है। **सः**=वही **महत्**=महनीय **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञान को—वेदज्ञान को **विद्यात्**=जानता है। २. '**स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥** —श्वेता० १।१४। देह अधरारणि है और प्रणव उत्तरारणि। ध्यान के द्वारा इनका मथन होता है और परमगूढ़ आत्मतत्त्व का दर्शन हुआ करता है।

भावार्थ—हम इस मानव-शरीर को प्राप्त करके प्रणव (ओम्) का मानस जप करें। इसी से पवित्र हुए-हुए हृदय में प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अत्ता चराचरग्रहणात्

अपादग्रे समभवत्सो अग्रे स्व१राभरत्।
चतुष्पाद्भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम्॥ २१॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के पूर्व **सः**=वे परम पुरुष 'प्रभु' **अपात्**=(अ, पद् गतौ) अविशेषरूप—'अमात्र' स्वरूप **सम् अभवत्**=थे। वे प्रभु **अग्रे**=सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व **स्वः आभरत्**=प्रकाशमय रूप को धारण करते थे। २. सृष्टि के होने पर वे प्रभु **चतुष्पात् भूत्वा**='प्रकाशवान्', 'अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् व आयतनवान्' रूप चारों पादोंवाले होकर **भोग्यः**=भोगने में उत्तम वे प्रभु **सर्वं भोजनम् आदत्त**=सारे ब्रह्माण्ड को भोजन के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। '**अत्ता चराचर-ग्रहणात्**'=चर-अचर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में लेने से वे 'अत्ता' कहलाते हैं। इसप्रकार सारे ब्रह्माण्ड को कोई भी अन्य अपना भोजन नहीं बना पाता एवं वे प्रभु 'भोक्ता' हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व प्रभु 'अमात्र' के रूप में हैं। वे प्रकाश का पोषण किये हुए हैं। सृष्टि में वे प्रभु चतुष्पाद् होकर—'प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् व आयतनवान्' होकर सारे ब्राह्माण्ड को भोजन के रूप में लील लेनेवाले सर्वोत्तम भोक्ता हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—पुरउष्णिक्॥

'उत्तरावान् सनातन' देव का उपासन

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु। यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥ २२॥

१. **यः**=जो पुरुष **देवम्**=उस प्रकाशमय **उत्तरावन्तम्**=श्रेष्ठ गुणों की चरम सीमारूप (प्रत्येक गुण absolute निरपेक्षरूप से प्रभु में ही तो है) **सनातनम्**=सदा से विद्यमान प्रभु को **उपासातै**=पूजता है, वह भी **भोग्यः**=उत्तम भोगवाला **भवत्**=होता है, **अथो**=और **बहु अन्नम् अदत्**=बड़े लम्बे काल तक अन्न खानेवाला होता है, अर्थात् सुदीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—'उत्तरावान् सनातन' देव का स्मरण पुरुष को उत्तम भोक्ता व सुदीर्घ काल तक अन्न खानेवाला बनाता है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सनातनः-पुनर्णवः

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥ २३॥

१. **एनम्**=इस प्रभु को **सनातनं आहुः**=सनातन कहते हैं, परन्तु **उत अद्य**=वह तो आज भी **पुनर्णवः**=फिर नये-का-नया ही है। जैसे **अहोरात्रे**=दिन व रात **अन्यः अन्यस्य रूपयोः**=एक-दूसरे के रूपों में से **प्रजायेते**=उत्पन्न होते हैं। २. दिन से रात्रि पैदा होती है और रात्रि से दिन पैदा होता है। ये रात और दिन नित्य नये-ही-नये लगते हैं। इसी प्रकार सनातन भी वे प्रभु नित नये-ही नये हैं।

भावार्थ—सनातन होते हुए भी वे प्रभु नवीन-ही-नवीन हैं। वे कभी जीर्ण नहीं होते।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देवः रोचते एष एतत्

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो रोचत एष एतत्॥ २४॥

१. **अस्मिन्**=इस प्रभु में **शतम्**=सैकड़ों, **सहस्रम्**=हजारों, **न्यर्बुदम्**=लक्षों व **असंख्येयम्**=गणनातीत **स्वम्**=धन **निविष्टम्**=स्थापित है। **अस्य**=इस **अभिपश्यतः एव**=सब ओर देखते हुए प्रभु के **तत्**=इस तेज को ही **घ्नन्ति**=सब सूर्य आदि लोक प्राप्त करते हैं। सूर्य आदि पिण्डों में अपना तेज नहीं, उनमें इस तेज को प्रभु ही स्थापित करते हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। **तस्मात्**=उस कारण से **एतत्**=यह सूर्य आदि चमकता हुआ जो पिण्डमात्र है, **एषः**=यह **देवः रोचते**=प्रकाशमय प्रभु ही चमक रहा है, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारा आदि में प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है।

भावार्थ—उस प्रभु में अनन्त ऐश्वर्य स्थापित है। सब ओर देखते हुए वे प्रभु ही इन सब पिण्डों को दीप्त करते हैं, अतः इन सूर्य आदि पिण्डों में प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

एक अणु, दूसरी अदृश्य-सी तथा तीसरी इनमें व्याप्त (तीन सत्ताएँ)

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ २५॥

१. **एकम्**=एक पुरुष (जीवात्मा) **बालात् अणीयस्कम्**=बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म (अणुपरिमाण) है ('बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते'—श्वे०) **उत**=और **एकम्**=प्रकृति **न इव दृश्यते**=नहीं-सी दिखती—सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्थारूप वह प्रकृति भी अव्यक्त-सी रहती है। २. **ततः**=उन दोनों से भी सूक्ष्मतम **परिष्वजीयसी**=आलिंगन करती हुई—सर्वत्र व्याप्त होती हुई **देवता**=देवता है—प्रभु है। **सा मम प्रिया**=वही मेरी प्रीति का कारण बनती है। जब मैं प्रकृति से ऊपर उठकर उस देवता के सम्पर्क में आता हूँ तब एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—आत्मा बाल से सूक्ष्मतर अणुपरिमाणवाला है। प्रकृति भी आँखों का विषय न बनती हुई अव्यक्त है। इनके अन्दर व्याप्त इनका आलिंगन करनेवाले देवता प्रभु हैं। वे ही मेरी प्रीति का कारण बनते हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप् ॥

मर्त्यस्य गृहे इयं कल्याणी अजरा अमृता

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥ २६॥

१. **इयम्**=यह, गतमन्त्र में वर्णित, 'परिष्वजीयसी' देवता **कल्याणी**=हमारा कल्याण करनेवाली है। **अजरा**=कभी जीर्ण नहीं होती, **मर्त्यस्य**=मरणधर्मा जीव के **गृहे**=इस शरीरगृह में **अ-मृता**=न मरनेवाली है। शरीर में आत्मा के साथ परमात्मा का भी निवास है। शरीर में ममत्व रखनेवाला आत्मा तो 'जन्म-मरण' के चक्र में फँसता है, परन्तु इसमें रहता हुआ भी परमात्मा जन्म-मरण के चक्र से ऊपर है। २. **यस्मै कृता**=जिस जीव के लिए, कर्मफल भोगने के लिए आधार रूप से, यह शरीर-नगरी बनायी जाती है, **सः शये**=वह इसमें ममत्वपूर्वक निवास करता है। **यः चकार**=जो परमात्मा इस नगरी को बनाता है, **सः जजार**=वह स्तुति के योग्य होता है (जृ स्तुतौ)। इस शरीर की रचना में-अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना के कौशल में उस प्रभु की महिमा का अनुभव करता हुआ स्तोता उस प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—शरीर में आत्मा व परमात्मा दोनों का निवास है। आत्मा इसमें रहता हुआ कर्मफल भोगता है। इसका निर्माता प्रभु स्तुति का विषय बनता है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—भुरिग्बृहती ॥

विविधरूपों में

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ २७॥

१. हे जीवात्मन्! **त्वम्**=तू इस शरीर-गृह में निवास करता हुआ **स्त्री**=स्त्री होता है, **त्वं पुमान् असि**=तू ही पुमान् होता है। **त्वं कुमारः**=तू कुमार होता है, **उत वा**=अथवा **कुमारी**=कुमारी के रूप में होता है। इसप्रकार कभी नर व कभी मादा के रूप में जन्म लेता है। २. **त्वम्**=तू ही **जीर्णः**=जीर्णशक्तिवाला होकर **दण्डेन वञ्चसि**=दण्ड के सहारे गतिवाला होता है। **त्वम्**=तू **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ-शरीर को धारण किये हुए—**विश्वतोमुखः भवसि**=सब ओर मुखवाला

होता है। बहिर्मुखी इन्द्रियों से चारों ओर दूर-दूर तक देखनेवाला व विषयों को भोगनेवाला बनता है।

भावार्थ—जीव शरीर में निवास करता हुआ 'पुरुष, स्त्री, कुमार व वृद्ध' के रूपों में होता है। शरीर में रहता हुआ यह चारों ओर दूर-दूर तक देखनेवाला व विषयों का उपभोग करनेवाला बनता है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पिता उत पुत्रः, ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः ॥ २८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर धारण करनेवाला यह जीवात्मा **उत एषां पिता**=इन सन्तानों का कभी तो पिता बनता है, **उत वा**=और निश्चय से **एषाम्**=इन अपने माता-पिताओं का **पुत्रः**=पुत्र होता है। **उत एषां ज्येष्ठः**=कभी तो भाइयों में बड़ा होता है, **उत वा**=अथवा कभी **कनिष्ठः**=छोटा होता है। २. **ह**=निश्चय से **एकः देवः**=वह अद्वितीय प्रकाशमय प्रभु **मनसि प्रविष्टः**=हमारे हृदयों में स्थित है। **प्रथमः जातः**=वह सृष्टि बनने से पहले ही प्रादुर्भूत हुआ-हुआ है **ऊ**=और वर्त्तमान में **सः**=वे प्रभु ही **गर्भे अन्तः**=सब लोक-लोकान्तरों व प्राणियों में प्रविष्ट होकर रह रहे हैं—अन्दर स्थित हुए-हुए सबका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—जीव शरीर में प्रविष्ट होकर कभी पिता है तो कभी पुत्र, कभी ज्येष्ठ है तो कभी कनिष्ठ, परन्तु वे अद्वितीय प्रभु पहले से ही प्रादुर्भूत हैं और वर्त्तमान में वे प्रभु ही सबके अन्दर स्थित होते हुए सब लोक-लोकान्तरों का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पूर्ण प्रभु से पूर्ण सृष्टि का निर्माण

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते ॥ २९ ॥

१. प्रभु पूर्ण हैं—पूर्ण ज्ञानी व पूर्ण शक्तिमान्। उन **पूर्णात्**=पूर्ण प्रभु से **पूर्णम् उदचति**=यह पूर्ण जगत् उद्गत होता है और वह **पूर्णम्**=न्यूनतारहित जगत् **पूर्णेन सिच्यते**=पूर्ण प्रभु के द्वारा सिक्त किया जाता है। **'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'**=महद् ब्रह्म (महत्तत्व को जन्म देनेवाली प्रकृति) प्रभु की योनि है, उसमें प्रभु गर्भ की स्थापना करते हैं। इसी से यह संसार उत्पन्न होता है। २. **उतो**=और निश्चय से **अद्य**=आज हम **तद् विद्याम**=उस प्रभु को जानें **यतः**=जिसके द्वारा **तत्**=वह महद् ब्रह्म **परिषिच्यते**=सिक्त किया जाता है। प्रभु इस संसार के पिता हैं, प्रकृति माता है। प्रभु द्वारा सिक्तवीर्या यह प्रकृति ब्रह्माण्ड को जन्म देती है। 'जन्माद्यस्य यतः' यही तो प्रभु का लक्षण है कि इस जगत् का जन्म आदि जिससे होता है, वे ही प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण हैं, अतः उनका बनाया यह जगत् भी पूर्ण है। प्रकृति में गर्भ धारण करके ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले प्रभु को हम जानें।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

सनत्नी-पुराणी

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥ ३० ॥

१. **एषा**=यह प्रभु-शक्ति **सनत्नी**=(सन् संभक्तौ, नी) सम्भजनशील पुरुषों का प्रणयन (आगे ले-चलना) करनेवाली **सनम् एव जाता**=सदा से ही प्रसिद्ध है। **एषा पुराणी**=यह सनातन काल से चली आ रही शक्ति **सर्वं परिबभूव**=सबको व्याप्त किये हुए है। २. **सा मही**=वह महनीय (पूजनीय) **देवी**= प्रकाशमयी शक्ति **उषसः**=उषाकालों को **विभाती**=प्रकाशित करती हुई **एकेन एकेन मिषता**=प्रत्येक निमेषोन्मेषवाले प्राणी के द्वारा **विचष्टे**=देखती है। सब प्राणियों को दर्शन आदि की शक्ति प्राप्त करानेवाली वह 'सनत्नी पुराणी' शक्ति ही है।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति ही भक्तों का प्रणयन करनेवाली है, यही सबमें व्याप्त हो रही है। यही उषाकालों को प्रकाशित करती है—यही सब प्राणियों को दर्शनादि की शक्ति देती है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अवि

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥ ३१॥

१. वे प्रभु **वै**=निश्चय से **अविः नाम देवता**=(अव रक्षणे) 'रक्षक' इस नामवाली देवता हैं। प्रभु सबके रक्षक हैं, अतः उनका नाम 'अवि' है। ये प्रभु **ऋतेन परीवृता आस्ते**=ऋत से परिवृत हुए-हुए विद्यमान हैं। प्रभु में अनृत सम्भव नहीं। वे सत्यस्वरूप हैं—सत्य ही हैं। २. **तस्याः**=उस ऋत से परिवृत 'अवि' नामवाली देवता के **रूपेण**=सौन्दर्य, प्रकाश (Beauty, elegance, grace) से **इमे वृक्षाः**=ये वृक्ष **हरिताः**=हरे-भरे हैं और **हरितस्रजः**=हरे-भरे पत्तों की मालाओंवाले हैं। वृक्षों को पत्तों द्वारा सौन्दर्य वे प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके रक्षक और सत्यस्वरूप हैं। उसी की कृपा से ये वृक्ष हरे-भरे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का अजरामर काव्य

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति॥ ३२॥

१. **अन्ति सन्तम्**=समीप होते हुए उस प्रभु को **न जहाति**=जीव कभी छोड़ नहीं पाता—प्रभु से दूर होना उसके लिए सम्भव नहीं, साथ ही **अन्ति सन्तम्**=समीप होते हुए उस प्रभु को **न पश्यति**=यह देखता भी नहीं। प्रभु से दूर होना भी सम्भव नहीं और समीप होते हुए भी उसका देखना सम्भव नहीं। २. हे जीव! तू **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु के **काव्यम्**=इस वेदज्ञानरूप काव्य को **पश्य**=देख। यह ज्ञान **न ममार**=न विनष्ट होता है, **न जीर्यति**=न ही जीर्ण होता है। यह ज्ञान सनातन होता हुआ भी सदा नवीन है। यह कभी किसी समय में अनुपयुक्त out of date नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीप हैं, परन्तु हम प्रभु को देख नहीं पाते। प्रभु का यह वेदरूप काव्य अजरामर है। हम इस काव्य को देखने का व्रत लें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदों का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय 'महद् ब्रह्म'

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत्॥ ३३॥

१. **अपूर्वेण**=उस अपूर्व—कारणरहित प्रभु से (सदा से विद्यमान प्रभु से) **वाचः इषिताः**=ये

वेदवाणियाँ प्रेरित की गई हैं। प्रभु ने इन्हें 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिराः' नामक ऋषियों के हृदयों में स्थापित किया है। **ताः**=वे वेदवाणियाँ **यथायथं वदन्ति**=सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान देती हैं—सब पदार्थों का ठीक-ठाक प्रतिपादन करती हैं। २. **वदन्तीः**=सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई ये वेदवाणियाँ **यत्र गच्छन्ति**=अन्ततः जहाँ ये पहुँचती हैं **तत्**=उसी को **महत् ब्राह्मणं आहुः**=महान् ब्राह्मण—महनीय ज्ञानी—ज्ञानस्वरूप प्रभु कहते हैं, अर्थात् इन वाणियों का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय वे प्रभु ही हैं। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** तथा **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**। सब ऋचाएँ अन्ततः प्रभु का ही प्रतिपादन करती हैं।

भावार्थ—अपूर्व प्रभु से प्रेरित ये वेदवाणियाँ सत्यज्ञान देती हुई अन्ततः प्रभु में विश्रान्त होती हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपां पुष्पम्

यत्र देवाश्च मनुष्या३श्चारा नाभाविव श्रिताः।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ ३४॥

१. **यत्र**=जिस प्रभु में **देवाः च मनुष्याः च**=देव और मनुष्य **श्रिताः**=उस प्रकार आश्रित हैं, **इव**=जैसे **नाभौ अराः**=नाभि में आरे प्रतिष्ठित होते हैं। मैं उस **अपां पुष्पम्**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) नर-समूहों का पोषण करनेवाले प्रभु को **त्वा पृच्छामि**=तुझसे पूछता हूँ (शिष्य के नाते आचार्य से पूछता हूँ)। उस प्रभु को पूछता हूँ, **यत्र**=जिनमें **मायया हितम्**=प्रकृति से धारण किया गया **तत्**=वह संसार आश्रित है।

भावार्थ—प्रभु में ही सब देव व मनुष्य आश्रित हैं। वे ही नर-समूहों का पोषण करनेवाले हैं। प्रभु में ही यह माया से धारण किया गया संसार आश्रित है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की दिव्य शक्तियाँ

येभिर्वात इषितः प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिशः सध्रीचीः।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतारः कतमे त आसन्॥ ३५॥

१. **येभिः**=जिन देवों से (प्रभु की दिव्य शक्तियों से) **इषितः**=प्रेरित हुआ-हुआ **वातः प्रवाति**=वायु बहता है। **ये**=जो देव **सध्रीचीः**=साथ मिली हुई **पञ्च**=विस्तृत (पची विस्तारे) **दिशः**=दिशाओं को **ददन्ते**=हमारे लिए प्राप्त कराते हैं, **ये देवाः**=जो देव **आहुतिम्**=यज्ञ में डाली गई आहुति को **अति अमन्यन्त**=अतिशयेन आदृत करते हैं, **ते**=वे **अपां नेतारः**=प्रजाओं का प्रणयन करने-(आगे ले-चलने)-वाले **कतमे आसन्**=कौन-से हैं?

भावार्थ—प्रभु की दिव्य शक्तियाँ ही जीवनभूत वायु को बहाती हैं, वे ही हमारे लिए इन विस्तृत दिशाओं को प्राप्त कराती हैं तथा हमसे यज्ञों में प्रेरित आहुति को आदृत करती हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्नि, वायु, सूर्य'

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके॥ ३६॥

१. **एषां एकः**=इन देवों में से एक 'अग्नि' नामक देव **इमां पृथिवीं वस्ते**=इस पृथिवी को आच्छादित करता है। **एकः**=एक 'वायु' नामक देव **अन्तरिक्षं परि बभूव**=अन्तरिक्ष को

व्याप्त कर रहा है। **एषाम्**=इनमें से एक 'सूर्य' नामक देव **दिवं ददते**=द्युलोक को धारण करता है (दधते), वह सूर्य **यः**=जोकि **विधर्ता**=सब प्रजाओं का धारण करनेवाला है—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'। **एके**=कई चन्द्र-नक्षत्रादि देव **विश्वाः आशाः प्रतिरक्षन्ति**=सब दिशाओं का रक्षण कर रहे हैं। वे देव ही इन सब पिण्डों के अधिष्ठातृदेव कहलाते हैं। इन सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे सर्वमहान् देव ही प्रभु हैं, ब्रह्म हैं।

भावार्थ—'अग्नि' देव पृथिवी का धारण करता है, तो वायुदेव अन्तरिक्ष में व्याप्त हो रहा है। सूर्य द्युलोक का अधिष्ठातृदेव है और यह सब प्राणियों का धारण कर रहा है। इनके अतिरिक्त चन्द्र-नक्षत्रादि देव सब दिशाओं के रक्षण का निमित्त बन रहे हैं। इन सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु की महिमा को हम इन सब देवों में देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूत्रस्य सूत्रम्

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ ३७॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥ ३८॥

१. **यः**=जो उस **विततं सूत्रम्**=फैले हुए सूत्र को **विद्यात्**=जानता है, **यस्मिन्**=जिसमें कि **इमाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **ओताः**=ओत-प्रोत हैं। उस **सूत्रस्य सूत्रम्**=सूत्र के भी सूत्र को—सर्वोपरि सूत्र को—**यः विद्यात्**=जो जानता है, **सः**=वह **महत् ब्राह्मणं विद्यात्**=उस महान् ज्ञानस्वरूप प्रभु को जानता है। वे ब्रह्म ही तो वह सूत्र हैं जिसमें कि सब लोक-लोकान्तर ग्रथित हुए-हुए हैं। २. **अहम्**=मैं उस **विततं सूत्रम्**=फैले हुए सूत्र को **वेद**=जानता हूँ, **यस्मिन्**=जिसमें कि **इमाः प्रजाः ओताः**=ये सब प्रजाएँ ओत-प्रोत हैं। **अथो**=और अब **अहम्**=मैं **सूत्रस्य सूत्रं वेद**=सूत्र के सूत्र को—सर्वोपरि सूत्र को जानता हूँ **यत्**=जोकि **महत् ब्राह्मणम्**=महनीय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं।

भावार्थ—प्रभु वे सूत्र हैं, जिनमें कि ये सब लोक-लोकान्तररूप पिण्ड पिरोये हुए हैं। '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' ऐसा गीता में कहा है। यजुः० ३२.१२ में भी कहते हैं कि '**ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्**' वे प्रभु 'ऋत के फैले हुए तन्तु' ही हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

'प्रदहन् विश्वदाव्यः' अग्निः

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वेवासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥ ३९॥

१. **यत्**=जब **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **प्रदहन्**=प्रकर्षेण सबको भस्म करता हुआ **विश्वदाव्यः**=(दु उपतापे) सम्पूर्ण संसार को उपतप्त करनेवाला **अग्निः ऐत्**=अग्नि गतिवाला होता है। **यत्र**=जहाँ **परस्तात्**=दूर तक ये दिशाएँ **एकपत्नीः अतिष्ठन्**=एक अग्निरूप पतिवाली होकर ही स्थित थीं, अर्थात् जब चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि का राज्य था, **तदानीम्**=उस समय **मातरिश्वा**=वायु व सूत्रात्मा **क्व इव आसीत्**=कहाँ ही था? निश्चय से इसकी स्थिति कहाँ थी? चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि थी, क्या उस समय इस अग्नि में ही इस

मातरिश्वा की स्थिति थी? २. वस्तुतः अग्नि का भी अधिष्ठाता वह सूत्रात्मा ही तो है। अग्नि में हमारे पार्थिव शरीर न रह पाएँगे, परन्तु आत्मतत्त्व उसमें थोड़े ही जल जाता है?

भावार्थ—प्रलयकाल में चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि होकर सब भस्म हो जाता है। उस समय इसका अधिष्ठाता वह सूत्रात्मा ही है, जोकि अवशिष्ट रहता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'बृहन् पवमानः' प्रभु

अप्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॑ प्रवि॑ष्टः॒ प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन्।
बृ॒हन्ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मान॒ः पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥ ४० ॥

१. प्रलय के समय सब कार्यजगत् नष्ट होकर कारणरूप में चला जाता है, यह कारणरूप प्रकृति ही 'आपः' कहलाती है—सर्वत्र एक समान (साम्यावस्था) फैला हुआ तत्त्व। यही 'सलिल' कहलाती है (सत् लीनम् अस्मिन्)—जिसमें यह सब दृश्य (सत्) जगत् लीन हो जाता है। **मातरिश्वा**=वह सूत्रात्मा **अप्सु**=इस एक-समान फैले हुए परमाणुरूप प्रकृतितत्त्व में **प्रविष्टः आसीत्**=प्रविष्ट हुआ-हुआ था। **देवाः**=सूर्य आदि सब देव भी **सलिलानि**=इन सलिलों में ही—कारणभूत परमाणुओं में ही **प्रविष्टाः आसन्**=प्रविष्ट हुए-हुए थे। २. उस समय **ह**=निश्चय से **बृहन्**=महान् प्रभु **ह**=ही **रजसः विमानः**=सब लोकों का वि-मान—कारणरूप में अलग-अलग करनेवाला-(निर्माण से विपरीत विमान करनेवाला) **तस्थौ**=स्थित था। यह **पवमानः**=पवित्रीकरणवाला (सब ब्रह्माण्ड का सफ़ाया कर देनेवाला) प्रभु **हरितः**=सब दिशाओं में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा था। उस समय चारों ओर प्रभु-ही-प्रभु थे—अन्य कोई सत्ता प्रतीत न होती थी।

भावार्थ—प्रलय के समय प्रभु कारणरूप व्यापक परमाणुओं में प्रविष्ट थे। सूर्यादि ये सब देव भी कारणरूप परमाणुओं में चले गये थे। एक प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड का विमान (Dismantling) करते हुए स्थित थे। वे सफ़ाया कर देनेवाले प्रभु ही सब ओर विद्यमान थे।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गायत्री-अमृत-साम

उत्त॑रेणेव गाय॒त्रीम॒मृतेऽधि॒ वि च॑क्रमे।
साम्ना॒ ये साम॑ संवि॒दुर॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व ॥ ४१ ॥

१. जीवन का 'प्रातःसवन' (प्रथम चौबीस वर्ष) गायत्र कहलाता है **'गायत्र वै प्रातःसवनम्'**—ऐत० ६।२। इस सवन में मुख्य कार्य यही है कि (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति का रक्षण किया जाए। यह रक्षण ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस **गायत्रीं उत्तरेण इव**=प्राणशक्ति के रक्षणवाले प्रातःसवन के बाद ही **अमृते**=(अमृतम् इव हि स्वर्गो लोकः—तै० १.३.७.५) स्वर्गलोक में **अधिविचक्रमे**= अधिष्ठातृरूपेण विचरणवाला होता है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ ही स्वर्गलोक है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्राणशक्ति के रक्षण का यह परिणाम होता है कि गृहस्थ स्वर्ग-सा बनता है। नीरोग गृहस्थ ही स्वर्ग है। २. गृहस्थ ही माध्यन्दिन सवन है। इसकी समाप्ति पर वानप्रस्थ व संन्यास ही सायन्तन सवन हैं। यहाँ **साम्ना**=उस पुरुष की उपासना के द्वारा (तमेतम्पुरुषं सामेति छन्दोगा उपासते, एतस्मिन् हीदꣳ सर्वꣳ समानम्—श० १०।५।२।२०) **ये**=जो **साम**=क्षत्र (बल) व साम्राज्य को (क्षत्रं वै साम-श० १२।८।३।२३ साम्राज्यं वै साम) **संविदुः**=सम्यक् जानते व प्राप्त करते हैं, अर्थात् जो प्रभु-उपासन के द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनते हैं और इन्द्रियों के पूर्ण शासक (सम्राट्) बनते हैं, **तत्**=तब यह **अजः**=जन्म न लेनेवाला जीव

क्व ददृशे=कहाँ दीखता है? अर्थात् यह इस देह के छूट जाने पर मुक्त हो जाता है और प्रभु के साथ विचरता है। इस शरीर में न आने से वह आँखों का विषय नहीं बनता।

भावार्थ—हम जीवन के प्रातःसवन में प्राणशक्ति का (वीर्य का) पूर्ण रक्षण करते हुए 'गायत्री' के उपासक बनें तभी गृहस्थ में नीरोग रहते हुए हम इसे 'अमृत' बना पाएँगे और अन्ततः प्रभु के साथ मेल से हम शक्ति व इन्द्रियों के साम्राज्य (शासकत्व) को प्राप्त करके प्रभु के साथ विचरनेवाले बनेंगे—मुक्त हो जाएँगे। उस समय शरीर में न आने से हम दीखेंगे नहीं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—(त्रिपदा) विराड्गायत्री ॥

निवेशनः—सत्यधर्मा

निवेशनः संगमनो वसूनां देवइव सविता सत्यधर्मा।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्॥ ४२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित साधक **निवेशनः**=सबको उत्तम निवेश प्राप्त करानेवाला—सबका आश्रय बनता है। **वसूनां संगमनः**=निवास के लिए आवश्यक धनों का अपने में मेल करनेवाला होता है। यह **सविता देवः इव**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की भाँति होता है—सदा सबको उत्तम प्रेरणा देनेवाला होता है, **सत्यधर्मा**=सत्य को धारण करता है। २. **धनानाम्**=सब धनों का **समरे**=(सम्+अर=ऋ गतौ) संगमन होने पर **इन्द्रः न**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की भाँति **तस्थौ**=स्थित होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सबका आश्रय, धनों का आधार, उत्तम प्रेरणा देनेवाला, सत्य का धारण करनेवाला बनता है। ऐश्वर्यों का संगमन होने पर यह परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पुण्डरीकं नवद्वारम्

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ४३॥

१. **पुण्डरीकम्**=(पुण कर्मणि शुभे) पुण्य कर्म करने का साधनभूत (धर्मैकहेतुम्) **नवद्वारम्**=नौ इन्द्रिय द्वारोंवाला, **त्रिभिः गुणेभिः आवृतम्**='सत्त्व, रजस्, तमस्' नामक तीन गुणों से आवृत्त (आच्छादित) यह शरीर है। **तस्मिन्**=इस शरीर में **यत्**=जो **आत्मन्वत्**=आत्मावाला, अर्थात् जीवात्मा का भी अधिष्ठाता **यक्षम्**=पूजनीय देव है, **तत्**=उस यक्ष को **वै**=निश्चय से **ब्रह्मविदः विदुः**=ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं—उस यक्ष को जाननेवाले ही तो ये ब्रह्मज्ञानी हैं।

भावार्थ—यह नव इन्द्रिय-द्वारोंवाला व सत्त्व, रज, तमरूप गुणों से आवृत्त शरीर पुण्य कर्म करने के लिए दिया गया है। इस शरीर में ही आत्मा का अधिष्ठाता वह पूज्य प्रभु भी स्थित है। ब्रह्मज्ञानी उसे ही जानने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—कुत्सः ॥ देवता—अध्यात्मम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'अजर-धीर-युवा' प्रभु

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ ४४॥

१. ब्रह्मज्ञानी उस प्रभु को इस रूप में जानता है कि वे प्रभु **अकामः**=सब प्रकार की कामनाओं से रहित हैं। वे **धीरः**=(धिया ईर्ते) बुद्धिपूर्वक गतिवाले हैं—उनकी सब कृतियाँ

बुद्धिपूर्वक होने से पूर्ण हैं। वे **अमृतः**=अविनाशी हैं, **स्वयम्भूः**=सदा से स्वयं होनेवाले हैं—उनका कोई कारण नहीं है—वे कारणों के भी कारण हैं। **रसेन तृप्तः**=वे रस से तृप्त हैं—रसरूप हैं 'रसो वै सः'। **कुतश्चन ऊनः न**=किसी भी दृष्टिकोण से न्यून नहीं हैं—वे पूर्ण-ही-पूर्ण हैं। २. **तम्**=उन **धीरम्**=बुद्धिपूर्वक गतिवाले **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले **युवानम्**=नित्य तरुण अथवा बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले **आत्मानम्**=परमात्मा को **विद्वान् एव**=जानता हुआ ही पुरुष **मृत्योः न बिभाय**=मृत्यु से भयभीत नहीं होता—वह जन्ममरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्षलाभ करता है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू, अजर व युवा' हैं। रस से तृप्त व न्यूनता से रहित हैं। उन प्रभु को जानकर मनुष्य मृत्यु-मुख से मुक्त हो जाता है। यह भी 'अकाम, धीर, अजर व युवा' बनने का यत्न करता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शतौदना' वेदवाणी

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः॥ १॥

१. इस सूक्त में वेदवाणी को ही 'शतौदना' कहा है—यह शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को सुख से सिक्त करती है (उन्दी क्लेदने)। इस वेदवाणी को प्राप्त करनेवाला 'अथर्वा'=स्थिर वृत्तिवाला (न थर्व) पुरुष है। यह अथर्वा ही इस सूक्त का ऋषि है। वह वेदवाणी को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **अघायताम्**=पाप की कामनावालों के—दूसरों का अशुभ चाहनेवालों के—**मुखानि अपिनह्य**=मुखों को बाँध दे तथा **सपत्नेषु**=शत्रुओं पर **एतं वज्रं अर्पय**=इस वज्र को अर्पित कर, अर्थात् तेरे अध्ययन से न तो मनुष्य औरों का अशुभ चाहने की वृत्तिवाला होता है और न ही काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का शिकार होता है। २. यह वेदवाणी **इन्द्रेण दत्ता**=उस शत्रुविद्रावक परमैश्वर्यशाली प्रभु से दी गई है। **प्रथमा**=तू (प्रथ विस्तारे) अधिक-से-अधिक शक्तियों के विस्तारवाली है। **शतौदना**=शतवर्षपर्यन्त हमें शक्ति से सिक्त करनेवाली है। **भ्रातृव्यघ्नी**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। यह वेदवाणी **यजमानस्य गातुः**=यज्ञशील पुरुष की मार्गदर्शिका है। यज्ञों का प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी अपने अध्येता को यज्ञों में प्रवृत्त करती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें किसी की भी अशुभकामना से रोकती है, यह हमारे रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करती है। प्रभु इसे सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे लिए देते हैं। यह हमारी शक्तियों का विस्तार करती हुई शतवर्षपर्यन्त हमें सुखों से सिक्त करती है। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञिया वेदवाणी (वेदधेनु)

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु॥ २॥
बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्ट्वघ्न्ये।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने॥ ३॥

१. वेदवाणी को धेनु के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि **ते चर्म**=तेरा चर्म **वेदिः भवतु**=यज्ञ की वेदि बने। **यानि ते लोमानि**=जो तेरे लोम हैं, वे **बर्हिः**=कुशासन हैं। **एषा**=यह जो **रशनाम्**=रज्जु **त्वा अग्रभीत्**=तुझे ग्रहण करती है—बाँधती है, यह **ग्रावा**=स्तत्रों का उच्चारण करनेवाला स्तोता है। **एषः**=यह स्तोता **त्वा अधिनृत्यतु**=तुझपर नृत्य करनेवाला हो। वेदाध्ययन ही इसका यज्ञ है—इस यज्ञ में वह आनन्द लेनेवाला हो। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदधेनो! **ते बालाः**=तेरे बाल **प्रोक्षणीः सन्तु**=यज्ञवेदि के शोधन-जल हों। **जिह्वा**=तेरी जिह्वा **संमार्ष्टु**=सम्यक् शोधन करनेवाली हो। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवन को सुखों से सींचनेवाली वेदवाणि! **त्वम्**=तू **शुद्धा**=शुद्ध व **यज्ञिया भूत्वा**=यज्ञ के योग्य व यज्ञशीला होकर **दिवं प्रेहि**=प्रकाशमय स्वर्गलोक को प्राप्त कर। वेदाध्ययन करनेवाला पुरुष अपने जीवन को शुद्ध व यज्ञशील बनाकर स्वर्ग को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन को यज्ञ ही समझना चाहिए। इसमें कभी विच्छेद न करते हुए हम अपने जीवनों को शुद्ध व यज्ञिय बनाकर अपने घरों को स्वर्गोपम बनाने में समर्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कामप्रेण स कल्पते

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।
प्रीता ह्य॑स्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम्॥ ४॥

१. **यः**=जो **शतौदनाम्**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को सुखों से सिक्त करनेवाली वेदवाणी को **पचति**= परिपक्व करता है, अर्थात् वेदवाणी से अपने ज्ञान को परिपक्व करता है, तो **सः**=वह **कामप्रेण**=(प्रा पूरणे) कामनाओं को पूर्ण करनेवाले व्यवहार से **कल्पते**=समर्थ होता है। ज्ञान के परिपाक से इसके कार्यों में इसे सफलता प्राप्त होती है। २. **अस्य**=इस परिपक्व ज्ञानवाले व्यक्ति के प्रति **हि**=निश्चय से **ऋत्विजः**=सब यज्ञ करनेवाले ऋत्विज् **प्रीताः**=प्रसन्न व प्रीतिवाले होते हैं। इसे **सर्वे**=सब ऋत्विज् **यथायथम्**=ठीक-ठाक **यन्ति**=प्राप्त होते हैं। यह ऋत्विजों का प्रिय व प्राप्य होता है।

भावार्थ—जो इस शतौदना (शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्दसिक्त करनेवाली) वेदवाणी का अपने में पचन करता है, वह सफल मनोरथ होता है और यज्ञशील पुरुषों के साथ उसका मेल होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपूपनाभिं कृत्वा

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः। अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥ ५॥

१. **यः**=जो **अपूपनाभिं कृत्वा**=(इन्द्रियम् अपूपः—ऐ० २।१४, णह बन्धने) इन्द्रियों को बाँधकर (देशबन्धः चित्तस्य धारणा)—इन्द्रियों व मन को हृदयदेश में बाँधकर—**शतौदनाम्**=इस शतवर्षपर्यन्त आनन्दसिक्त करनेवाली वेदवाणी को **ददाति**=औरों के लिए प्राप्त कराता है, अर्थात् जो स्वाध्याय-प्रवचन को ही अपना ध्येय बना लेता है, **सः**=वह उस **स्वर्गं आरोहति**=स्वर्ग में आरोहण करता है, **यत्र**=जहाँ कि **दिवः**=ज्ञान की ज्योति से **अदः त्रिदिवम्**=वे 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' (पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक) तीनों ही प्रकाशमय—तेजोदीप्त—हैं।

भावार्थ—'स्वाध्याय और प्रवचन'—मनुष्यों को सब प्रकार की आसक्तियों से ऊपर उठाकर इन्हें 'तेजस्वी शरीर, पवित्र हृदय व दीप्त मस्तिष्क' वाला बनाता है, अतः हमें जितेन्द्रिय बनकर स्वाध्याय-प्रवचन को ही अपना मुख्य कार्य बनाना चाहिए।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—शतौदना ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

हिरण्यज्योतिषं कृत्वा

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥ ६॥

१. **यः हिरण्यज्योतिषं कृत्वा**=जो हितरमणीय ज्योति (वेदज्ञान) का सम्पादन करके—इस ज्योति को आचार्यकुल में प्राप्त करके—इस **शतौदनाम् ददाति**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली वेदवाणी को औरों के लिए देता है—प्रवचन द्वारा औरों के लिए इसका ज्ञान प्राप्त कराता है। **सः**=वह **तान्**=उन सब **लोकान् समाप्नोति**=लोकों को सम्यक् प्राप्त करता है, ये **दिव्याः**=जो दिव्य हैं **ये च**=और जो **पार्थिवाः**=पार्थिव हैं। हृदयान्तरिक्ष व मस्तिष्क ही दिव्यलोक हैं तथा शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही पार्थिवलोक हैं। इन सबको वह 'तेजस्विता, पवित्रता व दीप्ति' वाला बनाने में सफल होता है।

भावार्थ—इस 'हितरमणीय ज्योतिवाली, जीवन को सदा आनन्दसिक्त करनेवाली' वेदवाणी का स्वाध्याय-प्रवचन हमें दीप्त 'दिव्य व पार्थिव' लोकोंवाला बनाता है—इससे हमारा शरीर तेजस्वी, मन ओजस्वी व मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—शतौदना ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शमितारः+पक्तारः

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने॥ ७॥

१. हे **देवि**=प्रकाशमयी शतौदने वेदवाणि! **ये ते शमितारः**=(शम् आलोचने) जो नियमपूर्वक तेरा आलोचन करनेवाले—ज्ञान प्राप्त करनेवाले पुरुष हैं, **च**=और **ये जनाः**=जो मनुष्य **ते पक्तारः**=अपने में तेरा परिपाक करनेवाले आचार्य (भृगु) हैं, **ते सर्वे**=वे सब शिष्य और आचार्य **त्वा**=तेरा **गोप्स्यन्ति**=रक्षण करेंगे। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्दसिक्त करनेवाली वेदवाणि! तू **एभ्यः मा भैषीः**=इनसे भयभीत न हो। इनके होते हुए तेरे विनाश (विलोप) का किसी प्रकार भी भय नहीं।

भावार्थ—जब आचार्यकुल में रहते हुए विद्यार्थी, परिपक्व ज्ञानवाले आचार्यों से इस वेदज्ञान का ग्रहण करते हुए इसका आलोचन करते हैं तब इस वेदज्ञान के शमन (आलोचन) व पचन से इसके विलोप का भय नहीं होता।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—शतौदना ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अग्निष्टोमम् अतिद्रव

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा।
आदित्याः पश्चाद्गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव॥ ८॥

१. शतौदना वशा—शतवर्षपर्यन्त ज्ञानदुग्ध से हमारा सेचन करनेवाली वेदधेनु से कहते हैं कि **वसवः**=वसु ब्रह्मचारी—प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करनेवाले—Natural science का अध्ययन करनेवाले ये ब्रह्मचारी **दक्षिणतः**=दक्षिण की ओर से **त्वा गोप्स्यन्ति**=तेरा रक्षण करेंगे। **उत्तरात्**=उत्तर से **मरुतः**=(मितराविणः=महद् द्रवन्ति—नि० ११।१३) मपा-तुला बोलनेवाले, खूब क्रियाशील व्यक्ति **त्वा** (गोप्स्यन्ति)=तुझे रक्षित करेंगे तथा **आदित्याः**=प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी **पश्चात्**=पीछे से—पश्चिम से तेरा रक्षण करेंगे।

इसप्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर से रक्षित हुई-हुई **सा**=वह तू **अग्निष्टोमम्**=(अग्नेः स्तोमो यस्य) उस प्रभु का स्तवन करनेवाले की ओर **अतिद्रव**=अतिशयेन गतिवाली हो।

भावार्थ—इस वेदधेनु को वसु, मरुत् व आदित्य रक्षित कर रहे हैं। इनसे रक्षित हुई-हुई यह वेदधेनु प्रभु के स्तोता को अतिशयेन प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिरात्रम् अतिद्रव

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव॥ ९॥

१. **देवाः**=काम, क्रोध आदि आसुरभावों को जीतने की कामनावाले, **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग, **मनुष्याः**=विचारपूर्वक कार्यों को करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति), **ये च**=और जो **गन्धर्वाप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु—कर्मसु सरन्ति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले यज्ञशील लोग हैं, **ते सर्वे**=वे सब **त्वा गोप्स्यन्ति**=हे वेदधेनो! तेरा रक्षण करेंगे। वस्तुतः वेदज्ञान को अपनाने से ही वे 'देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व व अप्सरस्' बनते हैं। **सा**=वह तू **अतिरात्रम्**=(रा दाने) अतिशयेन दानशील पुरुष को **अतिद्रव**=शीघ्रता से प्राप्त हो। दानशील और अतएव विलास में न फँसे हुए व्यक्ति को यह वेदवाणी प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदवाणी के रक्षक 'देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व व अप्सरस्' हैं। यह दानशील—विषयों में अनासक्त पुरुष को प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतौदना के दान से सर्वलोकाप्ति

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान्मरुतो दिशः।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम्॥ १०॥

१. **यः**=जो **शतौदनाम्**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली इस वेदवाणी को **ददाति**=देता है, **सः**=वह **अन्तरिक्षं दिवं भूमिम्**=अन्तरिक्ष, द्युलोक व पृथिवी को, **आदित्यान्**=आदित्यों को **मरुतः दिशः**=वायु व दिशाओं को और संक्षेप में **सर्वान् लोकान्**=सब लोकों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् वेदवाणी का आलोचन व परिपाक करने के अनन्तर जो इस वेदवाणी को औरों के लिए देनेवाला बनता है, वह सब लोकों को अपने अनुकूल करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान में अपने को परिपक्व करके इसका देनेवाला—औरों के लिए इसे प्राप्त करानेवाला सब लोकों को अपना पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतं प्रोक्षन्ती

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान्गमिष्यति।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने॥ ११॥

१. **घृतं प्रोक्षन्ती**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को आनन्दसिक्त करनेवाली यह वेदवाणी हमारे जीवनों में (घृ क्षरणदीप्त्योः) दीप्ति का सेचन करती है, **सुभगा**=यह उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाली **देवी**=प्रकाशमयी-काम-क्रोध को जीतने की कामनावाली वेदवाणी **देवान् गमिष्यति**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होगी। काम-क्रोध को परास्त करनेवाले पुरुष ही इसे प्राप्त

करने के अधिकारी होते हैं। २. हे **शतौदने**=आजीवन आनन्दित करनेवाली **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! **पक्तारं मा हिंसीः**=तेरा परिपाक करनेवाले व्यक्तियों को मत हिंसित कर—तेरा पाक करनेवाले व्यक्ति हिंसित न हों (वेद एव हतो हन्ति)। यह वाणी अघ्न्या है—हम इसका हनन न करेंगे तो यह भी हमें हिंसित होने से बचाएगी। हे शतौदने! तू **दिवं प्रेहि**=प्रकाश व आनन्द (द्युति=मोद) को प्राप्त कर—तू आनन्द को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—वेदवाणी प्रकाशमयी है। यह हमारे जीवनों को ज्ञानसिक्त करती है, सौभाग्यसम्पन्न बनाती है। यह देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होती है। जो भी अपने में इसका परिपाक करते हैं, उनका हिंसन न होने देती हुई यह उन्हें ज्योति व आनन्द प्राप्त कराती है

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

क्षीर, सर्पि, मधु

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १२॥

१. **ये देवाः**=जो देव **दिविषदः**=द्युलोक में आसीन हैं, **ये च अन्तरिक्षसदः**=और जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं, **ये च इमे**=और जो ये **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर हैं (ये देवा दिव्येकादश स्थ, ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ, ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ—अथर्व० १९।२७।११-१३) **तेभ्यः**=उनके लिए **त्वम्**=तू **सर्वदा**=सदा **क्षीरं सर्पिः अथो मधु**=दूध, घी व शहद को **धुक्ष्व**=प्रपूरित कर। हमारा मस्तिष्क ही द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्षलोक है तथा शरीर पृथिवीलोक है। बाहर के सब देव शरीर में आकर स्थित हुए हैं **'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते'**। इन सब देवों के लिए यह वेदवाणी क्षीर, सर्पि व मधु के प्रयोग का उपदेश करती है। इनका प्रयोग इन सब देवों को सशक्त बनाये रखता है।

भावार्थ—'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्' इस वेदनिर्देश के अनुसार दूध व रस आदि का ही प्रयोग शरीरस्थ सब देवों (इन्द्रियों) को सशक्त बनाये रखता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आमिक्षा, क्षीर, सर्पि, मधु

यत्ते शिरो यत्ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १३॥
यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १४॥
यत्ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत्सहकण्ठिका।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १५॥
यत्ते यकृद्ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १७॥

१. हे वेदधेनो! **यत् ते शिरः**=जो तेरा सिर है, **यत् ते मुखम्**=जो तेरा मुख है, **यौ कर्णौ**=जो कान हैं, **ये च ते हनू**=और जो तेरे जबड़े हैं। इसी प्रकार **यौ ते ओष्ठौ**=जो तेरे ओष्ठ हैं, ये

नासिके=जो नासाछिद्र हैं, **ये शृङ्गे**=जो सींग हैं, **ये च ते अक्षिणी**=जो तेरी आँखें हैं। **यत् ते क्लोमा**=जो तेरा फेफड़ा है **यत् हृदयम्**=जो हृदय है, **सहकण्ठिका पुरीतत्**=कण्ठ के साथ मल की बड़ी आँत है, **यत् ते यकृत्**=जो तेरा कलेजा है, **ये मतस्ने**=जो गुर्दे हैं, **यत् आन्त्रम्**=जो आँत है, **याः च ते गुदा**=और जो तेरी मलत्याग करनेवाली नाडियाँ हैं। **यः ते प्लाशिः**=जो तेरी अन्न की आधारभूत आँत है, **यः वनिष्ठुः**=जो अन्तःरक्त को बाँटनेवाली आँत है, **यौ कुक्षी**=जो कुक्षिप्रदेश हैं, **यत् च ते चर्म**=और जो तेरी चमड़ी है, २. ये सब-के-सब अवयव अर्थात् भिन्न-भिन्न लोक-लोकान्तरों व पदार्थों का ज्ञान **दात्रे**=तेरे प्रति अपने को देनेवाले के लिए (दा दाने) वासनाओं का विनाश करनेवाले के लिए (दाप् लवने) और इसप्रकार अपने जीवन को शुद्ध बनानेवाले के लिए (दैप् शोधने) **आमिक्षाम्**=(तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा भवति) गर्म दूध में दही के मिश्रण से उत्पन्न पदार्थ को **क्षीरः सर्पिः अथो मधु**=दूध, घृत व शहद को **दुह्नताम्**=दूहें—प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारे लिए 'आमिक्षा-सर्पि, क्षीर व मधु' को प्राप्त कराता है, अर्थात् हमें इनके प्रयोग के लिए प्रेरित करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेदज्ञान व सात्त्विक अन्न

यत्ते॑ म॒ज्जा यद॒स्थि यन्मां॒सं यच्च॒ लोहि॑तम्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ १८॥
यौ ते॑ बा॒हू ये दो॒षणी॒ यावंसौ॒ या च॑ ते क॒कुत्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ १९॥
यास्ते॑ ग्री॒वा ये स्क॒न्धा याः पृष्टी॒र्याश्च॒ पर्श॑वः।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ २०॥
यौ त॑ ऊ॒रू अ॑ष्ठी॒वन्तौ॒ ये श्रोणी॒ या च॑ ते भ॒सत्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ २१॥
यत्ते॒ पुच्छं॒ ये ते॒ बाला॒ यदूधो॒ ये च॑ ते॒ स्तना॑ः।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ २२॥
यास्ते॒ जङ्घा॒ याः कुष्ठि॑का ऋ॒च्छरा॒ ये च॑ ते श॒फाः॥
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ २३॥
यत्ते॒ चर्म॑ शतौद॒ने यानि॒ लोमा॑न्यघ्न्ये।
आ॒मिक्षां॑ दुह्नतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॒ मधु॑॥ २४॥

१. **यत् ते मज्जा**=जो तेरी मज्जा (अस्थि की मींग) है, **यत् अस्थि**=जो हड्डी है, **यत् मांसम्**=जो मांस है **यत् च लोहितम्**=और जो रुधिर है। **यौ ते बाहू**=जो तेरी भुजाएँ हैं, **ये दोषणी**=जो भुजा के उपरले भाग हैं, **यौ अंसौ**=जो कन्धे है, **या च ते ककुत्**=और जो तेरा कुहान है। **याः ते ग्रीवाः**=जो तेरी गर्दन की हड्डियाँ हैं, **ये स्कन्धाः**=जो तेरे कन्धों की हड्डियाँ हैं, **याः पृष्टीः**=जो पीठ की हड्डियाँ हैं, **याः च पर्शवः**=और जो पसलियाँ हैं। **यौ ते उरू**=जो तेरी जाँघे हैं, **अष्ठीवन्तौ**=जो घुटने हैं, **ये श्रोणी**=जो कूल्हे हैं, **या च ते भसत्**=जो तेरा पेड़ू है, **यत् ते पुच्छम्**=जो तेरी पूँछ है, **ये ते बालाः**=जो तेरे बाल हैं, **यत् ऊधः**=जो तेरा दुग्धाशय

है, **ये च ते स्तनाः**=और जो तेरे स्तन हैं। **याः ते जंघाः**=जो तेरी जाँघें है, **याः कुष्ठिकाः**=जो कुष्ठिकाएँ हैं—खुट्टियाँ हैं (The mouth or openings), छिद्र हैं, **ऋच्छराः**=खुट्टों के ऊपर के भाग (कलाइयाँ) हैं, **ये च ते शफाः**=और जो तेरे खुर हैं। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को आनन्दसिक्त करनेवाली वेदधेनो! **यत् ते चर्म**=जो तेरा चाम है और हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदधेनो! **यानि लोमानि**=जो तेरे लोम हैं। २. ये सब, अर्थात् सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान **दात्रे**=तेरे प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **आमिक्षाम्**=श्रीखण्ड को, **क्षीरम्**=दूध को, **सर्पिः**=घृत को **अथो मधु**=और मधु को **दुह्रताम्**=प्रपूरित करें।

भावार्थ—वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करते हुए हम 'आमिक्षा, क्षीर, सर्पि व मधु' जैसे उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्**॥

यज्ञ व स्वर्गलोक

क्रोडौ तें स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह॥ २५॥

१. हे शतौदने! **ते क्रोडौ**=तेरे दोनों पार्श्वभाग (गोद) **पुरोडाशौ स्ताम्**=पुरोडाश हों—(The sacrificial oblation made of ground rice, leaving of an oblation) यज्ञिय आहुतियाँ बनें। जो यज्ञिय आहुतियाँ **आज्येन अभिघारितौ**=घृत से सिक्त हैं (Sprinkle over, moisten) हम तेरा अध्ययन करते हुए तेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञों को करनेवाले बनें। प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए हुतशेष को ही खानेवाले बनें। **'अग्निहोत्रसमो विधिः'**—प्रातः-सायं यज्ञ करके यज्ञशेष को ही सदा भोजन के रूप में ग्रहण करें। २. हे **देवि**=प्रकाशमयी वेदवाणि! तू **तौ**=उन दोनों पुरोडाशों को **पक्षौ कृत्वा**=पक्ष (पंख) बनाकर **सा**=वह तू **पक्तारम्**=यज्ञिय हवि का परिपाक करनेवाले इस व्यक्ति को **दिवं वह**=प्रकाशमय स्वर्गलोक में प्राप्त करानेवाली बन। मुण्डकोपनिषत् १.२.४-६ में यही भाव इस रूप में दिया गया है कि **'काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा॥ एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥'** अर्थात् जो अग्नि-जिह्वाओं में यथासमय आहुतियाँ प्राप्त कराता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्यरश्मियों द्वारा ब्रह्मलोक में ले-जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रातः-सायं यज्ञ में दी जानेवाली आहुतियाँ ही वेदधेनु के दो पार्श्वभाग (गोद) हैं। ये आहुतियाँ ही ज्ञानपरिपक्व यजमान को स्वर्ग में प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पञ्चपदाबृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भाजगती**॥

एक-एक कण यज्ञार्पित हो

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २६॥

१. **यः तण्डुलः कणः**=जो चावल का कण **उलूखले**=ऊखल में, **मुसले**=मूसल में **च**=और **यः चर्मणि**=मृगछाला पर (चर्मासन पर), **यः वा शूर्पे**=या जो छाज में है, **वा**=अथवा **यम्**=जिसको **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष में गतिवाले **पवमानः**=पवित्र करनेवाले **वातः**=वायु ने **ममाथ**=मथा है—विलोडित किया (Turn up and down) **तत्**=उसे यह **होता**=(यज्ञाद् भवति

पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः) सब अन्नों को पर्जन्यों द्वारा प्राप्त करानेवाला **अग्निः**=यज्ञाग्नि **सुहुतं कृणोतु**=सम्यक् हुत करे।

भावार्थ—हम एक-एक तण्डुल-कण (धान्य-कण) को यज्ञ के लिए अर्पित करें। सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजागताऽनुष्टुब्गर्भाशक्वरी**॥

'दिवा-मधुर-दीप्त' जीवन

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २७॥

१. **ब्रह्मणां हस्तेषु**=ज्ञानियों के हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग स्थित इन **देवीः**=प्रकाशमयी, **मधुमतीः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति को हममें सिक्त करनेवाली **अपः**=ज्ञानजल की धाराओं को **प्रसादयामि**=मैं अपने में प्रकर्षेण स्थापित करता हूँ। मैं ज्ञानियों से इन ज्ञानों को प्राप्त करता हूँ। २. **यत् कामः**=जिस कामनावाला **अहम्**=मैं, हे ज्ञानजलो! **वः**=आपको **इदम्**=(इदानीम्) अब **अभिषिञ्चामि**=सिक्त करता हूँ, **तत् मे सर्वं संपद्यताम्**=वह मेरी सब कामनाएँ सिद्ध हों। **वयम्**=हम सब **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी बनें, कभी धनों के दास न बन जाएँ। हमारे जीवन में धन साधनरूप से हो—न कि साध्यरूप से।

भावार्थ—हम ज्ञानियों से ज्ञानजलों को अपने में स्थापित करने का प्रयत्न करें। ये ज्ञानजल हमारे जीवनों को दिव्य, मधुर व दीप्त बनाते हैं। हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं और हम धनों के स्वामी बनते हैं, न कि धनों के दास। वेदाध्ययन से योगविभूतियों के स्वामी बनें।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

वेदधेनु के 'बालों, शफों व रूप' के लिए नमन

नमस्ते जायमानायै जातायां उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः॥ १॥

१. इस सूक्त का ऋषि कश्यप है—पश्यक—द्रष्टा, जो वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान का दर्शन करता है। 'वशा' इस सूक्त का देवता है—गौ, वेदधेनु। यह वेदधेनु हमारे लिए वाञ्छनीय (वश् wish) ज्ञान प्राप्त कराती है। हे वेदधेनो! **जायमानायै**=प्रभु से प्रादुर्भूत होती हुई **ते**=तेरे लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **उत**=और **जातायै**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में प्रादुर्भूत हुई-हुई **ते नमः**=तेरे लिए हम नमस्कार करते हैं। 'यह वेदज्ञान प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से उच्चरित होता है '**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्**'। इस वेदज्ञान को अग्नि आदि ऋषि सुनते हैं। 'पूर्वे चत्वारः' सबसे प्रथम के चार व्यक्तियों के हृदयों में प्रभु द्वारा यह स्थापित होता है। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये—कभी हनन न करने योग्य प्रतिदिन स्वाध्याय के योग्य वेदधेनो! **ते**=तेरे **बालेभ्यः**=बालों के लिए **शफेभ्यः**=शफों (Hoofs) के लिए और **रूपाय**=रूप के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान ही इस वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्गों के रूप में चित्रित हुआ है। ओषधि-वनस्पतियों का ज्ञान ही इसके बाल हैं, 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' का ज्ञान ही इसके चार शफ हैं (शान्ति देनेवाले हैं, शम्+स्फाय्), 'अग्नि' का ज्ञान ही इसका रूप है।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में जायमाना व जाता इस वेदवाणी के लिए हम आदर का

भाव धारण करते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान ही इस वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं—उन सब अङ्गों के लिए हम नमन करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान व आत्मज्ञान

यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्॥ २॥

१. **यः**=जो **सप्त**=सात **प्रवतः**=(प्रवतः गतिकर्मा—नि० २.१४) गति करनेवाली कर्मेन्द्रियों को (दो हाथ, दो पैर, पायु, उपस्थ, उदर), **विद्यात्**=जाने तथा **सप्त परावतः**=सात (परावत इति दूरनामसु पठितम्—नि० ३।२६) दूर-दूर के विषयों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **विद्यात्**=जाने। इसी प्रकार **यः**=जो **यज्ञस्य**=(पुरुषो वाव यज्ञः) यज्ञरूप पुरुष के **शिरः विद्यात्**=उत्तमांगभूत मस्तिष्क को जाने, **सः**=वह **वशां प्रतिगृह्णीयात्**=इस वेदवाणीरूप गौ का ग्रहण करे।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ का ग्रहण तो उसी ने किया जिसने कि 'कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व मस्तिष्क' को समझा। वेदवाणी से उन सब कर्मों का उपदेश दिया जाता है, जिन्हें कर्मेन्द्रियों को करना है; इससे वह सब ज्ञान दिया जाता है जोकि मस्तिष्क व ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करना है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचक्षण सोम

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम्॥ ३॥

१. **अहम्**=मैं **अस्याम्**=इस वेदवाणी में **सप्त**=सात **प्रवतः**=गति करनेवाली इन कर्मेन्द्रियों को **वेद**=जान पाता हूँ, **सप्त**=सात **परावतः**=दूर-दूर के पदार्थों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को **वेद**=जान पाता हूँ। **यज्ञस्य**=यज्ञरूप पुरुष के **शिरः**=मस्तिष्क को भी **अहं वेद**=मैं जान पाता हूँ **च**=तथा **विचक्षणम्**=उस विशिष्ट द्रष्टा—सर्वद्रष्टा—**सोमम्**=प्रेरक प्रभु को मैं इस वेदवाणी से जान पाता हूँ। वस्तुतः सारे वेद अन्ततः उस प्रभु का ही तो प्रतिपादन करते हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

भावार्थ—वेदवाणी में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मस्तिष्क व सर्वद्रष्टा प्रेरक प्रभु' का प्रतिपादन है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रधारा वशा

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि॥ ४॥

१. **यया**=जिस वेदवाणी से **द्यौः** (गुपितः)=द्युलोक अपने में सुरक्षित किया गया है, **यया पृथिवी**=जिससे यह पृथिवीलोक अपने में सुरक्षित हुआ है, **यया**=जिस वेदवाणी से **इमाः आपः**=यह व्यापक अन्तरिक्षलोक **गुपिताः**=सुरक्षित किया गया है। उस **सहस्रधाराम्**=हजारों ज्ञानों का अपने में धारण करनेवाली **वशाम्**=वेदधेनु का **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **आवदामसि**=हम अच्छी प्रकार से उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—यह वेदवाणी हमारे लिए 'द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक'—इन तीनों

लोकों का ज्ञान देती है। सहस्रों ज्ञानों द्वारा हमारा धारण करनेवाली इस वेदवाणी का हम ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—पञ्चपदाऽतिजागतानुष्टुभं स्कन्धोग्रीवीबृहती॥

कंसाः, दोग्धार, गोप्तारः

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा॥ ५॥

१. **ये देवाः**=जो देववृत्ति के पुरुष हैं, वे **शतं**=शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन **अस्याः**=इस वेदधेनु (वाणी) के **कंसाः**=(कम्+स) कामना करनेवाले बनते हैं, **शतं दोग्धारः**=वे शतवर्षपर्यन्त इसका दोहन करनेवाले होते हैं—वे इससे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करते हैं, **शतं गोप्तारः**=आजीवन वे इसका रक्षण करते हैं। वे (अस्याः) **अधिपृष्ठे**=इसके पृष्ठ पर स्थित होते हैं—यह वेदधेनु इनका आधार बनती है। जो देव **तस्यां प्राणन्ति**=उसमें ही प्राणों को धारण करते हैं, **ते**=वे देव **वशाम्**=इस वेदधेनु को **एकधा विदुः**=एक प्रकार से ही जानते हैं—उनका इसके विषय में एक ही अनुभव होता है कि यह वेदधेनु कल्याणकर ज्ञानदुग्ध ही देनेवाली है। इसके अनुसार आचरण करने से कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ—हम आजीवन इस वेदधेनु की कामना करें, इसके ज्ञानदुग्ध का दोहन करें, इसके रक्षक बनें। यही हमारा आधार हो, यही हमारा जीवन हो। हम सदा इसे कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली पाएँगे।

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—विराडनुष्टुप्॥

यज्ञपदी-इराक्षीरा

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा॥ ६॥

१. **वशा**=यह वेदधेनु **यज्ञपदी**=यज्ञों की ओर गतिवाली है—यज्ञों का प्रकाश करती हुई हमें उन यज्ञों के लिए प्रेरित करती है। **इराक्षीरा**=यह अन्न व क्षीरवाली है—अन्न और क्षीर प्राप्त कराती है। **स्वधाप्राणा**=आत्मधारण शक्ति से प्राणित होनेवाली है—यह अपने अपनानेवाले को स्वतन्त्र (अपराश्रित) बनाती है। **महीलुका**=(रुचा) महनीय दीप्ति-(प्रकाश)-वाली है। २. यह **वशा**=चाहने योग्य वेदधेनु **पर्जन्यपत्नी**=मेघों की पत्नी है, अर्थात् जिस राष्ट्र में इस वेदधेनु का उचित मान रहता है, इसका जहाँ खूब ही स्वाध्याय होता है, वहाँ वृष्टि बड़ी ठीक होती है (न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति)। यह वशा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **देवान् अपि एति**=देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होती है। जितना-जितना हम देववृत्ति के बनेंगे, उतना-उतना ही इस वशा के प्रिय होंगे।

भावार्थ—यह वेदज्ञान हमारे जीवनों को 'यज्ञमय, स्वाश्रित व दीप्तिवाला तथा अन्नक्षीरयुक्त' बनाता है। जिस राष्ट्र में इस वशा को अपनाया जाता है, वहाँ वृष्टि ठीक रूप से होती है। देव इसे ज्ञान के हेतु से प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अग्नि+सोम (पर्जन्य, विद्युतः)

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे॥ ७॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **त्वा अनु अग्निः प्राविशत्**=तेरे पीछे अग्नि का प्रवेश होता है, इसी प्रकार **सोमः त्वा अनु**=सोम तेरे पीछे प्रवेश करता है, अर्थात् जो भी व्यक्ति वेदवाणी को अपनाता है, उसके जीवन में अग्नितत्त्व की ठीक स्थिति होती है—उसके शरीर में अग्नितत्त्व उचित मात्रा में रहता है तथा यह वेदाध्येता सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाता है। इन अग्नि और सोमतत्त्वों के ठीक होने पर ही जीवन 'रसमय, नीरोग व ज्ञानवाला' बनता है। २. हे **भद्रे**=कल्याणकारिणि वेदधेनो! **ते ऊधः**=तेरा यह ज्ञानदुग्धाशय **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनक है—अतिशयित आनन्द देनेवाला है। हे **वशे**=चाहने योग्य वेदधेनो! **ते स्तनाः**=तेरे वे स्तन **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। तेरे स्तनों से जो ज्ञानदुग्ध प्राप्त होता है वह हमारे जीवनों को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को अपनाने पर मनुष्य अपने जीवन में अग्नि और सोमतत्त्वों का समन्वय कर पाता है। इस वेदधेनु का दिया हुआ ज्ञान हमारी तृप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

राष्ट्रं, अन्नं, क्षीरम्

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे। तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥ ८॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **त्वम्**=तू **प्रथमाः अपः**=सर्वमुख्य मोक्षसाधक नित्यकर्मों को **धुक्षे**=हममें प्रपूरित करती है। यह वेदवाणी हमारे मानवजन्म के अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को लक्ष्य में रखती हुई, 'धर्म, अर्थ, काम' का समन्वय करती हुई हमें यही उपदेश करती है कि धर्मपूर्वक धनों का अर्जन करो (अग्ने नय सुपथा राये) तथा इन अर्थों के द्वारा न्याय्य आनन्दों को (कामों को) प्राप्त करो 'इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥' —अ० १४।१।२२। हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **त्वम्**=तू **उर्वराः**=सर्वसस्याढ्य **अपराः**=अपर (अन्य) लौकिक (अपः) कर्मों का भी उपदेश करती है। जिन कर्मों के द्वारा हमें सब धन-धान्यों को प्राप्त करना है, उनका भी यह वेदवाणी हमें उपदेश करती है 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'। २. हे वेदधेनो! तू **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **राष्ट्रं धुक्षे**=राष्ट्र का प्रपूरण करती है। उस राष्ट्र में **अन्नं क्षीरम्**=अन्न और क्षीर को प्रपूरित करनेवाली है। राष्ट्र में तू सात्त्विक खान-पान की कमी नहीं होने देती।

भावार्थ—वेद मोक्षसाधक मुख्य कर्मों का उपदेश देता हुआ, उन लौकिक कर्त्तव्य-कर्मों का भी उपदेश करता है, जिनसे कि हम राष्ट्र को उन्नत बनाते हुए अन्न, क्षीर आदि जीवन के पोषक पदार्थों को प्राप्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्यों का सोमपान

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि। इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे॥ ९॥

हे **ऋतावरि**=सत्यज्ञान से परिपूर्ण वेदवाणि! **यत्**=जब **आदित्यैः**=आदित्य ब्रह्मचारियों से **हूयमाना**=पुकारी जाती हुई तू **उपातिष्ठः**=उनके समीप उपस्थित होती है, अर्थात् जब आदित्य ब्रह्मचारी इस वेदज्ञान को प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लेता है, तब **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु, हे **वशे**=कमनीय वेदधेनो! **त्वा**=तेरे द्वारा **सहस्रं पात्रान्**=हज़ारों योग्य व्यक्तियों को **सोमं अपाययत्**=सोम का पान कराता है-(सोम A ray of light)-ज्ञान की किरणों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम 'आदित्य' बनने का संकल्प करें। प्रभु हमें वेदवाणी के द्वारा प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—विराडनुष्टुपु ॥

प्राची (पुराची) न कि अनूची

यदनूचीन्द्रमैरात्त्वं ऋषभो ऽह्वयत्। तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धो ऽहरद्वशे ॥ १० ॥

१. हमें चाहिए कि जीवन में ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान दें। वेदवाणी हमारे जीवनों में पीछे चलनेवाली न हो, अपितु उसका स्थान सर्वप्रथम हो—वह अनूची (अनु अञ्च, पश्चाद् गच्छन्ती) न होकर प्राची (प्र अञ्च) हो। वेदवाणी हमारे पीछे न हो, वह हमारे आगे हो। हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **यत्**=जब तू **अनूची**=पीछे चलनेवाली होती हुई **इन्द्रम्**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को प्राप्त होती है तब **आत्**=शीघ्र ही **ऋषभः**=वे शक्तिशाली प्रभु **त्वा अह्वयत्**=तुझे वापस पुकार लेते हैं। २. **वृत्रहा**=वासना के विनष्ट करनेवाले प्रभु **क्रुद्धः**=तुझे अग्रस्थान न देने के कारण क्रुद्ध हुए-हुए **तस्मात्**=उस व्यक्ति से **ते**=तेरे **पयः**=आप्यायन (वृद्धि) के साधनभूत **क्षीरम्**=ज्ञानदुग्ध को **अहरत्**=हर (carry away) लेते हैं। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम यह वेदज्ञान ही तो दिया, अतः इसका स्थान सर्वप्रमुख होना ही चाहिए।

भावार्थ—जो व्यक्ति जीवन में ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान नहीं देता, वह प्रभु का प्रिय नहीं बनता। क्रुद्ध हुए-हुए प्रभु उसके, शक्तियों को आप्यायित करनेवाले, ज्ञान को हर लेते हैं।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

क्रुद्धः Vs नाकः

यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे। इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

१. हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! वह **धनपतिः**=ज्ञानधन के स्वामी प्रभु **क्रुद्धः**=ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान न देने से क्रुद्ध हुए-हुए **यत्**=चूँकि **ते क्षीरं आ अहरत्**=तेरे ज्ञानदुग्ध को हमसे हर लेते हैं **तत्**=अतः **अद्य**=आज (अब) **नाकः**=आनन्दमय स्वभाववाला जीव **इदम्**=इस वेदज्ञान को **त्रिषु पात्रेषु रक्षति**=तीनों पात्रों में रक्षित करता है—'ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ही इस ज्ञान के तीन पात्र हैं। यह इन तीनों को ज्ञानप्राप्ति में लगाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति में न लगकर हम प्रभु के क्रोध के पात्र बनते हैं, अतः हम 'ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि' के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करें।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अथर्वा—दीक्षितः

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्य ऽहरद्वशा। अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **दीक्षितः**=व्रत ग्रहण किया हुआ **अथर्वा**=स्थिरवृत्ति का ब्रह्मचारी **हिरण्यये**=चमकते हुए—मल से रहित **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आस्त**=स्थित होता है, वहाँ **वशा देवी**=कमनीया प्रकाशमयी वेदधेनु **त्रिषु पात्रेषु**=ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि में **तं सोमम्**=उस प्रकाश की किरण को **आ अहरत्**=सर्वथा प्राप्त कराती है।

भावार्थ—जब हम व्रतमय जीवनवाले (दीक्षित) स्थिरवृत्तिवाले (अथर्वा) व वासनाशून्य हृदयवाले (बर्हि) बनेंगे तब इस कमनीया वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करेंगे। इस धेनु का ताज़ा दूध ही 'सोम' है। यह हमारे जीवनों को प्रकाश की किरणों से व्याप्त करनेवाला है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सं सोमेन

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता। वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

१. **हि**=निश्चय से **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **सोमेन**=सोम के साथ **सम् आगत**=संगत होती है। जो भी व्यक्ति पृथिवी से उत्पन्न सौम्य भोजनों को करता हुआ शरीर में सोम (वीर्य) का रक्षण करता है, यह वेदवाणी उसे ही प्राप्त होती है। **उ**=और **सर्वेण पद्वता**=सब गतिशील (पद गतौ) व्यक्तियों से इसका **सम्**=मेल होता है। यह **वशा**=कमनीया वेदधेनु **समुद्रं अध्यष्ठात्**=(स मुद्) प्रसादयुक्त मनवाले व्यक्ति में अधिष्ठित होती है। **गन्धर्वैः कलिभिः सह**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले (कला अस्य अस्तीति कली) कला-सम्पन्न पुरुषों के साथ यह वेदधेनु निवास करती है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए सौम्य भोजन करनेवाले बनें, 'गतिशील-प्रसन्न मनवाले, ज्ञानरुचि व कलावित्' हों।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं वातेन

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः। वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

१. **ऋचः**=विज्ञानों को तथा **सामानि**=प्रभुस्तोत्रों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह **वशा**=वेदवाणी **समुद्रे**=प्रसादयुक्त मनवाले पुरुष में **प्रानृत्यत्**=प्रकर्षेण नृत्य करती है, अर्थात् इस 'समुद्र' को ही प्राप्त होती है। **हि**=निश्चय से यह **वातेन**=हृदयान्तरिक्ष में (वा गतौ) गति के संकल्पवाले पुरुष के साथ **सम् अगत**=संगत होती है, **उ**=और **सर्वैः पतत्रिभिः सम्**=सब ऊँची उड़ान लेनेवालों के साथ—ऊँचे उद्देश्यवालों के साथ यह संगत होती है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए हम निर्मल (प्रसन्न) मनवाले हों, हृदय में कर्मसंकल्प से युक्त हों, जीवन में किसी ऊँचे लक्ष्य से प्रेरित होकर चलें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं सूर्येण

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा। वशा समुद्रमत्यख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदधेनु **हि**=निश्चय से **सूर्येण**=(सरति) निरन्तर गतिवाले, अतएव चमकनेवाले पुरुष के साथ **सम् अगत**=संगत होती है **उ**=और यह वशा **सर्वेण चक्षुषा**=सब देखनेवालों के साथ **सम्**=संगत होती है—आँख बन्द करके चलनेवालों को यह वेदज्ञान नहीं प्राप्त होता। २. **भद्रा ज्योतींषि**=कल्याणकर ज्ञानज्योतियाँ को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह वशा **स-मुद्रम्**=प्रसन्न मनवाले पुरुष को **अति अख्यत्**=अतिशयेन देखती है—उसका यह पालन करती है (Look after)।

भावार्थ—वेदवाणी को प्राप्त करने के लिए हम सूर्य की भाँति निरन्तर गतिवाले व संसार में आँख खोलकर चलनेवाले बनें। प्रसन्न मनवाले होकर हम वेदवाणी की भद्र ज्योतियों को प्राप्त करने के पात्र हों।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वः समुद्रः भूत्वा

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि। अश्वः समुद्रो भूत्वाऽध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥ १६ ॥

१. हे **ऋतावरि**=ऋत (सत्य) ज्ञानोंवाली **वशे**=कमनीय वेदवाणि! **यत्**=चूँकि तू **हिरण्येन**=हितरमणीय ज्ञानज्योति से **अभीवृता**=समन्तात् आच्छादित हुई-हुई **अतिष्ठः**=स्थित हुई है, अतः **समुद्रः**=सदा प्रसन्न मनवाला यह व्यक्ति **अश्वः भूत्वा**=(अश् व्याप्तौ) कर्मशील होकर

त्वा अधि अस्कन्दत्=(स्कन्द् गतौ) तुझे आधिक्येन प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्यज्ञानों का प्रकाश करती है। प्रसन्न मन से कर्मों में व्यस्त रहनेवाला व्यक्ति इसे प्राप्त करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा—देष्ट्री—स्वधा

तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये॥ १७॥

१. **यत्र**=जहाँ **दीक्षितः**=व्रतों को ग्रहण किये हुए **अथर्वा**=स्थिरवृत्तिवाला (न थर्व) आत्मालोचनशील (अथ अर्वाङ्) पुरुष **हिरण्यये**=ज्योतिर्मय—निर्मल—ईर्ष्या-द्वेषादि मलों से रहित—**बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आस्त**=स्थित होता है, **तत्**=तो वहाँ **भद्राः**=कल्याण करनेवाली ये तीन बातें **सम् अगच्छन्त**=संगत होती हैं—एक तो **वशा**=वेदधेनु—यह उस अथर्वा को ज्ञानदुग्ध का पान कराती है, दूसरी **देष्ट्री**=प्रभु की प्रेरणा—वह उसके लिए कर्त्तव्य-कर्मों का निर्देश करती है, **अथो**=और **स्वधा**=आत्मधारणशक्ति—यह कभी पराश्रित नहीं होता और परिणामतः सुखी रहता है (सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्)।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्तिवाले (अथर्व) व व्रतमय जीवनवाले बनें। हमारा हृदय वासनाशून्य हो। ऐसे हृदय में स्थित होने पर प्रभु की वेदधेनु हमें ज्ञानदुग्ध का पान कराती है, प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है तथा हम आत्मधारणशक्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजन्य, स्वधा, यज्ञ, चित्त

वशा माता राजन्य᳡स्य वशा माता स्वधे तव।
वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत॥ १८॥

१. **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु ही **राजन्यस्य माता**=प्रजा का रञ्जन करनेवाले 'राजन्य' (क्षत्रिय) की माता है—वेदज्ञान ही उसे राजन्य बनाता है। मनु लिखते है कि **'सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति'**। हे **स्वधे**=आत्मधारणशक्ते! यह **वशा**=वेदधेनु ही **तव माता**=तेरी माता है। वेद ही तुझे आत्मधारणशक्तिवाला व अपराश्रित बनाएगा। २. **वशायाः**=इस वेदधेनु का **आयुधम्**=शत्रुनिवारक शस्त्रसमूह **यज्ञे**=यज्ञ में निहित है। यज्ञों के द्वारा ही वेद हमें शत्रुओं के आक्रमण से रक्षित होने का उपदेश करता है—यज्ञों में प्रवृत्त व्यक्ति 'काम, क्रोध, लोभ' आदि का शिकार नहीं होता। **ततः**=उस वशा से ही 'काम, क्रोध, लोभ' से अनाक्रान्त होने पर **चित्तम् अजायत**=सब संज्ञान उत्पन्न होता है(चिती संज्ञाने)।

भावार्थ—वेदधेनु एक उत्तम क्षत्रिय को, आत्मधारणशक्ति को, यज्ञरूप आयुध को तथा संज्ञान को आविर्भूत करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वरेता बनना

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताऽजायत॥ १९॥

१. **ब्रह्मणः ककुदात् अधि**=(अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी) ज्ञान के शिखर के हेतु से **बिन्दुः**=वीर्यकण **ऊर्ध्वः उदचरत्**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हुआ, अर्थात् शरीर में जब शक्ति

की ऊर्ध्वगति होती है, तभी यह शरीर में सुरक्षित हुई-हुई ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और हम ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के योग्य बनते हैं। २. हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **ततः**=तभी—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही **त्वं जज्ञिषे**=तू प्रादुर्भूत होती है—तेरे प्रकाश को यह ऊर्ध्वरेता पुरुष ही प्राप्त करता है। **ततः**=तभी—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही **होता**=वह सब साधनों को देनेवाला प्रभु **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है—तभी हम हृदय में प्रभु का प्रकाश पाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिए, वेदवाणी के व प्रभु के प्रकाश को पाने के लिए आवश्यक है कि हम शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले बनें।

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अंग

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।
पाजस्या ज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥ २०॥
ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अन्ना उदरादधि वीरुधः॥ २१॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **ते आस्नः**=तेरे मुख से **गाथाः अभवन्**=गायन योग्य स्तोत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। **उष्णिहाभ्यः**=ग्रीवा की नाड़ियो से **बलम्**=बल का प्रादुर्भाव हुआ। **पाजस्यात्**=तेरे उदर से **यज्ञः जज्ञे**=यज्ञ का प्रादुर्भाव हुआ। **तव स्तनेभ्यः**=तेरे स्तनों से **रश्मयः**=रश्मियों—किरणों का प्रादुर्भाव हुआ। २. हे **वशे**=वेदधेनो! **तव**=तेरी **ईर्माभ्याम्**=भुजाओं से **च**=तथा **सक्थिभ्याम्**=दोनों जंघाओं से **अयनं जातम्**=दक्षिणायन व उत्तरायण का प्रादुर्भाव हुआ। **आन्त्रेभ्यः**=तेरी आँतों से **अन्नाः जज्ञिरे**=खाने योग्य पदार्थ प्रादुर्भूत हुए, तथा **उदरात् अधि**=उदर से **वीरुधः**=प्रतानिनी (फैलनेवाली) बेलों का प्रादुर्भाव हुआ।

भावार्थ—वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्गों से उन-उन वस्तुओं के प्रादुर्भाव का अभिप्राय इतना ही है कि वेदधेनु इन सब पदार्थों के ज्ञानरूप दुग्ध को देनेवाली है—वेद से हमें इन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—कश्यपः॥ देवता—वशा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

स हि नेत्रमवेत् तव

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे। ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव॥ २२॥

१. सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेदज्ञान प्रभु से प्रादुर्भूत होता है तथा प्रलय के आने पर प्रभु में ही चला जाता है। हे **वशे**=वेदधेनो! **यत्**=जो तू प्रलय के समय **वरुणस्य उदरम्**=उस पापनिवारक प्रभु के उदर में **अनुप्राविशथाः**=अनुप्रविष्ट हो जाती है, **त्वा**=उस तुझको **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक स्थितिवाला पुरुष ('ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव०') **ततः**=वहाँ से **उद् अह्वयत्**=ऊपर पुकारता है। यह ब्रह्मा अग्नि के द्वारा ऋग्वेद का, वायु के द्वारा यजुर्वेद का, आदित्य के द्वारा सामवेद का, अङ्गिरा के द्वारा अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त करता है। **सः**=वह ब्रह्मा **हि**=निश्चय से **तव नेत्रम्**=तेरे नेत्र को—प्रणयन, नेतृत्व को, **अवेत्**=जानता है। ब्रह्मा तुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करता है और औरों के लिए तुझे प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह वेदवाणी प्रलयकाल में प्रभु में प्रविष्ट होकर रहती है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा इसका आह्वान करता है तथा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' द्वारा इसका दोहन करके वह औरों के लिए इसे प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—बृहती ॥

असूसूः—वशा

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः।
ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥

१. वेदवाणी असुओं को—प्राणों को जन्म देने से 'असूसू' कही गई है। इस **असूस्वः**=प्राणशक्ति को जन्म देनेवाली वेदधेनु के **जायमानात् गर्भात्**=प्रादुर्भूत होते हुए गर्भ से **सर्वे अवेपन्त**=काम, क्रोध आदि सब शत्रु काँप उठते हैं। वेदज्ञान से हमें प्राणशक्ति प्राप्त होती है, इस प्राणशक्ति से सम्पन्न होकर हम काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करते हैं। २. **ससूव हि**=जब इस वेदधेनु ने निश्चय से प्राणशक्ति को जन्म दिया तब **ताम्**=उस वेदधेनु को **आहुः**=कहते हैं कि **वशा इति**=यह सचमुच 'वशा' है। शत्रुओं को वशीभूत करनेवाली है। इसका आराधक **ब्रह्मभिः क्लृप्तः**=ज्ञान की वाणियों से शक्तिसम्पन्न बनता है (क्लृप् सामर्थ्ये)। **सः**=वह शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही **अस्याः बन्धुः**=इसे अपने में बाँधनेवाला है।

भावार्थ—जो भी वशा को अपने जीवन में बाँधता है, वह इसके द्वारा शक्तिसम्पन्न बनकर काम, क्रोध आदि को जीत लेता है। यह वशा प्राणशक्ति को जन्म देनेवाली है, इसप्रकार यह सचमुच शत्रुओं को वश में करनेवाली 'वशा' ही है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहती ॥

वशा—वशी

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी।
तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा ॥ २४ ॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु का **एकः इत्**=निश्चय से अद्वितीय **वशी**=वश में करनेवाला होता है वह **एकः**=अकेला ही अपने जीवन में **युधः संसृजति**='काम, क्रोध, लोभ' से युद्ध करनेवाले 'प्रेम, करुणा व त्याग' रूप योद्धाओं को संसृष्ट करता है। जितना-जितना हम वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, उतना-उतना 'प्रेम, करुणा व त्याग' को विकसित करके, 'काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट कर पाते हैं। २. इस वशा (वेदधेनु) को वश में करनेवाले वशी के **यज्ञाः**=यज्ञ ही **तरांसि अभवन्**=बल होते हैं। इन **तरसाम्**=यज्ञरूप बलों की **चक्षुः**=प्रकाशिका **वशा अभवत्**=यह वेदधेनु ही होती है। वेद द्वारा उपदिष्ट यज्ञों को करते हुए हम शत्रुओं से अजय्य बन जाते हैं।

भावार्थ—वेदधेनु को अपनानेवाला व्यक्ति अपने जीवन में 'प्रेम, करुणा व त्याग' को उत्पन्न करके 'काम, क्रोध, लोभ' को पराजित करनेवाला बनता है। इस वशी के यज्ञ ही बल होते हैं। इसके लिए इन यज्ञों की प्रकाशिका यह वशा है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञ—ज्ञानसूर्य—ओदन (सुखद भोजन)

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत्।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

१. **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **यज्ञं प्रत्यगृह्णात्**=यज्ञ का ग्रहण करती है। जो वशा का ग्रहण करता है, वह यज्ञशील बनता है। **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **सूर्यम् अधारयत्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का धारण करती है। **वशायाम् अन्तः**=इस वशा के अन्दर **ब्रह्मणा सह**=ज्ञान

के साथ **ओदनः**=सुख से क्लिन्न करनेवाला भोजन **अविशत्**=प्रविष्ट हुआ है, अर्थात् यह वशा हमें ब्रह्म—ज्ञान तो प्राप्त कराती ही है, साथ ही हमें भोजन प्राप्त करने के योग्य भी बनाती है।

भावार्थ—यदि हम वेदवाणी को अपनाएँगे तो 'यज्ञशील बनेंगे, ज्ञानसूर्य से दीप्त जीवनवाले होंगे, सात्त्विक सुखद अन्नों को प्राप्त करेंगे'।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

देव, मनुष्य, असुर, पिता, ऋषि

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः॥ २६॥

१. **वशाम्**=इस कमनीया वेदधेनु को **एव**=ही **अमृतम् आहुः**=अमृत कहते हैं, इससे दिया गया ज्ञान हमारी अमरता का साधन बनता है। **वशाम्**=वशा को ही **मृत्युम्**=आचार्य के रूप में (आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः) **उपासते**=उपासित करते हैं। वास्तविक आचार्य वशा ही है। २. **वशा**=यह वेदधेनु ही **इदं सर्वं अभवत्**=यह सब हो जाती है—**देवाः**=देव **मनुष्याः**=मनुष्य **असुराः**=असुर, **पितरः**=पिता तथा **ऋषयः**=ऋषि। वशा हमें देव—प्रकाशमय दिव्य जीवनवाला बनाती है। यह हमें विचारपूर्वक कर्म करनेवाला मनुष्य (मत्वा कर्माणि सीव्यति) बनाती है। यह हमें प्राणशक्ति सम्पन्न (असून् राति) करती है। हम इसके द्वारा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त 'पितर' बनते हैं, और वासनाओं को विनष्ट करते हुए हम ऋषि होते हैं (ऋष् to kill)।

भावार्थ—वशा ही अमृत है। यही हमारा आचार्य है, यह हमें 'देव, मनुष्य, असुर, पिता व ऋषि' बनाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्** ॥

'सर्वपात् अनपस्फुरन्' यज्ञ

य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन्॥ २७॥

१. **यः**=जो **एवं विद्यात्**=इसप्रकार समझ लेता है कि इस वेदवाणी के द्वारा दिया गया ज्ञान हमें अमरता प्राप्त कराता है और यह हमें यज्ञों में प्रेरित करके देववृत्ति का बनाता है, **सः**=वह **वशां प्रतिगृह्णीयात्**=इस वेदधेनु को अवश्य प्राप्त करता ही है। २. **तथा**=वैसा करने पर वेद से यज्ञों की प्रेरणा लेकर जब हम यज्ञशील बनते हैं तब यह **यज्ञः**=यज्ञ **हि**=निश्चय से **सर्वपाद्**=सब चरणोंवाला होता हुआ—विधिपूर्वक किया जाता हुआ—**अनपस्फुरम्**=(स्फुर संचलने) विचलित—विच्छिन्न न होता हुआ **दात्रे**=हवि देनेवाले इस यज्वा के लिए **दुहे**=सब कामनाओं का दोहन करता है। उस यज्वा के लिए यज्ञ कामधुक् होता है।

भावार्थ—वेदवाणी यज्ञों का प्रतिपादन करती है। ये यज्ञ अविच्छिन्नरूप से विधिपूर्वक होते हुए हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋग्, यजुः, साम में यजुः का दुष्प्रतिग्रहत्व

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा॥ २८॥

१. **वरुणस्य**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु के **आसनि अन्तः**=मुख में **तिस्त्रः जिह्वाः**=तीन जिह्वाएँ **दीद्यति**=चमकती हैं। '**तिस्त्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत्**'॥ प्रभु गर्जना करते हुए हमारे समीप प्राप्त होते हैं, वे तीन वाणियों का उच्चारण करते हुए आते है। वे वाणियाँ ही 'ऋग्, यजुः व साम' हैं। 'ऋग्' विज्ञान है, 'यजु' कर्म तथा 'साम' उपासना। २. **तासाम्**=उन वाणियों में **या**=जो **मध्ये राजति**=बीच में दीप्त होती है, **सा**=वह यजुः रूप वेदवाणी **दुष्प्रतिग्रहा**=ग्रहण करने में कठिन है। कर्म विज्ञानपूर्वक ही करने होते हैं और उन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करने से ही प्रभु का उपासन होता है। इसप्रकार कर्म का महत्त्व स्पष्ट है। यही करने योग्य है, परन्तु है बड़ा कठिन।

भावार्थ—वरुण प्रभु की तीन वाणियाँ है 'ऋग्, यजुः व साम'। इनमें श्रेष्ठतम कर्मरूप मध्य की वाणी कठिन है। कर्म करना सरल नहीं, परन्तु प्रभु का उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से ही होता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री**॥

आपः अमृतं यज्ञः पशवः

चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः। आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम्॥ २९॥

१. **वशायाः**=इस वेदवाणी की **रेतः**=सन्तान (Progeny)—प्रजा—**चतुर्धा अभवत्**=चार प्रकार की होती है। **आपः तुरीयम्**=एक चौथाई तो कर्मों में व्याप्त रहनेवाले नर हैं (आप् व्याप्तौ)—वेदवाणी मनुष्यों को यही प्रेरणा देती है कि '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**'=कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। **तुरीयम्**=वशा का एक चौथाई रेतस् **अमृतम्**=नीरोगता है। वेद मनुष्य को वाचस्पति बनकर नीरोग बनने का उपदेश देता है। २. **तुरीयम्**=वेद का तृतीय तुरीयांश **यज्ञः**=यज्ञ है। वह सविता देव मनुष्य को इन यज्ञों के लिए ही निरन्तर प्रेरित कर रहा है। **पशवः तुरीयम्**=वेद का चतुर्थ रेतस् पशु है '**तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषोऽजावयः**' इस मन्त्र भाग द्वारा गौ, अश्व, अजा, अवि आदि पशुओं को मानव जीवन के साथ जोड़ दिया गया है। '**दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः**' आदि शब्दों द्वारा उत्तम धेनुओं, बैलों व घोड़ों के लिए निर्देश हुआ है।

भावार्थ—वेदवाणी मनुष्य को 'क्रियाशील जीवनवाला, नीरोग, यज्ञशील व उत्तम गौ आदि पशुओंवाला' बनने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**वशा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

साध्याः वसवः द्यौः

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये॥ ३०॥

१. **वशा**=यह वेदधेनु ही **द्यौः**=द्युलोक है, **वशा पृथिवी**=यह वेदधेनु ही पृथिवीलोक है, अर्थात् यह वेदधेनु ही द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है। **वशा**=यह वेदधेनु ही **विष्णुः**=प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु है। यह वेदवाणी प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की सत्ता व महिमा का दर्शन कराती है। २. **वशायाः**=इस वेदधेनु के **दुग्धम्**=ज्ञानदुग्ध को वे ही पीते हैं **ये**=जो **साध्याः**=साधना में प्रवृत्त **च**=और **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। वस्तुतः वशा के दुग्धपान का ही यह परिणाम होता है कि हम साधनामय जीवनवाले व उत्तम निवासवाले बनते हैं। इसके दुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

भावार्थ—यह कमनीया वेदवाणी हमें सब पदार्थों का ज्ञान देती है—सब पदार्थों में प्रभु की व्याप्ति व महिमा का दर्शन कराती है, इसप्रकार यह हमारे जीवनों को साधनामय व उत्तम निवासवाला करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

ब्रध्नस्य विष्टपि

व॒शायां॑ दु॒ग्धं पी॒त्वा सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये।
ते वै ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॒ पयो॑ अस्या॒ उपा॑सते॥ ३१॥

१. **वशायाः दुग्धं पीत्वा**=इस वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करके **ये साध्याः**=जो साधनामय जीवनवाले **च**=और **वसवः**=उत्तम निवासवाले बनते हैं, **ते**=वे **वै**=निश्चय से **ब्रध्नस्य विष्टपी**=(ब्रध्न the sun, शिव) सूर्यलोक में व ब्रह्मलोक में **अस्याः**=इस वेदधेनु के **पयः उपासते**=आप्यायित करनेवाले ज्ञानदुग्ध का उपासन करते हैं—ब्रह्म में स्थित होते हैं और ज्ञानमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—इस वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति 'साधनामय जीवनवाला, उत्तम निवासवाला व ब्रह्म में स्थितिवाला (ब्रह्मनिष्ठ)' बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

'सोम और घृत' का दोहन

सोम॑मेना॒मेके॑ दुह्रे घृ॒तमेक॒ उपा॑सते।
ये ए॒वं वि॒दुषे॑ व॒शां द॒दुस्ते ग॒तास्त्रि॑दि॒वं दि॒वः॥ ३२॥

१. **एके**=कई वसु (अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व्यक्ति) **एनां सोमं दुह्रे**=इस वेदधेनु से सोम (वीर्य) का दोहन करते हैं। **एके**=कई साध्य (साधनामय जीवनवाले व्यक्ति) **घृतम्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की उपासना करते हैं। यह वेदवाणी हमें (उत्तम निवासवाला निर्मल व ज्ञानदीप्त जीवनवाला) बनाती है। २. **ये**=जो **एवं विदुषे**=इसप्रकार ज्ञानी पुरुष के लिए—इस बात को (वेदधेनु के दुग्धपान के महत्त्व को) समझनेवालों के लिए **वशां ददुः**=इस वेदधेनु को प्राप्त कराते हैं, **ते**=वे **दिवः**=इस ज्ञान से **त्रिदिवम्**=स्वर्ग को **गताः**=जाते हैं। जिज्ञासु के लिए ज्ञान देनेवाले आचार्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से 'सौम्य, निर्मल व ज्ञानदीप्त' बनकर जो जिज्ञासुओं के लिए इस वेदज्ञान को प्राप्त कराते हैं, वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋत, ब्रह्म, तप

ब्रा॒ह्मणेभ्यो॑ व॒शां द॒त्त्वा सर्वाँ॑ल्लो॒कान्त्सम॑श्नुते।
ऋ॒तं ह्य॑स्या॒मार्पि॑त॒मपि॒ ब्रह्माथो॒ तपः॑॥ ३३॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्म-प्राप्ति की कामनावालों के लिए **वशाम्**=इस वेदधेनु को **दत्त्वा**=देकर **सर्वान् लोकान्**=सब लोकों को **समश्नुते**=सम्यक् प्राप्त करता है। ब्रह्मदान से सब उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। २. **अस्याम्**=इस वशा में **हि**=निश्चय से **ऋतम्**=सत्यज्ञान (ठीक-ठीक ज्ञान) **आर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है—स्थापित हुआ है, **ब्रह्म अपि**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता भी इसमें स्थापित हुई है, **अथो**=और **तपः**=इसमें तप स्थापित हुआ है। इस वेदधेनु का उपासक शरीर में तपस्वी, हृदय में विशाल अथवा हृदय में ब्रह्म की भावनावाला तथा मस्तिष्क में सत्यज्ञान

से परिपूर्ण बनता है। इस वेदज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला सर्वोत्तम दानी उत्तम लोकों को क्यों न प्राप्त करेगा?

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति की कामनावालों के लिए उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके हम उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं। यह वेदधेनु अपने ज्ञानदुग्ध से हमें 'सत्यज्ञानवाला, विशाल हृदयवाला व तपस्वी' बनाती है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देव, मनुष्य, भूति

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥ ३४॥

१. **देवाः**=आसुरभावों पर विजय प्राप्ति की कामनावाले लोग **वशाम् उपजीवन्ति**=इस वेदधेनु पर ही उपजीवित हैं—यही उन्हें आसुरभावों पर विजय प्राप्त कराती है, **उत**=और **मनुष्याः**=मननपूर्वक कर्मों को करनेवाले लोग भी **वशां** (उपजीवन्ति)=इस वेदधेनु पर ही उपजीवित हैं। यह वेदधेनु ही उन्हें सात्त्विकवृत्तिवाला व सोचकर कर्म करनेवाला बनाती है। २. **यावत् सूर्यः विपश्यति**=जहाँ तक सूर्य प्रकाश करता है, अर्थात् **इदं सर्वम्**=इन सब लोकों को **वशा अभवत्**=यह वेदधेनु ही भूतियुक्त करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान ही हमें आसुरभावों पर विजयी बनाकर 'देव' बनाता है। यही हमें मननपूर्वक कार्यों को करनेवाला 'मनुष्य' बनाता है और यही हमारे सब लोकों को भूतियुक्त करता है।

॥ इति त्रयोविंशः प्रपाठकः ॥

॥ इति दशमं काण्डम् ॥

अथैकादशं काण्डम्

दशम काण्ड की समाप्ति 'वशा' सूक्त पर है। इस वशा=कमनीया वेदवाणी को अपनानेवाला 'ब्रह्मा' है—ब्रह्मवेत्ता। ज्ञान ही इसका भोजन—'ओदन'—है। ग्यारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है तथा देवता 'ओदन' है—ज्ञान का भोजन।

अथ चतुर्विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाभुरिक्पङ्क्तिः** ॥

ब्रह्मौदन का पचन

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह॥ १॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **जायस्व**=तू हमारे घरों में प्रादुर्भूत हो। **इयम्**=यह **अदितिः**=अदीना देवमाता—दीनता से दूर रहनेवाली व दिव्य गुणों को धारण करनेवाली **नाथिता**=ऐश्वर्यवाली होती हुई (नाथ् ऐश्वर्ये), **पुत्रकामा**=उत्तम सन्तान की कामनावाली होकर **ब्रह्मौदनं पचति**=ज्ञान के भोजन का परिपाक करती है, अथवा घर में उसी भोजन को पकाती है, जोकि बुद्धिवर्धक होकर ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। घर में उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) घर में यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहे, (ख) माता अदीनवृत्ति की हो व दिव्य गुणों को धारण करनेवाली हो, (ग) ऐश्वर्यवाली होती हुई यह स्वाध्यायशील हो तथा बुद्धिवर्धक सात्त्विक भोजन का ही घर में परिपाक करे, (घ) उसके अन्दर उत्तम सन्तान की प्राप्ति की कामना हो। २. **सप्तऋषयः**=(सप् to worship) प्रभु का पूजन करनेवाले (ऋष् to kill) व पूजन द्वारा वासना का विनाश करनेवाले, **भूतकृतः**=यथार्थ (सत्य) कर्मों को ही करनेवाले **ते**=गृहवासी जन **प्रजया सह**=सन्तानों के साथ **इह**=यहाँ—घर में हे अग्ने! **त्वा मन्थन्तु**=तेरा मन्थन करें। हम अरणि-मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके यज्ञों को करनेवाले हों।

भावार्थ—सन्तान की उत्तमता के लिए आवश्यक है कि १. घर में अग्निहोत्र नियम से हो—यज्ञमय वातावरण हो। २. माता अदीनवृत्ति की व दिव्यगुणों को धारण करनेवाली हो। ३. माता ऐश्वर्यवाली होती हुई उत्तम सन्तान की प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मौदन का परिपाक करे। ४. घर के लोग उपासना द्वारा वासना का विनाश करें—उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। ५. सन्तानों के साथ मिलकर प्रतिदिन अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाविराट्त्रिष्टुप्** ॥

धूम—सुवीर

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्॥ २॥

१. हे **वृषणः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले, **सखायः**=परस्पर प्रेम से चलनेवाले लोगो! तुम **धूमं कृणुत**=ऐसे सन्तान को जन्म दो जो शत्रुओं को कम्पित करनेवाला हो (धूञ् कम्पने), **अद्रोघ अविता**=द्रोहशून्य व रक्षा करनेवाला हो। **वाचम् अच्छ**=वेदवाणी की ओर

चलनेवाला हो। उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए आवश्यक है कि हम शक्ति का शरीर में ही सेचन करें तथा परस्पर प्रेम (सखित्व) से वर्तें। इसप्रकार हम नीरोग व निर्द्वेष होंगे तो हमारी सन्तान भी उत्तम होंगे। २. **अयम्**=यह सन्तान **अग्निः**=प्रगतिशील होता है, **पृतनाषाट्**=शत्रुसैन्य का मर्षण करनेवाला होता है, **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है, **येन**=जिस सन्तान के द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दस्यून् असहन्त**=दस्युओं का पराभव करते हैं, अर्थात् घरों में दास्यव वृत्तियों को नहीं पनपने देते। सन्तान उत्तम हों, तो घर उत्तम बने रहते हैं।

भावार्थ—हम अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले व परस्पर निर्द्वेषतावाले बनें तो हमारी सन्तान 'शत्रुओं को कम्पित करनेवाली, द्रोहशून्य, रक्षणात्मक वृत्तिवाली, ज्ञानरुचि, प्रगतिशील, शत्रुसैन्यसंहारक व सुवीर' होंगी। इन सन्तानों से हमारे घरों में कभी दास्यव वृत्तियों का प्रवेश नहीं होगा।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—चतुष्पदाशाक्वरगर्भाजगती ॥

महते वीर्याय, ब्रह्मौदनाय पक्तवे

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्या ∫य ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाऽजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ ३॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **महते वीर्याय**=महनीय वीर्य के लिए—प्रशस्त पराक्रम के लिए—**अजनिष्ठाः**=प्रादुर्भूत हुआ है। हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले जीव! तू **ब्रह्मौदनाय पक्तवे**=ज्ञान के भोजन के परिपाक के लिए प्रादुर्भूत हुआ है। तूने शक्ति व ज्ञान का सम्पादन किया है। २. **ते**=वे **सप्त ऋषयः**=प्रभुपूजन करनेवाले (सप् to worship) व प्रभुपूजन द्वारा वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **भूतकृतः**=यथार्थ (सत्य) कर्मों को ही करनेवाले **त्वा अजीजनन्**=तुझे जन्म देनेवाले हुए। तू भी **अस्यै**=इस अपनी गृहपत्नी के लिए **सर्ववीरं रयिं नियच्छ**=सब वीर सन्तानोंवाले ऐश्वर्य को देनेवाला हो। गृहपति का यह कर्त्तव्य है कि संयत जीवन के द्वारा वह वीर सन्तानों को जन्म देनेवाला हो तथा उनके पालने के लिए पुरुषार्थ से आवश्यक ऐश्वर्य को जुटानेवाला बने।

भावार्थ—गृहपति को शक्तिशाली व ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनना योग्य है। वह वीर सन्तानों से युक्त हो और ऐश्वर्य को घर में प्राप्त करानेवाला बने।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान, गृहस्थ में अतिथियज्ञ

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान्देवान्यज्ञियाँ एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **समिधा**=ज्ञानदीप्ति से **समिद्धः**=आचार्यों द्वारा दीप्त किया हुआ **समिध्यस्व**=दीप्त हो, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य तेरी ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों के ज्ञान के रूपवाली तीन समिधाओं को डाले। इससे तेरी ज्ञानाग्नि खूब दीप्त हो और तू ज्ञान से चमक उठे। अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर **विद्वान्**=ज्ञानी होता हुआ तू **इह**=यहाँ—घर पर **यज्ञियान् देवान्**=पूजनीय दिव्य वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों को **आवक्षः**=प्राप्त करा—तू इनका आतिथ्य करनेवाला बन। २. **तेभ्यः**=उन यज्ञिय देवों के लिए **हविः श्रपयन्**=हवि को—पवित्र भोजनीय द्रव्य को (हु अदने) पकाता हुआ, हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाला तू **इमम्**=इस अपने को **उत्तमं नाकम् अधिरोहय**=उत्तम दुःख से रहित मोक्षलोक में प्राप्त करानेवाला बन। ज्ञानी अतिथियों का आतिथ्य तेरे जीवन को पवित्र बनाये और तू मोक्ष-प्राप्ति

का अधिकारी हो।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोकत्रयी के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करें। गृहस्थ में आने पर यज्ञियदेवों के सम्पर्क में रहें। उनका आतिथ्य करते हुए हम उनकी प्रेरणाओं से पवित्र जीवनवाले बनकर मोक्ष के भागी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाविराट्त्रिष्टुप्** ॥

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम्।
अंशाञ्जानीध्वं वि भजामि तान्वो यो देवानां स इमां पारयाति॥ ५॥

१. हे मनुष्यो! **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही **यः**=जो **वः**=तुम्हारे लिए **त्रेधा भागः निहितः**=तीन प्रकार से भाग रक्खा गया है, एक तो **देवानाम्**=वायु आदि देवों का, दूसरा **पितृणाम्**=पितरों का तथा तीसरा **मर्त्यानाम्**=अतिथिरूप मनुष्यों का, **तान् अंशान् जानीध्वम्**=उन अंशों को तुम समझो। मैं उन सब अंशों को **वः विभजामि**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता हूँ। मैं तुम्हें इन सब यज्ञों के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता हूँ। २. इनमें **यः**=जो **देवानाम्**=देवों का भाग है, अर्थात् जो वायु आदि की शुद्धि के लिए देवयज्ञ किया जाता है, **सः**=वह **इमाम् पारयाति**=इस प्रजा को भवसागर से पार करता है—सब कष्टों से मुक्त करता है। नीरोगता का कारण बनकर यह देवयज्ञ प्रजा के जीवन को सुखी करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें जो धन प्राप्त कराया है वह देवयज्ञ, पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। इनमें देवयज्ञ वायुशुद्धि द्वारा प्रजा को रोग आदि कष्टों से पार करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'मात्रा (बलम्)'

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु॥ ६॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सहस्वान्**=शत्रुमर्षक बलवाला है। **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाला, **इत्**=सचमुच **अभि असि (भवसि)**=शत्रुओं को पराभूत करता है। तू **द्विषतः सपत्नान्**=द्वेष करनेवाले इन शत्रुओं को **नीचः न्युब्ज**=नीचे पादाक्रान्त कर दे (उब्ज आर्जवे, अत्र उपसर्गवशाद् अधोमुखीकरणम् अर्थः—सा०)। २. जीवन में शत्रुओं को पराभूत करने का मूलभूत उपाय सब कार्यों को माप-तोलकर करना है। विशेषकर भोजन में तो मात्रा आवश्यक ही है। यह मात्रा ही उपनिषद् के 'मात्रा बलम्' इन शब्दों में बल की संस्थापक है। **इयम्**=यह **मीयमाना**=सदा मापी जाती हुई **च मिता**=और मपी हुई **मात्रा**=मात्रा **ते**=तेरे **सजातान्**=साथ उत्पन्न होनेवालों को **बलिहृतः कृणोतु**=तेरे लिए बलि (कर) देनेवाला करे, अर्थात् ये सब सजात तेरे अधीन हों। 'मात्रा' के नियम का पालन करना हमें औरों से अधिक शक्तिशाली बनाता है। राजा मात्रा में कर लेता है तो आभ्यन्तर व बाह्य उपद्रवों का शिकार नहीं होता। इसी प्रकार हम 'खाने व बोलने' में मात्रा के नियम का पालन करते हुए व्याधियों व आधियों से पीड़ित नहीं होते।

भावार्थ—'मात्रा' के नियम का पालन करते हुए हम शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शक्तिरक्षण व स्वर्ग

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥ ७॥

१. हे अग्ने! **सजातैः साकम्**=अपने समान उत्पत्तिवालों के साथ **पयसा सह**=(क्षत्रं वै पयः, श० १२।७।३।८) क्षत्र (बल) के साथ **एधि**=तू निवास करनेवाला हो। **एनाम्**=इस भूमि को **महते वीर्याय**=महान् पराक्रम के लिए **उदुब्ज**=उन्नत कर। २. **ऊर्ध्वः**=उन्नत होता हुआ तू **नाकस्य विष्टपम्**=दुःख से असम्भिन्न लोक में **अधिरोह**=अधिरूढ़ हो, **यम्**=जिस लोक को **'स्वर्गः लोकः'** **इति**=स्वर्गलोक इसप्रकार **वदन्ति**=कहते हैं।

भावार्थ—हम शक्ति का वर्धन करते हुए उन्नत होने का ध्यान करें। यह शक्ति का रक्षण ही हमें उन्नत करके 'स्वर्गलोक' में स्थितिवाला करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

यज्ञ व स्वर्गलोक

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ८॥

१. **इयम्**=यह पुरोवर्तिनी **मही**=देवयजनभूमि **चर्म**=आस्तीर्यमाण अजिन को **प्रतिगृह्णातु**=स्वीकार करे। हम इस देवयजनभूमि पर मृगचर्म बिछाकर प्रभु के ध्यान व यज्ञ में प्रवृत्त हों। **देवी पृथिवी**=यह देवतारूप पृथिवी **सुमनस्यमाना**=मन को शोभन करती हुई अनुग्रह बुद्धियुक्त हो। इसपर किये जानेवाले ध्यान व यज्ञ हमें शुभ मनवाला बनाएँ। २. **अथ**=अब ध्यान, यज्ञ आदि द्वारा शुभ मनवाले होते हुए हम **सुकृतस्य लोकं गच्छेम**=पुण्य के लोक को प्राप्त हों। हमारा यह लोक पुण्यों का लोक बने।

भावार्थ—इस पृथिवी पर ध्यान व यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए हम शुभ लोक को प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—शाक्वरातिजागतगर्भाजगती ॥

शत्रुसंहार व प्रजोन्नति

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून्यजमानाय साधु।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह॥ ९॥

१. हे यज्ञशील पुरुष! तू **एतौ**=इन **सयुजा**=अवहनन (कूटने के) कर्म में साथ-साथ व्याप्रियमाण **ग्रावाणौ**=अश्मवत् दृढ़तर ऊखल और मूसल को **चर्मणि**=अवहननार्थ आस्तीर्ण चर्म पर **युङ्ग्धि**=स्थापित कर। अब **यजमानाय साधु अंशून् निर्भिन्धि**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए यागनिर्वतक व्रीहिकणों को सम्यक् तुषरहित कर (**उलूखलमुसलयोः ग्रावत्वेन रूपणात् व्रीहयः सोमांशुत्वेन रूप्यन्ते**), यज्ञ के लिए हविर्द्रव्यों को तैयार कर। २. ऊखल व मूसल में व्रीहिकणों को कूटती हुई गृहपत्नी से पति कहता है कि **अवघ्नती**=इस अवहनन कार्य को करती हुई तू उनको भी **निजहि**=नष्ट कर, **ये**=जोकि **इमां पृतन्यवः**=इस मातृभूमि पर सेना द्वारा आक्रमण की कामनावाले होते हैं। जिस प्रकार **उद् भरन्ती**=तू मूसल को ऊपर उठाती है, उसी प्रकार **प्रजां ऊर्ध्वं उदूह**=प्रजा को ऊपर स्थापित कर। प्रजा को उन्नत (श्रेष्ठ) स्थान प्राप्त करा।

भावार्थ—जिस प्रकार यज्ञ के लिए हविर्द्रव्यों को ऊखल में कूटते हैं, इसी प्रकार हम शत्रुओं को कूटनेवाले बनें। जैसे मूसल को ऊपर उठाया जाता है, इसी प्रकार हम अपनी प्रजाओं को उन्नत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगतिविराड्जगती** ॥

त्रयः वराः

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि॥ १०॥

१. हे **वीर**=वीर्यवन् अध्वर्यो! तू **सकृतौ**=(सह-कृतौ) मिलकर कार्य करनेवाले इन **ग्रावाणौ**=ऊखल व मूसल को **हस्ते गृहाण**=हाथ में ले, अर्थात् यज्ञ के लिए हविद्रव्यों को तैयार करने के लिए सन्नद्ध हो। **ते यज्ञियाः देवाः**=वे यज्ञशील देव—पूजनीय ज्ञानी पुरुष-**यज्ञम् अगुः**=यज्ञ में आएँ और तेरे इस यज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करें। २. **त्रयः वराः**=यजमान से वरयितव्य (प्रार्थनीय) तीन ही पदार्थ हैं। एक तो 'कर्मसमृद्धि', दूसरी उसकी फलभूत 'ऐहिकी समृद्धि' (Prosperity) तथा 'आमुष्मिकी समृद्धि' (मोक्ष)। हे यजमान! **त्वम्**=तु **यतमान् वृणीषे**=जिन वरों को प्रार्थित करता है, **ते**=तेरे लिए **ताः समृद्धीः**=उन समृद्धियों को (कर्मसमृद्धि, ऐहिकी समृद्धि, आमुष्मिकी समृद्धि) **इह**=इस यज्ञ में **राधयामि**=संसिद्ध करता हूँ। यह यज्ञ इष्टकामधुक् तो है ही।

भावार्थ—हम यज्ञसामग्री को सिद्ध करें। ज्ञानी ऋत्विज् हमारे यज्ञों में उपस्थित हों। हमें इन यज्ञों द्वारा कर्मसमृद्धि के साथ ऐहिकी व आमुष्मिकी समृद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

धीतिः-जनित्रम्

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ ११॥

१ हे यज्ञशील पुरुष! **इयम्**=यह यज्ञशीलता व वासनाराहित्य ही **ते**=तेरा **धीतिः**=सोमपान बनता है—यज्ञशीलता से ही तू सोम का रक्षण कर पाता है। **इदम् उ ते जनित्रम्**=निश्चय से यह सोमपान ही तेरी शक्तिविकास का साधन होता है। **त्वाम्** तुझे यह **शूरपुत्रा**=अपने पुत्रों को शूर बनानेवाली **अदितिः**=अदीना देवमाता—वेदवाणीरूप माता-**गृह्णातु**=अनुगृहीत करे या तुझे ग्रहण करनेवाली हो। तू सदा इसकी गोद में निवास करे। २. **ये**=जो **इमां पृतन्यवः**=इसके प्रति संग्राम की कामनावाले हों, अर्थात् इसको विहत करनेवाली वृत्तियाँ हों, उन्हें **परापुनीहि**=दूर करनेवाला हो—उन वृत्तियों को हृदय से दूर कर दे, जिस प्रकार व्रीहि से तुष को पृथक् कर देते हैं, इसप्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **अस्यै**=इस अपनी पत्नी के लिए **सर्ववीरं रयिम्**=वीर सन्तानों से युक्त ऐश्वर्य को **नियच्छ**=प्राप्त करा।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने। इस शक्ति के विकास के लिए ही हम स्वाध्याय-विरोधी सब बातों को छोड़कर स्वाध्यायशील बनें। यह स्वाध्याय ही तो हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएगा। अब हम सद्गृहस्थ बनकर वीर सन्तानों व ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उपश्वसे-द्रुवये

उपश्वसे द्रुवयें सीदता यूयं वि विंच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥ १२ ॥

१. **उपश्वसे**=(उपश्वस Sounding, roaring) प्रभु के नामों के उच्चारण में तथा **द्रुवये**=(द्रुवयः a measure) माप में—प्रत्येक क्रिया को माप-तोल कर करने में—माप-तोलकर खाने आदि की क्रियाओं में **यूयं सीदत**=तुम आसीन होओ, अर्थात् तुम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करो तथा खान-पान आदि क्रियाओं को बड़ा माप-तोलकर करो तथा **यज्ञियासः**=यज्ञिय वृत्तिवाले बनकर **तुषैः**=तुच्छ वृत्तिवाले पुरुषों से—तुषों के समान निःसार पुरुषों से **विविच्यध्वम्**=अपने को पृथक् करनेवाले होओ। सदा सत्संग में स्थित होनेवाले बनो। २. इसप्रकार जीवनवाले बनकर हम **श्रिया**=श्री के दृष्टिकोण से **सर्वान् समानान्**=सब समान जन्मवाले पुरुषों को **अति स्याम**=लांघ जाएँ। मैं **द्विषतः**=द्वेष करनेवाले शत्रुओं को **अधस्पदं पादयामि**=पाँवों तले रौंद डालता हूँ (पादयोरधस्तात् क्षिपामि)

भावार्थ—प्रभुस्तवन से पृथक् न होते हुए हम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग एकदम माप-तोलकर करें। तुच्छवृत्ति के पुरुषों के संग में न उठें-बैठें, औरों से अधिक श्रीवाले हों और शत्रुओं को पादाक्रान्त कर सकें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

नारी का कार्यों में लगे ही रहना

परेंहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद्भराय ।
तासां गृह्णीताद्यतमा यज्ञिया असन्विभाज्य धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥

१. हे **नारि**=गृहकार्यों का प्रणयन करनेवाली गृहपत्नि! तू **परेहि**=(परा इहि) कार्यवश बाहर अवश्य जा, परन्तु **क्षिप्रं पुनः एहि**=शीघ्र ही फिर लौटने की कर—सहेलियों में ही गप्पें न मारती रह। उन्हीं की गोष्ठी में न बैठी रह, चूँकि **अपां गोष्ठः**=कर्मों का समूह **भराय**=भरण करने के लिए **त्वा अध्यरुक्षत्**=तेरे सिर पर आरूढ़ है। तेरे सिर पर गृहकार्यों का बोझ विद्यमान है—उन सब कर्त्तव्यों को भी तो तुझे निभाना है। २. **तासाम्**=उन कर्मों में **यतमाः यज्ञियाः असन्**=जितने यज्ञिय (पवित्र) कर्म हैं, उनको तू **गृह्णीतात्**= ग्रहण कर, उन कर्त्तव्यों के पालन में यत्नशील हो। **धीरी**=बुद्धिमती तू **विभाज्य**=अच्छे व बुरे कर्मों को अलग-अलग करके **इतराः**=जो शुभेतर अशुभ कर्म हैं उन्हें **जहीतात्**=छोड़ दे।

भावार्थ—गृहपत्नी कार्यवश घर से बाहर जाए भी तो शीघ्र ही लौट आये, क्योंकि उसके सिर पर तो कर्मों का बड़ा भार लदा है। यह यज्ञिय कर्मों को स्वीकार करे और बुद्धिमती होती हुई अशुभ कर्मों का परित्याग कर डाले।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुपत्नी-प्रजावती

एमा अंगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व ।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥

१. **शुम्भमानाः**=शोभनालंकारों व उत्तम गुणों से युक्त **इमाः योषितः**=ये नारियाँ **आ अगुः**=घरों में प्राप्त हुई हैं। हे **नारि**=गृहकार्य प्रणेत्रि! तू **उत्तिष्ठ**=उठ—आलस्य को परे फेंककर कार्यों

में लग। **तवसं रभस्व**=शक्तिशाली पति का आलिंगन करनेवाली बन। २. तू **पत्या सुपत्नी**=इस पति से उत्तम पतिवाली बन। **प्रजया प्रजावती**=प्रजा से प्रशस्त प्रजावाली हो। **त्वा**=तुझे **यज्ञः आ अगन्**=यज्ञ समन्तात् प्राप्त हो—तू सदा यज्ञशील हो। **कुम्भम्**=(क+उम्भ् पूरणे) तु सुख का पूरण करनेवाले कार्य को ही **प्रतिगृभाय**=प्रतिदिन ग्रहण करनेवाली हो।

भावार्थ—शुभ गुणों से अलंकृत गृहिणी आलस्य को छोड़कर घर के कार्यों में व्यापृत रहे। उसका शक्तिशाली पति से सम्पर्क हो। यह उत्तम पति व प्रशस्त सन्तानोंवाली हो। यज्ञशील हो। सुख का पूरण करनेवाले कार्यों को ही स्वीकार करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

गातुवित्—वीरवित् (यज्ञः)

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित्प्रजाविदुग्रः पशुविद्वीरविद्वो अस्तु॥ १५॥

१. हे नारि! **एताः**=इन **ऋषिप्रशिष्टा**=(ऋषिः मन्त्रः) वेदमन्त्रों द्वारा उपदिष्ट **अपः**=कर्मों को **आभर**=सब प्रकार से धारण करनेवाली हो। यह कर्म वह है **यः**-जोकि **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रभु द्वारा **वः**-तुम्हारे लिए **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति का **भागः**=अंश **निहितः**=रक्खा गया है। कर्म ही तो तुम्हारी शक्ति को स्थिर रक्खेगा। कर्म छोड़ा और जीर्णता आई (Rest किया rust लगा)। २. **अयं यज्ञः**=यह यज्ञात्मक कर्म **वः**=तुम्हारे लिए **गातुवित्**=स्वर्ग-मार्ग का प्रापक है, **नाथवित्**=प्रभु को व ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला है (नाथ=ऐश्वर्य), **प्रजावित्**=यह उत्तम शक्तियों के विकास (सन्तानों) को प्राप्त करानेवाला है, **उग्रः**=तेजस्वी है, **पशुवित्**=उत्तम गवादि पशुओं को प्राप्त करानेवाला है। यह यज्ञ **वीरवित् अस्तु**=उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—नारी वेदोपदिष्ट यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहे। इससे शक्ति बनी रहेगी और जीर्णता न आएगी। यह यज्ञ स्वर्ग का मार्ग है, प्रभु को प्राप्त करानेवाला है। यह उत्तम प्रजा-(शक्ति-विकास)-वाला, उत्तम पशुओंवाला व वीर सन्तानोंवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

आर्षेयाः, दैवाः, तपिष्ठाः

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम्।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु॥ १६॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **यज्ञियः चरुः**=(चरुः ओदनः—श० ४।४।२।१) यज्ञरूप (पूजनीय) प्रभु से प्राप्त होनेवाला यह ब्रह्मौदन (ज्ञान का ओदन) **त्वा अधि अरुक्षत्**=तुझपर अधिरूढ़ हो—तू ब्रह्मौदन प्राप्त करने को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ। यह **शुचिः**=जीवन को पवित्र बनानेवाला है, **तपिष्ठः**=अत्यन्त दीप्त है। इस ब्रह्मौदन से मानवजीवन पवित्र व दीप्त बनता है। **तपसा**=तप के द्वारा—तपस्वी जीवन के द्वारा—भोगों में एकदम अनासक्त जीवन के द्वारा—**एनं तप**=इस ब्रह्मौदन को अपने में दीप्त कर। २. **आर्षेयाः**=(ऋषिर्वेदः, तस्य इमे) वेद (ज्ञान) के प्रति रुचिवाले, **दैवाः**=देव प्रभु के उपासक **तपिष्ठाः**=तपस्वी जीवनवाले व्यक्ति **अभिसंगत्य**=एकत्र होकर—चारों ओर से सभा में सम्मिलित होकर—**इमं भागम्**=इस भजनीय वेदज्ञानरूप चरु को **ऋतुभिः**=अपनी-अपनी नियमित गतियों के द्वारा **तपन्तु**=दीप्त करनेवाले हों। 'आर्षेय, दैव, तपिष्ठ' लोग ही पुरुषार्थ के द्वारा इस ब्रह्मौदन (यज्ञिय चरु) का परिपाक कर पाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति को ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य समझें। यह हमारे जीवन को पवित्र व दीप्त बनाता है। तप के द्वारा ही हम ज्ञानदीप्त बनते हैं। ज्ञानरुचिवाले, उपासक व तपस्वी बनकर हम सभा में एकत्र होकर, पुरुषार्थी होते हुए, इस भजनीय ज्ञान का सेवन करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः— विराड्जगती ॥

ज्ञानरुचिता व स्वर्ग-निर्माण

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलान्पशून्नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ १७॥

१. **शुद्धाः**=शुद्ध चरित्रवाली **पूताः**=पवित्र मनवाली **इमाः योषितः**=ये स्त्रियाँ **यज्ञियाः**=यज्ञशीला हैं। **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली अतएव **शुभ्राः**=शुद्ध व दीप्त जीवनवाली ये **चरुम् अवसर्पन्तु**=ब्रह्मौदन—ज्ञान-भोजन—के प्रति गतिवाली हों। ये खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में ही लगाने का ध्यान करें। २. ये गृहिणियाँ **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को तथा **बहुलान् पशून्**=दुग्धादि बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले—बहुत-से गवादि पशुओं को **अदुः**=दें। **ओदनस्य पक्ता**=ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाला यह गृहपति **सुकृताम् लोकम्**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक को **एतु**=प्राप्त हो। इनका घर स्वर्गतुल्य बने।

भावार्थ—पवित्र जीवनवाली स्त्रियाँ कर्मों में व्याप्त रहें—खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाएँ। इस जीवन में ये उत्तम सन्तानों व उत्तम पशुओं को प्राप्त करेंगी। ज्ञानरुचि-गृहपति घर को स्वर्ग बनानेवाला होगा।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—अतिजागतगर्भापरातिजागतीविराडतिजगती ॥

स्वर्ग-मार्ग

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम्॥ १८॥

१. **ब्रह्मणा शुद्धाः**=वेदज्ञान से शुद्ध जीवनवाले, **उत**=और **घृतेन पूताः**=मलों के क्षरण द्वारा पवित्र हुए-हुए, **सोमस्य अंशवः**=सोमशक्ति को शरीर में विभक्त करनेवाले, **तण्डुलाः**=(तडि विध्वंसे) वासनाओं का विध्वंस करनेवाले **इमे**=ये पुरुष **यज्ञियाः**=यज्ञमय जीवनवाले हैं। २. प्रभु आदेश देते हैं कि **अपः प्रविशत**=कर्मों में प्रवेश करो—क्रियाशील जीवनवाले बनो। **चरुः**=यह ब्रह्मौदन **वः प्रतिगृह्णातु**=तुम्हारा ग्रहण करे, अर्थात् तुम्हें ज्ञान-प्राप्ति का व्यसन-सा लग जाए। **इमं पक्त्वा**=इस ज्ञान-भोजन को परिपक्व करके तुम **सुकृतां लोकं एत**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक में—स्वर्ग में प्राप्त होओ।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम वेदज्ञान द्वारा जीवन को शुद्ध बनाएँ, मलक्षरण द्वारा पवित्र जीवनवाले हों। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रक्खें, वासनाओं का विध्वंस करके यज्ञशील हों। क्रियामय जीवनवाले होकर ज्ञान-प्राप्ति में लगाववाले हों। यही मार्ग है स्वर्ग प्राप्त करने का।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञानरुचि सम्पन्न वंश

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाऽहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ १९॥

१. हे ब्रह्मौदन=ज्ञान के भोजन! तू **महता महिम्ना**=अपनी महनीय महिमा से हमारे जीवन में **उरुः प्रथस्व**=खूब फैल। **सहस्रपृष्ठः**=(पृष्ठ सेचने) तू शतशः सुखों का सेचन करनेवाला हो।

हमें **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में स्थापित कर। २. हमारे वंश में **पितामहाः**=दादा-परदादा आदि **पितरः**=हमारे रक्षक—सात पीढ़ियों के लोग तथा **प्रजा**=हमारे पुत्र **उपजा**=पुत्रों के पुत्र भी सात पीढ़ी तक तथा **पंचदशः अहम्**=इनके बीच में पन्द्रहवाँ मैं **ते पक्ता अस्मि**=हे ब्रह्मौदन! तेरा पकानेवाला हूँ, अर्थात् हमारे वंश में सभी ज्ञान की रुचिवाले हों।

भावार्थ—हमारे वंश में पूर्वज व अवरज सभी वंश में ज्ञान की रुचिवाले हों। यह ज्ञान हमारी महिमा का वर्धक होता है, शतशः सुखों का सेचक होता है तथा सुकृत के लोक में हमें स्थापित करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भापराशक्वराचतुष्पदाभुरिग्जगती** ॥

ब्रह्मौदनः=देवयानः

स॒हस्र॑पृष्ठः श॒तधा॑रो॒ अक्षि॑तो ब्रह्मौद॒नो दे॑व॒यानः॑ स्व॒र्गः।
अ॒मूंस्त॒ आ द॑धामि प्र॒जया॑ रेषयैनान्बलिहा॒राय॑ मृडता॒न्मह्य॑मे॒व॥ २०॥

१. **ब्रह्मौदनः**=यह ज्ञान का भोजन **सहस्रपृष्ठः**=सहस्रों सुखों का सेचन करनेवाला है। **शतधारः**=शत-वर्षपर्यन्त—आजीवन हमारा धारण करनेवाला है। **अ-क्षितः**=(न क्षितं यस्मात्) इससे कभी हमारा विनाश नहीं होता। **देवयानः**=यह देव की प्राप्ति का मार्ग है। **स्वर्गः**=जीवन को सुखमय व प्रकाशमय बनानेवाला है। २. हे ब्रह्मौदन! मैं **अमून्**=उन अपने शत्रुओं को **ते आदधामि**=तेरी अधीनता में स्थापित करता हूँ। वस्तुतः ज्ञानरुचिता होने पर ये काम-क्रोध आदि शत्रु अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। **प्रजया**=मेरी शक्तियों के विकास के हेतु से **एनान् रेषय**=इन शत्रुओं को नष्ट कर डालिए। **मह्यम्**=मुझ **बलिहाराय**=बलि प्राप्त करानेवाले के लिए—बलिवैश्वदेवादि यज्ञों को करनेवाले के लिए यह ब्रह्मौदन **मृडतात् एव**=अनुग्रह ही करनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा मेरा जीवन सुखी हो।

भावार्थ—ज्ञान हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाता हुआ हमें प्रभु की ओर ले-चलता है। यह जीवन को प्रकाशमय बना देता है। यह ज्ञान हमारे शत्रुओं को नष्ट करे, हमारे विकास के लिए इन कामादि शत्रुओं का विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

उदय

उ॒देहि॒ वेदिं॑ प्र॒जया॑ वर्धयैनां नु॒दस्व॒ रक्षः॑ प्र॒त॒रं धे॑ह्येनाम्।
श्रि॒या स॑मा॒नानति॒ सर्वा॑न्त्स्यामाध॒स्प॒दं द्वि॑ष॒तस्पा॑दयामि॥ २१॥

१. हे पक्वौदन पुरुष—ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाले पुरुष! तू **वेदिं उत् एहि**=यज्ञभूमि के प्रति उत्कर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। **प्रजया**=अपने सन्तानों के साथ **एनान्**=इस यज्ञवेदि को **वर्धय**=तू बढ़ानेवाला हो—यज्ञवेदी की शोभा को बढ़ा। सन्तानों के साथ मिलकर यज्ञ कर। **नुदस्व रक्षः**=राक्षसी भावों को परे धकेल दे। **एनाम्**=इस यज्ञवेदि को **प्रतरम्**=प्रकृष्टतर रूप में **धेहि**=धारण कर। २. प्रभु से प्रेरित हुआ-हुआ उपासक प्रार्थना करता है कि मैं **श्रिया**=श्री के दृष्टिकोण से **सर्वान् समानान् अति स्याम**=एकसमान जन्मा पुरुषों को लाँघ जाऊँ और **द्विषतः**=द्वेष के कारणभूत काम-क्रोध आदि को **उधस्पदं पादयामि**=पाँव तले रौंद डालता हूँ।

भावार्थ—हम सन्तानों के साथ यज्ञवेदि की शोभा को बढ़ानेवाले बनें। राक्षसी भावों को दूर धकेल दें। सर्वाधिक श्रीवाले हों और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पादाक्रान्त कर लें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अनमीवा (विराज)

अ॒भ्याव॑र्तस्व प॒शुभि॑ः स॒हैनां॑ प्र॒त्यङे॑नां दे॒वता॑भिः स॒हैधि॑।

मा त्वा॒ प्राप॑च्छ॒पथो॒ माभि॑चा॒रः स्वे क्षेत्रे॑ अनमी॒वा वि रा॑ज॥ २२॥

१. हे ब्रह्मौदन (ज्ञान के भोजन)! **एनाम्**=इस गृहपत्नी को **पशुभिः सह अभ्यावर्तस्व**=गौ आदि पशुओं के साथ प्राप्त हो। यह गृहिणी गौ आदि का पालन भी करे और स्वाध्याय भी अवश्य करे तथा **एनाम्**=इसे **देवताभिः सह**=यष्टव्य देवों के साथ **प्रत्यङ् एधि**=तू आभिमुख्येन जाता हुआ हो, अर्थात् यह देवयज्ञ आदि यज्ञों को भी करे और ज्ञान के भोजन का परिपाक भी करे—यह स्वाध्यायशील भी हो। २. इस स्थिति में **त्वा**=तुझे **शपथः मा प्रापत्**=आक्रोश मत प्राप्त हो—तू अपशब्द बोलनेवाली न हो, तेरे लिए कोई अपशब्द न कहे। तुझे **अभिचारः मा**=हिंसार्थ की जानेवाली क्रियाएँ भी प्राप्त न हों। तू किसी की हिंसा के लिए कोई कर्म न कर। **स्वे क्षेत्रे**=अपने इस घर में व शरीर में **अनमीवा विराज**=रोगरहित हुई-हुई दीप्त जीवनवाली बन।

भावार्थ—गृहपत्नी स्वाध्याय को न छोड़ती हुई गौ आदि पशुओं की सेवा करे—देवयज्ञादि यज्ञों को करनेवाली हो, कभी अपशब्द कहनेवाली व हिंसाकर्म में प्रवृत्त न हो। इसप्रकार घर में नीरोग व दीप्त जीवनवाली बने।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

हृदयरूप वेदि

ऋ॒तेन॑ त॒ष्टा मन॑सा हि॒तैषा ब्र॑ह्मौद॒नस्य॒ विहि॑ता॒ वेदि॒रग्रे॑।

अं॒स॒द्रीं शु॒द्धामुप॑ धेहि नारि॒ तत्रौ॑द॒नं साद॑य दै॒वाना॑म्॥ २३॥

१. **'यत्त्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दँस्तस्माद् वेदिर्नाम'** (श० १।२।५।१०) हृदय में प्रभु का दर्शन व प्राप्ति होती है, अतः हृदय ही वेदि है। यह **वेदिः**=हृदयरूप वेदि **ऋतेन तष्टा**=ऋत के द्वारा तनूकृत—सम्यङ् निर्मित—होती है। सत्य से ही यह शुद्ध बनी रहती है। **मनसा**=मनन के द्वारा **एषा**=यह **हिता**=धारण की जाती है। इसका मुख्य कार्य मनन ही है। यह **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु द्वारा **ब्रह्मौदनस्य विहिता**=ब्रह्मौदन की बनाई गई है। प्रभु ने 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदय में इस ब्रह्मौदन (ज्ञान-भोजन) की स्थापना की, अतः यह हृदयवेदि ब्रह्मौदन की वेदि कहलाती है। २. हे **नारि**=गृह को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाली गृहिणि! तू इस वेदि को **शुद्धाम्**=राग-द्वेष आदि मलों से शून्य तथा **अंसद्रीम्**=(अंसत्रम्=अंहसस्त्राणम्—नि० ५।२६) अंहस् (पाप) का द्रावण करनेवाली—पाप को अपने से दूर भगानेवाली—निष्पाप बनाकर **उपधेहि**=प्रभु की उपासना में धारण कर—शुद्ध निष्पाप हृदय से प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हो। **तत्र**=उस शुद्ध हृदयवेदि में **दैवानाम्**=सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि सब देवों के **ओदनम्**=ज्ञानरूप भोजन को **सादय**=(आसादय) प्राप्त कर।

भावार्थ—हम हृदय को ऋत के द्वारा शुद्ध बनाएँ, मनन के द्वारा इसका धारण करें, इसे ब्रह्मौदन के लिए बनाई गई वेदि समझें। इसे शुद्ध व निष्पाप बनाकर प्रभु की उपासना करते हुए ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥

'नर व नारी' ज्ञान संचेता बनें

अदितेर्हस्तां स्रुचमेतां द्वितीयां सप्तऋषयो भूतकृतो यामकृण्वन्।
सा गात्राणि विदुष्योदनस्य दर्विर्वेद्यामध्येनं चिनोतु॥ २४॥

१. स्वाध्याय को ज्ञानयज्ञ कहा जाए तो वाणी उस यज्ञ का 'स्रुच' बनती है (a wooden ladle)। **अदितेः**=अदीना देवमाता इस वेदज्ञान का यह **द्वितीयाम्**=दूसरा **हस्ताम्**=(हस् to brighten up) चमकता हुआ **स्रुचम्**=चम्मच है (वाग् वै स्रुचः—श० ६।३।१।८)। यह वाणीरूप चम्मच वह चम्मच है **यां एताम्**=जिस वाणीरूप चम्मच को **सप्त ऋषयः**=प्रभु का पूजन करनेवाले व वासनाओं का संहार करनेवाले (सर्प to worship, ऋष् to kill) **भूतकृतः**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले लोग **अकृण्वन्**=अपने अन्दर सम्पादित कराते हैं। इस वाणीरूप चम्मच द्वारा ही वे ज्ञानरूप घृत की आहुति हृदयरूप वेदि में प्राप्त कराते है। २. गृहपत्नी से कहते हैं कि **सा**=वह **दर्विः**=(दृ विदारणे) वासनाओं को विदीर्ण करनेवाली तू **ओदनस्य**=इस ब्रह्मौदन के **गात्राणि विदुषी**=अङ्गों को जानती हुई **वेद्याम्**=हृदयवेदि में **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **अधिचिनोतु**=आधिक्येन संचित करनेवाली हो। तू भी खूब ही ज्ञान को प्राप्त करनेवाली बन।

भावार्थ—घर में पुरुष भी 'सप्त ऋषि व भूतकृत्' बनकर वाणी द्वारा ज्ञान को प्राप्त करे तथा गृहपत्नी भी वासनाओं को विदीर्ण करनेवाली बनकर ज्ञान का संचय करे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥

आर्षेय पुरुषों का अहिंसन

शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान्प्र सीद।
सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः॥ २५॥

१. **शृतम्**=परिपक्व **त्वा**=तुझ **हव्यम्**=अदन करने के योग्य ब्रह्मौदन को **दैवाः**=देव (प्रभु) के उपासक **उपसीदन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। प्रभु के उपासकों को यह दिव्य परिपक्व ज्ञान प्राप्त होता है। हे ब्रह्मौदन! तू **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु से **निःसृप्य**=निकलकर **पुनः**=फिर **एनान्**=इन उपासकों को **प्रसीद**=प्राप्त हो। प्रभु के उपासक हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. **सोमेन**=शरीर में सुरक्षित सोमशक्ति द्वारा **पूतः**=पवित्र हुआ-हुआ, हे ब्रह्मौदन! तू **ब्रह्मणाम्**=इन ज्ञानियों के **जठरे**=जठर में—इनके अन्दर **सीद**=आसीन हो। शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और दीप्त ज्ञानाग्नि में ज्ञान पवित्र हो जाता है। **ते प्राशितारः**=वे ब्रह्मौदन को खानेवाले **आर्षेयाः**=(ऋषिः वेदः, तस्य इमे) ज्ञान के उपासक लोग **मा रिषन्**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु के उपासक परिपक्व ज्ञान को प्राप्त करते हैं—इन्हें अन्तःस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त होने लगता है। शरीर में सुरक्षित सोम से ज्ञान की पवित्रता होती है। ब्रह्मौदन को खानेवाले ये ज्ञानभक्त पुरुष वासनाओं से हिंसित नहीं होते।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—विराड्जगती ॥

सोमरक्षण तथा ज्ञानी ब्राह्मणों का आतिथ्य

सोम राजन्त्संज्ञानमा वपैभ्यः सुब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
ऋषीनार्षेयांस्तपसोऽधि जातान्ब्रह्मौदने सुहवा जोहवीमि॥ २६॥

१. हे **राजन् सोम**=शरीर में सुरक्षित होने पर शरीर की शक्तियों को दीप्त करनेवाले सोम (वीर्य)! **एभ्यः**=इन सबके लिए, **यतमे**=जितने **सुब्राह्मणाः**=उत्तम ब्रह्म के उपासक लोग **त्वा**

उपसीदान्=तेरी उपासना करें, अर्थात् तुझे शरीर में सुरक्षित रखने के लिए यत्न करें, उन सबके लिए **संज्ञानम्**=सम्यक् ज्ञान को **आवप**=(निधेहि—सा०) प्राप्त करा। सोमरक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हम संज्ञानवाले बनें। २. एक गृहपत्नी संकल्प करती है मैं **सुहवा**=शोभन आह्वानवाली होती हुई **ब्रह्मौदने**=ज्ञान के भोजन के निमित्त **तपसः अधिजातान्**=तप के द्वारा विकसित ज्ञानवाले **आर्षेयान्**=सदा (ऋषौ भवान्) ज्ञान में निवास करनेवाले **ऋषीन्**=(ऋष् to kill) वासना को विनष्ट करनेवाले इन लोगों को **जोहवीमि**=पुकारती हूँ। इनका आतिथ्य करती हुई इनसे ज्ञान की प्रेरणाओं को प्राप्त करती हूँ।

भावार्थ—हम शरीर में सोम का रक्षण तथा घर में ज्ञानी ब्राह्मणों का आतिथ्य करते हुए ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—अतिजागतागर्भाभुरिग्जगती ॥

'शुद्ध, पवित्र, यज्ञिय' युवतियाँ

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे॥ २७॥

१. **इमाः**=ये **योषितः**=स्त्रियाँ **शुद्धाः**=शुद्ध जीवनवाली, **पूताः**=पवित्र मानस भावनावाली व **यज्ञियाः**=यज्ञशीला हैं। इन्हें **ब्रह्मणाम्**=ज्ञानियों के **हस्तेषु**=हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग **प्र सादयामि**=प्रकर्षेण बिठाता हूँ—स्थापित करता हूँ। एक का विवाह एक के ही साथ करता हूँ। एक युवति को एक युवक का ही जीवनसखा बनाता हूँ, २. **यत् कामः**=जिस कामनावाला होकर **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **इदम् अभिषिञ्चामि**=इस अभिषेक क्रियावाला करता हूँ **सः मरुत्वान् इन्द्रः**=वह प्राणोंवाला—प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **मे इदं ददात्**=मेरे लिए इस कामना को देनेवाला हो। पिता पुत्री को गृहस्थ में इसीलिए अभिषिक्त करता है कि वह सन्तान को जन्म देनेवाली बने। यदि उसे जीवन-साथी (पति) प्राणशक्ति-सम्पन्न व जितेन्द्रिय प्राप्त होता है, तो वह अवश्य उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली बनती है।

भावार्थ—पिता अपनी कन्याओं को 'शुद्ध, पवित्र, यज्ञशील' बनाने का प्रयत्न करे। बड़ा होने पर उन्हें ज्ञानी पुरुषों के हाथों में अलग-अलग सौंपे। इनके पति प्राणसाधक व जितेन्द्रिय होते हुए उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वर्गः पन्थाः

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुघा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ २८॥

१. **इदं मे ज्योतिः**=यह मेरा ज्ञान का प्रकाश है, अर्थात् मैं ज्ञान से जीवन को ज्योतिर्मय करने के लिए यत्नशील होता हूँ। **अमृतम्**=यह नीरोगता है, **हिरण्यम्**=यह शरीर में सुरक्षित हितरमणीय वीर्यशक्ति है। **क्षेत्रात् पक्वम्**=खेतों में जिसका परिपाक हुआ है, वह वानस्पतिक भोज्य पदार्थ है। **मे**=मेरी **एषा**=यह **कामदुघा**=खूब ही दूध देनेवाली गौ है। २. **इदं धनम्**=इस धन को **ब्राह्मणेषु निदधे**=मैं ज्ञानियों में स्थापित करता हूँ, अर्थात् ज्ञानियों के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ 'अतिथियज्ञ' करता हूँ। मैं **पितृषु पन्थां कृण्वे**=पितरों में अपने मार्ग को बनाता हूँ, अर्थात् मैं भी पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता हूँ। यह मार्ग वह है **यः**=जोकि **स्वर्गः**=सुख व प्रकाश की ओर जानेवाला है।

भावार्थ—स्वर्ग का मार्ग यह है कि (क) हम ज्ञान का संचय करें, (ख) नीरोग बनें, (ग) वीर्यरक्षण करनेवाले हों (घ) वानस्पतिक भोजन करें, (ङ) घर में कामदुघा धेनु रक्खें, (च) ज्ञानियों को लोकहित के कार्यों के लिए धन दें, (छ) पालनात्मक प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—भुरिग्जगती ॥

तुष—कम्बूक

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम्।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्॥ २९ ॥

१. **तुषान्**=तुषवत् (भूसी की भाँति) तुच्छ प्रकृति के मनुष्यों को **जातवेदसि अग्नौ**=ज्ञानी अग्रणी राजा में **आवप**=फेंक। तुच्छ प्रकृति के दुष्ट पुरुषों को राजा को सौंप देना चाहिए। **एतम्**=इसे **गृहराजस्य**=घरों के रक्षक—राष्ट्रगृह के शासक राजा का **भागं विद्म**=भाग जानते हैं। राजा इन्हें अपनी अधीनता में करके उचित दण्डादि देता हुआ ठीक प्रकृति का बनाने का प्रयत्न करता है। २. **कम्बूकान्**=(plunderer) लुटेरों का **परः**=परस्तात् **दूरम् अपमृड्ढि**=सुदूर सफ़ाया कर दे। इन्हें राष्ट्र से पृथक् कर देना ठीक है। **अथो**=और इन लुटेरों को **निर्ऋतेः**=दुर्गति का **भागधेयम् विद्म**=भाग जानते हैं। इन्हें कष्टमय स्थिति में प्राप्त कराना ही ठीक है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि तुच्छ प्रकृति के दुष्ट पुरुषों को उचित दण्ड आदि द्वारा ठीक प्रकृति का बनाने का प्रयत्न करे—उन्हें ज्ञान देने की व्यवस्था के द्वारा आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे (जातवेदस, अग्नि)। लुटेरों को तो राष्ट्र से दूर ही कर दे—उनका कष्टमय स्थिति में होना ठीक ही है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'श्राम्यन्, पचन्, सुन्वन्'

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम्।
येन रोहात्परमापद्य यद्वय उत्तमं नाकं परमं व्योमम॥ ३० ॥

१. ब्रह्मचर्याश्रम में **श्राम्यतः**=ज्ञान-प्राप्ति में श्रम करते हुए, **पचतः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करते हुए, **सुन्वतः**=शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति का अभिषव करते हुए इन युवकों को **विद्धि**=जान—इनका रक्षण कर। गत मन्त्र के तुषों से ये भिन्न हैं। इन्होंने ही तो राष्ट्रगृह का उत्तम सदस्य बनना है। इनका जितना ध्यान रखा जाए उतना ही ठीक है। हे प्रभो! आप **एनम्**=इस 'श्राम्यन्, पचन्, सुन्वन्' पुरुष को **स्वर्गं पन्थाम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले मार्ग पर **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए, २. **येन**=जिससे यह **यत् परं वयः आपद्य**=जो उत्कृष्ट जीवन है, उसे प्राप्त करके **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट सुखमय स्थिति को **रोहात्**=आरूढ़ हो तथा **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट व्योम (आकाशवत् व्यापक) प्रभु को प्राप्त करे (**ओम् खं ब्रह्म**)।

भावार्थ—हम श्रमशील, ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले व सोम का सम्पादन करनेवाले बनें। प्रकाश व सुख के मार्ग पर आरूढ़ हों। उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करके स्वर्ग-तुल्य इस जीवन को बिताने के बाद प्रभु को प्राप्त करें—मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

मनःशुद्धि + शरीर-शुद्धि

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद्वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ ३१ ॥

१. हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! **बभ्रेः**=धारण करनेवाले **एतत्**=इस ब्रह्मौदन के **मुखं विमृड्ढि**=द्वार को—प्रमुख साधन को—शुद्ध कर डाल। मन ही इस ब्रह्मौदन का 'मुख' है, इस मन को तू शुद्ध करनेवाला बन, **प्रविद्वान्**=ज्ञानी होता हुआ तू **आज्याय**=(अज् to shine, to be beautiful) जीवन को दीप्त व सुन्दर बनाने के लिए **लोकं कृणुहि**=प्रकाश का सम्पादन कर। जितना ही अन्तःप्रकाश प्राप्त होगा, उतना ही जीवन दीप्त व सुन्दर बनेगा। २. अब **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **सर्वा गात्रा अनुविमृड्ढि**=सब अंग-प्रत्यंगों को शुद्ध कर डाल। इसप्रकार जीवन को शुद्ध मन के द्वारा ज्ञान से पूरित करके, अन्तःप्रकाश के द्वारा जीवन को सुन्दर बनाकर तथा मलक्षरण द्वारा सब अङ्गों को नीरोग व सशक्त बनाकर मैं **पितृषु**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगो में **पन्थां कृण्वे**=मार्ग बनाता हूँ। मैं भी रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। इसप्रकार मैं उस स्थिति का निर्माण करता हूँ **यः स्वर्गः**=जो प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—स्वर्ग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञान-प्राप्ति के साधनभूत मन को शुद्ध बनाएँ, (ख) जीवन को अलंकृत करने के लिए अन्तःप्रकाश प्राप्त करें, (ग) मल-क्षरण द्वारा सब अङ्गों को शुद्ध बना दें, (घ) रक्षणात्मक कार्यों को करनेवाले पितरों के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान से अभिमान-विनाश

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः॥ ३२॥

१. **बभ्रे**=हे पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन (ज्ञान के भोजन)! **यतमे**=जितने भी **अब्राह्मणाः**=ब्रह्म को न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष **त्वा उपसीदान्**=तेरी उपासना करें, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों, **एभ्यः**=इनके लिए तू **सः मदं रक्षः**=मद (अभिमान) से युक्त राक्षसी वृत्तियों को **आवप**=काटनेवाला बन। २. **ते प्राशितारः**=वे ब्रह्मौदन का अशन करनेवाले **मा रिषन्**=राक्षसी वृत्तियों से हिंसित न हों। ये **पुरीषिणः**=पालन व पूरण करनेवाले हों। **पुरस्तात् प्रथमानाः**=आगे और आगे शक्तियों का विस्तार करते हुए **आर्षेयाः**=(ऋषौ भवाः, ऋषिर्वेदः) वेदज्ञान में निवास करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान हमारे जीवन से अभिमानयुक्त सब राक्षसी वृत्तियों को दूर करे। इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हम पालन व पूरण करनेवाले बनें, आगे और आगे शक्तियों को विस्तृत करते चलें तथा ज्ञान में ही निवास करनेवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मौदनः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान के द्वारा सब देवों की अनुकूलता

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु पक्वम्॥ ३३॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **ओदन**=ब्रह्मौदन—ज्ञान के भोजन! **त्वा**=तुझे **आर्षेयेषु**=ज्ञानरुचिवाले पुरुषों में **निदधे**=स्थापित करता हूँ। **अनार्षेयाणाम्**=ज्ञानरुचिशून्य पुरुषों का **अत्र**=इस ब्रह्मौदन में **न अपि अस्ति**=भाग नहीं है। ज्ञान की रुचि के अभाव में उन्हें ज्ञान प्राप्त करना ही क्या? २. ज्ञान की रुचिवाले पुरुष को **मे अग्निः गोप्ता**=मेरा यह अग्नितत्त्व रक्षित करनेवाला होता है, **च**=और **सर्वे मरुतः**=सब मरुत (प्राण) भी उस ज्ञानरुचि पुरुष का रक्षण करते हैं। ज्ञानरुचिता

होने पर वासनामय जीवन नहीं होता और वासनामय जीवन के न होने पर शरीर में अग्नितत्त्व तथा प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। **पक्वम्**=इस ज्ञान परिपक्व मनुष्य को **विश्वेदेवाः**=संसार के सूर्य-चन्द्रादि सब देव **अभिरक्षन्तु**=सर्वतः रक्षित करनेवाले हों। ज्ञानी पुरुष सब देवों के साथ समुचित सम्पर्क बनाता हुआ सुखी व नीरोग जीवनवाला होता ही है।

भावार्थ—ज्ञानरुचि पुरुष ज्ञान को प्राप्त करके, सब देवों के साथ समुचित सम्पर्क बनाते हुए, सुखी व सुरक्षित जीवनवाले होते हैं। वासनामय जीवन न होने के कारण इनके शरीर में अग्नितत्त्व तथा प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रजामृतत्वम्—दीर्घम् आयुः—ऐश्वर्यम्

यज्ञं दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥ ३४॥

१. हे प्रभो! ज्ञान प्राप्त करते हुए हम **त्वा उपसदेम**=आपके समीप प्राप्त हों, जो आप **यज्ञं दुहानम्**=सब यज्ञों का प्रपूरण करनेवाले हैं। **सदम् इत् प्रपीनम्**=सदा से ही प्रवृद्ध हैं। **पुमांसम्** (पू+डुयसुन) पवित्र करनेवाले हैं **धेनुम्**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाले तथा **रयीणां सदनम्**=सब ऐश्वर्यों का निवास-स्थान हैं। २. आपकी उपासना करते हुए हम **प्रजामृतत्वम्**=(प्रजया अमृतत्त्वम् 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'—ऋ० ५।४।१०) प्रजाओं के द्वारा अमृतत्त्व को, **उत**=और **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को, **च**=तथा **रायः पोषैः**=धन के पोषणों के साथ उत्तम आयुष्य को (**उपसदेम**=उपगम्यास्म) प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों का पूरण करनेवाले, सदा से वृद्ध, पवित्र करनेवाले, ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाले व धनों के कोश हैं। हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रजाओं के द्वारा अमृतत्व को, दीर्घजीवन व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाककुम्मत्युष्णिक्** ॥

वृषभः—स्वर्गः

वृषभो ऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान्गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥ ३५॥

१. हे प्रभो! आप **वृषभः असि**=सुखों व शक्ति का सेचन करनेवाले हैं, **स्वर्गः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं (स्वः गमयति)। आप **ऋषीन्**=(ऋष् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले **आर्षेयान्**=(ऋषौ वेदे भवान्) ज्ञान में रुचिवाले पुरुषों को **गच्छ**=प्राप्त होओ। २. आप **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **लोके**=लोक में **सीद**=आसीन होओ। **तत्र**=वहाँ सुकर्मा लोगों के लोक में **नौ**=पति-पत्नी हम दोनों का **संस्कृतम्**=(Purification) पवित्रीकरण हो। सत्संग में हम पवित्र जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु वृषभ हैं—स्वर्ग हैं। वासनाओं को विनष्ट करनेवाले ज्ञानरुचि-पुरुषों को प्राप्त होते हैं। पुण्यकर्मा लोगों के लोक में प्रभु का निवास है। वहाँ सज्जन-संग में ही हम पति-पत्नी का पवित्रीकरण होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**पुरोविराट्त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मलोक-प्राप्ति

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान्।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ॥ ३६॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **सम् आचिनुष्व**=तू सब ओर से ज्ञान का संचय कर और **अनु सं प्रयाहि**=उस ज्ञान के अनुसार सम्यक् गतिवाला हो। अपने जीवन में **देवयानान् पथः कल्पय**=देवयान मार्गों का निर्माण कर—उन मार्गों से चल, जिनपर देव चला करते हैं। २. यह ज्ञान संचेता जीव प्रार्थना करता है कि **एतैः सुकृतैः**=इन उत्तम कर्मों से हम **अधि सप्तरश्मौ**=सूर्य से भी ऊपर **नाके**=दुःख से असंभिन्न आनन्दमय स्वरूप में **तिष्ठन्तम्**=स्थित होते हुए **यज्ञम्**=उस उपासनीय—संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय प्रभु को **अनुगच्छेम**=प्राप्त हों। '**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**'।

भावार्थ—हम ज्ञान का सञ्चय करें, ज्ञान के अनुसार कर्मों को करनेवाले बनें। देवयान मार्गों पर चलें। इन पुण्यकर्मों के द्वारा 'पृथिवीलोक से ऊपर अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक को तथा द्युलोक से ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।'

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड् जगती** ॥

ज्ञान-सुकृत—प्रकाश व आनन्द

येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन्ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व१रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ ३७॥

१. **देवाः**=देव लोग **येन ज्योतिषा**=जिस ज्योति के द्वारा **ब्रह्मौदनम्**=ज्ञानरूपी भोजन का **पक्त्वा**=परिपाक करके **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्यकर्मों के लोकभूत **द्याम् उद् आयन्**=द्युलोक को प्राप्त करते हैं, **तेन**=उस ज्योति से हम भी **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्यकर्मों के लोक को **गेष्म**=प्राप्त हों। २. **स्वः आरोहन्तः**=प्रकाश में आरोहण करते हुए हम **उत्तमम् नाकम् अभि (गेष्म)**=सर्वोत्तम आनन्दमय लोक की ओर जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम सुकृतों द्वारा प्रकाशमय लोक का विजय करें। प्रकाशमय लोक से आनन्दमय लोक में पहुँचें।

यह ज्ञानी पुरुष 'अथर्वा'=न डाँवाडोल वृत्तिवाला बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**परातिजागताविराड्जगती** ॥

भव व शर्व का अनुग्रह

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्त्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ १॥

१. **भवाशर्वौ**=(भवति अस्मात् सर्वं जगत्, शृणाति सर्वं जगत्) सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले व संहृति समय पर समस्त संसार को समाप्त करनेवाले प्रभो! **मृडतम्**=हमें सुखी करो। **मा अभियातम्**=रक्षणार्थ मुझे आभिमुख्येन प्राप्त होओ, अथवा हिंसन के लिए मुझपर आक्रमण मत करो। **भूतपती**=आप सब प्राणियों के रक्षक हो, **पशुपती**=गौ-महिष आदि सब पशुओं का पालन करनेवाले हो। **वाम् नमः**=आपको मेरा नमस्कार है। २. आप **प्रतिहिताम्**=अपने धनुष पर जोड़ी हुई **आयताम्**=ज्या (डोरी) के साथ खैंचे हुए अपने इषु (बाण) को **मा विस्त्राष्टम्**=हमपर मत छोड़ो। **नः**=हमारे **द्विपदः**=दो पाँववाले पुत्र-भृत्यादिरूप मनुष्यों को तथा **चतुष्पद**=चार पाँववाले गो-महिष, अश्वादि प्राणियों को **मा हिंसिष्टम्**=हिंसित मत करो।

भावार्थ—प्रभु ही संसार की उत्पत्ति व विनाश करनेवाले हैं। हम प्रभु का अनुग्रह प्राप्त

करें। हम सब भूतों व पशुओं के पति उस प्रभु के दण्डपात्र न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुबगर्भापञ्चपदापथ्याजगती** ॥

पशुपति द्वारा रक्षण

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः।
मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त॥ २॥

१. हे भव और शर्व प्रभो! **शरीराणि**=हमारे शरीरों को **शुने क्रोष्ट्रे**=कुत्ते व गीदड़ के लिए **मा कर्तम्**=मत कीजिए—हम कुत्तों व गीदड़ों के भोजन न बन जाएँ। **अलिक्लवेभ्यः** (a kind of carrion bird अलं, शक्ति, क्लव भये) अपनी शक्ति से भयभीत करनेवाले **गृध्रेभ्यः**=गिद्धों के लिए **च ये**=अथवा जो **कृष्णाः**=कृष्णवर्णवाले **अविष्यवः**=मांसेच्छु पक्षी आकाश में उड़ते हैं, इनके भक्षण के लिए शरीरों को न कीजिए। २. हे **पशुपते**=सब पशुओं के पालक प्रभो! **ते मक्षिकाः**=ये आपकी मक्खियाँ, **ते वयांसि**=आपके ये पक्षी **विघसे**=अन्न के निमित्त **मा विदन्त**=हमारे शरीरों को न प्राप्त करें—हम इनका भोजन न बन जाएँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप सबके रक्षक हैं। आपसे रक्षित हुए-हुए हम कुत्तों, गीदड़ों, भयंकर गिद्धों, कौवों, मक्खियों व अन्य पक्षियों के भोजन न बन जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदास्वराडुष्णिक्** ॥

रुद्र के लिए प्रणाम

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य॥ ३॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके **क्रन्दाय**=क्रन्दन व शब्द के लिए—सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान के लिए (हरिरेति कनिक्रदत्), **प्राणाय**=आपसे दी जानेवाली इस प्राणवायु के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **च**=और हे **भव**-सृष्टि को जन्म देनेवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **रोपयः**=विमोहनशक्तियाँ हैं, प्रलयकाल में मूढ़ अवस्था में प्राप्त करानेवाली शक्तियाँ हैं, उन सबके लिए हम नमस्कार करते हैं। २. हे **रुद्र**=अन्तकाल में सबको रुलानेवाले (रोदयति), सब (रुत् द्र) दुःखों के दूर करनेवाले (द्रावक) प्रभो! **अमर्त्य**=अमरणधर्मा **सहस्राक्षाय**=सहस्रों दर्शन शक्तियोंवाले, सर्वजगत् साक्षी **ते**=आपके लिए **नमः कृण्मः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देते हैं, प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, निद्रा व प्रलय में मूढ़ अवस्था में प्राप्त कराते हैं। सब दुःखों के द्रावक, अमरणधर्मा व सर्वसाक्षी हैं। उन आपके लिए हम नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नमः पुरस्तात् अथ पृष्ठतः ते

पुरस्तात्ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद्दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

१. हे रुद्र! **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **ते नमः कृण्मः**=आपके लिए नमस्कार करते हैं, **उत**=तथा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में आपके लिए नमस्कार करते हैं। २. **अभीवर्गात्**=(अभितःवृज्यते गृहादिरूपेण परिच्छिद्यते इति अभीवर्गः, अवकाशात्मक आकाशः) अवकाशात्मक आकाश से व **दिवः परि**=द्योतमान आकाश से ऊपर के भाग में **अन्तरिक्षाय**=नियन्तृरूपेण सबके अन्दर अवस्थित (अन्तरा क्षान्ताय) **ते नमः**=आपके लिए नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सब ओर हैं। गृहादि से परिच्छिन्न आकाश से,

द्योतमान आकाश से भी परे व सबके अन्दर नियन्तृरूपेण वे निवास कर रहे हैं। उनके लिए हम नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५ अनुष्टुप्, ६ आर्षी गायत्री** ॥

मुख आदि अंगों में प्रभुमहिमा का दर्शन

मुखा॑य ते पशुपते॒ यानि॒ चक्षूं॑षि ते भव। त्व॒चे रू॒पाय॑ स॒न्दृशे॑ प्रती॒चीना॑य ते॒ नमः॑ ॥ ५ ॥

अङ्गे॑भ्यस्त उ॒दरा॑य जि॒ह्वायां॑ आ॒स्या॒ ॒य ते। द॒द्भ्यो ग॒न्धाय॑ ते॒ नमः॑ ॥ ६ ॥

१. हे **पशुपते**=सब पशुओं के रक्षक प्रभो! **ते मुखाय नमः**=आपके मुख के लिए नमस्कार करते हैं—आपसे दिये गये इस मुख के महत्त्व को समझते हुए हम इसका उचित आदर करते हैं। हे **भव**=उत्पादक प्रभो! **यानि**=जो **ते चक्षूंषि**=आपकी दी हुई ये आँखे हैं, इनके लिए हम नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दिये गये **त्वचे**=त्वचा के लिए, **रूपाय**=सौन्दर्य के लिए **संदृशे**=सम्यग् दर्शन व ज्ञान के लिए तथा **प्रतीचीनाय**=अन्तःस्थित प्रत्यगात्मरूप आपके लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। २. **ते**=आपके इन **अंगेभ्यः**=अंगों के लिए **उदराय**=उदर के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दी गई **जिह्वायै**=जिह्वा के लिए **आस्याय**=मुख के लिए—वाक्शक्ति के लिए नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दिये गये **दद्भ्यः**=दाँतों के लिए तथा **गन्धाय**=गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय के लिए नमस्कार करते हैं। इनका उचित प्रयोग ही इनका आदर है।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये मुख आदि अंगों का ठीक प्रयोग करते हुए हम प्रभु को नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु से मेल क्यों?

अस्त्रा॒ नील॑शिखण्डेन सहस्त्रा॒क्षेण॑ वा॒जिना॑।

रु॒द्रेणा॑र्धकघा॒तिना॒ तेन॒ मा सम॑रामहि ॥ ७ ॥

१. **अस्त्रा**=(अस् दीप्तौ+तृन्) दीप्तिवाले, **नीलशिखण्डेन**=(नी प्रापणे, नीलः निधिः, शिखण्डः प्राप्तिः, शिख गतौ) निधियों को प्राप्त करानेवाले **सहस्त्राक्षेण**=हज़ारों आँखोवाले—सर्वद्रष्टा, **वाजिना**=शक्तिशाली, **रुद्रेण**=दुःखों के द्रावक, **अर्धकघातिना**=अधूरेपन को नष्ट करनेवाले—पूर्णता व सफलता को प्राप्त करानेवाले **तेन**=इस प्रभु से हम **मा सम् अरामहि**=(समर) लड़ाई करनेवाले न हों—प्रभु के साथ हम एक बननेवाले हों।

भावार्थ—जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा, उतना-उतना हमारा जीवन दीप्त बनेगा, हम निधि-सम्पन्न बनेंगे, विस्तृत दृष्टिवाले, शक्तिशाली, दुःखरहित व पूर्णता को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

प्रभु नमन व पापवर्जन

स नो॑ भ॒वः परि॑ वृणक्तु वि॒श्वत॒ आप॑इवा॒ग्निः परि॑ वृणक्तु नो भ॒वः।

मा नो॒ऽभि मां॑स्त॒ नमो॑ अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

१. **सः भवः**=वह सुखोत्पादक प्रभु **नः**=हमें **विश्वतः परिवृणक्तु**=सब ओर से उपद्रवों से वर्जित (रहित) करे। **इव**=जैसे **अग्निः**=दग्ध करता हुआ अग्नि **आपः**=जलों को छोड़ देता है, इसी प्रकार **भवः**=वह उत्पादक प्रभु **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=उपद्रवसमूह से परिवर्जित करे। २. पाप से रहित **नः**=हमें **मा अभिमांस्त**=वे प्रभु हिंसित न करें (मन्यतिर्हिंसाकर्मा)। **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=हमारा सदा नमस्कार हो। यह प्रभु-नमन ही वस्तुतः हमें पापों व

उपद्रवों से बचानेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभकृपा से पाप हमें इसप्रकार छोड़ जाएँ, जैसेकि अग्नि जलों को छोड़ जाता है। हम रुद्र को प्रणाम करनेवाले बनें, रुद्र हमारे पापों का विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

पञ्च पशवः

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥ ९॥

१. **भवाय**=संसार को उत्पन्न करनेवाले प्रभु के लिए **चतुः**=चार बार, चार ही बार क्यों? **अष्टकृत्वः**=आठ बार **नमः**=नमस्कार हो। पूर्वादि चारों दिशाओं में नमस्कार हो, और चार ही क्यों? अवान्तर दिशाओं को मिलाकर आठों दिशाओं में प्रभु के लिए हमारा नमस्कार हो। हे **पशुपते**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभो! **दशकृत्वः**=दस बार **ते नमः**=आपके लिए नमस्कार हो। चार दिशा, चार अवान्तर दिशा तथा नीचे-ऊपर (ध्रुवा-ऊर्ध्वा) को मिलाकर दस बार प्रभु को प्रणाम हो। २. हे प्रभो! **इमे**=ये **पञ्च पशवः**=पाँच पशु **तव**=आपके **विभक्ताः**=(वि भज् सेवायाम्) विशिष्ट रूप से सेवित हैं—आपके ये स्वभूत ही हैं—दाहिनी ओर **गावः अश्वाः**=गौ व घोड़े, बीच में **पुरुषाः**=मनुष्य तथा बायीं ओर **अजावयः**=बकरी व भेड़ें। वस्तुतः गौवें व घोड़े मनुष्य के दाहिने हाथ हैं, तो अजा-अवि उसके बायें हाथ के समान हैं। मानव-उन्नति में इन चारों पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भावार्थ—हम सब दिशाओं में प्रभु के लिए प्रणाम करते हैं। पशुपति प्रभु ने मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसकी उन्नति में साधनभूत गौ-घोड़े, अजा व अवि आदि पशुओं को बनाया है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरःकृतिः त्रिपदाविराट्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के प्रशासन में

तव चतस्त्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्वन्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणत्पृथिवीमनु॥ १०॥

१. हे **उग्र**=उद्गूर्णबल रुद्र! **चतस्त्रः**=चारों **प्रदिशः**=प्रधानभूत प्राची आदि दिशाएँ **तव**=आपकी ही स्वभूत हैं। **द्यौः**=वह प्रकाशमय स्वर्गलोक भी **तव**=आपके ही वश में है। **पृथिवी**=यह पृथिवीलोक भी **तव**=आपका ही स्वभूत है। **इदम्**=यह **उरु**=विस्तीर्ण **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष भी **तव**=आपके ही अधीन है। २. **इदं सर्वं आत्मन्वत्**=भोक्तृरूप आत्मा से अधिष्ठित ये सब शरीरसमूह **तव**=आपके ही प्रशासन में हैं। **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी को लक्ष्य करके, अर्थात् इस पृथिवी पर **यत् प्राणत्**=जो प्राण ले-रहा है, वह सब आपके ही प्रशासन में है।

भावार्थ—सब ब्रह्माण्ड व सब प्राणी प्रभु के प्रशासन में ही चल रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाजगतीगर्भाविराट्शक्वरी** ॥

विशाल ब्रह्माण्डकोश के स्वामी प्रभु को प्रणाम

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः
परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः॥ ११॥

१. हे **पशुपते**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभो! **अयम्**=यह **वसुधानः**=निवास के हेतुभूत सब लोकों को धारण करनेवाला **उरुः कोशः**=विशाल ब्रह्माण्डकोश **तव**=आपका ही स्वभूत है,

यस्मिन् अन्तः=जिस ब्रह्माण्डकोश के अन्दर **इमा विश्वा भुवनानि**=ये सब भूतसमूह निवास करते हैं, **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मृड**=सुख दीजिए। **ते नमः**=हम आपके लिए नतमस्तक होते हैं। २. आपके अनुग्रह से **अभिभाः**=अभिभव करनेवाले **क्रोष्टारः**=क्रोशनशील गीदड़ व **श्वानः**=कुत्ते **परः**=हमसे परे हों तथा **अघरुदः**=अमंगलकर रोदनवाली **विकेश्यः**=विकीर्ण केशोंवाली पीड़ाएँ **परः यन्तु**=हमसे दूर हों।

भावार्थ—प्रभु इस विशाल ब्रह्माण्डकोश के स्वामी हैं। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। प्रभुकृपा से हम गीदड़ों व कुत्तों से आक्रान्त न हों। हम बिखरे हुए केशोंवाली, कष्टकर रोदनवाली पीड़ाओं से बचे रहें

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

धनुर्धारी रुद्र

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीऽतः ॥ १२ ॥

हे **शिखण्डिन्**=(शिख गतौ) सर्वत्र गतिशील परमात्मन्! आप **धनुः बिभर्षि**=धनुष धारण करते हैं जो धनुष् **हरितम्**=दुष्टों का हरण करनेवाला व **हिरण्ययम्**=हिरण्य का विकारभूत, अर्थात् दीप्त है। **सहस्रघ्नि**=हज़ारों को एक ही प्रयत्न से मारनेवाला है **शतवधम्**=सैकड़ों आयुधों (वध=वज्र—नि०) से युक्त है। २. **रुद्रस्य**=दुष्टों को रुलानेवाले **देवहेतिः**=उस देव का हनन-साधन **इषुः**=बाण **चरति**=गतिवाला होता है। **इतः**=यहाँ हमारे स्थान से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में यह रुद्र का इषु गतिवाला होता है, **तस्यै**=उस रुद्र के इषु के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धनुर्धारी रुद्र के रूप में स्मरण करते हुए हम पाप से बचें और प्रभु के इषु से विद्ध किये जाने योग्य न हों

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भागकर कहाँ जाएँगे?

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

१. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! जो भी पापकर्त्ता **अभियातः**=तुझसे अभिगत (आक्रान्त) होता हुआ **निलयते**=छुपाने की कोशिश करता है, और **त्वां निचिकीर्षति**=आपको हिंसित करना चाहता है, आप **पश्चात्**=एकदम इसके बाद ही **तम् अनुप्रयङ्क्षे**=उस अपकारी जन को यथापराध दण्डित करते हैं। उसी प्रकार दण्डित करते हैं **इव**=जैसेकि **विद्धस्य पदनीः**=शस्त्रहत पुरुष के भूमि-निक्षिप्त पैरों के निशान देखता हुआ पुरुष शत्रु के निलयन-स्थान तक पहुँचकर उस शत्रु को प्रतिविद्ध करता है।

भावार्थ—पापकर्त्ता पुरुष प्रभु के बाण से अपने को बचा नहीं सकते। कहीं भी छिपकर भाग जाए, कितना भी प्रभु का हिंसन करना चाहे, वह रुद्र के बाणों का गोचर होकर ही रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

भवः+रुद्रः

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्या [य।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीऽतः ॥ १४ ॥

१. **भवारुद्रौ**='सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले व अन्ततः प्रलय करनेवाले' प्रभु के ये दोनों रूप **सयुजौ**=परस्पर मेलवाले व **संविदानौ**=ऐकमत्यवाले हैं। इनमें विरोध हो, ऐसी बात नहीं। प्रारम्भ करने के समय प्रभु 'भव' हैं, समाप्त करने के समय वे 'रुद्र' हैं। **उभौ उग्रौ**=ये भव और रुद्र दोनों उद्गूर्ण बलवाले हैं। **वीर्याय चरतः**=शक्तिशाली कर्म के लिए गतिवाले होते हैं। २. **इतः**=यहाँ से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में वे भव और रुद्र हैं **ताभ्यां नमः**=हम उन दोनों के लिए उस दिशा में नमस्कार करते हैं। 'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे' सब ओर हम प्रभु को भव और रुद्र के रूप में देखते हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हम 'सृष्टि व प्रलय' रूप दोनों कार्यों में प्रभु की महिमा का अनुभव करें और उस भव और रुद्ररूप प्रभु को सब ओर नमस्कार करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भवाय शर्वाय' नमः

नम॑स्तेऽस्त्वाय॒ते नमो॑ अस्तु पराय॒ते। नम॑स्ते रुद्र तिष्ठ॑त॒ आसी॑नायो॒त ते॒ नमः॑ ॥ १५ ॥

नमः॑ सा॒यं नमः॑ प्रा॒तर्नमो॒ रात्र्या॒ नमो॒ दिवा॑। भ॒वाय॑ च श॒र्वाय॑ चो॒भाभ्या॑मक॒रं नमः॑ ॥ १६ ॥

१. हे **रुद्र**=दुःखों के द्रावक प्रभो! **आयते ते नमः अस्तु**=हमारे अभिमुख आते हुए आपके लिए नमस्कार हो, **परायते नमः अस्तु**=दूर जाते हुए भी आपके लिए नमस्कार हो। **तिष्ठते ते नमः**=खड़े होते हुए आपके लिए नमस्कार हो, **उत**=और **आसीनाय ते नमः**=बैठे हुए आपके लिए नमस्कार हो। निराकार प्रभु में इन आने-जाने व उठने की क्रियाओं का सम्भव नहीं है, परन्तु पुरुषरूप में प्रभु का ध्यान करता हुआ उपासक प्रभु को इन रूपों में देखता है। २. **सायं नमः**=सायं नमस्कार हो, **प्रातः नमः**=प्रातःकाल नमस्कार हो, **रात्र्या नमः**=रात्रि के समय नमस्कार हो, **दिवा नमः**=दिन के समय नमस्कार हो। **भवाय च शर्वाय च उभाभ्याम्**=सृष्टि के उत्पादक व संहारक दोनों रूपोंवाले प्रभु के लिए मैं **नमः अकरम्**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—हम आते-जाते, उठते-बैठते, प्रभु के लिए नमस्कार करें। प्रातः व सायं तथा दिन में व रात में प्रभु को उत्पादक व प्रलयकर्त्ता के रूप में सोचते हुए नतमस्तक हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'जिह्वया ईयमान' रुद्र का अविस्मरण

स॒ह॒स्रा॒क्षम॑तिप॒श्यं पु॒रस्ता॑द्रु॒द्रमस्य॑न्तं बहु॒धा वि॑प॒श्चित॑म्।
मोपा॑राम जि॒ह्वयेय॑मानम् ॥ १७ ॥

१. **सहस्राक्षम्**=सहस्रों आँखोवाले, **अतिपश्यम्**=सब बाधाओं का अतिक्रमण करके देखनेवाले, **पुरस्तात् बहुधा अस्यन्तम्**=अनेक प्रकार से शर-जाल को सामने फेंकते हुए **विपश्चितम्**=ज्ञानी **रुद्रम्**=उस दुःखद्रावक प्रभु को, **जिह्वया ईयमानम्**=प्रलयकाल में जिह्वाग्र से सारे संसार के भक्षण के लिए गति करते हुए को **मा उप अराम**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसित न करें—न भूलें।

भावार्थ—रुद्ररूप में प्रभु का स्मरण हमें पवित्र जीवनवाला बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'श्यावाश्व' प्रभु को प्रणाम

श्या॒वाश्वं॑ कृ॒ष्णमसि॑तं मृ॒णन्तं॑ भी॒मं रथं॑ के॒शिनः॑ पा॒दय॑न्तम्।
पूर्वे॒ प्रती॑मो॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ १८ ॥

१. **श्यावाश्वम्**=(श्यैङ् गतौ, अश् व्याप्तौ) गतिमात्र में व्याप्तिवाले, अर्थात् सम्पूर्ण गतियों

के कारणभूत, **कृष्णम्**=सबको आकृष्ट करनेवाले **असितम्**=अबद्ध, **मृणन्तम्**=शत्रुओं को हिंसित करते हुए, **भीमम्**=शत्रु-भयंकर, **केशिनः**=प्रकाश की किरणरूप केशोंवाले सूर्य के **रथम्**=रथ को **पादयन्तम्**=गति देते हुए उस प्रभु को **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले हम **प्रतीमः**=(प्रति इमः) जानते हैं—उसके साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करते हैं। **अस्मै नमः अस्तु**=इस प्रभु के लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—हम प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हैं कि वे गतिमात्र के स्रोत हैं, सबका आकर्षण करनेवाले, अबद्ध, शत्रुओं का संहार करनेवाले व शत्रुभयंकर हैं। सूर्य के रथ को गति देनेवाले उस प्रभु का हम अपना पालन व पूरण करते हुए साक्षात्कार करते हैं और उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

वज्रपात का न होना

मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते।
अन्यत्रास्मद्दिव्यां शाखां वि धूनु॥ १९॥

१. हे **पशुपते**=प्राणियों के रक्षक प्रभो! **मत्यम्**=(मते समीकरणे साधुः A harrow) सबको बराबर कर देनेवाली **देवहेतिम्**=इस दिव्य अस्त्ररूप विद्युत् को **नः**=हमारा **मा अभिस्राः**=लक्ष्य करके मत फेंकिए। हमपर आकाश से यह बिजली न गिर पड़े। गिरती हुई विद्युत् सबको गिराती हुई समीकृत-सा कर देती है। **नः मा क्रुधः**=हमारे प्रति आप क्रोध न कीजिए—हम पाप से बचते हुए आपके क्रोध-पात्र न हों। **नमः ते**=हम आपके लिए नतमस्तक होते हैं। २. इस **दिव्याम्**=आकाश में होनेवाली—अलौकिक—**शाखाम्**=(खे शेते, शक्नोतेर्वा—नि०) आकाश में शयन करनेवाली शक्तिशाली विद्युत् को **अस्मत् अन्यत्र**=हमसे भिन्न अन्य स्थान में ही **विधूनु**=कम्पित कीजिए। हम विद्युत्पतन के शिकार न हों।

भावार्थ—जीवन को स्वाभाविक व सरल बनाते हुए हम विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों के शिकार न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥

प्रभु के निर्देशानुसार

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः। मा त्वया समरामहि॥ २०॥

१. हे पशुपते! **नः मा हिंसीः**=हमें हिंसित मत कीजिए। **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=आधिक्येन ज्ञानोपदेश कीजिए। **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब पापों से बचाइए। **मा क्रुधः**=हमपर क्रोध मत कीजिए। सदा शुभाचरण करते हुए हम आपके प्रिय बनें। २. हे प्रभो! हम **त्वया**=आपके साथ **मा समरामहि**=समर (युद्ध) की स्थिति में न हों। सदा आपके निर्देशों के अनुसार चलनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार गति करते हुए कभी प्रभु के क्रोध के पात्र न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पियारू-प्रजा-हनन

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु।
अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि॥ २१॥

१. हे **उग्र**=उद्गूर्णबल प्रभो! **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों में व **पुरुषेषु**=पुरुषों में **मा गृधः**=हिंसित

करने के लिए कामना न कीजिए। इसीप्रकार **नः**=हमारी **अजा-अविषु**=बकरियों व भेड़ों में **मा**=(गृधः) हिंसा की कामना न कीजिए। ये सब हे पशुपते! आप द्वारा रक्षित ही हों। २. हे प्रभो! आप अपने वज्र को **अन्यत्र**=हमसे भिन्न स्थान में ही **विवर्तय**=प्राप्त कराइए—फेंकिए। **पियारूणाम्**=(पीयतिहिंसाकर्मा—नि०) हिंसकों की **प्रजां जहि**=प्रजा को ही विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—पशुपति के प्रसाद से हमारी गौवें, मनुष्य, भेड़ व बकरियाँ सब सुरक्षित हों। प्रभु का वज्र हिंसकों को ही विनष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विषमपादलक्ष्मात्रिपदामहाबृहती** ॥

'तक्मा कासिका' रूप रुद्रहेति

यस्य॑ त॒क्मा कासि॑का हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑ण॒ः क्रन्द॒ एति॑।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्वस्मै॥ २२॥

१. **यस्य**=जिस रुद्र की **तक्मा**=जीवन को कष्टप्रद बना देनेवाली **कासिका**=कुत्सित शब्दकारिणी ज्वरादि पीड़ा **हेतिः**=हनन-साधन—आयुधरूप होती हुई **एकम्**=एक अपकारी पुरुष को इसप्रकार **एति**=प्राप्त होती है **इव**=जैसेकि **वृषणः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=घोड़े का **क्रन्दः**=हेषा शब्द ही हो, अर्थात् प्रभु ज्वरयुक्त खाँसी को भी पापकर्म के दण्ड के रूप में प्राप्त कराते हैं। २. **अभिपूर्वम्**=पूर्वजन्म के कर्मों का लक्ष्य करके **निर्णयते**=दण्ड का निर्णय करते हुए **अस्मै नमः अस्तु**=इस रुद्र के लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—रुद्र प्रभु कर्मों के अनुसार दण्ड का निर्णय करते हुए अपकारी पुरुष को ज्वरयुक्त खाँसी प्राप्त कराते हैं। यह उस पापकारी के जीवन को कष्टमय बनाती हुई उसे पाप से रुकने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'अयज्वा देवपीयु' का दण्डन

यो॒३॒॑न्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति॒ विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन्दे॑वपी॒यून्।
तस्मै॒ नमो॑ द॒शभि॒ः शक्व॑रीभिः॥ २३॥

१. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस द्यावापृथिवी के मध्य में—अन्तरिक्ष में सर्वत्र—**विष्टभितः**=स्थिर हुए-हुए **तिष्ठति**=ठहरे हैं, वे **अयज्वनः**=अयज्ञशील **देवपीयून्**=देवों के—सज्जनों के हिंसक पुरुषों को **प्रमृणन्**=कुचल देते हैं। **तस्मै**=उस रुद्र प्रभु के लिए **दशभिः**=दसों **शक्वरीभिः**=कर्मों में शक्त अंगुलियों से **नमः**=नमस्कार हो, अर्थात् उन रुद्र के लिए हम अञ्जलिबन्धन द्वारा प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आकाशवत् सर्वत्र स्थित हैं(ओम् खं ब्रह्म)। वे अयज्ञशील, देवहिंसक पुरुषों को पीड़ित करते हैं। हम प्रभु को प्रणाम करते हुए यज्ञशील व सज्जन-सेवक ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु के शासन में

तुभ्य॑मार॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ता हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि।
तव॑ य॒क्षं प॑शुपते अ॒प्स्व१॒॑न्तस्तुभ्यं॑ क्षरन्ति दि॒व्या आपो॑ वृ॒धे॥ २४॥

१. **तुभ्यम्**=तेरे शासन के मानने के लिए ही ये सब **आरण्याः पशवः**=वन्य पशु हैं। आपसे ही **वने**=वन में **मृगाः**=हरिण, शार्दूल, सिंह आदि पशु, **हंसाः**=हंस, **सुपर्णाः**=शोभनपतनवाले श्येन आदि, **शकुनाः**=शक्तिशाली गृध्र आदि **वयांसि**=(वनचर) पक्षी **हिताः**=स्थापित किये गये

हैं। २. **तव**=आपका **यक्ष्मम्**=पूजनीय अंश ही **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के अन्दर है। **दिव्याः आपः**=ये अन्तरिक्षस्थ जल **तुभ्यं वृधे**=आपकी महिमा को बढ़ाने के लिए ही **क्षरन्ति**=क्षरित हो रहे हैं। बरसते हुए मेघों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—सब आरण्य पशु-पक्षी प्रभु के शासन में ही गति कर रहे हैं। प्रजाओं में भी वह-वह विभूति उस प्रभु के अंश के कारण ही है। बरसते हुए मेघों में भी प्रभु की ही महिमा दिखती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी**॥

जलचरों में प्रभु-महिमा का प्रकाश

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान्परि
पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे॥ २५॥

१. **शिंशुमाराः**=नक्र विशेष, **अजगराः**=अजगर, **पुरिकयाः**=कठोर पीठवाले कछुए, **जषाः**=बड़े मत्स्य **मत्स्याः**=मछलियाँ, **रजसाः**=(रजांसि उदकम्—नि०) अन्य जलचर—ये सब प्राणी तेरे ही हैं, **येभ्यः**=जिनसे **अस्यसि**=तू दीप्त होता है—इन सबमें तेरी महिमा का दर्शन होता है। २. हे प्रभो! **ते**=आपसे **न दूरम्**=कुछ भी दूर नहीं है। हे **भव**=सर्वोत्पादक! **न ते परिष्ठा अस्ति**=कोई वस्तु आपको घेर लेनेवाली नहीं है। आप **सद्यः**=शीघ्र ही **सर्वान् परिपश्यसि**=सबको देखते हैं। **पूर्वस्मात्**=पूर्वसमुद्र से लेकर **उत्तरस्मिन् समुद्रे**=उत्तर समुद्र में होनेवाली **भूमिं हंसि**=(हन् गतौ) भूमि को आप प्राप्त होते हैं—सारी भूमि पर व्याप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—नक्र आदि सब बड़े-बड़े जलचरों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। प्रभु प्रत्येक वस्तु के सदा सन्निहित हैं। सबका ध्यान करते हैं। सर्वत्र व्याप्त व सर्वत्र गतिवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

तक्मा, विष, दिव्य अग्नि

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना।
अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम्॥ २६॥

१. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! **नः**=हमें **तक्मना**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर से **मा संस्राः**=मत संसृष्ट कीजिए। **विषेण**=प्राणापहारी विष से **मा**=मत संसृष्ट कीजिए तथा **नः**=हमें **दिव्येन अग्निना**=अन्तरिक्ष में होनेवाली विद्युद्रूप अग्नि से **मा**=मत संसृष्ट कीजिए। २. हे रुद्र! **एताम्**=इस **विद्युतम्**=विद्युत् को **अस्मत्**=हमसे **अन्यत्र**=अन्य स्थान में **पातय**=गिराइए।

भावार्थ—हम पवित्र जीवनवाले बनते हुए सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें और ज्वर, विष व विद्युत्पतन द्वारा असमय में विनष्ट न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम्।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशीइतः॥ २७॥

१. **भवः**=वह सर्वोत्पादक प्रभु **दिवः ईशे**=द्युलोक का ईश है। **भवः**=वही प्रभु **पृथिव्याः**=(ईशे) पृथिवी का स्वामी है। **भवः**=सर्वजनक प्रभु ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आ पप्रे**=अपने तेज से आपूरित किये हुए हैं। **तस्मै**=उस भव के लिए **इतः**=इस

अपने स्थान से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में वे हैं, उन्हें **नमः**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—उस त्रिलोकी में व्याप्त त्रिलोकी के अधिपति को हम सब दिशाओं में नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रद्धा, निष्पक्षता व सुख

भव राजन्यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड॥ २८॥

१. हे **भव**=सर्वोत्पादक! **राजन्**=सर्वशासक प्रभो! **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **मृड**=आप सुख दीजिए। आप **हि**=निश्चय से **पशूनां पशुपतिः बभूथ**=सब पशुओं (प्राणियों) के रक्षक व स्वामी हैं। २. **यः**=जो **इति श्रद्दधाति**=इसप्रकार विश्वास रखता है कि **देवाः सन्ति**=आपकी दिव्यशक्तियाँ सर्वत्र सत्तावाली हैं, **अस्य**=इस श्रद्धालु के **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए तथा **चतुष्पदे**=चार पाँववाले 'गौ, अश्व, अजा, अवि' आदि पशुओं के लिए **मृड**=सुख दीजिए। प्रभुशक्तियों की सार्वत्रिक सत्ता में विश्वास करनेवाला व्यक्ति पाप से बचता है और परिणामतः प्रभुकृपा का पात्र होता है।

भावार्थ—वे सर्वोत्पादक, सर्वशासक प्रभु यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करते हैं। प्रभुशक्ति की सार्वत्रिक सत्ता का विश्वासी मनुष्य निष्पाप व सुखी जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पूर्ण जीवन

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः॥ २९॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारे **महान्तम्**=घर में बड़े व्यक्ति को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटे को भी **मा**=मत मारिए। **नः**=हमारे **वहन्तम्**=गृहभार का वहन करनेवाले गृहपति को मत नष्ट कीजिए और **नः**=हमारे **वक्ष्यतः**=समीप-भविष्य में भार वहन करनेवाले युवक को भी **मा**=मत हिंसित कीजिए। २. **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता **मातरं च**=व माता को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। हे **रुद्र**=सब दुःखों के द्रावक प्रभो! **नः**=हमारे **स्वां तन्वम्**=इस अपने शरीर को **मा (रीरिषः)**=मत नष्ट कीजिए।

भावार्थ—हम सब गृहवासी 'रुद्र' प्रभु का स्मरण करें और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाउष्णिक्** ॥

श्वभ्यः नमः

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः। इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः॥ ३०॥

१. **रुद्रस्य**=शत्रुओं का रोदन करानेवाले रुद्र के लिए **ऐलवकारेभ्यः**=(ऐलवानि—इल प्रेरणे) प्रेरणायुक्त कर्मों को करनेवाले लोगों के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवालों के लिए नमस्कार करता हूँ **अ-संसूक्त-गिलेभ्यः**=अशुभ भाषणों को निगल जानेवालों के लिए—कभी अशुभ न बोलनेवाले **श्वभ्यः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा वृद्धि को प्राप्त करनेवाले इन आदरणीय पुरुषों के लिए **इदं (नमः अकरम्)**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—उस रुद्र के इन पुरुषों के लिए मैं आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ जोकि (क) प्रभु-प्रेरणायुक्त कर्मों को करते हैं। (ख) कभी अपशब्द नहीं बोलते। (ग) जिनके मुख से महनीय शब्दों का ही उच्चारण होता है। (घ) जो गति द्वारा उन्नति-पथ पर बढ़ रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्माषट्पदात्रिष्टुप्** ॥

पवित्र-प्रणाम

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः॥ ३१॥

१. हे रुद्र! **ते**=आपसे **घोषिणीभ्यः**=प्रेरित वेदवाणियों की घोषणा करनेवाली **सेनाभ्यः**=(स+इन=स्वामी) सदा आपके साथ रहनेवाली (आपका स्मरण करनेवाली) इन प्रजाओं के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! **ते**=आपकी इन **केशिनीभ्यः**=प्रकाश की रश्मियोंवाली (केश A ray of light) प्रजाओं के लिए **नमः**=नतमस्तक होते हैं। **नमस्कृताभ्यः**=आपको प्रणाम करनेवाली इन प्रजाओं के लिए **नमः**=प्रणाम करते हैं। **संभुञ्जतीभ्यः**=मिलकर भोजन करनेवाली व सम्यक् पालन करनेवाली प्रजाओं के लिए **नमः**=प्रणाम है। २. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **ते**=आपकी इन (सेनाभ्यः) सदा आपके स्मरण के साथ गति करनेवाली प्रजाओं के लिए **नमः**=हमारा नमस्कार हो। इसप्रकार **नः**=हमें भी **स्वस्ति**=कल्याण **च**=और **अभयम्**=निर्भयता प्राप्त हो।

भावार्थ—हम उन प्रजाओं को प्रणाम करते हैं जोकि (क) प्रभु-प्रदत्त वेदवाणियों की घोषणा करती हैं। (ख) प्रकाश की रश्मियोंवाली हैं (ग) प्रभु को प्रणाम करनेवाली हैं (घ) सबका सम्यक् पालन करनेवाली व मिलकर खानेवाली हैं तथा (ङ) सदा प्रभुस्मरण के साथ निवासवाली हैं। इसप्रकार हम भी कल्याण व निर्भयता को प्राप्त करते हैं।

सदा प्रभु-स्मरण के साथ रहनेवाले ये व्यक्ति अन्तर्मुखी वृत्तिवाले 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनते हैं। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ब्रह्म (ज्ञान) ही इनका भोजन होता है। इस ब्रह्मौदन (बार्हस्पत्यौदन) का एक विराट् शरीर के रूप में इस सूक्त में वर्णन है—

३. [तृतीयं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**१ आसुरीगायत्री; २ त्रिपदासमविषमागायत्री; ३ आसुरीपङ्क्तिः; ४ साम्न्यनुष्टुप्; ५ साम्न्युष्णिक्; ६ आसुरीपङ्क्तिः** ॥

'बृहस्पतिः शिरा'

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्॥ १॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः॥ २॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्॥ ३॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक्॥ ४॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः॥ ५॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम्॥ ६॥

१. **तस्य ओदनस्य**=उस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर का **बृहस्पतिः शिरः**=महान् लोकों का स्वामी प्रभु ही शिरःस्थानीय है, अर्थात् वह बृहस्पति ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। **ब्रह्म**=ज्ञान **मुखम्**=मुख है—इस ओदन के मुख से ब्रह्म (ज्ञान) की वाणियाँ उच्चरित होती हैं। इस ओदन के विराट् शरीर के **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **श्रोत्रे**=कान हैं। इसमें

द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान सुनाई पड़ता है। **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चाँद इस ओदन-शरीर की **अक्षिणी**=आँखें हैं। सूर्य व चन्द्र द्वारा ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। दिन का अधिष्ठातृदेव सूर्य है, रात्रि का चन्द्र। हमें दिन-रात इस ज्ञान को प्राप्त करना है। **सप्तऋषयः**=शरीरस्थ सप्तऋषि ही **प्राणापानाः**=इसके प्राणापान हैं। **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख के द्वारा ही इस ओदन-शरीर का जीवन धारित होता है। २. इस ओदन को तैयार करने के लिए **चक्षुः मुसलम्**=आँख मूसल का कार्य करती है, **कामः**=इच्छा ही इसके लिए **उलूखलम्**=ओखली है। प्रत्येक वस्तु को आँख खोलकर देखने पर वह वस्तु उस ब्रह्म की महिमा का प्रतिपादन कर रही होती है। इच्छा के बिना यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। **दितिः**=यह खण्डनात्मक जगत्—जिस जगत् में प्रतिक्षण छेदन-भेदन चल रहा है, वह कार्यजगत्—इस ओदन के लिए **शूर्पम्**=छाज होता है। **अदितिः**=मूल प्रकृति **शूर्पग्राही**=उस छाज को मानो पकड़े हुए है। **वातः**=यह वायु ही **अपाविनक्**=धान से तण्डुलों को पृथक् करनेवाला होता है। **अश्वाः कणाः**=इस ओदन के कण 'अश्व' हैं, **गावः तण्डुलाः**=ओदन के उपादानभूत तण्डुल गौवें हैं। **मशकाः तुषाः**=अलग किये हुए तुष (भूसी) मशक आदि क्षुद्र जन्तु हैं। **कब्रु**=(कब् to colour) चित्रित प्राणी या जगत् इस ओदन के **फलीकरणाः**=(Husks separated from the grain) छिलके हैं तथा **अभ्रं शरः**=मेघ ऊपर आई हुई पपड़ी (Cream) की भाँति हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेदज्ञान दिया। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। इसमें 'द्युलोक, पृथिवीलोक, सूर्य-चन्द्र, सप्तर्षि, चक्षु, काम, दिति, अदिति, वात, अश्व, गौ, मशक, चित्रित जगत् (प्राणी) व मेघ' इन सबका वर्णन उपलभ्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**७ प्राजापत्यानुष्टुप्; ८ साम्न्यनुष्टुप्; ९ आसुर्यनुष्टुप्; १० आसुरीपङ्क्तिः** ॥

धातुएँ व कृषिसम्बद्ध पदार्थ

श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्॥ ७॥
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः॥ ८॥
खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्ये ॥ ९॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः॥ १०॥

१. **अस्य**=इस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर के **श्यामम् अयः**=काले वर्ण का लोहधातु **मांसानि**=मांस स्थानापन्न है। **लोहितम्**=(अयः) लालवर्ण के ताम्र आदि धातु **अस्य लोहितम्**=इसका रुधिर ही है। **त्रपु**=सीसा **भस्म**=ओदनपाक के अनन्तर रहनेवाली राख ही है। **हरितम्**=मनोहारिवर्णवाला हेम (सोना) इसका **वर्णः**=वर्ण है। **पुष्करम्**=कमल **अस्य गन्धः**=इस ओदन का गन्ध है। २. **खलः**=व्रीहि आदि धान्यों का पलाल से पृथक् करने का स्थान **पात्रम्**=यह ओदन का पात्र है। **स्फ्यौ**=दोनों 'स्फ्य' नामक यज्ञसाधन (A sword shaped implement used in sacrifices) इसके **अंसौ**=कँधे हैं। **ईषे**=शकट-सम्बन्धी दण्ड इसके **अनूक्ये**=कन्धे व मध्यदेह के संधि-स्थल हैं, पृष्ठास्थिविशेष हैं। **जत्रवः**=जोत इसकी **आन्त्राणि**=आँतें हैं, **वरत्राः**=रज्जुएँ **गुदाः**=गुदा स्थानापन्न हैं।

भावार्थ—वेद में जहाँ 'लोहा, तांबा, सीसा, सोना' आदि धातुओं के वर्णन के साथ कमल आदि पुष्पों का वर्णन उपलभ्य है, वहाँ कृषक के साथ सम्बद्ध 'खल, स्फ्य, ईषा, जत्रु, वरत्र' आदि वस्तुओं का भी प्रतिपादन है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—बार्हस्पत्यौदनः ॥ छन्दः—११ भुरिगार्च्यनुष्टुप्; १२ याजुषीजगती; १३ साम्न्युष्णिक् ॥

ब्रह्मौदन का पाचन

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्॥ ११॥

सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम्॥ १२॥

ऋतं हस्तावनेजनं कुल्यो ऽपसेचनम्॥ १३॥

१. **राध्यमानस्य ओदनस्य**=पकाये जा रहे ब्रह्मौदन की **इयम् पृथिवी एव**=यह पृथिवी ही **कुम्भी भवति**=देगची होती है और **द्यौः अपिधानम्**=द्युलोक उस कुम्भी के मुख का छादक-पात्र=ढकना बनता है। इसप्रकार यह ब्रह्मौदन इस द्यावापृथिवी के सारे अन्तराल को व्याप्त करके वर्त्तमान हो रहा है। इसमें सब पिण्डों व पदार्थों का ज्ञान दिया गया है। **सीताः**=कर्षण से उत्पन्न, बीज का जिनमें आवपन होता है, वे लांगल-पद्धतियाँ इस ओदन के विराट् शरीर की **पर्शवः**=पार्श्व-स्थियाँ हैं। **सिकताः**=रेतःकण **ऊबध्यम्**=उदरगत अजीर्ण अन्न के मल के समान हैं। २. **ऋतम्**=सत्य या व्यवस्थित (right) जीवन ही **हस्तावनेजनम्**=हाथ धोने का जल है। **कुल्या**=कुलों के लिए हितकर नीति इस ओदन का **उपसेचनम्**=मिश्रणसाधन-सेचन जल है।

भावार्थ—वेद द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पिण्डों का प्रतिपादन करता है। यहाँ 'सीता, सिकता, ऋत व कुल्या' इन सबका प्रतिपादन है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—बार्हस्पत्यौदनः ॥ छन्दः—१४ आसुरीगायत्री; १५ साम्न्युष्णिक्; १६ आसुरीबृहती ॥

कुम्भी का अग्नि पर स्थापन

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥

ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥

बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः॥ १६॥

१. **कुम्भी**=ब्रह्मौदन के पाचन की साधनभूत 'द्युलोकरूप ढक्कनवाली पृथिवीरूप कुम्भी' **ऋचा अधिहिता**=ऋग्वेद के मन्त्रों से अग्नि के ऊपर स्थापित होती है। **आर्त्विज्येन**=(ऋत्विजः अध्वर्यवः) ऋत्विक्-सम्बन्धी कर्मों के प्रतिपादक यजुर्वेद से **प्रेषिता**=अग्नि के प्रति भेजी जाती है। **ब्रह्मणा परिगृहीता**=आथर्वण ब्रह्मवेद से यह परितः धारित होती है और **साम्ना पर्यूढा**=साममन्त्रों से अंगारों से परिवेष्टित की जाती है। २. उस समय **बृहत्**=बृहत्साम **आयवनम्**=उदक में प्रक्षिप्त तण्डुलों का मिश्रणसाधन काष्ठ होता है और **रथन्तरम्**=रथन्तरसाम **दर्विः**=ओदन के उद्धरण की साधनभूत कड़छी होती है।

भावार्थ—इस ब्रह्मौदन का पाचन 'ऋग्, यजुः, साम व अथर्व' मन्त्रों से होता है तथा 'बृहत्, रथन्तर' आदि साम इस ओदन-पाचन के साधन बनते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—बार्हस्पत्यौदनः ॥ छन्दः—आसुर्यनुष्टुप् ॥

ब्रह्मौदन के पक्ता (पाचक)

ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते॥ १७॥

चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३ऽभीन्धे॥ १८॥

१. **ऋतवः**=ऋतुएँ **पक्तारः**=इस ओदन को पकानेवाली हैं। ज्ञानरूप ओदन का पाक काल के अधीन तो है ही। **आर्तवाः**=ऋतु-सम्बन्धी अहोरात्र **समिन्धते**=इसे सन्दीप्त करते हैं। ब्रह्मौदन

के पकाने की साधनभूत ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। दिन-रात्रि में परिवर्तन के साथ ज्ञान में वृद्धि होती चलती है। २. **पञ्चबिलम् चरुम्**='गौ, अश्व, पुरुष, अजा, अवि' रूप पञ्चधा विभिन्न मुखवाली ब्रह्मौदन (चरु) के पाचन की साधनभूत स्थाली को **घर्मः**=यह आदित्य **अभीन्धे**=सम्यक् दीप्त करता है। ज्ञानाग्नि को दीप्त करने में सूर्य का प्रमुख स्थान है। सूर्य-किरणें केवल शरीर के स्वास्थ्य को ही नहीं बढ़ातीं, बुद्धि को भी स्वस्थ करती हैं।

भावार्थ—ऋतुएँ, ऋतु-सम्बन्धी अहोरात्र तथा सूर्य-किरणें हमारी बुद्धि की वृद्धि का साधन बनती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

'सर्वलोकावाप्ति' रूप ओदनफल

ओ॒द॒नेन॑ यज्ञव॒चः सर्वे॑ लो॒काः स॑मा॒प्या॑ः ॥ १९ ॥
यस्मि॑न्त्समु॒द्रो द्यौर्भूमि॒स्त्रयो॑ऽवरप॒रं श्रि॒ताः ॥ २० ॥
यस्य॑ दे॒वा अक॑ल्प॒न्तोच्छि॑ष्टे॒ षड॑शी॒तय॑ः ॥ २१ ॥

१. **ओदनेन**=इस ज्ञान के ओदन से (यज्ञैः प्रासव्यत्वेन उच्यमानाः—'वचेः विच्चिरूपम्') **यज्ञवचः**=यज्ञों से प्राप्तव्यरूप में कहे गये **सर्वे लोकाः**=सब लोक **समाप्याः**=प्राप्त करने योग्य होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति से उन सब उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, जो लोक कि यज्ञों से प्राप्तव्य हैं। २. यह ओदन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **समुद्रः**=अन्तरिक्ष, **द्यौः भूमिः**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्रयः**=तीनों ही **अवरपरम्**=उत्तराधारभाव से—एक नीचे दूसरा ऊपर, इसप्रकार **श्रिताः**=स्थित हैं। इस ओदन में लोकत्रयी का ठीकरूप में ज्ञान दिया गया है। ३. यह ओदन वह है **यस्य**=जिसके—जिससे प्रतिपादित—**उच्छिष्टे**=(ऊर्ध्वं शिष्टे) प्रलय से भी बचे रहनेवाले प्रभु में **षट् अशीतयः**=(अश् व्याप्तौ) 'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे' इन छह दिशाओं में व्याप्तिवाले—इनमें रहनेवाले **देवाः**=सूर्यचन्द्र आदि सब देव **अकल्पन्त**=सामर्थ्यवान् बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। इस वेदज्ञान में लोकत्रयी का ज्ञान उपलभ्य है। इसमें उस प्रभु का प्रतिपादन है, जिसके आधार से सूर्य आदि सब देव शक्तिशाली बनते हैं। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**२२ प्राजापत्यानुष्टुप्; २३ आसुरीबृहती; २४ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती; २५ साम्न्युष्णिक्** ॥

न अल्पः, न अनुपसेचनः

तं त्वौ॑द॒नस्य॑ पृच्छामि॒ यो अ॑स्य महि॒मा म॒हान् ॥ २२ ॥
स य ओ॑द॒नस्य॑ महि॒मानं॑ वि॒द्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प॒ इति॑ ब्रूया॒न्नानु॑पसेच॒न इ॒ति नेदं च॒ किं चेति॑ ॥ २४ ॥
याव॑द्दा॒ताऽभि॑मन॒स्येत॒ तन्नाति॑ वदेत् ॥ २५ ॥

१. वेदज्ञान को यहाँ 'ब्रह्मौदन' कहा गया है। इस ब्रह्मौदन का सर्वमहत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय प्रभु हैं, अतः एक आचार्य से जिज्ञासु (विद्यार्थी) कहता है कि **तं त्वा**=उन आपसे मैं **ओदनस्य**=ओदन के विषय में **पृच्छामि**=पूछता हूँ, **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्मौदन की **महान् महिमा**=महनीय महिमा है। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय प्रभु के विषय में मैं आपसे पूछता हूँ। २. आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सः**=वह **यः**=जो **ओदनस्य**=इस ब्रह्मौदन की **महिमानम्**=महिमा को—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय को **विद्यात्**=जाने वह **इति**

ब्रूयात्=इतना ही कहे (कह सकता है) कि **न अल्पः**=वे प्रभु अल्प नहीं हैं—सर्वमहान् हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं। **न अनुपसेचनः इति**=वे उपासक को आनन्द से सिक्त न करनेवाले नहीं। प्रभु उपासक को आनन्द से सर्वतः सिक्त कर देते हैं। उपासक एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। वह उस प्रभु के विषय में यही कह सकता है कि **इदं च किञ्च न इति**=वे प्रभु यह जो कुछ प्रत्यक्ष दिखता है, वह नहीं है। 'आँखों से दिखनेवाले व कानों से सुनाई पड़नेवाले व नासिका से घ्राणीय, जिह्वा से आस्वादनीय व त्वचा से स्पर्शनीय' वे प्रभु नहीं है। वे 'यह नहीं है—यह नहीं हैं' यही उस ओदन की महान् महिमा के विषय में कहा जा सकता है। ३. **दाता**=ब्रह्मज्ञान देनेवाला **यावत्**=जितना **अभिमनस्येत**=उस ब्रह्म के विषय में मन से विचार करे, **तत् न अतिवदेत्**=उससे अधिक न कहे, अर्थात् ब्रह्म के विषय में मनन पर ही वह अधिक बल दे और जितना उसका मनन कर पाये उतना ही जिज्ञासु से कहे।

भावार्थ—वेदज्ञान का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। ब्रह्म के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह 'सर्वमहान्' हैं, आनन्ददाता हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। हमें उसके मनन का ही प्रयत्न करना है। उसका शब्दों से ज्ञान देना कठिन है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**२६ आर्च्युष्णिक्; २७, २८ साम्नीबृहती; २९ भुरिक्साम्नीबृहती; ३० याजुषीत्रिष्टुप्; ३१ अल्पशःपङ्क्तिरुतयाजुषी** ॥

पराञ्चं+प्रत्यञ्चम् (न अहम्; न माम्)

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति॥ २६॥

त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति॥ २७॥

पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह॥ २८॥

प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह॥ २९॥

नैवाहमोदनं न मामोदनः॥ ३०॥

ओदन एवौदनं प्राशीत्॥ ३१॥

१. **ब्रह्मवादिनः**=ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले **वदन्ति**=प्रश्न करते हुए कहते हैं कि तूने **पराञ्चम्**=(पर अञ्च्) परोक्ष ब्रह्म में गतिवाले **ओदनम्**=ज्ञान के भोजन को **प्राशीः**=खाया है, अर्थात् पराविद्या को ही प्राप्त करने का यत्न किया है अथवा **प्रत्यञ्चम् इति**=(प्रति अञ्च्) अपने अभिमुख—सामने उपस्थित इन प्रत्यक्ष पदार्थों का ही, अर्थात् अपराविद्या को ही जानने का यत्न किया है? एक प्रश्न वे ब्रह्मवादी और भी करते हैं कि यह जो तू संसार में भोजन करता है तो क्या **त्वम् ओदनं प्राशीः**=तूने भोजन खाया है, या **ओदनः त्वाम् इति**=इस ओदन ने ही तुझे खा डाला है? २. प्रश्न करके वे ब्रह्मवादी ही समझाते हुए **एनं आह**=इस ओदनभोक्ता से कहते हैं कि **पराञ्चं च एनं प्राशीः**=(च=एव) यदि तू केवल परोक्ष ब्रह्म का ज्ञान देनेवाले इस ज्ञान के भोजन को ही खाएगा तो **प्राणाः त्वा हास्यन्ति इति**=प्राण तुझे छोड़ जाएँगे, अर्थात् तू जीवन को धारण न कर सकेगा और वे **एनं आह**=इसे कहते हैं कि **प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः**=केवल अभिमुख पदार्थों का ही ज्ञान देनेवाले इस ओदन को तू खाता है तो **अपानाः त्वा हास्यन्ति इति**=दोष दूर करने की शक्तियाँ तुझे छोड़ जाएँगी, अर्थात् केवल ब्रह्मज्ञानवाला मृत ही हो जाएगा, और केवल प्रकृतिज्ञानवाला दूषित जीवनवाला हो जाएगा। ३. इसी प्रकार सांसारिक भोजन के विषय में वह कहता है कि **न एव अहम् ओदनम्**=न तो मैं ओदन को खाता हूँ और **न माम् ओदनः**=न ओदन मुझे खाता है। अपितु **ओदनः एव**=यह अन्न का विकार अन्नमयकोश ही **ओदनं प्राशीत्**=अन्न खाता है, अर्थात् जितनी इस अन्नमयकोश की आवश्यकता

होती है, उतने ही अन्न का यह ग्रहण करता है। मैं स्वादवश अन्न नहीं खाता। इसीलिए तो यह भी मुझे नहीं खा जाता। स्वादवश खाकर ही तो प्राणी रोगों का शिकार हुआ करता है।

भावार्थ—हम परा व अपराविद्या दोनों को प्राप्त करें। अपराविद्या के अभाव में जीवनधारण सम्भव न होगा और पराविद्या के अभाव में जीवन दोषों से परिपूर्ण हो जाएगा, क्योंकि तब हम प्राकृतिक भोगों में फँस जाएँगे। इसी बात को इसप्रकार कहते हैं कि शरीर की आवश्यकता के लिए ही खाएँगे तब तो ठीक है, यदि स्वादों में पड़ गये तो इस अन्न का ही शिकार हो जाएँगे।

३. [तृतीयं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्** ॥

बृहस्पतिना शीर्ष्णा

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३२॥

१. '३।१।१' में कहा था कि ओदन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय (शिरःस्थानीय विषय) 'बृहस्पति=सर्वज्ञ प्रभु' ही है। उसी पर बल देने के लिए कहते हैं कि **ततः च**=और तब जबकि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वह सब महान् लोकों का रक्षक (बृहतामाकाशादीनां पतिः) सर्वज्ञ प्रभु है, **च**=और **येन**=जिस बृहस्पतिरूप सिर से **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार (ऋष् to kill) करनेवाले ज्ञानियों ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया तो यदि तू **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **अन्येन च शीर्ष्णा**=बृहस्पति से भिन्न सिर से **प्राशीः**=खाता है—यदि तू इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को न जानकर कुछ और ही समझता है तो ब्रह्मज्ञ आचार्य **एनम् आह**=इस शिष्य से कहता है कि **ते**=तेरी **प्रजा**=सन्तान **ज्येष्ठतः**=ज्येष्ठादि क्रम से **मरिष्यति इति**=विनष्ट हो जाएगी। **अहम्**=मैंने जो **तम्**=उस ओदन को **वै**=निश्चय से **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे (पृथिवी) के विषयों का ज्ञान देनेवाला (अर्वाङ् अञ्चन्तम्) **न पराञ्चम्**=न दूर के (द्युलोक के ही) पदार्थों का ज्ञान देनेवाला (परा अञ्चन्तम्) तथा **न प्रत्यञ्चम्**=न ही (प्रति अञ्चन्तम्) केवल सामने के—अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है अपितु **तेन**=उस **बृहस्पतिना शीर्ष्णा**='ब्रह्म' ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, शिरःस्थानीय है, इसप्रकार मानकर **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उस बृहस्पतिरूप सिर से ही मैंने इसे प्राप्त किया है। २. **एषः ओदनः**=यह ब्रह्मौदन **वै**=निश्चय से **सर्वाङ्गः**=सम्पूर्ण अंगोंवाला **सर्वपरुः**=सम्पूर्ण पर्वों-(अवयव-सन्धियों)-वाला व **सर्वतनूः**=सम्पूर्ण (whole स्वस्थ) शरीरवाला है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस ब्रह्मौदन को समझ लेता है वह **सर्वाङ्गः एव**=सब अंगोंवाला ही **सर्वपरुः**=सम्पूर्ण अवयवसन्धियोंवाला व **सर्वतनूः**=स्वस्थ शरीरवाला **संभवति**=होता है, पुण्यलोकों में जन्म लेता है।

भावार्थ—हमें वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को ही जानना। यह वेद केवल पृथिवी के, द्युलोक के व सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष लोक के ही पदार्थों का वर्णन नहीं करता। इसे तो यही

समझकर पढ़ना कि इन सब वाणियों का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है। इसप्रकार पढ़ने पर यह हमें पूर्ण स्वस्थ बनाएगा और हमारी सन्तानें भी दीर्घजीवी होंगी।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती, आसुरीजगती ॥

द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३३॥

१. **ततः च**=और तब **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **याभ्यां श्रोत्राभ्याम्**=जिन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से **पूर्वे ऋषयः**=पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं के संहारक तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **प्राश्नन्**=खाया—ग्रहण किया, **अन्याभ्याम्**=उससे भिन्न द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से **प्राशीः**=ग्रहण करेगा तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनम् आह**=इसे कहता है कि **बधिरः भविष्यसि इति**=अपनी श्रोत्रशक्ति को नष्ट कर बैठेगा। **अहम्**=मैंने तो **तम्**=उस ओदन को **वै**=निश्चय से **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न दूर के—द्युलोक के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला **न प्रत्यञ्चम्**=न सम्मुख—अन्तरिक्ष के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। अपितु **ताभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्**=उन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों के हेतु से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन का ग्रहण किया है, **ताभ्याम्**=उन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों के हेतु से ही **एनं अजीगमम्**=इस ब्रह्मौदन को प्राप्त हुआ हूँ। इन श्रोत्रों के द्वारा ही तो मुझे ब्रह्म की महिमा का श्रवण करना है। २ **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने इस वेदज्ञान को द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से ग्रहण किया। इसमें दिया गया द्यावापृथिवी का ज्ञान उनके लिए ब्रह्म का ज्ञान देनेवाला हुआ। इससे उन्होंने ब्रह्म की महिमा को जाना। यदि यह द्यावापृथिवी का ज्ञान हमें ब्रह्म की महिमा को सुनानेवाला नहीं हुआ तो 'बधिर' ही तो रहे, अतः हम इनके ज्ञान में प्रभु-महिमा का श्रवण करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः, आसुरीत्रिष्टुप् ॥

सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् अक्षीभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३४॥

१. **ततः च**=और तब **याभ्यां च अक्षीभ्याम्**=जिन सूर्य व चन्द्ररूप आँखों से **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं के संहारक तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **एतम्**=इस ब्रह्मौदन का **प्राश्नन्**=सेवन किया, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न आँखों से **एनं प्राशीः**=इसको तू खाता है तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इससे कहता है कि **अन्धः भविष्यसि इति**=तू अन्धा हो

जाएगा। **तं अहम्**=उस तत्त्वज्ञान को निश्चय से मैं **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न प्रत्यञ्चम्**=और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। **ताभ्याम्**=उन **सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्याम्**=सूर्यचन्द्ररूप आँखों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन का ग्रहण करता हूँ। **ताभ्यां एनम् अजीगमम्**=उन नेत्रों से ही इसे प्राप्त करता हूँ। यह सूर्यचन्द्र का ज्ञान मेरे लिए ब्रह्मदर्शन का साधन बनता है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषि इस वेदवाणी को सूर्यचन्द्र की आँखों से देखते हैं। इसमें दिया गया सूर्य-चन्द्र का ज्ञान उनके लिए ब्रह्म का ज्ञान देनेवाला होता है। सूर्य व चन्द्र में वे ब्रह्म की महिमा को देखते हैं। जो इन सूर्य व चन्द्र में ब्रह्म की महिमा को नहीं देखता, वह अन्धा ही तो है, अतः हम सूर्य व चन्द्र में प्रभु की प्रभा को देखने का यत्न करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसूर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री** ॥

ब्रह्मणा मुखेन

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ब्रह्मणा मुखेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३५॥

१. **ततः च**=और तब **येन च मुखेन**=जिस मुख से **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों ने **प्राश्नन्**=ग्रहण किया, **अन्येन**=उससे भिन्न मुख से **प्राशीः**=तू इस ओदन को खाता है, तो **एनं आह**=इसे वह तत्त्वद्रष्टा कहता है कि **मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति**=(अभिमुखप्रदेशे—सा०) तेरे सामने ही तेरी प्रजा मरेगी। **अहं वै तम्**=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे—पृथिवी आदि पदार्थों को ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और **न प्रत्यञ्चम्**=न सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला समझता हूँ। मैंने तो **तेन ब्रह्मणा मुखेन**=उस ब्रह्मरूप मुख से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन**=उस ब्रह्म-मुख से ही **एनं अजीगमम्**=इसे पाया है। परमात्मा से दिये गये मुख से मैंने वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए उस ब्रह्म को जाना है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम ज्ञान को ही ब्रह्मौदन के विराट् शरीर का मुख स्थानीय समझते हुए ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। अन्यथा हम विषय-प्रवण होकर मुख से अशुभ शब्दों को बोलते हुए अपनी प्रजाओं को ही नष्ट करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती** ॥

अग्नेः जिह्वया

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

अ॒ग्नेर्जि॒ह्वया॑। तयै॑नं॒ प्राशि॑षं॒ तयै॑नमजीगमम्।
ए॒ष वा ओ॑द॒नः सर्वा॑ङ्गः सर्व॑प॒रुः सर्व॑तनूः।
सर्वा॑ङ्ग ए॒व सर्व॑प॒रुः सर्व॑तनूः सं भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ३६॥

१. ततः च=और तब यया च जिह्वया=जिस जिह्वा से, दृष्टिकोण से पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्=पालन व पूरण करनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों ने इस भोजन को खाया, अन्यया=उससे भिन्न जिह्वा से, अर्थात् भिन्न दृष्टिकोण एनं प्राशीः=इस ओदन को खाएगा, तो वह ब्रह्मज्ञ एनं आह=इससे कहता है कि ते जिह्वा मरिष्यति=तेरी जिह्वा नष्ट हो जाएगी। अहम्=मैं तो वै=निश्चय से तम्=उस ब्रह्मज्ञान को न अर्वाञ्चम्=न केवल नीचे—पृथिवी के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न पराञ्चम्=न दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न प्रत्यञ्चम्=न सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैं तो तया अग्नेः जिह्वया=उस अग्नि की जिह्वा से एनं प्राशिषम्=इस ब्रह्मौदन को खाता हूँ तया=उसी से एनम् अजीगमम्=इसे प्राप्त हुआ हूँ। २. एषः वा ओदनः० (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की जिह्वा पर 'अग्नि' है। मैं अग्निदेव के गुणों को समझता हुआ इस अग्निदेव में भी उस ब्रह्म का तेज देखता हूँ। वेद अग्नि का ज्ञान देता हुआ इस ब्रह्म का ही ज्ञान देता है।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, साम्नीपङ्क्तिः, आसुरीपङ्क्तिः, दैवीपङ्क्तिः॥

ऋतुभिः दन्तैः

तत॑श्चैनम॒न्यैर्दन्तैः॒ प्राशी॒र्यैश्चै॒तं पूर्व॒ ऋष॑य॒ः प्राश्न॑न्।
दन्ता॑स्ते शत्स्य॒न्तीत्ये॑नमाह। तं वा अ॒हं नार्वा॑ञ्चं॒ न परा॑ञ्चं॒ न प्र॒त्यञ्च॑म्।
ऋ॒तुभि॒र्दन्तै॑ः। तैरे॑नं॒ प्राशि॑षं॒ तैरे॑नमजीगमम्।
ए॒ष वा ओ॑द॒नः सर्वा॑ङ्गः सर्व॑प॒रुः सर्व॑तनूः।
सर्वा॑ङ्ग ए॒व सर्व॑प॒रुः सर्व॑तनूः सं भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ३७॥

१. ततः च=और तब यैः च दन्तैः=जिन दाँतों से एतम्=इस ब्रह्मौदन को पूर्वे ऋषयः=पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले ऋषियों ने प्राश्नन्=खाया, अन्यैः=उनसे भिन्न दाँतों से—भिन्न दृष्टिकोण से जो एनं प्राशीः=इस ब्रह्मौदन को खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा एनम् आह=इसे कहता है कि ते दन्ताः शत्स्यन्ति=तेरे दाँत टूट जाएँगे। तं वै अहम्=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से मैं तो न अर्वाञ्चम्=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न पराञ्चम्=न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न प्रत्यञ्चम्=न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने तो एनम्=इस ब्रह्मौदन को तैः ऋतुभिः दन्तैः=उन ऋतुरूप दाँतों से प्राशिषम्=खाया है। दो-दो मासों में बनी हुई ये ऋतुएँ मानो ऊपर व नीचे की दन्तपंक्तियाँ हैं। तैः=उनके द्वारा मैंने एनं अजीगमम्=इस ब्रह्मौदन को प्राप्त किया है, अर्थात् सब ऋतुओं में ज्ञान को प्राप्त करते हुए ज्ञान का वर्धन किया है। २. एषः वा ओदनः० (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—ऋषि लोग सब ऋतुओं में ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। सब ऋतुएँ वे दाँत हैं, जिनसे कि ब्रह्मौदन खाया जाता है। यदि हमारे दाँत इन ज्ञान की वाणियों के उच्चारण में व्यापृत नहीं होते और व्यर्थ के स्वादिष्ट भोजनों को ही करते हैं तो वे दाँत शीघ्र नष्ट हो

जाते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, प्राजापत्यागायत्री ॥

सप्तर्षिभिः प्राणापानैः

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३८॥

१. ततः च=और तब यैः च प्राणापानैः=जिन प्राणापानों से पूर्वे ऋषयः=पालन करनेवाले ऋषियों ने एतं प्राश्नन्=इस ब्रह्मौदन को खाया, अन्यैः=उनसे भिन्न प्राणापानों से एनं प्राशीः=इस ब्रह्मौदन को तू खाता है, तो वह ब्रह्मज्ञानी एनम् आह=इसे कहता है कि प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति=प्राण और अपान तुझे छोड़ जाएँगे। प्राणापान की शक्ति को ठीक रखने में इस ब्रह्मौदन का सेवन सहायक है। अहं वै तम्=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को न पराञ्चं न अर्वाञ्चं न प्रत्यञ्चम्=न केवल पृथिवी के, न ही द्युलोक के और न सम्मुखस्थ इस अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। यह इन सब लोकों के पदार्थों का ज्ञान देता हुआ ब्रह्म का ज्ञान दे रहा है। मैंने तैः=उन सप्तर्षिभिः प्राणापानैः=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सप्तर्षिभूत प्राणापानों के द्वारा एनं प्राशिषम्=इस ब्रह्मौदन को खाया है, तैः एनं अजीगमम्=उन सप्तर्षियों से इसे प्राप्त किया है। २. एषः वा ओदनः० (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम दो कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुखरूप सप्तर्षियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का यत्न करें। अन्यथा इनकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। वेद का स्वाध्याय प्राणापान की शक्ति को ठीक रखनेवाला होता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, प्राजापत्यागायत्री, आसुर्युष्णिक् ॥

अन्तरिक्षेण व्यचसा

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
अन्तरिक्षेण व्यचसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३९॥

१. ततः च=और तब येन च व्यचसा=जिस विस्तार (Expance, vastness) के हेतु से निश्चयपूर्वक एतम्=इस ब्रह्मौदन को पूर्वे ऋषयः=पालन व पूरण करनेवाले तत्त्वद्रष्टाओं ने प्राश्नन्=खाया, अन्येन=उससे भिन्न विस्तार के दृष्टिकोण से एनं प्राशीः=इसे तू खाता है, तो वह ज्ञानी एनम् आह=इससे कहता है कि राजयक्ष्मः त्वा हनिष्यति इति=राजयक्ष्मा तुझे नष्ट कर डालेगा। अहम्=मैंने तो तं वै=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों

का ज्ञान देनेवाला और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने **एनम्**=इसे **तेन अन्तरिक्षेण व्यचसा**=उस हृदयान्तरिक्ष के विस्तार के हेतु से **प्राशिषम्**=खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी के हेतु से प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान को हृदयान्तरिक्ष के विस्तार के हेतु से प्राप्त करें। यदि हमारा उद्देश्य केवल ऐश्वर्य व विलास के विस्तार का बना, तो हम ऐश्वर्य-विस्तार के साथ विलास-पंक में डूबकर राजयक्ष्मा आदि रोगों के शिकार हो जाएँगे।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती, दैवीपङ्क्तिः ॥

दिवा पृष्ठेन

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
विद्युत्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
दिवा पृष्ठेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४०॥

१. **ततः च**=और तब **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **येन च पृष्ठेन**=निश्चय से जिस ज्ञान व प्रकाश के सेचन (पृषु to sprinkle) के हेतु से **पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने खाया, **अन्येन**=उससे भिन्न धन आदि सेचन के हेतु से **एनं प्राशी**=इसे खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनम् आह**=इससे कहता है कि **विद्युत् त्वा हनिष्यति इति**=बस, यह धन की चमक (विद्युत्) ही तुझे मार डालेगी। **अहम्**=मैं तो **वै तम्**=निश्चय से उसे **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल पृथिवी के, न केवल सुदूर द्युलोक के और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ और **तेन दिवा पृष्ठेन**=उस ज्ञानदीप्ति के हेतु से ही **एनं प्राशिम्**=इसे मैंने खाया है, **तेन एनम् अजीगमम्**=उसी हेतु से इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हमें इस ब्रह्मौदन को अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसिक्त करने के उद्देश्य से ही खाना है। धन आदि के विस्तार का उद्देश्य होने पर इस धन की चमक ही हमें खा जाएगी।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः ॥

पृथिव्या उरसा

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
पृथिव्योरसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४१॥

१. **ततः च**=और तब **येन उरसा**=जिस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की छातीरूप पृथिवी के उद्देश्य से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं च प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को निश्चय से खाया, **अन्येन**=उससे भिन्न अन्य उद्देश्य से **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **प्राशीः**=तू खाता है, तो **एनं आह**=वह ज्ञानी इसे कहता है कि **कृष्या न रात्स्यसि इति**=कृषि के द्वारा तू संसिद्धि को प्राप्त

न करेगा। कृषि ही तो तेरी जीवन-यात्रा की सहायक है। '**कृषिमित् कृषस्व**'=अवश्य कृषि करनेवाला बन, यही तो वेदोपदेश है। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस वेदज्ञान को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल पृथिवी के, न केवल द्युलोक के और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। मैंने तो **तेन पृथिव्या उरसा**=उस पृथिवी को ही इस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की छाती जानकर **प्राशिषम्**=इसे खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी हेतु से प्राप्त किया है। जिस प्रकार माता के उरःस्थल पर ही बच्चे का पालन होता है, उसी प्रकार इस पृथिवी पर ही हमारा पालन होता है। यहाँ कृषि को सिद्ध करके हमें ओषधि, वनस्पतियों को प्राप्त करके जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए इस शरीर-रथ को सदा ठीक रखना है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करके इस पृथिवीमाता के उरःस्थल से कृषि द्वारा अन्न-रसों को प्राप्त करें और इस यात्रा की पूर्ति के लिए शरीर-रथ को ठीक रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवीत्रिष्टुप्**॥

सत्येन उदरेण

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्येनोदरेण। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४२॥

१. **ततः च**=और तब **येन च उदरेण**=जिस उदर से निश्चयपूर्वक **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन का सेवन किया, यदि तू **अन्येन**=उससे भिन्न उदर से **एनं प्राशीः**=इसे खाता है, तो **एनम् आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इससे कहता है कि **उदरदारः त्वा हनिष्यति इति**=(उदरस्य दरणम्) अतिसार-रोग तुझे नष्ट कर डालेगा। **तं वा अहम्**=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल इस पृथिवी का, न सुदूर द्युलोक का और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने तो **तेन सत्येन उदरेण**=सत्य के उदर से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन एनम् अजीगमम्**=उस सत्य के उदर से ही इसे प्राप्त किया है। इस वेदज्ञान से मैंने यह सीखा है कि भोजन में पूर्ण सत्य का पालन करना आवश्यक है। वही भोजन करना ठीक है जोकि उदर के द्वारा सुपच हो। यही भोजन हमें अतिसार आदि रोगों से बचाएगा। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें और '**अग्रे तौलस्य प्राशान**', इस वेदादेश के अनुसार भोजन में पूर्ण सत्य नियमों का पालन करें 'हिताशी, मिताशी व कालभोजी' बनें। ऐसा होने पर ही हम अतिसार आदि रोगों से पीड़ित न होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः**॥

समुद्रेण वस्तिना

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

अप्सु मरिष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४३॥

१. **'वसति अस्मिन् अशितपीतान्नोदकम् इति वस्तिः मूत्राशयः। इतरावयवानामिव तस्यापि प्राशने साधकतमत्वमस्त्येव—सा०'** शरीर में भोजन का सब जल अन्ततः मूत्राशय में निवास करता है। यह शरीरस्थ समुद्र है। इसका ठीक रहना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। वास्तव में जैसे समुद्रजल शरीर के मलों को दूर करने का साधन है, इसी प्रकार यह वस्तिजल भी सभी मलों को दूर करके नीरोग बनानेवाला है। **'नरमूत्रम् रसायनम्'** ऐसा आयुर्वेद में कहा गया है। **ततः च**=और तब **येन च वस्तिना**=निश्चय से जिस वस्ति से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्येन**=उससे भिन्न अन्य वस्ति से **एनं प्राशीः**=यदि तू इसे खाता है तो वह ब्रह्मज्ञानी **एनम् आह**=इसे कहता है कि **अप्सु मरिष्यसि इति**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के विषय में तू विनाश को प्राप्त होगा। इन रेतःकणों को ठीक से सुरक्षित न रख सकेगा। **अहम्**=मैंने तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल नीचे इस पृथिवी के पदार्थों का, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **तेन समुद्रेण वस्तिना**=उस शरीरस्थ समुद्रतुल्य वस्तिप्रदेश को ठीक रखने के हेतु से **प्राशिषम्**=सेवन किया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी हेतु से इसे प्राप्त किया है। इसके स्वास्थ्य से ही तो मैं शरीर में रेतःकणरूप जलों को सुरक्षित करके स्वस्थ बना हूँ। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान द्वारा शरीरस्थ समुद्ररूप वस्तिप्रदेश के महत्त्व को समझें। इसके स्वास्थ्य से शरीर में रेतःकणरूप जलों का रक्षण करते हुए जीवन का धारण करें। **'मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—मन्त्रोक्ताः॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीजगती॥

मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ऊरू ते मरिष्यत इत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
मित्रावरुणयोरूरुभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४४॥

१. ('अर्पते अनेन' 'अर्तेरूरच्च' सूत्र से कु प्रत्यय व ऋ को ऊर आदेश) 'ऊरु' गति के साधनभूत होते हैं। वेद के अनुसार हमारी सब गति 'मित्र व वरुण' की होनी चाहिए, अर्थात् हमारे सब कार्य स्नेह व निर्द्वेषता के साथ होने चाहिएँ। **ततः च**=और तब **याभ्यां च ऊरुभ्याम्**=निश्चय से जिन ऊरु-प्रदेशों से—जङ्घाओं (Thighs) से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न ऊरुओं से **एनं प्राशीः**=इस ओदन को तूने खाया तो **ते ऊरू मरिष्यतः इति**=तेरे ये ऊरूप्रदेश विकृत हो जाएँगे—मर जाएँगे।

ऐसा वह ब्रह्मज्ञानी **एनं आह**=इसे कहता है **अहम्**=मैंने तो **वै**=निश्चय से **तम्**=उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का, न ही सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने तो **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्यां मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम्**=उन मित्र और वरुण के ऊरु-प्रदेशों के हेतु से **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्याम्**=उनके हेतु से ही **एनं अजीगमम्**=इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः**०(शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान द्वारा प्रेरणा लेकर सदा स्नेह व निर्द्वेषता से गतिवाले बनें और इसप्रकार अपने ऊरु-प्रदेशों को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः, दैवीत्रिष्टुप्** ॥

त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
स्रामो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४५॥

१. शरीर में घुटनों की अस्थियाँ अपना विशेष ही महत्त्व रखती हैं (अतिशयितं अस्थि यस्मिन् इति) इन अस्थियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। **ततः च**=और तब **याभ्यां च अष्ठीवद्भ्याम्**=जिन घुटनों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न घुटनों के दृष्टिकोण से **एतं प्राशीः**=यदि तू इस ओदन को खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनं आह**=इसे कहता है कि **स्रामः भविष्यसि इति**=तू पके हुए घुटनोवाला (स्रै पाके, शुष्कजंघः—सा०)—शुष्क जंघाओंवाला हो जाएगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न नीचे पृथिवी के पदार्थों का, न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का और न सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला समझता हूँ। मैंने तो **ताभ्याम्**=उन **त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्**=निर्माता की महिमा के प्रतिपादक घुटनों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **ताभ्यां एनं अजीगमम्**=उन्हीं से इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः**० (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों को इन अतिशयित प्रशस्त अस्थिवाले घुटनों में भी उस निर्माता (त्वष्टा) की महिमा का दर्शन होता है। हम भी इनके द्वारा ब्रह्मौदन को खानेवाले बनें, अर्थात् इनका विचार करते हुए ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करें

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री** ॥

अश्विनोः पादाभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४६॥

१. 'पाद' (पद गतौ) गति के लिए दिये गये हैं। यदि इनके द्वारा मनुष्य गतिमय जीवन रखता है तो उसकी प्राणापान शक्ति ठीक बनी रहती है और मानव-जीवन नीरोग रहता है, अतः तत्त्वद्रष्टा पुरुष पाँवों से गति के महत्त्व को समझते हुए गतिशील जीवनवाले होते हैं। **ततः च**=और तब **याभ्यां च पादाभ्याम्**=जिन गतिशील पाँवों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न औरों पर प्रहार करनेवाले पाँवों से **एनं प्राशीः**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **बहुचारी भविष्यसि इति**=तू व्यर्थ में भटकनेवाला बनेगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मज्ञान को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल यहाँ नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ, न ही सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्याम्**=उन **अश्विनोः**=प्राणापान के **पादाभ्याम्**=पाँवों से **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्याम्**=उनसे ही **एनं अजीगमम्**=इसे प्राप्त किया है। २. **एषं वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा पुरुष प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिए पाँवों से उचित गतिवाले होते हैं। परिणामतः ये व्यर्थ में भटकनेवाले नहीं होते।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती** ॥

सवितुः प्रपदाभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४७॥

१. हमारे प्रपद, अर्थात् पादाग्र (पञ्जे) सदा सविता के हों, अर्थात् हम सदा निर्माण के कार्यों के लिए ही गतिवाले हों। **ततः च**=और तब **याभ्यां च प्रपदाभ्याम्**=जिन पञ्जों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एनं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न पञ्जों से **एनं प्राशीः**=यदि तू इस ब्रह्मौदन को खाता है तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **सर्पः त्वा हनिष्यति इति**=कुटिल गति (Serpentive motion) तुझे नष्ट कर डालेगी। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्याम्**=उन **सवितुः प्रपदाभ्याम्**=निर्माता के पञ्जों से ही **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्यां एनं अजीगमम्**=उन्हीं के हेतु से इसे प्राप्त किया है। **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—इन पञ्जों (प्रपदों) में भी प्रभु की रचना की महिमा को देखता हुआ मैं सदा निर्माणात्मक कार्यों के लिए ही गतिशील होता हूँ। कुटिलगति से मैं सदा दूर रहता हूँ।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री ॥

ऋतस्य हस्ताभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४८॥

१. प्रभु ने हाथ दिये हैं। इनसे हमें सदा उत्तम कर्मों (ऋत=right) को ही करना है। **ततः च**=और तब **याभ्यां च हस्ताभ्याम्**=जिन हाथों से एतम्=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **प्राश्नन्**=खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न हाथों से **एनं प्राशीः**=इसे खाता है, तो **एनम् आह**=इसे तत्त्वद्रष्टा कहता है कि **ब्राह्मणं हनिष्यसि इति**=ब्रह्मज्ञान को तू नष्ट करनेवाला होगा। ऋत के पालन से ब्रह्मज्ञान की वृद्धि होती है और ऋत का विनाश ब्रह्मज्ञान के विनाश का हेतु बनता है। **अहम्**=मैं **वै तम्**=निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ **न पराञ्चम्**=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न ही **न प्रत्यञ्चम्**=सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला। मैं तो **ताभ्याम् ऋतस्य हस्ताभ्याम्**=उन ऋत के हाथों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाता हूँ, **ताभ्यां एनम् अजीगमम्**=ऋत के हाथों से ही इसे प्राप्त करता हूँ। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सदा हाथों से ऋत (ठीक कर्मों) को ही करनेवाले बनें। ऋत का पालन हमारे ब्रह्मज्ञान की वृद्धि का कारण बनेगा।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवीत्रिष्टुप्, एकपदा भूरिक्साम्नीबृहती ॥

सत्ये प्रतिष्ठाय

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अप्रतिष्ठानो ऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४९॥

१. इस पृथिवी पर गति करते हुए हम इस पृथिवी को प्रतिष्ठा (आधार) समझते हैं, परन्तु वास्तव में प्रतिष्ठा तो 'सत्य' है—सत्यस्वरूप प्रभु ही अन्तिम आधार है। **ततः च**=और तब **यया च प्रतिष्ठया**=जिस सत्यरूप आधार के विचार से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्यया**=उससे भिन्न अन्न लौकिक आधारों के द्वारा **प्राशीः**=तू ब्रह्मौदन को खाता है, तो **एनम् आह**=तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **अप्रतिष्ठानः**=आधारशून्य हुआ-हुआ **अनायतनः**=बिना घर-बारवाला **मरिष्यसि इति**=तू मर जाएगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से न **अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न

पराञ्चम्=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न **प्रत्यञ्चम्**=न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष-लोक के पदार्थों का ही ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। **सत्ये प्रतिष्ठाय**=सत्य में ही प्रतिष्ठित होकर **तया**=उस सत्य में प्रतिष्ठा के द्वारा ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तया एनम् अजीगमम्**=उस सत्यप्रतिष्ठा के द्वारा ही इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः**० (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सत्य को ही अपना आधार समझें। अन्य आधार धोखा दे जाते हैं। सत्यस्वरूप प्रभु ही हमारे सच्चे आधार हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५० आसुर्यनुष्टुप्, ५१ आर्च्युष्णिक्** ॥

ब्रध्नस्य विष्टपम्

एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

१. **यत् एतत् ओदनः**=यह जो ब्रह्मौदन—सुखों से हमें सिक्त करनेवाला वेदज्ञान है, वह **वै**=निश्चय से **ब्रध्नस्य**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में बाँधनेवाले महान् प्रभु का (ब्रह्मा का) **विष्टपम्**=लोक है, अर्थात् यह वेदज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाला है। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस ओदन के आधार को समझ लेता है, वह **ब्रध्नलोकः भवति**=ब्रह्मलोकवाला होता है, अर्थात् **ब्रध्नस्य विष्टपि**=उस सब ब्रह्माण्ड को अपने में बाँधनेवाले महान् प्रभु के लोक में **श्रयते**=आश्रय करता है।

भावार्थ—यह ब्रह्मौदन (वेदज्ञान) ब्रह्म का लोक है। वेद को समझनेवाला पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५२ त्रिपदाभुरिक्साम्नीत्रिष्टुप्; ५३ आसुरीबृहती** ॥

ओदन से तेतीस लोक

एतस्माद्वा ओदनात्त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

१. **प्रजापतिः**=परमात्मा ने **एतस्मात् वै ओदनात्**=निश्चय से इस ओदन (वेदज्ञान) से ही **त्रयस्त्रिंशतम्**=तेतीस **लोकान्**=लोकों को **निरमिमीत**=बनाया। '**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**' यह मनुवाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त सब प्राचीन साहित्यों में उपलभ्य है। २. **तेषाम्**=उन लोकों के **प्रज्ञानाय**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए प्रभु ने **यज्ञम् असृजत**=यज्ञ की उत्पत्ति की। '**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**'= देवपूजा (बड़ों का आदर), परस्पर प्रेम (प्रणीतिरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सह) तथा आचार्य के प्रति अपना अर्पण कर देना, ये तीन उपाय प्रभु ने **असृजत**=रचे। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

भावार्थ—वेद-शब्दों से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इन्हें समझने के लिए आवश्यक है कि हम बड़ों का आदर करें, परस्पर प्रीतिपूर्वक वर्तें तथा आचार्यों के प्रति अपने को दे डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५४ द्विपदा भुरिक्साम्नीबृहती; ५५ साम्न्युष्णिक्; ५६ प्राजापत्याबृहती** ॥

प्राणरोध—सर्वज्यानि—शीघ्रमृत्यु

स य एवं विदुषं उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते॥ ५५॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति॥ ५६॥

१. **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विदुषः**=सृष्टितत्त्व के ज्ञाता का—ओदन के महत्त्व को समझनेवाले का **उपद्रष्टा**=आलोचक (निन्दक) **भवति**=होता है **सः**=वह **प्राणं रुणद्धि**=प्राणशक्ति का निरोध कर बैठता है—उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है। २. **न च प्राणं रुणद्धि**=और केवल प्राणशक्ति का निरोध ही नहीं कर बैठता, वह **सर्वज्यानिं जीयते**=सब प्रकार की हानि का भागी होता है—वह सर्वस्व खो बैठता है। **न च सर्वज्यानिं जीयते**=न केवल सर्वस्व खो बैठता है, अपितु **प्राणः**=प्राण—जीवन **एनम्**=इसे **जरसः पुरा जहाति**=बुढ़ापे से पहले ही छोड़ जाता है, अर्थात् युवावस्था में ही समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो ज्ञान के महत्त्व को न समझता हुआ ज्ञान-प्रवण नहीं होता, बल्कि ज्ञानियों की आलोचना ही करता है, वह प्राणशक्ति के ह्रास—सर्वनाश व शीघ्रमृत्यु का भागी बनता है।

गत सूक्तों में वर्णित ब्रह्मज्ञान में अपने को परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' बनता है। यह उस 'स उ प्राणस्य प्राणः' प्राणों के भी प्राण प्रभु से अपना मेल बनाकर 'वैदर्भि' (दृभ् to tie, fasten, string together) कहलाता है। यह 'भार्गव वैदर्भि' 'प्राण' नाम से प्रभु का स्तवन करता है कि—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

प्राणात्मा प्रभु को प्रणाम

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १॥

१. उस **प्राणाय**=('सर्वप्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टते—हिरण्यगर्भः'—सा०) सबके प्राणभूत प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **यस्य**=जिस प्राणप्रभु के **इदं सर्वं वशे**=यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् वश में है, **यः**=जो प्राणों का प्राण प्रभु **भूतः**=(सर्वदा लब्धसत्ताकः, भूतकालावच्छिन्नः, न तु भविष्यन्) सदा से हैं—'वे कभी होंगे' ऐसा उनके लिए नहीं कहा जाता। **सर्वस्य ईश्वरः**=सब प्राणिजात के ईश हैं—कर्मानुसार विविध योनियों में प्राप्त करानेवाले हैं। **यस्मिन्**=जिस प्राणात्मा प्रभु में **सर्वं प्रतिष्ठितम्**=सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है—'जो सर्वाधार हैं' उन प्रभु के लिए हम प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणात्मा प्रभु को प्रणाम करते हैं। उन्हीं के वश में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। वे प्रभु सदा से हैं, सबके ईश्वर हैं, सबकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेघात्मा प्रभु

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥ २॥

१. मेघरूप में वे प्राणप्रभु ही वृष्टि करते हैं। हे **प्राण**=सबको प्राणित करनेवाले मेघरूप प्रभो! **क्रन्दाय ते नमः**=बादलों की घटा में प्रवेश करके ध्वनि करते हुए आपके लिए नमस्कार हो। **स्तनयित्नवे ते नमः**=उसी प्रकार स्तनित व गर्जित करते हुए आपके लिए नमस्कार हो। २. हे **प्राण**=प्राणात्मा प्रभो! **विद्युते ते नमः**=विद्युद्रूप से विद्योतमान आपके लिए प्रणाम हो और तब हे **प्राण**=सबके प्राणभूत प्रभो! **वर्षते ते नमः**=वृष्टि करते हुए आपके लिए प्रणाम हो।

भावार्थ—प्रभु ही मेघों में प्रविष्ट होकर ध्वनि व गर्जन कर रहे हैं। उन्हीं की शक्ति व व्यवस्था से ही सब विद्योतन व वर्षण होता है।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्यात्मा प्रभु

यत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

१. **यत्**=(यदा) जब **प्राणः**=जगत् प्राणभूत सूर्यात्मक देव **स्तनयित्नुना**=मेघध्वनि से **ओषधीः अभिक्रन्दति**=व्रीहि-यवादि ग्राम्य व आरण्य लताओं के प्रति शब्द करता है, तब वे ओषधियाँ **प्रवीयन्ते**=प्राणाभिक्रन्दनमात्र से ही गर्भ को ग्रहण करती हैं—प्रजननाभिमुख होती हैं। वर्षाऋतु सब ओषधियों के गर्भग्रहण का काल है ही, तब ये ओषधियाँ **गर्भान् दधते**=गर्भों को धारण करती हैं। **अथो**=तदनन्तर **बह्वीः**=बहुत प्रकारोंवाली **विजायन्ते**=उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ—सूर्य व मेघ आदि में प्राणरूप से स्थित प्रभु मानो ओषधियों का लक्ष्य करके मेघध्वनि से शब्द करते हैं। तब प्रजननाभिमुख हुई-हुई ये ओषधियाँ गर्भग्रहण करती हैं और विविधरूपों में प्रादुर्भूत हो जाती हैं।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वृष्टि व प्राणिमात्र की प्रसन्नता

यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

१. **यत्**=जब **प्राणः**=प्राणदाता—प्राणशक्ति का पुञ्ज प्रभु **ऋतौ आगते**=ऋतु के—वर्षाकाल के आने पर **ओषधीः अभिक्रन्दति**=ओषधियों के प्रति मेघध्वनि से आक्रन्दन करता है **तदा**=तब **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **यत् किञ्च**=जो कोई प्राणसमूह है, **सर्वं प्रमोदते**=वह सब प्रसन्न हो उठता है।

भावार्थ—ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणिसमूह मेघध्वनि को सुनते ही प्रफुल्लित हो उठता है।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वर्षम्—महः

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

१. **यदा**=जब **प्राणः**=यह प्राणदाता मेघात्मा प्रभु **महीं पृथिवीम्**=इस महती विस्तीर्ण भूमि को **वर्षेण अभ्यवर्षीद्**=वृष्टि द्वारा अभितः सिक्त करता है, **तत्**=तब **पशवः प्रमोदन्ते**=सब पशु प्रसन्न होते हैं कि **नः महः भविष्यति**=हमारा तो अब उत्सव होगा। वृष्टि से पृथिवी पर सर्वत्र खूब सस्य उत्पन्न होंगे और उनके खाने से हमारा समुचित पोषण होगा।

भावार्थ—वृष्टि से अन्न व अन्न से प्राणियों का जीवन होता है। इसप्रकार मेघध्वनि होने पर उज्ज्वल उत्सव की कल्पना करके सब पशु प्रसन्न होते हैं।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओषधियों का कृतज्ञता प्रकाशन

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

१. प्रभु ने ओषधियों के विकास के लिए वृष्टि की। ये **अभिवृष्टाः ओषधयः**=वृष्टिजल से सिक्त हुई-हुई ओषधियाँ **प्राणेन समवादिरन्**=प्राणात्मा प्रभु से संवाद करती हैं कि हे प्रभो!

वै=निश्चय से तूने **नः आयुः**=हमारी आयु को **प्रातीतरः**=बढ़ाया है और **न सर्वाः**=हम सबको **सुरभीः अकः**=सुगन्धवाला किया है।

भावार्थ—वे प्राणात्मा प्रभु ही मेघरूप से वृष्टि करके सब ओषधिओं को उत्पन्न करते हैं और इन्हें सुगन्ध से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब क्रियाओं का निर्वर्तक 'प्राण'

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥ ७॥

१. प्रभु-प्रदत्त प्राणशक्ति से ही सब कार्यों की सिद्धि होती है। आगमनादि सब क्रियाएँ प्राण-व्यापार से ही निर्वर्त्य हैं, अतः कहते हैं कि हे प्राण! **आयते ते नमः अस्तु**=आगमन क्रिया करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। **परायते नमः अस्तु**=पराङ्मुख जाते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। हे प्राण! **तिष्ठते ते नमः**=जहाँ कहीं भी स्थित हुए-हुए तेरे लिए नमस्कार हो, **उत**=और **आसीनाय ते नमः**=उपविष्ट हुए-हुए तेरे लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त प्राणों से होती हुई विविध क्रियाओं को देखकर हम प्रभु के प्रति प्रणत हों।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पराचीनाय—प्रतीचीनाय

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः॥ ८॥

१. हे **प्राण**=प्राण! **प्राणते ते नमः**=प्राणन-व्यापार करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो, **अपानते नमः अस्तु**=अपानन-व्यापार करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। **पराचीनाय**=(पराञ्चनाय) परागमन स्वभाववाले देह से बाहर अवस्थित **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। **प्रतीचीनाय**=(प्रतिमुखं अञ्चते) प्रतिमुख आते हुए देहमध्य में वर्त्तमान **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संक्षेप में, **सर्वस्मै ते**=सब व्यापारों को करनेवाले सर्वप्राणिशरीरान्तर्वर्ती **ते**=तेरे लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार हो।

भावार्थ—प्राणापान आदि क्रियाओं को शरीर में प्रवृत्त करानेवाले उस प्राणों के प्राण प्रभु के लिए हमारा नमस्कार हो।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न केवल प्रिया, अपितु प्रेयसी 'तनूः'

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी।
अथो यद्भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे॥ ९॥

१. प्राण का व्यापार ठीक से होने पर शरीर बड़ा सुन्दर बनता है—सुन्दर ही क्या इसकी स्थिति अत्यन्त सुन्दर होती है, अतः कहते हैं कि हे **प्राण**=प्राण! **या**=जो **ते**=तेरा **प्रिया तनूः**=स्वस्थ अतएव प्रीतिकर शरीर है, **या उ**=और जो निश्चय से, हे **प्राण**=प्राण! **ते प्रेयसी**=(तनूः) तेरा अतिशयित प्रीति करनेवाला शरीर है **अथो**=और **यत्**=जो **तव भेषजम्**=तेरा औषधगुण है, **तस्य नः धेहि**=उसे हमारे लिए धारण कर, **जीवसे**=जिससे हम उत्तम जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें प्राणसाधना द्वारा वह प्राणशक्ति प्राप्त हो, जिससे कि हमारी तनू (शरीर) नीरोग व प्रिय (सुन्दर) बने।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सर्वस्य ईश्वरः प्राणः

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥ १०॥

१. **प्राणः**=प्राण **प्रजाः**=देव, तिर्यङ्, मनुष्य आदि सब प्रजाओं को **अनुवस्ते**=अनुक्रमेण आच्छादित किये हुए हैं। उनके शरीरों को नाड़ियों के द्वारा व्याप्त करके रह रहा है। यह प्राण प्रजाओं को इसप्रकार आच्छादित किये हुए हैं, **इव**=जैसेकि पिता **प्रियं पुत्रम्**=अपने प्रिय पुत्र को अपने वस्त्र से आच्छादित करता है। २. **यत् च**=और जो जङ्गमात्मक वस्तु **प्राणति**=प्राणन-व्यापार करती है **यत् च न**=और जो स्थावरात्मक वस्तु प्राणन-व्यापार नहीं करती, **प्राणः**=प्राण **ह**=निश्चय से **सर्वस्य**=उस सबका **ईश्वरः**=ईश्वर है। स्थावरों में भी आत्मा से अविनाभूत यह प्राण निरुद्धगतिवाला होता हुआ अन्दर है ही।

भावार्थ—प्राण सब प्रजाओं को अपने से आच्छादित करके सब रोगों के आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्राणसाधना से उत्तम लोक

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥ ११॥

१. **प्राणः मृत्युः**=यह 'प्राण' देव ही अपने निर्गमन के द्वारा सब प्राणियों का मारणकर्ता होता है तथा **प्राणः तक्मा**=प्राण ही, पूर्ण स्वस्थगतिवाला न होता हुआ, ज्वरादि रोगों का कारण बनता है। **देवाः**=शरीरस्थ सब इन्द्रियाँ **प्राणं उपासते**=इस प्राण की ही उपासना करती हैं—सब इन्द्रियों में वस्तुतः प्राणशक्ति ही कार्य करती है। **'प्राणः वाव इन्द्रियाणि'**। २. **प्राणः ह**=प्राण ही निश्चय से **सत्यवादिनम्**=सत्यवादी पुरुष को **उत्तमे लोके आदधत्**=उत्तम लोक में धारण करता है। प्राणसाधना से जैसे शरीर से रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस साधना से मन से असत्य दूर भाग जाता है, इसप्रकार इस साधक की उत्तम गति होती है।

भावार्थ—प्राण का बहिर्गमन ही मृत्यु है, इसकी अस्वस्थ गति ही रोग है। सब इन्द्रियों में प्राणशक्ति ही कार्य करती है। प्राणसाधना से मानस दोष भी दूर होकर उत्तम लोक की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'प्राणः' विराट्

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते॥
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ १२॥

१. **प्राणः**=सारे ब्रह्माण्ड को प्राणित करनेवाला प्रभु ही **विराट्**=इस स्थूल प्रपञ्च का अधिष्ठाता (शासक) ईश्वर है। वह **प्राणः**=प्राणशक्ति देनेवाला प्रभु ही **देष्ट्री**=अपने-अपने व्यापारों में सबको प्रेरित करनेवाला है **प्राणम्**=इस 'विराट् देष्ट्री' प्राण को ही **सर्वे उपासते**=सब लोग स्वाभिलषित की सिद्धि के लिए सेवित करते हैं। २. **प्राणः ह**=सबको प्राणित करनेवाले प्रभु ही **सूर्यः चन्द्रमाः**=सबके प्रेरक 'आदित्य' व अमृतमय 'सोम' हैं—वे प्रभु 'अग्नीषोमात्मक' हैं। **प्राणम्**=इस प्राण को ही **प्रजापतिम् आहुः**=प्रजाओं का स्रष्टा देव कहते हैं।

भावार्थ—प्राणों के भी प्राण प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप शरीर के अधिष्ठाता 'विराट्' हैं। वे ही सबके कर्त्तव्यों का निर्देश करनेवाले हैं। सब लोग इस प्राण की ही उपासना करते हैं। वह प्राण ही सूर्य-चन्द्र व प्रजापति हैं। अग्नीषोमात्मक होता हुआ यह प्राण ही सब प्रजाओं का पालक है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

व्रीहि+यव=अपान+प्राण

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ १३॥

१. इस संसार में **व्रीहि-यवौ**=चावल और जौ **प्राणापानौ**=प्राण और अपान हैं। **यवे**=जौ में ह=निश्चय से **प्राणः आहितः**=प्राणशक्ति स्थापित हुई है और **व्रीहि**=चावल **अपानः उच्यते**=अपान कहा जाता है—सब दोषों का अपनयन करनेवाला है। २. वस्तुतः **प्राणः**=प्राण ही **अनड्वान्** (अनसः जीवनस्य वाहकः)=जीवन-शकट का वहन करनेवाला **उच्यते**=कहा जाता है। 'अपान' आदि सब मुख्यप्राण के ही अवान्तर रूप हैं।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ने जीवन-शकट के वहन के लिए शरीर में प्राणापान की स्थापना की है। इनके पोषण के लिए प्रभु ने 'यव व व्रीहि' नामक धान्यों को प्राप्त कराया है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥

सर्वोत्पादक 'प्राण'

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥ १४॥

१. **पुरुषः**=अन्न-रस परिणामरूप शरीर को धारण करनेवाला पुरुष **गर्भे अन्तरा**=स्त्री के गर्भाशय के मध्य में **अपानति प्राणति**=प्राण का प्रवेश होने पर अपान व प्राणन-व्यापारों को करता है। हे प्राण! तू शुक्रशोणितावस्था में ही पुरुषशरीर में प्रवेश करके उसके परिणाम के लिए प्राणापान वृत्तियों को पैदा करता है। २. हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **यदा**=जब आप **जिन्वसि**=गर्भीभूत पुरुष को मातृयुक्त आहार से परिणत अन्न-रस से प्रीणित(पुष्ट) करते हो, **अथ**=तब ही **सः पुनः जायते**=वह पुरुष स्वार्जित परिपक्व पुण्य-पाप के फल के उपभोग के लिए पुनः भूमि पर उत्पन्न होता है।

भावार्थ—मातृगर्भ में प्राण का प्रवेश होने पर ही प्राणापान का व्यापार चलता है। प्राण ही गर्भीभूत पुरुष को पुष्ट करके पृथिवी पर जन्म देता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

१. **प्राणम्**=उस जीवनदाता प्रभु को ही **मातरिश्वानम् आहुः**=मातरिश्वा 'मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति वर्तते'—सम्पूर्ण आकाश में व्याप्तिवाला कहते हैं। **प्राणः ह**=वह प्राण ही **वातः उच्यते**=सर्वजगदाधारभूत सूत्रात्मा वायु कहलाता है। २. **प्राणे**=इस सर्वव्यापक सर्वजगदाधारभूत प्राणात्मा प्रभु में ही ह=निश्चय से **भूतं भव्यं च**=भूतकालावच्छिन्न उत्पन्न जगत् तथा भविष्यत् कालावच्छिन्न उत्पत्स्यमान जगत् आश्रित है। बहुत क्या कहना, **सर्वं**=यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड **प्राणे**

प्रतिष्ठितम्=उस प्राणात्मा प्रभु में प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ही सर्वव्यापक व सर्वाधार हैं। उन्हीं में भूत व भव्य सब-कुछ प्रतिष्ठित है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चार प्रकार की ओषधियाँ

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥ १६॥

१. जो ओषधियाँ मन की स्थिरता में सहायक होती हैं वे (अ-थर्व) 'आथर्वणी' कहाती हैं। अंग-प्रत्यंग में रस का सञ्चार करनेवाली ओषधियाँ 'आंगिरसी' हैं। देवों, अर्थात् सब इन्द्रियों को निर्दोष व सशक्त बनानेवाली ओषधियाँ 'दैवी' हैं। विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' को जन्म देनेवाली 'मनुष्यजा' कहलाती हैं। ये '**आथर्वणीः, आंगिरसीः, दैवीः उत मनुष्यजाः**'=आथर्वणी, आंगीरसी, दैवी और मनुष्यजा **ओषधयः**=ओषधियाँ **प्रजायन्ते**=तभी पैदा होती हैं, **यदा**=जब हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **त्वं जिन्वसि**=आप प्रीणित करते हैं। हे प्राण! आप ही वृष्टिप्रदान से इन ओषधियों का पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से वृष्टि होकर उन विविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है, जोकि 'मानस स्थिरता में सहायक होती हैं, अंग-प्रत्यगों में रस का सञ्चार करती हैं, इन्द्रियों को निर्दोष व सशक्त बनाती हैं तथा हमें विचारपूर्वक कर्म करनेवाला करती हैं'।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधयः+वीरुधः

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥ १७॥

१. **यदा**=जब **प्राणः**=वे प्राणात्मा प्रभु मेघरूप में इस **महीं पृथिवीम्**=महनीय पृथिवी को **वर्षेण अभ्यवर्षीत्**=वृष्टि से सिक्त करते हैं, तब **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ, **अथो**= और अब **याः काः च**=जो कोई नाना रूपवाली **वीरुधः**=विरोहणशील लताएँ हैं, वे सब भी **प्रजायन्ते**=प्रादुर्भूत हो उठती हैं—भूगर्भ से ऊपर उठती दिखने लगती हैं।

भावार्थ—प्राण-प्रदाता प्रभु मेघात्मा होकर इस महनीय पृथिवी को वृष्टि से सींचते हैं, तब विविध ओषधियों व लताओं का पृथिवीगर्भ से प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभुस्मरण व अमृतत्व

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे॥ १८॥

१. हे **प्राण**=प्राणशक्ति के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **इदम्**=इस ऊपर वर्णित माहात्म्य को **यः वेद**=जो जानता है, **यस्मिन् च**=और जिस विद्वान् में **प्रतिष्ठितः असि**=आप भाव्यमान (सदा स्मरणीय) होते हो, **तस्मै**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **अमुष्मिन् उत्तमे लोके**=उस स्वर्गतुल्य उत्तम लोक में **सर्वे**=सब देव—सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियाँ—**बलिम्**=अमृतमय भाग को **हरान्**=प्राप्त कराते हैं, एवं यह प्रकाशमय व स्वस्थ जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-महिमा को जानने व स्मरण करनेवाला पुरुष स्वर्गतुल्य उत्तम लोक में

निवास करता है। सूर्य-चन्द्र आदि सब देवों की उसके लिए अनुकूलता होकर उसे अमृतत्व (नीरोगता) प्राप्त होती है।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'प्रभुवाणी' श्रवण

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान्यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥ १९॥

१. हे **प्राणः**=प्राणात्मन् प्रभो! **यथा**=जैसे **इमाः सर्वाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **तुभ्यं बलिहृतः**=आपके लिए उपहार लानेवाली होती हैं—ब्रह्मयज्ञ के रूप में संसार में ज्ञानवृद्धि के लिए अपनी आय का कुछ अंश देती हैं, **एव**=इसी प्रकार **तस्मै बलिं हरान्**=उसके लिए भी बलि लाती हैं, **यः**=जो हे **सुश्रवः**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले प्रभो! **त्वा शृणवत्**=आपसे उच्चरित इन वेदवचनों को सुनता है।

भावार्थ—हम प्रभु वाणियों को सुनेंगे तो प्रभु के प्रिय बनकर सब प्रजाओं के भी प्रिय होंगे।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप् ॥

गर्भरूप से रहनेवाला 'प्राण' प्रभु

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत्पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥ २०॥

१. **देवतासु**=सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि सब देवों में **गर्भः**=गर्भरूप होता हुआ **अन्तःचरति**=अन्दर विचरण करता है। **आभूतः**=समन्तात् व्याप्त हुआ-हुआ **भूतः**=(जातः) नित्य होता हुआ **सः उ**=वह प्राण ही **पुनः जायते**=उस-उस शरीर के साथ फिर उत्पन्न-सा होता है। २. **भूतः**=नित्य वर्त्तमान **सः**=यह प्राण **भूतम्**=भूतकालावच्छिन्न वस्तु को, **भविष्यत्**=भाविकालावच्छिन्न उत्पत्स्यमान वस्तु को **शचीभिः**=अपनी शक्तियों से **प्रविवेश**=इसप्रकार प्रविष्ट होता है, जैसेकि **पिता पुत्रम्**=पिता अपने पुत्र में अपने अवयवों से प्रविष्ट होता है। प्राण पिता है, यह उत्पन्न जगत् उसका पुत्र है। इसमें वह प्रविष्ट है।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों में वह प्राणात्मा प्रभु प्रविष्ट हुए-हुए हैं, इसी से ये देव देवत्व को प्राप्त हुए हैं। भूत, भविष्यत् सभी वस्तुओं में प्रभु ही अपनी शक्तियों से प्रविष्ट हैं।

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—मध्येज्योतिर्जगती ॥

सूर्यात्मा प्रभु

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स
तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत्कदा चन॥ २१॥

१. **हंसः**=(हन्ति गच्छति) सर्वत्र गतिवाला जगत्प्राणभूत प्रभु **सलिलात्**=इस जलप्रवाहवत् प्रवाहरूप संसार से **उच्चरन्**=ऊपर उठता हुआ **एकं पादं नः उत्खिदति**=एक पाद (अंश) को उद्धृत नहीं करता। एक पाद को इस ब्रह्माण्ड में निश्चल स्थापित करता है। **'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**। २. हे **अंग**=प्रिय! **सः**=वह ऊपर उठता हुआ सूर्यात्मा प्रभु **यत्**=यदि **तम्**=उस यहाँ निहित एक पाद को **उत्खिदेत्**=उद्धृत करले तो **न एव अद्य न श्वः स्यात्**='आज और कल' का यह सब व्यवहार समाप्त हो जाए, **न रात्री न अहः स्यात्**=न रात हो और न दिन हो और **कदाचन**=कभी भी न **व्युच्छेत्**=(व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः) उषा

का प्रादुर्भाव ही न हो। सूर्यात्मा प्रभु के अभाव में काल-व्यवहार का सम्भव है ही नहीं।

भावार्थ—यह जगत् सलिलवत् प्रवाहमय है। इसके निर्माता प्रभु के एकदेश में इसकी स्थिति है। प्रभु के तीन चरण इस ब्रह्माण्ड के ऊपर हैं, प्रभु का एक पाद ही यहाँ ब्रह्माण्ड में है। प्रभु यदि यहाँ न हों तो सूर्यादि के प्रकाश के अभाव में 'आज, कल, दिन-रात व उषा' आदि सब काल-व्यवहारों की समाप्ति ही हो जाए।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अष्टाचक्रं, एकनेमि, सहस्राक्षरम्

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ २२॥

१. **अष्टाचक्रम्**='रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य व ओजस्' नामक आठ धातुरूप आठ चक्रोंवाला यह शरीररूप रथ **एकनेमि वर्तते**=प्राणरूप एकनेमि से वेष्टित हुआ-हुआ प्रवृत्त होता है। यह **सहस्राक्षरम्**=सहस्रों अक्षों से युक्त है ('रः' मत्वर्थीयः) अथवा बहुविध व्याप्तिवाला है(अश् व्याप्तौ)। यह रथात्मक शरीर **पुरः**='पुरस्तात्' पूर्वभाग में **प्र** (वर्तते)=प्रवृत्त होता है और **पश्चा नि** (वर्तते) फिर पीछे लौटता है। इसप्रकार प्राण प्राणिशरीरों में प्रवेश करके प्रवृत्ति व निवृत्ति को उत्पन्न करता है। २. सूत्रात्मभावेन स्थित वह प्राणात्मा प्रभु **अर्धेन**=अपने एक पाद (अंश) से **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **जजान**=प्रादुर्भूत करता है। **अस्य**=इस सूत्रात्मा प्राण का **यत्**=जो अन्य **अर्धम्**=आधा अंश है, वह अपरिच्छिन्न अंश **क-तमः**=(कः सुखम्) अत्यन्त आनन्दमय है, **सः केतुः**=वह प्रकाशमय (A ray of light) है।

भावार्थ—प्रभु ने इस शरीर-रथ को रस आदि आठ धातुरूप चक्रोंवाला बनाया है, प्राण ही इन चक्रों की एकनेमि (वेष्टन) है। यह शरीर-रथ हज़ारों अक्षोंवाला है, आगे और पीछे इसकी प्रवृत्ति होती है। प्राणात्मा प्रभु के एकदेश में ब्रह्माण्ड की सब क्रियाएँ हो रही हैं। प्रभु के त्रिपाद् तो आनन्दमय व प्रकाशमय ही हैं

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षिप्रधन्वा प्राण

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥ २३॥

१. **यः**=जो प्राण **अस्य**=इस **विश्वजन्मनः**=नानारूप जन्मोंवाले **चेष्टतः**=व्याप्रियमाण—चेष्टा करते हुए—**विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् का **ईशे**=ईश है, और **अन्येषु**=(अन प्राणने) प्राणिशरीरों में **क्षिप्रधन्वने**=(धवि गत्यर्थः) शीघ्रता से गति व व्याप्तिवाला है। हे प्राण! **तस्मै ते**=तथाविध तुझे **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ही इस सम्पूर्ण संसार के ईश हैं। वे ही सब प्राणिशरीरों में प्राणरूप से व्याप्त हैं। हम उनके लिए नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मणा मा अनु तिष्ठतु

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥ २४॥

१. **यः**=जो **अस्य**=इस **सर्वजन्मनः**=नानारूप जन्मोंवाले **चेष्टतः**=चेष्टा करते हुए

सर्वस्य=सम्पूर्ण जगत् का **ईशे**=ईश है। वह **अतन्द्रः**=सब प्रकार के आलस्य से रहित—सदा सर्वत्र गतिवाला—**धीरः**=ज्ञानशक्ति से युक्त **प्राणः**=प्राणात्मा प्रभु **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान द्वारा **मा अनुतिष्ठतु**=मेरे साथ स्थित हो—वेदज्ञान द्वारा मैं उस प्राणात्मा प्रभु को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु सबके ईश हैं—वे अतन्द्र व धीर हैं। मैं वेदज्ञान द्वारा प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सदा जागरित

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ २५॥

१. वे प्राणात्मा प्रभु **सुप्तेषु**=निद्रापरवश प्राणियों में **ऊर्ध्वः जागार**=उत्थित हुए-हुए जाग रहे हैं। रक्षक के सोने का काम ही क्या? **ननु**=निश्चय से सब प्राणी तो **तिर्यङ् निपद्यते**=तिर्यग् अवस्थित हुए-हुए निद्रापरवश होकर सोते हैं, अतः रक्षकभूत आपने तो जागना ही है। २. प्राणियों के **सुप्तेषु**=निद्रापरवश हो जाने पर **अस्य**=उन शरीरों के मध्यवर्ती प्राणात्मा प्रभु के **सुप्तम्**=सोने को **कश्चन**=कोई भी **न अनुशुश्राव**=नहीं सुनता है। प्राणात्मा प्रभु कभी सोते नहीं।

भावार्थ—सब प्राणी सो जाते हैं—सदा जागरित प्राणात्मा प्रभु रक्षा करते हैं, उनका सोना अप्रसिद्ध है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

अपां गर्भम् इव

प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि॥ २६॥

१. हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **मत्**=मुझसे **मा पर्यावृतः**=पराङ् मुख मत होओ। हे प्राण! तू **मत् अन्यः न भविष्यसि**=कभी भी मुझसे पृथक् न होगा। मेरे साथ तू तादात्म्यापन्न ही है। हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! मैं **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **मयि**=अपने में **बध्नामि**=इसप्रकार बाँधता हूँ, **इव**=जैसे **अपां गर्भम्**=उदक (जल) गर्भभूत वैश्वानर अग्नि को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणात्मा प्रभु से कभी पृथक् न हों। प्रभु को इसप्रकार अपने अन्दर धारण करें जैसेकि जल गर्भभूत वैश्वानर अग्नि को धारण करते हैं।

प्राणात्मा प्रभु (ब्रह्म) को धारण करनेवाला यह 'ब्रह्मा' बनता है—बढ़ा हुआ। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ब्रह्म की ओर चलनेवाला 'ब्रह्मचारी' देवता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागताविराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचारी का आचार्य-पालन

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्य[1] तपसा पिपर्ति॥ १॥

१. **ब्रह्मचारी**=(ब्रह्मणि वेदात्मके चरितुं शीलं यस्य) वेदात्मक ब्रह्म में विचरण करनेवाला विद्यार्थी **उभे**=दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को—**इष्णन्**=उन्नत (Promote) करता हुआ—तेज से व्याप्त करता हुआ, अर्थात् वीर्यरक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क को तेजस्वी

व दीप्त बनाता हुआ **चरति**=गतिवाला होता है। **तस्मिन्**=उस ब्रह्मचारी में **देवाः**=सब इन्द्रियाँ (वाणी आदि के रूप में शरीर में रहनेवाले अग्नि आदि देव) **संमनसः**=समान मनवाले, अर्थात् अनुग्रहबुद्धिवाले **भवन्ति**=होते हैं। अथवा सब **देवाः**=ज्ञानी उपाध्याय वर्ग उसपर अनुग्रह बुद्धियुक्त होते हैं। २. **सः**=वह ब्रह्मचारी **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **च दिवम्**=तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को **दाधार**=धारण करता है। **सः**=वह ब्रह्मचारी **तपसा**=तप के द्वारा—'ऋत, सत्य, शान्त-स्वभाव, मन व इन्द्रियों के दमन तथा श्रुत (शास्त्र-श्रवण) के द्वारा—**आचार्यम्**=अपने आचार्य को **पिपर्ति**=पालित करता है—आचार्य की पूर्णता करता है। आचार्य ज्ञान देता है—यह ब्रह्मचारी तप के द्वारा उस ज्ञान का ग्रहण करता हुआ आचार्य के अभीष्ट कर्म की पूर्ति करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी वीर्यरक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क को उन्नत बनाता है। अपनी सब इन्द्रियों व मन को प्रशस्त करता है। शरीर व मस्तिष्क का धारण करता हुआ तपस्या द्वारा आचार्य-प्रदत्त ज्ञान का ग्रहण करता हुआ आचार्य को पालित करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पञ्चपदाबृहतीगर्भाविराट्शक्वरी ॥

देव, मनुष्य आदि सब जगत् का ब्रह्मचर्य द्वारा धारण

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥ २॥

१. **ब्रह्मचारिणम्**=ब्रह्मचर्य का आचरण करते हुए पुरुष के लिए **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत क्षत्रिय, **देवजनाः**=(दिव् व्यवहारे) शुद्ध व्यवहार करनेवाले वैश्यजन, **पृथग् देवाः**=(दिव् गतौ) अलग-अलग प्रकार के कर्म करनेवाला श्रमिक वर्ग, **सर्वे**=ये सब **अनुसंयन्ति**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। **गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले ब्राह्मण तो **एनम् अनु आयन्**=इसके अनुकूल गतिवाले होते ही हैं। ब्रह्मचारी को चातुर्वर्ण्य की अनुकूलता प्राप्त होती है। २. शरीर में जो **त्रयः**=तीन देव हैं—वाणीरूप से अग्नि, प्राणरूप से वायु तथा चक्षु के रूप में सूर्य, इन **सर्वान् देवान्**=सब देवों को **सः**=वह ब्रह्मचारी **तपसा पिपर्ति**=तप के द्वारा अपने में सुरक्षित करता है। ये अग्नि, वायु, सूर्यरूप देव ही अपनी महिमा से **त्रिंशत्**=तीस, **त्रिशताः**=तीन सौ व **षट् सहस्राः**=छह हज़ार हो जाते हैं। इन सब देवशक्तियों को ब्रह्मचारी अपने में धारण करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी को 'क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व ब्राह्मण' इन सबकी अनुकूलता प्राप्त होती है। यह अपने तप से सब देवों को अपने में पालित करता है। यहाँ शूद्र के 'पृथक् देवाः' शब्द से यह संकेत स्पष्ट है कि इन शूद्रों का इकट्ठ (Union) नहीं होना चाहिए, अन्यथा ये अनसूयापूर्वक ब्राह्मणादि की सेवा नहीं कर सकेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—उरोबृहती ॥

गर्भम् अन्तः

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ ३॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **ब्रह्मचारिणम्**=ब्रह्मचारी को **उपनयमानः**=अपने समीप प्राप्त कराता हुआ **अन्तः**=विद्याशरीर के मध्य में **गर्भः कृणुते**=गर्भरूप से स्थापित करता है। **तम्**=उस ब्रह्मचारी को **तिस्रः रात्रीः**=तीन रात्रियों तक—प्रकृति, जीव व परमात्मा-विषयक अज्ञानान्धकार

के दूर होने तक **उदरे बिभर्ति**=अपने अन्दर धारण करता है। आजकल की भाषा में प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षणालयों में ज्ञान प्राप्त कर लेने तक वह आचार्यकुल में ही रहता है। २. तीन रात्रियों की समाप्ति पर **जातं तम्**=विद्यामय शरीर से प्रादुर्भूत हुए-हुए उस ब्रह्मचारी को—स्नातक को—**द्रष्टुम्**=देखने के लिए **देवाः अभिसंयन्ति**=देव आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। देव उसे देखने के लिए उपस्थित होते हैं। (**स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः**। आपस्तम्ब १।१।१५-१७)

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप अत्यन्त सुरक्षित रूप में रखता है। वहाँ वासनाओं व विलासों से दूर रखता हुआ वह उसे 'विकसित शरीर, मन व मस्तिष्कवाला' बनाता है। इसप्रकार विकसित जीवनवाले विद्यार्थी को देखने के लिए विद्वान् उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मचारी॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

तीन समिधाएँ

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ ४॥

१. **इयं पृथिवी**=यह पृथिवी **समित्**=उस ब्रह्मचारी की पहली समिधा है। **द्यौः द्वितीया**=द्युलोक दूसरी समिधा बनती है **उत**=और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष तीसरी **समिधा पृणाति**=समिधा से अपने को पूरित करता है। पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान पहली समिधा है—इससे वह शरीररूप पृथिवीलोक को बड़ा सुन्दर बनाता है। अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान दूसरी समिधा है—इससे वह अपने हृदयान्तरिक्ष को पवित्र व शान्त बनाता है। द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान तीसरी समिधा है—इससे वह अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को बड़ा उज्ज्वल व दीप्त बनाता है। २. यह **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला विद्यार्थी **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, **मेखलया**=कटिबद्धता—कार्य को दृढ़ता से करने के द्वारा, **श्रमेण**=श्रम की वृत्ति के द्वारा तथा **तपसा**=तपस्या के द्वारा (**ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, दमस्तपः, शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपः, 'भूर्भुवः सुवः' ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः**—तै० आ० १०।८) **लोकान् पिपर्ति**=शरीरस्थ 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को—शरीर, मन व मस्तिष्क को—पूरित करता है—इनकी कमी को दूर करता है'।

भावार्थ—ब्रह्मचारी आचार्यकुल में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। 'ज्ञानदीप्ति, कटिबद्धता (दृढ़ निश्चय), श्रम व तप के द्वारा वह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' रूप तीन लोकों का पूर्ण विकास करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—ब्रह्मचारी॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

सर्वप्रथम आचार्य 'ब्रह्म'

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ५॥

१. जो सर्वजगत् का कारण, सत्यज्ञानादि लक्षणयुक्त 'ब्रह्म' है, उस **ब्रह्मणः**=ब्रह्म से ही **ब्रह्मचारी**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला **पूर्वः जातः**=(प्रथमम् उत्पन्नः—सा०) सबसे प्रथम हुआ। सबसे पूर्व ब्रह्म ने ही 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिराः' इन (पूर्वे चत्वारः) सर्वाधिक मेधावी चार ऋषियों को वेदज्ञान दिया। ये ब्रह्म के ही ब्रह्मचारी हुए। यह ब्रह्मचारी **घर्मं वसानः**=संयमजनित शक्ति से दीप्त रूप को धारण करता हुआ ऊपर उठा। २. **तस्मात्**=उस ब्रह्मचारी से **ब्राह्मणम्**=ज्ञानियों का 'स्व'भूत (सम्पत्तिरूप) **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम व वृद्धतम **ब्रह्म**=वेदात्मक ज्ञान **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ, अर्थात् इस ब्रह्मचारी ने अपनी श्रेष्ठतम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त किया। **च**=और इस

ब्रह्मचारी में **सर्वे देवाः**=सब दिव्य गुण **अमृतेन साकम्**=अमृतत्व (नीरोगता) के साथ प्रादुर्भूत हुए। इसका मस्तिष्क ज्ञान से, हृदय दिव्य गुणों से तथा शरीर नीरोगता से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—सबसे प्रथम ब्रह्म के समीप 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदज्ञान को प्राप्त किया। इनका मस्तिष्क ब्रह्म (ज्ञान) से, हृदय देवों (दिव्य गुणों) से तथा शरीर नीरोगता से (अमृतत्व से) परिपूर्ण हुआ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाचतुष्पदाजगती** ॥

समावर्तन

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥

१. आचार्यकुल में पढ़कर घर के प्रति वापस आता हुआ **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला युवक **एति**=घर के प्रति आ रहा है। यह **समिधा समिद्धः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त है,, **कार्ष्णं वसानः**=कृष्ण मृगचर्म को ओढ़े हुए है। **दीक्षितः**=इसने व्रतों को ग्रहण किया है। **दीर्घश्मश्रुः**=बड़े-बड़े मुखस्थ बालोंवाला है। स्पष्ट है कि आचार्यकुल में बहुत वस्त्रों की व्यवस्था न थी, न ही वहाँ नापित का स्थान था। २. **सः**=वह ब्रह्मचारी **सद्यः**=शीघ्र ही **पूर्वस्मात्** (समुद्रात्)=ब्रह्मचर्याश्रमरूप पूर्वसमुद्र से **उत्तरं समुद्रम्**=गृहस्थरूप उत्तरसमुद्र को **एति**=प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। **लोकान् संगृभ्य**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक आदि तीनों लोकों का सम्यक् ज्ञान ग्रहण करके—शरीर (पृथिवी) को दृढ़, हृदय (अन्तरिक्ष) को पवित्र व मस्तिष्क (द्युलोक) को दीप्त बनाकर—**मुहुः आचरिक्रत्**=अतिशयेन कर्त्तव्य-कर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—आचार्यकुल में तपस्या के द्वारा ज्ञानदीप्ति से दीप्त होकर यह ब्रह्मचारी आचार्य से दीक्षा लेकर घर लौटता है—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और 'दृढ़ शरीर, पवित्र हृदय व दीप्त मस्तिष्क' बनकर कर्त्तव्य-कर्मों को सम्यक्तया करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्म, अपः लोकं, प्रजापतिम्

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह॥ ७॥

१. **अमृतस्य योनौ गर्भः भूत्वा ब्रह्मचारी**=ज्ञानामृत के केन्द्र आचार्यकुल में—आचार्यगर्भ में रहता हुआ अतएव किन्हीं भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न होकर सदा ज्ञान में विचरता हुआ यह ब्रह्मचारी **ब्रह्म**=ज्ञान को **अपः**=यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों को **लोकम्**=दर्शनशक्ति—वस्तुओं को वास्तविक रूप में देखने की शक्ति को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करता हुआ तथा उस **परमेष्ठिनं विराजं प्रजापतिम्**=परम स्थान में स्थित, विशिष्ट दीप्तिवाले, प्रजाओं के रक्षक प्रभु को (**जनयन्**=) अपने हृदयदेश में प्रादुर्भूत करता हुआ, यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है तथा **ह**=निश्चय से (**इन्द्रः**) **भूत्वा**=जितेन्द्रिय बनकर **असुरान् ततर्ह**=आसुरभावों का हिंसन कर डालता है।

भावार्थ—आचार्य को उपनीत किये हुए ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करते हुए 'ज्ञान, यज्ञादिक कर्मों, दर्शनशक्ति व प्रभुस्मरण की भावना' से युक्त करना है तभी वह ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय बनकर आसुरभावों का संहार कर पाएगा।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरोऽतिजागताविराड्जगती ॥

पृथिवीं दिवञ्च

आचार्य∫स्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति॥ ८॥

१. **आचार्य** :=आचार्य(=ब्रह्मचारी को ज्ञान का चारण करानेवाला) **उभे इमे**=इन दोनों **नभसी**=(नह बन्धने) परस्पर सम्बद्ध **उर्वी गम्भीरे**=विशाल व गम्भीर **पृथिवीं दिवं च**=पृथिवी व द्युलोक को **ततक्ष**=बनाता है। आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में सुरक्षित रखता हुआ और वासनाओं से आक्रान्त न होने देता हुआ विस्तृत शक्तिवाले शरीररूप पृथिवीलोक से तथा गम्भीर ज्ञानवाले मस्तिष्करूप द्युलोक से युक्त करता है। ब्रह्मचारी में वह शक्ति व ज्ञान को परस्पर सम्बद्ध (नभसी) करने का यत्न करता है। २. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह शिष्य **ते**=उन दोनों शरीररूप पृथिवीलोक को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को **तपसा**=तप के द्वारा **रक्षति**=अपने में सुरक्षित करता है। **तस्मिन्**=उस ब्रह्मचारी में **देवाः**=दिव्य वृत्तियाँ **संमनसः**=संगत मनवाली **भवन्ति**=होती हैं। यह ब्रह्मचारी दिव्य वृत्तियों से युक्त जीवनवाला बनता है। अथवा यह 'माता-पिता, आचार्य व अतिथि' आदि देवों का प्रिय बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन में शक्ति व ज्ञान भरने का यत्न करता है। यह विद्यार्थी तप से अपने में ज्ञान व शक्ति का रक्षण करता हुआ देवों का प्रिय बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

ते समिधौ

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ ९॥

१. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह ब्रह्मचारी **इमाम्**=इस **पृथिवीम्**=शक्तियों के विस्तारवाले **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवासस्थानभूत व शरीररूप पृथिवीलोक को **भिक्षाम् आजभार**=भिक्षारूप से प्राप्त करता है। **प्रथमः**=शक्तियों के विस्तारवाला यह ब्रह्मचारी **दिवं च**=ज्ञानज्योति से देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक को भी आचार्य से भिक्षारूप में प्राप्त करता है। २. **ते**=उन दोनों को—शरीर व मस्तिष्क को—**समिधौ कृत्वा**=तेजस्विता व ज्ञान से दीप्त बनाकर यह **उपास्ते**=प्रभु का उपासन करता है। **तयोः**=उन दोनों में—पृथिवी व द्युलोक में **विश्वा भुवनानि आर्पिता**=सब भुवन अर्पित हैं, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर अन्य सब अंग-प्रत्यंग स्वयं ठीक रहते ही हैं। मानस आह्लाद तभी सम्भव है जबकि शरीर व मस्तिष्क स्वस्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी आचार्य से पृथिवी व द्युलोक की भिक्षा माँगता है—अन्य सब लोक तो इनमें ही अर्पित हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क इस ब्रह्मचारी को सर्वांग सुन्दर जीवनवाला बना देते हैं, ऐसा बनना ही प्रभु का उपासन है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

ब्राह्मण की दो निधि

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत्केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥ १०॥

१. ज्ञानप्रधान जीवनवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' है। 'अपराविद्या और पराविद्या' ये दो ब्राह्मण

की निधि हैं। अपराविद्या 'द्युलोक व द्युलोक से नीचे अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' का ज्ञान देती है और पराविद्या दिवस्पृष्ठ से भी परे ब्रह्मलोक का ज्ञान प्राप्त कराती है। **अन्यः**=एक अपराविद्यारूप निधि **अर्वाक्**=दिवस्पृष्ठ से नीचे के पदार्थों का ज्ञान है। **अन्यः**=दूसरी पराविद्यारूप निधि **दिवः पृष्ठात् परः**=दिवस्पृष्ठ से ऊपर ब्रह्म का ज्ञान है। ये दोनों **निधी**=ज्ञानकोश **ब्राह्मणस्य गुहा निहितौ**=ज्ञानी की हृदयगुहा में स्थापित हुए हैं। २. **तौ**=उन दोनों निधियों को **ब्रह्मचारी**=यह ज्ञान में विचरण करनेवाला व्यक्ति **तपसा रक्षति**=तप के द्वारा रक्षित करता है। यह ज्ञानी पुरुष **तत् केवलं ब्रह्म**=उस आनन्द में विचरनेवाले (के वलति) आनन्दरूप प्रभु को **विद्वान्**=जानता हुआ **कृणुते**=(कृ to kill) सब वासनाओं का संहार कर डालता है।

भावार्थ—अपराविद्या व पराविद्यारूप ब्राह्मण की दो निधि हैं। तप के द्वारा इनका रक्षण होता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब वासनाओं का संहार कर डालता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दो अग्नियाँ

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ ११॥

१. **अन्यः अर्वाक्**=एक तेजस्विता की अग्नि (घर्म) यहाँ नीचे पृथिवीलोक में है। शरीररूप पृथिवीलोक तेजस्विता की अग्नि से सम्पन्न है। **इतः पृथिव्या अन्यः**=यहाँ पृथिवी से दूर द्युलोक में एक अन्य ज्ञानाग्नि है। **इमे**=ये **अग्नी**=तेजस्विता व ज्ञान की दो अग्नियाँ **नभसी**=(नह बन्धने) परस्पर सम्बद्ध हुई-हुई **अन्तरा**=इस शरीर के मध्य में **समेतः**=संगत होती हैं—सम्यक् प्राप्त होती हैं। २. **तयोः अधि**=उन पृथिवी व द्युलोक में **दृढाः**=परस्पर मेल से अतिप्रबल **रश्मयः**=तेज (शक्ति) व ज्ञान की किरणें **श्रयन्ते**=आश्रय करती हैं। **तान्**=उन रश्मियों को **तपसा**=तप के द्वारा **ब्रह्मचारी आतिष्ठति**=समन्तात् रक्षित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी तप के द्वारा अपने जीवन में तेजस्विता व ज्ञान की अग्नियों को धारण करता हुआ चमकता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाचतुष्पदाविराडतिजगती** ॥

मेघरूप ब्रह्मचारी

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२॥

१. **अभिक्रन्दन्**=भूमि का मानो आह्वान करता हुआ, **स्तनयन्**=विद्युत् की गर्जनावाला, **अरुणः**=लाल भूरा-सा (Reddish brown) **शितिंगः**=श्वेत व काले वर्णों में (शिति white, black) गतिवाला (पानी से भरा होने पर 'काला', बरस जाने पर 'श्वेत') मेघ, **बृहत् शेपः**=(प्रभूतं प्रजननम्—सा०) अपने प्रभूत प्रजनन सामर्थ्य को **भूमौ अनुजभार**=इस पृथिवी पर प्राप्त कराता है। २. यह **ब्रह्मचारी**=(ब्रह्म wealth, food) ऐश्वर्य व भोजन के साथ विचरनेवाला मेघ **सानौ**=पर्वत शिखरों पर तथा **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **रेतः सिञ्चति**=जल को सिक्त करता है। इस रेतःसेचन से ही तो **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ—इन दिशाओं में स्थित प्राणी **जीवन्ति**=जीते हैं।

भावार्थ—मेघ भी मानो ब्रह्मचारी है। जल की ऊर्ध्वगति से बनता हुआ यह हमें भी ऊर्ध्वरेता बनने की प्रेरणा देता है। यह पृथिवी पर जब अपने रेतस् का सेचन करता है, तब अन्नादि की उत्पत्ति होकर सब प्राणियों का जीवन सम्भव होता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—जगती ॥

सर्वमहान् 'ब्रह्मचारी' प्रभु

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन्ब्रह्मचार्य१प्सु समिधमा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥ १३॥

१. सदा ज्ञान के साथ विचरनेवाले प्रभु सर्वमहान् 'ब्रह्मचारी' हैं। ये **ब्रह्मचारी**=ज्ञानस्वरूप में विचरनेवाले प्रभु **अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् अप्सु**=अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु व जलों में **समिधम्**=दीप्ति को **आदधाति**=स्थापित करता है। अग्नि में तेज, सूर्य-चन्द्रमा में प्रभा, वायु में जीवन-शक्ति व प्रवाह तथा जलों में रस प्रभु ही तो स्थापित करते हैं। २. **तासाम्**=इन जल आदि की **अर्चींषि**=दीप्तियाँ **पृथक्**=अलग-अलग **अभ्रे चरन्ति**=उदकपूर्ण मेघ में विचरण करती हैं। **तासाम्**=इन जल आदि में स्थापित दीप्तियों का ही कार्यरूप **आज्यं पुरुषो वर्षम् आपः**=आज्य, पुरुष, वृष्टि व जल हैं। 'आज्य' का अर्थ घृत है। इसके साधनभूत गौ आदि की समृद्धि होती है। गौवों के ठीक होने पर उत्तम सन्तान की समृद्धि 'पुरुष' शब्द से कही जा सकती है। इन मेघों से समय पर '**वर्षम्**'=वृष्टि होती है और उससे 'आप', अर्थात् वापी, कूप-तड़ाग आदि की समृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु ने 'अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु व जलों' में समिध् (तेज) को स्थापित किया है। इन सबकी दीप्तियाँ मेघ में एकत्र होती हैं। उनसे गवादि पशुओं, पुरुषों, वृष्टि व जलों की वृद्धि होती है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आचार्य; मृत्युः, सत्वानः, जीमूताः

आचार्यो ऽ मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम्॥ १४॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **मृत्युः**=मृत्यु है। गर्भ में धारण करके द्वितीय जन्म देने के कारण और इसप्रकार उपनीत ब्रह्मचारी को द्विज बनाने के कारण आचार्य मृत्यु है। **वरुणः**=पाप से निवारित करनेवाला यह आचार्य वरुण है। **सोमः**=चन्द्र के समान आह्लादमय व शान्त वृत्तिवाला होने से सोम है। **ओषधयः**=दोषदहन शक्ति का आधान करनेवाला (उष दाहे) आचार्य 'ओषधयः' है। **पयः**=दोषदहन द्वारा शक्ति का आप्यायन करने से आचार्य 'पयः' है। २. इस आचार्य के **सत्वानः**=समीप सदनशील ये विद्यार्थी **जीमूताः आसन्**=(जीवनं भूतं बद्धं येषु) जीवन-शक्ति से परिपूर्ण हुए। **तैः**=उन आचार्यों के समीप रहकर जीवन को अपने में बाँधनेवाले ब्रह्मचारियों से **इदं स्वः आभृतम्**=यह सुख, प्रकाश व तेज धारण किया गया है।

भावार्थ—आचार्य को विद्यार्थी को नवीन जीवन देने से 'मृत्यु' नाम दिया गया है और विद्यार्थी नवजीवन को अपने में बद्ध करने के कारण 'जीमूत' कहलाया है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के जीवन व ज्ञान से 'प्रकाश व तेज' धारण करते हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

आचार्य ज्ञान देते हैं, विद्यार्थी दक्षिणा

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो ऽ भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान्मित्रो अध्यात्मनः॥ १५॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **वरुणः भूत्वा**=पाप व द्वेष का निवारण करनेवाला होकर **केवलं**

घृतम्=आनन्दमय प्रभु में (के+वल्) विचरण करनेवाले ज्ञान को **अमा कृणुते**=विद्यार्थी के साथ करता है। आचार्य विद्यार्थी के लिए प्रभु से दिये गये ज्ञान को देनेवाला बनता है। २. **तत्**=तब **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी भी **मित्रः**=स्नेहवाला बनकर या पापों से अपने को बचानेवाला बनकर, **यत् यत् ऐच्छत्**=जिस-जिस वस्तु को आचार्य चाहता है, उन सब **स्वान्**=धनों को—आत्मीय वस्तुओं को—**आत्मनः अधि**=अपने से **प्रजापतौ प्रायच्छत्**=प्रजाओं के रक्षक आचार्य में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है। विद्यार्थी आचार्य के लिए इष्ट दक्षिणा देता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आचार्य व राजा का ब्रह्मचारी होना

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥ १६॥

१. **आचार्य**=आचार्य **ब्रह्मचारी**=ब्रह्म(ज्ञान) में विचरण करनेवाला ही होना चाहिए। इसी प्रकार **प्रजापतिः**=प्रजारक्षक राजा भी **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला ही होता है। ऐसा ही **प्रजापतिः**=राजा **विराजति**=विशिष्ट दीप्ति व शासनशक्तिवाला बनता है। यह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय राजा ही **वशी अभवत्**=प्रजाओं को वश में रखनेवाला होता है। अजितेन्द्रिय राजा कभी प्रजा पर आधिपत्य नहीं कर पाता '**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**'।

भावार्थ—आचार्य व राजा का ब्रह्मचारी होना आवश्यक है, तभी वे विद्यार्थियों व प्रजा को धर्म के मार्ग पर चला सकेंगे।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्य द्वारा 'राष्ट्ररक्षण व शिष्य-निर्माण'

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ १७॥

१. **राजा**=शासक **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्यरूप तप के अनुष्ठान से ही **राष्ट्रं विरक्षति**=राष्ट्र का सम्यक् रक्षित करनेवाला होता है। **आचार्यः**=आचार्य भी **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य के द्वारा **ब्रह्मचारिणम् इच्छते**=शिष्य को ब्रह्मचारी बनाने की कामना करता है। ब्रह्मचर्य के नियम में स्थित आचार्य को ही ब्रह्मचारी प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के द्वारा ही राजा राष्ट्र का रक्षण करता है और इसी से आचार्य ब्रह्मचारियों का निर्माण कर पाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दीप्ति, निर्दोषता, स्वास्थ्य

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥ १८॥

१. **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य के द्वारा—जितेन्द्रिय बनकर शक्तिरक्षण के द्वारा—**कन्या**=एक दीप्त जीवनवाली (कन् दीप्तौ) युवति **युवानं पतिं विन्दते**=युवा पति को—रोग आदि बुराइयों से रहित व शक्ति आदि उत्तम गुणों से युक्त पति को (यु मिश्रणामिश्रणयोः) प्राप्त करती है एवं ब्रह्मचर्य के दो लाभों का यहाँ संकेत हुआ है (क) जीवन दीप्त बनता है तथा (ख) रोगादि दोषों से

रहित व स्फूर्ति आदि गुणों से युक्त होता है। २. **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **अनड्वान्**=(अनः वहति) गाड़ी को खैंचनेवाला बैल, तथा **अश्वः**=(मार्गं अश्नुते) मार्ग का व्यापन करनेवाला घोड़ा **घासं जिगीर्षति**=घास को निगलने की इच्छा करता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य के अभाव में उदरयन्त्र भी शीघ्र विकृत हो जाता है और खान-पान की शक्ति भी जाती रहती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के दीप्ति, निर्दोषता व शरीर के अवयवों का ठीक से कार्य करते रहना—ये लाभ हैं, अतः इसका महत्त्व स्पष्ट है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमृतता व दीप्ति

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥ १९॥

१. **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्यरूप तप के द्वारा **देवाः**=सब देव **मृत्युम् अप अघ्नत**=मृत्यु को अपने से दूर भगाते हैं (हन् गतौ)—अमृतत्व व नीरोगता को प्राप्त करते हैं। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **ह**=निश्चय से **देवेभ्यः**=इन्द्रियों के लिए **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **स्वः आभरत्**=दीप्ति व प्रकाश (सुख) को प्राप्त कराता है। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य से 'नीरोगता व इन्द्रियों की शक्ति की दीप्ति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ओषधियों व काल' का ब्रह्मचर्य

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २०॥

१. **ओषधयः**=फलपाकान्त व्रीहि-यव आदि, **भूतभव्यम्**=उत्पन्न और उत्पत्स्यमान चराचरात्मक जगत् **अहोरात्रे**=दिन और रात, **वनस्पतिः**=शरीरों में प्रकाश की रक्षक (वनानां पालयिता—वन Light) वनस्पतियाँ, **संवत्सरः**=द्वादश मासात्मक काल **ऋतुभिः सह**=वसन्तादि छह ऋतुओं के साथ, ये सब **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचारी के तप की महिमा से ठीक प्रादुर्भाववाले हुए।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ ओषधियाँ, वनस्पतियाँ ठीक समय पर प्रादुर्भूत होती हैं। वहाँ ऋतुओं के साथ कालचक्र भी सुचारुरूपेण चलता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पशु-पक्षियों का ब्रह्मचर्य

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २१॥

१. **पार्थिवाः**=पृथिवी सम्बन्धी, **दिव्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले, **आरण्याः ग्राम्याः च**=अरण्य में होनेवाले सिंह आदि तथा ग्राम में होनेवाले गौ आदि **ये पशवः**=जो पशु हैं, **अपक्षाः**=पक्षरहित, **पक्षिणः च**=और पंखोंवाले जो भी प्राणी हैं, **ते**=वे सब **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न हुए। वस्तुतः प्रभुप्रदत्त वासना—सहज ज्ञान के अनुसार ये सब ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले बने। ब्रह्मचर्य ही इनके स्वास्थ्य का कारण बना।

भावार्थ—सब पशु-पक्षी प्रभुप्रदत्त वासना के कारण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वस्थ जीवनवाले हुए।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्य व प्राणशक्ति

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥ २२॥

१. **सर्वे प्राजापत्याः**=प्रजापति की सब सन्तानें **आत्मसु**=अपने देहों में **पृथक्**=(नाना स्वस्वसम्बन्धिनः) अलग-अलग स्व-स्वसम्बन्धी **प्राणान् बिभ्रति**=प्राणों को धारण करती हैं। **तान् सर्वान्**=उन सब प्राणों को **ब्रह्मचारिणि आभृतम्**=ब्रह्मचारी में समन्तात् धारण किया गया **ब्रह्म रक्षति** (ब्रह्म Wealth) वीर्यरूप धन ही सुरक्षित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य से ही प्राणशक्ति का वर्धन होता है। अब्रह्मचारी की सन्तानें प्राणधारण नहीं करतीं, प्रत्युत मर जाती हैं।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—पुरोबार्हतातिजागतगर्भात्रिष्टुप् ॥

वीर्यरक्षण का महत्त्व

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ २३॥

१. **देवानाम्**=वासनाओं को जीतने की कामनावाले, देववृत्ति के पुरुषों का **एतत्**=यह शरीरस्थ वीर्य **परिषूतम्**=परिगृहीत हुआ-हुआ—शरीर में ही चारों ओर व्याप्त किया हुआ **अनभ्यारूढम्**=रोग आदि से अनाक्रान्त हुआ-हुआ **रोचमानम्**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त हुआ-हुआ **चरति**=शरीर में गतिवाला होता है। २. **तस्मात्**=उस शरीरस्थ वीर्य से ही **ब्राह्मणम्**=ब्रह्म-सम्बन्धी **ज्येष्ठं ब्रह्म**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ **च**=और **अमृतेन साकम्**=अमृत—नीरोगता के साथ **सर्वे देवाः**=सब दिव्य गुण उत्पन्न हुए।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष वीर्य का शरीर में ही रक्षण करते हैं। यह सुरक्षित वीर्य रोगों से अनाक्रान्त व दीप्त होकर शरीर में गति करता है। इस सुरक्षित वीर्य से 'सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान, दिव्य गुणों व नीरोगता' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

भ्राजद् ब्रह्म + विश्वेदेवाः

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ २४॥

१. **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचर्यवाला यह वीर्यरक्षक पुरुष **भ्राजत् ब्रह्म बिभर्ति**=देदीप्यमान ज्ञान को धारण करता है। **तस्मिन् अधि**=उस ब्रह्मचारी में ही **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **समोताः**=सम्बद्ध होते हैं (**'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति'**—तै० आ० २.१५.१)। २. सब देवों का निवासस्थान बना हुआ यह ब्रह्मचारी **प्राणापानौ**=प्राणापान शक्ति को, **आत्**=और तब **व्यानम्**=व्यान नामक वायु को **वाचम्**=वाक्शक्ति को, **मनः**=सर्वेन्द्रियानुग्राहक अन्तःकरण को, **हृदयम्**=अन्तःकरण के निवासस्थानभूत हृदयकमल को **ब्रह्म**=वेदात्मक ज्ञान को **मेधाम्**=आशुविद्या-ग्रहणकुशला बुद्धि को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी देदीप्यमान ज्ञान व दिव्य गुणों को धारण करता हुआ अपने में 'प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, प्रभु व मेधा' को प्रादुर्भूत करता है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—ब्रह्मचारी ॥ छन्दः—२५ आर्च्युष्णिक् (एकावसाना) ;
२६ मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भात्रिष्टुप् ॥

स्नातक

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥ २५॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ २६॥

१. हे ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मन्! आप **अस्मासु**=हममें **चक्षुः श्रोत्रम्**=देखने व सुनने की शक्ति को और **यशः**=कीर्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। इसी दृष्टिकोण के **अन्नम्**=भोज्य अन्न को, **रेतः**=अन्न से उत्पन्न इस वीर्य को, **लोहितम्**=रुधिर को तथा **उदरम्**=उदर को—उदरोपलक्षित समस्त शरीर को (**धेहि**=) धारण कीजिए। २. **तानि**=उन चक्षु, श्रोत्र आदि को **कल्पत्**=सामर्थ्ययुक्त करता हुआ **ब्रह्मचारी**=वीर्यरक्षक युवक **समुद्रे**=ज्ञान के समुद्र आचार्य के गर्भ में **तपः तप्यमानः**=तप भी करता हुआ **सलिलस्य पृष्ठे**=ज्ञान-जल के पृष्ठ पर **अतिष्ठत्**=स्थिर होता है। इस ज्ञान-जल में **स्नातः**=स्नान करके शुद्ध बना हुआ **सः**=वह ब्रह्मचारी **बभ्रुः**=वीर्य का धारण करनेवाला **पिंगलः**=तेजस्विता से पिंगल वर्णवाला **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **बहु रोचते**=बहुत ही चमकता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी अपने में 'चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेत, लोहित व उदर' को धारण करता हुआ आचार्य के गर्भ में तपस्यापूर्वक स्थित होता है। यह ज्ञान-जल में स्नान करके, वीर्यरक्षण से तेजस्वी बना हुआ इस पृथिवी पर खूब ही चमकता है।

यह निष्पाप जीवनवाला ब्रह्मचारी शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' होता हुआ अगले सूक्त में निष्पापता के लिए प्रार्थना करता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अग्नि—सूर्य' द्वारा 'पाप व कष्ट से मोचन'

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १॥

१. 'पाप' क्या है? एक वस्तु का अयथायोग 'ग़लत प्रयोग' ही पाप है और इस पाप के कारण ही कष्ट होते हैं। प्रस्तुत मन्त्रों में प्रयुक्त 'अंहस्' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं (i) Sin (पाप) (ii) Trouble, anxiety, care, distress (कष्ट)। यदि हम अग्नि आदि देवों का ठीक ज्ञान प्राप्त करके इनका उपयुक्त प्रयोग करेंगे तो पाप व कष्ट से ऊपर उठ पाएँगे, अतः कहते हैं कि **अग्निं ब्रूमः**=अग्नि का व्यक्त (स्पष्ट) प्रतिपादन करते हैं—उसका ठीक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार **वनस्पतीन् ओषधीः उत वीरुधः**=वनस्पतियों, ओषधियों व लताओं का ठीक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। २. **इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले (इन्द्र), ज्ञान के स्वामी (बृहस्पति), सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले (सुवति कर्मणि—सूर्यः) प्रभु को हम स्तुत करते हैं और स्वयं भी जितेन्द्रिय, ज्ञानी व क्रियाशील बनने का प्रयास करते हैं। **ते**=वे सब अग्नि आदि देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों का ठीक ज्ञान प्राप्त करते हुए उनकी सहायता से पापों व कष्टों से बचें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'वरुण—विवस्वान्' द्वारा पाप व कष्ट से मोचन

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

१. **राजानम्**=शासन करनेवाले व दीप्त, **वरुणम्**=पाप का निवारण करनेवाले, **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहवाले, **विष्णुम्**=व्यापक **अथो**=और **भगम्**=ऐश्वर्यशाली प्रभु को **ब्रूमः**=कहते हैं। इन नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए ऐसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **अंशम्**=धनों का संविभाग करनेवाले व **विवस्वन्तम्**=विशिष्ट निवास को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **ब्रूमः**=हम स्तुत करते हैं। हम भी धनों का संविभाग करते हुए सबके निवास का साधन बनते हैं। **ते**=वे 'राजा, वरुण, विवस्वान्' आदि सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से मुक्त करें।

भावार्थ—हम 'राजा, वरुण, मित्र, विष्णु, भग, अंश व विवस्वान्' आदि नामों से क्रियात्मकरूप में प्रभुस्तवन करते हुए पाप व कष्ट से दूर हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'देव त्वष्टा' प्रभु द्वारा पापमोचन

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम्। त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **देवम्**=दान आदि गुणों से युक्त, **सवितारम्**=सबके प्रेरक, **धातारम्**=सबका धारण करनेवाले **उत**=और **पूषणम्**=सबके पोषक प्रभु का **ब्रूमः**=गुणगान करते हैं। **त्वष्टारम्**=निर्माता व **अग्रियम्**=सबसे प्रथम होनेवाले प्रभु का **ब्रूमः**=स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम 'देव, सविता, धाता, पूषा, त्वष्टा व अग्रिय' प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण हमें वैसा बनने की प्रेरणा देता हुआ पापों व कष्टों से बचाए।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'गन्धर्व व अर्यमा'

गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम्।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

१. **गन्धर्व-अप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु सरन्ति) वेदवाणी का धारण करनेवाले व प्रशस्त कर्मों में गतिवाले पुरुषों का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं। इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के रक्षक पुरुषों का हम स्तवन करते हैं। **अयर्मा नाम यः देवः**=अर्यमा नामक जो देव है—शत्रुओं का नियमन करनेवाला जो देव है—**ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम 'वेदवाणी का धारण करनेवाले, यज्ञादि कर्मों को करनेवाले, प्राण-साधना में प्रवृत्त, ज्ञान के स्वामी, व वासनारूप शत्रुओं का नियमन करनेवाले (अरीन् यच्छति)' बनें। यही पाप व क़ष्ट से बचने का मार्ग है।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अहोरात्रे—सूर्यचन्द्रमसौ

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा। विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

१. **अहोरात्रे**=दिन और रात्रि का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=इस स्तुतिवाक्य का उच्चारण

करते हैं। **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चन्द्रमा **उभौ**=दोनों का लक्ष्य करके स्तुतिवचन कहते हैं। इसी प्रकार **विश्वान्**=सब **आदित्यान्**=आदित्यों का स्तवन करते हैं। संक्रान्तिभेद से सूर्यों का भेद होकर ये '**धातार्य्यमामित्राख्या वरुणांशभगा विप्रवस्वदिन्द्रयुताः। पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्ताः**' धाता, अर्यमा आदि बारह आदित्यों के गुणों का स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम दिन व रात के चक्र में, सूर्य व चन्द्रमा की ज्योति में तथा आदित्यों की संक्रान्तियों में प्रभु-महिमा को देखते हुए पापवृत्ति से ऊपर उठें और कष्टों से बचें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वात—पर्जन्य

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

१. हम **वातम्**=वायु को **पर्जन्यम्**=मेघ को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **अथो**=और **दिशा**=दिशाओं को **ब्रूमः**=व्यक्तरूपेण प्रतिपादित करते हैं—इनके गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, **च**=और हम **सर्वाः आशाः ब्रूमः**=सब विदिशाओं—दिगन्तरालों का **ब्रूमः**=ज्ञान प्राप्त करते हैं। **ते**=वे वायु आदि सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करे।

भावार्थ—हम 'वात, पर्जन्य, अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओं' में प्रभु की महिमा को देखते हुए निष्पाप व सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अहोरात्र—उषा—सोम

मुञ्चन्तु मा शपथ्या ऽदहोरात्रे अथो उषाः।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥

१. **अहोरात्रे**=दिन और रात **अथो**=तथा **उषाः**=उषाकाल **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=आक्रोशजनित पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। मैं किसी भी समय पर-निन्दा में प्रवृत्त में न होऊँ। यह **सोमः देवः**=दिव्य गुणयुक्त प्रकाशमय 'सोम', **यम्**=जिसको 'चन्द्रमा' **इति आहुः**=चन्द्रमा (=आह्लाद देनेवाला) इस नाम से कहते हैं, **मा मुञ्चतु**=मुझे आक्रोशजनित पाप से मुक्त करे। शीतल ज्योत्स्नावाले चन्द्र का स्मरण मुझे भी शीतल स्वभाववाला बनाए।

भावार्थ—'दिन, रात, उषा व चन्द्र' ये सब मुझे आक्रोशजनित पाप से मुक्त करे।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पशु-पक्षियों का अहिंसन

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

१. **पार्थिवाः**=पृथिवी पर विचरनेवाले, **दिव्याः**=आकाश में गतिवाले, **पशवः**=जो भी मनुष्येतर प्राणी हैं, **उत**=और ये **आरण्याः मृगाः**=वन्य हिरण, शार्दूल, सिंह आदि पशु हैं, तथा **शकुन्तान् पक्षिणः**=शक्तिशाली पक्षियों को **ब्रूमः**=हम स्तुत करते हैं—इनकी रचना व स्वभाव आदि का चिन्तन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—पशु-पक्षियों की गतिविधियों में हम प्रभु-महिमा को देखते हुए इनके हिंसनरूप पाप से बचें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'भवशर्व, रुद्र, पशुपति'

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः॥ ९॥

१. **भवाशर्वौ**=भव और शर्व को—सुखों के उत्पादक व दुःखों के विनाशक (शृ) प्रभु को—लक्ष्य करके हम **इदम्**=इस स्तुतिवचन को **ब्रूमः**=कहते हैं। **रुद्रम्**=दुष्टों को रुलानेवाले, **च**=और **यः पशुपतिः**=जो सब प्राणियों के रक्षक प्रभु हैं, उन्हें लक्ष्य करके हम इस स्तुतिवचन को कहते हैं। २. **एषाम्**=इन 'भव, शर्व, रुद्र व पशुपति' की **याः इषूः संविद्म**=जिन प्रेरणाओं को हम जानते हैं, **ताः**=वे सब प्रेरणाएँ **नः**=हमारे लिए **सदा**=सदा **शिवाः सन्तु**=कल्याणकारिणी हों।

भावार्थ—'भव' का स्मरण करते हुए हम भी सुखों का उत्पादन करनेवाले हों, 'शर्व' का स्मरण हमें दुःखदलन में प्रवृत्त करे। 'रुद्र' का स्मरण करते हुए हम दुष्टता का दलन करें और प्राणियों का रक्षण करते हुए हम 'पशुपति' के समान बनें। यही शिवमार्ग है।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, यक्ष

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १०॥

१. **दिवम्**=इस द्योतमान द्युलोक का हम **ब्रूमः**=स्तवन करते हैं। द्युलोक में आश्रित **नक्षत्राणि**=नक्षत्रों को—जोकि पुण्यकृत् लोगों के धाम हैं (**सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि**—तै० अ० ५.५.१.३), उनका स्तवन करते हैं। **भूमिम्**=भूमि का **यक्षाणि**=भूमि पर स्थित पुण्यक्षेत्रों का (पूज्य स्थानों का), **पर्वतान्**=पर्वतों का गुणस्तवन करते हैं। २. **समुद्राः**=समुद्रों, **नद्यः**=नदियों व **वेशन्ताः**=जो अल्प सर (तालाब) हैं, उन सबका गुणस्तवन करते हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा को देखते हैं। इसप्रकार **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से बचाएँ।

भावार्थ—द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, यक्ष, समुद्र, नदी आदि में सर्वत्र प्रभु-महिमा का अवलोकन करते हुए हम पापों से बचें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सप्तर्षि—यमश्रेष्ठ पितर

सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन्यमश्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ११॥

१. **सप्तर्षीन्**=सप्तर्षियों का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=इस स्तुतिवचन को कहते हैं। प्रभु ने 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखे व मुख' इन सप्तर्षियों का कितनी सुन्दरता से शरीर में स्थापन किया है। इन **देवीः अपः**=रोगों को जीतने की कामना करनेवाले रेतःकणरूप जलों का हम स्तवन करते हैं (दिव् विजिगीषायाम्)। **प्रजापतिम्**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु का, **यमश्रेष्ठान् पितॄन्**=नियन्त्रण करनेवालों में श्रेष्ठ पितरों का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं, **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से बचाएँ।

भावार्थ—सप्तर्षियों व वीर्य का गुणस्तवन करते हुए हम उनका रक्षण करें। प्रभु का व पितरों का स्मरण करें। ये हमें पापों व कष्टों से बचाएँगे।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

त्रिलोकी के देव

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये। पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥

१. **ये**=जो **दिविषदाः देवाः**=द्युलोक में स्थित होनेवाले देव हैं, **ये च**=और जो **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष में आसीन होनेवाले देव हैं, **ये**=जो **शक्राः**=शक्तिशाली देव **पृथिव्यां श्रिताः**=पृथिवी पर आश्रित हैं, **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—सब देवों की अनुकूलता हमें निष्पाप व सुखी जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

आदित्य—रुद्र—वसु

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

१. **आदित्याः**=सब गुणों का आदान करनेवाले, **रुद्राः**=रोगों को दूर भगानेवाले, **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले, **दिवि देवाः**=ज्ञान के प्रकाश में स्थित होनेवाले देव, **अथर्वाणः**=(अ थर्वतिः चरतिकर्मा) स्थिरवृत्तिवाले, **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुष, **ते**=वे सब **नः अंहसः मुञ्चन्तु**=हमें पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम आदित्य आदि की वृत्ति को अपनाते हुए कष्टों व पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञ, यजुः, होत्रा

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

१. **यज्ञं ब्रूमः**=अग्निष्टोम आदि यज्ञों का हम स्तवन करते हैं। **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष का स्तवन करते हैं, **ऋचः**=यज्ञ में विनियुक्त पादबद्ध मन्त्रों का, **सामानि**=प्रगीतमन्त्रों का, **भेषजा**=रोगशान्तिकर वामदेव्य आदि का **यजूंषि**=यजुर्मन्त्रों का तथा **होत्राः**=सोमयाग में 'होता मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाक् अग्नीध्र' आदि वषट्कर्ताओं की क्रियाओं का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए हम पापों व कष्टों से दूर हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'सोम, दर्भ, भंग, यव, सहस्'

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

१. **वीरुधाम्**=लताओं के—विरोहणशील (विरुध्) व रोगों को रोकनेवाली (विरुद) ओषधियों के—**पञ्च**=पाँच **राज्यानि**=रोगों के निवारण के द्वारा प्रजा का रञ्जन करनेवाले राजा (वैद्य) से विनियुज्यमान पत्र-काण्ड-पुष्प-फल-मूलात्मक राज्यों का **ब्रूमः**=हम गुणस्तवन करते हैं। ओषधियों के पाँच राज्य **सोमश्रेष्ठानि**=सोम श्रेष्ठ हैं, अर्थात् इन ओषधियों में सोम सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद **दर्भः भंगः यवः सहः**=कुश, शण, यव व सहमाना हैं। दर्भ (दृ विदारणे) रोगों का विदारण करनेवाला है, भंग (भञ्जो आमर्दने) रोगों का आमर्दन कर देता है। (यु अमिश्रणे) रोगों को हमसे दूर करता है और सहस् (षह मर्षणे) रोगों को कुचल देता है। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः**=कष्टों से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—'सोम, दर्भ, भंग, यव, सहस्' आदि ओषधियों का ज्ञानपूर्वक प्रयोग करते हुए हम रोगों का समूल विनाश करते हैं।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

एकशतं मृत्यवः

अरायान्ब्रूमो रक्षांसि सर्पान्पुण्यजनान्पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १६॥

१. **अरायान्**=अदानवृत्तिवाले, **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले मनुष्यों का हम **ब्रूमः**=व्यक्तरूप से प्रतिपादन करते हैं—इनके जीवन का विचार करते हैं। जहाँ **सर्पान्**=कुटिल गतिवाले पुरुषों के जीवन को कहते हैं, वहाँ उनकी तुलना में **पुण्यजनान्**=गुणी—शुभकर्म-प्रवृत्त—लोगों का तथा **पितॄन्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों का भी स्तवन करते हैं। इस सब विचार से हम 'अराय, रक्षस् व सर्प' न बनकर 'पुण्यजन व पितर' बनने का संकल्प करते हैं। २. **एकशतम्**=एक अधिक सौ **मृत्यून्**=मृत्यु के कारणभूत रोगों का भी प्रतिपादन व विचार करते हैं। विचार करके उनके कारणभूत अपथ्यों को दूर करने के लिए यत्न करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः**=कष्ट से व पाप से **मुञ्चन्तु**=पृथक् करें।

भावार्थ—हम शुभ व अशुभ प्रवृत्तिवाले लोगों के जीवनों की तुलना करते हुए शुभ प्रवृत्तिवाले बनने के लिए यत्नशील हों। रोगों के कारणों का विचार करके उन कारणों को दूर करके कष्टों से मुक्त हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ऋतुचर्या का पालन

ऋतून्ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान्मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १७॥

१. **ऋतून् ब्रूमः**=हम ऋतुओं का विचारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। **ऋतुपतीन्**=ऋतुओं के पतियों (वसन्त के अधिपति 'वसुओं', ग्रीष्म के 'रुद्र', वर्षा के 'आदित्य', शरत् के 'ऋतु' तथा हेमन्तशिशिर के 'मरुतों') का स्तवन करते हैं। **आर्तवान्**=इन ऋतुओं में होनेवाले पदार्थों का स्तवन करते हैं। **हायनान् समाः संवत्सरान्**=चान्द्र, सौर, सावन भेद से त्रिविध संवत्सरों का तथा **मासान्**=मासों का विचार करते हैं। इनका विचार करते हुए हम ऋतुचर्या का ठीक से पालन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=कष्ट व पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—ऋतुचर्या का ठीक प्रकार पालन करते हुए हम कष्टों व पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

देवों द्वारा रक्षण

एत देवा दक्षिणतः पश्चात्प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वेदेवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १८॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों व दिव्य गुणयुक्त पुरुषो! आप **दक्षिणतः एत**=दक्षिणदिशा से हमें प्राप्त होओ। इसी प्रकार **पश्चात्**=पश्चिम से **प्राञ्चः**=अग्रगतिवाले होते हुए **उत् एत**=उत्कर्षेण हमें प्राप्त होओ। **पुरस्तात्**=पूर्व से तथा **उत्तरात्**=उत्तर से **शक्राः**=शक्तिशाली **विश्वेदेवाः**=सब देव **समेत्य**=मिलकर—इकट्ठे प्राप्त होकर **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हमें सब दिशाओं से दिव्य गुणों व दिव्य पुरुषों की प्राप्ति हो। उनके सम्पर्क में

हम अशुभ से बचते हुए सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'सत्यसन्ध—ऋतावृध्' देव

विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १९॥
सर्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसन्धानृतावृधः।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २०॥

१. **विश्वान् देवान्**=(विशन्ति) प्रजाओं में प्रवेश करनेवाले (विचरनेवाले) **देवान्**=सब आसुरभावों को जीतने की कामनावाले, **सत्यसंधान्**=सत्य के साथ मेलवाले व **ऋतावृधः**=ऋत का (समय पर सब कार्यों को करने की वृत्ति का) वर्धन करनेवाले पुरुषों का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=यह स्तुतिवचन कहते हैं। **ते**=वे सब देव **विश्वाभिः पत्नीभिः सह**=अपने अन्दर प्रविष्ट सब पालनशक्तियों के साथ **न**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें। २. **सर्वान्**=(whole) पूर्ण स्वस्थ **देवान्**=देवों को **इदं ब्रूमः**=लक्ष्य करके यह स्तुतिवचन कहते हैं, ये देव **सत्यसंधान्**=सत्य प्रतिज्ञावाले व **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। **सर्वाभिः पत्नीभिः सह**=अपनी सब पालकशक्तियों के साथ **ते**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम सत्य के साथ मेलवाले व ऋत का पालन करनेवाले देव बनकर पापों व कष्टों से दूर होने का यत्न करें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

भूत-भूतपति

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी। भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २१॥

१. **भूतम्**=लब्धसत्ताक (उत्पन्न) वस्तुमात्र को लक्ष्य करके हम **ब्रूमः**=स्तुतिवचन—उनके गुणों के प्रतिपादक वचनों को कहते हैं। **भूतपतिम्**=सब भूतों के रक्षक, **उत**=और **यः भूतानां वशी**=जो सब भूतों को वश में करनेवाला देव है, उसके स्तुतिवचनों को कहते हैं। **ते**=वे **सर्वा भूतानि**=सब भूत **संगत्य**=परस्पर संगत होकर, **न**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम भूतों (उत्पन्न पदार्थों) के गुणों को समझें। भूतपति प्रभु का स्मरण करें। इसप्रकार भूतपति के स्मरण के साथ भूतों का ठीक प्रयोग करते हुए कष्टों से बचें।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दिशाएँ, ऋतुएँ व संवत्सर की दंष्ट्राएँ

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः॥ २२॥

१. **याः**=जो **देवीः**=दिव्य-गुणों से युक्त **पञ्च**=(पचि विस्तारे) विस्तृत **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं और **ये**=जो **देवाः**=दिव्य गुणयुक्त **द्वादश ऋतवः**=(**'मधुश्च माधवश्च'**—तै० आ० १।४।१।४।१) दो-दो मासों से बनी हुई, अतएव छह होती हुई भी बारह मासोवाली ऋतुएँ हैं और **ये**=जो **संवत्सरस्य दंष्ट्रा**=आश्विन मास के अन्तिम आठ व कार्तिक मास के सारे दिन वर्ष रूप की यमदंष्ट्रा हैं (इन दिनों में रोग अधिक होते हैं, अतः इन्हें यमदंष्ट्रा कहा गया है), **ते**=वे सब **नः**=हमारे लिए **सदा**=सदा **शिवाः**=कल्याणकर **सन्तु**=हों।

भावार्थ—सब दिशाएँ, ऋतुएँ व वर्ष के यमदंष्ट्रा नामक काल भी हमारे लिए कल्याणकर हों

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भाऽनुष्टुप् ॥

अमृतम् भेषजम्

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत्तदापो दत्त भेषजम्॥ २३॥

१. **मातली**=इन्द्र (जीवात्मा) के शरीर-रथ का सारथिरूप यह बुद्धि **रथक्रीतम्**=(रथे क्रीतं) शरीर-रथ में द्रव्यविनिमय से—(भोजन का विनिमय रस में, रस का रुधिर में, रुधिर का मांस में, मांस का मेदस् में, मेदस् का अस्थि में, अस्थि का मज्जा में व मज्जा का वीर्य में—इसप्रकार विनिमय द्वारा) प्राप्त **यत्**=जिस **अमृतम्**=निरोगता के देनेवाले **भेषजम्**=सब रोगों के औषधभूत वीर्य को **वेद**=प्राप्त करता है **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तत्**=उस वीर्य को **अप्सु प्रावेशयत्**=शरीरस्थ रुधिररूप जलों में प्रविष्ट कराता है। जितेन्द्रियता द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति करता हुआ इन्हें रुधिर में व्याप्त कर देता है, **तत्**=अतः **आपः**=हे रुधिररूप जलो! आप हमारे लिए **भेषजम् दत्त**=यह औषध दो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब रोगों का औषध बनता है। बुद्धि ही इसके महत्त्व को समझकर जितेन्द्रिय पुरुष को इसके रक्षण के लिए प्रेरित करती है।

यह वीर्यरक्षण करनेवाला 'इन्द्र' संसार की समाप्ति पर भी बचे रहनेवाले उस 'उच्छिष्ट' प्रभु का स्मरण करता है। प्रभुस्मरण द्वारा अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी करता हुआ 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उच्छिष्टे नग्ररूपम्

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥ १॥

१. **उच्छिष्टे**=सम्पूर्ण संसार के प्रलीन हो जाने पर भी अपने 'सत्' स्वरूप में बचे रहनेवाले प्रभु में ही **नामरूपम्**=नामधेयात्मक शब्द प्रपञ्च और उससे निरूपणीय सम्पूर्ण अर्थ प्रपञ्च आहित है, **च**=और **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में ही **लोकः आहितः**=यह सब लोक आस्थित है। २. **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्टे प्रभु में ही **इन्द्रः च अग्निः च**=द्युलोकाधिपति इन्द्र (सूर्य) और पृथिवी का अधिपति अग्नि दोनों आहित हैं। उसके ही **अन्तः**=अन्दर **विश्वं समाहितम्**=सम्पूर्ण जगत् सम्यक् स्थापित है।

भावार्थ—सब नामरूप, सब लोक, सूर्य, अग्नि व सम्पूर्ण विश्व उच्छिष्ट प्रभु में ही आहित है।

ऋषिः— अथर्वा ॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ २॥

१. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **उच्छिष्टे**=प्रलय के बाद भी शिष्यमाण प्रभु में आश्रय करके रह रहे हैं। **विश्वं भूतम्**=इन द्यावापृथिवी के सब प्राणी **समाहितम्**=उच्छिष्ट

में ही सम्यक् आहित हैं। **आपः**=ये जल व **समुद्रः**=समुद्र **चन्द्रमाः**=चन्द्र तथा **वातः**=वायु ये सब **उच्छिष्टे आहिताः**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—उच्छिष्ट प्रभु में ही द्यावापृथिवी, सब भूत, जल, समुद्र, चन्द्र व वायु आहित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सन् उच्छिष्टे असन् च

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥ ३॥

१. **सन्**=सत्तावाला प्रतीत होता हुआ यह कार्यजगत् **असन् च**=अव्यक्त सा—अभावात्मक-सा लगता हुआ कारणजगत् **उभौ**=दोनों **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट में आश्रित हैं। **मृत्युः**=प्रपञ्च का मारक मृत्यु, **वाजः**=प्रपञ्च का बल, **प्रजापतिः**=अन्नोत्पादन द्वारा प्रजा का रक्षक मेघ, **लौक्याः**=लोकसम्बन्धिनी सब प्रजाएँ **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में ही **आयत्ताः**=अधीन होकर रह रहे हैं। **व्रः च**=सबको अपने में आवृत करनेवाला आकाश **द्रः च**=और गतिरूप काल तथा **मयि श्रीः**=मुझमें जो श्री है, वह सब उस उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'सन्, असन्, मृत्यु, वाज, प्रजापति, लौक्य, व्र, द्र, और श्री सब प्रभु में आश्रित है।'

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे देवताः श्रिताः

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः॥ ४॥

१. **दृढः**=दृढ़ अंगोंवाला—प्रवृद्ध शरीरवाला देव, **दृंहस्थिरः**=दृंहण के द्वारा स्थिर किया हुआ यह लोक, **न्यः**=(नेतारस्तत्रत्याः प्राणिनः—सा०) उन लोकों में रहनेवाले प्राणी, **ब्रह्म**=बढ़ा हुआ जगत् का कारण अव्यक्तात्मक (महत्तत्त्व), **दश विश्वसृजः**=नौ प्राणों के साथ मुख्य प्राण—ये प्राण तो विश्व के स्रष्टा हैं—तथा **देवताः**=सब देव **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में इसप्रकार **श्रिताः**=आश्रित हैं, **इव**=जैसे **नाभिम्**=नाभि को **सर्वतः**=सब ओर से आवेष्टित करके **चक्रम्**=रथचक्र स्थित होता है।

भावार्थ—सब दृढ़ देव, दृढ़ता से स्थिर किया हुआ लोक, उन लोकों में गति करनेवाले प्राणी, दश प्राण व सब देव प्रभु में इसप्रकार आश्रित हैं, जैसे नाभि में रथचक्र।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋक्-साम-यजुः उच्छिष्टे

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि॥ ५॥

१. **ऋक्**=यज्ञ में याज्यानुवाक्यादि रूप से विनियुक्त पादबद्ध मन्त्र, **साम**=प्रगीतमन्त्र, **यजुः**=प्रश्लिष्ट पठित अनुष्ठेयार्थप्रकाशक मन्त्र, **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण ब्रह्म में समाश्रित हैं। **उद्गीथः**=उद्गाता से गीयमान सामभाग, **प्रस्तुतम्**=प्रस्तोता से गीयमान प्रस्तावाख्य भाग, **स्तुतम्**=स्तवनकर्म, **हिंकारः**=गायन के प्रारम्भ में प्रयुज्यमान 'हिं' शब्द, **साम्नः**=सब सामों के साथ सम्बद्ध **स्वरः**='क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिमन्द्र' रूप सप्तविध स्वर **च**=और **मेडिः**=ऋगक्षरों व गानविशेष का संसर्जक स्तोमविशेष—ये सब उच्छिष्ट में आश्रित हैं। **तत्**=ये सब यज्ञसमृद्धि के लिए **मयि**=मुझमें भी हों।

भावार्थ—'ऋक्, साम, यजुः' रूप त्रिविध मन्त्र, उद्गीथादि पाँचों सामभक्तियाँ उस उच्छिष्ट में ही आश्रित हैं। यज्ञसमृद्धि के लिए मैं भी इनको धारण करूँ।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिग्बार्हतपराऽनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे यज्ञस्यांगानि

ऐन्द्राग्नं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भइव मातरि॥ ६॥

१. **ऐन्द्राग्नम्**=इन्द्र और अग्नि का स्तवन करनेवाला प्रातःसवन में प्रयुज्यमान साम, **पावमानम्**=तीनों सवनों में प्रयुज्यमान पवमान सोमदेवतावाला साम, **महानाम्नीः**='विदा मघवन् विदा गातुं०' इत्यादि ऋचाएँ 'इन ऋचाओं में गाया जानेवाला शाक्वर साम', **महाव्रतम्**='राजन, गायत्र, बृहद्, रथन्तर, भद्र' नामक पाँच सामों से क्रियमाण स्तोत्र। इसप्रकार 'ऐन्द्राग्न०' आदि **यज्ञस्य अंगानि**=यज्ञ के सब अंग **उच्छिष्टे अन्तः**=उच्छिष्यमाण प्रभु के अन्दर इसप्रकार रह रहे हैं, **इव**=जैसी **मातरि गर्भः**=माता के गर्भ में सन्तान होती है। ब्रह्म में आश्रित होते हुए ये सब यज्ञ के अंश यज्ञ को समृद्ध करते हैं।

भावार्थ—ऐन्द्राग्न, पावमान, महानाम्नी व महाव्रत आदि यज्ञ के सब अङ्ग उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्ट में 'राजसूय' आदि यज्ञों की स्थिति

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः॥ ७॥

१. **राजसूयम्**=(राजा सूयते प्रेर्यते यस्मिन् कर्मणि) जिस कर्म में राजा को कर्त्तव्यों की प्रेरणा दी जाती है, **वाजपेयम्**=(वाजः अन्नं द्रवीकृत्य पेयं यस्मिन् कर्मणि) जिसमें यह प्रेरणा दी जाती है कि 'अन्न को खूब चबाकर खाना है' वह कर्म, **अग्निष्टोमः**=जहाँ अग्रणी प्रभु का स्तवन होता है **तत् अध्वरः**=वह हिंसा के लवलेश से शून्य यज्ञ, **अर्काश्वमेधौः**=जिसमें 'अग्नि' नाम से प्रभु की अर्चना होती है, वह उपासना यज्ञ (अर्क) तथा जहाँ 'आदित्य' नाम से उस सर्वव्यापक प्रभु का उपासन होता है, वह अश्वमेध यज्ञ (अश् व्याप्तौ, अश्नुते, मेधृ संगमे)—ये सब यज्ञ उस **उच्छिष्टेः**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं तथा **जीवबर्हिः**=जिसमें जीव का सब प्रकार से वर्धन होता है (बृहि वृद्धौ) वह **मदिन्तमः**=अत्यन्त आनन्द देनेवाला यज्ञात्मक कर्म भी उस प्रभु में आश्रित है।

भावार्थ—'राजसूय' आदि सब यज्ञ उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्न्याधेय आदि का आश्रय 'उच्छिष्ट'

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥ ८॥

१. **अग्न्याधेयम्**=अग्निहोत्र में किया जानेवाला अग्नि के आधान का कर्म, **दीक्षा**=व्रतग्रहण, **कामप्रः**=सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले काम्य कर्म, **छन्दसा सह**=गायत्री आदि छन्दों व अथर्ववेद के साथ **उत्सन्नाः यज्ञाः**=जिन यज्ञों द्वारा जीव ऊपर उठकर (उत् सन्न) ब्रह्म में स्थित होते हैं, वे यज्ञ तथा **सत्राणि**=(सीदन्ति एषु बहवो यजमानाः) बहुकर्तृक सोमयाग—ये सब **उच्छिष्टे अधि**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **समाहिताः**=समाश्रित हैं।

भावार्थ—'अग्न्याधेय, दीक्षा, कामप्र, छन्दस्, उत्सन्न, यज्ञ व सत्रों' के आश्रय वे उच्छिष्ट प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र आदि का आश्रय 'प्रभु'

अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः।
दक्षिणेष्टं पूर्तं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥ ९ ॥

१. **अग्निहोत्रं च**=सायं-प्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र (**सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्**—आप० श्रौ० ६।१५।१४) **श्रद्धा च**=यज्ञानुष्ठान विषयक आस्तिक्य बुद्धि, **वषट्कारः**=याज्यान्त में हविःप्रदान के लिए प्रयुज्यमान 'वषट्' शब्द, **व्रतम्**=असत्य न बोलने का व्रत, **तपः**=मन व इन्द्रियों का एकाग्रतारूप तप **दक्षिणा**=यज्ञ की समाप्ति पर ऋत्विज् के लिए देय द्रव्य, **इष्टम्**=यज्ञ, **पूर्तं च**=वापी, कूप आदि निर्माण, लोकपूरक कर्मों का अनुष्ठान—ये सब **उच्छिष्टे अधि समाहिताः**=उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र आदि सब कर्मों का आधार प्रभु हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकरात्र—द्विरात्र

एकरात्रो द्विरात्रः सद्यःक्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः।
ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥

१. **एकरात्रः**=(एकं रात्रिं व्याप्य वर्तमानः सोमयागः 'एकरात्र') एक रात्रि तक चलनेवाला सोमयाग, **द्विरात्रः**=दो रात्रियों तक चलनेवाला सोमयाग, **सद्यः क्रीः**=(सद्यः तदानीमेव क्रीयते सोमोऽस्मिन् इति) जिसमें उसी समय सोम का क्रय होता है, वह सोमयाग तथा **प्रक्रीः**=प्रकर्षेण सोमक्रयवाला सोमयाग **उक्थ्यः**=अग्निष्टोम के बाद होनेवाले तीन स्तुतशस्त्र जिसमें उक्थसंज्ञक हैं, वह सोमयाग—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **ओतम्**=आबद्ध हैं और **निहितम्**=निक्षिप्त (रक्खे हुए) हैं। इसप्रकार **यज्ञस्य**=यज्ञ-सम्बन्धी **अणूनि**=सूक्ष्मरूप **विद्यया**=ज्ञान के साथ उस ब्रह्म में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'एकरात्र, द्विरात्र' आदि सोमयागों का उपदेश प्रभु ही देते हैं। सब यज्ञों के सूक्ष्मरूप ज्ञान के साथ प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चतूरात्र—पंचरात्र

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह।
षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥

१. **चतूरात्रः**=चार रात्रियों में सम्पन्न होनेवाला सोमयाग, **पञ्चरात्रः षड्रात्रः सप्तरात्रः च**=पाँच, छह और सात रात्रियों में सम्पन्न होनेवाले सोमयाग तथा **उभयः सह**=(उभौ चतूरात्रलक्षणौ अवयवौ अस्य सः अष्टरात्रः उभयः) दो चतूरात्रों से बना हुआ अष्टरात्र और इसी प्रकार दशरात्र, द्वादशरात्र व चतुर्दशरात्र सोमयाग, **षोडशी**=सोलह स्तोत्रोंवाला षोडशी सोमयाग—ये सब **यज्ञ उच्छिष्टात् जज्ञिरे**=उच्छिष्यमाण प्रभु से उत्पन्न हुए। ये सब **यज्ञाः**=यज्ञ वे हैं **ये**=जोकि **अमृते हिताः**=अमृतलक्षणफल-जनन में समर्थ हैं।

भावार्थ—अमृत प्राप्त करानेवाले चतूरात्र आदि सब सोमयाग प्रभु द्वारा ही प्रादुर्भूत किये

गये हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विश्वजित् अभिजित्

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि॥ १२॥

१. **प्रतीहारः**=उद्गीथ भक्ति के बाद होनेवाली प्रतिहर्ता से उच्यमान साम की चौथी भक्ति 'प्रतिहार' **निधनम्**=जिस भाग से साम की समाप्ति होती है वह 'निधन' (इसे सब उद्गाताओं को बोलना होता है), **यः विश्वजित् च अभिजित् च**=विश्वजित् व अभिजित् नामवाले सोमयाग, **साह्न अतिरात्रौ**=एक दिन में समाप्यमान सवनत्रयात्मक सोमयाग तथा रात्रि को लाँघकर होनेवाला उनतीस स्तुतशस्त्रोंवाला सोमयाग तथा **द्वादशाहः अपि**=(द्वादशान्त अह्नां समाहारो यस्मिन्) बारह दिनोंवाला क्रतु भी—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं, **तत्**=ये सब अनुक्रान्त (क्रमशः कथित) यज्ञसमूह **मयि**=मुझमें हों, मैं इन यज्ञों को करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—'प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न, अतिरात्र, द्वादशाह' आदि यज्ञ प्रभु में आश्रित हैं। मैं भी इन्हें करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सूनृता—संनतिः

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः॥ १३॥

१. **सूनृता**=प्रिय सत्यवाणी, **संनतिः**=(फलस्य नतिः) फल-प्राप्ति (सत्यप्रतिष्ठायां सर्वक्रिया-फलाश्रयत्वम्)—सत्य के होने पर क्रियाफल-प्राप्ति, **क्षेमः**=उपनत फल का रक्षण, **स्वधा**=धारक अन्न, **ऊर्जा**=प्राणस्थापक बलदायी अन्न, **अमृतम्**=अमृतत्व प्रापक पीयूष (अभिनव पय=ताज़ा दूध) **सहः**=पराभिभवनक्षम बल—ये **सर्वे**=सब **कामाः**=काम्यमान फलविशेष **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में ही हैं। २. ये सब **प्रत्यञ्चः**=आत्माभिमुख प्राप्त होते हुए **कामेन तातृपः**=काम्यमान अभिलषित फल से यजमान को प्रीणित करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष को 'सूनृता, संनति, क्षेम, स्वधा, ऊर्जा, अमृत, सहः' ये सब कमनीय पदार्थ तृप्ति देनेवाले होते हैं।

ऋषिः— अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

भूमीः—समुद्राः—दिवः

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥ १४॥

१. **नव भूमीः**=नौ खण्डोंवाले ये पृथिवीलोक अथवा स्तुति के योग्य ये पृथिवीलोक, **समुद्राः**= अन्तरिक्षस्थ लोक तथा **दिवः**=उपरितन द्युलोक **उच्छिष्टे अधिश्रिताः**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं। यह **सूर्यः**=सूर्य तथा **अहोरात्रे अपि**=दिन-रात भी **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में ही **आभाति**=चमक रहे हैं। **तत्**=वह प्रभु **मयि**=मुझमें भी दीप्त हो—मैं भी प्रभु के प्रकाश से प्रकाशवाला बनूँ।

भावार्थ—पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक सभी प्रभु में आश्रित हैं। सूर्य व दिन-रात प्रभु में ही दीप्त होते हैं। प्रभु के आधार में मैं भी दीप्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब यज्ञों का धारक 'प्रभु'

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता॥ १५॥

१. **उपहव्यम्**=उपहव्य नामक सोमयाग को, **विषूवन्तम्**=गवामयन नामक संवत्सर सत्र के मासषट्कात्मक पूर्वोत्तर पक्षों के मध्य में एकविंशस्तोमक अनुष्ठेय सोमयाग को, **ये च**=और जो अन्य **यज्ञाः गुहा हिताः**=यज्ञ गुहा में निगूढ हैं—अज्ञायमान-से हैं—विद्वानों की बुद्धिरूप गुहा में हैं—उन सब यज्ञों को यह **उच्छिष्टः**=उच्छिष्यमाण परमात्मा **बिभर्ति**=धारण करता है। जो प्रभु **विश्वस्य भर्ताः**=सम्पूर्ण जगत् का भरण करनेवाले हैं, **जनितुः पिता**=जनयिता पिताओं के भी पिता हैं। सब जनयिता प्रभु से उत्पन्न होकर ही जनक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब यज्ञों के धारक हैं। प्रभु विश्व के भर्त्ता हैं, जनकों के भी जनक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असोः 'पौत्रः—पितामह'

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्य ः॥ १६॥

१. **उच्छिष्टः**=वह उच्छिष्यमाण प्रभु **जनितुः पिता**=जनकों का भी जनक (रक्षक) है। वह **पितामहः**=जनकों का भी जनक प्रभु **असोः**=प्राण का **पौत्रम्**=(पौत्रम् अस्य अस्ति इति) पोतृकर्म करनेवाला—पवित्रता का सम्पादक है। हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले वे प्रभु ही हैं। २. **सः**=वह **विश्वस्य ईशानः**=इस सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्यवाले प्रभु **वृषा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। **अतिघ्न्यः**=हनन से ऊपर उठे हुए—अहननीय होते हुए वे प्रभु **भूम्याम् क्षियति**=इस पृथिवी पर निवास करते हैं—सब प्राणिशरीरों में वे प्रभु स्थित हो रहे हैं (अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर। —गीता ८।४)।

भावार्थ—प्रभु जनकों के जनक हैं। ये पितामाह प्रभु प्राणों को पवित्र करनेवाले हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ईशान वे प्रभु सब सुखों के दाता हैं। अहननीय होते हुए वे सब प्राणिशरीरों में निवास कर रहे हैं।

सूचना—यहाँ 'पौत्रः पितामहः' शब्दों में विरोधाभास अलंकार द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतं-सत्यम्

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले॥ १७॥

१. **ऋतम्**=मन से यथार्थ संकल्पन, **सत्यम्**=वाणी से यथार्थभाषण, **तपः**=तप (व्रतोपवासादि नियम) **राष्ट्रम्**=राज्य **श्रमः**=श्रम—शब्दादि विषयोपभोग से उपरति (विश्रान्ति), **च धर्मः**=और धर्म, **च**=तथा **कर्म**=यज्ञादि कर्म, **भूतम्**=उत्पन्न जगत् **भविष्यत्**=उत्पत्स्यमान जगत् **वीर्यम्**=सामर्थ्य, **लक्ष्मी**=सर्ववस्तु सम्पत्ति, **बलम्**=शरीरगत सामर्थ्य—ये सब **बले**=उस बलवान् **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी व बल' ये सब बलवान् प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

समृद्धि ओज

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥ १८॥

१. **समृद्धिः**=इष्टफल की अभिवृद्धि, **ओजः**=शरीरबल, **आकूतिः**=इष्टफलविषयक संकल्प **क्षत्रम्**=क्षात्र तेज, **राष्ट्रम्**=राज्य, **षट् उर्व्यः**=छह उर्वियाँ—द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन, रात, जल, ओषधियाँ (आप० श्रौ० १।२।१) **संवत्सरः**=द्वादशमासात्मक काल, **इडा**=वेदवाणी, **प्रैषाः**=प्रेरकमन्त्र, **ग्रहाः**=गृह्यमाण सोम, **हविः**=चरु, पुरोडाशादि हविर्द्रव्य—ये सब **उच्छिष्टे अधि**=उच्छिष्यमाण प्रभु के आधार से हैं।

भावार्थ—समृद्धि, ओज व आकूति आदि का आधार वे प्रभु ही हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यज्ञाः होत्राः

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥ १९॥

१. **चतुर्होतारः**=चतुर्होतृसंज्ञक मन्त्र ('चित्ति स्रुक्'—तै० आ० ३।१-५), **आप्रियः**=होता जिन मन्त्रों से यज्ञ करता है (आप्रीभिः आप्नुवन् तद् आप्रीणाम् आप्रित्वम्—तै० ब्रा० २।२।८।२) **चातुर्मास्यानि**=चार मासों में क्रियमाण 'वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय' नामक चार पर्व, **नीविदः**=स्तोतव्य गुणप्रकर्ष निवेदनपरक मन्त्र, **यज्ञाः**=याग, **होत्राः**=होतृ प्रमुख सात वषट्कर्त्ता, **पशुबन्धाः**='अग्नीषोमीय सवनीय अनुबन्धी' रूप सोमांगभूत पशुयाग, **इष्टयः**=अंगभूत यज्ञ, **तत्**=वह सब चतुर्होतृप्रभृतिक मन्त्र, यज्ञ व यज्ञांग **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—सब मन्त्रों, यज्ञों व यज्ञांगों के आधार प्रभु ही हैं।

ऋषिः—अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

अर्धमासाः च मासाः च

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही॥ २०॥

१. **अर्धमासाः**=पन्द्रह दिनों से बने पक्ष, **मासाः**=चैत्र आदि महीने, **आर्तवाः**=ऋतुसम्बन्धी पदार्थ, **ऋतुभिः सह**=वसन्त आदि ऋतुओं के साथ **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं। **घोषिणीः आपः**=वे घोषयुक्त जल, **स्तनयित्नुः**=गर्जना करता हुआ मेघ तथा **मही श्रुतिः**=यह महनीय (आदरणीय) वेदवाणी उस प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'सब काल, उस-उस काल में होनेवाले पदार्थ, जल, मेघ व वेदवाणी' ये सब उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं।

ऋषिः— अथर्वा॥ देवता—उच्छिष्टः, अध्यात्मम्॥ छन्दः—स्वराडनुष्टुप्॥

शर्कराः सिकताः

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता॥ २१॥

१. **शर्कराः**=क्षुद्र पाषाणविशेष (बजरी), **सिकताः**=बालुका (रेत), **अश्मानः**=पत्थर, **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ, **वीरुधः**=लताएँ, **तृणाः**=गौ आदि से उपभोग्य घास, **अभ्राणि**=मेघ, **विद्युतः**=बिजली, **वर्षम्**=वृष्टि—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **संश्रिता**=समवस्थित हुए-हुए **श्रिता**=प्रभु के आश्रय में रह रहे हैं।

भावार्थ—'शर्करा, सिकता, पाषाण' आदि सब पदार्थों के आधार प्रभु ही हैं।

सूचना—'संश्रिता' का अर्थ अन्य 'स्वाश्रय समवेत पदार्थ' भी लिया जा सकता है। ये सब भी उस उच्छिष्ट में **श्रिता**=आश्रित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता॥ २२॥

१. **राद्धिः**=फल की सिद्धि, **प्राप्तिः**=प्रेप्सित फल की प्राप्ति, **समाप्तिः**=कर्म की पूर्णता, **व्याप्तिः**=नाना मनोरथों के अनुरूप फलों की प्राप्ति, **महः**=तेज, **एधतुः**=वृद्धि, **अत्याप्तिः**=आशातीत प्राप्ति, **भूतिः**=समृद्धि जोकि **आहिता**=चारों ओर सूर्य आदि देवों में स्थापित है, अथवा जो **निहिता**=पर्वतकन्दराओं व भूगर्भ में सुरक्षित रक्खी है—वह सब **उच्छिष्टे हिता**=उच्छिष्यमाण प्रभु में स्थापित है।

भावार्थ—सब 'सिद्धि, प्राप्ति, वृद्धि व भूति' के आधार प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वाधार प्रभु

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २३॥
ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २६॥
देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २७॥

१. **यत् च**=जो भी प्राणिसमूह **प्राणेन प्राणति**=प्राणवायु से प्राणन-व्यापार करता है अथवा घ्राणेन्द्रिय से गन्धों को सूँघता है, **यत् च**=और जो प्राणिसमूह **चक्षुषा पश्यति**=आँख से रूप को देखता है **सर्वे**=वे सब प्राणी **उच्छिष्टात् जज्ञिरे**=उच्छिष्यमाण प्रभु से प्रादुर्भूत हुए हैं तथा **दिवि**=द्युलोक में स्थित **दिविश्रितः**=प्रकाशमय सूर्य के आकर्षण में श्रित **देवाः**=(दिव् गतौ) गतिमय लोक उस उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं। २. **ऋचः**=पादबद्ध मन्त्र, **सामानि**=गीतिविशिष्टमन्त्र, **छन्दांसि**=गायत्री आदि सातों छन्द, **यजुषा सह**=यज्ञ प्रतिपादक मन्त्रों के साथ **पुराणम्**=सृष्टि-निर्माण व प्रलयादि के प्रतिपादक मन्त्र ये सब उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं।

२. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख व कान, **अक्षितिः च**=क्षय का अभाव **या च क्षितिः**=और जो क्षय है, वह सब उच्छिष्ट प्रभु में आश्रित है। इसी प्रकार **आनन्दाः**=विषयोपभोगजनित सुख, **मोदाः**=विषयदर्शनजन्य हर्ष, **प्रमुदाः**=प्रकृष्ट विषयलाभजन्य हर्ष, **ये च**=और जो **अभीमोदमुदः**=(अभिमोदेन मोदयन्ति) संनिहित सुख हेतु पदार्थ हैं—ये सब उस प्रभु में आश्रित हैं। ३. **देवाः**=आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति नामक तेतीस देव, **पितरः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त रक्षक वर्ग, **मनुष्याः**=प्रभुमननपूर्वक धनार्जन करनेवाले मनुष्य, **गन्धर्व-अप्सरसः च ये**=जो वेदवाणी का धारण (गां धारयन्ति) और यज्ञादि कर्मों को करनेवाले (अप्सु सरन्ति) लोग हैं—ये सब उस प्रभु के आधार से ही रह रहे हैं।

भावार्थ—प्राणिमात्र व पदार्थमात्र के आधार वे प्रभु ही हैं, सब ज्ञानों व आनन्दों का आधार भी वही हैं।

सर्वाधार प्रभु का स्मरण करता हुआ यह साधक अपने कर्त्तव्यमार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता है। कर्त्तव्य कर्म करने को ही अपना मार्ग समझनेवाला यह 'कौरुपथि' ही अगले सूक्त का ऋषि है। इस सूक्त का देवता 'अध्यात्मम्' है, इसमें शरीर की रचना आदि का काव्यमय वर्णन है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मन्यु का जाया आवहन

यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ १॥

१. स्वमहिम प्रतिष्ठ परब्रह्म की और सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मायाशक्ति (प्रकृति) की कर्मपरिपाक जनित सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होनेवाली जो परमेश्वर-सम्बन्धी सिसृक्षावस्था है, उसी का यहाँ लौकिक विवाह के रूप में निरूपण करते हैं। **यत्**=जब **मन्युः**=(मन्यते सर्वं जानाति-सा०) सर्वज्ञ प्रभु **जायाम् आवहत्**=(जायते अस्यां सर्वं जगत्—सा०) सिसृक्षावस्थापन्न पारमेश्वरी मायाशक्ति को भार्यारूप से स्वीकार करनेवाला हुआ तो वह इस जाया को **संकल्पस्य गृहात् अधि**=(सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय—तै० आ० ८।६।१) संकल्प के घर से लाया। संकल्प से ही इस सिसृक्षावस्थारूप जाया की उत्पत्ति हुई। २. उस समय उस जाया के आवहन के प्रसंग में **के जन्याः असन्**=कौन जायापक्ष के लोग थे। **के वराः**=कौन वरपक्ष के लोग थे। **च**=और **कः**=कौन **ज्येष्ठवरः अभवत्**=विवाह करनेवाला प्रधानभूत वर हुआ।

भावार्थ—प्रभु के संकल्प से सिसृक्षावस्था की उत्पत्ति हुई। इसके होने पर ही प्रभु ने इस विविध सृष्टि को प्रादुर्भूत किया।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप + कर्म

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ २॥

१. उस सृष्टि के समय **महति अर्णवे अन्तः**=महान् प्रकृति के अणु-समुद्र में **तपः च कर्म च एव आस्ताम्**=प्रभु के स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप की (यस्य ज्ञानमयं तपः) तथा प्राणियों से अनुष्ठित फलोन्मुख परिपक्व कर्म की स्थिति हुई। उस समय तप और कर्म ही उपकरणरूप से अवस्थित थे। २. **ते**=वे तप और व्यक्तियों से अनुष्ठित बहुल कर्म ही **जन्याः आसन्**=विवाहप्रवृत्त

बन्धुजन थे। **ते**=वे ही **वराः**=वरण करनेवाले बाराती थे। **ब्रह्म**=सिसृक्षावस्थावाला जगत् कारणभूत ब्रह्म ही **ज्येष्ठवरः अभवत्**=ज्येष्ठवर था।

भावार्थ—सृष्टि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण उपकरण दो ही हैं (१) प्रभु का स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप तथा (२) प्राणियों का फलोन्मुख परिपक्व कर्म।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवप्रत्यक्ष से महद् ब्रह्म का ज्ञान

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३॥

१. **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवेभ्यः**=सूर्य आदि ब्रह्माण्ड के देवों से **दश देवाः**=शरीरस्थ चक्षु आदि दस देव **साकम् अजायन्त**=साथ-साथ प्रादुर्भूत हुए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्०) २. **यः**=जो भी उपासक **वै**=निश्चय से **तान्**=उन देवों को **प्रत्यक्षं विद्यात्**=अपरोक्षरूप में जानता है—अर्थात् इन देवों का साक्षात्कार करता है, **सः वै**=वही निश्चय से **अद्य**=अब **महद् वदेत्**=देशकालकृत-परिच्छेदरहित ब्रह्म को प्रतिपादित (उपदिष्ट) करता है। उसे इन देवों में प्रभु की महिमा दीखती है। यह महिमा उसे प्रभु का आभास प्राप्त कराती है।

भावार्थ—शरीर में ब्रह्माण्ड के सूर्य आदि देवों से चक्षु आदि देव उत्पन्न होते हैं। इन देवों को जाननेवाला ही प्रभु की महिमा को देखनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दश देव

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ ४॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख और कान, **अक्षितिः च**=अक्षीयमाण ज्ञानशक्ति (यह आत्मस्वरूपत्वेन नित्य है), **या च क्षितिः**=और जो निवासहेतुभूता क्रियाशक्ति है (क्षि निवासगत्योः), **व्यानोदानौ**=अन्न रस को सब नाड़ियों में (विविधं अनिति) विविधरूप से प्रेरित करनेवाला व्यान तथा उद्गारादि व्यापार को (ऊर्ध्वं अनिति) करनेवाला उदान, **वाङ्-मनः**=वाणी तथा मन **ते**=वे प्राणापान आदि दस देव **आकूतिम्**=पुरुषकृत संकल्प को **आवहन्**=आभिमुख्येन प्राप्त कराते हैं। पुरुष के अभिमत अर्थ को सिद्ध करनेवाले ये ही दस हैं।

भावार्थ—शरीर में स्थित प्राणापान आदि दस देव हमारे सब अभिमत अर्थों को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कर्मरूप सृष्टि का मूलकारण

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः। इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत॥ ५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत॥ ६॥

१. **ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ उस सृष्टि के समय में अभी **अजाताः आसन्**=उत्पन्न न हुई थीं। **अथो**=और **धाता**=सबका धारण करनेवाला 'सूर्य' **बृहस्पतिः**=(बृहन् चासौ पतिः) वृद्धि का कारणभूत रक्षक 'वायु' भी न था। **इन्द्र-अग्नी**=मेघ (विद्युत्) व अग्नि भी न थे। **अश्विना**=दिन व रात (नि० १।२।१) भी न थे। ये 'धाता, बृहस्पति, इन्द्राग्नी, अश्विना' नामक

छह ऋतुओं के अधिपति भी न थे। **ते**=वे सब धाता आदि अपनी उत्पत्ति के लिए **कम्**=किस **ज्येष्ठम्**=सबसे बड़े कारणभूत जनयिता की **उपासत**=उपासना करते थे? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि **महति अर्णवे अन्तः**=महान् प्रकृति के अणु-समुद्र में **तपः च एव**=जगत् स्रष्टा ईश्वर का स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप ही और **कर्म च**=कल्पान्तर में प्राणियों से अनुष्ठित फलोन्मुख परिपक्व कर्म ही **आस्ताम्**=थे। २. वस्तुतः **तप**=प्रभु का पर्यालोचनात्मक तप भी **ह**=निश्चय से **कर्मणः**=कल्पान्तर में प्राणियों से किये हुए कर्म से ही **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुआ। यदि प्राणियों के कर्म न होते तो स्वमहिम प्रतिष्ठ असंग व उदासीन प्रभु सृष्ट्युन्मुख होते ही नहीं और तब यह स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप भी न होता। एवं तप भी कर्म से पैदा हुआ, अतः **ते**=वे धाता आदि **तत्**=उस कर्म की ही **ज्येष्ठम्**=वृद्धतम सृष्टि के कारण के रूप में **उपासते**=उपासना करते हैं। कर्म को ही मूलकारण जानते हैं।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में अभी न ऋतुएँ थी न इनके अधिपति थे। वे अधिपति समझते हैं कि तप व कर्म से सृष्टि होती है। तप भी तो कर्म से होता है, अतः मूल कारण कर्म ही है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुराणवित्

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ ७॥

१. **इतः**=इस पुरोवर्तिनी भूमि से **पूर्वा**=पूर्वभाविनी—अतीतकल्पस्थ, **या भूमिः आसीत्**=जो भूमि थी, **याम्**=जिस पूर्वा भूमि को **अद्धातयः**=(अद्धा प्रत्यक्षम् अतन्ति व्याप्नुवन्ति) तपः प्रभाव से प्राप्त ज्ञानवाले अतीत व अनागत के ज्ञाता महर्षि **इत्**=ही **विदुः**=जानते हैं। **ताम्**=उस अतीतकल्पस्था भूमि को **यः वै**=जो निश्चय से **नामथा**=(नामप्रकारेण—सा०) उसमें जो-जो वस्तु हैं, उन्हें नाम के साथ **विद्यात्**=जानता है, **सः**=वह **पुराणवित्**=पुरातन अर्थ का जाननेवाला विद्वान् ही **मन्येत्**=इस सारी वर्त्तमान भूमि को भी जान सकता है।

भावार्थ—सृष्टि की रचना को पूरा-पूरा समझना कठिन ही है। समाधि से सर्वज्ञता को प्राप्त करनेवाले विरल पुरुष ही इसे जान पाते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र-से-इन्द्र, सोम-से-सोम

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताजायत॥ ८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत॥ ९॥

१. **इन्द्र**=इन्द्र (मेघ व विद्युत्) **कुतः अजायत**=किससे प्रादुर्भूत हुआ? **सोमः**=(षू प्रेरणे) यह प्रेरक वायु **कुतः**=कहाँ से उत्पन्न हो गई? **अग्निः कुतः**=(अजायत) अग्नि कहाँ से उत्पन्न हो गई। **त्वष्टा**=सब जीवों के शरीर का निर्माण करनेवाला पृथिवीतत्त्व **कुतः**=कहाँ से **समभवत्**=हुआ, **धाता**=धारण करनेवाला वह सूर्य **कुतः अजायत**=कहाँ से हो गया? २. **इन्द्रात्**=पूर्वकल्प में जिस रूप में इन्द्र था उस इन्द्र से **इन्द्रः**=इदानीन्तन इन्द्र **अजायत**=प्रादुर्भूत हुआ। इसी प्रकार **सोमात् सोमः**=पूर्वकल्प के सोम से, यह इस कल्प का सोम हुआ। **अग्नेः अग्निः**=पूर्वकल्प के अग्नितत्त्व ने इस कल्प का अग्नितत्त्व हुआ। **ह**=निश्चय से **त्वष्टुः**=पूर्वकल्प

के पृथिवी तत्त्व से **त्वष्टा जज्ञे**=यह त्वष्टा—पृथिवी तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ। **धातुः धाता अजायत**=पूर्वकल्प के धाता से इस कल्प का धाता हो गया।

भावार्थ—जैसे पूर्वकल्प में सृष्टि की रचना हुई थी ठीक उसी प्रकार इस कल्प में भी सृष्टि-रचना हुई। (पूर्व—पूर्वसृष्ट्यनुसारेणैव इदानीन्तना अपि इन्द्रादयो देवाः सृष्टाः। **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'**—सा०)

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवेभ्यः देवाः

ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥ १०॥

१. **पुराः**=प्रारम्भ में **ये**=जो **ते**=वे **दश देवाः**=चक्षु आदि दस देव **देवेभ्यः**=सूर्य आदि देवों से **जाताः आसन्**=प्रादुर्भूत हुए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) **पुत्रेभ्यः**=अपने पुत्र चक्षु आदि के लिए **लोकं दत्त्वा**=लोक—स्थान देकर **ते**=वे देव **कस्मिन् लोके आसते**=किस लोक में आसीन होते हैं?

भावार्थ—जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इन्द्रियों का व उनके अधिष्ठातृदेवों का निवासाश्रय कौन-सा है?

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कं लोकमनु प्राविशत्

यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत्॥ ११॥

१. **यदा**=जब सृष्टिकाल में **केशान्**=शिरोरुहों को **अस्थि स्नाव मांसं मज्जानम्**=शरीरोपादानभूत हड्डियों, अस्थिसंधिबन्धन की साधनभूत शिराओं, मांस, अस्थ्यन्तर्गत रस (मज्जा) को स्रष्टा ने **समभरत्**=एकत्र संभृत किया। संभृत हुए-हुए केश आदि द्वारा **शरीरम्**=शरीर को **पादवत् कृत्वा**=हस्तपाद आदि अंगोपांगसहित करके **कं लोकम् अनुप्राविशत्**=किस अन्य लोक में अनुप्रविष्ट हुआ? वस्तुतः उसी पुरुष शरीर में ही आत्मभावेन उसने प्रवेश किया।

भावार्थ—इस शरीर में वह स्रष्टा केश आदि का आभरण करके इसी में अनुप्रविष्ट होता है। (**'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्'**—तै० आ० ८।६.१ **'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'**—छा० उ० ६।३।२)।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

किसने? किससे?

कुतः केशान्कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत्॥ १२॥

१. **केशान्**=केशों को **कुतः आभरत्**=किस मूल उपादानकारण से बनाकर रक्खा? **स्नाव कुतः**=स्नायुओं को किस पदार्थ से बनाया? **अस्थीनि कुतः**=हड्डियों को किस उपादान से बनाया? **अंगा**=अन्य अंगों को **पर्वा**=पर्वों को **मांसम्**=मांस को **मज्जानम्**=अस्थिरस को **कुतः आभरत्**=किस उपादान से आभृत किया? तथा **कः (आभरत्)**=किसने इन सबका आभरण किया?

भावार्थ—किसने ये सब केश आदि पदार्थ बनाये? किस पदार्थ से बनाये?

ऋषिः—कौरुपथिः ॥ देवता—मन्युः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

संसिचो नाम ते देवाः

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १३॥

१. **ये देवाः**=मन्त्र १० में कहे गये ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियात्मक जो दश देव हैं अथवा अधिष्ठातृसहित प्राणापानादि हैं, वे **संभारन्**=(संभ्रियन्ते इति) केश आदि को **समभरन्**=एक स्थान पर संभृत करनेवाले हुए। **ते देवाः संसिचः नाम**=(सम् सिञ्चन्ति) वे देव सब संभारों को एकत्र करके बन्धक रस से बाँधते हैं, इसी से वे 'संसिच्' नामवाले हैं—वे संसेचन समर्थ संधायक हैं। २. वे **देवाः**=देव **मर्त्यम्**=इस मरणधर्मा **सर्वम्**=सम्पूर्ण शरीर को **संसिच्य**=रुधिर से आर्द्र करके **पुरुषम् आविशन्**=पुरुषाकृति करके इसमें प्रविष्ट हुए।

भावार्थ—जब तक शरीर में प्राणों का निवास है तब तक ही प्राणाधिष्ठित शरीर सब व्यवहारों को करने में समर्थ होता है, अतः प्राणदेव ही पृथिव्यादि पंचभूतात्माओं से उत्पन्न केश अस्थ्यादि धातुमय पुरुष शरीर को प्रविष्ट करके रह रहे हैं।

ऋषिः—कौरुपथिः ॥ देवता—मन्युः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

कः ऋषिः ?

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम्।
पृष्ठीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत्समदधादृषिः॥ १४॥

१. **ऊरू**=जाँघों को, **अष्ठीवन्तौ**=जानुओं को, **शिरः**=सिर को, **पादौ**=पाँवों को, **हस्तौ**=हाथों को **अथो मुखम्**=और मुख को **पृष्ठीः**=पार्श्वास्थियों—पसलियों को, **बर्जह्ये**=हंसली की हड्डियों को, **पार्श्वे**=छाती की पसलियों को **तत्**=उस सब ढाँचे को **कः ऋषिः**=किस सर्वद्रष्टा विवेकी ने **समदधात्**=परस्पर जोड़ा।

भावार्थ—ऊरू आदि अवयवों को कौन तत्त्वद्रष्टा संहित करनेवाला है ?

ऋषिः—कौरुपथिः ॥ देवता—मन्युः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

महती संधा

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत्सन्धा समदधान्मही॥ १५॥

१. **शिरः**=मूर्धा को, **हस्तौ**=हाथों को, **अथो मुखम्**=और मुख को, **जिह्वाम्**=जिह्वा को, **ग्रीवाः च**=गर्दन के मोहरों को, **च कीकसाः**=और अन्य अस्थियों को **त्वचा प्रावृत्य**=चर्म से आच्छादन करके **सर्वं तत्**=उस सब अंगसमूह को **मही सन्धा**=महनीय प्रभु की सन्धानशक्ति (संधानकर्त्री देवता) **समदधात्**=संहित, परस्पर संश्लिष्ट, स्वस्वव्यापारक्षम करनेवाली हुई।

भावार्थ—प्रभु की संधानशक्ति ने सब अंग-प्रत्यंगों को त्वचा से आवृत करके परस्पर संश्लिष्ट कर दिया।

ऋषिः—कौरुपथिः ॥ देवता—मन्युः, अध्यात्मम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

कः वर्णम् आभरत् ?

यत्तच्छरीरमशयत्सन्धया संहितं महत्।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन्वर्णमाभरत्॥ १६॥

१. **यत्**=जो **संधया संहितम्**=प्रभु की संधानशक्ति से संहित हुआ-हुआ **महत् शरीरं अशयत्**=यह महनीय शरीर शेते (वर्तते)=यहाँ ब्रह्माण्ड में निवास करता है, **अस्मिन्**=इस शरीर में **कः**=किस देव ने **वर्णम्**=उस वर्ण को **आभरत्**=भरा **येन**=जिससे कि **इदम्**=यह शरीर **अद्य रोचते**=आज दीप्त हो रहा है।

भावार्थ—सन्धानशक्ति से संहित अवयवोंवाले इस शरीर में कौन देव कृष्ण-गौर आदि वर्णों को भर देता है?

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्ण को भरनेवाली 'ईशा'

सर्वे॑ दे॒वा उपा॑शिक्ष॒न्तद॑जानाद्व॒धूः स॒ती।
ई॒शा व॒शस्य॒ या जा॒या सास्मि॒न्वर्ण॒माभ॑रत्॥ १७॥

१. **सर्वे देवाः**=इन्द्रादि सब देवों ने **उपाशिक्षन्**=समीप होकर शक्त होना चाहा। **वधूः सती**=परमेश्वर से जिसका विवाह हुआ है, उस आद्या चिद्रूपिणी शक्ति ने **तत् अजानात्**=देवों से किये गये उस संकल्प को जाना। ऐतरेयोपनिषद् में यही भाव इन शब्दों में कहा गया है—**'ता एनमब्रुवन् आयतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठता अन्नमदामेति'**। २. तब **या**=यह जो **वशस्य**=सम्पूर्ण संसार को वश में करनेवाले ईश की **जाया**=पत्नी के रूप में **ईशा**=ईशाना नियन्त्री मायाशक्ति है, **सा**=उस पारमेश्वरी शक्ति ने ही **अस्मिन्**=इस षाट्कौशिक छह तहों में लिपटे हुए शरीर में **वर्णम् आभरत्**=गौर-कृष्णादि वर्ण प्राप्त कराया।

भावार्थ—प्रभु ही देवों के एकत्रनिवास के लिए इस षाट्कौशिक शरीर को बनाते हैं। वे ही अपनी शक्ति से इसमें गौर-कृष्ण आदि वर्णों को भरते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तरः त्वष्टा

य॒दा त्वष्टा॒ व्यतृ॑णत्पि॒ता त्वष्टु॒र्य उत्त॑रः।
गृ॒हं कृ॒त्वा मर्त्यं॑ दे॒वाः पुरु॑ष॒मावि॑शन्॥ १८॥

१. **यदा**=जब **त्वष्टुः**=कर्मों के द्वारा अपने शरीर आदि का निर्माण करनेवाले जीव का **यः पिता**=जो प्रभुरूप पिता है, उन्हीं **उत्तरः त्वष्टा**=सर्वोत्कृष्ट निर्माता प्रभु ने **व्यतृणत्**=इस शरीर में इन्द्रियरूप छिद्रों को बनाया तब **देवाः**=सूर्य आदि देव **मर्त्यं पुरुषम्**=इस मरणधर्मा पुरुषशरीर को **गृहं कृत्वा**=घर बनाकर **आविशन्**=प्रविष्ट हो गये। **'सूर्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्०'** सूर्य चक्षु बनकर आँखों में, वायु प्राण बनकर नासिका में, अग्नि वाणी बनकर मुख में, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में ऐसे ही अन्य देव अन्य-अन्य स्थानों में प्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—जीव के कर्मानुसार शरीर बनता है, अतः जीव तो इसका 'त्वष्टा' है ही, परन्तु कर्मानुसार इन योनियों में प्राप्त करानेवाला प्रभु 'उत्तर त्वष्टा' है। वह इन शरीरों में इन्द्रिय-द्वारों को बना देता है और देव उन स्थानों में आकर आसीन हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वप्नः—पालित्यम्

स्वप्नो॒ वै त॒न्द्रीर्निर्ऋ॑तिः पा॒प्मानो॒ नाम॑ दे॒वताः॑।
ज॒रा खाल॑त्यं॒ पालि॑त्यं॒ शरी॑र॒मनु॒ प्रावि॑शन्॥ १९॥

१. शरीर में इन्द्रियादि देवों के प्रवेश कर लेने पर तथा प्राणापानादि के प्रविष्ट हो जाने

पर शरीर सर्वव्यवहारक्षम हो गया। अब इसमें विविध विकारों का भी प्रारम्भ हुआ। **स्वप्नः**=स्वाप (निद्रा), **वै**=निश्चय से **तन्द्रीः**=अलसता, **निर्ऋतिः**=दुर्गति, **पाप्मानः नाम देवताः**='ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, परस्त्री-संसर्ग, दुःसंग' आदि पापमय व्यवहार (दिव् व्यवहारे), **जरा**=बुढ़ापा, **खालत्यम्**=गञ्जापन, **पालित्यम्**=बालों की सफ़ेदी—ये सब विकार **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में अनुप्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—शरीर में प्राणन-व्यापार का प्रारम्भ हो जाने पर स्वप्न आदि विकारों का प्रवेश भी हो जाता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्तेयम्—सत्यम्

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २०॥

१. **स्तेयम्**=चोरी की वृत्ति, **दुष्कृतम्**=दुष्कर्म, **वृजिनम्**=पाप (crime दुष्कृत, पाप sin), **सत्यम्**=यथार्थकथन, **यज्ञः**=याग, **यशः**=कीर्ति, **बृहत् बलं च**=वृद्धि का कारणभूत बल, **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाली शक्ति, **ओजः च**=और ओजस्विता—इन सबने **शरीरम् अनु प्राविशन्**=शरीर में प्रवेश किया।

भावार्थ—जहाँ शरीर में चोरी आदि भावों का उद्गम हुआ वहाँ सत्य आदि का भी प्रादुर्भाव हुआ।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूति—अभूति—श्रद्धा-अश्रद्धा

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २१॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन्॥ २२॥

१. **भूतिः च वै अभूतिः च**=समृद्धि और निश्चय से असमृद्धि, **रातयः**=दानवृत्तियाँ, **च याः**=और जो **अरातयः**=अदानवृत्तियाँ हैं, **क्षुधः च**=भूख और **सर्वाः तृष्णाः च**=सब प्रकार की प्यास—ये **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुईं। २. **निन्दाः च वै**=निश्चय से निन्दा की वृत्तियाँ, **अनिन्दाः च**=अनिन्दा के भाव,'**यत् च हन्ति इति, न इति च**=और जो 'हाँ' या 'न' इसप्रकार इच्छा व अनिच्छा के भाव हैं, च=तथा **श्रद्धा**=धर्मकार्यों में श्रद्धा, उसके लिए **दक्षिणा**=पुरस्कार देने का विचार तथा **अश्रद्धा**=श्रद्धा का न होना—ये सब बातें **शरीरं अनुप्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट हो गईं।

भावार्थ—शरीर में समृद्धि-असमृद्धि व श्रद्धा-अश्रद्धा आदि नाना भावों की स्थिति होती रहती है। ये ही बातें हमारे उत्थान व पतन का कारण बनती हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋचः साम अथो यजुः

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्य ॅम्।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥ २३॥

१. **विद्याः च वै**=निश्चय से आत्मज्ञान (पराविद्या) **अविद्याः च**=और अपरा विद्याएँ (प्रकृति-विज्ञान) **यत् च अन्यत् उपदेश्यम्**=और इनसे भिन्न जो भी उपदेश्य है; वह सब **ब्रह्म**=ज्ञान **शरीरं प्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट हुआ। शरीर में **ऋचः**=ऋचाओं का **साम अथो यजुः**=साम और यजुः का भी प्रवेश हुआ 'विज्ञान, उपासना व कर्म' तीनों की शरीर में स्थिति हुई।

भावार्थ—हमारा शरीर विद्याओं, अविद्याओं, विज्ञान, उपासना व कर्म सभी का आधार बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हसः नरिष्टा नृत्तानि

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन्॥ २४॥

१. **आनन्दाः**=विषयोपभोगजनित सुख, **मोदाः**=विषयदर्शनजन्य हर्ष, **प्रमुदः**=प्रकृष्ट विषयलाभजन्य हर्ष, **ये च**=और जो **अभीमोदमुदः**=(अभिमोदेन मोदयन्ति) संनिहित सुख हेतु पदार्थ, **हसः**=हास **नरिष्टा**=(नर इष्ट) मनुष्य के इच्छागोचर शब्द-स्पर्शादि विषय तथा **नृत्तानि**=नर्तन—ये सब आनन्द आदि **शरीरम् अनु प्राविशन्**=पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—शरीरधारी जीव आनन्द आदि वृत्तियों का अनुभव करता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुजः—प्रयुजः—युजः

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः॥ २५॥

१. **आलापाः च**=आभाषण (सार्थक वचन), **प्रलापाः च**=निरर्थक वचन, **ये च**=और जो **अभीलापलपः**=उत्तर-प्रत्युत्तररूप कथन (जो प्रत्यक्ष में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में बातें कही जाएँ), **आयुजः**=आयोजन, **प्रयुजः**=प्रयोग और **युजः**=योग (मेल-जोल)—आलाप आदि **सर्वे**=ये सब **शरीरं प्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुए।

भावार्थ—जीवित पुरुष आलाप आदि करता है तथा आयोजन आदि में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चक्षुः श्रोत्रं वाङ् मनः

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते॥ २६॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख व कान, **अक्षितिः च**=क्षय का अभाव, **या च क्षितिः**=और जो क्षय है, **व्यानोदानौ**=व्यानवायु व उदानवायु, **वाक् मनः**=वाणी और मन—**ते**=वे सब **शरीरेण**=इस शरीर के साथ **ईयन्ते**=गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान आदि शरीर में प्रविष्ट होकर अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशिषः प्रशिषः, संशिषः विशिषः

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्॥ २७॥

१. **आशिषः च**=आशासन—इष्ट फल प्रार्थनाएँ (आशीर्वाद), **प्रशिषः च**=प्रशासन (आज्ञाएँ) **संशिषः**=संशासन (अनुज्ञाएँ), **याः च विशिषः**=और जो विशेष आज्ञाएँ हैं, **चित्तानि**=चित्त, मन, बुद्धि, अंहकार आदि तथा **सर्वे संकल्पाः**=सब अन्तःकरण वृत्तियाँ **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुईं।

भावार्थ—जीवित शरीर में आशासन-प्रशासन आदि के साथ नाना प्रकार की स्मृतियाँ व संकल्प होते रहते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'बीभत्सु' शरीर (सुबद्ध-सुघटित)

आस्नेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभुत्सावसादयन्॥ २८॥

१. **आस्नेयीः च**=(अस्यते क्षिप्यते यत् नाडीषु) रुधिर में होनेवाले, **वास्तेयीः च**=मूत्राधार में होनेवाले, **त्वरणाः**=शीघ्रगतिवाले, **याः च कृपणाः**=और जो कृश (पतले) व **स्थूलाः**=स्थूल (गाढ़े), **गुह्याः**=(गुहायां भवाः) हृदयदेश में रहनेवाले या अदृश्य व **शुक्राः**=वीर्यरूप में परिणत **अपः**=जल हैं, **ताः**=वे सब जल **बीभत्सौ**=इस (बध बन्धने) सुबद्ध शरीर में **असादयन्**=प्राप्त होते हैं—स्थित होते हैं।

भावार्थ—जल शरीर में विविधरूपों में स्थित होकर शरीर की सुबद्धता का साधन बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अस्थि=समिधा, रेतस्=आज्य

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९॥

१. **अस्थि**=अस्थि-(हड्डी)-समूह को **समिधं कृत्वा**=समिन्धनसाधन (शरीरपरिपाक का निमित्त) बनाकर **आपः**=शरीरस्थ जलों ने **तत् अष्ट**=उन आठ धातुओं को (रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य व ओज) **असादयन्**=शरीर में स्थापित किया और **रेतः**=वीर्य को ही **आज्यं कृत्वा**=जीवन-यज्ञ का घृत बनाकर **देवाः**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवों ने **पुरुषम् आविशन्**=पुरुष शरीर में प्रवेश किया।

भावार्थ—यह जीवन एक 'जरामर्य प्राणाग्निहोत्र' है। अस्थियाँ ही इसमें समिधाएँ हैं तथा वीर्य घृत है। अग्नि आदि देव इस शरीर में स्थित होकर इस जीवन-यज्ञ को चला रहे हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विराट् ब्रह्मणा सह

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ ३०॥

१. **याः आपः**=जो 'आस्नेयी वास्तेयी' आदि जल हैं (११।८।२८), **याः च देवताः**=जो इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव सूर्य आदि हैं, और **या विराट्**=जो प्रभु की विशिष्ट शक्ति हैं, वे **ब्रह्मणा सह**=ब्रह्म के साथ **शरीरं प्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट होती हैं। इस शरीर में **ब्रह्म (प्राविशत्)**=प्रभु का प्रवेश होता है। वही सबका अन्तर्यामी है। **शरीरे अधि प्रजापतिः**=इस शरीर में प्रजाओं का पालक (पुत्राद्युत्पादक) जीव रहता है। यह जीव के विविध भोगों का स्थान बनता है।

भावार्थ—शरीर में अपनी प्रकृतिरूप शक्ति के साथ ब्रह्म का भी निवास है—वे प्रभु तो

अन्तर्यामिरूप से यहाँ रह ही रहे हैं। शरीर में भोगों को भोगनेवाला जीव भी प्रजापति बनकर रह रहा है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भैजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥ ३१॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **चक्षुः**=चक्षु-इन्द्रिय को आत्मीयभाग के रूप में स्वीकार करता है। **वातः**=वायु **प्राणम्**=घ्राणेन्द्रिय को अपना भाग बनाता है (**आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्**—ऐ० आ० २।४।२) इसी प्रकार **पुरुषस्य**=इस पुरुष की अन्य इन्द्रियों को उनके अधिष्ठातृदेव **विभेजिरे**=विभागपूर्वक स्वीकार करते हैं। २. **अथ**=इसके बाद **इतरम्**=प्राण-इन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त **अस्य आत्मानम्**=इसके स्थूलशरीर को **देवाः**=सब देव **अग्नये प्रायच्छन्**=अग्नि के लिए भागरूप से देते हैं। एवं, मरणानन्तर अग्नि से केवल यह स्थूलशरीर ही दग्ध किया जाता है।

भावार्थ—'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि। वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदशं विदुः॥' यह सप्तदशात्मक लिंगशरीर मुक्तिपर्यन्त नष्ट न होकर उन-उन देवों का निवासस्थान बना रहता है। स्थूलशरीर बारम्बार अग्नि का भाग बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवमन्दिर

तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते॥ ३२॥

१. **तस्मात्**=उपर्युक्त कारण से—क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में उस-उस देवता का निवास है **वै**=निश्चयपूर्वक **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **इदं पुरुषम्**=इस पुरुष-शरीर को **ब्रह्म इति**='अत्यन्त महत्त्वपूर्ण (बृहि वृद्धौ) है' इस रूप में **मन्यते**=मानता है। **अस्मिन्**=इस शरीर में **हि**=निश्चय से **सर्वाः देवताः**=सब देव इसप्रकार **आसते**=आसीन होते हैं, **इव**=जैसेकि **गावः गोष्ठे**=गौएँ गोशाला में।

भावार्थ—सब देवों का निवासस्थान यह शरीर वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवमन्दिर है। इसे पवित्र बनाए रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

त्रेधा

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते॥ ३३॥

१. शरीर का अभिमानी जीव शरीर व इन्द्रियों से पुण्य-पापात्मक कर्मों को करके उनके फलभोग के लिए त्रिविध गतिवाला होता है। **प्रथमेन प्रमारेण**=शरीरात्मक कर्म के क्षय से प्रथमभावी स्थूलशरीर के प्रमृत होने से वह त्यक्तशरीर जीवात्मा **त्रेधा**=तीन प्रकार से **विष्वङ् विगच्छति**=नाना योनियों में आता है। **अदः**=विप्रकृष्ट (दूरस्थ) स्वर्गाख्य स्थान को **एकेन**=पुण्यकर्म से **गच्छति**=प्राप्त होता है, **अदः**=विप्रकृष्ट नरकाख्य स्थान को **एकेन गच्छति**=पापकर्म से प्राप्त होता है। तथा **इह**=इस भूलोक पर **एकेन**=पुण्य-पापात्मक मिश्रित कर्म से **निषेवते**=नितरां सुखदुःखात्मक भोगों का सेवन करता है।

भावार्थ—('पुण्येन पुण्यलोकं नयति, पापेन पापं, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्—प्रश्नो० ३.७) शरीर को छोड़ने पर पुण्य से स्वर्ग की, पाप से नरक की और पुण्य-पाप की समता में मनुष्यलोक में जन्म मिलता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सु शरीरम्, शरीरे शवः

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते॥ ३४॥

१. **वृद्धासु**=बढ़े हुए **स्तीमासु**=गीला कर देनेवाले **अप्सु अन्तरा**=जलों के भीतर **शरीरम् हितम्**=यह शरीर रक्खा हुआ है। 'आपः रेतो भूत्वा०' जल ही रेत:कणों का रूप धारण करते हैं। इन्हीं से शरीर का निर्माण होता है। **तस्मिन् अधि अन्तरा**=उस शरीर के भीतर **शवः**=यह गति देनेवाला आत्मतत्त्व है। **तस्मात्**=गति देने के कारण ही **शवः**=यह गति का स्रोत बलवान् आत्मा **अधि उच्यते**=अधिष्ठातृरूपेण कहा जाता है।

भावार्थ—रेत:कणरूप जलों में शरीर की स्थिति है। शरीर में आत्मा की, आत्मा ही इसे गति देता है, अतः आत्मा इसका अधिष्ठाता कहा जाता है।

अगले सूक्त का ऋषि कांकायन है—कंक का अपत्य। कंक् गतौ to go धातु से कंक शब्द बना है। यह प्रजाओं का क्षतों से त्राण करनेवाले क्षत्रिय का वाचक है। यह क्षत्रिय 'अर्बुदि' है (अर्ब to go, to kill) यह शत्रुओं के प्रति आक्रमण करता है और उनका संहार करता है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराट्शक्वरी** ॥

उदार प्रदर्शन से शत्रुओं का भयभीत हो जाना

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च।
असीन्परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १॥

१. **ये बाहवः**=हमारे योद्धओं की जो भुजाएँ हैं—आयुधग्राही हाथ हैं, **याः इषवः**=जो बाण हैं, **च**=और **धन्वनां वीर्याणि**=धनुर्धारियों के बल हैं, उन सबको तथा **असीन्**=तलवारों को, **परशून्**=कुल्हाड़ों को, **आयुधम्**=शस्त्रों को **च**=और **हृदि**=हृदय में **यत्**=जो **चित्ताकूतम्**=चित्त से किया जाता हुआ शत्रुमारण संकल्प है, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **तत् सर्वम्**=उन बाहु आदि को तथा सब आयुधों को **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **दृशे कुरु**=दिखलाने के लिए कर, जिससे कि इन युद्ध-प्रकरणों को देखकर शत्रुओं के मनों में भीति का उद्भव हो, **च**=तथा हे अर्बुदे! तू शत्रुओं के लिए **उदारान् प्रदर्शय**=विशाल आयोजनाओं को दिखला। इन विशाल आयोजनाओं को देखकर वे भयभीत हो उठें। उनमें युद्ध का उत्साह रहे ही नहीं।

भावार्थ—शत्रु हमारे योद्धओं, अस्त्र-शस्त्रों व विशाल आयोजनाओं को देखकर भयभीत हो जाए और युद्ध के उत्साह को छोड़ बैठे।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्थान व सन्नाह

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
सन्दृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे॥ २॥

१. हे **मित्राः**=(मिञ् प्रक्षेपणे) शत्रुओं का प्रक्षेपण करनेवाले **देवजनाः**=(दिव् विजिगीषायाम्) विजय की कामनावाले लोगो! **यूयं उत्तिष्ठत**=आप सब उठ खड़े होओ, **संनह्यध्वम्**=युद्ध के लिए संनद्ध हो जाओ। २. हे **अर्बुदे**=शत्रु का संहार करनेवाले सेनापते! **या नः मित्राणि**=जो भी हमारे मित्र शत्रुओं के विरोध में लड़ने के लिए आये हैं, वे **वः**=तुम सब देवजनों से (तृतीयार्थे षष्ठी) **संदृष्टाः**=सम्यक् निरीक्षित व **गुप्ताः सन्तु**=सुरक्षित हों।

भावार्थ—मित्र, देवजन उद्यत होकर और सम्यक् सन्नद्ध होकर हमारे शत्रुओं से युद्ध करें। हमारे मित्रों का वे रक्षण करें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

आदान-संदान

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसन्दानाभ्याम्।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे॥ ३॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहार करनेवाले सेनापते! तथा **न्यर्बुदे**=(मन्त्र ४ से उद्धृत) निश्चय से शत्रु के प्रति जानेवाले सेनापते! आप **उत्तिष्ठतम्**=उठ खड़े होओ, **आरभेथाम्**=(राभस्यं कार्योपक्रमः) शत्रुसंहार का कार्य प्रारम्भ करो॥ **आदान-संदानाभ्याम्**=(आदीयते अनेन, ग्रहणार्थं रज्जुयन्त्रम् आदानम्, सन्दीयते बध्यते अनेन सन्दानम्) आदान व सन्दानरूप रज्जुयन्त्रों से **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाः**=सेनाओं को **अभिधत्तम्**=बाँध डालो।

भावार्थ—मुख्य सेनापति (अर्बुदि) तथा अधीन सेनापति (न्यर्बुदि) मिलकर शत्रुसेनाओं को पाशरज्जु व बन्धनरज्जुओं से जकड़ डालें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भापरात्रिष्टुप्षट्पदाऽतिजगती** ॥

अर्बुदि + न्यर्बुदि

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्य र्बुदिः।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया॥ ४॥

१. **यः**=जो **अर्बुदिः नाम**='अर्बुदि' नामवाला मुख्य सेनापति है, वह **देवः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाला है (दिव् विजिगीषायाम्), **च**=और **न्युर्बुदि**=अधीनस्थ सेनापति **ईशानः**=शत्रुओं को जीतने में समर्थ है। ये अर्बुदि व न्यर्बुदि वे हैं **याभ्याम्**=जिनसे **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **च**=और **इयं मही पृथिवी**=यह महती पृथिवी **आवृतम्**=आवृत की गई है। वायुसेना द्वारा अन्तरिक्ष आवृत किया गया है, तथा नौसेना व स्थल (पदाति) सेना से यह पृथिवी आवृत की गई है। २. **ताभ्याम्**=उन द्यावापृथिवी को व्याप्त करके वर्त्तमान **इन्द्रमेदिभ्याम्**=राजा के प्रति पूर्ण स्नेहवाले अर्बुदि व न्यर्बुदि द्वारा **सेनया**=सेना के द्वारा **जितम्**=जीते हुए प्रदेश को **अहं अनु एमि**=मैं अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—अर्बुदि व न्यर्बुदि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले व शत्रुओं को जीतने में समर्थ हों। ये अन्तरिक्ष व पृथिवी को वायुसेना व स्थलसेना से आवृत करके शत्रुप्रदेश को जीतनेवाले बनें। वे प्रदेश हमारे लिए अनुकूलता से गति करने योग्य बनें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भोगेभिः परिवारय

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ ५॥

१. हे **देवजन**=शत्रु-विजिगीषु पुरुष! **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **सेनया सह**=सेना के साथ **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाम्**=सेना को **भञ्जन्**=आमर्दित करता हुआ—कुचलता हुआ **भोगेभिः परिवारय**=(भोग An army in column) व्यूह में स्थित सेनाओं के द्वारा घेर ले।

भावार्थ—सेनापति शत्रुसेना को अपनी व्यूढ सेना के द्वारा घेर ले तथा उसका आमर्दन कर दे—उसे कुचल डाले।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सप्त जातान्'

सप्त जातान्न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया॥ ६॥

१. हे **न्यर्बुदे**= निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनानि! **त्वम्**=तू **उदाराणाम्**=विशाल आयोजनाओं का **समीक्षयन्**=शत्रुओं के लिए सन्दर्शन कराता हुआ तथा **सप्त जातान्**= ('स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च' राज्यांगानि प्रकृतयः) 'स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा सैन्य' रूप सातों विकसित हुए-हुए राज्यांगों को दिखलाता हुआ, **तेभिः सर्वैः**=उन सब राज्यांगों के साथ तथा **सेनया**=विशेषकर सेना के साथ **आज्ये हुते**=युद्धाग्नि में घृत पड़ जाने पर—युद्ध के भड़क उठने पर **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो।

भावार्थ—युद्ध की परिस्थिति में राज्य के सभी अंग, विशेषतया सेना उसमें पूर्ण योग देनेवाली हो तभी विजय सम्भव होती है।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिघ्नाना—अश्रुमुखी

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हुते रदिते अर्बुदे तव॥ ७॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुओं का संहार करनेवाले सेनापते! **तव रदिते**=(रद विलेखने raid) तेरे द्वारा शत्रुओं का विलेखन—अवदारण होनेपर—तेरे द्वारा आक्रमण किये जाने पर **पुरुषे हते**=अपने पुरुषों के मारे जाने पर शत्रु-स्त्रियाँ **प्रतिघ्नाना**=अपनी-अपनी छाती को पीटती हुई, **अश्रुमुखी**= आँसुओं से व्याप्त मुखोंवाली **कृधुकर्णी च**=और कर्णाभरणों के त्याग से ह्रस्व कर्णोंवाली व मन्द श्रवणशक्तिवाली होती हुई **क्रोशतु**=रोदन करे।

भावार्थ—हमारे सेनापति द्वारा शत्रुसैन्य के पुरुषों के संहार होने पर शत्रु-स्त्रियाँ छाती पीटती हुई आँसुओं से व्याप्त मुखोंवाली व मन्द श्रवणवाली चीखती-चिल्लाती दीखें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संकर्षन्ती—करूकरम्

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती। पतिं भ्रातरमात्स्वान्रदिते अर्बुदे तव॥ ८॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरे आक्रमण करने पर शत्रु-स्त्री **करूकरं संकर्षन्ती**=अपने हाथ-पैर की हड्डियों को ('करू' शब्द करनेवाली हस्तपादादिगत संधिवाली अस्थियाँ=करूकर) मचकाती हुई (हड्डियों को खैंचती हुई), **मनसा पुत्रम् इच्छन्ती**=मन से पुत्र को चाहती हुई—युद्ध में गये हुए पुत्रादि की मृत्यु के भय से घबराकर उनके जीवन की कामना करती हुई—**पतिं भ्रातरम्**=पति व भाई को चाहती हुई, **आत् स्वान्**=और अन्य बन्धुओं को चाहती हुई (**क्रोशतु**) विलाप करे।

भावार्थ—युद्ध में अपने बन्धुओं की मृत्यु के भय से व्याकुल शत्रु-स्त्री, पुत्र, पति, भाई व बन्धुओं का विलाप करनेवाली हो।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

शत्रुशवों को खाकर पक्षी तृप्त हों

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्त्रिणः।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्नदिते अर्बुदे तव॥ ९॥

१. **अलिक्लवाः**=(अल सामर्थ्यो क्लव वैक्लव्ये) अपने बल से भय देनेवाले चील आदि **जाष्कमदाः**=(जसु हिंसायाम्) हिंसा में ही आनन्द लेनेवाले सारस आदि **गृध्राः**=गिद्ध, **श्येनाः**=बाज, **पतत्त्रिणः**=अन्य मांसभक्षक पक्षी, **ध्वांक्षाः**=कौवे आदि **शकुनयः**=पक्षी, हे **अर्बुदे**=सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होने पर **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **समीक्षयन्**=(व्यत्ययेन एकवचनम्—सा०) उनके मरण को देखते ही मरणानन्तर उन्हें खाने से **तृप्यन्तु**=तृप्त हों।

भावार्थ—शत्रुशवों को खाते हुए गिद्ध आदि तृप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

श्वापदं मक्षिका क्रिमिः

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव॥ १०॥

१. **अथो**=(अपि च) और **सर्वम्**=सब **श्वापदम्**=(शुनः पदानीव पदानि यस्य—सा०) शृगाल, व्याघ्र आदि हिंस्रपशु **मक्षिका**=मांसनिषेविणी नीलमक्षिका तथा **क्रिमिः**=मांस के जीर्ण होने पर पैदा हो जानेवाले प्राणी—ये सब, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होने पर **पौरुषेये कुणपे अधि**=पुरुष-सम्बन्धी शव—शरीर पर **तृप्यन्तु**=तृप्त हों।

भावार्थ—सेनापति द्वारा शत्रु का विनाश होने पर शत्रुओं के मृत-शरीरों को हिंस्र-पशु, मक्षिका व कृमि खानेवाले बनें।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

निवाशा घोषः

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान्न्यर्बुदे।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्नदिते अर्बुदे तव॥ ११॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रु पर आक्रमण करनेवाले उपसेनापते! **प्राणापानान् आगृह्णीतम्**=शत्रुसम्बन्धी प्राणापानों को सब ओर से ले-लो, **संबृहतम्**=समूल उत्खिन्न कर दो। २. **तव रदिते**=आपके द्वारा शत्रुविलेखन होने पर **अमित्रेषु**=शत्रुओं पर **समीक्षयन्**=(षष्ठ्यर्थे प्रथमा) उस आक्रमण को देखते हुए लोगों के **निवाशाः घोषाः**=(नीचीनं वाश्यमानाः) दबी आवाजों में किये जाते हुए शब्द **संयन्तु**=चारों ओर उठ खड़े हों।

भावार्थ—हमारे सेनानी शत्रुओं को घेर लें व उत्खिन्न (नष्ट) कर दें। शत्रुओं पर होनेवाले आक्रमण को देखकर देखनेवाले चीख उठें।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः

उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज। उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे॥ १२॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनानि! **अमित्रान्**=हमारे शत्रुओं को **उद्वेपय**=आप कम्पित कर दो, **संविजन्ताम्**=वे शत्रु भय से विचलित हो उठें। **भिया संसृज**=इन शत्रुओं को भय से आक्रान्त कर दीजिए। **अरुग्राहैः**=जाँघों के जकड़नेवाले तथा **बाह्वङ्कैः**=बाहुओं को वक्र गतिवाला करनेवाले (क्रुञ्च to move in a curve) शस्त्रों से **अमित्रान् विध्य**=शत्रुओं को विद्ध कर दो।

भावार्थ—हे सेनानि! तू शत्रुओं को कम्पित व भयभीत करके दूर भगा दे। इन्हें ऐसे शस्त्रों से आक्रान्त कर जो इनकी जाँघों को जकड़ दें तथा भुजाओं को वक्र गतिवाला कर दें।

ऋषिः—काङ्कायनः॥ देवता—अर्बुदिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

भुजाओं व चित्तों की मूढ़ता

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव॥ १३॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होनेपर **एषाम्**=इन शत्रुओं की **बाहवः**=भुजाएँ विष के आवेश के कारण **मुह्यन्तु**=मूढ़—अपने व्यापार में असमर्थ हो जाएँ, **च**=और इन शत्रुओं के **हृदि**=हृदय में और **यत्**=जो **चित्ताकूतम्**=चित्त में सङ्कल्प हैं, वह भी मूढ़ व विस्मृत हो जाए। **एषाम्**=इन शत्रुओं का **किंचन**=कुछ भी रथ, तुरग, हस्ति आदि लक्षण बल(सैन्य) **मा उच्छेषि**=मत अवशिष्ट हो।

भावार्थ—हे सेनापते! तू शत्रुओं की भुजाओं व चित्तों को मूढ़ बना दे। शत्रुओं का सब सैन्य तेरे द्वारा समाप्त कर दिया जाए।

ऋषिः—काङ्कायनः॥ देवता—अर्बुदिः॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः॥

उरः प्रतिघ्नानाः, पटूरौ आघ्नानाः

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः।
अघारिणीर्विकेश्यो ॒ रुदत्य१ः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव॥ १४॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरे द्वारा शत्रुविनाश होने पर **पुरुषे हते**=अपने पतियों के मारे जाने पर उनकी स्त्रियाँ **उरः प्रतिघ्नानाः**=छातियों को पीटती हुई **पटूरौ आघ्नानाः**=जँघाओं को दुहत्थड़ मार-मारकर रोती हुईं **अघारिणीः**=भर्तृवियोगजनित दुःख से पीड़ित हुई-हुई, **विकेश्यः**=विकीर्ण केशोंवाली **रुदत्यः**=रोती हुई **संधावन्तु**=मृतपुरुषों के शवों की ओर शीघ्रता से दौड़ें।

भावार्थ—युद्ध में पतियों के मारे जाने से शत्रु-स्त्रियाँ विलाप करती हुई इधर-उधर भागें।

ऋषिः—काङ्कायनः॥ देवता—अर्बुदिः॥ छन्दः—सप्तपदाशक्वरी॥

श्वन्वतीः अप्सरसः

श्व ॒न्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे।
अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम्।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १५॥

१. **श्वन्वतीः**=(शुना क्रीडार्थेन सारमेयेण सहिताः) कुत्तों को साथ लेकर घूमनेवाली **अप्सरसः**=गन्धर्व स्त्रियों को, **उत**=और **रूपकाः**=मायावश नाना रूप धारण करनेवाली सेनाओं को, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **सर्वाः ताः**=उन सबको **अमित्रेभ्यः दृशे कुरु**=शत्रुओं को दिखा तथा **पात्रे अन्तः रेरिहतीम्**=पात्र के अन्दर फिर-फिर चाटती हुई **दुर्निहित एषिणीम्**=बुरी

तरह से फेंके हुए को चाहती हुई **रिशाम्**=हिंसक सेना को, **च**=और **उदारान्**=उत्कृष्ट शस्त्र-प्रयोगों को **प्रदर्शय**=शत्रुओं के लिए दिखलानेवाला बन।

भावार्थ—शत्रुओं के लिए विविध 'हिंसक, भक्षक व रूपक' सेनाओं को तथा उत्कृष्ट शस्त्र-प्रयोगों को दिखलाया जाए, जिससे वे युद्ध से भयभीत हो उठें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**१६ पञ्चपदाविराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ त्रिपदागायत्री** ॥

विविध मायावी प्रयोग

खड्रूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये। सर्पा इतरजना रक्षांसि॥ १६॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः॥ १७॥

१. **खड्रूरे**=आकाश के दूरदेश में **अधि**=ऊपर **चङ्क्रमाम्**=चङ्क्रमणशील—इधर-उधर प्रादुर्भूत होती हुई **खर्विकाम्**=छोटी-छोटी **खर्ववासिनीम्**=कुछ चीखती-सी हुई (वासयते to scream) माया को तू शत्रुओं को दिखा। **ये**=जो **उदाराः**=विशाल योजनाएँ हैं, उन्हें शत्रुओं के लिए प्रदर्शित कर **च**=और **ये अन्तर्हिताः**=जो भीतर छिपे हुए **गन्धर्वाप्सरसः**=पृथिवी का धारण करनेवाले (गां धारयन्ति) व जलों में विचरनेवाले (अप्सु सरन्ति) **सर्पाः**=कुटिल चालवाले, **इतरजनाः**=अन्य लोग हैं, **रक्षांसि**=राक्षसी वृत्तिवाले क्रूर लोग हैं, उन्हें तू शत्रुओं के लिए दिखला। २. **चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः कुम्भमुष्कान्**=चार-चार दाढ़ोंवाले, काले-काले दाँतोवाले, घड़े के समान बड़े-बड़े अण्डकोशोंवाले **असृङ्मुखान्**=रुधिर लिप्त मुखोंवाले भंयकर रूपों को शत्रुओं को दिखा। **ये च**=और जो **स्वभ्यसाः**=स्वयं भयंकर **उद्भ्यसाः**=दूसरों में भय उत्पन्न करने में समर्थ हैं, उन्हें शत्रुओं को दिखा।

भावार्थ—शत्रुओं को भयभीत करने के लिए विविध मायावी प्रयोगों का प्रदर्शन किया जाए।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जयाँश्च जिष्णुश्च

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ॥ १८॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः सिचः**=उन सेना-पंक्तियों को (सेना के प्रान्तभागों को) **उद्वेपय**=कम्पित कर दे। **जयान् च**=जीतता हुआ **च**=और **जिष्णुः**=जीतने के स्वभाववाला—ये दोनों **इन्द्रमेदिनौ**=प्रभु के साथ स्नेहवाले होते हुए **जयताम्**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारे सेनापति शत्रुसैन्य को कम्पित करें। हमारे ये अर्बुदि और न्युर्बुदि राजा के साथ स्नेहवाले होते हुए सदा जीतते हुए हों, जीतने के स्वभाववाले हों। ये शत्रुओं को पराजित करें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निजिह्वाः धूमशिखा

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया॥ १९॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनापते! **प्रब्लीनः**=(ब्ली वेष्टने)

घिरा हुआ **मृदितः**=पिसे हुए गात्रोंवाला **हतः**=गतप्राण हुआ-हुआ **अमित्रः**=शत्रु **शयाम्**=भूमि पर सोनेवाला हो। **अग्निजिह्वाः**=आग की ज्वालाएँ **धूमशिखाः**=धूम के प्ररोहोंवाली **सेनया जयन्तीः**=सेना के साथ शत्रुओं को पराजित करती हुई **यन्तु**=गतिवाली हों।

भावार्थ—हे सेनापते! तू आग्नेयास्त्रों का प्रयोग करती हुई सेना के साथ विजय को प्राप्त हो।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'वरंवरम् हन्तु'

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥ २०॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तया**=गतमन्त्र में वर्णित धूमशिखा व अग्निज्वाला से **प्रणुत्तानाम्**=रणांगण से दूर धकेले हुए **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **वरंवरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ योद्धाओं को **हन्तु**=आप मार डालें। **शचीपतिः**=शक्ति का स्वामी **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा शत्रुओं को मारे। **अमीषां कश्चन मा मोचि**=इनमें से कोई छूट न जाए।

भावार्थ—शत्रुओं के प्रमुख व्यक्तियों को मार डाला जाए, विवशता में इनका सर्वोच्छेद ही ठीक है।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शत्रुओं के दिलों का दहल जाना

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामुमित्रान्मोत मित्रिणः॥ २१॥

१. शत्रुओं के **हृदयानि**=हृदय **उत्कसन्तु**=शरीर से उद्गत हो जाएँ—उखड़ जाएँ। **प्राणः**=इन शत्रुओं का प्राणवायु **ऊर्ध्वः उदीषतु**=शरीर से ऊपर उठकर निकल जाए। **अमित्रान्**=शत्रुओं को **शौष्कास्यम्**=भय के कारण मुख का सूख जाना (निर्द्रवत्वम्) **अनुवर्तताम्**=अनुगत (प्राप्त) हो। **उत**=इसके विपरीत (On the other hand) **मित्रिणः मा**=हमारे मित्रभूत लोगों को आस्यशोष आदि प्राप्त न हो।

भावार्थ—हमारे शत्रुओं के दिल उखड़ जाएँ, उनके प्राण शरीर से निकलने को हों और आस्य (मुख) शोषण से वे मृत्यु को प्राप्त हों। हमारे मित्रों की ऐसी स्थिति न हो।

ऋषिः—काङ्कायनः ॥ देवता—अर्बुदिः ॥ छन्दः—सप्तपदाशक्वरी ॥

तूपराः बस्ताभिवासिनः

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २२॥

१. **ये च धीराः**=और जो धीर (धिया ईर्ते इति धीरः)—समझदार हैं, परन्तु **ये अधीराः**=जो शत्रु पर आक्रमण के लिए अति अधीर (चञ्चल) हैं, **च**=और **ये**=जो **पराञ्चः**=परे—दूर तक गति करनेवाले हैं, **बधिराः च**=आक्रमण की अधीरता में रुकने की किसी भी बात को न सुननेवाले हैं, **तमसाः**=आक्रमण के विषय में किसी भी विघ्न को न सोचनेवाले तमोगुण प्रधान हैं, **ये च**=और जो **तूपराः**=तोप के गोले के समान हिंसक हैं (तुप हिंसायाम्), **अथो**=और **बस्ताभिवासिनः**=(बस्त गतिहिंसायाचनेषु) सदा हिंसा में ही निवासवाले हैं, अर्थात् स्वभावतः क्रूर हैं, **सर्वान् तान्**=उन सबको, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्रेभ्यः दृशे**

कुरु=शत्रुओं के देखने के लिए कर च=और उदारान् प्रदर्शय=युद्ध की प्रकृष्ट आयोजनाओं को उनके लिए दिखा, जिससे वे शत्रु भयभीत होकर युद्ध की रुचि व उत्साह से रहित हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु हमारे योद्धओं के उत्साह व युद्ध की विशाल आयोजनाओं को देखकर भयभीत हो उठें और युद्ध के उत्साह को छोड़ दें।

ऋषिः—**काङ्क्षायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अर्बुदि + त्रिषन्धिः च

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान्नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहुन्हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः॥ २३॥

१. **अर्बुदिः च**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला सेनापति **च**=और **त्रिषन्धिः**=तीनों 'जल, स्थल और वायु' सेनाओं का अधिष्ठाता राजा **नः अमित्रान्**=हमारे शत्रुओं को **विविध्यताम्**=विद्ध करें। इसप्रकार इन्हें विद्ध करें कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक, **वृत्रहन्**=राष्ट्र को घेरनेवालों को नष्ट करनेवाले, **शचीपते**=शक्ति के स्वामिन् राजन्! **यथा**=जिससे **एषाम्**=इन **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **सहस्रशः हनाम**=हज़ारों को ही एक उद्योग से हम मारनेवाले हों।

भावार्थ—शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला सेनापति तथा 'जल, स्थल व वायु' सेनाओं का शासक राजा हमारे शत्रुओं को इसप्रकार विद्ध करें कि हज़ारों शत्रु एक ही उद्योग से नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**काङ्क्षायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

न अन्न की कमी, न योद्धाओं की

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २४॥

१. **वनस्पतीन्**=बिना पुष्प के फलवाले वृक्षों को, **वानस्पत्यान्**=फूलों के बाद फल देनेवाले वृक्षों को (वानस्पत्यं फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः) **ओषधीः**=व्रीहि-यव आदि **उत**=तथा **वीरुधः**=विरोहणशील लताओं को, हे **अर्बुदे**=सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **दृशे कुरु**=दिखला। शत्रु को यह स्पष्ट हो जाए कि हम इन्हें घेरकर भूखा नहीं मार सकते। २. **गन्धर्वाप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु सरन्ति) पृथिवी का धारण करनेवाले व जल में विचरनेवाले सैनिकों को, **सर्पान्**=सर्पवत् कुटिल गतिवाले योद्धओं को, **देवान्**=विजिगीषुओं को **पुण्यजनान्**=पवित्रात्माओं को व **पितॄन्**=रक्षक पितरों को (बुजुर्गों को) **सर्वान् तान्**=उन सबको **च**=और **उदारान्**=युद्ध के विशाल आयोजनों को शत्रुओं के लिए **प्रदर्शय**=दिखा, जिससे वे युद्ध की पूरी तैयारी व सभी के सहयोग को देखकर युद्ध का उत्साह छोड़ दें।

भावार्थ—शत्रु को यह स्पष्ट हो जाए कि न तो यहाँ अन्न की कमी है, न ही योद्धओं की। इसप्रकार शत्रु युद्ध की पूरी तैयारी को देखकर भयभीत हो जाएँ और युद्ध से पराङ्मुख हो जाएँ।

ऋषिः—**काङ्क्षायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

देवानुग्रह से शत्रुओं पर शासन

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन्नदिते अर्बुदे तव॥ २५॥

१. हे **अर्बुदे**=सेनापते! **अमित्रेषु**=शत्रुओं पर **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होनेपर, उस आक्रमण को **समीक्षयन्**=(व्यत्येन एकवचनम्) देखते हुए **मरुतः**=वायुओं के समान वेगवान् भट, **देवः आदित्यः**=विजिगीषु, सूर्यसम तेजस्वी पुरुष तथा **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **वः**=(अमित्रेषु) तुम्हारे शत्रुओं पर **ईशाम् चक्रुः**=शासन करें। **इन्द्रः च अग्निः च**=शत्रुविद्रावक राजा, अग्निसम तेजस्वी सैनिक, **धाता मित्रा प्रजापतिः**=धारण करनेवाला, प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाला, प्रजा का रक्षक देव **वः ईशाम्** (**चक्रुः**)=शत्रुओं पर तुम्हारे शासन को स्थापित करे तथा **ऋषयः**=(ऋष् to kill) शत्रुसंहारक तत्त्वद्रष्टा लोग **वः ईशाम्** (**चक्रुः**)=शत्रुओं पर तुम्हारा शासन स्थापित करें।

भावार्थ—जब हमारे सेनापति द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण किया जाता है तब सब देव हमारी सहायता करते हैं और शत्रुओं पर हमारा शासन स्थापित होता है। (God helps those who help themselves)

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

मित्राः देवजनाः

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥ २६॥

१. **तेषाम्**=उन **सर्वेषाम्**=सब शत्रुओं के **ईशानाः**=शासक होने के हेतु से **उत्तिष्ठत**=उठो और **संनह्यध्वम्**=अपनी कमर कस लो—युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ। हे **मित्राः**=हमारे साथ स्नेहवाले **देवजनाः**=शत्रु विजिगीषावाले लोगो! **यूयम्**=तुम सब **इमं संग्रामं संजित्य**=इस संग्राम को सम्यक् जीतकर **यथालोकम्**=अपने-अपने स्थान पर, नियत पदों पर **वितिष्ठध्वम्**=विशेषरूप से स्थित होओ।

भावार्थ—हम सब मित्र व विजिगीषावाले होते हुए अपने शत्रुओं को परास्त करके ही दम लें।

शत्रुविनाश के लिए आवश्यक है कि हम अपना सम्यक् परिपाक करें (भ्रस्ज पाके), 'भृगु' बनें और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले-शक्तिसम्पन्न 'अङ्गिराः' बनें। यह 'भृगु अंगिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

शत्रुविद्रावण

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ १॥

१. हे **उदाराः**=औदार्यगुण से युक्त सेनानायको! **केतुभिः सह**=अपनी ध्वजाओं के साथ **उत्तिष्ठत**=युद्ध के लिए उठ खड़े होओ। **संनह्यध्वम्**=कवच आदि धारण करके युद्ध के लिए उद्युक्त हो जाओ। हे **सर्पाः**=सर्पवत् कुटिल गतिवाले सैनिको! **इतरजनाः**=सामान्य लोगों से भिन्न वीर पुरुषो! **रक्षांसि**=रक्षण समर्थ पुरुषो! **अमित्रान् अनुधावत**=शत्रुओं का शीघ्रता से पीछा करनेवाले बनो।

भावार्थ—देशरक्षा के लिए हम पताकाओं को लेकर उठ खड़े हों—सन्नद्ध हो जाएँ। हमारे वीर सैनिक शत्रुओं का पीछा करके उन्हें खदेड़ दें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—षट्पदात्रिष्टुब्गर्भाऽतिजगजी ॥

सुव्यवस्थित राष्ट्र

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥ २॥

१. **वः**:=तुम्हारा **राज्यम्**=राज्य **ईशां वेद**=शासनशक्ति को जानता है, अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र शासन की सुव्यवस्था है। हे **त्रिषन्धे**=जल, स्थल व वायु-सेना के साथ समर्थ राजन्! **अरुणैः केतुभिः सह**=विजय की सूचक अरुण वर्णवाली पताकाओं के साथ रहनेवाला जो तू है, उससे **त्रिषन्धेः**=तुम त्रिषन्धि के **चेतसि**=चित्त में वे सब **दुर्णामानः**=(दुर् नम्) दुष्टता को झुकानेवाले—राष्ट्र से दुष्टता को दूर करनेवाले **मानवाः**=विचारशील पुरुष **उपासताम्**=समीपता से रहनेवाले हों—**ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में निवास करनेवाले हैं, अर्थात् जो ज्ञान में विचरण करते हुए सदा मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करते हैं, **ये अन्तरिक्षे**=जो उपासना-प्रवृत्त लोग सदा हृदयान्तरिक्ष में निवास करते हैं, **ये च**=और जो सामान्य व्यवहार में प्रवृत्त लोग **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में शासन सुव्यवस्थित हो। राजा की विजयसूचक पताकाएँ सदा फहराती रहें। राजा दुष्टता को दूर करनेवाले उन सब पुरुषों का ध्यान करे(रक्षण करे) जोकि 'ज्ञान, उपासना व पार्थिव (संसारी) व्यवहार' में प्रवृत्त हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः ॥

अयोमुखाः सूचीमुखाः

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान्वज्रेण त्रिषन्धिना॥ ३॥

१. इस **वज्रेण**=वज्र-तुल्य दृढ़ शरीरवाले (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) **त्रिषन्धिना**='जल, स्थल व वायु' सेना के अध्यक्ष से प्रयुक्त हुए-हुए ये बाण **अमित्रान् आसजन्तु**=शत्रुओं को जा-जाकर लगें। जो बाण **अयोमुखाः**=लोहे के समान कठोर मुखवाले हैं, **सूचीमुखाः**=सूई के समान तीक्ष्ण चोंचवाले हैं **अथो**=और **विकङ्कतीमुखाः**=कंघी के समान मुखवाले हैं, **क्रव्यादः**=कच्चे मांस को खा-जानेवाले हैं और **वातरंहसः**=वायु के समान वेगवाले हैं।

भावार्थ—हमारे वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले त्रिषन्धि सेनानी से छोड़े गये तीक्ष्ण बाण शत्रुओं को विद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—विराडनुष्टुप् ॥

सुहिता सेना

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु। त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे॥ ४॥

१. हे **जातवेद**=उत्पन्न ज्ञानवाले—समझदार **आदित्य**=(आदानात्, दाप् लवने) समन्तात् शत्रुओं का खण्डन करनेवाले सेनापते! तू **बहु कुणपम्**=बहुत शवों को **अन्तः धेहि**=यहाँ रणांगण में स्थापित करनेवाला हो, अर्थात् सहस्रशः शत्रुओं को धराशायी करनेवाला बन। २. **इमम्**=यह **सुहिता**=सम्यक् धारण की गई **मे सेना**=मेरी सेना **त्रिषन्धेः**='जल, स्थल व वायु' सेना से मेलवाले मुख्य सेनापति के **वशे अस्तु**=वश में हो।

भावार्थ—हमारा सेनापति समझदार, उपायकुशल (full of resources) व शत्रुओं का समन्तात् छेदन करनेवाला बने। सम्यक् धारण की गई यह सेना उसके वश में हो। विजय के

लिए आवश्यक है कि हमारी सेना सुशिक्षित हो, उसका सम्यक् पालन किया जाए तथा वह पूर्णतया सेनापति के शासन में हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

युद्धयज्ञ में प्राणाहुति

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

१. हे **देवजन**=शत्रु को जीतने की कामनावाले! **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **सेनया सह**=सेना के साथ **त्वम् उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो—युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जा। **अयम्**=यह **बलिः**=युद्ध-यज्ञ में आत्मबलि **वः आहुतः**=आपके द्वारा दी गई है। युद्ध में देशरक्षा के लिए प्राणों तक को आहुत कर देनेवाले ये सैनिक हैं। यह **आहुतिः**=प्राणों को युद्ध-यज्ञ में आहुत कर देना **त्रिषन्धेः प्रिया**='जल, स्थल व वायु-सेना' के सेनापति को प्रिय है।

भावार्थ—सेनापति सेना के साथ शत्रु के मुक़ाबले के लिए सन्नद्ध हो जाए। सेना द्वारा देशरक्षा के लिए युद्ध में अपने प्राणों की बलि दी जाती है। युद्ध-यज्ञ में पड़नेवाली यह प्राणों की आहुति सेनापति को प्रिय ही लगती है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शितिपदी—चतुष्पदी

शितिपदी सं द्यतु शरव्येऽइयं चतुष्पदी।
कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥ ६ ॥

१. **शितिपदी**=(शी to sharpen) तीव्र गतिवाली—तीक्ष्ण चरणोंवाली, **इयम्**=यह **चतुष्पदी**=(हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गचतुष्टयम्) 'हाथी, घोड़े, रथ व पैदल' इन चारों सेनाओंवाली **शरव्या**=(शरौ कुशला) बाणविद्या में कुशल सेना **संद्यतु**=शत्रुओं का खण्डन करनेवाली हो। २. हे **कृत्ये**=शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेने! तू **त्रिषन्धेः सेनया सह**=त्रिषन्धि की इस 'जल, स्थल व वायु' सेना के साथ **अमित्रेभ्यः भव**=शत्रुओं के विनाश के लिए हो ('मशकाय धूमः' की भाँति यहाँ चतुर्थी का प्रयोग है)।

भावार्थ—सेना तीव्र गतिवाली हो, वह 'हाथी, घोड़े, रथ व प्यादों' से युक्त हो, बाणविद्या में कुशल हो, यह शत्रुओं का छेदन करनेवाली हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

धूमाक्षी कृधुकर्णी

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

१. **धूमाक्षी**=आग्नेयास्त्रों के धुएँ से आवृत आँखोंवाली, **कृधुकर्णी च**=और पटहध्वनि से हतश्रवण सामर्थ्यवाली (अल्पश्रोत्रा) परकीया सेना **क्रोशतु**=किंकर्त्तव्यतामूढ़ बनी हुई आक्रोश करे। २. इसप्रकार **त्रिषन्धेः**='जल स्थल व वायुसेना' के सेनापति की **सेनया**=सेना के द्वारा **जिते**=शत्रु को जीत लेने पर **अरुणाः केतवः सन्तु**=हमारी अरुण वर्ण की पताकाएँ फहराएँ। हमारी विजयसूचक अरुणवर्ण की पताकाएँ आकाश में फहराएँ।

भावार्थ—शत्रुसेना हमारे आग्नेयास्त्रों के धूम से व्याकुल आँखोंवाली व युद्ध-वाद्य की ध्वनि से विनष्ट श्रवण सामर्थ्यवाली होकर चीखें व चिल्लाएँ। हमारी अरुण वर्ण की विजय-पताकाएँ

आकाश में फहराएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥

मृत शत्रुसैन्य पर

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम्॥ ८ ॥

१. हमारी विजय होने पर मृतशत्रुसैन्य पर मांसभक्षण के लिए वे **पक्षिणः**=पक्षी **अव अयन्ताम्**=नीचे उतरें (अवाङ्मुखं निपद्यन्ताम्) **ये वयांसि**=जो कौवे आदि पक्षी **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षे में **चरन्ति**=गतिवाले होते हैं, तथा **ये दिवि**=जो गिद्ध-चील आदि द्युलोक में—बहुत ऊपर आकाश में विचरते हैं। २. **श्वापदः**=कुत्ते, गीदड़ आदि श्वापद, **मक्षिका** :=मक्खियाँ **संरभन्ताम्**=शवों के भक्षण के लिए उद्यत हों (अपक्रमन्ताम्) तथा **आमादः**=कच्चा मांस खानेवाले **गृध्राः**=गिद्ध **कुणपे**=शवों पर **रदन्ताम्**=अपनी चोंचों व पञ्जों से विलेखन करें।

भावार्थ—मृतशत्रुसैन्य के शव पक्षियों, हिंस्रपशुओं, मक्खियों व गिद्धों का भोजन बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—पुरोविराड्पुरस्ताऽऽज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

इन्द्रसन्धा

यामिन्द्रेण सन्धां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते।
तयाऽहमिन्द्रसन्धया सर्वान्देवानिह हुव इतो जयत मामुतः॥ ९ ॥

१. हे **बृहस्पते**=बृहतीसेना के पति! **यां सन्धाम्**=जिस प्रतिज्ञा का **इन्द्रेण ब्रह्मणा च**=मुझ शत्रुविद्रावक राजा तथा राष्ट्र के ज्ञानियों के साथ **समधत्थाः**=आपने संधारित किया है, **अहम्**=मैं इस राष्ट्र का शासक **तया इन्द्रसंधया**=उस राजा के द्वारा की गई प्रतिज्ञा के हेतु से **सर्वान् देवान्**=सब विजिगीषुओं को **इह**=यहाँ **हुवे**=पुकारता हूँ। हे देवो! आप **इतः जयत**=इन हमारी सेनाओं में जय को स्थापित करो **मा अमुतः**=उन शत्रुसेनाओं में नहीं।

भावार्थ—राजा प्रजा के चुने हुए ज्ञानी पुरुषों के साथ प्रजारक्षण की प्रतिज्ञा करता है। उस प्रतिज्ञा की पूर्त्यर्थ वह विजिगीषु पुरुषों को आमन्त्रित करता है और शत्रुओं को पराजित कर राष्ट्र का रक्षण करता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

असुरक्षयणं वधम्

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः। असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन्॥ १० ॥

१. **बृहस्पतिः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **आंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले देवमन्त्री ने तथा **ब्रह्मसंशिताः**=ज्ञान से तीक्ष्ण बने हुए **ऋषयः**=ऋषियों ने **दिवि**=विजिगीषा होने पर **असुरक्षयणं वधम्**=असुरों (दुष्ट शत्रुओं) का विनाश करनेवाले आयुधों तथा **त्रिषन्धिम्**='जल, स्थल, वायु' सेना के सेनापति का **आश्रयन्**=आश्रय किया।

भावार्थ—सेनापति के व अस्त्रों के ठीक होने पर ही विजय सम्भव है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओजसे च बलाय च

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च॥ ११ ॥

१. **येन**=जिस त्रिषन्धि सेनापति के द्वारा **गुप्तः**=रक्षित हुआ-हुआ **असौ**=वह **आदित्यः**=ज्ञान का आदान करनेवाला '**ब्राह्मण**' **च**=तथा **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक '**क्षत्रिय**' **उभौ**=दोनों **तिष्ठतः**=अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थित होते हैं, उस **त्रिषन्धिम्**='जल, स्थल व वायु' सेना के साथ मेलवाले सेनापति को **देवाः**=सब विजिगीषु लोग **अभजन्त**=सेवित करते हैं, जिससे **ओजसे च बलाय च**=वे वृद्धि के साधनभूत ओज को तथा शत्रुक्षय के साधनभूत बल को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—सेनापति के द्वारा शत्रुओं को परास्त करने पर सुरक्षित राष्ट्र में सब ब्राह्मण व क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थित होते हैं। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब देव ओजस्विता व बल का सम्पादन करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

बृहस्पति आङ्गिरस का वज्र

सर्वाँल्लोकान्त्समजयन्देवा आहुत्यानया।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्॥ १२॥

१. **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले शक्तिशाली शरीरवाले **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष ने **यम्**=जिस **असुरक्षयणम्**=असुरों का क्षय करनेवाले **वधम्**=आयुधभूत **वज्रम्**=वज्र को **असिञ्चत**=सिक्त किया—जिस क्रियाशीलतारूप वज्र को (वज् गतौ) अपनाया **अनया आहुत्या**=इस वज्ररूप आहुति के द्वारा **देवाः**=देवों ने **सर्वान्**=सब लोकों को **समजयन्**=जीत लिया। क्रियाशीलतारूपी वज्र से ही देव विजयी बनते हैं।

भावार्थ—जीवन में क्रियाशील बनकर हम सब आसुरभावों को परास्त करें और इसप्रकार शरीर में 'आङ्गिरस' तथा मस्तिष्क में बृहस्पति बनें। यही सब लोकों को जीतने का मार्ग है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

अमित्रान् हन्मि ओजसा

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान्हन्म्योजसा॥ १३॥

१. **आङ्गिरसः बृहस्पतिः**=शक्तिशाली ज्ञानीपुरुष ने **यम्**=जिस **असुरक्षयणं वधम्**=आसुरभावों के विनाशक आयुध **वज्रं असिञ्चतः**क्रियाशीलता को अपने जीवन में सिक्त किया, **तेन**=उसी क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **अहम्**=मैं **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसेना को **निलिम्पामि**=नितरां छिन्न करता हूँ। हे **बृहस्पते**=प्रभो! मैं अब **ओजसा**=ओजस्विता से **अमित्रान् हन्मि**=सब शत्रुओं को विनष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—क्रियाशीलता रूप वज्र से आसुरभावों का विनाश करते हुए हम शत्रुसैन्य को छिन्न कर डालें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञशीलता व आन्तर शत्रुविजय

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम्।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः॥ १४॥

१. **ये**=जो **वषट्कृतम्**=यज्ञ में वषट्शब्दोच्चारण पूर्वक आहुत किये हुए यज्ञशेष को ही **अश्नन्ति**=खाते हैं, वे **सर्वे**=सब **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **अत्यायन्ति**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं

का अतिक्रमण करके प्रभु के सम्मुख उपस्थित होते हैं। २. इसलिए हे समझदार पुरुषो! **इमां आहुतिं जुषध्वम्**=इस आहुति का सेवन करनेवाले बनो। इस यज्ञशीलता के द्वारा **इतः जयत**=इधर से विजय प्राप्त करो, अर्थात् शरीरस्थ शत्रुओं को जीतने में समर्थ होओ। **मा अमुतः**=दूर से—बाहर से विजय करनेवाले ही न बनो। बाह्यशत्रुओं को जीतने का वह महत्त्व नहीं, जोकि अन्तःशत्रुओं को जीतने का महत्त्व है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर अन्तःशत्रुओं के विजेता बनें। बाह्यशत्रुओं के विजय से ही अपने को कृतकृत्य न मान बैठें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महती सन्धा

सर्वे॑ दे॒वा अ॒त्याय॑न्तु त्रिष॑न्धेराहु॑तिः प्रि॒या।
स॒न्धां म॑ह॒तीं र॑क्षत॒ ययाग्रे॒ असु॑रा जि॒ताः॥ १५॥

१. **सर्वे देवाः**=सब विजिगीषु पुरुष **अति आयन्तु**=काम, क्रोध आदि को लाँघकर प्रभु के समीप प्राप्त हों। **त्रिषन्धेः**='जल, स्थल व वायु' सेना के सेनापति की **आहुतिः**=देशरक्षा के यज्ञ में दी गई प्राणों की आहुति **प्रिया**=प्रीति का सम्पादन करनेवाली है। 'तन-मन-धन' की आहुति देकर ही व्यक्ति मनुष्यों का व प्रभु का प्रिय बनता है। २. **महतीं संधाम्**=सर्वमहान् प्रतिज्ञा को कि '**यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्**' अब की बार संसार में आने पर अवश्य प्रभु की शरण में आऊँगा' गर्भावस्था में की गई इस सर्वमहान् प्रतिज्ञा को रक्षित करो। इस प्रतिज्ञा का पालन करते हुए, तुम इस बात को न भूलना कि यही वह महती संधा है **यया**=जिसके द्वारा **अग्रे**=सर्वप्रथम **असुराः जिताः**=देवों द्वारा असुरों का पराजय किया गया।

भावार्थ—हम तन, मन, धन की लोकहित के यज्ञ में आहुति देते हुए प्रभु को प्राप्त करें। इस आहुति से ही तो प्रभु को प्राप्त करने के लिए देव, असुरों का पराजय करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाककुम्मत्यनुष्टुप्त्रिष्टुब्गर्भाशक्वरी** ॥

'वायु, इन्द्र, आदित्य व चन्द्र' देव-सम्बन्धी अस्त्र

वा॒युर॒मित्रा॑णामिष्व॒ग्राण्याञ्च॑तु।
इन्द्र॑ एषां बा॒हून्प्रति॑ भनक्तु मा श॑कन्प्रति॒धामिषु॑म्।
आ॒दि॒त्य ए॑षाम॒स्त्रं वि ना॑शयतु च॒न्द्रमा॑ युता॒मग॑तस्य॒ पन्था॑म्॥ १६॥

१. **वायुः**=हमारा वायव्यास्त्र **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **इषु अग्राणि**=बाणों के अग्रभागों को **आ अञ्चतु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो—लक्ष्यप्राप्ति से पूर्व ही शत्रुबाणों को गिरा दिया जाए। **इन्द्रः**=ऐन्द्र (विद्युत् का) अस्त्र **एषाम्**=इन शत्रुओं की **बाहून् प्रतिभनक्तु**=भुजाओं को भग्न कर दे, इसप्रकार भग्न कर दे कि वे **इषुं प्रतिधाम्**=बाण को पुनः धनुष पर धारण करने के लिए **मा शकन्**=मत समर्थ हों। २. **आदित्यः**=आग्नेयास्त्र (आदित्य का) **एषाम्**=इन शत्रुओं के **अस्त्रम्**=अस्त्रों को **विनाशयतु**=नष्ट कर दे। इनके सामर्थ्य को कुण्ठित करके समाप्त कर दे। **चन्द्रमाः**=चन्द्र-सम्बन्धी-(वारुणास्त्र)-अस्त्र **अगतस्य**=हम तक आने की इच्छावाले, परन्तु हम तक न पहुँचे हुए शत्रु के **पन्थाम्**=मार्ग को **युताम्**=उससे पृथक् कर दे—शत्रु को हम तक पहुँचने का मार्ग ही प्राप्त न हो।

भावार्थ—विविध अस्त्रों के प्रयोग से हम शत्रु को हमपर आक्रमण के अयोग्य बना दें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

देवों का ब्रह्मरूप वर्म

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि॥ १७॥

१. **यदि**=(यदा) जब **देवपुराः**=देवनगरियों में निवास करनेवाले व्यक्ति **प्रेयुः**=शत्रु पर आक्रमण के लिए चलते हैं तब **ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे**=ज्ञान को व प्रभु को अपना कवच बनाते हैं। इस ब्रह्मकवच से ये अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। २. ज्ञानपूर्वक तथा प्रभुस्मरणपूर्वक **तनूपानम्**=अपने शरीरों का रक्षण तथा **परिपाणम्**=समन्तात् राष्ट्र का रक्षण **कृण्वानाः**=करते हुए ये **सर्वं तत् अरसं कृधि**=उस सबको निःसार कर देते हैं, **यत्**=जो **उप अचिरे**=हमारे विषय में शत्रुओं ने हीन बातें कही हैं। शत्रुओं की अभिमान भरी बातों को, उन्हें परास्त करके, ये व्यर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—देवलोग प्रभु को अपना कवच बनाकर शत्रु पर आक्रमण करते हैं। शत्रुओं को परास्त करके ये उनकी डींगों को समाप्त कर देते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मृत्युना च पुरोहितम्

क्रव्यादानुवर्तयन्मृत्युना च पुरोहितम्। त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान्प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

१. हे **त्रिषन्धे**='जल, स्थल व वायु' सेना के अध्यक्ष! तू **क्रव्यादा**=मांसभक्षक पशुओं से इन शत्रुओं को **अनुवर्तयन्**=अनुव्रत करता हुआ, **च**=और **मृत्युना पुरोहितम्**=मृत्यु ही जिसके सामने खड़ी है, अर्थात् जो अब शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा, उस शत्रु को **सेनया प्रेहि**=सेना के साथ आक्रान्त कर, **जय**=इन शत्रुओं को जीत ले तथा **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=इन शत्रुओं के मध्य में विजेता के रूप में प्रवेश करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा त्रिषन्धि सेनापति शत्रुओं को परास्त करके विजेता के रूप में उनके मध्य में, सन्धि आदि के लिए, प्रवेश करे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

तमसा परिवारय (मोहनास्त्र)

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान्परि वारय। पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

१. **त्रिषन्धे**=हे 'जल, स्थल व वायु' सेना का सन्धान करनेवाले सेनापते! **त्वम्**=तू **तमसा**=धूम्रास्त्र द्वारा उत्पन्न किये गये अन्धकार से **अमित्रान् परिवारय**=शत्रुओं को घेर ले। शत्रु चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार में होते हुए किंकर्त्तव्यमूढ़-से बन जाएँ। २. **पृषद् आज्य-प्रणुत्तानाम्**=(पृष to kill आज्य=अंज् to go) विनाशकारी आक्रमण (धावे) से परे धकेले हुए **अमीषाम्**=उन शत्रुओं में **कश्चन मा मोचि**=कोई भी छूटे नहीं। सब शत्रुओं का सफाया ही कर दिया जाए।

भावार्थ—त्रिषन्धि को चाहिए कि वह शत्रुसैन्य को, अन्धकार-ही-अन्धकार में करके, विनाशक आक्रमण द्वारा समाप्त कर दे।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शत्रुसैन्य सम्मोहन

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः। मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥

१. **शितिपदी**=(शि to sharpen) शीघ्र व तीव्र गतिवाली हमारी सेना **संपततु**=शत्रुसैन्य पर टूट पड़े। **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः**=वे दूरस्थ **सिचः**=सेनापक्तियाँ हमारी सेना द्वारा आक्रान्त की जाएँ। **अद्य**=आज **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः सेना**=वे सेनाएँ, हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर धावा बोलनेवाले सेनापते! **मुह्यन्तु**=हमारी सेनाओं के आक्रमण से मूढ़ हो जाएँ।

भावार्थ—हमारी सेनाओं के प्रबल आक्रमण से शत्रुसैन्य सम्मूढ़ हो जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

जहि एषां वरं वरम्

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्ये॑षां वरंवरम्। अनया जहि सेनया॥ २१॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर धावा बोलनेवाले सेनापते! **अमित्राः**=जो शत्रुसेनाएँ **मूढा**=मोहावस्था में चली गई हैं, **एषाम्**=इनके **वरंवरम् जहि**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ—चुने हुए वीरों को मार डाल। **अनया सेनया**=इस सेना के द्वारा **जहि**=इन्हें विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—मूढ़ बनी हुई शत्रुसेनाओं के मुख्य व्यक्तियों को चुन-चुनकर मार डाला जाए। शत्रु को पराजित करने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्यापाश—कवचपाश—रथपाश

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥ २२॥

१. **यः च कवची**=जो कवचवाला है, **यः च अकवचः**=और जो कवच नहीं पहने हुए है, **यः च अमित्रः**=और जो शत्रु **अज्मनि**=(अजति अनेन इति अज्म रथः) रथारूढ़ है, वह **ज्यापाशैः**=धनुर्गत मौर्वी के पाशों से, **कवचपाशैः**=कवच के पाशों से तथा **अज्मना**=रथगत पाशों से **अभिहतः**=हिंसित हुआ-हुआ **शयाम्**=रणांगण में लेटे।

भावार्थ—कवचधारी शत्रुसैनिक मौर्वी पाशों से हिंसित किये जाएँ, बिना कवचवाले कवचपाशों से हिंसित हों तथा रथस्थ रथपाशों का शिकार बनें। इसप्रकार हम शत्रुसैन्य को पराजित करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्मिणः—सादिनः

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम्॥ २३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान्हतान्गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः॥ २४॥

१. **ये**=जो **अमित्राः**=शत्रु **वर्मिणः**=शस्त्रवारक कवच से युक्त हैं, **ये अवर्माणः**=जो कवचरहित हैं, **ये च वर्मिणः**=और जो कवचव्यतिरिक्त शस्त्रनिवारक साधन से युक्त हैं, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **हतान् तान् सर्वान्**=तेरे द्वारा मारे हुए उन सबको **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **श्वानः अदन्तु**=कुत्ते खाएँ। २. **ये रथिनः**=जो शत्रु रथी हैं, **ये अरथाः**=जो रथरहित हैं, **असादाः**=जो अश्वादि यानों से रहित पदाति हैं, **ये च सादिनः**=और जो अश्वारूढ़ हैं, **हतान् तान् सर्वान्**=मारे हुए उन सबको **गृध्राः**=गिद्ध **श्येनाः**=बाज और **पतत्रिणः**=चील-कौवे आदि पक्षी **अदन्तु**=खाएँ।

भावार्थ—'कवचधारी, बिना कवचवाले, रथी, अरथ, पदाति व घुड़सवार' सभी शत्रुसैनिक रणांगण में मृत होकर कुत्तों, गिद्धों, बाजों व चील-कौवे आदि का भोजन बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**ककुभुष्णिक्** ॥

शत्रुसेना का पूर्ण पराजय

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता॥ २५॥

१. **आमित्री सेना**=शत्रुसेना हमारी सेना को प्राप्त करके **वधानाम्**=हनन-साधन आयुधों का **समरे**=(सम्-अर) संगमन होने पर **विविद्धा**=विविध शस्त्रपातों से मारी हुई **सहस्रकुणपा**=असंख्यात शवों से युक्त हुई-हुई **ककजाकृता**=(खण्डशः कृता, Mutilated आप्टे) टुकड़े-टुकड़े की हुई **शेताम्**=रणांगण में शयन करे।

भावार्थ—हम शत्रुसेना को खण्डशः करके (कुचल कर) रणांगण में सुलानेवाले बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

शत्रु का 'मर्माहत व धराशायी' होना

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति॥ २६॥

१. **यः**=जो **अमित्रः**=शत्रु **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **प्रतीचीम्**=शत्रु के अभिमुख जाती हुई **आहुतिम्**=युद्धयज्ञ में डाली गई बाण-प्रक्षेपरूप आहुति को (हु दाने) **युयुत्सति**=युद्ध करने के लिए चाहता है, अर्थात् जो हमारे आक्रमण को रोकने का प्रयत्न करता है, उस शत्रु को **अदन्तु**=गिद्ध आदि पक्षी खानेवाले बनें। २. उस शत्रु को, जोकि **सुपर्णैः**=शोभनपतन शरों से **मर्माविधम्**=मर्मस्थलों में विद्ध हुआ है, **दुश्चितम्**=(दुःखैः पूरितम्) दुःखों से जिसका हृदय भरा हुआ है—जिसे चारों ओर संकट-ही-संकट दीखता है—अतएव **रोरुवतम्**=अतिशयेन विलाप कर रहा है, **मृदितम्**=जो युद्ध में चूर्णीभूत (पिसा-हुआ) हो गया है, और **शयानम्**=भूमि पर लेट गया है—धराशायी हो गया है, ऐसे शत्रु को गिद्ध आदि पक्षी खा जाएँ।

भावार्थ—जो हमारे शरप्रक्षेप के विरोध में युद्ध करना चाहता है, वह मर्माहत होकर धराशायी हो जाए और गिद्धों का भोजन बने।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रिषन्धिना वज्रेण

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना॥ २७॥

१. **देवाः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले योद्धा युद्धयज्ञ में **याम्**=जो बाणप्रक्षेपरूप आहुति **अनुतिष्ठन्ति**=प्रदान करते हैं, **यस्याः**=जिस आहुति की **विराधनम्**=विराद्धि—मोघवीर्यता—असफलता **नास्ति**=नहीं है **तया**=उस आहुति से **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा **वृत्रहा**=राष्ट्र के घेरनेवालों का नाशक होता हुआ **त्रिषन्धिना**='जल, स्थल व वायु'—तीनों सेनाओं से मेलवाले **वज्रेण**=गतिशील व वज्रसंहनन मुख्यतम सेनापति के द्वारा **हन्तु**=शत्रुओं को नष्ट करे।

भावार्थ—शत्रुविद्रावक राजा वज्रतुल्य दृढ़शरीरवाले सेनापति के द्वारा बाणों की प्रक्षेपरूप आहुति से शत्रुओं को नष्ट कराए।

॥ **इत्येकादशं काण्डम्** ॥

अथ द्वादशं काण्डम्

यहाँ प्रथम सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—यह स्थिरवृत्ति का है (न थर्वति) तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्तिवाला है (अथ अर्वाङ्)। यह स्वार्थ के लिए न जीकर परार्थ में प्रवृत्त होता है, पृथिवी को अपना घर बनाता है। इसकी धारणा है कि—

अथ षड्विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पृथिवीं धारयन्ति

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ १॥

१. '**बृहत् सत्यम्**=वृद्धि का कारणभूत सत्य, **उग्रं ऋतम्**=प्रबल तेजस्विता का साधक—ऋत, अर्थात् भौतिक क्रियाओं का ठीक समय व ठीक स्थान पर करना, **दीक्षा**=व्रतग्रहण, **तपः**=तप, **ब्रह्म**=ज्ञान और **यज्ञः**=यज्ञ'—ये बातें **पृथिवीं धारयन्ति**=पृथिवी का धारण करती हैं। जब एक राष्ट्र में लोग, 'सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञों' को अपनाते हैं तब वह राष्ट्र उत्तम बनता है। २. **सा**=वह **नः**=हमारे **भूतस्य भव्यस्य पत्नी**=भूत और भविष्य का रक्षण करनेवाली—हमारे भूत और भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाली **पृथिवी**=पृथिवी **नः**=हमारे लिए **उरुं लोकम्**=(उरु exellent) उत्तम प्रकाश को व विशाल स्थान को **कृणोतु**=करे। इस पृथिवी पर सत्य आदि का पालन करते हुए हम पृथिवी का धारण करते हैं। धारित हुई-हुई यह पृथिवी हमारे भूत व भविष्यत् को उज्ज्वल बनाती है और हमारे लिए उत्तम प्रकाश को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—हम 'सत्य, ऋत, दीक्षा, ब्रह्म व यज्ञ'-मय जीवनवाले होते हुए इस पृथिवी का धारण करें, पृथिवी हमारे भूत व भविष्य को अर्थात् सम्पूर्ण जीवन को उज्ज्वल बनाएगी तथा हमारे लिए प्रकाशमय जीवन को प्राप्त कराएगी—इस विस्तृत पृथिवी पर हम सब परस्पर प्रेम से रह पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

पृथिवी माता की विशाल गोद

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ २॥

१. पृथिवी 'पृथिवी' है—सचमुच पर्याप्त विस्तारवाली है। यह अपनी गोद में मानवों के लिए पर्याप्त स्थान रखती है। उनके परस्पर सम्बाध=टकराने की यहाँ आवश्कता ही नहीं। सामान्यतः एक देश व दूसरे देश के मध्य में पर्वत व नदी, सिन्धु आदि की इसप्रकार की एक स्वाभाविक सीमा-सी बनी हुई है कि एक-दूसरे से लड़ने की सुविधा व सम्भावना ही कम हो जाती है। इसप्रकार **मानवानाम्**=मनुष्यों के **असम्बाधम् मध्यतः**=परस्पर न टकराने की व्यवस्था करती हुई, **यस्याः**=जिस पृथिवी के **उद्वतः**=(Height, elevatives, declivity, precipice) उच्चस्थल, **प्रवतः**=(Declivity, precipice) ढलान व **समम्**=समस्थल **बहु**=बहुत हैं। **या**=जो

पृथिवी **नानावीर्याः**=विविध शक्तियोंवाली **ओषधीः**=ओषधियों को **बिभर्ति**=धारण करती है, वह पृथिवी **नः प्रथताम्**=हमारी शक्तियों का विस्तार करे और **नः राध्यताम्**=हमारे लिए कार्यों में सिद्धि को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—पृथिवी विशाल है—समझदार व्यक्तियों को यहाँ परस्पर टकराने (सम्बाध) की आवश्यकता नहीं। पृथिवी के उच्चस्थल, ढलान व समस्थल बहुत हैं। वे भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों के रहने के लिए पर्याप्त हैं। यह पृथिवी विविध ओषधियों को जन्म देती हुई हमें शक्ति-सम्पन्न बनाती है और सफल करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥ ३॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी में **समुद्रः**=समुद्र हैं, **उत**=और **सिन्धुः**=प्रवाहमयी नदियाँ हैं, **आपः**=झील आदि के रूप में जल हैं, **यस्याम्**=जिसमें **कृष्टयः**=श्रमशील कृषकजन **अन्नं संबभूवुः**=अन्न उत्पन्न करते हैं। २. **यस्याम्**=जिस पृथिवी में **इदम्**=यह **प्राणत् एजत्**=प्राणधारण करनेवाले गतिशील प्राणी **जिन्वति**=अन्न-जल से तृप्ति का अनुभव करते हैं, **सा**=वह **भूमिः**=भूमि **नः**=हमें **पूर्वपेये दधातु**=पालनात्मक व पूरणात्मक (पृ पालनपूरणयोः) दुग्ध-रस आदि पेय पदार्थों में (पयः पशूनां रसमोषधीनाम्) **दधातु**=धारण करे। हमें दुग्ध-रस आदि प्राप्त कराके पुष्टि देनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु ने इस पृथिवी पर समुद्रों, नदियों व झील आदि द्वारा पानी की सुव्यवस्था की है। यहाँ श्रमशील मनुष्य अन्न के उत्पादन का ध्यान करते हैं और अन्न-रस द्वारा तृप्ति का अनुभव करते हुए अपना धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

गोदुग्ध+अन्न

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

१. **यस्याः पृथिव्याः**=जिस पृथिवी की **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ प्रकर्षवाली हैं—जिससे सब ओर विविध सौन्दर्य है। **यस्याम्**=जिसमें **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **अन्नं संबभूवुः**=अन्न को सम्यक् उत्पन्न करते हैं। २. **या**=जो पृथिवी **बहुधा**=बहुत प्रकार से **प्राणत् एजत्**=प्राणधारण करनेवाले गतिशील प्राणियों का **बिभर्ति**=भरण व पोषण करती है। **सा भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमें **गोषु**=गौओं में **अन्ने अपि**=तथा अन्न में भी **दधातु**=स्थापित करे। गोदुग्ध हमारे लिए सदा सुलभ बना रहे तथा अन्न की हमें कमी न हो।

भावार्थ—इस पृथिवी की सभी दिशाएँ उत्तम हैं। यहाँ श्रमशील कृषकजन अन्न का उत्पादन करते हैं। यह सभी प्राणियों का धारण करती है। हमारे यहाँ गोदुग्ध व अन्न सदा सुलभ हों।

ऋषिः—**अथर्वाः** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

भग+वर्चस्

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पूर्वजनाः**=श्रेष्ठ—प्रथमस्थान में स्थित, सात्त्विकवृत्ति के पुरुष **विचक्रिरे**=विशिष्ट कर्मों को करते हैं। **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **असुरान् अभ्यवर्तयन्**=असुरों को आक्रान्त करते हैं (अभिवृत् to attack, assail) अर्थात् जहाँ असुर प्रबल नहीं हो पाते। २. वह **गवाम्**=गौओं की **अश्वानाम्**=घोड़ों की **च**=और **वयसः**=पक्षियों की **विष्ठाम्**=(वि-स्था) विविध रूप से रहने का स्थान बनी हुई **पृथिवी**=भूमि **नः**=हममें **भगं वर्चः**=ऐश्वर्य और तेज **दधातु**=धारण कराये। यह पृथिवी हमारे लिए ऐश्वर्य व तेज को देनेवाली हो।

भावार्थ—इस पृथिवी पर पालन व पूरण करनेवाले श्रेष्ठजन विविध कर्त्तव्य-कर्मों को करते हैं। यहाँ देव असुरों को प्रबल नहीं होने देते। यह पृथिवी गौओं, घोड़ों व पक्षियों का विशिष्ट स्थिति-स्थान है। यह पृथिवी हमारे लिए ऐश्वर्य व तेज का धारण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

'वसुधानी हिरण्यवक्षाः' पृथिवी

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६॥

१. यह **भूमिः**=पृथिवी **विश्वंभरा**=सबका भरण करनेवाली है, **वसुधानी**=निवास के लिए आवश्यक सब द्रविणों का धारण करनेवाली है, **प्रतिष्ठा**=सबका आधार है, **हिरण्यवक्षाः**=सारे जगत् को बसानेवाली है। २. **वैश्वानरं अग्निं बिभ्रती**=उत्तम अन्न व दुग्ध की समिधाओं व आहुतियों द्वारा हमारी जाठराग्नि का भरण करती हुई यह **इन्द्रऋषभा**=सूर्यरूप ऋषभवाली पृथिवी **नः**=हमें **द्रविणे दधातु**=धनों में धारण करे। पृथिवी 'गौ' है, सूर्य उसका 'ऋषभ' है। जैसे ऋषभ गौ में शक्ति का सेचन करता है, इसीप्रकार सूर्य इस पृथिवी में वृष्टिजल का सेचन करता है। तब यह पृथिवी अन्नादि द्रविणों को जन्म देनेवाली होती है।

भावार्थ—यह पृथिवी सबका भरण करनेवाली है, सब वसुओं का धारण करनेवाली, सबका आधार, सुवर्ण की खानोंवाली यह पृथिवी सब जगत् को बसानेवाली है। यह अन्नादि द्वारा हमारी जाठराग्नि को ईंधन प्राप्त कराती हुई, हमें सब द्रविणों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

मधु

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ७॥

१. **यां पृथिवीं भूमिम्**=जिस अतिशय विस्तारवाली भूमि का **अस्वप्नाः**=निद्रा व आलस्य से रहित **देवाः**=देव लोग **विश्वदानीम्**=सदा **अप्रमादम् रक्षन्ति**=प्रमादरहित होकर रक्षित करते हैं, **सा**=वह पृथिवी **नः**=हमारे लिए **प्रियं मधु**=प्रीणित करनेवाले मधुवत् मधुर अन्नों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे **अथो**=और इनके द्वारा **वर्चसा उक्षतु**=शक्ति से सिक्त करे।

भावार्थ—सब देव प्रमादशून्य होकर इस पृथिवी की रक्षा करते हैं। यह हमारे लिए मधु का दोहन करती हुई हमें शक्ति से सिक्त करे।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदाविराडष्टिः ॥

'सत्येनावृतम् अमृतम्' हृदयम्

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्यो॑मन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ ८॥

१. **या**=जो **अग्रे**=पहले **अर्णवे अधि**=महान् समुद्र में **सलिलम् आसीत्**=जलरूप ही थी, अर्थात् जल में ही लीन हुई-हुई थी (अद्भ्यः पृथिवी) जलों से ही तो इसकी उत्पत्ति होती है, **याम्**=जिस पृथिवी को **मनीषिणः**=ज्ञानी लोग **मायाभिः**=प्रज्ञानों के साथ **अनु अचरन्**=अनुकूलता से सेवित करते हैं। **सा भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमारे लिए **उत्तमे राष्ट्रे**=(मनीषियों से सेवित) उत्तम राष्ट्र में **त्विषिं बलं दधतु**=ज्ञानदीप्ति व बल को धारण करे। २. वह पृथिवी हमारे लिए 'त्विषि और बल' को धारण करे, **यस्याः पृथिव्याः**=जिस पृथिवी का—पृथिवी पर विचरण करनेवाले मनीषियों का—**हृदयम्**=हृदय **परमे व्योमन्**=परम व्योम, अर्थात् प्रभु में है (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०) और अतएव **सत्येन आवृतम्**=सत्य से आवृत है—प्रभुस्मरण से हृदय में असत्य के प्रवेश का सम्भव नहीं रहता, अतएव **अमृतम्**=अमृत है—विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं है।

भावार्थ—यह पृथिवी पहले जलरूप थी। इस पृथिवी पर मनीषी लोग ज्ञानपूर्वक विचरण करते हैं। पृथिवी पर विचरनेवाले इन मनीषियों का हृदय प्रभु में स्थित होता है—सत्य से आवृत होता है और विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं होता।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—परानुष्टुप् ॥

समानीः आपः

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **आपः**=जल **परिचराः**=चारों ओर गतिवाले हैं—सर्वत्र उपलभ्य हैं तथा **समानीः**=(सम् अन्) सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (अपोमयाः प्राणाः)। ये जल **अहोरात्रे**=दिन-रात **अप्रमादं क्षरन्ति**=प्रमादशून्य होकर संचलित हो रहे हैं। २. **सा**=वह **भूरिधारा**=अनन्त अथवा पालक व पोषक धाराओंवाली **भूमिः**=पृथिवी **नः**=हमारे लिए **पयः**=दुग्ध का—आप्यायन करनेवाली वस्तुओं का **दुहाम्**=प्रपूरण करे। **अथो**=और दुग्ध के प्रपूरण के द्वारा **वर्चसा उक्षतु**=वर्चस् से सिक्त करे—हमें यह शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—इस पृथिवी पर प्राणशक्तिप्रद जल चारों दिशाओं में बह रहे हैं। यह पृथिवी हमारे लिए दुग्ध के प्रपूरण के द्वारा शक्ति का सेचन करनेवाली बनती है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

शचीपति इन्द्र

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे। इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

१. **याम्**=जिस पृथिवी को **अश्विनौ**=सूर्य व चन्द्र **अमिमाताम्**=मापने में लगे हैं—पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हुए सूर्य व चन्द्र मानो पृथिवी को माप ही रहे हैं। **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **विष्णुः**=(आदित्यानामहं विष्णुः) सर्वाधिक देदीप्यमान विष्णु नामक आदित्य **विचक्रमे**=विशिष्ट

गतिवाला व पुरुषार्थवाला होता है। अथवा **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **विचक्रमे**=विविध सृष्टि (पदार्थों) को उत्पन्न करता है। २. **याम्**=जिस भूमि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, **शचीपतिः**=शक्ति व प्रज्ञान का स्वामी पुरुष **आत्मने**=अपने लिए **अनमित्राम्**=शत्रुरहित **चक्रे**=करता है। जितेन्द्रिय बनकर, शक्ति व प्रज्ञान के साथ विचरने पर, यहाँ कोई भी पदार्थ हमारे लिए हानिकर नहीं होता। **सा नः भूमिः**=वह हमारी भूमिमाता **मे**=मेरे लिए **पयः विसृजताम्**=दूध दे, जैसेकि **माता पुत्राय**=माता पुत्र के लिए दुग्ध देती है।

भावार्थ—सूर्य और चन्द्र से इस पृथिवी का मानो मापन हो रहा है। इन सूर्य-चन्द्र के द्वारा सर्वव्यापक प्रभु पृथिवी पर विविध वनस्पतियों को जन्म दे रहे हैं। यह पृथिवी शक्ति व प्रज्ञान के स्वामी जितेन्द्रिय पुरुष की मित्र है। यह भूमि हम पुत्रों के लिए आप्यायन के साधनभूत दुग्ध आदि पदार्थों को दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडष्टिः** ॥

अजीतः अहतः अक्षतः

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ते गिरयः**=तेरे ये छोटे-छोटे पहाड़, **हिमवन्तः पर्वताः**=हिमाच्छादित पर्वत और **ते अरण्यम्**=तेरा यह जंगल **स्योनम् अस्तु**=हमारे लिए सुखकर हो। तेरे गिरि हमारे लिए विविध ओषधियों को प्राप्त कराएँ, हिमाच्छादित पर्वत नदियों के उद्गम स्थान हों तथा अरण्य हमें सब काष्ठों को प्राप्त करानेवाले व हमारी गौवों के लिए चारागाहों के रूप में हों। २. मैं **पृथिवीम्**=अतिशयेन विस्तारवाली, **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्यां सा) प्राणियों की निवासस्थानभूत **पृथिवीम्**=पृथिवी पर **अजीतः**=अपराजित हुआ-हुआ **अक्षतः**=चोट न खाया हुआ **अहतः**=अहिंसित रूप में **अध्यष्ठाम्**=अधिष्ठित होऊँ। उस पृथिवी पर मैं अधिष्ठित होऊँ, जोकि **बभ्रुम्**=हम सबका भरण करनेवाली है, **कृष्णाम्**=जो कृषकों द्वारा कृष्ट हुई है, **रोहिणीम्**=सब वनस्पतियों को उत्पन्न करनेवाली है, **विश्वरूपाम्**=नाना प्रकार के प्राणियों से युक्त है, **ध्रुवाम्**=अपनी मर्यादा में स्थित है तथा **इन्द्रगुप्ताम्**=प्रभु द्वारा अथवा प्रभु के प्रतिनिधिरूप राजा द्वारा सुरक्षित हुई है।

भावार्थ—पृथिवी के 'गिरि, हिमाच्छादित पर्वत व अरण्य' हमारे लिए सुखकर हों। यह हमारा भरण करती है, कृषि द्वारा अन्नों को देती है, सब वनस्पतियों की उद्गमस्थली है। मैं अपराजित व अक्षत हुआ-हुआ इसपर स्थित होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

माता भूमिः—पुत्रोऽहं पृथिव्याः

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२ ॥

१. हे **पृथिवि**=पृथिवि! **यत्**=जो **ते**=तेरे **ऊर्जः**=(ऊर्क् अन्नं च रसं च—नि० ९.४१) अन्न और रस **ते**=तेरे **तन्वः**=शरीर से **संबभूवुः**=उत्पन्न होते हैं, **तासु**=उन अन्न-रस आदि में **नः**=हमें **अभिधेहि**=धारण कर और उन अन्न-रस आदि से **नः**=हमें **पवस्व**=पवित्र जीवनवाला बना।

पृथिवी का मध्य व केन्द्र शतशः स्वर्ण आदि धातुओं का उद्गमस्थल है। वह हमें इन हिरण्य आदि के साथ प्राप्त हो। २. **भूमिः माता**=यह भूमि माता है, **अहं पृथिव्याः पुत्रः**=मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। **पर्जन्यः पिता**=मेघ ही पिता है। **सः**=वह **उ**=निश्चय से **नः पिपर्तु**=हमें पालित व पूरित करे। भूमि माता है, पर्जन्य पिता है। पर्जन्य ही वृष्टिसेचन द्वारा भूमि में अन्नादि का उत्पादन करता है। मैं इनसे पालित इनका पुत्र हूँ।

भावार्थ—पृथिवी के मध्य व केन्द्र में शतशः स्वर्णादि धातुएँ स्थापित हैं। पृथिवी के शरीर से ही सब अन्न-रस आदि की उत्पत्ति होती है। यह भूमि माता इनके द्वारा हमारा पालन करती है। भूमि माता है, पर्जन्य पिता है। ये मेरा पालन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

यज्ञवेदि

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥ १३॥

१. **यस्यां भूम्याम्**=जिस भूमि पर **वेदिं परिगृह्णन्ति**=वेदि का ग्रहण करते हैं और **यस्याम्**=जिस भूमि पर वेदि को बनाकर, **विश्वकर्माणः**=सबके लिए (विश्व) कर्मों को करनेवाले विश्वकर्मा लोग **यज्ञं तन्वते**=यज्ञ का विस्तार करते हैं। २. **यस्यां पृथिव्याम्**=जिस पृथिवी पर **स्वरवः**=(A part of a sacrificial post) यज्ञ का स्तम्भ **ऊर्ध्वाः**=खूब ऊँचे-ऊँचे और **शुक्राः**=उज्ज्वल (चमकते हुए) **आहुत्याः पुरस्तात्**=आहुति से पूर्व **मीयन्ते**=मापकर बनाये जाते हैं, **सा**=वह **वर्धमाना**=इन यज्ञों से वृद्धि को प्राप्त होती हुई **भूमिः**=भूमि **नः वर्धयत्**=हमें बढ़ाये।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हम यज्ञवेदियों का निर्माण करके यज्ञों को करनेवाले बनें। यज्ञों से वृष्टि द्वारा (अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्) पृथिवी का वर्धन होता है। यह हमारा वर्धन करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

अ-द्वेष

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ १४॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **यः नः द्वेषत्**=जो भी हमसे द्वेष करता है, **यः पृतन्यात्**=जो सेना के द्वारा हमपर आक्रमण करता है, **यः**=जो **मनसा अभिदासात्**=मन से हमारा उपक्षय करता है—मन से हमारा अशुभ चाहता है, **यः वधेन**=जो हनन-साधन आयुधों से हमारा क्षय करता है, हे **पूर्वकृत्वरि**=शत्रुकृन्तन में सबसे प्रथम स्थान में स्थित **भूमे**=भूमिमातः! **नः तम्**=हमारे उस द्वेष्टा को **रन्धय**=वशीभूत कर अथवा विनष्ट कर (rend)।

भावार्थ—हे भूमिमातः! कुछ ऐसी व्यवस्था कर कि कोई हमारा 'द्वेष्टा, आक्रान्ता, अशुभेच्छु व हन्ता' न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

अमृत ज्योति

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५॥

१. हे **पृथिवि**=पृथिवि! **त्वत् जाताः**=तुझसे प्रादुर्भूत हुए-हुए—इस पार्थिव शरीर को प्राप्त हुए-हुए **मर्त्याः**=मनुष्य **त्वयि चरन्ति**=तुझपर ही विचरते हैं। **त्वम्**=तू **द्विपदः**=दो पाँववाले इन मनुष्यों को **बिभर्षि**=भृत व पोषित करती है, **त्वं चतुष्पदः**=तू ही चौपायों को धारण करती है। २. **इमे**=ये **पञ्च मानवाः**=‘ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद’ इन पाँच भागों में विभक्त मनुष्य **तव**=तेरे ही पुत्र हैं। **येभ्यः मर्त्येभ्यः**=जिन तेरे पुत्ररूप मर्त्यों के लिए **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों के द्वारा **अमृतं ज्योतिः**=अमृत ज्योति को—कृमिनाश द्वारा नीरोगता प्राप्त करानेवाले प्रकाश को **आतनोति**=विस्तृत करता है।

भावार्थ—पृथिवी से उत्पन्न ये प्राणी इस पृथिवी पर ही विचरते हैं—यह पृथिवी मनुष्यों व पशु-पक्षियों का धारण करती है। ‘ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पाँच भागों में विभक्त तेरे रूप इन मर्त्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य अमृत ज्योति देता है।’

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

समग्राः वाचः मधु

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥ १६॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ताः**=वे **नः**=हमारी **प्रजाः**=प्रजाएँ—सन्तान **समग्राः वाचः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाणियों का **संदुह्रताम्**=सम्यक् दोहन करें, अर्थात् वे खूब ज्ञान की रुचिवाली बनें और हे पृथिवि! तू **मह्यम्**=मेरे लिए **मधु धेहि**=माधुर्य को धारण कर। मैं सदा मधुरवाणी ही बोलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी सन्तानें ज्ञान प्रधान हों और हमारे जीवन में मधुरता हो। हम कभी कटु शब्द न बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

‘विश्व-सू’ पृथिवी

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥ १७॥

१. **विश्वस्वम्**=(सूः) सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाली, **ओषधीनां मातरम्**=ओषधियों की मातृभूत **ध्रुवाम्**=मर्यादा में स्थित, **पृथिवीम्**=अतिशयेन विस्तारवाली **भूमिम्**=इस भूमि पर **विश्वहा**=सदा **अनुचरेम्**=अनुकूलता से विचरण करें। यह पृथिवी इतनी विशाल है कि यहाँ परस्पर संघर्ष की आवश्यकता ही नहीं। २. इस पृथिवी पर हम विचरण करें जोकि **धर्मणा धृताम्**=धर्म से धारण की गई है, अर्थात् जब तक यहाँ रहनेवाले मनुष्य धर्म का पालन करते हैं तब तक यह पृथिवी भी सबका धारण करती हुई सुन्दर बनती है। **शिवाम्**=यह कल्याणकारिणी है और **स्योनाम्**=सुख-दा है। अध्यात्म दृष्टिकोण से व भौतिक दृष्टिकोण से—दोनों ही दृष्टिकोणों से यह हमारा शुभ करती है।

भावार्थ—यह पृथिवी सब धनों को उत्पन्न करती है, ओषधियों को जन्म देती है। यह हमारे लिए मातृवत् कल्याणकारिणी है। धर्म के द्वारा इसका धारण होता है (धर्मो धारयते प्रजाः)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी** ॥

महत् सधस्थम्

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे। महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥ १८॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! तू **महत् सधस्थम्**=मिलकर रहने का महान् स्थान है, **महती**

बभूविथ=तू सचमुच विशाल है। **महान् ते वेगः**=तेरा वेग महान् है—तू तीव्र गतिवाली है। **एजथुः वेपथुः**=तेरा हिलना-डुलना भी महान् है—कम्प (भूकम्प) अति प्रबल है। **महान् इन्द्रः**=पूजनीय परमैश्वर्यशाली प्रभु **अप्रमादं त्वा रक्षति**=प्रमादरहित होकर तेरा रक्षण कर रहे हैं। २. हे भूमे! **सा**=वह तू **नः प्ररोचयः**=हमें दीप्त जीवनवाला बना। **हिरण्यस्य इव**=स्वर्ण की तरह **संदृशि**=दिखनेवाली—चमकती हुई दीप्त भूमे! तू ऐसी कृपा कर कि **कश्चन**=कोई भी **नः**=हमसे **मा द्विक्षत**=द्वेष न करे।

भावार्थ—यह विशाल पृथिवी हम सबके लिए मिलकर रहने की भूमि है। इसका वेग व कम्प महान् है—प्रभु इसके रक्षक हैं। यह हमें द्वेषशून्य व दीप्त जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

पृथिवी का मुख्य देव 'अग्नि'

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः॥ १९॥

१. **अग्निः भूम्याम्**=अग्नि इस भूमि पर मुख्य देव के रूप से है। **ओषधीषु**=सब ओषधियों में भी अग्नि है। **आपः अग्निं बिभ्रति**=जल अग्नि को धारण करते हैं। यह **अग्निः अश्मसु**=अग्नि पाषाणों में भी है। २. **अग्निः**=वैश्वानररूप से यह अग्नि **पुरुषेषु अन्तः**=पुरुषों के देह में निवास करता है। **गोषु अश्वेषु**=गौवों व घोड़ों में भी **अग्नयः**=पाचनशक्ति के रूप में अग्नियाँ हैं।

भावार्थ—पृथिवी का मुख्य अग्नि 'ओषधियों, जलों, पाषाणों, पुरुषों, गौवों व घोड़ों' में सर्वत्र निवास करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती** ॥

त्रिलोकी में 'अग्नि' का निवास

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्व१न्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम्॥ २०॥

१. **दिवः**=द्युलोक से यह **अग्निः आतपति**=सूर्यरूप अग्नि समन्तात् दीप्त हो रहा है। **देवस्य अग्नेः**=प्रकाशमय विद्युद्रूप अग्नि का ही यह **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष है। **मर्तासः**=इस पृथिवी पर स्थित मनुष्य उस **अग्निं इन्धते**=अग्नि को दीप्त करते हैं, जोकि **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का वहन करता है और **घृतप्रियम्**=घृत के द्वारा प्रीणित होनेवाला है, अर्थात् मनुष्य यहाँ यज्ञाग्नि को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—यह अग्नि द्युलोक में सूर्यरूप से है, अन्तरिक्ष में विद्युद्रूप से तथा इस पृथिवी पर यज्ञाग्नि के रूप में मनुष्यों से दीप्त किया जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

असित-ज्ञूः

अग्निवासाः पृथिव्य ऽसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥ २१॥

१. **पृथिवी**=यह भूमि **अग्निवासाः**=अग्निरूप वस्त्र को धारण किये हुए है तथा इसमें अग्नि का वास है—पृथिवी के अन्दर भी अग्नि तत्त्व है और बाहर भी। **असित-ज्ञूः**=यह 'अग्निवासाः पृथिवी' उस अबद्ध, (अ सक्त) प्रभु का ज्ञान दे रही है। इसपर उत्पन्न एक-एक पत्र-पुष्प उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। २. यह पृथिवी **मा**=मुझे **त्विषीमन्तम्**=ज्ञान की दीप्तिवाला व **संशितम्**=तेजस्वी **कृणोतु**=करे। इसका एक-एक पदार्थ मेरी उत्सुकता को बढ़ाता हुआ

मेरी ज्ञानवृद्धि का कारण बने और इसके पदार्थ मुझसे ठीक उपयुक्त हुए-हुए मुझे तेजस्वी बनाएँ।

भावार्थ—यह अग्निवासा पृथिवी मुझे भी ज्ञानाग्नि व तेजस्विता की अग्निवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडतिजगती** ॥

प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घजीवन

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

१. **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **देवेभ्यः**=वायु आदि देवो के लिए—इनकी शुद्धि के लिए—**अरंकृतम्**=सम्यक् सुसंस्कृत की हुई **हव्यम्**=हव्य सामग्री को तथा **यज्ञम्**=अग्नि के साथ घृतादि के सम्पर्क रूप (यज्ञ संगतिकरणे) यज्ञ को **ददति**=देते हैं। इस यज्ञ के द्वारा ही वस्तुतः **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **मर्त्याः मनुष्याः**=ये मरणधर्मा **स्वधया**=(पितृभ्यः स्वधा) वृद्ध माता-पिताओं के लिए दिये जानेवाले अन्न से तथा **अन्नेन**=स्वयं भुज्यमान अन्न से **जीवन्ति**=जीते हैं। यज्ञ ही मनुष्यों को आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं। २. **साः भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमारे लिए **प्राणम् आयुः**=प्राणशक्ति व दीर्घजीवन को **दधातु**=धारण करे। यह **पृथिवी**=पृथिवी **मा**=मुझे **जरदष्टिम्**=जरावस्थापर्यन्त पूर्ण दीर्घजीवन को व्याप्त करनेवाला **कृणोतु**=करे, अर्थात् यज्ञवेदि बनी हुई यह पृथिवी हमें प्राणशक्ति व प्रशस्त दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी पर यज्ञशील बनें। ये यज्ञ हमें स्वधा व अन्न प्राप्त कराएँ। इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घ जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिजगती** ॥

गन्धवती पृथिवी

यस्ते गन्धः पृथिवी संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २३॥

१. हे **पृथिवि**=भूमे! **यः ते गन्धः संबभूव**=जो तेरा गन्ध सर्वत्र विशेष गुणरूप से विद्यमान है। **यम्**=जिस गन्ध को **ओषधयः बिभ्रति**=ओषधियाँ धारण करती हैं, और **यम् आपः**=जिसको जल धारण करते हैं। **यम्**=जिस गन्ध को **गन्धर्वाः**=वेदवाणी के धारक ज्ञानी पुरुष **च**=तथा **अप्सरसः**=यज्ञादि कर्मों में संचरण करनेवाली स्त्रियाँ **भेजिरे**=सेवित करती हैं, **तेन**=उसी गन्ध से **मा**=मुझे **सुरभिं कृणु**=उत्तम गन्धवाला कर—मेरे जीवन को भी सुगन्धमय बना। २. मेरा जीवन इसप्रकार सुगन्धमय हो कि **कश्चन**=कोई भी **नः मा द्विक्षत**=हमसे द्वेष न करे।

भावार्थ—गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है। सब ओषधियाँ व पृथिवी पर होनेवाले इस गन्ध को धारण किये हुए हैं। ज्ञानी पुरुष व क्रियाशील स्त्रियाँ उत्तम यशोगन्धवाले होते हैं। हमारा जीवन भी ज्ञान व कर्म से यशस्वी व सुगन्धित हो। कोई भी हमसे द्वेष न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुब्गर्भाजगती** ॥

कमल-गन्ध

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २४॥

१. **यः**=जो, हे पृथिवि! **ते गन्धः**=तेरा गन्ध **पुष्करम् आविवेश**=कमल में प्रविष्ट हुआ है तथा **यं गन्धम्**=जिस गन्ध को **अमर्त्याः**=ये अमरधर्मा वायु आदि देव **सूर्यायाः**=उषाकाल

के **विवाहे**=विशिष्टरूप से प्राप्त होने पर **अग्रे संजभ्रुः**=आगे और आगे प्राप्त कराते हैं। सूर्योदय के अवसर पर कमल खिलते हैं और उनपर से बहनेवाला वायु उनके पराग-गन्ध को अपने साथ आगे ले-जाता है। हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **मा**=मुझे भी **तेन सुरभिं कृणु**=उस गन्ध से सुगन्धित जीवनवाला बना। २. जिस प्रकार वायुप्रवाह के साथ कमलगन्ध सर्वत्र प्रसृत होता है, उसी प्रकार मेरा जीवन सर्वतः यशोगन्ध से पूर्ण हो। उत्तमकर्मों को करता हुआ मैं यशस्वी बनूँ। **कश्चन**=कोई भी **नः मा द्विक्षत**=हमारे साथ द्वेष न करे।

भावार्थ—कमल-गन्ध की तरह हमारा जीवन उत्तम कर्मों की यशोगन्धवाला हो। हम सब के प्रिय बनें—किसी से हमारा द्वेष न हो। हम संसार-सरोवर में कमल की तरह अलिप्तभाव से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**सप्तपदोष्णिगनुष्टुबगर्भाशक्वरी**॥

भग-रुचि-वर्चस्

यस्ते॑ ग॒न्धः पुरु॑षेषु स्त्री॒षु पुं॒सु भगो॒ रुचिः॑।
यो अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो मृ॒गेषू॒त ह॒स्तिषु॑।
क॒न्या॑यां॒ वर्चो॒ यद्भू॑मे॒ तेना॒स्माँ अपि॒ सं सृ॑ज॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न॥ २५॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **यः ते गन्धः**=जो तेरा गन्ध **पुरुषेषु**=पौरुषयुक्त मनुष्यों में **स्त्रीषु**=स्त्रियों में तथा **पुंसु**=(पु) पवित्र जीवनवाले पुरुषों में है, **यः**=जो **मृगेषु**=हरिणों में **उत**=और **हस्तिषु**=हाथियों में है और **यत्**=जो **कन्यायाम्**=युवति कन्या में **वर्चः**=वर्चस् (तेजोदीप्ति) के रूप में है, **तेन**=उस गन्ध से—'ऐश्वर्य दीप्ति व वर्चस्' (भगः रुचिः वर्चः) से **अस्मान् अपि मा संसृज**=हमें भी संसृष्ट कर। हमारा जीवन ऐसा हो कि **नः**=हमें **कश्चन**=कोई भी **मा द्विक्षत**=द्वेष न करे। हमारे साथ सबकी प्रीति हो।

भावार्थ—इस पृथिवी के सम्पर्क से उस-उस स्थान पर 'भग, रुचि व वर्चस्' दिखता है। हमारा जीवन भी 'ऐश्वर्य, दीप्ति व तेजस्विता' वाला हो। हमारा सभी से प्रेम हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिला, भूमिः, अश्मा, पांसुः

शि॒ला भूमि॒रश्मा॑ पां॒सुः सा भूमिः॒ सन्धृ॑ता धृ॒ता।
तस्यै॒ हिर॑ण्यवक्षसे पृथि॒व्या अ॑करं॒ नमः॑॥ २६॥

१. यह पृथिवी कहीं **शिला**=शिला के रूप में है। ये शिलाएँ मकान आदि बनाने में उपयुक्त होती हैं। **भूमिः**=कहीं मैदानों के रूप में है, जहाँ कृषि से विविध अन्न उत्पन्न होते हैं। **अश्मा**=कहीं यह पत्थर-ही-पत्थर है, जिन्हें तोड़कर सड़कों व फर्श आदि के निर्माण में उपयुक्त किया जाता है। **पांसुः**=कहीं यह भूमि धूल के रूप में है, जिसे तेज़ वायु उड़ाकर आकाश में पहुँचा देती है और वहाँ यह मेघ के जलबिन्दुओं का केन्द्र बनती है। **सा भूमिः**=यह प्राणियों का निवासस्थानरूप पृथिवी **संधृता**=सम्यक् धारण की गई है, **धृता**=प्रभु ने इसे मर्यादा में स्थापित किया है। २. **तस्मै**=उस **हिरण्यवक्षसे**=हिरण्य को वक्षस्थल में लिये हुई, **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए **नमः अकरम्**=हम आदर करते हैं। 'इसको माता समझना तथा इससे दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही प्रयोग करना' इसका आदर है।

भावार्थ—यह पृथिवी 'शिलाओं, मैदानों, पत्थरों व धूलि' के भिन्न-भिन्न रूपों में है। प्रभु से धारित व मर्यादा में स्थापित की गई है। इस हिरण्यवक्षा पृथिवी के लिए हम नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वधायाः पृथिवी

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥ २७॥

१. **यस्याम्**=जिसमें **वृक्षाः**=वृक्ष, **वानस्पत्याः**=और नाना प्रकार के वनस्पति, **विश्वहा**=सदा **ध्रुवाः**=ध्रुव रूप से—निश्चल रूप से **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं, उस **विश्वधायसं पृथिवीम्**=समस्त पदार्थों का धारण करनेहारी **धृताम्**=प्रभु से मर्यादा में स्थापित की गई भूमि को **अच्छावदामसि**=लक्ष्य करके हम परस्पर चर्चा करते हैं। २. मिलकर पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसके स्वरूप व उससे उत्पन्न वृक्षों-वनस्पतियों की चर्चा करते हैं।

भावार्थ=पृथिवी से उत्पन्न वृक्षों व वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त करके, उनका ठीक प्रयोग करते हुए हम अपना धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां (प्रकामन्तः)

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥ २८॥

१. **उत् ईराणाः**=ऊपर पर्वतों पर चढ़ते हुए, **उत**=और **आसीनाः**=घरों में बैठे हुए, **तिष्ठन्तः**=कार्यवश किसी स्थान में स्थित हुए-हुए अथवा **दक्षिणसव्याभ्याम्**=दाहिने व बायें **पद्भ्याम्**=पैरों से **प्रक्रामन्तः**=गति करते हुए हम **भूम्याम्**=इसी पृथिवी पर **मा व्यथिष्महि**=पीड़ित न हों।

भावार्थ—हम इस पृथिवी पर विविध कार्यों में गति करते हुए किसी भी प्रकार से पीड़ित न हों। कार्य में लगे रहना ही पीड़ित न होने का साधन है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विमृग्वरी' पृथिवी

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥ २९॥

१. **विमृग्वरीम्**=विशिष्ट रूप से शोधन करनेवाली (मिट्टी से शोधन होता ही है—यह शरीर के विषों को भी चूस लेती है) **पृथिवीं आवदामि**=पृथिवी का मैं समन्तात् गुणगान करता हूँ। यह **क्षमाम्**=सब आघातों को सहनेवाली, **भूमिम्**=सब प्राणियों का निवास स्थान (भवन्ति भूतानि यस्याम्), **ब्रह्मणा वावृधानाम्**=(ब्रह्म=अन्नं) अन्नों के द्वारा सबका वर्धन करनेवाली है। २. **ऊर्जम्**='बल व प्राणशक्ति'-प्रद, **पुष्टम्**=पुष्टिकारक **अन्नभागं घृतम्**=भजनीय अन्न को तथा घृत को **बिभ्रतीम्**=धारण करती हुई, हे **भूमे**=भूमिमातः! **त्वा अभिनिषीदेम**=तुझपर हम समन्तात् निषण्ण हों—तेरी गोद में बैठें।

भावार्थ—यह पृथिवी शोधन का कारण बनती है। सहनेवाली, प्राणियों का निवासस्थान, तथा अन्न द्वारा हमारा खूब ही वर्धन करनेवाली है। बलप्रद व पुष्टिकारक भजनीय अन्न व घृत को धारण करती हुई इस पृथिवी पर हम समन्तात् निषण्ण हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

शुद्धा आपः

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि॥ ३०॥

१. **शुद्धाः आपः**=शुद्ध जल **नः तन्वे**=हमारे शरीर के लिए व शक्ति-विस्तार के लिए—**क्षरन्तु**=क्षरित हों—बहें। **यः नः सेदुः**=जो भी हमारा विनाशक तत्त्व है, **तम्**=उसको **अप्रिये निदध्मः**=सबके अप्रीति के कारणभूत शत्रु में स्थापित करते हैं। विनाशक तत्त्व हमसे दूर हों। ये उनको प्राप्त हों जो सारे समाज के विद्विष्ट हैं। २. **पृथिवि**=विस्तृत भूमे! मैं **पवित्रेण**=तेरे इस पवित्र जल से मा **उत्पुनामि**=अपने को शुद्ध करता हूँ।

भावार्थ—पृथिवी से उद्भूत ये जल—कूप आदि से प्राप्त जल हमारे विनाशक तत्त्वों को नष्ट करके हमें पवित्र करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थ व अपतन

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥ ३१॥

१. हे **भूमे**=प्राणियों की निवास-स्थानभूत भूमे! **याः**=जो **ते**=तेरे **प्राचीः प्रदिशः**=पूर्व दिशा में होनेवाले प्रदेश हैं, **याः उदीचीः**=जो प्रदेश उत्तर दिशा में हैं, **याः**=जो **ते**=तेरे प्रदेश **अधरात्**=दक्षिण दिशा में (नीचे) हैं, **च याः**=और जो **पश्चात्**=पश्चिम दिशा में हैं, **ताः**=वे सब प्रदेश **चरते मह्यम्**=चलते हुए—श्रम करते हुए मेरे लिए **स्योनाः भवन्तु**=सुखद हों। २. **भुवने**=इस लोक में **शिश्रियाणः**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों का खूब ही सेवन करता हुआ मैं **मा निपप्तम्**=पतन को न प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—पुरुषार्थी के लिए सब भू-प्रदेश सुखद हैं। कर्त्तव्य-कर्मों का सेवन करता हुआ व्यक्ति कभी पतन को प्राप्त नहीं होता।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

प्रशस्त रक्षण व्यवस्था

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥ ३२॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से—पश्चिम से **मानुदिष्ठाः**=व्यथित न कर। **मा पुरस्तात्**=सामने से व्यथित न कर। **उत्तरात् उत अधरात्**=उत्तर से व दक्षिण मे **मा**=पीड़ित न कर। हे भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्वस्ति भव**=कल्याण करनेवाली हो। २. हमें मार्गों में **परिपन्थिनः**=लुटेरे, चोर **मा विदन्**=प्राप्त न हों। **वधम्**=इन लुटेरों से हनन साधन आयुधों को **वरीयः यावया**=बहुत ही दूर पृथक् कर। इनके अस्त्र हमसे दूर ही रहें।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हमें किसी भी ओर से पीड़ा न पहुँचे। मार्गों में लुटेरों का कष्ट न हो। इनके वध-साधन हमसे दूर ही रहें, अर्थात् राष्ट्र में रक्षण-व्यवस्था प्रशस्त हो।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्य व दृष्टिशक्ति

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **मेदिना सूर्येण**=इस स्नेही मित्र सूर्य की सहायता से **यावत्**=जितना भी **ते अभिविपश्यामि**=तेरे इन सब पदार्थों को देखता हूँ **तावत्**=उतना ही **मे चक्षुः**=मेरी आँख **मा मेष्ट**=हिंसित न हो। **उत्तरां उत्तरां समाम्**=अगले और अगले वर्ष यह हिंसित न होकर अपना कार्य ठीक से करती रहे।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हमारे स्नेही मित्र इस सूर्य की सहायता से हमारी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदात्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती ॥

सुखद-शयन

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **यत्**=जब **शयानः**=लेटा हुआ मैं **दक्षिणं सव्यं पार्श्वम् अभि**=दाहिने या बायें पासे की ओर **पर्यावर्ते**=करवट लूँ अथवा **यत्**=जब हम **उत्तानाः**=ऊर्ध्वमुख **प्रतीचीं त्वा**=जिसके पश्चिम की ओर हमारे पाँव हैं, ऐसी तुझपर **पृष्टीभिः**=पीठ के मोहरों के बल पर **अधिशेमहे**=शयन करते हैं, तब **तत्र**=वहाँ, हे **भूमे**=भूमिमातः! **नः मा हिंसीः**=हमें हिंसित मत कर। **सर्वस्व प्रतिशीवरि**=तू तो सबको अपनी गोद में सुलानेवाली जननी है। हे जननि! तू हमें हिंसित न होने देना।

भावार्थ—हम समय पर भूमि माता की गोद में सुखपूर्वक शयन करें।

सूचना—यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) यथासम्भव नीचे सोना। (ख) पाँव पश्चिम में हो। (ग) सदा एक पासे नहीं लेटे रहना। (घ) कभी-कभी उत्तान शयन भी आवश्यक है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पृथिवी के 'मर्म व हृदय' का अपीड़न

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

१. हे **भूमे**=सब वनस्पतियों को जन्म देनेवाली पृथिवि! **यत् ते विखनामि**=जब मैं तेरा हल द्वारा अवदारण करके कुछ बोता हूँ, **तत्**=तब वह **क्षिप्रं अपिरोहतु**=शीघ्र प्रादुर्भूत हो—अंकुरित होकर भूमि से ऊपर प्रकट हो। भूमि खूब उपजाऊ हो। २. हे **विमृग्वरि**=विशेषरूप से शुद्ध करनेवाली पृथिवि! मैं **ते**=तेरे **मर्म**=मर्मस्थानों को **मा अर्पिपम्**=पीड़ित न करूँ (रिफ to injure), **वि ते हृदयम्**=तेरे हृदय को **मा**=विनष्ट न करूँ। पृथिवी के ओषधि-पोषक अंश ही उसके 'मर्म' हैं और इसके रसप्रद अंश ही इसका हृदय है। इन्हें कभी नष्ट नहीं करना चाहिए, अन्यथा भूमि अनुपजाऊ व बंजर हो जाएगी।

भावार्थ—हम पृथिवी के मर्मों व हृदय को पीड़ित न करते हुए ही इसपर हल चलाएँ

तभी इसमें बोये गये बीज सम्यक् अंकुरित होंगे।

सूचना—भूमि पर हल चलाते समय खूब गहरा खोदना और एक बार ही अधिक फ़सल प्राप्त करने की कामना करना उचित नहीं। इससे भूमि शीघ्र बंजर हो जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः** ॥

ऋतुचक्र

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥ ३६॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **'ग्रीष्मः, वर्षाणि, शरत्, शिशिरः, वसन्तः'**=ये ग्रीष्म आदि ऋतुएँ **ते**=तेरी हैं। ये **ते**=तेरी **ऋतवः**=ऋतुएँ **हायनीः**=प्रतिवर्ष आनेवाली **विहिताः**=की गई हैं। प्रतिवर्ष यह ऋतुचक्र तुझपर चलता है और वर्ष की पूर्ति होती है। २. हे **पृथिवि**=अतिशय विस्तारवाली भूमे! **अहोरात्रे**=दिन व रात **नः**=हमारे लिए **दुहाताम्**=इन ऋतुओं का दोहन करनेवाले हों। इन ऋतुओं में हमें सदा उत्कृष्ट ओषधि-वनस्पति प्राप्त होती रहें।

भावार्थ—प्रभु ने इस पृथिवी पर प्रतिवर्ष चलनेवाले एक ऋतुचक्र का स्थापन किया है। दिन और रात हमारे लिए इस ऋतुचक्र से उत्तम ओषधियों-वनस्पतियों का दोहन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

'शक्र, वृषा, वृषभ' राजा

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥ ३७॥

१. **या**=जो पृथिवी **सर्पं अपविजमाना**=सर्प के समान कुटिल पुरुष से भय खाती हुई कुटिल पुरुषों से दूर ही रहना चाहती है, **विमृग्वरी**=विशिष्ट रूप से शुद्ध-पवित्र करनेवाली, **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **अग्नयः**=वे प्रशस्त 'माता-पिता व आचार्य'-रूप अग्नियाँ **आसन्**=हैं, **ये**=जोकि **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर निवास करती हैं **'पिता वै गार्हपत्योग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी'**। यह **पृथिवी**=भूमि **देवपीयून्**=देववृत्ति के पुरुषों का हिंसन करनेवाले **दस्यून्**=दस्युओं को **परादद‍ती**=दूर करने के हेतु से **इन्द्रं वृणाना**=शत्रुओं के नाशक, जितेन्द्रिय राजा का वरण करती है, **न वृत्रम्**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाले विलासी राजा का वरण नहीं करती। २. यह पृथिवी **शक्राय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=प्रजाओं पर सुखों का सेचन करनेवाले, **वृषभाय**=श्रेष्ठ राजा के लिए ही **दध्रे**=धारण की जाती है। राजा वही ठीक है जोकि 'शक्र' है, 'वृषा' है और अतएव 'वृषभ' है। ऐसा ही राजा राष्ट्र-शकट का वहन करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—यह पृथिवी कुटिलवृत्ति के, देवों के हिंसक दस्युओं से भय खाती है। यह प्रजाओं में प्रशस्त 'माता, पिता व आचार्य'-रूप अग्नियों से हमारे जीवन को शुद्ध बनाती है। यह 'इन्द्र' का वरण करती है, न कि वृत्र का। इसका शासक वही ठीक है जो 'शक्तिशाली, प्रजाओं पर सुखों का सेचन करनेवाला व श्रेष्ठ' है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

आदर्श भूमि

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्मामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥ ३८॥

१. **यस्याम्**=जिस भूमि पर **सदोहविर्धाने**=सभामण्डप व यज्ञस्थलियाँ बनायी जाती हैं, **यस्याम्**=जिसपर **यूपः**=यज्ञस्तम्भ **निमीयते**=निश्चित मानपूर्वक बनाया जाता है। **यस्याम्**=जिसपर **ब्रह्माणः**=वेदज्ञ विद्वान् **ऋग्भिः**=ऋचाओं के द्वारा तथा **साम्ना**=साममन्त्रों के द्वारा **अर्चन्ति**=प्रभु का अर्चन करते हैं 'ऋग्भिः' विज्ञान का संकेत करता है तथा 'साम्ना' श्रद्धा का। प्रभु का उपासन विज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से ही होता है। २. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **यजुर्विदः**=यजुर्मन्त्रों के ज्ञाता **ऋत्विजः**=ऋतु के अनुसार यज्ञ करनेवाले लोग **युज्यन्ते**=अपने यज्ञादि कर्मों में युक्त होते हैं तथा **सोमं पातवे**=शरीर में सोम के पान के लिए **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली, शत्रुविद्रावक प्रभु के लिए **युज्यन्ते**=योग में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु का स्मरण वासनाविनाश के द्वारा हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—एक आदर्श राष्ट्र में सभामण्डप व यज्ञस्थलियाँ होती हैं। यहाँ यज्ञस्तम्भों का निर्माण होकर ऋत्विजों द्वारा यज्ञ किये जाते हैं, ज्ञानियों द्वारा प्रभु का अर्चन होता है तथा शरीर में सोमरक्षण के लिए शत्रुविद्रावक प्रभु से चित्तवृत्ति का सम्पर्क बनाया जाता है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सप्तसत्र, यज्ञ व तप

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः। सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

१. **यस्याम्**=जिस भूमि पर **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **भूतकृतः**=(right, proper, fit भूत) उचित कर्मों को करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा व वासनाओं का संहार करनेवाले ज्ञानीलोग **गाः उदानृचुः**=ज्ञानवाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन (अर्चन) करते हैं। २. इस भूमि पर **वेधसः**=ज्ञानी लोग (learned man) **सप्तसत्रेण**=देवपूजन से तथा **तपसा सह**=तप के साथ सदा ज्ञानवाणियों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—आदर्श राष्ट्र में लोग अपना पालन व पूरण करते हैं, यथार्थ बातों को करते हैं, वासनाओं का संहार करते हैं। यहाँ ज्ञानी लोग 'सप्तसत्र, यज्ञ व तप' से युक्त होते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

इन्द्र के नेतृत्व में

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे। भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥ ४०॥

१. **सा भूमिः**=वह, गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व तपोंवाली भूमि **नः**=हमारे लिए **यत् धनं कामयामहे**=जिस धन की कामना करे, उस धन को **आदिशतु**=सर्वथा प्रदान करे। **भगः**=वह भजनीय प्रभु **अनुप्रयुङ्क्ताम्**=हमें शिक्षित करे (to give instruction)—हम प्रभु के निर्देश में चलें। **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु ही **पुरोगवः एतु**=हमारा अग्रगामी हो—हम प्रभु के अनुयायी बनें।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में यज्ञ व तप का प्राधान्य होता है, वहाँ सब इष्ट धन प्राप्त होते हैं। हम तो यही चाहें कि प्रभु हमें मार्ग का निर्देश करें और हमारे पुरोगामी हों—हम प्रभु के अनुयायी बनें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदाककुम्मतीशक्वरी ॥

गायन, नर्तन व युद्ध

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ ४१॥

१. **यस्यां भूम्याम्**=जिस भूमि पर **मर्त्याः**=मनुष्य **गायन्ति नृत्यन्ति**=गायन व नर्तन करते हैं और **व्यैलबाः**=(ऐलव noise, हैं) विशिष्ट शब्दोंवाले—युद्ध के आह्वान के घोषवाले मनुष्य **यस्यां युध्यन्ते**=जिसपर शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं। **यस्याम्**=जिस भूमि पर **आक्रन्दः**=शत्रुओं को ललकारना होता है और **दुन्दुभिः वदति**=युद्ध का नगारा बजता है **सा भूमिः**=वह पृथिवी **नः सपत्नान्**=हमारे शत्रुओं को **प्रणुदताम्**=परे धकेलनेवाली हो। २. यह **पृथिवी**=भूमिमाता **मा**=मुझे **असपत्नम्**=शत्रुरहित **कृणोतु**=करे। इस पृथिवी पर कहीं गायन व नर्तन हो रहा होता है, तो कहीं युद्ध। युद्ध के समय गायन व नर्तन सम्भव नहीं रहता। हम असपत्न बनकर, युद्धों की स्थिति से ऊपर उठकर ही हर्ष का जीवन बिता सकते हैं।

भावार्थ—इस पृथिवी पर एक ओर युद्ध हैं, दूसरी ओर हर्षपूर्वक गायन व नर्तन हैं। प्रभु हमें असपत्न बनाएँ, जिससे हम युद्धों से ऊपर उठकर जीवन का आनन्द ले-सकें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—स्वराडनुष्टुप् ॥

व्रीहियवौ

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **व्रीहियवौ अन्नम्**=चावल व जौ मनुष्य के प्रशस्त भोजन हैं। **यस्याः**=जिस पृथिवीमाता के **इमाः**=ये **पञ्च**=पाँच **कृष्टयः**=मनुष्य 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद' पुत्ररूप हैं। २. उस **पर्जन्यपत्न्यै**=मेघ की पत्नीरूप, **वर्षमेदसे**=वृष्टिजलरूप स्नेह-वाली—वृष्टिजल से स्निग्ध **भूम्यै**=भूमि के लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। इस भूमि का हम उचित आदर करें। इसमें अन्नोत्पादन के लिए यत्नशील हों। मेघ इस पृथिवी का पति है, वह पृथिवी पर जल का सेचन करता है। इस वृष्टि-जल से स्निग्ध पृथिवी में अन्न का उत्पादन होता है।

भावार्थ—हम व्रीहि व यव को ही अपना मुख्य भोजन बनाएँ। सभी को अपना भाई समझें। वृष्टि-जल से स्निग्ध होनेवाली भूमि में अन्नोत्पादन के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—विराडास्तारपङ्क्तिः ॥

नगर व क्षेत्र

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥

१. **यस्याः**=जिस पृथिवी के **पुरः**=नगर **देवकृताः**=ज्ञानी (समझदार) शिल्पियों द्वारा बनाये गये हैं—अतएव जिनमें स्वास्थ्य आदि के साधनों की सुव्यवस्था है। **यस्याः**=जिस पृथिवी के **क्षेत्रे**=खेतों में **विकुर्वते**=वैश्य लोग विशिष्ट कृषि कर्मों को करते हैं, उस **विश्वगर्भाम्**=सब प्राणियों को अपने में धारण करनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **आशाम् आशाम्**=प्रत्येक दिशा में **प्रजापतिः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **रण्यां कृणोतु**=रमणीय करें।

भावार्थ—इस पृथिवी पर उत्तम नगरों का देवों द्वारा निर्माण हो। यहाँ क्षेत्रों में वैश्य विविध

बीज वपन आदि कर्मों को करें। प्रभु इस पृथिवी को हमारे लिए सर्वतः रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वसुदा, वसुधा

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ ४४॥

१. **गुहा**=अपनी गुहाओं में **बहुधा निधिं बिभ्रती**=विविध कोशों को धारण करती हुई **पृथिवी**=यह भूमि **मे**=मेरे लिए **वसु**=धन को **मणिम्**=वैदूर्य आदि मणियों को तथा **हिरण्यम्**=सुवर्ण को **ददातु**=दे। २. यह **वसुदाः**=धनों को देनेवाली **देवी**=दिव्यगुणयुक्त पृथिवी **रासमाना**=वसुओं को देती हुई, **सुमनस्यामाना**=हमारे मन का उत्तम साधन बनती हुई **वसूनि दधातु**=वसुओं को हमारे लिए दे। यह भूमिमाता हमारे लिए वसुओं का धारण करे।

भावार्थ—यह पृथिवी वसुधा है। यह हमारे लिए वसुदा हो। वसुओं को प्राप्त करके हम सौमनस्यवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विवाचसं—नानाधर्माणम्

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ ४५॥

१. **बहुधा**=बहुत प्रकार से **विवाचसम्**=विविध भाषाओं के बोलनेवाले, **नानाधर्माणम्**=अनेक प्रकार के धर्मों के माननेवाला **जनम्**=जनसमुदाय **यथा ओकसम्**=जैसे एक घर में रहता है उसी प्रकार अनेक प्रकर की बोली और कर्म करनेवालों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह **पृथिवी**=भूमिमाता **मे**=मेरे लिए **सहस्रम्**=हज़ारों **द्रविणस्य धाराः**=धन की धाराओं को **दुहाम्**=प्रपूरित करे—दे। २. यह पृथिवी मेरे लिए इसप्रकार धन की धाराओं का दोहन करे, **इव**=जैसेकि **अनपस्फुरन्ती**=न हिलती (Shake, tremble) हुई **ध्रुवा**=स्थिरता से स्थित **धेनुः**=गाय हमारे लिए दुग्ध का प्रपूरण करती है। यह पृथिवी भी कम्परहित हुई-हुई, मर्यादा में चलती हुई हमारे लिए द्रविणों का दोहन करे। यहाँ राष्ट्रों में सुव्यवस्था के कारण उपद्रव (Agitaion) ही न होते रहें (अनपस्फुरन्ती) तथा लोग नियमों का पालन करनेवाले हों (ध्रुवा)।

भावार्थ—एक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न बोली बोलनेवाले—भिन्न प्रकार के कर्म करनेवाले लोग, एक घर की भाँति निवास करें। राष्ट्र में हलचलें (उपद्रव) ही न होते रहें—लोग व्यवस्थित जीवनवाले हों तब वह पृथिवी सबके लिए धन की धाराओं को प्राप्त करानेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापराशक्वरी** ॥

'सर्प-वृश्चिक' निराकरण

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः
सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४६॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **यः ते**=जो तेरे **सर्पः**=साँप **वृश्चिकः**=बिच्छू **तृष्टदंश्मा**=तीखे काटनेवाले हैं, अथवा अपने दंशन से प्यास लगानेवाले हैं तथा **हेमन्तजब्धः**=हेमन्त काल के शीत से पीड़ित **भृमलः**=भौंरे जाति के जीव **गुहाशये**=गुहाओं में शयन करते हैं अथवा **हेमन्तजब्धः**=हिम-विनाशक, अर्थात् ज्वर के उत्पादक **भृमलः**=घुमरी पैदा करनेवाले कृमि

गुहाशये=बिलों में पड़े सोया करते हैं। २. हे पृथिवि! ऐसे **यत् यत्**=जो भी **क्रिमिः**=कीट **प्रावृषि**=वर्षा ऋतु में **जिन्वत्**=प्राणित होते हुए **एजति**=गतिशील होते हैं, **तत्**=वह **सर्पन्**=गति करता हुआ **नः मा उपसृपत**=हमारे समीप न आये। हे पृथिवि! **यत् शिवम्**=जो हमारे लिए कल्याणकारी हो **तेन नः मृड**=उससे हमें सुखी कर।

भावार्थ—निवास स्थानों में सर्प, वृश्चिक या अन्य कृमि-कीटों का भय न हो। लोग इनके भय से रहित हुए-हुए सुखपूर्वक जीवन बिता पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुबगर्भापराशक्वरी** ॥

जनायन-शकटवर्त्म-'रथवर्त्म'-शकटवर्त्म-जनायन

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४७॥

१. हे पृथिवि! **ये**=जो **ते**=**बहवः**=बहुत-से **जनायनाः**=(जन+अयन्) मनुष्यों के जाने के मार्ग हैं, **रथस्य वर्त्म**=(मध्य में जो) रथ का मार्ग है, **च**=और **अनसः यातवे**=बैलगाड़ियों के जाने के लिए जो मार्ग है एवं, सड़क किनारों पर जनमार्ग हैं, मध्य में रथमार्ग हैं, इनके बीच में दोनों ओर गाड़ियों के मार्ग हैं। २. **यैः**=जिनसे **भद्रपापाः**=परोपकारी व स्वार्थी (अच्छे व बुरे) **उभये**=दोनों प्रकार के लोग **संचरन्ति**=बराबर चला करते हैं, हम **तं पन्थानम्**=उस मार्ग को **जयेम**=विजय करें—प्राप्त करें, जोकि **अनमित्रम्**=शत्रुरहित है, तथा **अतस्करम्**=चोर-डाकू से रहित है। हे पृथिवि! **यत्**=जो **शिवम्**=कल्याणकर पदार्थ है, **तेन नः मृड**=उससे हमें सुखी कर।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में मार्ग सुव्यवस्थित हों—'पैदलमार्ग, शकटमार्ग व रथमार्ग' इसप्रकार मार्ग सुविभक्त हों। सबके लिए आने-जाने की सुविधा हो। मार्गों में शत्रुओं का भय न हो। हमें पृथिवी सुखकर पदार्थों को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

'क्षमा' (सहनशीला पृथिवी)

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥ ४८॥

१. **मल्वम्**=(मल् to hold, possess) धन को पकड़कर रखनेवाले कृपण को भी **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह पृथिवी **गुरुभृत्**=(गुरु great) विशाल हृदयवालों को धारण करती है। **भद्रपापस्य**=भले-बुरे सभी के **निधनम्**=निवास (residence) को **तितिक्षुः**=यह सहनेवाली है। यह 'कृपण, उदार, भद्र व पाप' सभी का धारण करती है—अपने पर सभी के निवास को सहती है। २. यह **पृथिवी**=भूमिमाता **वराहेण**=(मेघेन) मेघ के साथ **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई, अर्थात् अपने पति पर्जन्य से मिलकर—मेघ द्वारा वृष्टि होने पर **मृगाय**=उत्तम बीजों का अन्वेषण करनेवाले **सूकराय**=(सुवं प्रसवं करोति) बीज़वपन करनेवाले कृषक के लिए **विजिहीते**=विशेषरूप से प्राप्त होती है। कृषक इसमें बीजवपन करते हैं और यह विविध अन्नों को जन्म देती है।

भावार्थ—इस पृथिवी पर 'कृपण, उदार व भले-बुरे' सभी रहते हैं। यह पृथिवी मेघ से मिलकर कृषक के लिए विविध अन्नों को प्राप्त कराती है। इस अन्न द्वारा वह सभी का पोषण करती है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—जगती ॥

आरण्य पशुओं से रक्षण

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवी दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥ ४९॥

१. हे भूमिमातः! **ये**=जो **ते**=तेरे **आरण्याः पशवः**=जंगली पशु हैं, **वने हिताः**=वनों में स्थापित **मृगाः**=मृग हैं (जो ग्रामों में आकर खेतियों को विनष्ट कर देते हैं), जो **पुरुषादः**=मनुष्यों को भी खा जानेवाले **सिंहाः व्याघ्राः**=शेर व चीते **चरन्ति**=इधर-उधर घूमते हैं (चिड़ियाघर में रखे हुए नहीं)। इसी प्रकार **उलम्**=सियार (A kind of wild animal) **वृकम्**=भेड़िया, **दुच्छुनाम्**=दुष्ट कुत्ते, **ऋक्षीकाम्**=रीछ आदि को **इतः**=यहाँ से **अपबाधय**=दूर कर। २. यह **पृथिवि**=पृथिवी **रक्षः**=राक्षसीवृत्ति के पुरुषों को अथवा अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों को **अस्मत्**=हमसे दूर ही रोक दे।

भावार्थ—राजा आरण्य पशुओं से प्रजा की रक्षा करे। इस बात का ध्यान करे कि मृग ही खेतियों को न चर जाएँ। सियार, भेड़िये, पागल कुत्ते आदि के उपद्रव न हों। रीछ व रोगकृमि हमसे दूर रहें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अवाञ्छनीय तत्त्वों का निराकरण

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय॥ ५०॥

१. **ये**=जो लोग **गन्धर्वाः**=(गन्धं अर्वति=अर्व गतौ) इतर-फुलेल आदि गन्धों में ही खेलनेवाले हैं **अप्सरसा**=और जो स्त्रियाँ स्वर्गलोक की वेश्याएँ ही प्रतीत होती हैं—वेशभूषा की चमक-दमक ही जिनका जीवन है, **ये च**=और जो **अरायाः**=एकदम अदान की वृत्तिवाले हैं (रा दाने) **किमीदिनः**=अब क्या खाएँ और अब क्या हड़प करें (किम् इदानीम्, किम् इदानीम्) यही जिनकी वृत्ति है। हे **भूमे**=भूमिमातः! **तान्**=उनको **अस्मत् यावय**=हमसे पृथक् कर। २. **पिशाचान्**=मांस खानेवाली क्रूरवृत्तिवाले पुरुषों को तथा **सर्वा रक्षांसि**=सब राक्षसों को—अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों को हमसे पृथक् कर।

भावार्थ—हमारे मध्य में 'भोगप्रधान जीवनवाले (गन्धर्व+अप्सरस्), कृपण, औरों का धन हड़प करनेवाले, पिशाच व राक्षस' न हों, हमारे समाज से ये दूर ही रहें, जिससे इनका कुप्रभाव समाज को दूषित करनेवाला न हो।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—षट्पदाऽनुष्टुबगर्भाककुम्मतीशक्वरी ॥

विविध पक्षी—वायु, आँधी व लू

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥ ५१॥

१. **याम्**=जिस पृथिवी पर **द्विपादः**=ये दो पाँववाले अथवा पृथिवी व अन्तरिक्ष पर दोनों स्थानों में गतिवाले (द्वयोः पद्यन्ते) **पक्षिणः**=पक्षी **संपतन्ति**=सम्यक् गतिवाले होते हैं, **हंसाः**=हंस, **सुपर्णाः**=गरुड़, **शकुनाः**=गिद्ध या चील (Vulture or kite) तथा **वयांसि**=कौवे (Crow) जिसपर उड़ा करते हैं, वह यह हमारी भूमिमाता है। २. **यस्याम्**=जिसमें **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष

में निरन्तर गतिवाला यह **वातः**=वायु **ईयते**=चलता है। **रजांसि कृण्वन्**=सारे अन्तरिक्ष में धूल-ही-धूल फैलाता हुआ, **च**=और **वृक्षान् च्यावयन्**=वृक्षों को अपने स्थान से च्युत करता हुआ यह वायु आँधी के रूप में चलता है। इस **वातस्य प्रवाम् उपवाम् अनु**=वायु के प्रबलवेग (प्रवा) व निरन्तर बहने (उपवा) के साथ **अर्चिः**=गर्मी की ज्वाला (लू) भी **वाति**= चलती है। यह प्रचण्ड लू भी दुर्गन्ध की समाप्ति व क्रिमियों के विनाश के लिए आवश्यक ही होती है।

भावार्थ—इस पृथिवी पर नाना प्रकार के पक्षियों का सम्पतन होता है। यहाँ अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर बहती है—कभी वह आँधी के रूप में होती है और वृक्षों को उखाड़ रही होती है और कभी-कभी यह प्रचण्ड लू के रूप में चलती हुई सब रोगकृमियों व दुर्गन्ध का विनाश करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

दिन-रात, वृष्टि, गौवें व प्रिय तेज

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥ ५२॥

१. **यस्यां भूम्याम् अधि**=जिस भूमि पर **कृष्णं अरुणं च**=एक तो अन्धकारमय, परन्तु दूसरा प्रकाशमय **अहोरात्रे**=रात्रि और दिन **संहिते**=परस्पर मिलाकर रखे हुए **विहिते**=स्थापित किये गये हैं। दिन के बाद रात्रि आती है और रात्रि के बाद दिन। इसप्रकार ये परस्पर 'संहित' (सम्बद्ध) हैं। एक प्रकाशमय है, दूसरी अन्धकारमय। २. यह **भूमिः**=पृथिवी समय-समय पर **वर्षेण वृता**=वृष्टिजल से आच्छादित होती रहती है और इसप्रकार यह **भद्रया आवृता**=(भद्रा A cow) गौओं से आवृत होती है। वृष्टि से चारे की कमी नहीं रहती और ये गौवें खूब फूलती-फलती हैं। **सा**=वह वृष्टि व गौवों से आच्छादित भूमि हमें **नः**=हमसे **प्रिये**=प्रीति करनेवाले **धामनिधामनि**=प्रत्येक तेज (Energy) में **दधातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के लिए दिन व रात का क्रम बाँधा है। इसपर वृष्टि व गौवों की व्यवस्था की है। वे गौवें हमारे प्रिय तेज का कारण बनती हैं—अपने दूध के द्वारा हमें तेजस्विता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोबार्हतानुष्टुप्** ॥

व्यचः—मेधा

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।

अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥ ५३॥

१. **द्यौः च**=द्युलोक, **पृथिवी च**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षं च**=और अन्तरिक्षलोक **मे**=मेरे लिए **इदं व्यचः**=इस विशालता—विशाल हृदयता (Expanse, Vastness) को दें। द्युलोकस्थ सूर्य सभी के लिए प्रकाश देता है, पृथिवी से उत्पन्न फूल-फल सभी भद्र-पापियों का पोषण करते हैं, अन्तरिक्ष में बहनेवाला वायु सभी को जीवन देता है। मेरे हृदय में भी सभी के लिए स्थान हो। २. **अग्निः**=पृथिवी का मुख्यदेव 'अग्नि', **सूर्यः**=द्युलोक का मुख्य देव 'सूर्य', **आपः**= अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल, **विश्वेदेवाः च**=और सब देव मिलकर मुझे **मेधां संददुः**=बुद्धि देनेवाले हों। सभी देवों की अनुकूलता में मैं स्वस्थ मस्तिष्क बनूँ। सब देवों की अनुकूलता होने पर ही स्वास्थ्य प्राप्त होता और बुद्धि भी स्वस्थ बनी रहती है।

भावार्थ—त्रिलोकी के विस्तार का चिन्तन मुझे भी विशाल बनाये। सूर्य आदि सब देव

मुझे स्वस्थ बनाते हुए स्वस्थ मस्तिष्कवाला करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभीषाट्—विश्वषाट्

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

१. **अहम्**=मैं **सहमानः**='सर्दी, गर्मी' आदि द्वन्द्वों को सहनेवाला और **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **उत्तरः नाम अस्मि**=उत्कृष्टतर यश-(नाम)-वाला हूँ। **अभीषाट् अस्मि**=मैं चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मषर्ण करनेवाला हूँ। **विश्वाषाट्**=(विशन्ति) न चाहते हुए भी मेरे अन्दर घुस आनेवाले इन शत्रुओं का मैं पराभव करनेवाला हूँ। **आशां आशां विषासहिः**=मैं प्रत्येक दिशा में शत्रुओं को पराजित करनेवाला हूँ। अथवा (आशा=इच्छा) सब इच्छाओं को कुचल देनेवाला हूँ।

भावार्थ—इस भूपृष्ठ पर मैं द्वन्द्वों का सहन करनेवाला बनूँ और इसप्रकार उत्कृष्ट जीवनवाला होऊँ। चारों ओर से आक्रमण करते हुए व मेरे न चाहते हुए भी मुझमें प्रवेश करते हुए काम-क्रोध आदि को मैं जीतूँ। सब भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सु-भूतम्

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्त्रः ॥ ५५ ॥

१. हे **देवि**=हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली भूमिमातः! **यत्**=जब तूने **पुरस्तात्**=प्रारम्भ में **अदः महित्वम्**=उस महत्त्व को—विशालता को **व्यसर्पः**=(सृप गतौ) प्राप्त किया, तो **देवैः**=विद्वानों से **'प्रथमाना' उक्ता**=विस्तार को प्राप्त होती हुई 'पृथिवी' इस रूप में कही गई। २. **तदानीम्**=उस समय **त्वा**=तुझमें **सुभूतम्**=उत्तम ऐश्वर्य—उत्तम स्थिति (Well-being, Welfare) **आ आविशत्**=समन्तात् प्रविष्ट हुई। तूने **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों दिशाओं में स्थित प्राणियों को **अकल्पयथाः**=शक्तिशाली बनाया (क्लृपू सामर्थ्ये)।

भावार्थ—विस्तृत महत्त्ववाली होने के कारण ही यह पृथिवी 'पृथिवी' है। इसमें चारों ओर उत्तम ऐश्वर्य की स्थिति है। यह चतुर्दिगवस्थित प्राणियों को शक्तिशाली बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ग्राम, अरण्य, सभा, संग्राम व समिति' में भूमिमाता का यशोगान

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

१. **ये ग्रामाः**=जो ग्राम, **यत् अरण्यम्**=जो जंगल, **याः सभाः**=जो सभाएँ **अधिभूम्याम्**=इस भूमि पर हैं—ये **संग्रामाः**=जो संग्राम व जो **समितयः**=शान्ति-सभाएँ (Peace conferences) इस पृथिवी पर होती हैं, **तेषु**=उनमें **ते चारु वदेम**=तेरे लिए सुन्दर ही वचन कहें। २. जब भी हम एकत्र हों, जहाँ भी एकत्र हों, वहाँ प्रभु से उत्पादित इस पृथिवी के महत्त्व का चर्चण करें। यह चर्चण हमें इस भूमिमाता का स्मरण कराएगा—हमें अनुभव होगा कि हम इस माता के ही तो पुत्र हैं—अतः परस्पर भाई हैं। ऐसा सोचने पर हम द्वेष से दूर व परस्पर प्रेमवाले होंगे।

भावार्थ—हम 'ग्राम, अरण्य, सभा, संग्राम व समितियों' में सर्वत्र भूमिमाता का यशोगान करते हुए परस्पर बन्धुत्व का अनुभव करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—पुरोतिजागताजगती ॥

नित्य नव सर्जन

अश्वइव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥ ५७॥

१. **इव**=जैसे **अश्वः**=घोड़ा **रजः दुधवे**=धूलि को कम्पित करके दूर कर देता है, उसी प्रकार **ये**=जो लोग **पृथिवीं आक्षियन्**=पृथिवी पर समन्तात् बसे हैं, **तान् जनान्**=उन सब मनुष्यों को, **यात् अजायत**=जब से यह पृथिवी हुई है तब से **वि (दुधुवे)**=कम्पित करके दूर करती आयी है। इस पृथिवी पर कोई भी प्राणी स्थिर नहीं है। सभी के ये शरीर नश्वर हैं। २. यह पृथिवी **मन्द्रा**=पुराने को समाप्त करके निरन्तर नये को जन्म देती हुई सचमुच प्रशंसनीय (Praiseworthy) है, **अग्र इत्वरी**=आगे और आगे चलनेवाली है, **भुवनस्य गोपाः**=सब लोकों का—अपने पर होनेवाले प्राणियों का रक्षण करनेवाली है। रक्षण के लिए ही सब **वनस्पतीनाम् ओषधीनां गृभिः**=वनस्पतियों व ओषधियों का अपने में ग्रहण करनेवाली है।

भावार्थ—यह पृथिवी पुराने शरीरों को समाप्त करके नयों को जन्म दे रही है। यह प्रशंसनीय पृथिवी निरन्तर आगे चलती हुई सब प्राणियों की रक्षक है—रक्षण के लिए ही सब वनस्पतियों को अपने में धारण किये हुए है।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

त्विषीमान्—जूतिमान्

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥ ५८॥

१. **यत् वदामि**=जो कुछ भी बोलूँ **तत् मधुमत् वदामि**=वह मिठास से भरा हुआ ही बोलूँ। **यत् ईक्षे**=जब देखूँ तो **तत् मा वनन्ति**=लोग मुझे प्रेम (Like, love) ही करते हैं। मेरा बोलना व देखना सब मधुर ही हो। २. मैं **त्विषीमान् अस्मि**=ज्ञान की दीप्तिवाला हूँ, **जूतिमान्**=उत्तम कर्मों में वेगवाला हूँ—उन्हें स्फूर्ति से करनेवाला हूँ। **दोधतः**=(दुध् to kill, injure, hurt) भूमि-माता के पुत्रों का हनन करते हुए **अन्यान्**=शत्रुभूत जनों को **अवहन्मि**=सुदूर विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—हमारा बोलना व देखना प्रेमपूर्ण व मधुर हो। हम दीप्ति व स्फूर्तिवाले बनें। शत्रुभूत जनों को सुदूर विनष्ट करें।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शान्ति, सुगन्ध, सुख, मधु व पयस्

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥ ५९॥

१. **शन्तिवा**=शान्ति-सम्पन्न, **सुरभिः**=उत्तम गन्ध से युक्त, **स्योना**=सुख देनेवाली, **कीलालोध्नी**=अमृतमय रस को—मधु को गाय की भाँति अपने थनों में (ऊधस्) धारण करनेवाली, **पयस्वती**=क्षीर-सम्पन्न **भूमिः**=प्राणियों का निवास स्थान (भवन्ति भूतानि यस्याम्) यह भूमि हो। २. यह **पृथिवी**=प्रथन-(विस्तार)-वाली भूमि **पयसा सह**=अपने ही आप्यायन (वर्धन) के साधनों के साथ **मे अधिब्रवीतु**=मुझे पुकारे, उसी प्रकार जैसेकि एक माता दूध का गिलास हाथ में लिये हुए एक बच्चे को पुकार रही होती है। यह पृथिवी मुझे भी 'पयस्' प्राप्त कराए।

भावार्थ—यह भूमिमाता हमारे लिए 'शान्ति, सुगन्ध, सुख व पयस्' प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'भुजिष्यं पात्रम्'

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥

१. **अर्णवे अन्तः**=महान् प्रभु के अन्दर, **रजसि प्रविष्टाम्**=अन्तरिक्ष में प्रविष्ट (स्थित) **याम्**=जिस पृथिवी को **विश्वकर्मा**=समस्त संसार का निर्माता प्रभु **हविषा**=हवि के हेतु से **अन्वैच्छत्**=चाहता है। प्रभु की कामना से ही सृष्टि होती है **'सोऽकामयत०'**। प्रभु वस्तुतः इस पृथिवी को इसलिए बनाते हैं कि इसपर रहनेवाले मनुष्य इस पृथिवी पर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों—इसे 'देवयजनी' बना दें। यह पृथिवी अपने कारणभूत अणुसमुद्र में निहित है—अन्तरिक्ष में यह स्थित है। २. **भुजिष्यं पात्रम्**=भोग्य सन्तानादि से सुसज्जित पात्र के समान यह पृथिवी है। यह पृथिवी **निहितं गुहायाम्**=अपने कारणभूत अणुसमुद्रों की गुफ़ा में निहित है। यह वह पात्र है **यत्**=जोकि **भोगे**=भोग के अवसर आने पर **मातृमद्भ्यः**=पृथिवी को अपनी माता जाननेवाले इन जीवों के लिए **आविः अभवन्**=प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—पृथिवी पहले अणुसमुद्र के रूप में अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई-हुई होती है। प्रभु इसका निर्माण करते हैं, ताकि जीव इसपर यज्ञों को कर सकें। यह पृथिवी एक 'भुजिष्य पात्र' के रूप में हैं। यह पात्र भोग का अवसर आने पर प्रभु के द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। जो पृथिवी को माता के रूप में देखते हैं, उन्हें सब आवश्यक पोषण-सामग्री इस भूमिमाता से प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोबार्हतात्रिष्टुप्** ॥

आवपनी—अदितिः

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥

१. हे भूमे! **त्वम्**=तू **जनानाम्**=लोगों की—विविध कोनों में उत्पन्न मनुष्यों की **आवपनी असि**=बीज बोने की स्थली है। तू **पप्रथाना**=अत्यन्त विस्तारवाली होती हुई **कामदुघा**=सब कामनाओं का प्रपूरण करनेवाली **अदितिः**=(गोनाम—नि० २.११) गौ ही है। यह पृथिवी सब अन्नों को उत्पन्न करनेवाली है—सब काम्य भोगों का दोहन करनेवाली कामधेनु ही है। २. **यत्**=जो **ते ऊनम्**=तुझमें कमी आती है—अन्नोत्पादन से जो तेरी शक्ति क्षीण होती है **तत् ते**=उस तेरी कमी को वृष्टि व वायुमण्डल की नत्रजन गैस के द्वारा, **ऋतस्य प्रथमजाः**=यज्ञों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव करनेवाला **प्रजापतिः**=प्रजारक्षक प्रभु **आपूरयाति**=आपूरित कर देता है। यज्ञों के द्वारा वृष्टि होकर पृथिवी की उत्पादन-शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—यह पृथिवी अन्नों का उत्पादन करनेवाली व सब काम्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली कामधेनु है। प्रभु यज्ञादि की व्यवस्था के द्वारा पृथिवी की शक्ति को पुनः-पुनः स्थिर किये रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पराविराट्निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

बलिहृतः (स्याम)

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ते उपस्थाः**=तेरी गोद में स्थित होनेवाले गो-दुग्ध आदि पदार्थ तथा **प्रसूताः**=तुझसे उत्पन्न ये वनस्पति **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अनमीवाः**=रोगों को न पैदा करनेवाले तथा **अयक्ष्माः**=हृद्रोग के जनक **न सन्तु**=न हों। २. **नः**=हमारी **आयुः**=आयु **दीर्घम्**=दीर्घ हो—हम दीर्घजीवी बनें और **प्रतिबुध्यमानाः**=ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रतिबुद्ध होते हुए—अपने कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति जागरूक होते हुए **वयम्**=हम **तुभ्यम्**=हे पृथिवि! तेरे लिए **बलिहृतः स्याम**=बलि देनेवाले हों। तेरे रक्षण के द्वारा अपने रक्षण के लिए उचित कर आदि देनेवाले हों।

भावार्थ—पृथिवी पर होनेवाले गोदुग्ध, अन्नादि पदार्थ हमारे लिए नीरोगता देनेवाले हों। हम दीर्घ व प्रतिबुद्ध जीवनवाले होते हुए इस भूमिमाता के लिए बलि (कर) देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्री+भूति

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

१. हे **भूमे मातः**=मातृवत् हितकारिणि भूमे! तू **मा**=मुझे **भद्रया**=गौ के द्वारा **सुप्रतिष्ठितम् धेहि**=घर में सम्यक् स्थापित कर। गौ के होने पर घर में 'स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति' बनी रहती है। गोदुग्ध हमें शरीर से स्वस्थ, मन से शान्त तथा मस्तिष्क से ज्ञानदीप्त बनाता है। २. हे **कवे**=प्रशंसनीय (Praise-worthy) मातः! **दिवा संविदाना**=प्रकाशमय इस द्युलोक से (द्यौष्पिता, पृथिवी माता) संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली होती हुई तू **मा**=मुझे **श्रियाम्**=श्री में तथा **भूत्याम्**=भूति में—ऐश्वर्य में **धेहि**=स्थापित कर। हम श्रीवाले बनें—धनों को प्राप्त करें और भूतिसम्पन्न हों—ऐश्वर्यवाले हों, उन धनों के स्वामी बनकर आनन्द को प्राप्त करें।

भावार्थ—हे भूमिमातः! मैं तेरे पृष्ठ पर गौ के साथ में सम्यक् प्रतिष्ठित होऊँ। यह पृथिवी माता, पिता द्युलोक के साथ, मुझे श्री और भूति में स्थापित करे। मैं आवश्यक धनों को प्राप्त करके जीवन को आनन्दमय बना पाऊँ।

इस भूमिमाता की गोद में रहता हुआ जो भी व्यक्ति अपना ठीक प्रकार से परिपाक करता है, वह 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह क्रव्याद् अग्नि को (न केवलं क्रव्यात् शवदाहे शवमांसम् अनति अपितु घोरत्वात् यक्ष्मादीन् बहून रोगान् मृत्युं च बहुविधम् आवहति। तथैव नाना प्रकारको भवति—सा०) रोग, आपत्ति व मृत्यु की कारणभूत अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अधराङ् परेहि

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि॥ १॥

१. हे क्रव्याद् अग्ने! **नडम् आरोह**=तू नड पर आरोहण कर—नड निर्मित तीखे शर पर तू चढ़—उस शर का तू शिकार हो। **ते अत्र लोकः न**=तेरा यहाँ स्थान नहीं है—तुझे हममें निवास नहीं करना। **इदम्**=इस **ते भागधेयम्**=तेरे भाग्यभूत **सीसम्**=सीसे को—सीसे की बनी घातक गोली को **एहि**=तू प्राप्त हो। यह क्रव्याद् अग्नि, तीर व गोली का शिकार बने—हमें पीड़ित करनेवाला न हो। २. हे क्रव्यात्! **यः गोषु यक्ष्मः**=जो गौवों में रोग है, **पुरुषेषु यक्ष्मः**=पुरुषों

में रोग है, **तेन साकम्**=उस रोग के साथ **त्वम्**=तू **अधराङ्परा इहि**=नीचे की ओर गति करता हुआ दूर चला जा। क्रव्यात् अग्नि का रोगों के साथ नीचे के मार्ग से जाने का भाव यह है कि शरीर में ये मलद्वार अपना कार्य ठीक प्रकार से करते रहें—प्रत्येक रोग में सर्वप्रथम इस शोधन का ही ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ—'रोग, आपत्ति व मृत्यु' का कारणभूत क्रव्यात् अग्नि, तीर व गोली का शिकार बने—अर्थात् नष्ट हो। निचले मलद्वारों के मार्ग से सब रोग दूर चले जाएँ। शरीर में मल का संचय हो ही नहीं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'अघशंस—दुःशंस, कर-अनुकर व यक्ष्म' का निराकरण

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि॥ २॥

१. 'अघशंस' वे व्यक्ति हैं जोकि बुराई का शंसन करते हैं (शंस् to praise)। 'दुःशंस' वे हैं जोकि बुरी तरह से विनाश का कारण बनते हैं (शंस् to injure, hurt, kill)। इनके सहायक—इनका 'दाहिना हाथ' बने हुए व्यक्ति 'कर' हैं। इनकी नौकरी करनेवाले 'अनुकर' हैं। **अघशंसदुःशंसाभ्याम्**=अघशंस और दुःशंसों के साथ, **च**=और **करणे अनुकरणे**=इनके हाथ बने हुए सहायकों व भृत्यों के साथ होना **च**=और **सर्वं यक्ष्मम्**=जो सम्पूर्ण रोग है, **तेन**=उसके साथ **मृत्युं च**=मृत्यु को भी **इतः**=यहाँ से **निरजामसि**=बाहर—दूर फेंकते हैं।

भावार्थ—हम अपने 'राष्ट्र, समाज व परिवार' से 'अघशंस व दुःशंस लोगों को, उनके करों व अनुकरों को तथा सब रोगों को' दूर करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—आस्तारपङ्क्तिः ॥

'मृत्यु, ऋति व अराति' का निराकरण

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि॥ ३॥

१. प्रजापीड़क व्यक्ति 'क्रव्याद् अग्नि' है, तो पीड़कों से रक्षा करनेवाला राजा 'अक्रव्याद् अग्नि' है। राजा से प्रजावर्ग कहता है कि हम **इतः**=यहाँ अपने जीवन से **मृत्युम्**=मृत्यु को—रोगों को **निः अजामसि**=निकालकर दूर करते हैं। **ऋतिम्**=(ऋणोति to kill, attack) औरों पर आक्रमण करने व हिंसन की वृत्ति को **निः**=दूर करते हैं। **अरातिम् निः**=(अजामसि) अदान व कृपणता की वृत्ति को दूर करते हैं। जो व्यक्ति हम सबके प्रति द्वेष करता है **तम्**=उसे आप **अद्धि**=नष्ट (Destroy) कीजिए। **उ**=और **यं द्विष्मः**=जिस एक को हम सब प्रीति नहीं कर पाते **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **ते प्रसुवामसि**=तेरे प्रति प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में जब राजा 'अक्रव्याद् अग्नि' होता है—प्रजा को प्रजापीड़कों से रक्षित करता है तब प्रजा 'रोग, हिंसा की वृत्ति तथा कृपणता' से दूर होती है और राजा प्रजाद्वेषियों को उचित दण्ड देनेवाला होता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'क्रव्याद् अग्नि व व्याघ्र' का दूरीकरण

यद्यग्निः क्रव्याद्यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन्॥ ४॥

१. **यदि**=यदि **क्रव्यात् अग्निः**=प्रजा के मांस को खानेवाला कोई प्रजापीड़क राक्षसीवृत्तिवाला

मनुष्य **वा**=अथवा **अनि ओकाः**=न निश्चित निवास-स्थानवाला कोई **व्याघ्रः**=व्याघ्र—हिंस्र पशु **इमं गोष्ठं प्रविवेश**=इस गोष्ठ में—गौवों के निवास-स्थान में—प्रविष्ट हुआ है तो **तम्**=उसको **माषाज्यं कृत्वा**=(मष् हिंसायाम्, आजि=युद्धसाधनं आज्यम्=शस्त्र। **अज् गतिक्षेपणयोः। वज्रो हि आज्यम्**—श० १.३.२.१७) हिंसक शस्त्र बनाकर **दूरं प्रहिणोमि**=दूर प्रेरित करता हूँ। तीर (नड) व गोली (सीसे) द्वारा उसे दूर भागता हूँ। २. यह 'क्रव्याद् अग्नि व व्याघ्र' **अप्सुषदः**=प्रजाओं में आसीन होनेवाले **अग्नीन्**=राजपुरुषों की **अपि एतु**=ओर प्राप्त होनेवाला हो, अर्थात् राजपुरुष इन क्रव्याद् अग्नियों व व्याघ्रों को प्रजा से दूर रखने की व्यवस्था करें। ये **अप्सर**=(अप् सर Officers) प्रजा में विचरण करते हुए इन क्रव्यादों व व्याघ्रों से प्रजा को पीड़ित न होने दें।

भावार्थ—राजपुरुष दूर दफ्तरों में ही न बैठे रहकर प्रजाओं में विचरण करनेवाले बनें। इसप्रकार वे प्रजा में प्रवेश कर जानेवाले क्रव्याद् अग्नि (राक्षसों) व व्याघ्रों से प्रजा को बचाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

दण्ड का उद्देश्य 'सुधार'

यत्त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते।
सुकल्पमग्ने तत्त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=क्रव्यात् अग्ने—प्रजापीड़क पुरुष! **पुरुषे मृते**=तेरे द्वारा किसी पुरुष के मृत होने पर **मन्युना**=शोक से—दुःख से (मन्युर्शोकौ नु शुक् स्त्रियाम्) **क्रुद्धाः**=क्रुद्ध हुए-हुए व्यक्ति **त्वा प्रचक्रुः**=(प्रकृ Assault, outrage, insult) तुझपर आक्रमण करते हैं या तुझे अपमानित करते हैं, **त्वया तत् सुकल्पम्**=तेरे साथ वह उत्तम ही विधान है (कल्प=A sacred precept, rule)। २. वस्तुतः उचित दण्ड के द्वारा हम **पुनः**=फिर से **त्वा उद्दीपयामसि**=(Illuminate) तुझे प्रबुद्ध करते हैं। यह दण्ड तेरी प्रसुप्त मानव चेतना को जगानेवाला बनता है और तू फिर से क्रव्यात्पन को छोड़कर मानव बनता है—अब तू औरों को पीड़ित न करने का निश्चय करता है।

भावार्थ—जब एक क्रव्यात् (प्रजापीड़क) किसी पुरुष की हत्या का कारण बनता है तब मृत पुरुष के बन्धु व मित्र क्रुद्ध होकर उसपर आक्रमण करते हैं। यह क्रव्यात् के प्रति व्यवहार ठीक ही है। इसका मुख्य उद्देश्य क्रव्यात् की प्रसुप्त चेतना को जागरित करके उसे फिर से मानव बनाना ही होता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिगार्षीपङ्क्तिः ॥

नवजीवन प्रदाता 'तेतीस देव'

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद्दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर से **आदित्याः**=आदित्य **शतंशारदाय**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए **आधात्**=स्थापित करें। इसी प्रकार **रुद्राः**=रुद्र और **वसवः**=वसु तुझे शतशारद दीर्घायुत्व के लिए स्थापित करनेवाले हों। बारह आदित्य वर्ष के बारह मास हैं, दश प्राण व आत्मा ये ११ रुद्र हैं, 'पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार' वसु हैं। ये सबके सब तेरे दीर्घजीवन का साधन बनें। २. इन ३१ देवों के साथ **वसुनीतिः**=सब वसुओं को निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाला **ब्रह्मा**=सृष्टि-निर्माता प्रभु **पुनः**=फिर शतशारद दीर्घायुत्व के लिए स्थापित करे और **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का स्वामी प्रभु **पुनः**=फिर **त्वा**=तुझे शतशारद दीर्घायुत्व को प्राप्त कराये।

भावार्थ—'आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मा (Creater) तथा ब्रह्मणस्पति (Giver of knowledge)' ये सब हमें फिर से पवित्र जीवनवाला बनाकर सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—जगती ॥

मांस भोजन Vs. शाक भोजन

यो अग्निः क्रव्यात्प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे॥ ७॥

१. एक घर में जब तक शाकभोजन चलता है तब तक वह घर हव्याद् अग्निवाला होता हे। हव्य पदार्थों का प्रयोग करते हुए ये लोग अपनी बुद्धियों के विकास के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं, अतः यह 'हव्याद् अग्नि जातवेदस्' नामवाली होती है। **इमं इतरं जातवेदस्**=इस दूसरी जातवेदस् अग्नि को **पश्यन्**=देखती हुई **यः**=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांस भोजनवाली अग्नि **नः गृहम्**=हमारे घरों में **प्रविवेश**=घुस आती है, **तम्**=उसको **दूरं हरामि**=मैं घर से दूर करता हूँ। हम कई बार स्वादवश या मांसभोजन की पौष्टिकता के भ्रमवश मांसभोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं, यही 'क्रव्याद् अग्नि' का घर में प्रवेश है। २. इस क्रव्याद् अग्नि के प्रवेश से मानव के स्वभाव में क्रूरता व स्वार्थ का प्राबल्य होता है। तब हम बड़ों के आदर व सेवा को भूल जाते है, अतः इस क्रव्याद् अग्नि को मैं दूर करता हूँ, जिससे **पितृयज्ञाय**=हमारे घरों में पितृयज्ञ ठीक रूप से चलता रहे। **सः**=क्रव्याद् अग्नि को दूर करनेवाला व पितृयज्ञ को ठीक प्रकार से करनेवाला वह शाकभोजी पुरुष **परमे सधस्थे**=इस उत्कृष्ट, आत्मा व परमात्मा के मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **घर्मम्**=उस दीप्ति व मलों का क्षरण करनेवाले प्रभु को **इन्धाम्**=दीप्त करे, अर्थात् हृदय में प्रभुदर्शन करनेवाला बने।

भावार्थ—हमारे घरों में मांसभोजन की प्रवृत्ति न हो। हम शाकभोजी रहते हुए स्वार्थ व क्रूरता से दूर रहें। इसप्रकार हमारे घरों में पितृयज्ञ (बड़ों का आदर) सदा चलता रहे और हृदयों में हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

'क्रव्याद् अग्नि' 'रोग व दोष' प्रापकता

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥ ८॥

१. **क्रव्यादम् अग्निम्**=मांस खानेवाली अग्नि को **दूरं प्रहिणोमि**=मैं अपने से दूर भेजता हूँ। यह क्रव्याद् अग्नि **यमराज्ञः**=यमराज की है, अर्थात् इस मांसभक्षक अग्नि का सम्बन्ध मृत्यु की देवता से है—यह मांसभोजन मृत्यु का (रोगों का) कारण बनता है, अतः **रिप्रवाहः**=दोषों का वहन करनेवाला यह क्रव्याद् अग्नि **गच्छतु**=हमारे घरों से दूर ही जाए। हमारी प्रवृत्ति मांसभोजन की न हो जाए। २. **अयम्**=यह **इतरः**=मांसभोजन से दूसरा वानस्पतिक भोजनोंवाला **जातवेदाः**=ज्ञान के प्रादुर्भाववाला हव्याद् अग्नि ही **इह**=यहाँ हमारे घरों में हो। यह अग्नि **देवः**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय व दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाला है, अतः **प्रजानन्**=एक समझदार पुरुष **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए **हव्यं वहतु**=हव्य पदार्थों को ही इस जाठराग्नि में प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—मांसभोजन से जीवन रोगों व दोषों से परिपूर्ण बनता है, अतः हम दिव्यगुणों के विकास के लिए हव्य (सात्त्विक, वानस्पतिक) पदार्थों का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भाविपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः ॥

मांस भोजन व मृत्युदृंहण

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान्दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान्पितृणां लोकेऽपि भागो अस्तु॥ ९॥

१. राजा कहता है कि **इषितः**=प्रजा से प्रेरित किया हुआ मैं **जनान् मृत्युं दृंहन्तम्**=मनुष्यों की मृत्यु को दृढ़ करते हुए, अर्थात् लोगों में रोगों की वृद्धि करते हुए इस **क्रव्याद् अग्निम्**=मांसभक्षक अग्नि को **वज्रेण हरामि**=वज्र से—कठोर दण्ड से दूर करता हूँ। जब राजसभा 'मांसभक्षण-निषेध' का नियम बनाती हैं, तब राजा का कर्त्तव्य है कि कठोर दण्ड द्वारा इस मांसभक्षण की प्रवृत्ति को समाप्त करे। यह मांसभक्षण लोगों में रोगवृद्धि का कारण बनता है। २. राजा कहता है कि **विद्वान्**=मांसभक्षण के दोषों को जानता हुआ मैं **तम्**=उस मांसभक्षक को **निशास्मि**=निश्चित रूप से दण्डित करता हूँ। **गार्हपत्येन**=गार्हपत्य के हेतु से मैं उसे दण्डित करता हूँ। इसलिए मैं उसे दण्डित करता हूँ कि वह उत्तम गृहपति बने। सन्तानों का उत्तम निर्माण करनेवाला हो और **लोके**=इस लोक में **पितृणां अपि भागः अस्तु**=पितरों का भी उचित सेवन (भज सेवायाम्) हो। वस्तुतः मांसभोजी न तो सन्तानों का उत्तम निर्माण कर पाता है और न ही बड़ों का उचित सम्मान करनेवाला होता है। मांसभोजनवाले गृह में **'स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्'** वाली बात नहीं होती। देव मांसभोजी नहीं, मांस असुरों का भोजन है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में मांसभोजन को निषिद्ध रक्खे, जिससे लोग उत्तम गृहपति बनते हुए जहाँ सन्तानों का उत्तम निर्माण करें, वहाँ वृद्ध माता-पिता का भी आदर व सेवा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पितृयाण+देवयान

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः।
मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम्॥ १०॥

१. **क्रव्यादम् अग्निम्**=मांसभक्षक अग्नि को, जोकि **शशमानम्**=(शश् to jump) मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवाली है, **उक्थ्यम्**=चाहे वह कितनी भी प्रशंसित हो रही है तो भी, **प्रहिणोमि**=अपने से दूर भेजता हूँ। लोग मांस भोजन की कितनी भी प्रशंसा करें कि 'इससे तो शक्ति बढ़ती है, प्रभु ने इन पशुओं को मनुष्य के लिए ही तो बनाया है, हरिण आदि को न मारा जाएगा तो वे खेतियों को भी तो समाप्त कर डालेंगे' तो भी मैं मांसभोजन में प्रवृत्त नहीं होता। **पितृयाणैः पथिभिः**=पितृयाण-मार्गों पर चलने के हेतु से मैं मांसभोजन से दूर रहता हूँ। मांसभोजन मुझे स्वार्थी व क्रूर बनाकर वृद्ध पितरों की सेवा से भी दूर कर देता है। २. मांसभोजन से दूर रहनेवाले पुरुष से प्रभु कहते हैं कि तू **पुनः**=फिर, गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के बाद, **देवयानैः**=देवयान-मार्गों से चलता हुआ **मा आगाः**=मुझे प्राप्त हो। गृहस्थ कर्त्तव्यों की पूर्ति होने तक **अत्र एव एधि**=यहाँ ही हो, अर्थात् संन्यस्त न होकर घर में ही रह और **त्वम् पितृषु जागृहि**=पितरों में जागरित रह। उनके प्रति अपने कर्त्तव्य में प्रमाद न कर।

भावार्थ—मांसभोजन की कितनी भी प्रशंसा की जाए तो भी हम उसमें प्रवृत्त न हों। हम गृहस्थ में रहते हुए स्वकर्त्तव्य पालन करते हुए पितृयज्ञ को सम्यक्तया पालित करें। गृहस्थ समाप्ति पर देवयान-मार्ग से चलते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'संकसुक' अग्नि का दीपन

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति॥ ११॥

१. सद्गृहस्थ लोग **स्वस्तये**=कल्याण की प्राप्ति के लिए **संकसुकम्**=उत्तम (सम्यक्) गति देनेवाले उस ब्रह्माण्ड के शासक (कस गतौ शासने च) प्रभु को **समिन्धते**=अपने हृदयदेश में समिद्ध करते हैं। इसप्रकार वे **शुद्धाः भवन्तः**=शुद्ध होते हुए—अपना शोधन करते हुए **शुचयः**=पवित्र मनोवृत्तिवाले बनते हैं। **पावकाः**=अपने सम्पर्क में आनेवाले को भी पवित्र करते हैं। २. यह हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करनेवाला व्यक्ति **रिप्रम् जहाति**=दोष को त्यागता है। **एनः अति एति**=पाप को लाँघ जाता है। **समिद्धः अग्निः**=हृदयदेश में समिद्ध हुआ-हुआ यह अग्रणी प्रभु **सुपुना**=उत्तम पावन क्रिया से **पुनाति**=हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं।

भावार्थ—जब हम हृदयदेश में प्रभु को समिद्ध करते हैं तब वे प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं। यह प्रभु सम्पर्कवाला व्यक्ति दोषों को त्यागता है—पापों से ऊपर उठता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'देव, अग्नि, संकसुक' प्रभु

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत्।
मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः॥ १२॥

१. वे प्रभु **देवः**=सब विघ्नों को जीतनेवाले हैं, **अग्निः**=सब विघ्नों को समाप्त करके हमें आगे ले-चलनेवाले हैं, **संकसुकः**=सारे ब्रह्माण्ड को सम्यक् गति देनेवाले हैं। **दिवः पृष्ठानि आरुहत्**=ज्ञान के शिखरों पर आरोहण किये हुए हैं—सर्वज्ञान-सम्पन्न—ब्रह्मणस्पति हैं। २. ये प्रभु **एनसः**=पास से **निःमुच्यमानः**=पूर्णरूप मुक्त होते हुए—अपापविद्ध होते हुए—**अस्मान्**=हमें भी **अशस्त्याः**=अशस्ति से—अशुभ से **अमोक्**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु 'देव हैं, अग्नि हैं, संकसुक हैं'। ज्ञानशिखर पर आरुढ़ हुए-हुए अपापविद्ध हैं। ये प्रभु हमें सब अशुभों से मुक्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

यज्ञियाः, शुद्धाः

अस्मिन्वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ १३॥

१. **वयम्**=हम **अस्मिन्**=इस हृदयदेश में समिद्ध किये गये, **संकसुके अग्नौ**=ब्रह्माण्ड को सम्यक् गति देनेवाले अग्रणी प्रभु में **रिप्राणि**=दोषों को **मृज्महे**=धो डालते हैं। प्रभु स्मरण द्वारा जीवन को पवित्र बनाने के लिए यत्नशील होते हैं। २. प्रभुस्मरण द्वारा दोषों का प्रमार्जन करके हम **यज्ञियाः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त, **शुद्धाः**=शुद्ध जीवनवाले **अभूम**=हुए हैं। वे प्रभु **नः**=हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करें।

भावार्थ—प्रभुस्मरण द्वारा दोषों का प्रमार्जन करके हम यज्ञिय व शुद्ध बनें और दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'संकसुक, विकसुक, निर्ऋथ, निस्वर'

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः।
ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशन् ॥ १४ ॥

१. **संकसुकः**=वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड का सम्यक् शासन करनेवाले हैं। **विकसुकः**=विविधरूपों में लोक-लोकान्तरों को गति देनेवाले हैं। **निर्ऋथः**=पीड़ा का सर्वथा नाश करनेवाले हैं **च**=और प्रभु वे हैं **यः**=जो **निस्वरः**=उपताप से रहित हैं—अपने उपासकों से उपताप को दूर करनेवाले हैं। २. प्रभु का उपर्युक्त रूपों में स्मरण करते हुए और स्वयं भी वैसा बनते हुए **ते**=वे **सवेदसः**=ज्ञानी पुरुष (ज्ञान के साथ रहनेवाले पुरुष) **ते यक्ष्मम्**=तेरे राजरोग को **दूरात् दूरम्**=दूर-से-दूर **अनीनशन्**=नष्ट करें। प्रस्तुत मन्त्र में ब्राह्मण 'संकसुक' है—अपना सम्यक् शासन करनेवाला। क्षत्रिय 'विकसुक' है—राज्य के सब कार्यों को चलानेवाला—सब विभागों को गति देनेवाला। वैश्य 'निर्ऋथ' है—अन्नादि का सम्यक् उत्पादन करता हुआ यह प्रजा को पीड़ा से बचाता है। शूद्र 'निस्वर' है—बोलता कम है। शोधन आदि द्वारा उपताप को दूर करता है। ये सब अपना-अपना कार्य करते हुए, संज्ञान द्वारा राष्ट्र को रोगों से मुक्त रखते हैं।

भावार्थ—प्रभु को 'शासक—गति देनेवाले, पीड़ा व उपताप से दूर ले-जानेवाले' रूप में देखते हुए ज्ञानी पुरुष हमारे रोगों को सुदूर विनष्ट करें। राष्ट्र का उत्तम शासन करते हुए ये लोग राष्ट्र को रोगों से बचाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'जनयोपन' अग्नि को दूर करना

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

१. **यः**=जो भी **नः**=हमारे **अश्वेषु**=अश्वों के विषय में, **वीरेषु**=वीर सन्तानों के विषय में और **यः**=जो **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों में, **अजाविषु**=बकरियों व भेड़ों में पीड़ा पहुँचानेवाला मांसभक्षी पुरुष है उस **क्रव्यादम्**=मांसाहारी को **निर्णुदामसि**=सुदूर धकेल देते हैं। २. **यः**=जो भी **अग्निः**=अग्नि की भाँति सन्ताप पहुँचानेवाला व्यक्ति **जनयोपनः**=लोगों को विमूढ़ बनानेवाला है—उसको हम दूर करते हैं।

भावार्थ—जो भी मांसाहारी सन्तापक पुरुष घोड़ों, गौवों, भेड़-बकरियों व वीरों को पीड़ित करता है, उसका दूर करना आवश्यक है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—ककुम्मतीपराबृहत्यनुष्टुप् ॥

सर्वहित के लिए क्रव्याद् का निर्णोदन

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा।
निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

१. हम **त्वा**=तुझ 'क्रव्याद् अग्नि' को—मांसभक्षक सन्तापक पुरुष को **अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः**=अन्य पुरुषों के हित के लिए भी **निःनुदामसि**=दूर प्रेरित करते हैं। **गोभ्यः अश्वेभ्यः**=गौवों व घोड़ों के हित के लिए भी **त्वा**=तुझे दूर प्रेरित करते हैं। २. उस तुझको हम दूर प्रेरित करते हैं, **यः**=जो तू **जीवितयोपनः**=(योपयति destroy, blot out, obliterate) जीवन को नष्ट करनेवाला **अग्निः**=अग्निवत् सन्तापक है।

भावार्थ—सबके हित के लिए मांसभक्षक, अग्निवत् सन्तापक, जीवन के विनाशक पुरुष को दूर करना ही चाहिए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

घृतस्ताव का द्युलोक में आरोहण

यस्मिन्देवा अमृजत यस्मिन्मनुष्या उत।
तस्मिन्घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह॥ १७॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **देवाः अमृजत**=देववृत्ति के पुरुष अपना शोधन करते हैं, **उत**=और **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **मनुष्याः**=मननशील पुरुष भी—विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य भी अपना शोधन करते हैं, **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही हे **घृतस्तावः**=उस ज्ञानदीप्त (घृ दीप्तौ) निर्मल (घृ क्षरणे) प्रभु का स्तवन करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी—अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले पुरुष! **त्वम्**=तू **मृष्ट्वा**=अपना शोधन करके **दिवं रुह**=प्रकाशमय मोक्षलोक में आरोहण कर।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करनेवाले पुरुष आत्मजीवन का शोधन करते हुए मोक्षलोक में आरोहण करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—निचृदनुष्टुप् ॥

मा अपक्रमीः

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः। अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ १८॥

१. हे **आहुत**=(आ हुतं यस्य) समन्तात् विविध दानोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिद्धः**=आप हमारे द्वारा हृदयदेश में समिद्ध किये गये हो। **सः**=वे आप **नः**=हमसे **मा अभि अपक्रमीः**=दूर न होओ। हम आपसे कभी पृथक् न हों। २. **अत्र एव**=यहाँ हमारे हृदयों में ही **द्यवि दीदिहि**=अपने प्रकाशमयरूप में प्रदीप्त होओ। हम हृदयों में आपके प्रकाश को सदा देखें। **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए हों, अर्थात् दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—हम हृदयों में सदा प्रभु के प्रकाश को देखें, प्रभु से कभी दूर न हों और इस प्रकार दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'सीस व नड' प्रभु का स्मरण

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे॥ १९॥

१. 'किस प्रकार मनुष्य संसार में आता है, कुछ बड़ा होता है, शिक्षणालय को पूरा करके गृहस्थ में प्रवेश करता है, कुछ फूलता-फलता है, जिम्मेदारियों को समाप्त करके जाने की तैयारी करता है' यह सब-कुछ सोचने पर यह संसार एक शिरोवेदना के समान ही प्रतीत होता है—झंझट-ही-झंझट-सा लगता है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=इस **शीर्षक्तिम्**=शिरोवेदना को **सीसे मृड्ढ्वम्**=उस (षिञ् बन्धने, ई गतौ 'ईयते', स्यति 'षोऽन्तकर्मणि') संसार को बाँधनेवाले, उसे गति देनेवाले व उसका अन्त करनेवाले 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' हेतु प्रभु में शोध डालो—प्रभु स्मरण द्वारा सिरदर्दी को दूर कर डालो। प्रभु-स्मरण होने पर संसार-यात्रा सुखेन पूर्ण हो जाती है। **नडे मृड्ढ्वम्**=(नड गहने) उस गहन (Incomprehensible) अचिन्त्य प्रभु से इसे शोध डालो। इससे उस 'नड' प्रभु में विलीन हुआ-हुआ मन परेशान नहीं होता। च=और उस **संकसुके अग्नौ**=सम्यक् शासन करनेवाले—सम्यक गति देनेवाले अग्रणी प्रभु में इस सिरदर्द को

शोध डालो। प्रभु-स्मरण उस शान्ति व शक्ति को देगा, जिससे यह यात्रा ठीक प्रकार से पूर्ण हो जाएगी। २. **अथो**=और **रामायां अव्याम्**=सर्वत्र रमण करनेवाले (अव रक्षणे) सर्वरक्षक प्रभु में इस शिरोवेदना का अन्त कर डालो। प्रभुचिन्तन संसार को सुखद बना देगा। अन्त में **उपबर्हणे**=उस उपासकों की वृद्धि के कारणभूत ब्रह्म में (बृहि वृद्धौ) इस वेदना का अन्त कर डालो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें कि वे संसार की 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' का हेतु हैं। अचिन्त्य हैं, शासक व गति देनेवाले हैं, सर्वरक्षक व सर्वत्र रमण करनेवाले हैं। वे प्रभु उपासकों की वृद्धि के कारणभूत हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण होने पर यह संसार हमारे लिए सिरदर्द न बनेगा।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

शुद्धाः यज्ञियाः

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥

१. **सीसे**=(षिञ् बन्धने, ई गतौ, षोऽतकर्मणि) संसार की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय के हेतुभूत ब्रह्म में **मलम्**=मन की सब मैल को **सादयित्वा**=नष्ट करके तथा **उपबर्हणे**=उपासकों की वृद्धि के कारणभूत ब्रह्म में **शीर्षक्तिम्**=सब सिरदर्दी को समाप्त करके, **अव्याम्**=उस सर्वरक्षक **असिक्न्याम्**=अजर (जरा से पलित न होनेवाले) प्रभु में **मृष्ट्वा**=अपने को शुद्ध बनाकर **शुद्धाः**=पवित्र व **यज्ञियाः**=यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त **भवत**=हो जाओ।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमारे मन की मैल को नष्ट करता है। इस उपासना से संसार हमारे लिए सिरदर्द नहीं बना रहता। उस सर्वरक्षक, अजरामर प्रभु का चिन्तन हमें शुद्ध व पवित्र बना देता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मृत्यु का मार्ग (देवयान से दूर)

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥ २१ ॥

१. शुद्ध-पवित्र बनकर हम मृत्यु से कह सकते हैं कि **मृत्यो**=हे मृत्युदेवते! तू **परं पन्थाम्**=सुदूर मार्ग को **अनु**=लक्ष्य करके **परेहि**=हमसे दूर चली जा। उस मार्ग पर जा **यः**=जो **एषः**=यह **ते**=तेरा है। **देवयानात् इतरः**=जो मार्ग देवयान से भिन्न है। देवों का मार्ग देने का है, 'देवो दानात्'। असुरों का मार्ग खाने का है 'स्वेष्वास्येषु जह्वतश्चेरुः'। २. हे मृत्यो! **चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि**=देखती व सुनती तेरे लिए मैं यह कहता हूँ कि **इह**=यहाँ हमारे घर में **इमे वीराः**=ये वीर सन्तान **बहवः भवन्तु**=(बृहते, बृहि वृद्धौ) वृद्धिशील हों। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ये उन्नति करनेवाले हों।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से गति करते हुए मृत्यु से बचे रहें—हमारे सन्तान भी 'शरीर, मन व बुद्धि' के दृष्टिकोण से वृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

भद्रा देवहूतिः

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

१. **इमे**=घर में रहनेवाले ये व्यक्ति **जीवा:**=जीवित हों—मुर्दे-से न हों। ये **मृतै: वि आववृत्रन्**=मृत्युओं (रोगों) से पृथक् हों। ये रोगाक्रान्त होकर असमय में ही चले न जाएँ। **न:**=हमारे लिए **अद्य**=आज **देवहूति:**=देवों का आह्वान, अर्थात् देववृत्ति के लोगों का अतिथिरूपेण घर पर आना-जाना **भद्रा अभूत्**=कल्याणकर हो। २. उनसे प्रेरणा लेकर **प्राञ्च: अगाम**=हम आगे और आगे बढ़नेवाले हों। **नृतये हसाय**=नाचते व हँसते हुए हम आगे बढ़ते चलें। हम **सुवीरास:**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम् आवदेम**=ज्ञान का ही चर्चण करें। हमारा समय ज्ञान की चर्चाओं में ही उपयुक्त हो।

भावार्थ—हम रोगों से बचकर जीवनशक्ति से परिपूर्ण हों। विद्वानों के सम्पर्क में, उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके आगे बढ़ते चलें। प्रसन्नता से व वीरतापूर्ण जीवन से युक्त होकर हम ज्ञान की ही चर्चा करें।

ऋषि:—भृगु: ॥ देवता—मृत्यु: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥

'मर्यादित—पुरुषार्थमय' दीर्घजीवन

इमं जीवेभ्य: परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्त: शरद: पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ २३॥

१. **जीवेभ्य:**=जीवों के लिए **इमं परिधिं दधामि**=इस मर्यादा की स्थापना करता हूँ। जीव प्रत्येक कार्य को मर्यादा में करनेवाले हों। अति को छोड़कर सब कार्यों में मध्यमार्ग का अवलम्बन करें। २. **नु**=निश्चय से **एषाम्**=इनके **एतं अर्थम्**=इस धन को **अपर: मा गात्**=दूसरा प्राप्त न हो। सब अपने पुरुषार्थ से धनार्जन करनेवाले हों। दूसरे से धन लेने की कामना ही न करें। अपने पुरुषार्थ से खानेवाले ही 'उत्तम' हैं, पिता से लेकर खानेवाले 'मध्यम', मामा का खानेवाले 'अधम' व श्वसुर पर आश्रित होनेवाले 'अधमाधम' हैं। ३. सब जीव **शतं शरद: जीवन्त:**=सौ वर्ष तक जीएँ। जीएँ भी **पुरूची:**=अत्यन्त गतिशील होते हुए। अकर्मण्य होकर खाट पर लेटे-लेटे जीना कोई जीना नहीं है। ४. **पर्वतेन**=(पर्व पूरणे) निरन्तर अपने पूरण के द्वारा—कमियों को दूर करते रहने के द्वारा **मृत्युं तिर: दधताम्**=मृत्यु को अपने से तिरोहित ही रक्खें। प्रतिदिन का यह पूरण मृत्यु को हमारे समीप न आने दे।

भावार्थ—[हम मर्यादा में चलें। पुरुषार्थ से धन कमाएँ। सौ वर्ष तक जीएँ और मृत्यु को अपने से दूर ही रक्खें। —सम्पा०]

ऋषि:—भृगु: ॥ देवता—मृत्यु: ॥ छन्द:—त्रिष्टुप् ॥

अनुपूर्व यतमाना:

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान्वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषा: सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥ २४॥

१. **यति स्थ**=इस घर में जितने भी आप सब हों वे **अनुपूर्वं यतमाना:**=क्रमश: गृह की स्थिति को उत्तम बनाने के लिए प्रयत्न करते हुए **आयु: आरोहत**=जीवन में आगे और आगे बढ़ो। **जरसं वृणाना:**=आप जरावस्था का वरण करनेवाले बनो। यौवन में ही आपका जीवन समाप्त न हो जाए। पिता के बाद पुत्र आता है। पिता ने जैसे घर को अच्छा बनाने का यत्न किया था, उसी प्रकार पुत्र गृहस्थिति को और अधिक उन्नत करने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रकार अनुपूर्व यत्न करते हुए सब पूर्ण जरावस्था तक जीनेवाले बनते हैं। पुत्र कभी पिता से पहले चला नहीं जाता। २. **तान् व:**=उन गृह में रहनेवाले आप सबको **त्वष्टा**=संसार का

निर्माता प्रभु **सुजनिमा**=उत्तम जन्मों को देनेवाला व **सजोषाः**=सदा हृदयों में हमारे साथ प्रीतिपूर्वक स्थित होनेवाला **जीवनाय**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन के लिए **सर्वम् आयुः जयतु**=पूर्ण जीवन को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम अपने घरों में सदा उत्तम स्थिति के लिए प्रयत्न करते हुए, आगे बढ़ें। प्रभु से संगत हुए-हुए जीवन को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अविच्छिन्न पूर्ण जीवन

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ २५॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **अहानि**=दिन **अनुपूर्वं भवन्ति**=अनुक्रम से आते रहते हैं—एक दिन के बाद दूसरा दिन आ जाता है और उससे लगा हुआ तीसरा दिन और इस प्रकार यह दिनों का क्रम चलता है, **धातः**=हे सबका धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**=इसी प्रकार **एषाम्**=इन तपस्वी (भृगु) पुरुषों के **आयूंषि कल्पय**=जीवनों को बनाइए। **यथा**=जैसे **ऋतवः**=ऋतुएँ **ऋतुभिः साकं यन्ति**=ऋतुओं के साथ गतिवाली होती है, जैसे इन ऋतुओं का क्रम अविच्छिन्नरूप से चलता जाता है, इसीप्रकार इन भृगुओं के जीवन में भी 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' का क्रम अविच्छिन्न रूप से पूर्ण हो। ३. **यथा**=जैसे **पूर्वम्**=पूर्वकाल में उत्पन्न हुए-हुए पिता को **अपरः न जहाति**=अर्वाक् काल में होनेवाला सन्तान नहीं छोड़ता है, अर्थात् पिता से पूर्व ही जीवन को समाप्त करके चला नहीं जाता, इस प्रकार हे प्रभो! इन स्वभक्तों के जीवनों को भी बनाइए। कोई भी व्यक्ति शत वर्ष से पूर्व ही जानेवाला न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी जीवन-यात्रा मध्य में ही विच्छिन्न न हो जाए। पुत्र पिता से पूर्व कभी न चला जाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अश्मन्वती नदी

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २६॥

१. यह संसार नदी **अश्मन्वती**=पत्थरोंवाली है—इसमें तैरना सुगम नहीं। विविध प्रलोभन ही इसमें पत्थरों के समान हैं। **रीयते**=यह निरन्तर चल रही है—संसार में रुकने का काम नहीं। **संरभध्वम्**=एक-दूसरे के साथ मिलकर तैयार हो जाओ। **वीरयध्वम्**=वीरतापूर्वक आचरण करो। **सखायः प्रतरत**=मित्र बनकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर, इस नदी को तैर जाओ। २. **ये दुरेवाः असन्**=जो भी दुराचरण हों, उन्हें **अत्रा जहीत**=यहाँ ही छोड़ जाओ। उनके बोझ को लादकर तैरना सुगम न होगा। इन अशुभों को छोड़कर **अनमीवान्**=रोगरहित **वाजान् अभि**=शक्तियों को लक्ष्य बनाकर **उत्तरेम**=इस नदी को तैर जाएँ।

भावार्थ—प्रलोभन-पाषाणों से परिपूर्ण इस भव-नदी को तैरना आसान नहीं। यहाँ साथी बनकर वीरता से हम इस नदी को पार करने का संकल्प करें। अशुभों को यहीं छोड़कर नीरोगता देनेवाली शक्तियों को लेकर हम परले पार उतरें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अशिव-त्याग व शिव-प्राप्ति

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २७॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **उत्तिष्ठत**=उठो—आलस्य को छोड़ो। **प्रतरत**=इस नदी को तैरने के लिए यत्नशील होओ। **इयम्**=यह **अश्मन्वती**=पथरीली—प्रलोभन-पाषाणों से परिपूर्ण **नदी**=संसाररूप नदी **स्यन्दते**=बह रही है। २. **ये अशिवाः असन्**=जो भी अकल्याणकर पदार्थ हों, **अत्रा जहीत**=उन्हें यहाँ ही छोड़ जाओ। **स्योनान्**=सुखकर **शिवान्**=कल्याण के साधक **वाजान् अभि**=बलों का लक्ष्य करके **उत्तरेम**=हम नदी को पार कर जाएँ। अशुभ कर्मों का बोझ हमें इस नदी में डुबोएगा ही—परस्पर लड़ते हुए भी हम इस नदी में डूबेंगे ही, अतः सखा बनकर तथा अशिवों को छोड़कर हम इस नदी को तैरने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार-नदी को तैरने के लिए आवश्यक है कि (क) आलस्य को छोड़ा जाए (ख) मित्रभाव से सबके साथ वर्ता जाए (ग) अशुभों को छोड़ने का प्रयत्न किया जाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वैश्वदेवी 'वेदवाणी'

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥ २८॥

१. हे मनुष्यो! **वैश्वदेवीम्**=सब दिव्यगुणों की जननी इस वेदवाणी को **वर्चसे**=तेजस्विता की प्राप्ति के लिए **आरभध्वम्**=प्रारम्भ करो। इस वेदवाणी का अध्ययन तुम्हें सब बुराइयों से बचाकर अच्छाइयों की ओर ले-चलेगा। उस समय तुम **शुद्धाः भवन्तः**=मलों से रहित होते हुए, **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र बनोगे और **पावकाः**=अपने मनों को पूर्ण पवित्र बना पाओगे। २. तुम्हारी यही कामना हो कि **दुरिता पदानि**=सब दुराचरण के मार्गों को **अतिक्रामन्तः**=उल्लंघन करते हुए, **सर्ववीराः**=सब वीर सन्तानोंवाले होते हुए हम **शतं हिमाः मदेम**=सौ वर्ष तक आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन हमें तेजस्वी बनाएगा, शुद्ध, शुचि व पवित्र करेगा। उस समय हम दुरितों से दूर रहकर, वीर बनते हुए शतवर्षपर्यन्त उल्लासमय जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वायुमद्भिः उदीचीनैः

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान्परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन॥ २९॥

१. **उदीचीनैः**=उत्कर्ष की ओर ले-जानेवाले (उद् अञ्च), **वायुमद्भिः**=प्राणसाधना से युक्त, जिनमें प्राणायाम आदि का अभ्यास किया जाता है, हम उन **परेभिः पथिभिः**=उत्कृष्ट मार्गों से **अवरान्**=निम्न भोगमार्गों—राजस् व तामस् मार्गों को **अतिक्रामन्तः**=लाँघकर आगे बढ़ते हुए हों। प्राणसाधना के द्वारा हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर स्वस्थ बनें। २. इसप्रकार **ऋषयः**=वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **त्रिः सप्तकृत्वः**=तीन बार 'मन, वाणी व कर्म' के दृष्टिकोण से तथा सात बार 'दो कानों, दो नासिका छिद्रों, दो आँखों व मुख' के दृष्टिकोण से **परेताः**=(परा इताः) उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुए। 'मन, वाणी व कर्म' के दृष्टिकोण

से तथा कान आदि सातों होताओं के दृष्टिकोण से पवित्र बनें। इन्होंने **पदोपनेन मृत्युं प्रत्यौहन्**=मृत्यु के चरणों को विमोहन (to destroy, obliterate, blot out) द्वारा—रोगों के कारणों को दूर करने के द्वारा मृत्यु को अपने से परे विनष्ट किया (उहिर् वधे)।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए उत्कृष्ट मार्ग पर चलें। मन, वाणी व कर्म के दृष्टिकोण से तथा सातों 'कर्णौ, नासिके, चक्षुषी, मुखम्' के दृष्टिकोण से पवित्र बनते हुए उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हों। मृत्यु के कारणों को दूर करते हुए दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सधस्थे आसीनाः

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम॥ ३०॥

१. **मृत्योः पदम्**=मृत्यु के पद को—रोगों के कारणों को **योपयन्तः**=मिटाते हुए **एत**=(आ-इत) समन्तात् कर्त्तव्य-कर्मों में गतिशील होओ। इसप्रकार **द्राघीयः**=दीर्घ व **प्रतरम्**=उत्कृष्ट **आयुः दधानाः**=जीवन को धारण करते हुए होओ। २. **सधस्थे**=प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **आसीनाः**=बैठे हुए, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए **मृत्युं नुदत**=मृत्यु को परे धकेल दो। **अथ**=अब **जीवासः**=जीवनीशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम **विदथम् आवदेम**=समन्तात् ज्ञान का प्रवचन करें।

भावार्थ—मृत्यु के कारणों को दूर करते हुए हम दीर्घ, उत्कृष्ट जीवन को धारण करें। हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए मृत्यु को दूर करें। जीवनशक्ति से परिपूर्ण होते हुए हम ज्ञान का प्रवचन करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पत्नी

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ३१॥

१. **इमाः नारीः**=ये स्त्रियाँ **अविधवाः**=विधवा न हों—पतियों से वियुक्त न हों। **सुपत्नी**=उत्तम पतियोंवाली होती हुई **आञ्जनेन**=(अञ्जनं Fire) अग्निहोत्र के साधनभूत **सर्पिषा संस्पृशन्ताम्**=घृत से युक्त हों। सदा घृत से अग्निहोत्र करनेवाली हों। २. **अनश्रवः**=ये आसुओं से रहित हों। **अनमीवाः**=रोगरहित हों। **सुरत्नाः**=उत्तम रमणीय धनोंवाली हों। ये **जनयः**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली देवियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु**=घर में आगे आरोहण करें—अर्थात् घरों में आदरणीय स्थानों में आरूढ़ हों।

भावार्थ—पत्नी की स्थिति जितनी उत्कृष्ट होगी, उतना ही घर उत्तम बनेगा। ये कष्ट में न हों, नीरोग हों, रमणीय धनोंवाली हों। अग्निहोत्र करनेवाली हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ ३२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **एतौ**=इन दोनों पति-पत्नी को **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **व्याकरोमि**=(वि आ कृ) विशिष्टरूप से

समन्तात् निर्मित करता हूँ, अर्थात् अग्निहोत्र की प्रवृत्ति के द्वारा—सदा यज्ञशेष (अमृत) के सेवन से इनके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुपुष्ट होते हैं। **तौ**=उन दोनों पति-पत्नी को **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **विकल्पयामि**=विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनता हूँ। (क्लृप् सामर्थ्ये)। ज्ञान की प्रवृत्ति इन्हें, विलासवृत्ति से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न करती है। २. इनके घर में **पितृभ्यः**=वृद्ध माता-पिता के लिए **स्वधाम्**=स्वधा को—पितरों के लिए दीयमान अन्न को (पितृभ्यः स्वधा) **अजरां कृणोमि**=न जीर्ण होनेवाला करता हूँ। इनके यहाँ वृद्ध माता-पिता को सदा उत्तम भोजन प्राप्त रहता है। इसप्रकार ये पति-पत्नी देवयज्ञ (हविषा), ब्रह्मयज्ञ (ब्रह्मणा) तथा पितृयज्ञ (पितृभ्यः स्वधा) को नियम से करते हैं। इसप्रकार **इमान्**=इस घर में रहनेवाले इन सब लोगों को **दीर्घेण आयुषा**=दीर्घजीवन से **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ—ये सब इन यज्ञों के कारण दीर्घजीवी बनते हैं।

भावार्थ—हवि के द्वारा हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पुष्ट करनेवाले बनें। ज्ञान के द्वारा हम विशिष्ट सामर्थ्यवाले हों। पितृयज्ञ को कभी विस्मृत न करें। यही दीर्घजीवन की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रभु की प्रीति

यो नो॑ अ॒ग्निः पि॑तरो हृ॒त्स्व१॒॑न्तरा॑वि॒वेशा॒मृतो॒ मर्त्ये॑षु।
मय्य॒हं तं परि॑ गृह्णामि दे॒वं मा सो अ॒स्मान्द्वि॑क्षत॒ मा व॒यं तम्॥ ३३॥

१. हे **पितरः**=ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **यः**=जो **नः मर्त्येषु**=हम मरणधर्मा पुरुषों के **हृत्सु अन्तः**=हृदयों के अन्दर **अमृतः अग्निः**=अविनाशी अग्रणी प्रभु **आविवेश**=प्रविष्ट हुए-हुए हैं, **अहम्**=मैं **तं देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **मयि परिगृह्णामि**=अपने अन्दर ग्रहण करता हूँ। उस प्रभु को अपने हृदय में देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **सः**=वह प्रभु **अस्मान् मा द्विक्षत**=हमारे प्रति अप्रीतिवाला न हो—**वयम्**=हम **तम्**=उस प्रभु को **मा**=अप्रीति करनेवाले न हों। हमें प्रभु की उपासना प्रिय हो और इस प्रकार हम प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—पितरों की कृपा से हम हृदयों में प्रभु को देखनेवाले बनें। सदा प्रभु के उपासक हों और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सरलता व उदारता

अ॒पा॒वृत्य॒ गार्ह॑पत्यात्क्र॒व्यादा॒ प्रेत॒ दक्षि॒णा।
प्रि॒यं पि॒तृभ्य॑ आ॒त्मने॑ ब्र॒ह्मभ्यः॑ कृणुता प्रि॒यम्॥ ३४॥

१. **क्रव्यादा अपावृत्य**=(क्रव्य अद्) मांसभक्षण की प्रवृत्ति से हटकर—कभी मांस-सेवन न करते हुए—**गार्हपत्यात्**=गार्हपत्य के हेतु से, अर्थात् घर को उत्तम बनाने के हेतु से, **दक्षिणा प्रेत**=(दक्षिणे सरलोदारौ) सरल व उदार मार्ग से चलो। सरलता व उदारता ही घर को उत्तम बनाएगी, कुटिलता व कृपणता घरों के पतन का हेतु बनती हैं। २. यहाँ तक घर में रहते हुए तुम **पितृभ्यः प्रियं कृणुत**=पितरों के लिए प्रिय कर्म ही करो। **आत्मने**=जो तुम्हें प्रिय लगता हो—वैसा ही दूसरों के साथ करो। **ब्रह्मभ्यः प्रियं (कृणुत)**=ब्रह्मज्ञानियों के लिए जो प्रिय हो वैसा ही करो। पितरों के लिए प्रिय करना ही 'पितृयज्ञ' है। ब्रह्मज्ञानियों का प्रिय करना 'ब्रह्मयज्ञ' व 'अतिथियज्ञ' है। पितृयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति औरों के साथ वैसा ही वर्तता है, जैसाकि वह औरों से बर्ताव की अपेक्षा करता है।

भावार्थ—मांसभक्षण हमें सरलता व उदारता से दूर ले-जाता है और परिणामतः घर को

छिन्न-भिन्न कर देता है। हम पितरों के लिए, ब्रह्मज्ञानियों के लिए प्रिय कार्यों को करते हुए औरों के साथ वैसा ही बरतें जैसाकि हम उनसे अपने प्रति बतार्व चाहते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मांसभक्षण का परिणाम

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

१. यः=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांसभक्षक अग्नि **अनिराहितः**=बाहर स्थापित नहीं किया जाता, अर्थात् यदि हममें मांसभक्षण की प्रवृत्ति आ जाती है, तो यह भक्षण प्रवृत्ति **ज्येष्ठस्य पुत्रस्य**=ज्येष्ठ पुत्र के **द्विभागधनम् आदाय**=दुगने भाग में प्राप्त हुए-हुए धन को भी **अवर्त्या प्रक्षिणाति**=दरिद्रता से विनाश कर देती है। (अवर्ति Bad fortune, poverty)। २. मांसभक्षण की प्रवृत्ति भाइयों के पारस्परिक प्रेम को भी कम कर देती है। उनके दायविभाग में भी कलह उत्पन्न हो जाते हैं। बड़ा भाई दुगुना हड़पने की वृत्तिवाला बनता है, परन्तु यह दुगुना धन भी उसका मांसभक्षण आदि दुर्व्यसनों में समाप्त हो जाता है। इस घर में दरिद्रता व दौर्भाग्य का राज्य हो जाता है।

भावार्थ—मांसभक्षण से परस्पर प्रेम नहीं रहता। भाई आपस में दायविभाग पर ही लड़ पड़ते हैं। यदि अन्याय से बड़ा लड़का दुगना धन ले भी लेता है, तो भी वह शीघ्र ही धन को व्यसनों में समाप्त करके दरिद्र हो जाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

कृषते, वनुते, वस्नेन विन्दते

यत्कृषते यद्वनुते यच्च वस्नेन विन्दते। सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः ॥ ३६ ॥

१. **यत्**=यदि **क्रव्यात् अनिराहितः**=मांसभक्षक अग्नि घर से दूर नहीं स्थापित किया जाता, अर्थात् यदि मांसभक्षण प्रवृत्ति से दूर नहीं रहा जाता तो **मर्त्यस्य तत् सर्वं नास्ति**=मनुष्य का वह सब नष्ट हो जाता है **यत्**=जो वह **कृषते**=कृषि द्वारा प्राप्त करता है, **यद् वनुते**=वह पिता की सम्पत्ति में संविभाग द्वारा प्राप्त करता है, **च**=और **यत्**=जो **वस्नेन विन्दते**=(वस्न=मूल्य) क्रय-विक्रय व्यवहार से प्राप्त करता है।

भावार्थ—मांसभक्षण की प्रवृत्ति मनुष्य को क्रूर व विलासी बनाकर विनाश की ओर ले-जाती है। यह उसके सब धन के विनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

अयज्ञियः, हतवर्चाः

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद्यं क्रव्यादनुवर्तते ॥ ३७ ॥

१. **क्रव्यात् यं अनुवर्तते**=मांसभक्षक अग्नि जिसका अनुवर्तन करती है, अर्थात् जो मांसभक्षण की प्रवृत्तिवाला बनता है, वह **अयज्ञियः भवति**=यज्ञों की प्रवृत्तिवाला नहीं रहता—श्रेष्ठ कर्मों से दूर होकर क्रूर कर्मों को करने में प्रवृत्त हो जाता है। विलास में पड़ा हुआ यह मनुष्य **हतवर्चाः**=नष्ट तेजवाला होता है। **एनेन हविः अत्तवे न**=इससे दानपूर्वक अदन (हवि) नहीं किया जाता—यह सारे-का-सारा खाने की करता है—अपने ही मुँह में आहुति देनेवाला असुर बन जाता है। २. यह क्रव्याद् अग्नि इस मांसाहारी को **कृष्याः धनात् छिनत्ति**=कृषि से उत्पन्न धन से पृथक् कर देती है। **गोः (धनात्)**=गौवों के पालन से प्राप्त धन से पृथक् कर

देती है। यह कृषि व गो-पालन आदि से दूर होकर सट्टे आदि में प्रवृत्त हो जाता है। अपने विलासमय जीवन के लिए एक रात में ही धनी बनने के स्वप्न देखा करता है।

भावार्थ—मांसाहारी 'अयज्ञिय व हतवर्चा' हो जाता है। यह असुर बन जाता है। इसे कृषि व गोपालन के स्थान में सट्टे का व्यापार प्रिय हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषयों का आकर्षण

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य। क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति॥ ३८॥

१. **यान्**=जिन पुरुषों को **क्रव्यात् अग्निः**=यह मांसभक्षक अग्नि **अन्तिकात्**=समीप से **अनुविद्वान्**=अनुक्रम से वेदना को प्राप्त कराता हुआ (विद्—वेदना का अनुभव) **वितावति**=(तु हिंसायाम्) विशेषरूप से हिंसित करता है, वह **मर्त्यः**=मनुष्य **आर्तिं नि इत्य**=पीड़ा को निश्चय से प्राप्त करके भी **मुहुः**=फिर **गृध्यैः प्रवदति**=भोगलिप्सुओं के साथ बात करता है। अपने भोगप्रवण साथियों के वातावरण से दूर नहीं हो पाता। मांसभोजन आरम्भ में बेशक स्वादिष्ट व उत्तेजक हो, परन्तु कुछ देर बाद यह पीड़ाओं व रोगों का कारण बनने लगता है। धीमे-धीमे यह वेदना को प्राप्त कराता हुआ हिंसा का कारण बनता है, परन्तु विषयों का स्वभाव ही ऐसा है कि मनुष्य पीड़ित होकर भी फिर अपने भोगप्रवण साथियों के संग में इन भोगों में आसक्त हो जाता है।

भावार्थ—मांसभोजन विविध पीड़ाओं का कारण बनता है, परन्तु मांसभोजनादि में आसक्त पुरुष पीड़ित होकर भी इन विषयों को छोड़ नहीं पाता।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मांसभोजन से रोग व मृत्यु

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत्॥ ३९॥

१. **ब्रह्म विद्वान् एव**=चतुर्वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष ही **एष्यः**=ढूँढना चाहिए **यः**=जोकि उचित ज्ञान देकर **क्रव्यादम्**=इस मांसभक्षक अग्नि को **निरादधत्**=हमारे घरों से दूर ही स्थापित करे। यह ज्ञानी पुरुष मनुष्यों को समझाए कि इस मांसभोजन के परिणामस्वरूप **गृहाः**=घर **ग्राह्या**=जकड़ लेनेवाले, गठिया आदि रोगों से **संसृज्यन्ते**=संसृष्ट—युक्त हो जाते हैं। मांसभोजन इसलिए हेय है **यत्**=चूँकि **स्त्रियाः पतिः म्रियते**=स्त्री का पति असमय में ही काल के वश में हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष गृहस्थों को उपदेश दे कि मांसभोजन से गठिया आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है और मनुष्य की असमय में ही मृत्यु हो जाती है, अतः यह त्याज्य है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

'रिप्र, शमल, दुष्कृत' निराकरण

यद्रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्।
आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत्॥ ४०॥

१. **यत् रिप्रम्**=जिस दोष को, **शमलम्**=पाप (sin) को, **च**=और **यत् दुष्कृतम्**=जिस दुष्कर्म—अशुभ व्यवहार को **चकृम**=हम कर बैठें, **आपः**=(आपो नाराः इति प्रोक्ताः, आप्नुवन्ति सद्गुणान् याः ताः) उत्तम गुणोंवाले पुरुष **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस पाप से **शुम्भन्तु**=शुद्ध करनेवाले हों। वे आप्त पुरुष उत्तम ज्ञान देकर मेरे दुर्गुणों को दूर करनेवाले हों। २. **च**=तथा **यत्**=जो भी

संकसुकात् अग्ने:=संकसुक अग्नि, अर्थात् सम्यक् शासन करनेवाले व सारे ब्राह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभु से दूर होकर हम भी पाप कर बैठते हैं, उस सबसे ये आप्त पुरुष मुझे दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—हम कर्मों में जो भी त्रुटि कर बैठते हैं या अशुभ व्यवहार कर बैठते हैं, उस सबसे सद्गुणी पुरुष हमें दूर करनेवाले हों। उस शासक, गति-प्रदाता प्रभु को भूलकर हम जो पाप कर बैठते हैं, उससे भी ये आप्त पुरुष हमें पृथक् करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रजानतीः (आपः)

ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन्प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः॥ ४१॥

१. **ताः**=वे **प्रजानतीः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली आप्त प्रजाएँ **अधरात्**=निम्न मार्गों को छोड़कर **उदीचीः**=उत्कृष्ट मार्गों से गति करनेवाली होती हुई **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **आववृत्रन्**=कर्मों में आवर्तनवाली होती हैं। ज्ञानी पुरुष सदा निम्न मार्गों को छोड़कर उत्कृष्ट मार्गों से चलते हैं। ये आसुरभावों को त्यागकर दैवी प्रवृत्तियों को अपनाते हैं। २. **पर्वतस्य**=पूरण करनेवाले **वृषभस्य**=सुखों के वर्षक प्रभु के **अधिपृष्ठे**=आश्रय में—प्रभु की गोद में **पुराणीः सरितः**=क्षीण (Decayed) हुई-हुई नदियाँ फिर से **नवाः चरन्ति**=नवीन होकर गतिवाली होती हैं। जैसे वृष्टिवाले पर्वत पर क्षीण हुई-हुई नदियाँ फिर से जलपूर्ण होकर प्रवाहवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारा पूर्ण करनेवाले, सुखों के वर्षक प्रभु के आश्रय में हमारा निम्न स्तर का जीवन पुनः उच्च स्तर का बन जाता है। हम नीचे से ऊपर आ जाते हैं। आसुरमार्ग को छोड़कर दिव्यमार्ग का आश्रय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की गोद में हम निम्न मार्ग को छोड़कर उत्कृष्ट मार्ग पर गति करनेवाले बनें। प्रभुस्मरण हमें देवयान में प्रेरित करे। क्षीण हुए-हुए हम फिर से पूर्ण हो जाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिपदाभुरिगार्चीगायत्री ॥

देवयजन की प्राप्ति

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह॥ ४२॥

१. हे **अक्रव्यात् अग्ने**= अमांसभक्षक—सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले अग्रणी पुरुष! तू ज्ञानोपदेश के द्वारा **क्रव्यादं नुद**=मांसभक्षक अग्नि को हमसे दूर कर—हमें मांसभोजन की प्रवृत्ति से बचा और इसप्रकार **देवयजनं आवह**=देवयजन को सब प्रकार से प्राप्त करा। हम आपके द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके देवों के समान यज्ञशील बन जाएँ। २. मांसभक्षण हमें स्वार्थी बनाकर देवयजन से दूर करता है। इस मांसभक्षण-प्रवृत्ति से ऊपर उठकर हम पुनः देवों की तरह यज्ञमय जीवनवाले बनें—हम औरों के लिए जीना सीखें।

भावार्थ—क्रव्याद् अग्नि को दूर करके हम देवयजन को प्राप्त करें, मांसभोजन से ऊपर उठकर हम यज्ञशील बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

मांसभक्षण से व्याघ्रयोनि

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात्।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम्॥ ४३॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इमम्**=इस पुरुष में **क्रव्यात् आविवेश**=मांसभक्षक अग्नि ने प्रवेश किया है, अर्थात् यह मांस-भक्षण के स्वभाववाला बना है। **अयम्**=यह एक अन्य पुरुष **क्रव्यादम् अनु अगात्**=मांसभक्षक पुरुष के पीछे चलनेवाला हुआ है—मांसाहारी के संग में रहनेवाला हुआ है। २. इन दोनों को—मांसभक्षक को तथा मांसभक्षक का संग करनेवाले को **व्याघ्रौ कृत्वा**=व्याघ्रा बनाकर **तं शिवापरम्**=(शिव-अपर) उस शिव से भिन्न—मांसभक्षणरूप अशिव दोष को **नानानं हरामि**=पृथक् प्राप्त कराके दूर करता हूँ (नाना+णीञ् प्रापणे) प्रभु मांसाहारी को व्याघ्र बनाकर मांसभक्षण से रजा देते हैं—वह इससे ऊब-सा उठता और उसका यह दोष दूर हो जाता है।

भावार्थ—'मांसभक्षक व मांसभक्षक का संगी' ये दोनों व्याघ्र योनि में जाते हैं। इसप्रकार प्रभु इन्हें मांसभक्षण प्रवृत्ति से बचने का निर्देश करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽर्चीबृहती** ॥

अन्तर्धि—परिधि

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणामग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

१. 'गार्हपत्य अग्नि' शब्द 'पिता' के लिए भी प्रयुक्त होता है **'पिता वै गार्हपत्योऽग्निः'** मनु०। यह पिता जब प्रभु का उपासन करता है तब इस गृहपति से युक्त 'प्रभु' भी 'गार्हपत्य अग्नि' है। यह प्रभुरूप गार्हपत्य अग्नि **देवानां अन्तर्धिः**=देवों को अन्दर धारण करनेवाला है। प्रभुस्मरण से दिव्यगुणों का धारण होता है। यह गार्हपत्य अग्नि **मनुष्याणां परिधिः**=मनुष्यों का चारों ओर से धारण व रक्षण करनेवाला है। प्रभु उपासकों का रक्षण करते ही हैं। २. **गार्हपत्यः अग्निः**=यह उपासना करनेवाले गृहपतियों से संयुक्त अग्रणी प्रभु **उभयान् अन्तरा श्रितः**=दोनों के बीच में श्रित हैं—स्थित हैं। ये प्रभु एक ओर हमें 'देव' बनाते हैं, दूसरी ओर 'मनुष्य'। प्रभु का उपासक देव तो बनता ही है—महादेव के सम्पर्क में देव नहीं बनेगा तो क्या बनेगा? यह उपासक इस प्राकृतिक संसार में भी सब कार्यों को मननपूर्वक करता है। मननपूर्वक कार्यों को करता हुआ ऐश्वर्यवान् तो बनता है, परन्तु उस ऐश्वर्य में फँसता नहीं।

भावार्थ—प्रभु 'गार्हपत्य अग्नि' हैं—प्रत्येक गृहपति से उपासना के योग्य हैं। यह उपासना उसे 'देव' व 'मनुष्य' बनाएगी।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अच्छे और अधिक अच्छे

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

१. हे **अग्ने**=गृहपति से युक्त (उपासित) अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जीवानाम् आयुः प्रतिर**=जीवों के आयुष्य को बढ़ाइए। आपकी कृपा से **ये**=जो जीव उत्तम जीवन बिताकर **मृताः**=अब इस शरीर को छोड़ चुके हैं, वे **पितॄणां लोकम् अपि गच्छन्तु**=पितृलोक को प्राप्त हों—इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर पितृलोक—चन्द्रलोक में वे जन्म लेने के योग्य बनें। २. वह **सुगार्हपत्यः**=गृहपतियों से उपास्य श्रेष्ठ प्रभु **अरातिं वितपन्**=अदानवृत्ति को हममें बुझाता हुआ (वि-तप्) अथवा हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को संतप्त करनेवाला है। प्रभु निरन्तर हमारे शत्रुओं का विनाश कर रहे हैं। हे प्रभो! आप **अस्मै**=हमारे लिए **उषां उषाम्**=प्रत्येक उषा को **श्रेयसीम्**=प्रशस्यतर रूप में **धेहि**=धारण करो। हम कल से आज अच्छे बनें, आज से आनेवाले दिन में और अच्छे बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ। हम मरकर उत्कृष्ट लोकों में ही जन्म लेनेवाले बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं को संतप्त करके हमारे लिए प्रत्येक उषाकाल को पूर्वापेक्षया अधिक प्रशस्त बनाएँ।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप् ॥

ऊर्ज्+रयि

सर्वा॑नग्ने॒ सह॑मानः सपत्ना॒नैषा॒मूर्जं॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥ ४६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एषाम्**=इन अपने भक्तों के **सर्वान् सपत्नान्**=सब शत्रुओं को **सहमानः**=पराभूत करते हुए आप **अस्मासु**=हम उपासकों के जीवनों में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धेहि**=धारण कीजिए। 'काम-वासना' को समाप्त करके आप हमें बल प्राप्त कराइए। 'क्रोध' के विनाश के द्वारा हमारी प्राणशक्ति को सुरक्षित कीजिए तथा 'लोभ' को दूर करके हमें उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'काम' पर विजय प्राप्त करके बल-सम्पन्न बनें, क्रोध को जीतकर प्राणशक्ति का रक्षण करें तथा लोभ को परास्त करके उत्तम ऐश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पञ्चपदाबार्हतवैराजगर्भाजगती ॥

'पप्रि—वह्नि' प्रभु

इ॒ममिन्द्रं॒ वह्निं॒ प॒प्रिम॒न्वार॑भध्वं॒ स वो॒ निर्व॑क्षद्दु॒रि॒ताद॑व॒द्यात् ।
तेनाप॑ हत॒ शरु॑मा॒पत॑न्तं॒ तेन॑ रु॒द्रस्य॒ परि॑ पाता॒स्ताम् ॥ ४७ ॥

१. **इमम्**=इस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, **वह्निम्**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले (वह् प्रापणे) **पप्रिम्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले प्रभु के **अनु**=साथ **आरभध्वम्**=प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ करो—प्रभुस्मरणपूर्वक प्रत्येक कार्य को करो। **सः**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **दुरितात्**=दुराचरण से व **अवद्यात्**=सब निन्द्य कर्मों से **निर्वक्षत्**=दूर करेंगे। **तेन**=उस प्रभु के साथ, अर्थात् प्रभु की उपासना करते हुए तुमपर **आपतन्तं शरुम्**=गिरता हुआ अस्त्र **अपहत**=दूर नष्ट होता है। **तेन**=उस प्रभु के साथ होते हुए तुम **रुद्रस्य अस्ताम्**=(अस्तां=An arrow) रुद्र से फेंके गये बाण से **परिपात**=चारों ओर से बचाओ। ऐसा प्रयत्न करो कि यह रुद्र का बाण तुमपर न पड़े। प्रभु की उपासना हमें अन्तःशत्रुओं के आक्रमण व आधिदैविक आपत्तियों से बचाएगी।

भावार्थ—प्रभु हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं, वे हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु हमें पापों से बचाते हैं। प्रभु की उपासना हमें आक्रमणकारी शत्रुओं से बचाती है तथा हम प्रभु के क्रोध-पात्र नहीं बनते।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

'अनड्वान्+प्लव' प्रभु

अ॒न॒ड्वाहं॑ प्ल॒वम॒न्वार॑भध्वं॒ स वो॒ निर्व॑क्षद्दु॒रि॒ताद॑व॒द्यात् ।
आ रो॑हत सवि॒तुर्नाव॑मे॒तां षड्भिरु॒र्वीभि॒रम॑तिं तरेम ॥ ४८ ॥

१. **अनड्वाहम्**=संसार-शकट का वहन करनेवाले तथा **प्लवम्**=भव-सागर से पार करनेवाले बेड़ेरूप प्रभु को **अनु आरभध्वम्**=स्मरण करके सब कार्यों का प्रारम्भ करो। **सः**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **दुरितात्**=सब दुराचरणों से तथा **अवद्यात्**=निन्द्य कर्मों से **निर्वक्षत्**=पार करते हैं। प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों के करने पर दुराचरण व पाप से हम सदा दूर रहते हैं। २. हे मनुष्यो! तुम **सवितुः**=उस उत्पादक व प्रेरक प्रभु की **एतां नावम् आरोहत**=इस नाव पर आरोहण करो।

प्रभुरूपी नाव तुम्हें कभी इस भव-सागर में डूबने नहीं देगी। **षड्भिः उर्विभिः**=(उर्णुञ् आच्छादने) छह रक्षणों के द्वारा (उर्व्या=Protection)—'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मत्सर' रूप छह शत्रुओं से रक्षण के द्वारा **अमतिं तरेम**=हम अमति को—बुद्धि के अभाव व अप्रशस्त विचारों को तैर जाएँ। प्रभुरूप नाव में बैठे हुए हम इन काम-क्रोध आदि की प्रबल तरंगों से आहत न हों और सदा शुभ विचारवाले बने रहें।

भावार्थ—प्रभुरूप नाव में बैठकर हम भव-सागर को तैर जाएँ। इस नाव में बैठ हुए हम काम-क्रोध आदि की तरंगों से आक्रान्त न होंगे, हम शुद्ध विचारोंवाले बने रहेंगे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

पुरुषगन्धिः

अहोरात्रे अन्वैषि बिभ्रत्क्षेम्यस्तिष्ठन्प्रतरणः सुवीरः।

अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि॥ ४९॥

१. हे **तल्प**=सर्वाधार प्रभो! सबके विश्रामस्थानभूत प्रभो! आप **अहोरात्रे**=दिन-रात **बिभ्रत्**=सबको धारण करते हुए **अनु एषि**=अनुकूल गतिवाले होते हो। **क्षेम्यः**=सबके क्षेम करने में उत्तम, **तिष्ठन्**=सदा खड़े हुए—सदा सावधान **प्रतरणः**=भव-सागर से तरानेवाले, **सुवीरः**=हमारे शत्रुओं को सम्यक् कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **नः**=हम **अनातुरान्**=नीरोग तथा **सुमनसः**=उत्तम मनवालों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **ज्योग् एव**=दीर्घकाल तक ही **पुरुषगन्धिः एधि**='पुनाति—रुणद्धि—स्यति' अपने को पवित्र करनेवाले, अपने में शक्ति का संयम (निरोध) करनेवाले तथा शत्रुओं का अन्त करनेवाले पुरुषों के साथ सम्बन्धवाले (गन्ध=सम्बन्ध) होओ। हम पुरुष बनकर आपके सम्बन्धी बन पाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वाधार हैं, दिन-रात हमारा धारण कर रहे हैं। हमें आधि-व्याधि-शून्य बनाते हैं। वे प्रभु हमारे वस्तुतः सम्बन्धी होते हैं यदि हम 'अपने को पवित्र बनाएँ, अपने में शक्ति का संयम करें तथा काम-क्रोध आदि का अन्त कर दें।'

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्विराड्बृहती ॥

मांसाहार व पापमय जीवन

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा।

क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादश्वइवानुवपते नडम्॥ ५०॥

१. **यान्**=जिन पुरुषों को **क्रव्याद् अग्निः**=मांसभक्षक अग्नि—मांसभक्षण की प्रवृत्ति **अन्तिकात्**=समीप से **अनुवपते**=उस प्रकार छिन्न करनेवाली होती है, जैसेकि **अश्वः नडम्**=एक घोड़ा तृष्णविशेष को काट डालता है। **ते**=वे मांसाहारी पुरुष **देवेभ्यः आवृश्चन्ते**=देवों से कट जाते हैं—देवों से उनका सम्बन्ध नहीं रहता—उन्हें दिव्य प्रवृत्तियाँ छोड़ जाती हैं तथा वे **सर्वदा पापं जीवन्ति**=सदा पापमय जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—मांसाहार से दिव्य प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और जीवन पापमय हो जाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पर-कुम्भी का अपहरण

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।

ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ ५१॥

१. **ये**=जो **अश्रद्धाः**=प्रभु तथा धर्मकृत्यों में श्रद्धावाले न होते हुए **धनकाम्या**=धन की

कामना से **क्रव्यादा**=मांसाहारी पुरुषों के साथ **समासते**=उठते-बैठते हैं, **ते**=वे **वै**=निश्चय से **सर्वदा**=सदा **अन्येषाम्**=दूसरों की **कुम्भीम् पर्यादधति**=कुम्भी पर ही मन को लगाये रखते हैं। यहाँ 'कुम्भी' शब्द 'छोटे से कोश' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये लोग दूसरों के कोश का अपहरण करना चाहते हैं। इनकी प्रवृत्ति छलछिद्र से पराय धन को लूटने की बन जाती है।

भावार्थ—श्रद्धाशून्य व धन की लालसावाला पुरुष मांसाहारियों के संग से दूसरों के धनों को छीनने की मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्विराड्बृहती ॥

व्यसन की दुरन्तता

प्रेव पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः।
क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति ॥ ५२ ॥

१. **यान्**=जिन मनुष्यों को **क्रव्यात् अग्निः**=मांसभक्षण करनेवाला अग्नि **अन्तिकात्**=बहुत समीपता के कारण, अर्थात् मांसभक्षण की प्रवृत्ति के बहुत बढ़ जाने के कारण **अनुविद्वान्**=(विद्=वेदना की अनुभूति) अनुक्रम से वेदना को प्राप्त कराता हुआ **वितावति**=हिंसित करता है, वह मनुष्य **मनसा**=मन से—हृदय से **प्रपिपतिषति इव**=इस मांसभक्षण से दूर जाने की कामनावाला-सा होता है। उसे कष्ट के कारण विचार होता है कि 'मांस खाना छोड़ दूँ'। वह छोड़ता भी है, परन्तु **पुनः**=फिर **मुहुः**=बारम्बार **आवर्तते**=मांसभक्षण की ओर लौट आता है।

भावार्थ—मांसभक्षण का व्यसन विविध वेदनाओं का कारण बनता है। वेदनाओं से पीड़ित होकर वह मन में व्यसन से ऊपर उठने का निश्चय करता है, परन्तु बारम्बार इस व्यसन में प्रवृत्त हो जाता है। इसकी हेयता को समझता हुआ भी वह इसे छोड़ नहीं पाता।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अविः कृष्णा—माषाः पिष्टाः (ते भागधेयम्)

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥ ५३ ॥

१. **अविः**=(अव रक्षणम्) मातृरूपेण सबका रक्षण करनेवाली, **कृष्णा**=सबको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली प्रकृति **पशूनां भागधेयम्**=सब प्राणियों का भाग है। सामान्यतः मनुष्य को प्रकृति से प्रदत्त इन वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करना ही ठीक है। हे **क्रव्यात्**=मांसभक्षण करनेवाले पुरुष! **ते चन्द्रं अपि**=तेरी इस चाँदी को भी—धन को भी—**सीसं आहुः**=तेरे लिए सीसे की गोली कहते हैं। तेरा यह धन तेरे ही विनाश का कारण बन जाता है। २. **पिष्टाः माषाः**=पिसे हुए ये उड़द ही **ते भागधेयम्**=तेरा भाग हैं। इन्हीं का तूने सेवन करना है, मांस का नहीं। अपनी वृत्ति को उत्तम बनाये रखने के लिए तू **हव्यम्**=हव्य को—अग्निहोत्र को—तथा **आरण्यान्याः गह्वरम्**=अरण्य की गुफा को—ध्यान के लिए एकान्त प्रदेश को (सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः) **सचस्व**=सेवन करनेवाला बन। यह 'सन्ध्या-हवन' तेरी वृत्ति को उत्तम बनाएगा और तू मांसभक्षणादि दुर्व्यसनों से बचा रहेगा।

भावार्थ—हमें प्रकृतिमाता से दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करना है। माषों का ही सेवन करना है, मांस का नहीं। अपनी प्रवृत्ति को ठीक रखने के लिए ही हम 'ध्यान व यज्ञ' का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'तिल्पिञ्जं—दण्डनम्' नडम्

इ॒षीका॒ं जर॑तीमि॒ष्ट्वा ति॒ल्पिञ्जं॒ दण्ड॑नं न॒डम्।
तमिन्द्र॑ इ॒ध्मं कृ॒त्वा य॒मस्या॒ग्निं नि॒राद॑धौ॥ ५४॥

१. **जरतीम्**=(जरिता गरिता स्तोता) उस प्रभु का स्तवन करती हुई (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०) **इषीकाम्**=(to urge, impel) कर्त्तव्य-कर्मों की प्रेरणा देती हुई वेदवाणी को **इष्ट्वा**=अपने साथ संगत करके (यज् संगतिकरणे), तथा **तिल्पिञ्जम्**=(तिल् स्निग्धीभावे, पिजि निकेतने) स्नेह के निकेतन—प्रेमपुञ्ज—प्राणिमात्र के प्रति दयालु, **दण्डनम्**= मार्गभ्रष्ट होने पर दण्ड देनेवाले—न्यायकारी **नडम्**=(नड् गहने) गहन व अचिन्त्यस्वरूप प्रभु को **इष्ट्वा**=पूजकर 'यज देवपूजायाम्' **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय उपासक **तम्**=उस प्रभु को ही **इध्मं कृत्वा**=दीप्त बनाकर—प्रभु की उपासना से प्रभु के प्रकाश को देखकर, **यमस्य अग्निं निरादधौ**=यम की अग्नि को अपने से दूर स्थापित करता है, अर्थात् इसे उस नियन्ता प्रभु के दण्ड से दण्डित नहीं होना पड़ता। इसके लिए प्रभु का रूप 'शिव' ही होता है—'रुद्र' रूप नहीं।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें तथा उस 'न्यायकारी, दयालु' प्रभु का स्मरण करें। ऐसा करने पर हमें प्रभु का प्रकाश प्राप्त होगा और हमें मार्गभ्रंश के कारण होनेवाले कष्ट न उठाने पड़ेंगे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप्॥

अर्पण

प्र॒त्यञ्च॑म॒र्कं प्र॑त्य॒र्पयि॑त्वा प्र॒वि॒द्वान्पन्थां॒ वि ह्या ॅ वि॒वेश॑।
परा॒मीषा॒मसू॑न्दिदेश॑ दी॒र्घेणायु॑षा॒ समि॒मान्त्सृ॑जामि॥ ५५॥

१. **प्रत्यञ्चम्**=प्रत्यग्—अन्दर हृदय में विद्यमान **अर्कम् प्रति**=पूजनीय व सूर्यसम दीप्त प्रभु के प्रति **अर्पयित्वा**=अपना अर्पण करके **प्रविद्वान्**=यह प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष **हि**=निश्चय से **पन्थां वि आविवेश**=मार्ग पर विशेषरूप से प्रविष्ट होता है—यह कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। २. इसप्रकार प्रभु के प्रति अर्पण करके, ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करनेवाला और सदा सुमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति **अमीषाम्**=उन शत्रुभूत काम-क्रोध आदि के **असून् परादिदेश**=प्राणों को परादिष्ट करता है—नष्ट करता है। प्रभु कहते हैं कि **इमान्**=इन अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि-साधनों को शत्रुओं का शिकार न होने देनेवाले उपासकों को **दीर्घेण आयुषा संसृजामि**=दीर्घजीवन से युक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, ज्ञानी बनकर सुमार्ग पर चलें। शत्रुभूत काम-क्रोध को विनष्ट करें तब प्रभु हमें दीर्घजीवन से संयुक्त करेंगे।

अपने जीवन को प्रभु उपासन द्वारा नियन्त्रित करनेवाला 'यम' अगले सूक्त का ऋषि है। यह अपने गृहस्थ-जीवन को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करता है। स्वर्ग बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि भोजन सात्त्विक हो—वहाँ मांस आदि का प्रवेश न हो। सायण लिखते हैं कि **'स्वर्गौदनात् क्रव्यादं रक्षश्च पिशाचं च परिहरति'** स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले ओदन से 'क्रव्याद् अग्नि' को दूर रखता है—मांसभक्षण का प्रवेश नहीं होने देता। इस सूक्त का देवता (विषय) 'स्वर्गौदन अग्नि' ही है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप्॥

पुमान्

पुमान्पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद्वां वयो यमराज्ये समानम्॥ १ ॥

१. घर को स्वर्ग बनाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक बात यह है कि मनुष्य शक्तिशाली हो। निर्बलता कभी स्वर्ग को जन्म नहीं दे सकती, अतः कहते हैं कि **पुमान्**=तू शक्तिशाली बन—पुरुष बन। **पुंसः अधितिष्ठ**=शक्तिशालियों का अधिष्ठाता बन। शक्तिशालियों में तेरा स्थान उच्च हो। **चर्म इहि**=(फलकोऽस्त्री फलं चर्म) तू ढाल को प्राप्त हो। शरीर में 'वीर्य' ही वह ढाल है, जोकि सब रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से हमें बचाती है। **तत्र**=वहाँ गृहस्थाश्रम में **ह्वयस्व**=तू उस जीवन के साथी को पुकार **यतमा प्रिया ते**=जोकि तुझे प्रिय हो। वस्तुतः घर का स्वर्ग बनना इस बात पर निर्भर करता है कि 'जीवन का साथी अनुकूल मिलता है या नहीं'। साथी की अनुकूलता में घर अवश्य स्वर्ग बनता है। २. **अग्रे**=पहले ब्रह्मचर्याश्रम में आप **यावन्तौ**=जितने **प्रथमं समेयथुः**=प्रथम स्थान में गतिवाले होते हो, अर्थात् उन्नति करते हो, **तत्**=वह **वाम्**=आप दोनों का **वयः**=जीवन **यमराज्ये**=संयत जीवनवाले पुरुष के राज्यभूत इस गृहस्थ में **समानम्**=समान बना रहे, अर्थात् जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में आपका जीवन संयम से उन्नत हुआ, उसी प्रकार इस गृहस्थ को भी आप दोनों ने **यमराज्ये**=संयमीपुरुष का राज्य बनाना। इस यमराज्य में आप दोनों का जीवन उसी प्रकार उन्नत बना रहे, जैसेकि ब्रह्मचर्याश्रम में उन्नत था।

भावार्थ—घर को स्वर्ग बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) पुरुष शक्तिशाली हो—वीर्यरूप ढालवाला हो। (ख) उसे जीवन का साथी अनुकूल मिले (ग) गृहस्थ को भी ये 'यमराज्य' बनाये रक्खें, अर्थात् गृहस्थ में भी संयम व व्यवस्था से चलें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

उतना 'ज्ञान, वीर्य, तेज व वाजिन (शक्ति)'

तावद्वां चक्षुस्तति वीर्या ∫ णि तावत्तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचेत यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसर जितना-जितना (यावन्तौ) पति-पत्नी ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति गृहस्थ में भी संयम से चलते हैं (यमराज्ये) **तावत्**=उतना ही **वाम्**=आप दोनों का **चक्षुः**=ज्ञान होता है, **तति वीर्याणि**=उतनी ही वीर्यशक्ति होती है। **तावत् तेजः**=उतनी ही आप तेजस्विता प्राप्त करते हो, **ततिधा**=उतने ही प्रकार के **वाजिनानि**=आपके बल होते हैं। २. ('अग्निर्वै कामः'—कौ० १९.२) परन्तु **यदा**=जब **अग्निः**=कामाग्नि **शरीरं सचते**=शरीर में समवेत होती है, तब **एधः**=यह शरीर उसके लिए काष्ठ-सा हो जाता है। कामाग्नि शरीररूप काष्ठ को दग्ध कर देती है, अतः संयमपूर्वक जीवन बिताते हुए इस नियम का ध्यान रक्खो कि **अधा**=अब **पक्वात्**=परिपक्व वीर्य से **मिथुना**=तुम दोनों स्त्री पुमान् **संभवाथः**=मिलकर सन्तान को जन्म देनेवाले होओ। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही परस्पर मेल इष्ट है, विलास के लिए नहीं। कामाग्नि तो हमें दग्ध ही कर डालेगी। कामाग्नि से बचना नितान्त आवश्यक है।

भावार्थ—(घ) जितना हमारे जीवन में संयम होता है उतना ही हमें 'ज्ञान, वीर्य, तेज व वाजिन (शक्ति)' प्राप्त होता है। (ङ) कामाग्नि हमें दग्ध कर देती है, अतः कामाग्नि का शिकार न होते हुए हम परिपक्व वीर्य से सन्तान को जन्म देनेवाले हों। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही पति-

पत्नी का परस्पर सम्पर्क हो।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

मिलकर

सम॒स्मिँल्लो॒के सम्उ॑ देव॒या॒ने सं स्मा॑ स॒मेतं॑ य॒म॒राज्ये॑षु।
पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द्रेतो॒ अधि॑ वां संब॒भूव॑॥ ३॥

१. हे पति-पत्नी! तुम दोनों **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **सम् एतम्**=मिलकर चलो। तुम्हारी सब लौकिक क्रियाएँ परस्पर मिलकर हों—उनमें तुम्हारा विरोध न हो। उ=और **देवयाने**=देवयान मार्ग पर—मोक्ष की ओर ले-जानेवाले मार्ग पर **सम्**=मिलकर ही चलो। **संस्म**=मिलकर होते हुए तुम दोनों **यमराज्येषु**=संयमी पुरुष के शासनवाले इस गृहस्थरूप राज्य में **समेतम्**=मिलकर चलो। पति-पत्नी की सब लौकिक क्रियाएँ धर्म-सम्बन्धी कार्य तथा गृहस्थरूप के कार्य मिलकर अविरोध से हों। २. **यत् यत्**=जब-जब **वां रेतः**=तुम दोनों का वीर्य **अधिसंबभूव**=गर्भ में एकत्र होकर पुत्ररूप से स्थिर हो जाए, तब **पवित्रैः पूतौ**=पवित्र कार्यों से पवित्र हुए-हुए तुम दोनों **तत् उपह्वयेथाम्**=उस गर्भस्थ सन्तान को पुकारो—उस गर्भस्थ सन्तान पर शुभ संस्कारों को डालने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—(च) गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी मिलकर सब कार्यों को करें। (छ) जब सन्तान गर्भस्थ हों तब स्वयं पवित्र हुए-हुए अपने शुभ कार्यों से उन सन्तानों पर भी शुभ-संस्कार डालने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

कर्त्तव्य परायणता

आप॑स्पुत्रासो अ॒भि सं वि॑शध्वमि॒मं जी॒वं जी॒वध॑न्याः स॒मेत्य॑।
तासां॑ भजध्वम॒मृतं॒ यमा॒हुर्यमो॑द॒नं पच॑ति वां॒ जनि॑त्री॥ ४॥

१. **आपस्पुत्रासः**=(आप् व्याप्तौ) हे सर्वव्यापक प्रभु के पुत्रो! **जीवधन्याः**=सन्तान के द्वारा धन्य जीवनवाले तुम **इमं जीवं समेत्य**=इस सन्तान को प्राप्त करके **अभिसंविशध्वम्**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सम्यक् प्रविष्ट (संलग्न) हो जाओ। कर्त्तव्य-कर्मों में लगे रहने से ही वह उत्तम वातावरण बनता है, जिसमें सन्तानों का जीवन उत्तम होता है। २. **तासाम्**=उन सन्तानों के **यं अमृतं आहुः**=जिसको न मरने देनेवाला कहते हैं, उस ओदन का **भजध्वम्**=सेवन करो। वस्तुतः उत्तम भोजन से उत्तम वीर्य का निर्माण होकर सन्तान भी उत्तम होते हैं। भोजन का दोष सन्तानों को भी प्रभावित करता ही है। उस भोजन को खाओ **यं ओदनम्**=जिस भोजन को **वां जनित्री**=तुम्हें जन्म देनेवाली यह प्रकृतिमाता **पचति**=परिपक्व करती है, अर्थात् तुम वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करो। ये पदार्थ तुम्हें अमृतत्व—नीरोगता प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—(क) उत्तम सन्तानों को प्राप्त करके हम कर्त्तव्य-कर्मों में लगे रहने के द्वारा उस उत्तम वातावरण को पैदा करें, जिसमें सन्तानों का निर्माण ठीक ही हो। (ख) साथ ही प्रकृति से प्रदत्त अन्न व फलों का सेवन करते हुए अमृतत्व (नीरोगता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

वानस्पतिक भोजन

यं वां॑ पि॒ता पच॑ति॒ यं च॑ मा॒ता रि॒प्रान्निर्मु॑क्त्यै॒ शम॑लाच्च वा॒चः।
स ओ॑द॒नः श॒तधा॑रः स्व॒र्ग उ॒भे व्या॒ ॒प नभ॑सी महि॒त्वा॥ ५॥

१. ('द्यौष्पिता पृथिवी माता') द्युलोक से वृष्टि होकर पृथिवी में अन्न उत्पन्न होता है। इस अन्नोत्पत्ति में द्युलोक 'पिता' है तो पृथिवी 'माता' है। इस अन्न से ही हमारा जीवन धारित होता है। एवं द्युलोक हमारा पिता है तो पृथिवी माता है। **यम्**=जिस अन्न को **वाम्**=दोनों **पिता**=वह द्युलोकरूप पिता **पचति**=पकाता है, **च**=और **यं माता**=जिस ओदन को यह भूमिमाता उत्पन्न करती है, वह ओदन **रिप्रान् निर्मुक्त्यै**=सब रोगरूप दोषों से छुटकारे के लिए है, **च**=और यह अन्न **वाचः शमलात्**=(शम् अल=वारण) वाणी के अशान्त शब्दों के निवारण के लिए है। इन सात्त्विक अन्नों का सेवन करने पर—मांसाहार से दूर रहने पर हम नीरोग भी होंगे और क्रोध में अशान्त शब्दों का प्रयोग भी न करेंगे। २. **सः ओदनः**=वह द्युलोक व पृथिवी से (पिता व माता से) दिया हुआ भोजन **शतधारः**=हमें सौ वर्ष तक धारण करनेवाला है, **स्वर्गः**=हमें सुखमय—प्रकाशमयलोक में प्राप्त करानेवाला है। यह ओदन **महित्वा**=अपनी महिमा से **उभे नभसी व्याप**=दोनों लोकों को—पृथिवी व द्युलोक को व्याप्त करनेवाला है। पृथिवी 'शरीर' है, द्युलोक 'मस्तिष्क' है। यह सात्त्विक वानस्पतिक अन्न 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों को ही ठीक बनाता है। इससे शरीर नीरोग रहता है तथा मस्तिष्क दीप्त बनता है। मांसभोजन रोगों व क्रूर छल-कपटमयी प्रवृत्तियों को पैदा करता है।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करें। यह भोजन हमारे जीवनों को निर्दोष बनाएगा, दीर्घजीवन का साधन बनेगा, जीवन को सुखी व प्रकाशमय करेगा तथा शरीर को शक्तिसम्पन्न करता हुआ मस्तिष्क को दीप्ति-सम्पन्न करेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग (ज्योतिष्मान्+मधुमान्)

उभे नभसी उभयांश्च लोकान्ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।
तेषां ज्योतिष्मान्मधुमान्यो अग्रे तस्मिन्पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम्॥ ६ ॥

१. हे पति-पत्नी! गतमन्त्र के अनुसार वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करते हुए तुम **उभे नभसी**=दोनों लोकों को—द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **संश्रयेथाम्**=सम्यक् प्राप्त करनेवाले बनो। भोजन से तुम्हारा शरीर शक्ति को तथा मस्तिष्क दीप्ति को प्राप्त करेगा **च**=और इस भोजन से तुम **उभयान् लोकान्**=दोनों लोकों को—अपने बड़े वृद्ध माता-पिता को तथा छोटे सन्तानों को सेवित करनेवाले बनो। बड़ों का आदर करो तथा छोटों का निर्माण करने के लिए यत्नशील होओ। मांसाहार हमें स्वार्थी-सा बनाकर इन वृत्तियों से दूर करता है। २. **ये**=जो **यज्वनाम् अभिजिताः**=यज्ञशील पुरुषों से जीते गये **स्वर्गाः**=प्रकाशमय व सुखमय लोक हैं, **तेषाम्**=उनमें भी **यः**=जो **अग्रे**=सर्वप्रथम **ज्योतिष्मान् मधुमान्**=ज्योति व माधुर्यवाला लोक है, **तस्मिन्**=उस लोक में **पुत्रैः**=अपने सन्तानों के साथ **जरसि**=(संश्रयेथाम्) पूर्ण वृद्धावस्था में प्रभुस्मरणपूर्वक आश्रय करनेवाले होओ। तुम्हारा घर स्वर्ग हो—प्रकाश व माधुर्य से पूर्ण हो—यहाँ दीर्घजीवनवाले तुम अपने सन्तानों के साथ आनन्दपूर्वक रहो।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन के परिणामस्वरूप हमारे मस्तिष्क व शरीर दीप्त व शक्त हों। हमारे घरों में बड़ों का आदर व छोटों का प्रेमपूर्वक निर्माण हो। हमारा घर यज्ञशील पुरुषों का वह श्रेष्ठ स्वर्ग बने, जिसमें ज्योति व माधुर्य का व्यापन हो। इस स्वर्ग में हम दीर्घकाल तक पुत्रों के साथ, प्रभुस्मरणपूर्वक (जरसि=स्तुतौ) निवास करें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

श्रद्धापूर्वक आगे और आगे

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ७॥

१. हे **दम्पती**=पति-पत्नी! आप दोनों **प्राचीं प्राचीं प्रदिशम्**=आगे और आगे बढ़ने की प्रकृष्ट दिशा को **आरभेथाम्**=पहुँचनेवाले बनो (reach)। आपका कदम आगे की दिशा में ही बढ़े। निरन्तर उन्नतिपथ पर आप चलनेवाले बनो। **एतं लोकम्**=इस लोक को—इस उन्नति की दिशा को **श्रद्दधानाः सचन्ते**=श्रद्धामय पुरुष ही प्राप्त करते हैं। इस दिशा में प्रगति आसन नहीं होती—श्रद्धा से चलते चलना ही इस दिशा का मूलमन्त्र है। २. **यत्**=जो **वाम्**=आप दोनों का **पक्वम्**=घर में भोजन परिपक्व हुआ है, और **अग्नौ परिविष्टम्**=अग्नि में जिसका परिवेषण हुआ है, अर्थात् अग्नि में जिसकी आहुति दी गई है, **तस्य गुप्तये**=उसके रक्षण के लिए तुम **संश्रयेथाम्**=मिलकर प्रभु का सेवन करो। घर में मिलकर प्रभु की उपासना से उत्तम प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। ऐसे घरों में यज्ञादि उत्तम कर्मों का लोप नहीं होता।

भावार्थ—हम श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ने की दिशा में चलें। यज्ञशेष को खानेवाले बनें। उत्तमकर्मों की प्रवृत्ति के अविच्छेद के लिए मिलकर प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

दाक्षिण्य व प्रभुस्मरण

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्।
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात्॥ ८॥

१. अब **दक्षिणां दिशम् अभि**=दाक्षिण्य (नैपुण्य) की दिशा की ओर **नक्षमाणौ**=गति करते हुए तुम दोनों (पति-पत्नी) **एतत् पात्रम् अभि पर्यावर्तेथाम्**=इस रक्षक प्रभु की ओर फिर-फिर लौटते हुए **वाम्**=तुम दोनों को **यमः**=वह सर्वनियन्ता प्रभु **पितृभिः संविदानः**=पितरों के द्वारा संज्ञान को प्राप्त कराता हुआ **पक्वाय**=ज्ञान में परिपक्व हुए-हुए के लिए **बहुलं शर्म नियच्छात्**=बहुत ही सुख प्राप्त कराए। प्रभु उपासक को ज्ञान प्राप्त कराने का प्रबन्ध करते हैं। जो भी ज्ञान प्राप्त करता है, उसे वे सुखी करते हैं।

भावार्थ—हम दाक्षिण्य को प्राप्त करने पर प्रभु को न भूलें। अन्यथा इस दाक्षिण्य से प्राप्त ऐश्वर्य हमारे पतन का कारण बन जाएगा। प्रभु का स्मरण होने पर प्रभु हमें पितरों द्वारा ज्ञान प्राप्त कराते हैं और ज्ञान परिपक्व व्यक्ति के लिए वे सुख देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

प्रत्याहार की श्रेष्ठ दिशा

प्रतीचीं दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ ९॥

१. **इयं प्रतीची**=(प्रति अञ्च्) यह प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने की दिशा ही **दिशाम् इत् वरम्**=दिशाओं में निश्चय से श्रेष्ठ है। जीवन में सर्वाधिक महत्त्व इस बात का है कि हम इन्द्रियों को विषयों में न फँसने दें। यह प्रत्याहार की दिशा वह है **यस्याम्**=जिसमें **सोमः**=वे शान्त प्रभु **अधिपाः**=रक्षक हैं, **च मृडिता**=और सुखी करनेवाले हैं। प्रभु का रक्षण व अनुग्रह (आनन्द) उसी को प्राप्त होता है जो प्रत्याहार का पाठ पढ़ता है। २. अतः हे दम्पती!

तस्यां श्रयेथाम्=उस प्रत्याहार की दिशा में ही आश्रय करो, **सुकृतः सचेथाम्**=पुण्यकर्मा लोगों से ही मेल करो—उन्हीं के संग में उठो-बैठो। **अधा**=अब **पक्वात्**=वीर्य का ठीक परिपाक होने से ही **मिथुनां संभवाथः**=मिलकर सन्तान को जन्म देनेवाले बनो। तुम विलास का शिकार न होकर इसे एक पवित्र कार्य जानो। इस पवित्रता के लिए प्रत्याहार की कितनी आवश्यकता है?

भावार्थ—ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी इन्द्रियों को विषयासक्त न होने देना—उन्हें विषय व्यावृत्त करना ही पवित्रतम कार्य है। ऐसा होने पर ही प्रभु का रक्षण व अनुग्रह प्राप्त होता है। पति-पत्नी जितेन्द्रिय बनकर सन्तानोत्पत्ति के लिए ही परस्पर मेलवाले हों।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद्दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम्।
पाङ्क्तः छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम॥ १०॥

१. **उत्तरं राष्ट्रम्**=एक उत्कृष्ट राष्ट्र **प्रजया उत्तरावत्**=उत्तम प्रजा से अधिक उत्कर्षवाला बनता है। वस्तुतः राष्ट्र-व्यवस्था ठीक होने पर ही राष्ट्र में उत्तम सन्तान होते हैं और वे उत्तम सन्तान राष्ट्र के और अधिक उत्कर्ष का कारण बनते हैं। यह **दिशाम् उदीची**=दिशाओं में उत्तर दिशा (उत् अञ्च) हमें ऊपर उठने की प्रेरणा देती हुई **नः अग्रं कृण्वत्**=हमारी अग्रगति—उन्नति का कारण बने। २. इस उत्कृष्ट राष्ट्र में, उत्तर दिशा से ऊपर उठने की प्रेरणा लेता हुआ **पुरुषः**=पुरुष **पांक्तं छन्दः**=पाँच रूपोंवाला (छन्द् Appearance, look, shape) **बभूव**=होता है। इसके शरीर का निर्माण करनेवाले 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप पाँचों भूत इसके अनुकूल होते हैं और परिणामतः यह स्वस्थ शरीरवाला होता है। इस शरीर में पञ्चधा विभक्त प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) ठीक कार्य करता है। प्राणशक्ति के ठीक होने से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ व पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं और 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' इन पाँच भागों में विभक्त अन्तःकरण भी पवित्र बना रहता है। ये ही इस पांक्त पुरुष के पाँचरूप (छन्द) है। ऐसा होने पर **विश्वैः**=सब तथा **विश्वांगैः सह**=पूर्ण अंगों के साथ हम **संभवेम**=पुत्ररूप में जन्म लेनेवाले बनें। '**तद्धिजायायाः जायात्वं यदस्यां जायते पुनः**'=अपनी जाया में पति ही पुत्ररूप से जन्म लेता है, अतः यदि उसके सब अंग ठीक होंगे तो सन्तान भी तदनुरूप ही होंगे। उत्तम सन्तानों से राष्ट्र उत्तम बनेगा।

भावार्थ—उत्तर दिशा हमें उन्नति की प्रेरणा देती है। स्वयं अपने पाँचों रूपों को ठीक रखते हुए हम उत्कृष्ट प्रजा को जन्म दें, उससे हमारा राष्ट्र और अधिक उन्नत हो।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ध्रुवता

ध्रुवेयं विराण्नमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्य उत मह्यमस्तु।
सा नो देव्यदिते विश्ववार इर्यइव गोपा अभि रक्ष पक्वम्॥ ११॥

१. **इयं ध्रुवा**=यह ध्रुवादिक् **विराट्**=विशिष्ट ही दीप्तिवाली है—ध्रुवता में ही इसकी शोभा है। **अस्यै नमः अस्तु**=इसके लिए नमस्कार हो। इस ध्रुवादिक से हम भी ध्रुवता का पाठ पढ़ते हैं। इसप्रकार ध्रुवता—स्थिरता का पाठ पढ़ाती हुई यह **पुत्रेभ्यः**=हमारे सन्तानों के लिए **उत**=और **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवा अस्तु**=कल्याणकर हो। अस्थिरता में कोई भी उन्नति सम्भव नहीं होती। सब उत्कर्ष इस ध्रुवता से ही प्राप्य हैं। २. हे **देवि**=दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाली, **अदिते**=स्वास्थ्य

को न नष्ट होने देनेवाली (अ+दिति, दो अवखण्डने) **विश्ववारे**=सबसे वरने योग्य ध्रुवादिक् **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिए **इर्यः इव**=(Destroying the enemies) सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। **गोपाः**=तू हमारा रक्षण करती है। तू **पक्वम् अभिरक्ष**=हमारे अन्दर परिपक्व वीर्य का रक्षण करनेवाली हो। स्थिरवृत्ति में ही वीर्यरक्षण सम्भव है।

भावार्थ—हम ध्रुवा दिक् से ध्रुवता का पाठ पढ़ें। यह ध्रुवता हमारा कल्याण करे। यह 'दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाली व स्वास्थ्य को सुरक्षित रखनेवाली है'। यह हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारा रक्षण करती है। यह ध्रुवता की वृत्ति हमारे शरीरों में वीर्य का भी रक्षण करनेवाली है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु से आलिङ्गन

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ।
यमोदनं पचतो देवते इह तन्नस्तप उत सत्यं च वेत्तु॥ १२॥

१. हे प्रभो! प्राची आदि दिशाओं से उत्तम पाठों को पढ़नेवाले **नः**=हमें आप इस प्रकार **अभिसंस्वजस्व**=आलिंगन कीजिए, **इव**=जैसेकि **पिता पुत्रान्**=पिता पुत्र का आलिंगन करता है। आपका अनुग्रह होने पर **इह भूमौ**=यहाँ पृथिवी पर **नः**=हमारे लिए **शिवाः वाताः वान्तु**=कल्याणकर वायुएँ बहें—सारा आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल हो। २. **यम् ओदनम्**=जिस भोजन को **इह**=यहाँ **देवते पचतः**=द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीरूप माता हमारे लिए पकाते हैं, **तम्**=उस ओदन को **नः**=हमारा **तपः**=तप **सत्यं च**=और सत्य **वेत्तु**=जाने, अर्थात् उस भोजन के सेवन से हम तपस्वी व सत्यवादी बनें। यह भोजन हमारे शरीर में तप व मन में सत्य का स्थापन करे।

भावार्थ—हम प्रभु आलिंगन प्राप्त करें, तब सम्पूर्ण आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होगा। द्युलोक व पृथिवी से प्रदत्त सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए हम तपस्वी व सत्यवादी बनें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः ॥

शोधन (नीरोगता के लिए)

यद्यत्कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन्विषक्तं बिल आससाद।
यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः॥ १३॥

१. **यत् यत्**=जब तक **कृष्णः शकुनः**=यह कृष्ण वर्ण का पक्षी (कौवा) **इह**=यहाँ **आ गत्वा**=आकर **त्सरन्**=टेढ़ी चालें चलता हुआ **विषक्तम्**=जमकर **बिले**=किसी बिल में—आले आदि में **आससाद**=बैठ जाए **यत् वा**=अथवा जब **दासी**=घर में बर्तन आदि साफ़ करनेवाली कार्यकर्त्री **आर्द्रहस्ता**=कार्य करते समय उन्हीं गीले हाथों से **उलूखलं मुसलम्**=ऊखल व मूसल को **समङ्क्ते**=(smear with) लिथेड़ देती है—अपवित्र कर देती है तब **आपः**=हे जलो! **शुम्भत**=उस स्थान को व ऊखल-मूसल को तुम शुद्ध कर दो।

भावार्थ—घर में कौवा आदि पक्षी कुछ अपवित्र कर दें, अथवा कोई कार्यकर्त्री ऊखल-मूसल आदि को मलिनता से लिप्त कर दे तो उसका जलों से सम्यक् शोधन कर लेना आवश्यक है, अन्यथा रोग आदि के फैलने की आशंका बढ़ जाती है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'पवित्रैः पूतः' ग्रावा

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम्॥ १४॥

१. **अयम्**=यह **ग्रावा**=(गृणाति) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला **पृथुबुध्नः**=विशाल ज्ञान के आधारवाला (बुध्), **वयोधाः**=प्रकृष्ट जीवन को धारण करनेवाला, **पवित्रैः पूतः**=(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) ज्ञानों के द्वारा पवित्र जीवनवाला बना हुआ व्यक्ति (यम) **रक्षः अपहन्तु**=राक्षसी-वृत्तियों को अपने से दूर करे। प्रभुस्तवन करते हुए हम ज्ञान को अपने जीवन का आधार बनाएँ। यह ज्ञान हमें पवित्र व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाए। हमारे जीवन में राक्षसीभाव न जमा हो जाएँ। २. हे साधक! तू **चर्म**=जीवन की ढाल के रूप में काम करनेवाले वीर्य के दृष्टिकोण से **आरोह**=उन्नत होने का प्रयत्न कर। वीर्य की ऊर्ध्वागति को सिद्ध कर। **महि शर्म यच्छ**=इस प्रकार घर में सभी को सुख देनेवाला बन। इस वीर्यरक्षण व संयत जीवन के द्वारा **दम्पती**=पति-पत्नी **पौत्रम् अघम्**=पुत्र-सम्बन्धी कष्ट को **मा निगाताम्**=प्राप्त न हों। वीर्यरक्षण व संयमवाले पति-पत्नी दीर्घजीवी व विधेय सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी में 'प्रभुस्तवन, ज्ञानरुचिता, संयम व वीर्यरक्षण' की भावना होने पर सन्तान उत्तम होते हैं।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वानस्पतिक भोजन का महत्त्व

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।
स उच्छ्रयाते प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वाञ्जयेम॥ १५॥

१. **वनस्पतिः**=पवित्र वानस्पतिक भोजन **देवैः सह**=दिव्यगुणों के साथ **नः आगन्**=हमें प्राप्त हो। हम वानस्पतिक भोजन ही करें। इस प्रकार मांसाहार से आ जानेवाली स्वार्थ व क्रूरता आदि की वृत्तियों से बचे रहें। यह भोजन **रक्षः**=रोगकृमियों को **पिशाचान्**=पैशाचिक वृत्तियों को **अपबाधमानः**=हमसे दूर रक्खे। २. **सः**=वानस्पतिक भोजन करनेवाला वह 'यम' (संयमी पुरुष) **उच्छ्रयातै**=उत्कृष्ट मार्ग का सेवन करता है। यह **वाचं प्रददाति**=स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है। **तेन**=इस प्रकार की वृत्ति के द्वारा **सर्वान् लोकान् अभिजयेम**=हम सब लोकों का विजय करनेवाले बनें। पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक का विजय करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।

भावार्थ—वानस्पतिक भोजन हमें दिव्यवृत्तिवाला बनाता है—राक्षसीभावों को दूर करता है। हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनकर प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं और सब लोकों का विजय करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सप्तमेध परिग्रह व स्वर्गलोक

सप्त मेधान्पशवः पर्यगृह्णन्य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद्देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम्॥ १६॥

१. **पशवः**=(पश्यन्ति) देखनेवाले—विचारशील पुरुषों में **सप्तमेधान्**=(सप्तर्षिभिः साध्यान् मेधान् सप्त मेधान्) 'कर्णाविमौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्' दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें

व मुखरूप सप्तर्षियों से साध्य यज्ञों का **पर्यगृह्णन्**=परिग्रह किया है (येन यज्ञस्तायते सप्तहोता) **तान्**=उनको **त्रयस्त्रिंशद्**=तेतीस **देवता सचन्ते**=देव प्राप्त होते हैं—'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थित ग्यारह-ग्यारह—सब तेतीस देव इनके शरीर में निवास करते हैं (सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते)। इनके शरीर में सब देवों की सुस्थिति होती है—सब दिव्यगुण इन्हें प्राप्त होते हैं। २. **यः**=जो **एषाम्**=इनमें **ज्योतिष्मान्**=सर्वाधिक ज्योतिवाला है (तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्), **उत**=और **यः**=जो **चकर्श**=सूक्ष्मतम है, **सः**=वह सर्वज्ञ सूक्ष्मतम (निराकार) प्रभु **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभिनेष**=स्वर्गलोक की ओर ले-चलता है—हमें घरों को स्वर्गतुल्य बनाने की शक्ति प्रदान करता है।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँगे तो दिव्यगुणों को प्राप्त करते हुए स्वर्ग को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्षीपङ्क्तिः** ॥

न अलक्ष्मी, न कृपणता

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥ १७॥

१. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभि**=स्वर्गलोक की ओर **नयासि**=ले-चलते हो। आप हमें ऐसी शक्ति प्राप्त कराते हो कि हम अपने घर को स्वर्गलोक बना पाते हैं। हम **जायया सह**=अपनी पत्नी के साथ **स्याम**=हों तथा **पुत्रैः सं (स्याम)**=पुत्रों के साथ संगत हों। सदा पत्नी के साथ सम्यक् धर्म का पालन करते हुए उत्तम पुत्रों को प्राप्त करें। २. हे प्रभो! **हस्तम् गृह्णामि**=जिस भी साथी का हाथ में पकड़ता हूँ—जिस भी युवति के साथ मेरा पाणिग्रहण होता है—**अनु मा एतु**=वह सदा अनुकूलता से मेरा अनुगमन करनेवाली हो। **अत्र**=इस गृहस्थ में, इस प्रकार अनुकूलता के होने पर **नः**=हमें **निर्ऋतिः**=अलक्ष्मी **मा तारीत्**=अभिभूत न करे (तॄ अभिभवे), **उ**=और **अरातिः**=अदान की वृत्ति भी **मा (तारीत्)**=अभिभूत करनेवाली न हो। न तो हमारे घर में अलक्ष्मी का राज्य हो, न ही कृपणता का।

भावार्थ—हम घर को स्वर्ग बना पाएँ। पत्नी व पुत्रों के साथ सदा प्रेम से रहें। पति-पत्नी की अनुकूलता हो। अलक्ष्मी व कृपणंता का हमारे यहाँ निवास न हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ग्राहिं पाप्मानम्' अति

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्य स्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम्॥ १८॥

१. जीव प्रार्थना करता है कि **ग्राहिम्**=शरीर को जकड़ लेनेवाले गठिया आदि रोगों को तथा **पाप्मानम्**=पापवृत्ति को, **तान्**=उन सब अशुभों को **अति अयाम**=हम लाँघ जाएँ। प्रभु इस प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **तमः व्यस्य**=अन्धकार को दूर करके **वल्गु प्रवदासि**=तू सुन्दर शब्दों को ही बोलनेवाला बन। (ख) **वानस्पत्यः**=वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाला तू सदा **उद्यतः**=कर्त्तव्यकर्मों के पालन में उद्यत रह। (ग) **मा जिहिंसीः**=हिंसा करनेवाला न बन। (घ) **देवयन्तम् तण्डुलम्**=तुझे देव बनाने की कामना करते हुए इस तण्डुल को—व्रीहि को **मा विशरीः**=शीर्ण मत कर, तेरे घर में यह तण्डुल सदा संचित रहे। यह तुझे देववृत्ति का बनानेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु के इन उपदेशों को न भूलें (क) ज्ञान की वृद्धि करते हुए हम सुन्दर शब्द बोलें (ख) शाकभोजी बनकर कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। (ग) अहिंसावृत्तिवाले हों (घ) दिव्यता प्राप्त करानेवाले व्रीहि आदि भोजनों का ही प्रयोग करें। ऐसा करने पर हम रोगों व पापों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वव्यचाः+घृतपृष्ठः

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद्विनक्तु॥ १९॥

१. **विश्वव्यचाः**=सब गुणों व शक्तियों के विस्तारवाला तथा **घृतपृष्ठः**=ज्ञानदीप्ति को अपने में सींचनेवाला **भविष्यन्**=होना चाहता हुआ तू **सयोनिः**=उस प्रभु के साथ समान गृहवाला होता हुआ, अर्थात् हृदय में प्रभु के साथ निवास करता हुआ **एतं लोकम् उपयाहि**=इस लोक को प्राप्त हो—प्रभुस्मरणपूर्वक संसार में विचरनेवाला। यह प्रभुस्मरण ही तुझे इस संसार में आसक्त होने से बचाकर सुरक्षित शक्तिवाला व दीप्त ज्ञानवाला बनाएगा। २. इसी उद्देश्य से तू **वर्षवृद्धम्**=वरणीय गुणों से (वृ वरणे) व वर्षों से बढ़े हुए (बड़ी उमरवाले अनुभवी) **शूर्पम्**= छाज के समान इस पुरुष को **उपयच्छ**=अपने को दे डाल—इस पुरुष के प्रति अपना अर्पण कर जिससे जो कुछ **तुषम्**=भूसा है तथा **पलावान्**=तिनके आदि हैं **तत्**=उसे **अपविनक्तु**=वह दूर कर दे—पृथक् कर दे। वह वरणीय गुणोंवाला वृद्ध पुरुष तेरे अवगुणों को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम प्रभु-स्मरणपूर्वक इस संसार में विचरेंगे तो अनासक्ति के द्वारा हम सब शक्तियों के विस्तारवाले व दीप्त ज्ञानवाले बनेंगे। गुणी वृद्ध पुरुषों के सम्पर्क में अपने सभी दोषों को दूर करने में समर्थ होंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण कौन?

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम्।
अंशून्गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम्॥ २०॥

१. **ब्राह्मणेन**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष ने **त्रयः लोकाः**=तीनों लोक—**द्यौः एव असौ, पृथिवी, अन्तरिक्षम्**='निश्चय से द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी' **संमिताः**=सम्यक् निर्मित किये हैं। इसने अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसूर्य से दीप्त किया है, हृदयान्तरिक्ष को चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना से आनन्दमय बनाया है तथा पृथिवीरूप शरीर को शक्ति की अग्नि से युक्त किया है। २. हे पति-पत्नी! तुम भी **अंशून् गृभीत्वा**=इस ब्रह्मज्ञानी से ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके **अन्वारभेथाम्**=अपने कर्त्तव्यकर्मों का आरम्भ करो। इसप्रकार ही सब गुण **आप्यायन्ताम्**=तुम्हारे अन्दर बढ़ें और **पुनः**=फिर-फिर **शूर्पम्**=इस छाजरूप वृद्ध ब्राह्मण के समीप **आयन्तु**=तुम आओ और अपने जीवन के दोषरूप अज्ञान को अपने से पृथक् करनेवाले बनो।

भावार्थ—ब्राह्मण वह है जोकि अपने शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनाता है। इसके सम्पर्क में ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्मों को करे। इन ब्राह्मणों के सम्पर्क में हम दोषों को दूर करते हुए निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हों।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

एकरसता

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलगइव वस्त्रा॥ २१॥

१. इस संसार में **बहुधा**=(Generally) बहुत प्रकार से—प्रायः **पशूनाम्**=प्राणियों के—पशुतुल्य भोगप्रधान जीवन बितानेवाले मनुष्यों के **रूपाणि पृथक्**=रूप अलग-अलग होते हैं। वे स्थिरवृत्ति के नहीं होते। ये एकरूप से ऊबकर दूसरे की ओर और उससे ऊबकर तीसरे की ओर चलते हैं। गतमन्त्र में वर्णित हे ब्राह्मण! तू **संसमृद्ध्या**=ज्ञान व गुणों की सम्यक् समृद्धि के कारण **एकरूपः भवसि**=एकरूप होता है—तू जीवन में स्थिरवृत्ति का बनता है। २. **एताम्**=इस और **ताम्**=उन सामान्य लोगों के द्वारा अपनायी जानेवाली **लोहिनीं त्वचम्**=लोहित वर्ण की त्वचा हमें सक्त कर डालती है—विविधरूपों की ओर तेरा आकर्षण होता है। **ग्रावा**=यह प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला पुरुष **शुम्भति**=अपने जीवन को इसप्रकार शुद्ध कर डालता है, **इव**=जैसेकि **मलगः वस्त्रा**=मल को दूर करनेवाला धोबी वस्त्रों को शुद्ध किया करता है।

भावार्थ—प्रायः लोग एकरसता की ओर झुकाववाले नहीं होते। वे विविध व्यञ्जनों व विविध वस्त्रों से सदा आकृष्ट होते रहते हैं। एक सच्चा ब्राह्मण इस राजसी वृत्ति को दूर करके एकरस होने का प्रयत्न करता है। यह प्रभुस्तवन करता हुआ अपने जीवन की मलिनताओं को इस प्रकार दूर कर देता है, जैसे धोबी वस्त्रों की मलिनता को।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

विकृत तनू का फिर से ठीक करना

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद्वपामि॥ २२॥

१. प्रभु प्रजा से कहते हैं कि **पृथिवीं त्वा**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाली तुझको **पृथिव्याम् आवेशयामि**=सब प्रकार से (आ) शक्तियों के विस्तार में स्थापित करता हूँ। **एषा**=यह **ते**=तेरा **विकृता तनूः**=विकृत हुआ-हुआ शरीर **समानी**=(सम् अन् प्राणने) पुनः सम्यक् प्राणित हो उठता है। २. **अर्पणेन**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसन से—किसी आघात व प्रहार आदि से **यत् यत्**=जो-जो **द्युत्तम्**=(प्रज्वलितम्) जल-सा उठा है, अथवा **लिखितम्**=अवदारित हुआ है, **तेन**=उससे **मा सुस्रोः**=तू स्नुत न हो जा—तेरा शरीर बह न जाए। **ब्राह्मणा**=ज्ञान से—ज्ञानपूर्वक किये गये उपाय से **तत्**=उस सबको **अपि वपामि**=(begets, produce, weave) फिर से ठीक कर देता हूँ—उसमें आ गई कमी को दूर कर देता हूँ।

भावार्थ—हमारी शक्तियों का विस्तार ठीक बना रहे। शरीर में जो विकार आ जाता है, वह दूर होकर शरीर पुनः ठीक से प्राणित हो उठे। जो-जो कुछ यहाँ जल जाए या अवदारित हो जाए, उसे ज्ञानपूर्वक ठीक किया जाए। प्रयत्न किया जाए कि उस आघात से रुधिर का बहुत स्राव न हो जाए।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

परस्पर स्नेह व यज्ञशीलता

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता॥ २३॥

१. प्रभु प्रजा से कहते हैं कि तू **प्रतिहर्यासि**=प्रत्येक के साथ इसप्रकार स्नेह करनेवाली हो, **इव**=जैसेकि **जनित्री सूनुम्**=माता पुत्र को प्रेम करती है। **पृथिवीं त्वा**=शक्तियों के विस्तारवाली तुझको **पृथिव्या**=शक्ति-विस्तार के साथ **संदधामि**=सम्यक् धारण करता हूँ। परस्पर प्रेम से वर्तना भी शक्तियों की स्थिरता का साधन बनता है। २. तू उसी प्रकार **मा व्यथिष्ठाः**=व्यथित न हो, जैसेकि **वेद्याम्**=वेदी में **यज्ञायुधैः**=यज्ञ के उपकरणों के साथ **आज्येन अतिषक्ता**=घृत से अतिशयेन मेलवाली **उखा**=कुण्ड व **कुम्भी**=जलपात्र पीड़ित न हों, अर्थात् तेरे घर में यज्ञ होते रहें और तेरा जीवन सर्वथा सुखमय बना रहे।

भावार्थ—हम परस्पर प्रेम से वरतें तथा हमारे घरों में यज्ञों की परिपाटी ठीक प्रकार से चलती रहे। इसप्रकार हमारी शक्तियाँ सुस्थिर रहेंगी और हमारा जीवन सुखमय बनेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम'

अग्निः पचन्रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान्।
वरुणस्त्वा दृंहाद्धरुणे प्रतीच्या उत्तरात्त्वा सोमः सं ददातै॥ २४॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व की ओर से **पचन् अग्निः**=तेरी शक्तियों का परिपाक करता हुआ अग्रणी प्रभु **त्वा रक्षतु**=तेरी रक्षा करे। प्रथमाश्रम में प्रभु को 'अग्नि' नाम से स्मरण करता हुआ निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन और अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक कर। २. **मरुत्वान्**=मरुतों-(प्राणों)-वाला **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभु **दक्षिणतः रक्षतु**=दक्षिण की ओर से तेरी रक्षा करे। हम द्वितीयाश्रम में प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनकर दाक्षिण्य प्राप्त करें और ऐश्वर्य को सिद्ध करें। ३. **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला प्रभु **प्रतीच्याः**=पश्चिम दिशा से **त्वा**=तुझे **धरुणे दृंहात्**=धारणात्मक कर्म में दृढ़ करे। अब वानप्रस्थाश्रम में हम प्रत्याहार का पाठ पढ़ते हुए (प्रति अञ्च) सब विषयों से अपना निवारण करें (वरुण) और चित्तवृत्ति को सुस्थिर करने का प्रयत्न करें (धरुण)। ४. अब **सोमः**=वे शान्त प्रभु **उत्तरात्**=उत्तर से **त्वा**=तुझे **संददातै**=सम्यक् प्रजा के लिए दें। चतुर्थाश्रम में संन्यस्त होकर हम उत्तम जीवनवाले शान्त (सोम) बनकर प्रजाहित में प्रवृत्त हों और सब लोगों के लिए ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम ठीक प्रकार से शक्तियों का परिपाक करें। द्वितीयाश्रम में प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बने रहकर विषयासक्त होने से बचें। तृतीयाश्रम में सब विषयों का निवारण करके स्थिरवृत्तिता का अभ्यास करें। चतुर्थाश्रम में शान्त व सौम्य बनकर सर्वत्र प्रकाश फैलाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एक तुरीयाश्रमी का चित्रण

पूताः पवित्रैः पवन्ते अभ्राद्दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान्।
ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम्॥ २५॥

१. गतमन्त्र में वर्णित चतुर्थाश्रम की प्रजाएँ **पवित्रैः पूताः**=(नहि ज्ञाने सदृशं पवित्रमिह विद्यते) पवित्रता के साधनभूत ज्ञान से पवित्र बने हुए **पवन्ते**=गतिशील होते हैं। **अभ्रात्**=(अभ्र गतौ) गतिशीलता के द्वारा **दिवं च यन्ति**=मास्तिष्करूप द्युलोक को प्राप्त करते हैं, **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवीलोक को प्राप्त करते हैं **च**=और **लोकान्**=शरीर के अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों को ठीक रख पाते हैं। २. **ताः**=उन तुरीयाश्रमी प्रजाओं को, जोकि **जीवलाः**=जीवनशक्ति से पूरिपूर्ण हैं, **जीवधन्या**=अपने जीवन को धन्य बनानेवाली **प्रतिष्ठाः**=स्थिरवृत्ति की हैं, **पात्रे आसिक्ताः**=(पात्रे

आसिक्तं येषाम्) शरीररूप पात्र में शक्ति का सेचन करनेवाली होती हैं—पूर्णरूप से जितेन्द्रिय होती हुई शक्ति का रक्षण करती हैं, उन्हें **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **परि इन्धाम्**=सर्वतः दीप्त करनेवाले हों। प्रभुकृपा से इनका जीवन सर्वतः दीप्त=मलिनता से शून्य हो। इनका जीवन ही लोगों को प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—एक संन्यस्त पुरुष ज्ञान से पवित्र जीवनवाला बनकर गतिशील होता है। गतिशीलता ही इसके मस्तिष्क, शरीर व सब अङ्गों को स्वस्थ रखती है। इन जीवनशक्ति से परिपूर्ण, धन्य जीवनवाले, स्थिरवृत्ति के जितेन्द्रिय पुरुषों को प्रभु दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुद्धः शुम्भन्ते

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम्।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु॥ २६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित संन्यस्त पुरुष **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश से **आयन्ति**=समन्तात् गतिवाले होते हैं—ज्ञान के प्रकाश को फैलाने के लिए परिव्रजन करते हैं। **पृथिवीं सचन्ते**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ मेलवाले होते हैं—शरीर को स्वस्थ रखते हैं। लोकहित के लिए भी शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक ही है। **भूम्याः**=(भू शुद्धौ) शोधन के दृष्टिकोण से **अन्तरिक्षम् अधिसचन्ते**=हृदयान्तिरक्ष का सेवन करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु का ध्यान करते हैं। यह प्रभु का ध्यान इनके जीवन को शुद्ध बनाए रखता है। २. **शुद्धा सतीः ताः**=स्वयं शुद्ध जीवनवाली होती हुई वे प्रभु की प्रजाएँ (वे प्रभु के संदेशहर) **उ**=निश्चय से **शुम्भन्ते एव**=अन्य लोगों के जीवनों को शुद्ध बनाती हैं। **ताः**=वे प्रभु के व्यक्ति अपने ज्ञानोपदेश द्वारा **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभि**=स्वर्गलोक की ओर **नयन्तु**=ले-चलें। इनकी ज्ञानवाणियाँ हमें इसप्रकार उत्तम कर्मों में प्रेरित करें कि हम अपने घरों को स्वर्ग बना सकें।

भावार्थ—संन्यस्त लोग (क) ज्ञान के साथ विचरते हैं, (ख) शरीर को स्वस्थ रखते हैं, (ग) हृदयस्थ प्रभु का ध्यान करते हुए जीवन को शुद्ध बनाते हैं, (घ) शुद्ध जीवनवाले होते हुए औरों को भी शुद्ध करते हैं, (ङ) ज्ञानोपदेश द्वारा उन्हें उस मार्ग पर ले-चलते हैं, जिससे वे अपने घरों को स्वर्ग-तुल्य बना पाते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुक्राः शुचयः अमृतासः

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः॥ २७॥

१. **उत**=और **प्रभ्वीः इव**=जैसी ये प्रजाएँ प्रकृष्ट सामर्थ्य-(प्रभाव)-वाली होती हैं, **उत**=और वैसी ही **संमितासः**=सम्यक् ज्ञानवाली भी होती हैं। शरीर में स्वस्थ, मस्तिष्क में दीप्त **उत**=और **शुक्राः**=वीर्यवान् होती हुई **शुचयः**=पवित्र मनवाली होती हैं, **च**=और **अमृतासः**=नीरोग शरीरवाली होती हैं। २. **ताः**=वे **प्रशिष्टाः आपः**=प्रकर्षेण शिष्ट (सुबोध) प्रजाएँ **शिक्षन्तीः**=उत्तम शिक्षण करती हुई तथा **सुनाथा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली व उत्तम आशीर्वचनोंवाली होती हुई **दम्पतीभ्याम्**=गृहस्थ पति-पत्नी के लिए **ओदनं पचत**=उत्कृष्ट ज्ञानौदन का परिपाक करें—उन्हें ज्ञान देनेवाली हों।

भावार्थ—संन्यासी प्रभावजनक शरीरवाला व ज्ञानी हो। वीर्यवान् होता हुआ मन में पवित्र

व शरीर में नीरोग हो। ये अत्यन्त शिष्ट व आशीर्वचनोंवाले होते हुए उत्तम शिक्षण के द्वारा गृहस्थों के लिए ज्ञान के भोजन का परिपाक करें—उन्हें ज्ञान दें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संख्याताः अपि असंख्याताः

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम्॥ २८॥

१. **संख्याताः**=(चक्ष् ख्या to perceive) सत्य का दर्शन किये हुए, **स्तोकाः**=(षुच् प्रसादे) प्रसन्नचित्तवाले ये संन्यस्त पुरुष=संन्यासी **पृथिवीं सचन्ते**=इस पृथिवी के साथ—पृथिवीस्थ प्राणियों के साथ मेलवाले होते हैं। ज्ञान देने के द्वारा उनके कल्याण के लिए यत्नशील होते हैं। ये संन्यस्त **प्राणापानैः**=प्राणापान की शक्तियों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **संमिताः**=संमित—उपमित होते हैं। ये ही वस्तुतः राष्ट्र के प्राणापान—जीवन के रक्षक होते हैं तथा दोषों को दग्ध (उष दाहे) करनेवाले होते हैं। २. **असंख्याताः**=(संख्या to be connected with) किन्हीं के साथ भी अपने को सम्बद्ध न करते हुए ये **ओप्यमानाः**=चारों ओर ज्ञान को फैलाते हुए (ज्ञान का वपन करते हुए) **सुवर्णाः**=उत्तम रूप में प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करते हुए **शुचयः**=पवित्र जीवनवाले **सर्वं शुचित्वम् व्यापुः**=पूर्ण पवित्रता का व्यापन करनेवाले होते हैं। पवित्रता को व्याप्त करनेवाले ये पुरुष ही 'आप्त' कहलाते हैं। इनके शब्द लोगों के लिए प्रमाणभूत होते हैं।

भावार्थ—संन्यस्त पुरुष 'सत्यदर्शी, सदा प्रसन्न, प्रजाओं के प्राण व दोषदग्धा' होते हैं। ये अनासक्त भाव से ज्ञान का प्रसार करते हैं। प्रभु के गुणों का सम्यक् प्रतिपादन करते हुए पवित्रता से व्याप्त जीवनवाले 'आप्त' पुरुष होते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः॥ २९॥

१. प्राकृतजन तो **उद्योधन्ति**=परस्पर युद्ध करने लगते हैं, **अभिवल्गन्ति**=एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं, **तप्ताः**=क्रोधसंतप्त हुए-हुए **फेनम् अस्यन्ति**=ओष्ठप्रान्तों से आग को छोड़ते हैं, **च**=और **बहुलान् बिन्दून्**=कितनी ही थूक (ष्ठीवन) की बून्दें उनके मुख से गिरती हैं, अर्थात् ये प्राकृतजन क्रोध में उन्मत्त-से हो जाते हैं और भला करनेवाले पर भी आक्रमण कर बैठते हैं। २. ऐसा होने पर भी हे **आपः**=आप्त पुरुषो! आप **एतैः तण्डुलैः**=(तदि विध्वंसे) विध्वंसकारी पुरुषों के साथ भी इस प्रकार प्रेम से **सम्भवत**=मेलवाले होओ—इन्हें भी इसप्रकार प्रेम से ज्ञान देनेवाले बनो **इव**=जैसेकि **योषा**=पत्नी **पतिं दृष्ट्वा**=पति को देखकर **ऋत्वियाय**=ऋतु धर्म के लिए मेलवाली होती है। हे आप्त पुरुषो! इन विध्वंसकों को भी आप इसीप्रकार प्रेम से ज्ञान दो।

भावार्थ—प्राकृतजन क्रोध में आकर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं, क्रोधोन्मत्त होने पर इनके मुख से आग व थूक भी गिरने लगती है। फिर भी आप्त संन्यासियों को इन्हें प्रेम से ज्ञान देना ही है। इन्हें अक्रोध से उन प्राकृतजनों के क्रोध को जीतना है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पात्रों द्वारा ज्ञान-प्रसार

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः॥ ३०॥

१. हे राजन्! **बुध्ने**=तले (Bottom) में **सीदतः**=बैठे हुए—अतिनिकृष्ट स्थिति में पहुँचे हुए **एनान्**—इन प्राकृत जनों को **उत्थापय**=तू ऊपर उठा—इनके अन्दर तू ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराने का प्रयत्न कर। ये प्राकृत जन **अद्भिः**=ज्ञानजलों से **आत्मानं अभिसंस्पृशन्ताम्**=अपने को सब ओर से संसृष्ट करें। यह ज्ञानजल इनकी शुद्धि का कारण बने। २. **यत् एतत् उदकम्**=जो यह ज्ञानजल है, इसे तू **पात्रैः**=योग्य व्यक्तियों के द्वारा **अमासि**=(मा Assign, mete out) इन अध:पतित लोगों में प्राप्त कराता है, **यदि इमाः प्रदिशः**=यदि इन सब प्रकृष्ट दिशाओं में फैले हुए भी ये **तण्डुलाः**=विध्वंसकारी पुरुष हैं तो भी वे **मिताः**=(Cast, thrown out) राष्ट्र से दूर कर दिये जाते हैं। ज्ञान-प्रकाश से इनके जीवन अपकर्षशून्य होने लगते हैं और वे भी धीमे-धीमे पवित्र जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा का यह कर्त्तव्य है कि पात्र (योग्य) व्यक्तियों द्वारा राष्ट्र में सर्वतः ज्ञान के प्रसार का प्रबन्ध करे, जिससे सब प्रजाएँ ज्ञान-जल में शुद्ध जीवनवाली बनकर ऊपर उठें—राष्ट्र में किसी का जीवन अतिनिकृष्ट न रह जाए।

॥ इति षड्विंशः प्रपाठकः ॥

अथ सप्तविंशः प्रपाठकः

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उत्तम वानस्पतिक भोजन के लिए

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु॥ ३१॥

१. **पर्शुम्**=परशु को—दराँती को **प्रयच्छ**=प्रकर्षेण हाथ में काबू कर। **त्वरया**=शीघ्रता कर। **ओषम् आहर**=(ओषम् Sharp taste, pungency) तीखे स्वाद को दूर कर। ओषधियों को काटनेवाले लोग **ओषधीः अहिंसन्तः**=ओषधियों को नष्ट न करते हुए **पर्वन् दान्तु**=पर्व (गाँठ) पर काटें। ओषधियों के मूल को नष्ट न होने देना आवश्यक है। २. चन्द्रमा ओषधियों में रस का सञ्चार करता है, इसी से वह ओषधीश कहलाता है। इसकी किरणों में अमृतरस होता है। उस रस से वह ओषधियों को रसयुक्त करता है, अतः कहते हैं कि **यासां राज्यम्**=जिस राज्य को **सोमः**=यह चन्द्र **परिबभूव**=व्याप्त करता है। जहाँ-जहाँ ओषधियाँ हैं, वे सब इस चन्द्र से ही रसान्वित की जाती हैं। ये **वीरुधः**=बेलें व वनस्पतियाँ **नः**=हमारे लिए **अमन्युताः भवन्तु**=क्रोध को दूर करनेवाली हों। चन्द्र के समान ही ये हमारे मनों को आह्लादमय वृत्तिवाला बनाएँ।

भावार्थ—मनुष्य वानस्पतिक भोजन करनेवाले ही बनें। ये भोजन उन्हें क्रूरवृत्तिवाला न बनाकर कोमल वृत्तिवाला बनाएगा। ओषधियों के मूल को नष्ट न होने दें। उनके ओष (pungency) को दूर करने का प्रयत्न करें। अपरिपक्व फल में 'ओष' का सम्भव होता है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पवित्रता व प्रसन्नता के वातावरण में

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्व ꣡स्तु।
तस्मिन्देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य॥ ३२॥

१. **ओदनाय**=भोजन के लिए **नवम्**=नवीन व प्रशस्य **बर्हिः**=कुशासन को **स्तृणीत**=बिछाओ। जो आसन **हृदः प्रियम्**=हृदय को प्रिय लगे तथा **चक्षुषः वल्गु अस्तु**=आँख के लिए सुन्दर हो। २. **तस्मिन्**=उस प्रिय सुन्दर आसन पर **देवाः**=घर के पुरुष तथा **देवीः**=देववृत्ति की स्त्रियाँ **सह**=साथ-साथ **विशन्तु**=बैठें (उपविशन्तु) और **निषद्य**=उस आसन पर बैठकर **इमम्**=इस ओदन को **ऋतुभिः**=ऋतुओं के अनुसार **प्राश्नन्तु**=खाएँ। भोजन ऋतु के अनुकूल हो। यही भोजन वस्तुतः शरीर का ठीक से पालन करेगा।

भावार्थ—भोजन के लिए जो कुशासन बिछाया जाए वह सुन्दर हो। भोजन खाने के समय हृदय में किसी प्रकार के कुविचार न हों, (देवाः दैवीः) इकट्ठे बैठकर भोजन करें। भोजन ऋतु के अनुकूल हो।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अग्निष्टोमैः—देवताभिः

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम्॥ ३३॥

१. हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! व (Worshipping=पूजा की वृत्तिवाले) उपासक! **स्तीर्णम् बर्हिः**=इस बिछाये हुए कुशासन पर **आसीद**=बैठ। यहाँ बैठकर **अग्निष्टोमैः**=प्रभुस्तवनों से तथा प्रभुस्तवन द्वारा **देवताभिः**=दिव्यगुणों से **संमितः**=(Furnished with) संमित हो—अलंकृत हो। हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें। अपने प्रत्येक दिन को हम प्रभुपूजन द्वारा दिव्यगुण धारण के प्रयत्न में व्यतीत करें। २. **इव**=जिस प्रकार **त्वष्ट्रा**=एक शिल्पी द्वारा **स्वधित्या**=परशु से **रूपं सुकृतम्**=रूप सुन्दर बनाया जाता है, अर्थात् जैसे वह परशु से लकड़ी को छील-छालकर मेज़ आदि का सुन्दर रूप प्रदान करता है, इसी प्रकार **एना**=इससे **एहाः**=नानाविध चेष्टाएँ (आ+ईह) **पात्रे परिददृश्राम्**=रक्षक प्रभु के आश्रय में देखी जाएँ। यह उपसाक भी प्रभुस्मरणपूर्वक उत्तम क्रियाओं द्वारा जीवन को उत्तम रूप प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें। प्रभुपूजन द्वारा दिव्यगुण धारण का प्रयत्न करें। जैसे शिल्पी परशु द्वारा काष्ठ को कुरसी, मेज़ आदि का सुन्दर रूप प्राप्त कराता है, इसी प्रकार उपासक द्वारा प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाओं से जीवन को सुन्दर रूप दिया जाए।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—विराड्गर्भात्रिष्टुप् ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपाः

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभी ꣡च्छात्स्व ꣡ः पक्वेनाभ्य ꣡श्नवातै।
उपैनं जीवान्पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः॥ ३४॥

१. **षष्ट्यां शरत्सु**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में **निधिपाः**=वीर्यरूप निधि (वास्तविक सम्पत्ति) का रक्षक पुरुष **स्वः अभि इच्छात्**=स्वर्ग को प्राप्त करने की कामना करे। यह **पक्वेन**=अपने परिपक्व ज्ञान से अथवा शक्ति के परिपाक से **अभि अश्नवातै**=(स्वः) स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला बनता है। यदि एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य व गृहस्थ में शक्तिरूप निधि का रक्षण

करता है और ज्ञान की परिपक्वता के लिए प्रयत्न करता है, तो उसका घर स्वर्ग क्यों न बनेगा? २. **एनम्**=इसके आश्रय में **पितरः पुत्राः च उपजीवान्**=इसके वृद्ध माता-पिता व सन्तान सुखी व सुन्दर जीवनवाले हों। यह घर में वृद्ध माता-पिता की सेवा करे और सन्तानों का सुन्दर निर्माण करे। हे प्रभो! **एनम्**=इस निधिपा पुरुष को **अग्नेः**=अग्नि के—आहवनीय अग्नि के **अन्तम्**=सुन्दर **स्वर्गं गमय**=स्वर्ग को प्राप्त कराइए। यह घर में यज्ञों को करता हुआ घर को स्वर्ग बनाने में समर्थ हो।

भावार्थ—जीवन के प्रथम साठ वर्षों में हम वीर्यरूपनिधि का रक्षण करनेवाले बनें (बाद में तो रक्षण स्वतः ही हो जाता है '**धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते**')। शक्तिरक्षण व परिपक्व ज्ञान से हम घर को स्वर्ग बनाएँ। यहाँ पितरों का आदर करें व सन्तानों के निर्माण का ध्यान करें तभी हमारा घर 'यज्ञशील पुरुष का सुन्दर स्वर्ग' बनेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-दर्शन के लिए तीन बातें

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु।
तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात्॥ ३५॥

१. हे प्रभो! आप **धर्ता**=धारण करनेवाले हैं। **पृथिव्याः धरुणे**=इस शरीररूप पृथिवी के धारण होने पर **ध्रियस्व**=आप हमारे हृदयों में धारण किये जाएँ, अर्थात् हम अपने हृदयों में आपका धारण करनेवाले बनें। संयम द्वारा शरीर को स्वस्थ रखकर हम हृदयों में आपका धारण करनेवाले हों। **अच्युतं त्वा**=(imperishable) अक्षर (अविनाशी) आपको **देवताः**=देववृत्ति के पुरुष **च्यावयन्तु**=अपने हृदयों में चुवाने (स्थापित करने) का प्रयत्न करें (make, form, create, bring about)। देववृत्ति के बनकर हम हृदयों में आपका दर्शन करनेवाले हों। २. **तं त्वा**=उन आपको **दम्पती**=पति-पत्नी **जीवन्तौ**=स्वयं उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हुए **जीवपुत्रौ**=जीवित पुत्रोंवाले होते हुए **परि**=(Very much, excessively) खूब ही **अग्निधानात्**=कुण्ड में यज्ञाग्नि के आधान के द्वारा **उद्वासयातः**=अपने हृदयों में उत्कर्षेण बसाते हैं। यज्ञों को करते हुए ये पवित्र जीवनवाले बनकर हृदय में आपका दर्शन करते हैं।

भावार्थ—हृदय में प्रभुदर्शन के लिए आवश्यक है कि हम (क) संयम द्वारा शरीर को स्वस्थ रक्खें (धरुणे पृथिव्याः), (ख) देववृत्ति के बनें (देवताः), (ग) खूब ही यज्ञशील हों (परिअग्निधानात्)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-प्राप्ति व सर्वकामाप्ति

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान्यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान्।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन्पात्रे अध्युद्धरैनम्॥ ३६॥

१. हे साधक! **सर्वान् लोकान् अभिजित्य**=शरीररूप 'पृथिवी', हृदयरूप 'अन्तरिक्ष' तथा मस्तिष्करूप 'द्युलोक' इन सब लोकों को जीतकर, अर्थात् शरीर को स्वस्थ, हृदय को पवित्र तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर **सम् आगाः**=तू प्रभु के समीप प्राप्त होनेवाला हो। प्रभु-प्राप्ति के द्वारा **यावन्तः कामाः**=जितनी भी अभिलाषाएँ हैं, **तान्**=उनका तू **सम् अतीतृपः**=सम्यक् तृप्त करनेवाला हो। प्रभु-प्राप्ति में सब कामनाएँ पूर्ण हो ही जाती हैं। २. इस साधक के जीवन को **आयवनम्**=(आ+यु=मिश्रणामिश्रणयोः) समन्तात् बुराइयों का अमिश्रण तथा अच्छाइयों का

मिश्रण **च**=और **दर्विः**=वासनाओं का विदारण **विगाहेथाम्**=(Pervade) विशेषरूप से व्याप्त करनेवाले हों। इस प्रकार हे साधक! तू **एनम्**=अपने इस जीवन को **एकस्मिन्**=उस अद्वितीय **पात्रे**=रक्षक प्रभु में **अधि उद्धर**=आधिक्येन उद्धृत करनेवाला बन—प्रभुस्मरण करता हुआ तू अपने जीवन का उद्धार कर। यह प्रभुस्मरण ही तुझे भव-सागर में डूबने से बचाएगा।

भावार्थ—हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' को स्वस्थ बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु-प्राप्ति में सब कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। हमारे जीवनों में बुराइयों का अमिश्रण व वासनाओं का विदारण विशेषरूप से हो। उस अद्वितीय रक्षक प्रभुस्मरण के द्वारा हम अपना उद्धार करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की गोद में

उप॑ स्तृणीहि प्रथय॑ पुरस्ता॑द् घृतेन॒ पात्र॑मभि घा॑रयैतत्।
वा॒श्रेवो॒स्रा तरु॑णं स्तनस्युमि॒मं दे॒वासो॑ अ॒भिहिङ्कृ॑णोत॥ ३७॥

१. हे साधक! तू **उपस्तृणीहि**=उस अमृत प्रभु को अपना उपस्तरण बना (अमृतोपस्तरण-मसि)—प्रभु की गोद में स्थित हो। उस प्रभु को ही **पुरस्तात् प्रथय**=अपने सामने विस्तृत कर—सदा प्रभुस्मरण करनेवाला बन—प्रभु से ओझल न हो। इस प्रकार **एतत् पात्रम्**=इस शरीररूप पात्र को **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अभिघारय**=क्षरित मलोंवाला व दीप्तिवाला बना। २. हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! **इमं अभिहिङ्कृणोत**=इस प्रभु के प्रति प्रेम से स्तुतिवचनों का इस प्रकार उच्चरण करो, **इव**=जैसेकि **वाश्रा उस्रा**=रंभाती हुई गौ **तरुणम्**=तरुण **स्तनस्युम्**=स्तन के दूध पीने की इच्छावाले बछड़े के प्रति शब्द करती है।

भावार्थ—हम प्रभु की गोद में बैठें, सदा प्रभु का स्मरण करें, ज्ञान द्वारा शरीर को पवित्र व दीप्त बनाएँ। प्रभु के प्रति प्रेम से स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

महिषः सुपर्णः

उपा॑स्तरीरक॑रो लो॒कमे॒तमु॒रुः प्र॑थता॒मस॑मः स्व॒र्गः।
तस्मि॑ञ्छ्रयातै महि॒षः सु॑प॒र्णो दे॒वा ए॑नं दे॒वता॑भ्य॒: प्र य॑च्छान्॥ ३८॥

१. **उप अस्तरीः**=तूने उस अमृत प्रभु को अपना उपस्तरण बनाया है—प्रभु की गोद में बैठा है। इस प्रकार **एतं लोकं अकरः**=इस प्रकाश को—आलोक को प्राप्त (सिद्ध) किया है। अब तेरे लिए यह **उरुः**=विशाल **असमः**=(षम वैक्लव्ये) सब व्याकुलताओं से शून्य **स्वर्गः प्रथताम्**=सुखमय लोक विस्तृत हो। प्रभुस्मरण व प्रकाश के होने पर हमारा लोक क्यों न स्वर्ग बनेगा? २. **तस्मिन्**=उस स्वर्ग में वह **छ्र्यातै**=आश्रय करता है, जोकि **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजन करनेवाला और **सुपर्णः**=उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में व्यापृत रहता है। **एनम्**=इस 'महिष सुपर्ण' को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **देवताभ्यः**=दिव्यवृत्तियों के लिए **प्रयच्छान्**=प्राप्त कराएँ। यह साधक देवों के सम्पर्क में दिव्यवृत्तिवाला बने।

भावार्थ—प्रभु की गोद में स्थित होने व प्रकाश प्राप्त करने पर जीवन सुखमय बनता है। इस स्वर्ग में—सुखमय जीवन में वही निवास करता है जो प्रभुपूजन करता हुआ सर्वभूतहितरत रहता है। देवों के सम्पर्क में यह सदा देववृत्तिवाला बनता है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप् ॥

सह वो अन्नभागः

यद्यज्जाया पचति त्वत्परःपरः पतिर्वा जाये त्वत्तिरः।
सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम्॥ ३९॥

१. हे गृहपते! **जाया**=तेरी पत्नी **यत् यत्**=जो-जो कुछ **त्वत् परः पचति**=मुझसे परे (अलग) पकाती है, **वा**=अथवा हे **जाये**=पत्नी! **पतिः त्वत् परः (पचति)**=पति तुझसे अलग पकाता है। **तिरः**=वह सब दूर हो जाए—(तिरः भू Disappear, vanish) तुम्हारे घर से वह सब तिरोहित हो जाए। **तत् संसृजेथाम्**=उस सबको आप दोनों मिलकर संसृष्ट करो। **वाम्**=आप दोनों का **तत्**=वह खान-पान **सह अस्तु**=साथ-साथ हो। इस प्रकार ही आप **एकं लोकं सम्पादयन्तौ**=एक लोक का सम्पादन करते हुए होओगे। २. अलग-अलग खाते रहने से उस प्रेम की सृष्टि नहीं होती जोकि एक घर को स्वर्ग बनाने के लिए आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रभु ने अन्यत्र आदेश दिया है कि '**समानी प्रपा सह वो अन्नभागः**' तुम्हारा पीने का पानी अलग-अलग न हो—तुम्हारा अन्न का सेवन अलग-अलग न होकर साथ-साथ ही हो।

भावार्थ—पति-पत्नी अलग-अलग चुपके से कुछ न खाकर घर में मिलकर ही खानेवाले हों। पाणिग्रहण के मन्त्रों में पति व्रत लेता है कि '**न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये**'=मैं अलग से कुछ न खाऊँगा—मन में ऐसा विचार ही न आने दूँगा। यही बात प्रेमवृद्धि द्वारा घर को स्वर्ग बनाती है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सम्मिलित भोजन व बन्धुत्व अविस्मरण

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत्पुत्राः परि ये संबभूवुः।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान्॥ ४०॥

१. **यावन्तः**=जितने भी **अस्याः**=इस मेरी पत्नी में **अस्मत् पुत्राः**=मेरे पुत्र **पृथिवीं सचन्ते**=इस पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, अर्थात् जीवित हैं और **ये**=जो **परि संबभुवुः**=चारों ओर—इधर-उधर भिन्न-भिन्न स्थानों में रह रहे हैं, हे दम्पती! तुम **तान् सर्वान्**=उन सबको **पात्रे उपह्वयेथाम्**=पात्र में पुकारो, अर्थात् समय-समय पर भोजन के लिए एकत्र करो। **नाभिम्**=बन्धुत्व को **जानानाः**=जानते हुए **शिशवः समायान्**=शिशु वहाँ एक स्थान पर आएँ। २. माता-पिता से सन्तान जन्म लेते हैं। बड़े होकर वे भिन्न-भिन्न स्थानों में कार्य करने लगते हैं। उनका भी परिवार बनता है। माता-पिता को चाहिए कि कभी-कभी सन्तानों को परिवार समेत भोजन पर बुलाएँ। उन सबके छोटे-छोटे बालक भी बन्धुत्व को अनुभव करते हुए वहाँ एकत्र होंगे। वस्तुतः एकत्र होना उन्हें एक-दूसरे के समीप लाएगा।

भावार्थ—माता-पिता समय-समय पर सब सन्तानों को सपरिवार भोजन पर बुलाते रहें, ताकि सब भाइयों का व उनके सन्तानों का परस्पर बन्धुत्व (स्मरण) बना रहे। परस्पर के बन्धुत्व को वे भूल ही न जाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ऐश्वर्य, माधुर्य, ज्ञानरुचिता, नीरोगता

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभी ∫ च्छात्॥ ४१॥

१. **वसोः याः धाराः**=निवास के लिए आवश्यक धन की जो धाराएँ हैं, जोकि **मधुना प्रपीनाः**=माधुर्य से—परस्पर मधुर व्यवहार से—अतिशयेन पुष्ट हुई-हुई हैं, **घृतेन मिश्राः**=ज्ञानदीप्ति से युक्त हैं, तथा **अमृतस्य नाभयः**=नीरोगता की नाभि (केन्द्र) हैं, **ताः सर्वाः**=उन सब वसुधाराओं को **स्वर्गः अवरुन्धे**=स्वर्ग अपने में रोकता है, अर्थात् 'जहाँ ऐश्वर्य है—मधुर व्यवहार है—ज्ञान की प्रधानता है—नीरोगता का निवास है' वहीं स्वर्ग है। २. इस स्वर्ग को **अभीच्छात्**=वही व्यक्ति प्राप्त करने की कामना करे जोकि **षष्ट्यां शरत्सु निधिपाः**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में वीर्यरूप निधि का रक्षण करनेवाला है। प्रथम वयस् में यदि हम संयमी जीवन बिताते हुए इस अद्भुत वीर्य-निधि का रक्षण करते हैं तो हमारा जीवन अवश्य स्वर्गमय बनता है। उस सशक्त जीवन में हम पुरुषार्थ से आवश्यक धन का अर्जन करने में समर्थ होते हैं, हमारे व्यवहार में माधुर्य बना रहता है, हमारी प्रवृत्ति ज्ञान-प्रधान होती है और शरीर सदा नीरोग होता है। यही तो स्वर्ग है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रथम साठ वर्षों में संयम द्वारा वीर्यरक्षण से जीवन को स्वर्ग बनाएँ। 'ऐश्वर्यशाली, मधुर, ज्ञानरुचि व नीरोग' बनकर सुखी हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वीर्य-निधि का रक्षण

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽन्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत्॥ ४२॥

१. **निधिपाः**=वीर्यरूप निधि की रक्षा करनेवाला **एनं निधिम्**=इस वीर्य-निधि को **अभीच्छात्**=सब प्रकार से प्राप्त करना चाहे। इस वीर्यरूप निधि का वह सब प्रकार से रक्षण करे। **ये अन्ये**=जो इन वीर्य-निधि के रक्षकों से भिन्न व्यक्ति हैं, अर्थात् जो इस निधि के महत्त्व को न समझते हुए इसका रक्षण नहीं करते वे **अभितः अनीश्वराः सन्तु**=इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से ऐश्वर्यरहित हों—न वे अभ्युदय को प्राप्त करें, न निःश्रेयस को। २. **अस्माभिः**=हमसे तो यह वीर्य-निधि **दत्तः**=(देङ् पालने) रक्षित हुआ है, इसीलिए **स्वर्गः निहितः**=हमारे लिए स्वर्ग स्थापित हुआ है। मनुष्य को चाहिए कि वह वीर्यरक्षण द्वारा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप **त्रिभिः काण्डैः**=तीन काण्डों के द्वारा—जीवन के इन तीन नियमों के द्वारा **त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्**=तीन स्वर्गों का आरोहण करे। कर्मकाण्ड द्वारा शरीर को सशक्त व स्वस्थ बनाए। उपासना काण्ड द्वारा हृदय को निर्मल बनाए। ज्ञानकाण्ड द्वारा मस्तिष्क को दीप्त रक्खे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के अभाव में न अभ्युदय की प्राप्ति है, न निःश्रेयस का सम्भव। वीर्यरक्षक के लिए ही स्वर्ग है। यह वीर्यरक्षक पुरुष ज्ञान, कर्म व उपासना द्वारा 'द्युलोक (मस्तिष्क), पृथिवीलोक (शरीर) व अन्तरिक्षलोक (हृदय) का विजय करता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आदित्य अङ्गिरस, न कि क्रव्यात् पिशाच

अग्नी रक्षस्तपतु यद्विदेवं क्रव्यात्पिशाच इह मा प्र पास्त।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम्॥ ४३॥

१. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रणी राजा **रक्षः तपतु**=उन राक्षसीवृत्ति के लोगों को दण्डित करे, **यत्**=जोकि **विदेवम्**=सब दिव्यवृत्तियों से रहित हैं। **क्रव्यात्**=मांसाहारी **पिशाचः**=राक्षसीवृत्ति

का पुरुष **इह**=राष्ट्र में **मा प्रपास्त**=रक्षण को प्राप्त न करे। २. **एनम्**=इस राक्षसीवृत्तिवाले पुरुष को **नुदामः**=हम अपने से परे प्रेरित करते हैं, इसे **अस्मत् अपरुध्मः**=अपने से दूर ही रोकते हैं। **एनम्**=हमारे राष्ट्र के प्रजाजनों को **आदित्याः**=ज्ञान का आदान करनेवाले **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले—स्वस्थ शरीर पुरुष ही **सचन्ताम्**=मेल प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजाजनों का सम्पर्क 'क्रव्यात् पिशाचों' से न होकर 'आदित्य अङ्गिरसों' से हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**पराबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

घृत+मधु

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम्॥ ४४॥

१. प्रभु कहते हैं कि मैं इन **आदित्येभ्यः**=ज्ञान का आदान करनेवाले, **अङ्गिरोभ्यः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ पुरुषों के द्वारा **घृतेन मिश्रम्**=ज्ञानदीप्ति से युक्त (घृ दीप्तौ) **इदं मधु**=इस माधुर्य को—मधुर व्यवहार को **प्रतिवेदयामि**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता हूँ। इन आदित्यों के सम्पर्क में हमें 'ज्ञान व मधुर व्यवहार' की शिक्षा प्राप्त होती है। २. हे पति-पत्नी! तुम दोनों **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी के द्वारा दिये गये **एतम्**=इस ज्ञान व माधुर्य को **अनिहत्य**=नष्ट न करके **शुद्धहस्तौ**=शुद्ध हाथोंवाले होकर, अर्थात् सुपथ से धनार्जन करते हुए तथा **सुकृतौ**=सदा शुभ कर्मों को करते हुए **स्वर्गम् अपि इतम्**=स्वर्ग की ओर बढ़ो (चलो), अर्थात् तुम अपने घर को स्वर्ग बना पाओ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें आदित्य विद्वानों के सम्पर्क में ज्ञान व माधुर्य का शिक्षण प्राप्त हो। हम इस ब्राह्मण से दिये गये ज्ञान को नष्ट न करते हुए, सुपथ से धर्नाजन करके, सुकृत् बनकर घर को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतवत् सर्पिः

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात्परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत्समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र॥ ४५॥

१. हृदयान्तरिक्ष से सम्बद्ध उपासनाकाण्ड है, शरीररूप पृथिवी से सम्बद्ध कर्मकाण्ड तथा मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध है। मैं **अस्य**=इस प्रभु के **इदं उत्तमं काण्डम्**=इस सर्वोत्तम ज्ञानकाण्ड को **प्रापम्**=प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् प्रभु से वेद द्वारा दिये गये ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। **यस्मात् लोकात्**=जिस ज्ञान के प्रकाश से **परमेष्ठी समाप**=प्रभु प्राप्त होते हैं। २. हे जीव! तू **घृतवत्**=ज्ञानदीप्ति से युक्त **सर्पिः**=(सृप गतौ) क्रियाशीलता को **आसिञ्च**=अपने जीवन में सींच, अर्थात् सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाला बन और इस प्रकार **समङ्ग्धि**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत (Decorate) कर। **अत्र**=इस जीवन में **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस् पुरुष का **एषः भागः नः**=यह भजनीय व्यवहार हमारा हो। हम भी अङ्गिरस् बनें और सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए जीवन को सद्गुणों से मण्डित करें।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करें। ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें। हमारी सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों और इस प्रकार हमारे जीवन सद्गुणों से अलंकृत हो पाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सत्य, तप व देववृत्ति

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम्।
मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत्॥ ४६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतं निधिम्**=इस वीर्यरूप निधि को तथा **शेवधिम्**=(Valuable treasure) धन को **परिदद्मः**=तेरे लिए देते हैं ताकि तू **सत्याय**=सत्ययुक्त जीवन को बिता सके, **तपसे**=तपस्वी जीवन को बिता सके **च**=तथा **देवताभ्यः**=दिव्यगुणों को धारण कर सके। अशक्ति व निर्धनता में 'सत्य, तप व देववृत्ति' की साधना सम्भव नहीं। २. **नः**=हमसे दिया गया वह धन **द्युते मा अवगात्**=जुए में न चला जाए और **मा समित्याम्**=संग्रामों में या महफ़िलों में नष्ट न हो जाए। **मत्**=मुझसे **पुरा**=(for the defence of) सत्य आदि के रक्षण के लिए प्राप्त इस धन को **अन्यस्मै**='सत्य, तप व देवताओं' से भिन्न बातों के लिए **मा उत्सजृत**=मत दे डालो।

भावार्थ—प्रभु हमें वीर्यरूप निधि व लक्ष्मी (धन) को प्राप्त कराते हैं ताकि हमारा जीवन 'सत्य, तप व देववृत्ति' वाला बन सके। हम इस धन को जुए व लड़ाइयों व महफ़िलों में ही नष्ट न कर दें। प्रभु-प्रदत्त धन को 'सत्य, तप व देववृत्ति' के रक्षण का साधन ही बनाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—भुरिक्त्रिष्टुप् ॥

पचामि----ददामि

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन्करुणेऽधि जाया।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रो३ऽन्वारभेथां वय उत्तरावत्॥ ४७ ॥

१. **अहं पचामि, अहं ददामि**=घर में मैं जिस भी वस्तु का परिपाक करता हूँ, प्रथम उसे देता हूँ। अतिथियज्ञ में व बलिवैश्वदेवयज्ञ में उसका विनियोग करके यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ। वृद्ध माता-पिता को खिलाकर ही पीछे मैं खाता हूँ—इसप्रकार पितृयज्ञ को भी लुप्त नहीं होने देता। **मम**=मेरे **करुणे कर्मन्**=करुणात्मक कर्मों में **जाया अधि**=मेरी पत्नी अधिष्ठातृरूपेण कार्य करनेवाली है। 'आधार देने योग्य व्यक्तियों को (आध्रं चित्) आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराना उसका कार्य है। २. **पुत्रः**=सन्तान भी **कौमारः**=क्रीड़क की मनोवृतिवाला (Sportsman like spirit) तथा **लोकः**=प्रकाशमय जीवनवाला **अजनष्ट**=हुआ है। हमारी पुत्रों व पुत्र-वधुओं के लिए एक ही प्रेरणा है कि तुम भी **अनु**=हमारे पीछे **उत्तरावत् वयः आरभेथाम्**=उत्कृष्ट जीवन को प्रारम्भ करो।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन का स्वरूप यह है कि हम (क) यज्ञशेष को खाएँ (ख) गृहिणी उपकार के कार्यों की अधिष्ठात्री हो (ग) सन्तानों को हम क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला व प्रकाशमय जीवनवाला बनाएँ (घ) उन्हें एक ही प्रेरणा दें कि उन्होंने हमसे अधिक उत्कृष्ट जीवन बिताना है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

न किल्बिषं, न आधारः

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः सममममान एति।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत्पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति॥ ४८ ॥

१. **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **न किल्बिषम् अस्ति**=न पाप है, **न आधारः**=(धृङ् अवध्वंसने falling) न पतन। **न**=न ही यह बात है **यत्**=कि **मित्रैः सम्**=मित्रों के साथ

अमंमानः एति=(अम् to eat) इधर-उधर खाता हुआ घूमता है। आजकल के युग की भाषा में वह होटलों में मित्रों के साथ चायपार्टी ही नहीं करता रहता है। २. **नः**=हमारा **एतत् पात्रम्**=यह अन्न का पात्र **अनूनं निहितम्**=न न्यूनतावाला स्थापित होता है। हमारे घर में कभी अन्न की कमी नहीं होती। इसप्रकार पवित्र जीवन में **पक्तारम्**=अपना परिपाक करनेवाले का **पक्वः**=यह परिपक्व हुआ-हुआ वीर्य पुनः **आविशाति**=फिर से शरीर में समन्तात् प्रवेश करता है—शरीर में ही व्याप्त हो जाता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में न पाप हो, न पतन। न ही हम मित्रों के साथ इधर-उधर खाते-पीते रहें। घर में हमारे अन्न की कमी न हो परिपक्वशक्ति को तपस्या के द्वारा शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ **स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धेनुः, अनड्वान्, वयः

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।
धेनुरनड्वान्वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु॥ ४९ ॥

१. हम अपने व्यवहार में **प्रियाणां प्रियं कृणवाम्**=प्रिय व्यक्तियों का प्रिय ही करें। **यतमे द्विषन्ति**=जो भी द्वेष करते हैं, **ते तमः यन्तु**=वे अन्धकार को प्राप्त हों। द्वेष करनेवालों का जीवन अन्धकारमय हो। २. **धेनुः**=दुधारू गौ, **अनड्वान्**=हमारी गाड़ियों को खैंचनेवाला अथवा कृषि का साधनभूत बैल तथा **आयत् एव वयः**=(Sacrificial food) सदा प्राप्त होता हुआ यज्ञिय भोजन **पौरुषेयं अपमृत्युम्**=पुरुष-सम्बन्धी अपमृत्यु को **नुदन्तु**=हमारे जीवन से दूर धकेल दे। उत्तम दूध को, कृषि से उत्पन्न अन्न को तथा यज्ञिय भोजन को प्राप्त करते हुए हम पूर्ण दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम अपने व्यवहार में प्रिय ही रहें—द्वेषभावना से दूर रहें। द्वेष जीवन को अन्धकारमय बना देता है। गोदुग्ध, कृषि से उत्पन्न अन्न और यज्ञिय भोजन का सेवन करते हुए हम अपमृत्यु से बचें और पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यं ज्योतिः

सम॒ग्नयो॑ विदुर॒न्यो अ॒न्यं य ओष॑धीः सच॑ते यश्च॒ सिन्धू॑न्।
याव॑न्तो दे॒वा दि॒व्या॒३॒॑तप॑न्ति हिर॑ण्यं॒ ज्योति॒: पच॑तो बभूव॥ ५० ॥

१. **अग्नयः**=प्रगतिशील पुरुष **अन्यो अन्यम् संविदुः**=परस्पर एक-दूसरे को सम्यक् जानते हैं। वे परस्पर बड़े उत्तम व्यवहारवाले होते हैं। अग्नि व प्रगतिशील पुरुष वह है **यः ओषधीः सचते**=जोकि वानस्पतिक भोजनों को करता है, **च यः**=और जो **सिन्धून्**=(स्यन्दन्ते) प्रवाहित होनेवाले जलों को पीता है। 'सादा खाना, पानी-पीना और उच्च विचारवाला बनना' यही 'अग्नि' का लक्षण है। २. **यावन्तः**=जितने भी **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष हैं, वे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आतपन्ति**=अपने को ज्ञानदीप्त बनाते हैं। यह ज्ञानदीप्ति ही उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाकर देव बना देती है। **पचतः**=जो भी अपने जीवन को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करता है, उस व्यक्ति को **हिरण्यं ज्योतिः**=हितरमणीय ज्ञानज्योति **बभूव**=प्राप्त होती है (भू प्राप्तौ)।

भावार्थ—प्रगतिशील पुरुष परस्पर प्रीतिपूर्वक वर्तते हैं, वे द्वेष नहीं करते। ये अन्न व जल का सेवन करते हैं और ज्ञान के द्वारा जीवन को देववृत्ति का बनाते हैं। इन तपस्वियों को हितरमणीय ज्योति प्राप्त होती है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

क्षत्र+अमोतं वासः

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य॥ ५१ ॥

१. **त्वचाम् एषा**=त्वचाओं में यह त्वचा—किन्हीं भी बालों से अनावृत त्वचा **पुरुषे संबभूव**=पुरुष में है, अर्थात् पुरुष की यह त्वचा है जो कि नग्न-सी है। **ये अन्ये सर्वे पशवः**=जो और सारे पशु हैं, वे जो **अनग्नाः**=नग्न नहीं है—उन्हें शीतोष्ण के निवारण के लिए वस्त्रान्तर की आवश्यकता नहीं। २. हे पति-पत्नी! आप दोनों **क्षत्रेण**=बल से—वीर्यशक्ति से **आत्मानम्**=अपने को **परिधापयाथः**=परिधापित करो—यह क्षत्र ही आपका वस्त्र बने। इस क्षत्र के साथ **अमा ऊतं वासः**=घर में बुना हुआ वस्त्र **ओदनस्य**=इन अन्नमयकोश का **मुखम्**=प्रधान परिधान (वस्त्र) होता है।

भावार्थ—प्रभु ने मनुष्य की त्वचा को अन्य प्राणीयों की तरह बालों से आवृत नहीं किया, अतः मनुष्य को वस्त्रों की आवश्यकता होती है। मुख्य वस्त्र तो 'बल' ही है। जितनी शक्ति कम होगी उतनी वस्त्रें की आवश्यकता अधिक होगी। उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए कि घर पर कते-बुने वस्त्र ही पहने जाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

समानं तन्तुं अभि सं वसानौ

यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः॥ ५२ ॥

१. **यत्**=जो झूठ तुम **अक्षेषु**=अभियोगों (Lawsuit) में **वदाः**=बोल बैठते हो, **यत् समित्याम्**= जो संग्रामों में (व सभाओं में), **यत् वा**=अथवा जो **अनृतम्**=झूठ **वित्तकाम्या**=धन की कामना से **वदाः**=तुम बोलते हो, उस **सर्वं शमलम्**=सब नैतिक अपवित्रता (Moral impurity) को, **समानं तन्तुम्**=सर्वत्र समानरूप से विस्तृत (Supreme Being) सर्वव्यापक उस प्रभु को **अभिसंवसानौ**=चारों और से ओढ़ते हुए, **तस्मिन् सादयाथः**=उस प्रभु में विनष्ट कर डालो। प्रभु में निवास करनेवाला व्यक्ति इन अनृतरूप मलों से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—अभियोगों के अवसरों पर, संग्रामों व सभाओं में तथा धन की कामना से हम झूठ बोल बैठते हैं, परन्तु जब हम अपने को सर्वव्यापक प्रभु से आच्छादित हुआ-हुआ अनुभव करेंगे तब यह सब अनृत का मल हमसे दूर हो जाएगा।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वर्षं वनुष्व----अपि गच्छ देवान्

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्॥ ५३ ॥

१. **वर्षम्**=(वृषु सेचने) शक्ति के शरीर में सेचन को **वनुष्व**=तू सेवित कर। शरीर में उत्पन्न शक्ति को शरीर में ही सिक्त करने के लिए यत्नशील हो और इसप्रकार **देवान् अपिगच्छ**=दिव्यगुणों की ओर गतिवाला हो। **त्वचः**=अपनी त्वचा से **धूमम्**=मलिनतारूप धूम को **पर्युत्पातयासि**=दूर फेंकनेवाला हो। शरीर में शक्ति के रक्षण से जहाँ मन दिव्यगुण सम्पन्न-बनेगा, वहाँ शरीर की त्वचा भी रोगों की निस्तेजस्विता से शून्य होकर चमक उठेगी २. **विश्वव्यचाः**=सब शक्तियों

के विस्तारवाला, **घृतपृष्ठः**=ज्ञानदीप्ति को अपने में सींचनेवाला **भविष्यन्**=होना चाहता हुआ तू **सयोनिः**=प्रभु के साथ एक घर में निवासवाला, अर्थात् हृदय में प्रभु के साथ स्थित हुआ-हुआ **एतं लोकम् उपयाहि**=इस लोक को प्राप्त हो—प्रभुस्मरणपूर्वक इस लोक में विचरनेवाला बन। यह प्रभुस्मरण तेरी सब क्रियाओं को पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—शरीर में ही वीर्यशक्ति के सेचन से मन में दिव्यगुणों की स्थिति होगी तथा शरीर में नीरोगता के कारण त्वचा चमक उठेगी। साथ ही प्रभुस्मरणपूर्वक सब क्रियाओं को करने पर मनुष्य अपनी शक्तियों का विस्तार करेगा और ज्ञानदीप्ति से अपने को दीप्त कर पाएगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कृष्णा, रुशती, लोहिनी

तन्वं ऽ स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम्।
अपाजैत्कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि॥ ५४॥

१. **स्वर्गः**=(स्वः गच्छति) प्रकाश को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **तन्वम्**=अपने शरीर को **बहुधा**=नाना प्रकार से **विचक्रे**=विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपों में करता है। वैसे-वैसे ही वह इस कार्य को कर पाता है, **यथा**=जिस-जिस प्रकार वह इस तनू को **आत्मन्**=अपने अन्दर **अन्यवर्णाम् विदे**=विलक्षण वर्णोंवाली जान पाता है। वह देखता है कि जिस अजा (प्रकृति) से उसका यह शरीर बना है वह अजा लोहित, शुक्ल व कृष्णावर्णा है। उसका शरीर व शरीरस्थ मन भी परिणामतः लोहित, शुक्ल व कृष्णावृत्तियोंवाला है। ये वृतियाँ ही क्रमशः 'राजसी, सात्त्विक व तामसी' कहलाती हैं। ३. यह **स्वर्गः**=प्रकाश को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **कृष्णाम् अपाजैत्**=कृष्णावर्णा तामसीवृत्ति को अपने से दूर करता है—इसे सुदूर पराजित करके नष्ट करनेवाला होता है। **रुशतीम्**=दीप्त (Bright) सात्त्विकी वृत्ति को **पुनानः**=पवित्र व परिमार्जित करता है और या **लोहिनी**=जो रक्तवर्णा राजसी वृत्ति है, **ते ताम्**=हे प्रभो! आपकी बनाई हुई उस वृत्ति को **अग्नौ जुहोमि**=प्रगतिशीलता में आहुत (अर्पित) करता हूँ, अर्थात् रजोगुण का वह 'स्वर्ग' (प्रकाश की ओर चलनेवाला व्यक्ति) इतना ही लाभ लेने का प्रयत्न करता है कि इसकी क्रियाशीलता बनी रहे, अर्थात् यह रजोगुण उसे सत्त्वगुण में आगे बढ़ने में सहायक हो।

भावार्थ—हम अपने अन्दर विविध वर्ण की वृत्तियों को जानकर तामसीवृत्ति को दूर करें, सात्त्विक वृत्ति को अधिकाधिक पवित्र करते हुए राजसी वृत्ति को उसकी सहायिका बनाएँ, अर्थात् रजोगुण के कारण सत्त्वगुण क्रियाशील बना रहे और हम सात्त्विक भावों में आगे बढ़ते चलें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः**
शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः ॥

प्राच्यै दिशे

प्राच्यै त्वा दिशे३ऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **प्राच्यै दिशे परिदद्मः**=उस प्राची दिशा के लिए—आगे बढ़ने की दिशा के लिए (प्र अञ्च्) देते हैं—अर्पित करते हैं, जिस दिशा का **अग्नये अधिपतये**=अधिपति अग्नि है। अग्रगति का अधिपति ही अग्नि कहलाता है। इस दिशा

का **रक्षित्रे असिताय**=रक्षिता असित है—'अ-सित'=अबद्ध, जो विषयों की शृंखला से बद्ध नहीं हो गया। **आदित्याय इषुमते**=यह दिशा आदित्यरूप प्रेरणावाली है। इस दिशा में उदित हुआ-हुआ सूर्य निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। **नः**=हमसे दी गई **तम्**=उस प्राची दिशा की स्थिति को **गोपायत**=तब तक सुरक्षित रक्खो, **अस्माकम् आ एतोः**=जब तक कि हमारे समीप तुम सर्वथा पहुँच नहीं जाते (एतोः=आगमनात्)। जीव प्रार्थना करता है कि **दिष्टम्**=दैव अथवा प्रभु का यह निर्देश **नः**=हमें **अत्र**=इस प्राची दिशा में—अग्रगति के मार्ग में **जरसे**=प्रभुस्तवन के लिए **निमेषत्**=प्राप्त कराए। हम प्रभुस्तवन करते हुए निरन्तर आगे बढ़ें तथा **जरा**=यह प्रभुस्तवन ही **नः**=हमें **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए **परिददातु**=दे। प्रयाणकाल में प्रभुस्मरण करते हुए ही हम प्राणों का त्याग करें। **अथ**=अब **पक्वेन**=सदा परिपक्व प्रभु के **सह सम्भवेम**=साथ स्थिति को प्राप्त करें—प्रभु के साथ विचरनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें अग्रगति करते हुए 'अग्नि' बनने का उपदेश देते हैं। इस अग्रगति के रक्षण के लिए हम विषयों से बद्ध न हों और सूर्य से निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा लें। यह अग्रगति के मार्ग में प्रभुस्तवन करें। प्रभुस्तवन करते हुए ही जीवन के अन्तिम प्रयाण में प्राणों को छोड़ें और प्रभु के साथ विचरनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः** ॥

दक्षिणायै दिशे

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **दक्षिणायै दिशे**=दाक्षिण्य की दिशा के लिए अर्पित करते हैं, जिस दिशा में **इन्द्राय अधिपतये**=इन्द्र अधिपति है। दाक्षिण्य का अधिपति इन्द्र है—परमैश्वर्यवाला है। किसी भी कार्य में दाक्षिण्य परमैश्वर्य को प्राप्त कराता ही है। **तिरश्चिराजये रक्षित्रे**=इस दाक्षिण्य की रक्षक पशु-पक्षियों की पंक्ति है। प्रभु ने चील में आदर्श उड़ान को स्थापित किया है, मधुमक्षिका में शहद के निर्माण की शक्ति को तथा सिंह में तरण के दाक्षिण्य को। मनुष्य इनसे प्रेरणा प्राप्त करता है। यह दिशा **यमाय इषुमते**=यमरूप प्रेरणावाली है। हमारे जीवनों के नियन्ता 'माता, पिता व आचार्य' दाक्षिण्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहे हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—निरन्तर आगे बढ़ते हुए हम दाक्षिण्य को प्राप्त करेंगे। इस दाक्षिण्य से हम इन्द्र=ऐश्वर्यशाली होंगे। इस दाक्षिण्य की रक्षा के लिए पशु-पक्षियों को स्थापित किया है। नियन्ता आयार्च आदि हमें इसके लिए प्रेरित करता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

प्रतीच्यै दिशे

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५७॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **प्रतीच्यै दिशे**=(प्रति अञ्च्) वापस लौटने की दिशा के लिए अर्पित करते हैं—यह दिशा प्रत्याहार की दिशा है—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करने की दिशा है। **वरुणाय अधिपतये**=इस दिशा का अधिपति वरुण है—विषयों से अपना निवारण करनेवाला। **पृदाकवे रक्षित्रे**=(पृ-दा-कु) पालन व पूर्ण के लिए सब अन्न को देनेवाली पृथिवी इस प्रत्याहार की रक्षिका है—यह अपने से दूर फेंके गये सब पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। **अन्नाय इषुमते**=अन्न ही इस दिशा की प्रेरणा दे रहा है कि प्रत्यहार के अभाव में, हे मनुष्यो! तुममें मुझे खा सकने का सामर्थ्य भी न रहेगा। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—दाक्षिण्य से ऐश्वर्य प्राप्त करके हमें बड़ा सावधान होने की आवश्यकता है। कहीं हम इस ऐश्वर्य के कारण विषयों का शिकार न हो जाएँ, अतः यह 'प्रतीची' हमें प्रत्याहार का पाठ पढ़ाती है। हम पढेंगे तो वरुणः=श्रेष्ठ बनेंगे। यह भूमिमाता निरन्तर प्रत्याहार में लगी है। अन्न भी हमें प्रत्याहार की प्रेरणा देता हुआ कहता है कि प्रत्याहार के अभाव में 'तुम मुझे न खाओगे, मैं ही तुम्हें खा जाऊँगा' ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—सप्तपदाः
शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः ॥

उदीच्यै दिशे

उदी॑च्यै त्वा दि॒शे सोमा॒याधि॑पतये स्व॒जाय॑ रक्षि॒त्रेऽशन्या॒ इषु॑मत्यै।
ए॒तं परि॑ दद्म॒स्तं नो॑ गोपाय॒तास्माक॒मैतोः॑। दि॒ष्टं नो॒ अत्र॑ ज॒रसे॒
नि नेषज्ज॒रा मृ॒त्यवे॒ परि॑ णो ददा॒त्वथ॑ प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम॥ ५८॥

१. प्रभु कहते हैं कि अब प्रत्याहार का पाठ पढ़ने पर **एतं त्वा**=इस तुझको **उदीच्यै दिशे**=(उत् अञ्च्) इस ऊपर उठने की—उन्नति की दिशा के लिए सौंपते हैं। प्रत्याहार के होन पर ही उन्नति सम्भव होती है। इस **सोमाय अधिपतये**=दिशा का अधिपति सोम है—सौम्य=विनीत। विनीतता ही उत्थान का कारण बनती है 'नम्रत्वेनोन्नतिमन्तः'। **स्वजाय रक्षित्रे**=(सु अज) उत्तमता से गतिमय होनेवाला, कर्त्तव्य-कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही उन्नति की दिशा का रक्षक है। **अशन्यै इषुमत्यै**=(अशनिः=fire) निरन्तर ऊर्ध्व जलनेवाली अग्नि इसी उन्नति की दिशा की प्रेरणा दे रही है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रत्याहार का पाठ हमें उन्नति की दिशा में चलने योग्य बनाएगाा। यदि हम सौम्य बने रहेंगे तभी उन्नति के अधिपति भी होंगे। निरन्तर क्रियाशीलता इस उन्नति का रक्षण करेगी और ऊर्ध्वज्वलनवाली अग्नि हमें निरन्तर उन्नति की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—सप्तपदाः
शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः ॥

ध्रुवायै दिशे

ध्रुवायै॑ त्वा दि॒शे विष्ण॒वेऽधि॑पतये क॒ल्माष॑ग्रीवाय रक्षि॒त्र ओष॑धीभ्य॒
इषु॑मतीभ्यः। ए॒तं परि॑ दद्म॒स्तं नो॑ गोपाय॒तास्माक॒मैतोः॑। दि॒ष्टं नो॒ अत्र॑
ज॒रसे॒ नि नेषज्ज॒रा मृ॒त्यवे॒ परि॑ णो ददा॒त्वथ॑ प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम॥ ५९॥

१. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले के लिए प्रभु निर्देश करते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझे **ध्रुवायै दिशे**=ध्रुवा दिशा के लिए अर्पित करता हूँ। तूने जीवन में ध्रुव बनना है—स्थिरवृत्ति का। डाँवाडोल वृत्तिवाला व्यक्ति कभी उन्नति नहीं करता। **विष्णवे अधिपतये**=विष्णु इस दिशा का

अधिपति है—व्यापक उन्नति करनेवाला। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बनाकर सब क्षेत्रों में उन्नतिवाला होता है। **कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे**=इस ध्रुवा दिशा का रक्षिता कल्माषग्रीव है—विविध विज्ञानों से चित्रित कण्ठवाला। **ओषधीभ्यः इषुमतीभ्यः**=सब दोषों का दहन करनेवाली ये ओषधियाँ इस ध्रुवता की प्रेरणा दे रही हैं। दोषों का दहन करके हम उन्नति की ध्रुव नींव डालते हैं। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—उन्नति की स्थिरता के लिए ध्रुवता नितान्त आवश्यक है। इस ध्रुवता का अधिपति विष्णु है—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बनानेवाला। विविध विज्ञानों से चित्रित कण्ठवाला व्यक्ति इस ध्रुवता का रक्षक है। 'ध्रुवता से ही दोषों का दहन होगा,' ओषधियाँ यह प्रेरणा दे रही हैं। ओषधियाँ दोषों का दहन तो करती ही हैं (उष दाहे)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

ऊर्ध्वायै दिशे

ऊर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये श्वित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ६०॥

१. **एतं त्वा**=इस ध्रुववृतिवाले तुझ पुरुष को **ऊर्ध्वायै दिशे**=ऊर्ध्वा दिक् के लिए देते हैं—तू उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाला बन। **बृहस्पतये अधिपतये**=इस दिशा का अधिपति बृहस्पति है—ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का स्वामी। यह ज्ञान का स्वामी सर्वोच्च स्थिति में है। **श्वित्राय रक्षित्रे**=ज्ञान के द्वारा शुद्ध जीवनवाला इस सर्वोच्च स्थिति का रक्षक है। **वर्षाय इषुमते**=उस स्थिति में—धर्ममेघ समाधि में अन्दर से होनेवाली आनन्द की वृष्टि इस ऊर्ध्वादिक् में पहुँचने के लिए प्रेरणा देती है। जितना-जितना हम ऊर्ध्वादिक् में स्थिर होंगे उतना-उतना ही आनन्द अनुभव होगा। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—ध्रुवता हमें सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाती है। इस स्थिति का अधिपति बृहस्पति है—ज्ञानी है। शुद्ध जीवनवाला इस स्थिति का रक्षण करता है तथा आनन्द की वृष्टि का अनुभव हमें यहाँ पहुँचने की प्रेरणा देता है।

यह बृहस्पति ही 'कश्यप' है—पश्यक। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब भूतों को अपने वश में करनेवाला होता है, अतः 'वशा' अगले सूक्त का देवता (विषय) है। सबको अपने वश में करने का साधन यह कमनीय वेदवाणी बनती है। वस्तुतः वेदवाणी ही कमनीय (चाहने योग्य) व ज्ञानदुग्ध को देनेवाली 'वशा' है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्म-दान

ददामीत्येव ब्रूयादनु चैनामभुत्सत।
वशां ब्रह्मभ्यो याचद्भ्यस्तत्प्रजावदपत्यवत्॥ १॥

१. **याचद्भ्यः ब्रह्मभ्यः**=याचना करनेवाले ब्राह्मणों (ज्ञान के पिपासुओं) के लिए '**ददामि**' **इति एव ब्रूयात्**='देता हूँ' ऐसा ही कहे, अर्थात् ज्ञान देने में कभी संकोच व निषेध न करे **च**=और **एनाम्**=इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अनु अभुत्सत**=आचार्यों की अनुकूलता में—उनके

निर्देशानुसार आचरण करते हुए जानें। २. **तत्**=वह ज्ञान देने व प्राप्त करने का कार्य **प्रजावत्**=राष्ट्र में उत्तम प्रजाओंवाला व **अपत्यवत्**=परिवारों में उत्तम सन्तानोंवाला होता है। ज्ञान के प्रसार से प्रजा व सन्तान उत्तम बनते है।

भावार्थ—चाहनेवाले ज्ञान-पिपासुओं के लिए यह वेदज्ञान देना ही चाहिए। आचार्य के निर्देशानुसार कार्य करते हुए हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्रसार प्रजाओं व सन्तानों के जीवनों को उत्तम बनाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों की गौ

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति॥ २॥

१. प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदवाणीरूप गौ को 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' इन देवों को प्राप्त कराया, अतः यह वेदधेनु 'देवों की गौ' कहलाती है। इस **देवानां गाम्**=देवधेनु को **यः**=जो **याचद्भ्यः**=याचना करनेवाले **आर्षेयेभ्यः**=ऋषि सन्तानों के लिए—पवित्राचरण जिज्ञासुओं के लिए **न दित्सति**=नहीं देना चाहता है, **सः**=वह **प्रजया विक्रीणीते**=प्रजा के साथ अपने को बेच डालता है, अर्थात् ऐसा राष्ट्र परतन्त्र हो जाता है **च**=और **पशुभिः उपदस्यति**=वह पशुओं से क्षीण हो जाता है। ऐसे राष्ट्र में गवादि पशु भी उत्तम दूध आदि देनेवाले नहीं रहते।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में राजा वेदज्ञान के प्रसार के लिए प्रयत्नशील नहीं होता वह राष्ट्र परतन्त्र और उत्तम पशुओं से रहित हो जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

साङ्ग वेदाध्ययन

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम्॥ ३॥

१. **कूटया**=(कूट दानाभावे to abstain from giving) वेदवाणी के न देने से **अस्य संशीर्यन्ते**=इस राष्ट्र के पुरुष शीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं। (कूटा A cow whose horns are broken) (शिक्षा प्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्। निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) **कूटया**='शिक्षा, व्याकरण व निरुक्त' के बिना वेदवाणी से **अस्य सं शीर्यन्ते**=इस राष्ट्र के पुरुष शीर्ण ही होते हैं। **श्लोणया**=(Cripple छन्दः पादौ तु वेदस्य 'शिक्षा') छन्दोरहित अतएव लंगड़ी वेदवाणी से **काटम् अर्दति**=(अर्द गतौ, कम् well) कूएँ में पड़ता है, अर्थात् वेदवाणी को छन्दों के ज्ञान के साथ ग्रहण करने से ही उसका ठीक भाव अवगत होता है। २. **बण्डया**=(A cow without a tail) (हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते) कल्पमय हाथों से रहित लूली वेदवाणी से **गृहाः दह्यन्ते**=घर भस्म हो जाते हैं। 'कल्प' अनुष्ठान का प्रतिपादन करते हैं। यदि वेदों को पढ़कर भी तद्विहित यज्ञों का अनुष्ठान न होगा तो घरों का क्या कल्याण होना? **काणया**= (ज्योतिषमयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) ज्योतिष के ज्ञान से रहित वेदवाणी से **स्वं दीयते**=ज्ञानधन का विनाश ही होता है (दी क्षये), अर्थात् वेद को ठीक प्रकार से समझने के लिए ज्योतिष (नक्षत्रविद्या) को समझना भी आवश्यक है।

भावार्थ—वेदवाणी को ठीक से समझने के लिए 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष' इन अङ्गों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे॥ ४॥

१. **अधिष्ठानात्**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने से—इन्द्रियरूप अश्वों पर आरूढ़ होने से **विलोहितः**=विशिष्टरूप से तेजस्वी **शक्रः**=शक्तिशाली पुरुष **गोपतिम् विन्दति**=ज्ञान की वाणियों (वेदवाणियों) के स्वामी को प्राप्त होता है। इस गोपति को प्राप्त करके यह भी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला होता है **तथा**=इसीप्रकार, अर्थात् जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) बनकर आचार्य-चरणों में उपस्थित होने से ही **वशायाः**=इस वेदवाणी का **संविद्यम्**=समयक् ज्ञान होता है। हे वशे! तू **हि**=निश्चय से **दुरदभ्ना उच्यसे**=(दुर् अदभ्ना) बुराइयों से न दबाई जानेवाली कही जाती है। जहाँ वेदवाणी का अध्ययन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं।

भावार्थ—वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। जहाँ वेदाध्ययन है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विक्लिन्दुः

पदोरस्या अधिष्ठानाद्विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात्सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति॥ ५॥

१. **अस्याः**=इस वेदवाणी के **पदोः**=ज्ञान-विज्ञानरूप पाँवों में **अधिष्ठानात्**=अधिष्ठित होने से, अर्थात् वेदवाणी के द्वारा विज्ञान-सहित ज्ञान को प्राप्त करने पर मनुष्य **विक्लिन्दुः**=(क्लिदि रोदने शोके च) सब प्रकार के शोक से ऊपर उठा हुआ **नाम विन्दति**=यश को प्राप्त करता है। २. परन्तु **अनामनात्**=इन वाणियों का मनन न करने से लोग **संशीर्यन्ते**=नष्ट हो जाते हैं। **याः**=जिन वाणियों को **मुखेन उपजिघ्रति**=केवल मुख से सूँघता है, अर्थात् जिन वाणियों को केवल मुख से बोलता हुआ, समझने का प्रयत्न नहीं करता, वे वाणियाँ इसका कल्याण नहीं करतीं।

भावार्थ—वेदवाणी द्वारा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके हम शोकातीत होकर यशस्वी होते हैं। इनके न समझने—केवल उच्चारण से कल्याण नहीं। समझने पर उन्हें आचरण में लाएँगे और कल्याण को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वेदज्ञता के आडम्बर का अभाव

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम्॥ ६॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदवाणी के **कर्णौ आस्कुनोति**=(निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) निर्वचनरूप कानों को आवृत किये रखता है, अर्थात् वेदशब्दों का निवर्चन नहीं करता, **सः**=वह **देवेषु**=विद्वानों में **आवृश्चते**=छिन्न हो जाता है। इस व्यक्ति का परिगणन विद्वानों में नहीं रहता, चूँकि निर्वचन के अभाव में यह वेदों का असंगत अर्थ करता है। २. जो व्यक्ति **'लक्ष्म कुर्वे' इति मन्यते**=ऐसा समझता है कि मैं इस वेदवाणी को अपना 'चिह्न' (पदवी) बनाता हूँ, अर्थात् जो वेदवाणी को पढ़ने के स्थान पर उसका आडम्बर अधिक करता है, वह **स्वं कनीयः कृणुते**=अपने वास्तविक

ऐश्वर्य को न्यून करता है। दिखावे से उसकी वेदज्ञता कलंकित हो जाती है।

भावार्थ—हमें निर्वचन द्वारा वेदशब्दों के मर्म को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वेदज्ञता के आडम्बर की अपेक्षा वेद को समझने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए तभी हम देव बनेंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वत्सान् घातुकः 'वृकः'

यदस्याः कस्मैचिद्भोगाय बालान्कश्चित्प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः॥ ७॥

१. **यत्**=जब **कस्मैचित् भोगाय**=किसी सांसारिक भोग-विलास के दृष्टिकोण से **कश्चित्**=कोई व्यक्ति **बालान्**=अपने छोटे बच्चों को **अस्याः प्रकृन्तति**=इस वेदवाणी से विच्छिन्न करता है, अर्थात् इसप्रकार सोचकर कि 'वेद पढ़कर क्या करेगा? क्या कमा पाएगा?' वह अपने सन्तानों को वेद न पढ़ाकर अन्य मार्गों पर ले-जाता है, ततः=तब **किशोराः म्रियन्ते**=वे युवक विलासवृत्ति के शिकार होकर युवावस्था में ही मर जाते हैं। २. वस्तुतः इस दिशा में सोचनेवाला व्यक्ति अपने **वत्सान्**=सन्तानों को **घातुकः**=मारनेवाला **वृकः**=भेड़िया ही होता है। वह सन्तानों का कल्याण नहीं कर पाता।

भावार्थ—माता-पिता को चाहिए कि वे अपने सन्तानों को वेद अवश्य पढ़ाएँ। 'वेद पढ़ाने से उतना रुपया न कमा पाएगा' यह सोचकर वेद न पढ़ानेवाला पिता एक वृक के समान है जोकि अपने सन्तानरूप वत्सों को मारता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग से रोग व मृत्यु

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात्॥ ८॥

१. **गोपतौ**=ज्ञान की वाणियों के रक्षक विद्वान् पुरुष में **सत्याः अस्याः**=विद्यमान इस वेदवाणी के **लोम**=(लूञ् छेदने) वासना विच्छेदनरूप कर्म को **यत्**=जब **ध्वांक्षः**=(ध्वाक्षि घोरवाशिते) व्यर्थ के कर्कश शब्द बोलनेवाला—कां कां बोलनेवाला व्यक्ति **अजीहिडत्**=घृणा से देखता है, अर्थात् 'वेदवाणी वासना का विच्छेद करती है' इस बात का उपहास करता है, **ततः**=तब **कुमाराः**=उस घर में आनेवाली सन्तानें **म्रियन्ते**=छोटी उम्र में ही मर जाती हैं। २. **अनामनात्**=इस वेदवाणी का अभ्यास व मनन न करने से **यक्ष्मः विन्दति**=घरवालों को रोग प्राप्त होता है। जब घर में वेदवाणी का स्थान भोग-विलास ले-लेता है, तब उस घर में रोगों का आना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—'वेदवाणी के रक्षक विद्वान् के जीवन में यह वेदवाणी वासनाओं का विच्छेद करती है', जब इस बात का उपहास करके वेद का त्याग होता है तब असमय की मृत्यु व रोगों का आक्रमण होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेद की अवज्ञा से अपरूपता

यदस्याः पल्पूलनं शकृद्दासी समस्यति। ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः॥ ९॥

१. **यत्**=जब **अस्याः**=इस वेदवाणी के **शकृत्**=(शं करोति शंकृत्=शकृत्) शान्ति देनेवाले अथवा (शक्) शक्ति देनेवाले **पल्पूलनम्**=(पल गतौ, पूर संघाते) ज्ञान-समूह को **दासी**=(दसु

उपक्षये) ज्ञान का हिंसन करनेवाली, ज्ञान में अरुचिवाली प्रजा **समस्यति**=अपने से दूर फेंकती है, **ततः**=तब **तस्माद् एनसः**=उस ज्ञानहिंसनरूप पाप से **अव्येष्यत्**=(अ वि एष्यत्) पृथक् न होता हुआ अपत्यवर्ग **अपरूपं जायते**=कुरूप हो जाता है। २. भोग-विलास की प्रवृत्ति में पड़कर वह अपनी शकल ही बिगाड़ लेता है। यदि वेदज्ञान को अपने से परे नहीं फेंकता तो यह वेदज्ञान उसे 'शान्ति व शक्ति' प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान की अवज्ञा एक ऐसा पाप है जो हमें 'अशक्त व अपरूप' बना देता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण+देव

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान्वशा।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम्॥ १०॥

१. **जायमाना**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से प्रादुर्भूत होती हुई **वशा**=यह वेदवाणी **सब्राह्मणान् देवान्**=ब्राह्मणोंसहित देवों के प्रति **अभिजायते**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् वेदज्ञान का पात्र ज्ञान की रुचिवाला (ब्राह्मण) देववृत्तिवाला पुरुष (देव) ही होता है। २. **तस्मात्**=इसलिए **एषा**=यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः देया**=ज्ञान की रुचिवाले पुरुषों के लिए दी जानी चाहिए। **तत्**=उस वशा के दानरूप कर्म को **स्वस्य गोपनम् आहुः**=अपने ज्ञानैश्वर्य का रक्षण ही कहते हैं, अर्थात् ज्ञान देनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञानैश्वर्य को बढ़ा ही रहा होता है।

भावार्थ—हमें ज्ञानरुचि व देववृत्तिवाला बनकर वेदज्ञान का पात्र बनना चाहिए। वेदज्ञान को प्राप्त करके हम औरों के लिए इसे देनेवाले बनें। इसप्रकार ही हम अपने ज्ञानैश्वर्य का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मज्येयम्

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा। ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन्य एनां निप्रियायते॥ ११॥

१. **ये**=जो **एनाम्**=इस **वनिम् आयन्ति**=संभजनीय वेदवाणी को सब प्रकार से प्राप्त करते हैं, यह **देवकृता वशा**=प्रभु से उत्पन्न की गई कमनीय वेदवाणी **तेषाम्**=उनकी ही है। वेदवाणी उन्हें ही प्राप्त होती है, जो इसे चाहते हैं, २. परन्तु **यः एनाम्**=जो इस वेदवाणी को **निप्रियायते**=नीचभाव से (नि) अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है, उसके **तत्**=उस कार्य को **ब्रह्मज्येयं अब्रुवन्**=ज्ञान का हिंसन कहते हैं (ज्या वयहानौ)। ज्ञान को पात्रों में देना ही उचित है। यही इस ज्ञानधन के रक्षण का उपाय है।

भावार्थ—ज्ञान के प्रबल इच्छुकों को ही यह वेदज्ञान प्राप्त होता है। पात्रों में इस ज्ञान का अदान, इस ज्ञान का हिंसन है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान के अदान से अशुभवृतियाँ

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे॥ १२॥

१. **यः**=जो **याचद्भ्यः**=ज्ञानकी याचना करते हुए **आर्षेयेभ्यः**=(ऋषिः वेदः) वेदप्रिय व्यक्तियों के लिए **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होनेवाली इस **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ को **न दित्सति**=नहीं देना चाहता, **सः**=वह **देवेषु आवृश्चते**=दिव्यगुणों के विषय में छिन्न हो जाता

है, अर्थात् दिव्यगुणों से रहित हो जाता है **च**=और **ब्राह्मणानाम्**=ज्ञानरुचि पुरुषों के **मन्यवे**=क्रोध के लिए होता है—ज्ञानरुचि पुरुषों का वह प्रिय नहीं रहता।

भावार्थ—जो चाहते हुए वेदप्रिय पुरुषों के लिए वेदज्ञान को नहीं देता, वह अपने-आपको दिव्यगुणों से छिन्न कर लेता है और ज्ञानरुचि पुरुषों का प्रिय नहीं रहता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशाभोगः

यो अस्य स्याद्वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति॥ १३॥

१. **यः**=जो **अस्य**=इस **वशाभोगः स्यात्**=कमनीय वेदवाणी का पालन (भुज् पालने) हो ऐसा चाहे, अर्थात् यदि यह अपने समीप वेदवाणी का रक्षण चाहे, **तर्हि**=तो **सः**=वह **अन्याम्**=जीवन का पालन करनेवाली दूसरी वृत्ति (जीविका) को **इच्छेत्**=चाहे। वेदवाणी को जीविका-प्राप्ति का साधन न बनाये। २. **यचितां च**=माँगी हुई वृत्ति को भी **न दित्सति**=यदि यह देना नहीं चाहता, तो **अदत्ता**=न दी हुई यह वेदवाणी **पुरुषं हिंस्ते**=उस वेदज्ञ पुरुष को हिंसित कर देती है।

भावार्थ—वेदज्ञ पुरुष को चाहिए कि वेदज्ञान के इच्छुक के लिए वेदवाणी को दे ही। वह इसे आजीविका-प्राप्ति का साधन न बनाये। यदि वेदज्ञ वेदज्ञान को औरों के लिए नहीं देता तो वह वेदज्ञान उसका ही हिंसन कर देता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञानरूप शेवधि

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन्कस्मिंश्च जायते॥ १४॥

१. **यथा**=जैसे **शेवधिः निहितः**=किसी पुरुष का कोश सम्यक् स्थापित किया जाता है, **तथा**=उसीप्रकार **वशा**=यह कमनीय वेदवाणी **ब्राह्मणानाम्**=ब्राह्मणों का कोश है। ब्राह्मण का वास्तविक कोश यह 'वेदवाणी' ही है। **एतत्**=(एतस्मात्) इस कारण से **यस्मिन् कस्मिन् च**=जिस किसी में भी वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो, **ताम् अच्छ आयन्ति**=वहीं उस वेदवाणी की ओर से ब्राह्मण आते हैं, अर्थात् वेदवाणी के ग्रहण के लिए, जहाँ भी इसके मिलने का सम्भव हो, वहीं ये ब्राह्मण पहुँच जाते हैं।

भावार्थ—'वेदवाणी' ब्राह्मण का वास्तविक कोश है। जिस किसी भी पुरुष से इसकी प्राप्ति सम्भव होती है, ये ब्राह्मण उसे प्राप्त करने के लिए वहीं पहुँच जाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण का 'स्व' (वेदवाणी)

स्वमेतदच्छायन्ति यद्वशां ब्राह्मणा अभि।
यथैनानन्यस्मिञ्जिनीयादेवास्या निरोधनम्॥ १५॥

१. **यत्**=जो **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी पुरुष **वशाम् अभि आयन्ति**=वेदवाणी की ओर आते हैं **एतत्**=ये **स्वम् अच्छ (आयन्ति)**=अपने ऐश्वर्य की ओर आते हैं। ब्राह्मणों का ऐश्वर्य वेदवाणी ही तो है। २. **यथा**=जिस प्रकार (चूँकि) **अस्याः निरोधनम्**=इस वेदवाणी का रोक देना, अर्थात् वेदवाणी को छोड़कर अन्य कर्मों में प्रवृत्त होना **एनान्**=इन ब्राह्मणों को **अन्यस्मिन् जिनीयात् एव**=अन्य व्यापार आदि कर्मों में हिंसित ही करता है। यदि एक ब्राह्मण धन के लोभ में वेदवाणी

को छोड़कर अन्य कार्यों में प्रवृत्त होता है तो उसके वे व्यापार आदि कर्म हिंसित ही होते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मण का धन 'वेदवाणी' ही है। यदि यह वेदाध्ययन विमुख होकर व्यापार में लगेगा तो यह वेदवाणी का निरोधरूप पाप उसके व्यापार को असफल बनाएगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ त्रैहायणात्

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती।

वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः॥ १६॥

१. **अविज्ञातगदा सती**=नहीं जाना गया है स्पष्ट उच्चारण (गद) जिसका, ऐसी होती हुई भी यह वेदवाणी **आ त्रैहायणात्**=तीन वर्ष की आयु से प्रारम्भ करके **चरेत् एव**=हमारे जीवन में विचरण करे ही। तीन वर्ष की आयु से ही हम इसे पढ़ना प्रारम्भ कर दें। १. हे **नारद**=नर सम्बन्धी 'शरीर, मन, इन्द्रियाँ व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले जीव! (नरसम्बन्धिनं नारं दायति—दैप् शोधने) **वशां च विद्यात्**=जब इस वेदवाणी को कुछ जान जाए—तद्गत मन्त्रों को याद कर ले—**तर्हि**=तो **ब्राह्मणाः एष्याः**=अब ब्रह्मवेत्ता विद्वान् अन्वेषण के योग्य हैं, अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मणों के समीप उपस्थित होकर उनसे वेदार्थ को जानना चाहिए।

भावार्थ—तीन वर्ष की आयु से ही हम वेदों का स्मरण प्रारम्भ कर दें और अब स्मरणानन्तर ज्ञानी ब्राह्मणों के समीप पहुँचकर इसे समझने का प्रयत्न करें। इस प्राकर ही हमारा जीवन शुद्ध बनेगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भवाशर्वौ

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम्।

उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः॥ १७॥

१. **यः**=जो **एनाम्**=इस वेदवाणी को **अवशाम् आह**=न कमनीया—न चाहने योग्य कहता है और ऐसा नहीं समझता कि यह वेदवाणी तो **देवानां निहितं निधिम्**=देवों का प्रभु द्वारा हृदय में स्थापित ज्ञानकोश है, **तस्मै**=उसके लिए **उभौ**=दोनों **भवाशर्वौ**=भव और शर्व उत्पत्ति व संहार—जन्म और मरण **परिक्रम्य**=परिक्रमा करके **इषुम् अस्यतः**=बाण फेंकते हैं, अर्थात् इसे जन्म और मरण पीड़ित किये रहते हैं। यह बारम्बार जन्म लेता है और मरण का शिकार होता है—जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

भावार्थ—ज्ञान के कोश को कमनीय न माननेवाला व्यक्ति ज्ञान से दूर रहता हुआ जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊधः+स्तनान्

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत।

उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद्वशाम्॥ १८॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु को **ऊधः न**=(न as, like) दुग्धाशय के समान समझता है। **उत अथो**=और अब **अस्याः**=इस वेदधेनु के **स्तनान्**=स्तनों को **वेद**=जानता है। उन स्तनों से ज्ञानदुग्ध का दोहन करता है तो यह वेदधेनु **अस्मै**=इस दोग्धा के लिए **उभयेन एव**=इहलोक व परलोक दोनों के हेतु से **दुहे**=ज्ञानदुग्ध का प्रपूरण करती है। यह दोग्धा वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध

प्राप्त करके दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध करता है। यह उसे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को प्राप्त करानेवाली होती है, परन्तु यह सब होता तभी है **चेत्**=यदि यह **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **दातुं अशकत्**=औरों के लिए देने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम वेदधेनु के दुग्धाशय व स्तनों को प्राप्त करके ज्ञानदुग्ध का दोहन करें। इस ज्ञान को औरों के लिए देनेवाले बनें। यह ज्ञान हमें अभ्युदय व निःश्रेयस देनेवाला होगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुरदभ्ना

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति॥ १९ ॥

१. **दुरदभ्ना**=कभी न दबनेवाली यह वशा (वेदवाणी) **एनम्**=इस व्यक्ति में **आशये**=निवास करती है **च**=और फिर भी **याचितां न दित्सति**=माँगी हुई को यह देना नहीं चाहता, अर्थात् यदि कोई उस वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसके समीप आता है और यह उसे देता नहीं तो **अस्मै**=इसके लिए **कामाः न समृध्यन्ते**=इष्ट वस्तुएँ समृद्ध नहीं होती—इसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं होती। २. **याम्**=जिस भी कामना को यह **अदत्त्वा**=वेदवाणी को न देकर **चिकीर्षति**=करना चाहता है, उसमें यह असफल ही हो जाता है। वेदवाणी का ज्ञान न देकर यदि यह किन्हीं अन्य व्यापार आदि में प्रवृत्त होता है, तो उसमें असफल ही हो जाता है।

भावार्थ—हमें वेदज्ञान प्राप्त हो तो हम उसके प्रसार के लिए सदा यत्नशील हों। इसका प्रसार न करके अन्य व्यापारों में प्रवृत्त होंगे तो हमारे वे व्यापार समृद्ध न होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणं मुखं कृत्वा

देवा वशामयाचन्मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्ये ति मानुषः॥ २० ॥

१. **ब्राह्मणं मुखं कृत्वा**=ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता को मुख बनाकर **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **अयाचन्**=माँगते हैं। देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हम ब्राह्मणों से वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. परन्तु यदि यह **मानुषः**=ज्ञानी ब्राह्मण **तेषां सर्वेषाम् अददत्**=उन सबके लिए इस वेदज्ञान को नहीं देता तो यह **हेडं नि एति**=घृणा को निश्चय से प्राप्त करता है। यह वेदज्ञान को न देनेवाला व्यक्ति आदरणीय नहीं होता।

भावार्थ—देवलोग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हम ब्रह्मवेत्ताओं से कमनीय वेदवाणी का ज्ञान का प्राप्त करें, परन्तु यदि कोई ब्राह्मण प्रार्थित होने पर भी इस ज्ञान को नहीं देता तो वह आदरणीय नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पशूनां हेडम्

हेडं पशूनां न्ये ति ब्राह्मणेभ्योऽददद्वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते॥ २१ ॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों के लिए **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **अददत्**=न देता हुआ **पशूनां हेडं नि एति**=सब प्राणियों की घृणा को निश्चय से प्राप्त करता है अथवा पशुओं का भी यह प्रिय नहीं होता—इसके गौ आदि पशु सम्पन्न-क्षीरतम नहीं होते। २. यह सब तब

होता है **चेत्**=जबकि **देवानाम्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि देवों के **निहितं भागम्**=हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित इस भजनीय वेदज्ञान को **मर्त्यः**=कोई मनुष्य **निप्रियायते**=नीच भाव से अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है।

भावार्थ—हमें वेदज्ञान को प्राप्त करके अवश्य उसका प्रचार करना चाहिए। वेदज्ञान को चाहनेवालों के लिए उसे देना चाहिए। अन्यथा हम पशुओं के भी प्रिय न रहेंगे, वे हमें उत्तम दूध आदि को प्राप्त करानेवाले न होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वशा' किसकी ?

यदुन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम्।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा॥ २२॥

१. **गोपति**=वेदवाणी के स्वामी को चाहिए कि बड़ी उत्तमता से औरों के लिए इस वेदवाणी को देनेवाला बने। सब लोग इससे वेदवाणी को प्राप्त करना चाहें। **यत्**=जब **अन्ये**=दूसरे **शतं ब्राह्मणाः**=सैकड़ों ब्रह्म (वेदज्ञान) की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष **एनां गोपतिम्**=इस गोपति से **वशां याचेयुः**=कमनीय वेदवाणी की याचना करें, **अथ**=अब **देवाः अब्रुवन्**=सब देववृत्ति के पुरुष कहते हैं कि **एवं ह**=ऐसा करने पर ही **विदुषः वशा**=इस ज्ञानी की यह कमनीय वेदवाणी होती है।

भावार्थ—वेदवाणी का वास्तविक स्वामी वही बनता है जो मधुरता से इसके ज्ञान को औरों के लिए देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तस्मै पृथिवी दुर्गा

य एवं विदुषेऽदत्वाथान्येभ्यो दर्दद्वशाम्।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता॥ २३॥

१. **अथ**=अब **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार (मधुरता से) **विदुषे**=एक विद्वान् के लिए—समझदार के लिए **वशाम्**=कमनीय वेदवाणी को **अदत्त्वा**=न देकर **अन्येभ्यः**=अन्य पुरुषों के लिए, धन आदि के प्रलोभन से प्रेरित होकर, **ददत्**=देता हुआ होता है, **तस्मै**=उसके लिए यहाँ **अधिष्ठाने**=घर में यह **पृथिवी**=पृथिवी **सहदेवता**=सब अग्नि, जल, वायु आदि देवों के साथ **दुर्गा**=दुःख देनेवाली (दुः गमयति) होती है।

भावार्थ—वेदवाणी का यदि धन के बदले विक्रय किया जाता है और एक विद्वान् के लिए इसे प्राप्त नहीं कराया जाता तो यह पृथिवी, अन्य सब देवों के साथ, उसके लिए कष्टप्रद हो जाती है, अर्थात् वह वेदवाणी का विक्रेता आधिदैविक आपत्तियों का शिकार होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारदः

देवा वशामयाचन्यस्मिन्नग्रे अजायत।
तामेतां विद्यान्नारदः सह देवैरुदाजत॥ २४॥

१. **यस्मिन्**=जिसमें **अग्रे अजायत**=सबसे प्रथम अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदवाणी का प्रादुर्भाव हुआ, **देवाः**=देवों ने **वशाम् अयाचन्**=उनसे इस वेदवाणी की याचना की। प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि' आदि के हृदयों में इस वेदवाणी का प्रादुर्भाव किया। उनसे अन्य देवों ने इसकी याचना की और इसप्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से इसका ज्ञान संसार में प्रसृत हुआ।

२. **ताम् एताम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई इस वेदवाणी को **विद्यात्**=मनुष्य जानता है और **नार-दः**=नारद बनता है—नर-सम्बन्धी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को शुद्ध करनेवाला बनता है (नरसम्बन्धिनं नारं दायति)। यह **देवैः सह**=दिव्य गुणों के साथ सम्पृक्त हुआ-हुआ **उद् आजत**=उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने वेदवाणी का प्रादुर्भाव अग्नि आदि के हृदयों में किया। उनसे अन्य देवों ने इस वेदज्ञान को प्राप्त किया। वेदज्ञान द्वारा वे शुद्ध इन्द्रिय व प्रशस्त मन, बुद्धिवाले बने और दिव्यगुणों के साथ उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाले हुए।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनपत्य+अल्पपशु

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते॥ २५॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **पुरुषम्**=पुरुष को **अनपत्यम्**=सन्तानरहित तथा **अल्प-पशुम्**=अल्प गवादि पशुओंवाला **कृणोति**=कर देती है, **अथ च**=यदि **ब्राह्मणैः**=ज्ञान के इच्छुक पुरुषों से **याचिता**=यह माँगी जाए और यह गोपति **एनां निप्रियायते**=इस वशा को नीच भाव से अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है।

भावार्थ—ब्राह्मणों से प्रार्थित होने पर भी जो इस वेदवाणी को उनके लिए न देकर इसे प्रिय धन की भाँति छिपा रखता है तो वह 'अनपत्य व अल्पपशु' हो जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, काम, मित्र, वरुण

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत्॥ २६॥

१. **ब्राह्मणाः**=ज्ञानरुचिवाले विद्वान् **अग्निषोमाभ्याम्**=शरीर में अग्नि व सोम तत्त्व की ठीक स्थिति के लिए, **कामाय**=इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए और **मित्राय वरुणाय च**=प्राणापान के ठीक से कार्य करने के लिए **तेभ्यः**=उन ज्ञानियों से **याचन्ति**=कमनीय देववाणी की याचना करते हैं। यह वेदवाणी उन्हें अग्नि व सोम आदि को प्राप्त करानेवाली बनेगी। २. एक गोपति **अददत्**=उन ब्राह्मणों के लिए इस वेदवाणी को न देता हुआ **तेषु आवृश्चते**=उन 'अग्नि, सोम, काम व मित्र-वरुण' से छिन्न हो जाता है, इस वेदवाणी को छिपानेवाले के जीवन में अग्नि, सोम आदि की ठीक स्थिति नहीं होती।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनाने का लाभ यह है कि हमारे जीवन में अग्नि, सोम आदि तत्त्वों की उचित स्थिति होती है। यह गोपति इस वेदवाणी को ब्राह्मणों के लिए न देता हुआ इन अग्नि, सोम आदि को छिन्न कर बैठता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आचार्याय प्रियं धनमाहर, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम्।
चरेदस्य तावद्गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत्॥ २७॥

१. **यावत्**=जब तक **अस्याः**=इस वशा (वेदवाणी) के **गोपतिः**=ज्ञान की वाणियों का रक्षक आचार्य **स्वयम्**=अपने-आप **ऋचः**=ऋचाओं को **न उपशृणुयात्**=विद्यार्थी से सुन न ले **तावत्**=तब

तक **अस्य गोषु चरेत्**=इस आचार्य से दी जानेवाली ज्ञान की वाणियों में ही यह विद्यार्थी विचरण करे, अर्थात् जब तक आचार्य इस विद्यार्थी की परीक्षा न ले-ले तब तक यह विद्यार्थी ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन में ही प्रवृत्त रहे। २. परन्तु परीक्षोत्तीर्ण होने पर, अर्थात् **श्रुत्वा**=आचार्य से इन ज्ञान की वाणियों को सम्यक् सुनकर **अस्य गृहे न वसेत्**=इस आचार्य के घर में ही न रहता रहे। आचार्य से स्वीकृति पाकर संसार में आये। गृहस्थ आदि आश्रमों का सम्यक् निर्वहण करता हुआ अन्ततः संन्यस्त होकर उस वेदवाणी का सन्देश सबको सुनानेवाला बने। आचार्यकुल में ही अपने को समाप्त कर लेना भी ठीक नहीं होता। आयार्चकुल में इस वेदवाणी का श्रवण होता है, 'मनन' तो गृहस्थ में ही होना है और फिर वानप्रस्थ में इसका निदिध्यासन होकर संन्यास में वह इसका साक्षात्कार करता है और औरों के लिए इस ज्ञान को देनेवाला बनता है।

भावार्थ—जब तक आचार्य से ली जानेवाली परीक्षा में यह विद्यार्थी उत्तीर्ण नहीं होता तब तक उसे आचार्यकुल में ही रहना है। उसके बाद वहीं न रहता रहे, अपितु गृहस्थ आदि आश्रमों में आगे बढ़े।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुः च, भूतिं च

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचींचरत्।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वशा (वेदवाणी) की **ऋचः**=ऋचाओं को **उपश्रुत्य**=आचार्य के समीप सुनकर **अथ**=भी **गोषु अचीचरत्**=इन्द्रियों के विषय में कुटिल गतिवाला होता है—वेद पढ़कर भी विषयासक्त हो जाता है, तो **देवाः**=पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश आदि देव **हीडिताः**=क्रुद्ध हुए-हुए **तस्य**=उस विषयासक्त पुरुष के **आयुः च भूतिम् च**=आयु और ऐश्वर्य को **वृश्चन्ति**=छिन्न कर डालते हैं। २. वेद पढ़कर भी विषयासक्ति मनुष्य को 'रावण' बना देती है। यह रावण ऐश्वर्य व आयु से भ्रष्ट हो जाता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन के बाद भी यदि एक व्यक्ति विषय-प्रवण हो जाता है, तो वह अपने आयुष्य व ऐश्वर्य को नष्ट कर बैठता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्थाम (शक्ति व स्थिरता)

वशा चरन्ति बहुधा देवानां निहितो निधिः।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **बहुधा चरन्ती**=बहुत प्रकार से (चर गतौ, गतिः=ज्ञानम्) ज्ञान देती है। सब सत्य विद्याओं का यह प्रकाशन करती है। **देवानां निहितः निधिः**=यह वशा देवों के हृदयों में स्थापित एक कोश है। यह ज्ञान देवों के हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित किया गया है—यह एक अक्षय ज्ञान का कोश है। २. हे वशे! **यदा स्थाम जिघांसति**=जब यह ज्ञानपिपासु ब्राह्मण शक्ति (Strength) व स्थिरवृत्ति (Stability) को प्राप्त करना चाहता है तब तू **रूपाणि आविष्कृष्णुष्व**=इसके लिए पदार्थों के तात्त्विक स्वरूपों को प्रकट कर। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके यह विषयासक्ति से ऊपर उठे और शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करनेवाला बने।

भावार्थ—वेदवाणी प्रभु द्वारा देवहृदयों में स्थापित ज्ञानकोश है। यह पदार्थों का नाना प्रकार से ज्ञान देती है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके एक ब्राह्मण शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान की अधिकाधिक पिपासा

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः॥ ३०॥

१. **यदा**=जब एक ब्राह्मण (ब्रह्म—वेद–को जानने का इच्छुक पुरुष) **स्थाम जिघांसति**=शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करने की कामना करता है, तब यह वशा (वेदवाणी) उसके लिए **आत्मानं आविः कृणुते**=अपने को प्रकट करती है। उससे तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके ही वासनात्मक जगत् से ऊपर उठकर शक्ति व स्थिरता का सम्पादन करता है। २. **अथो ह**=और अब ही **वशा**=यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय**=ज्ञानों की याचना के लिए **मनः कृणुते**=मन को करती है, अर्थात् यह वशा अपने अध्येता के मन को इस रूप में प्रेरित करती है कि वह अधिकाधिक ज्ञान का पिपासु होता जाता है।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रकाश उसी के लिए होता है जो शक्ति व स्थिरता के सम्पादन के लिए यत्न करता है। वेदवाणी इसके मन को अधिकाधिक ज्ञान की ओर आकृष्ट करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शक्ति+दिव्यगुण

मनसा सं कल्पयति तद्देवाँ अपि गच्छति।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम्॥ ३१॥

१. यह वेदवाणी **मनसा**=मनन के द्वारा **संकल्पयति**=हमें सम्यक् समर्थ बनाती है (क्लृप् सामर्थ्ये)। **तत्**=तब यह **अध्येता देवान् अपिगच्छति**=दिव्यगुणों की ओर गतिवाला होता है। शक्ति के साथ ही सब सद्गुणों का वास है। Virtue वीरत्व ही तो है। इसी कारण उपनिषद् में यह कहा गया है कि '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' निर्बल से आत्मतत्त्व अलभ्य है। २. **ततो ह**=उस कारण से ही, क्योंकि यह वशा हमें समर्थ बनाकर दिव्यगुण–सम्पन्न करती है, **ब्रह्मणः**=ब्राह्मणवृत्ति के लोग **वशाम्**=कमनीया वेदवाणी को **याचितुम्**=माँगने के लिए **उपप्रयन्ति**=ज्ञानियों के (गोपतियों के) समीप उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का मनन हमें शक्तिशाली बनाकर दिव्यगुण–सम्पन्न बनाता है, इसीलिए ब्राह्मणवृत्ति के लोग इस वशा की याचना के लिए गोपति के समीप उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥ ३२॥

१. एक **राजन्यः**=अपनी प्रजाओं का रञ्जन करनेवाला राजा **पितृभ्यः स्वधाकारेण**=पितरों के लिए स्वधा के द्वारा, अर्थात् पितृयज्ञ करने से, तथा **देवताभ्यः**=वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए **यज्ञेन**=देवयज्ञ (अग्निहोत्र) के द्वारा तथा **दानेन**=सब भूतों के हित के लिए अन्न आदि के देने के द्वारा, अर्थात् भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ) के द्वारा इस **मातुः**=जीवनों का निर्माण करने–वाली **वशायाः**=कमनीया वेदवाणी के **हेडं न गच्छति**=निरादर को नहीं प्राप्त होता। २. जिस राष्ट्र में 'पितृयज्ञ, देवयज्ञ व भूतयज्ञ' आदि यज्ञों का आयोजन होता रहता है, उस राष्ट्र पर इस वशा माता की कृपा बनी रहती है। वेद के अनुसार चलता हुआ वह राष्ट्र फूलता–फलता रहता है।

भावार्थ—एक राजा अपने राष्ट्र में 'पितृयज्ञ, देवयज्ञ व भूतयज्ञ' को प्रचलित करता हुआ वेदमाता का प्रिय बनता है। वेद उस राष्ट्र का सुन्दर निर्माण करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा माता व राष्ट्र

वशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते॥ ३३॥

१. **वशा**=यह वेदवाणी ही **राजन्यस्य**=एक क्षत्रिय की **माता**=निर्मात्री है। जैसे एक बालक माता से पोषित होता है और माता के निर्देश में चलकर ही उन्नत होता है, उसी प्राकर एक राजा इस वेदमाता से पोषित होता है और उसे वेदमाता के निर्देश के अनुसार ही चलना चाहिए। **तथा अग्रशः संभूतम्**=वैसा ही नियम प्रारम्भ में प्रभु द्वारा बना दिया गया है। **'ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति'**= ब्रह्म ही क्षत्र का संवर्धन करता है। २. **तस्याः**=उस वशा माता का यह **अनर्पणम् आहुः**=अत्याग कहाता है, **यत्**=जो **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञान पिपासुओं के लिए **प्रदीयते**=इसका दान किया जाता है। 'राष्ट्र में आचार्यों द्वारा ब्रह्मचारियों के लिए सदा इस वेद का ज्ञान दिया जाता रहे', यही राष्ट्र द्वारा वेदवाणी का अत्याग होता है। ऐसा होने पर एक राष्ट्र उन्नत होता है।

भावार्थ—राष्ट्र का निर्माण वेदमाता द्वारा होता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रभु ने यही व्यवस्था की कि राजा ब्राह्मण के निर्देशानुसार राष्ट्र-व्यवस्था करे। 'सृष्टि में आचार्य ब्रह्मचारियों के लिए वेदज्ञान देते रहें', यही राष्ट्र द्वारा वेदमाता का अत्याग है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मयज्ञ

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत्स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत्॥ ३४॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **प्रगृहीतम्**=चम्मच में सम्यक् लिया हुआ **आज्यम्**=घृत **स्रुचः**=चम्मच से **अग्नये**=अग्नि के लिए **आलुम्पेत्**=छिन्न हो जाए, अर्थात् अग्नि में न डाला जाए **एवा ह**=इसप्रकार ही **ब्रह्मभ्यः**=ब्रह्मचारियों के लिए **वशाम् अददत्**=कमनीया वेदवाणी को न देता हुआ **अग्नये आवृश्चते**=अग्नि के लिए—प्रगतिदेव के लिए छिन्न हो जाता है, अर्थात् जिस राष्ट्र में विद्यार्थियों के लिए आचार्यों द्वारा वेदज्ञान उसी प्रकार नहीं दिया जाता जैसे कि कोई चम्मच से घृत को अग्नि के लिए न दे, तो वह राष्ट्र उन्नत नहीं हो पाता।

भावार्थ—'राष्ट्र में आचार्यों द्वारा विद्यार्थिरूप अग्नि में वेदज्ञानरूप घृत की आहुति पड़ती ही रहे' तभी राष्ट्र उन्नत होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुरोडाशवत्सा

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति
सास्मै सर्वान्कामान्वशा प्रददुषे दुहे॥ ३५॥

१. 'पुरः दाशति' आगे देता है, इसी से यह 'पुरोडाश' कहलाता है। यह पुरोडाश है प्रिय जिसको, ऐसी यह **पुरोडाशवत्सा**=आगे और आगे देनेवाले को प्यार करनेवाली यह वशा (वेदवाणी) **अस्मै**=इस पुरोडाश के लिए **लोके**=इस लोक में **सुदुघा**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली होती हुई **उपतिष्ठति**=उपस्थित होती है। २. उसके समीप उपस्थित होकर **सा**

वशा=वह कमनीया वेदवाणी **अस्मै प्रददुषे**=इस वेदवाणी को औरों को देनेवाले के लिए **सर्वान् कामान्**=सब इष्ट पदार्थों को **दूहे**=प्रपूरित करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके उस ज्ञान को ओरों को देनेवाला व्यक्ति ही वेदवाणी का प्रिय होता है। वेदवाणी अपने इस प्रिय के लिए सब इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारकं लोकं

सर्वान्कामान्यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ ३६॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **यमराज्ये**=इस नियन्ता प्रभु के राज्य में **प्रददुषे**=वेदवाणी को औरों को देनेवाले के लिए **सर्वान् कामान् दुहे**=सब इष्ट (काम्य) पदार्थों का दोहन (प्रपूरण) करती है। २. **अथ**=इसके विपरीत अब **याचिताम्**=माँगी हुई भी वेदवाणी को **निरुन्धानस्य**=रोकनेवाले के **नारकं लोकं आहुः**=नरकलोक को कहते हैं, अर्थात् इस वशा के निरोधक को नरक की प्राप्ति होती है—इसकी दुर्गति होती है।

भावार्थ—नियन्ता प्रभु के राज्य में जो वेदवाणी को औरों के लिए प्राप्त कराता है, उसकी सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण होती हैं और माँगने पर भी न देनेवाले को नरक की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी के निरादर का परिणाम

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम्॥ ३७॥

१. यह वशा कमनीया वेदवाणी **प्रवीयमाना**=(वी असने) परे फेंकी जाती हुई **गो-पतये** (गौ-भूमि) भूमिपति राजा के लिए **क्रुद्धा चरति**=क्रुद्ध हुई-हुई गति करती है। यदि राजा राष्ट्र में इस वेदवाणी का प्रचार नहीं करता तो वह इस वशा के कोप का भाजन होता है। २. **मा**=मुझे—वशा को **वेहतम्**=एक वन्ध्या गौ (a barren cow) **मन्यमानः**=मानता हुआ—मुझे निष्फल समझता हुआ यह राजा **मृत्योः पाशेषु**=मृत्यु के पाशों में **बध्यताम्**=बाँधा जाए।

भावार्थ—वेदवाणी का निरादर राष्ट्र की अवनति का, मृत्यु (परतन्त्रता) का कारण बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी का निरदार व दरिद्रता

यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान्पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः॥ ३८॥

१. **यः**=जो **वेहतम् मन्यमानः**=वेदवाणी को एक वन्ध्या गौ की भाँति मानता है, **च**=और जो इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अमा पचते**=घर में अपने लिए पकाता है, अर्थात् इसे अर्थ-प्राप्ति का साधन बनाता है तो **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान का स्वामी प्रभु **अस्य पुत्रान् पौत्रान् च अपि**=इसके पुत्र-पौत्रों को भी **याचयते**=भिखमंगा बना देता है।

भावार्थ—वेदवाणी को व्यर्थ समझना अथवा इसे अपने लिए अर्थ-प्राप्ति का साधन बनाना सारे कुल की दरिद्रता का हेतु बनता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विषं दुहे

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे॥ ३९ ॥

१. **एषा**=यह **गौः**=वेदवाणीरूपी गौ **गोषु**=ज्ञानरश्मियों में **चरन्ती अपि**=विचरती हुई भी **महत् अवतपति**=खूब ही दीप्त होती है। यह वेदज्ञान ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान है, यह सब ज्ञानों में देदीप्यमान होता है। २. **अथो ह**=ऐसी दीप्त होती हुई भी **वशा**=यह वेदवाणी **अददुषे गोपतये**=वेदज्ञान को औरों के लिए न देनेवाले गोपति (ज्ञानस्वामी) के लिए **विषं दुहे**=विष का दोहन करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है। यह ज्ञानों में भी ज्ञानरूप से दीप्त होता है, परन्तु जो गोपति बनकर औरों के लिए इस ज्ञान को नहीं देता, उसके लिए यह वेदवाणी विष का दोहन करती है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वेदवाणी के प्रसार से सर्वहित-सिद्धि

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते।
अथो वशायास्तत्प्रियं यद्देवत्रा हविः स्यात्॥ ४० ॥

१. **यत्**=जब यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः प्रदीयते**=ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों के लिए दी जाती है, तब यह **प्रियं पशूनां भवति**=सब प्राणियों का प्रिय (हित) होता है, अर्थात् ज्ञान-प्रसार से सबका भला ही होता है। **अथो**=और वस्तुतः **वशायाः तत् प्रियम्**=इस वेदवाणी को भी यह बड़ा प्रिय है **यत्**=कि **देवत्रा**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **हविः स्यात्**=(हु दाने) उसका दान हो।

भावार्थ—वेदवाणी के प्रसार से सबका हित होता है। वेदवाणी को भी यह प्रिय है कि उसे देववृत्ति के व्यक्तियों में दिया जाए।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'विलिप्ती व भीमा' वशा

या वशा उदकल्पयन्देवा यज्ञादुदेत्य।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः॥ ४१ ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोगों ने **यज्ञात्**=यज्ञ के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा **उत् एत्य**=वासनामय जगत् से ऊपर उठकर **याः वशाः उदकल्पयन्**=जिन वेदवाणियों को अपने जीवन में स्थापित किया (निर्मित किया), **तासाम्**=उनमें से **नारदः**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले नारद ने **विलिप्त्यम्**=(विलिप्तीं) शक्तियों का उपचय करनेवाली **भीमाम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर वशा को **उदाकुरुत**=सबसे ऊपर किया—सबसे उच्च स्थान दिया। 'वह वेदवाणी जोकि शक्ति के उपचय व शत्रुभेदन का साधन बनती है' नारद के दृष्टिकोण में सर्वमहत्त्वपूर्ण हुई।

भावार्थ—जितना-जिना हम यज्ञों में प्रवृत्त होकर जीवन को पवित्र बना पाएँगे उतना-उतना ही अपने हृदयों को वेदवाणी के प्रकाश का आधार बनाएँगे। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले नारद के लिए 'विलिप्ती व भीमा' वेदवाणी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये हमारी शक्तियों का उपचय करती हैं और वासनारूप शत्रुओं को भेदन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशानां वशतमा (इति)

तां देवा अमीमांसन्त वशेया ३ मवशेति।
तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति॥ ४२॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **ताम्**=उस वेदवाणी को **अमीमांसन्त**=सोचने लगे कि **इयं वशा अवशा इति**=यह वेदवाणी कमनीया (चाहने योग्य) है अथवा कमनीया नहीं है। यह चाहने योग्य है, अथवा चाहने योग्य नहीं है। २. इस विचार के होने पर **नारदः**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' का शोधक नारद **अब्रवीत्**=बोला कि यह तो **वशानां वशतमा इति**=कमनीय वस्तुओं में कमनीयतम है—इससे अधिक कामना के योग्य और कोई वस्तु है ही नहीं।

भावार्थ—वेदवाणी वस्तुतः सर्वाधिक कमनीय वस्तु है। यह मनुष्य का सर्वाधिक कल्याण करनेवाली है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनुष्यजाः वशाः कति?

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः॥ ४३॥

१. हे **नारद**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले विद्वन्! **कति नु वशाः**=कितनी वे वेदवाणियाँ हैं, **याः**=जिन्हें **त्वम्**=आप **मनुष्यजाः वेत्थ**=मनुष्यों में प्रादुर्भूत होनेवाली जानते हो, अर्थात् मनुष्यों में प्रभु ने कितनी ज्ञान की वाणियों को स्थापित किया है? **ताः**=उन्हें **विद्वांसं त्वा**=ज्ञानी तुझको **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यह भी पूछता हूँ कि **अब्राह्मणः**=ज्ञान की अरुचिवाला—अब्रह्मचारी **कस्याः न अश्नीयात्**=किसका उपभोग नहीं कर पाता? यह अब्रह्मचारी किस वाणी को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता?

भावार्थ—कितनी ही ज्ञान-वाणियाँ हैं, जिनका प्रभु द्वारा मनुष्य में प्रादुर्भाव किया जाता है, अब्रह्मचारी उन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारद द्वारा उत्तर

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्॥ ४४॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञानिन्! **या च वशा**=जो कमनीया वेदवाणी निश्चय से **सूतवशा**=(नियन्ता सूतः) अपना नियमन करनेवाले के वश में होती है, **तस्याः**=उस **विलिप्त्याः**=हमारा विशेष उपचय करनेवाली वेदवाणी का **अब्रह्मणः**=अब्राह्मण वृत्तिवाला, अब्रह्मचारी न **अश्नीयात्**=नहीं उपभोग कर पाता, **यः**=जो **भूत्याम्**=ऐश्वर्य में **आशंसेत**=आशंसा—इच्छा करता है, जिसका जीवनोद्देश्य रुपया-पैसा हो जाता है, वह इस वेदवाणी को प्राप्त नहीं कर पाता।

भावार्थ—वेदवाणी उसे प्राप्त नहीं होती जो ऐश्वर्य की कामनावाला हो जाता है तथा जो आत्मनियन्त्रण की शक्तिवाला नहीं होता।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

कतमा भीमतमा

नमस्ते अस्तु नारदानुष्ठु विदुषे वशा।
कतमासां भीमतमा यामदत्त्वा पराभवेत्॥ ४५॥

१. हे **नारद**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले साधक! **ते नमः अस्तु**=तेरे लिए नमस्कार हो। **विदुषे**=ज्ञानी के लिए **वशा**=यह वेदवाणी **अनुष्ठु**=अनुकूल स्थितिवाली होती है। २. **आसाम्**=इन वेदवाणियों में **कतमा भीमतमा**=कौन-सी अतिशयेन भयंकर है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह भयंकर है **याम्**=जिसको **अदत्वा**=न देकर **पराभवेत्**=पराभूत होता है। जिन वेदवाणियों की प्रेरणा से युवकों के जीवन का निर्माण होता है, जब उन वेदवाणियों को उनके लिए प्राप्त नहीं कराया जाता तब उनके जीवन विकृत होकर सारे परिवार के लिए दुर्गति का कारण बनते हैं। एवं, इन वेदवाणियों में जो **क-तमा**=अत्यन्त आनन्द का कारण होती है, वही न दी जाने पर **भीमतमा**=भयंकर हो जाती है।

भावार्थ—हम जीवन की शुद्धि के लिए वेदवाणी को अपनाएँ। यह हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाती है। यह वेदवाणी जब आनेवाली सन्तानों को प्राप्त नहीं कराई जाती, तो हमारे लिए यह भयंकर हो जाती है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूतवशा वशा

विलिप्ती या बृहस्पतेऽथो सूतवशा वशा।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्॥ ४६॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञानिन्! **वशा**=जो वेदवाणी **विलिप्ती**=हमारी शक्तियों का विशेषरूप से उपचय करनेवाली है और जो **सूतवशा**=अपने जीवन का नियन्त्रण करनेवाले के वश में होती है, **तस्याः**=उस वेदवाणी का वह **अब्राह्मणः**=अब्रह्मचारी **न अश्नीयात्**=नहीं उपभोग कर पाता, **यः**=जोकि **भूत्यां आशंसेत**=ऐश्वर्य में इच्छावाला होता है। धन की ओर झुकाव हो जाने पर मनुष्य वेदवाणी को नहीं प्राप्त करता। यह वेदवाणी हमारी शक्तियों का उपचय करती है और उसी को प्राप्त होती है जोकि अपना नियन्त्रण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—धनासक्त अब्राह्मण इस वेदवाणी को नहीं प्राप्त करता। यह शक्तियों का उपचय करनेवाली वेदवाणी नियनता को ही प्राप्त होती है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

(विलिप्ती सूतवशा वशा) अनाव्रस्कः

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सो ऽनाव्रस्कः प्रजापतौ॥ ४७॥

१. **त्रीणि**=तीन **वै**=निश्चय से **वशाजातानि**=इस कमनीया वेदवाणी के प्रादुर्भाव हैं। यह 'ऋग्, यजुः, साम' रूप से प्रादुर्भूत होकर हमारे जीवनों में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' का विकास करती है। विज्ञान के द्वारा यह **विलिप्ती**=विशेषरूप से हमारी शक्तियों का उपचय करती है। विज्ञान द्वारा प्रकृति के ठीक प्रयोग से हमारी शक्तियों का विस्तार होता है। यजुः द्वारा विविध यज्ञों का उपदेश देती हुई यह हमें निरन्तर कर्मों में प्रेरित किये रखती है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों को निरन्तर यज्ञों में प्रवृत्त रखता हुआ 'सूत' (नियन्ता) बनता है। इन इन्द्रियों को नियन्त्रित

रख पाने से ही वस्तुतः यह वेदवाणी को प्राप्त कर पाता है। यह **सूतवशा**=नियन्ता के ही वश में होनेवाली है। अन्ततः साम द्वारा उपासना में प्रवृत्त करके यह हमें प्रभु के समीप पहुँचाती है। प्रभु के समीप पहुँचकर हम प्रभु-जैसे ही बनते हैं, अतएव यह वेदवाणी **वशा**=कमनीया—चाहने योग्य है। २. मनुष्य को चाहिए कि **ताः**=उन वेदवाणियों को स्वयं प्राप्त करके **ब्रह्मभ्यः**=ब्रह्मचारियों के लिए **प्रयच्छेत्**=देनेवाला बने। **सः**=वह वेदवाणी का औरों के लिए देनेवाला व्यक्ति **प्रजापतौ**=उस प्रजापति प्रभु में **अनाव्रस्कः**=अच्छेद्य होता है। यह प्रभु से दण्डनीय नहीं होता।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे जीवनों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का विकास करती है। मनुष्य इन वेदवाणियों को प्राप्त करके इनका ज्ञान औरों के लिए देनेवाला बने तभी यह प्रभु से दण्डनीय नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणों की हवि

एतद्वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे॥ ४८ ॥

१. **चेत्**=यदि एनम्=इस वेदज्ञ पुरुष से **वशां याचेयुः**=वेदवाणी की याचना करें, तो यह वेदज्ञ पुरुष उन वेदवाणी की प्राप्ति के इच्छुकों से यही कहे कि हे **ब्राह्मणाः**=ब्रह्मज्ञान के अभिलाषियो! **एतद् वः हविः**=यह तो है ही आपकी हवि—यह तो आपको देने के लिए ही (हु दाने) है। २. **याचितः**=वेदवाणी को माँगता हुआ वेदज्ञ पुरुष **इतिमन्वीत**=यही विचार करे कि यह वेदवाणी तो वह है **या**=जोकि **अददुषः गृहे**=न देनेवाले के घर में **भीमा**=भयंकर है, अर्थात् यदि मैं पात्रों में इसको प्रदान न करूँगा तो यह मेरे लिए भयंकर होगी। वेदवाणी को देना ही पुण्य है, छिपाना पाप है।

भावार्थ—वेदवाणी पात्रों में देने के लिए ही है। प्रार्थना किया हुआ भी वेदज्ञ पुरुष यदि इसे पात्रों में नहीं प्राप्त कराता तो वह अपने लिए अशुभ परिणामों को आमन्त्रित करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भेद

देवा वशां पर्यवदन्न नोऽदादिति हीडिताः।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद्वै स पराभवत्॥ ४९ ॥

१. **नः**=हमारे लिए इसने **न अदात्**=इस वेदवाणी को नहीं दिया **इति**=इस कारण **हीडिताः**=क्रुद्ध हुए-हुए **देवाः**=देवों ने **वशाम्**=वेदवाणी से **एताभिः ऋग्भिः**=इन ऋचाओं से इसके **भेदम्**=पार्थक्य को **पर्यवदन्**=किया। देववृत्ति के व्यक्तियों ने गोपति से वशा की याचना की। उसने याचना की उपेक्षा करके वेदवाणी को नहीं दिया। देवों को यह ठीक नहीं लगा। देवों ने वशा से ही कहा कि इस गोपति का ऋचाओं से पार्थक्य हो जाए। २. **तस्माद्**=उस कारण से **सः**=गोपति **वै**=निश्चय से **पराभवत्**=पराभूत हो गया। वस्तुतः वेदज्ञान का प्रसार आवश्यक ही है। इसका प्रसार न करनेवाला 'भेद' है—इस वाणी का विदारण करनेवाला है। इस विदारण करने से इसका स्वयं विदारण हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें। इस वेदज्ञान को देववृत्ति के व्यक्तियों को देनेवाले बनें। इसका अदान हमारा ही विदारण करनेवाला होगा।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पराजय

उतैनां भेदो नाददाद्वशामिन्द्रेण याचितः।
तस्मात्तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे॥ ५०॥

१. **उत**=और **इन्द्रेण**=एक जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी (पुरुष) से **याचितः**=प्रार्थना किया गया भी यह **भेदः**=वेदवाणी का विदारण करनेवाल गोपति **एनां वशाम्**=इस वेदवाणी को **न अददात्**=नहीं देता था। इन्द्र ने भेद से वशा को देने की प्रार्थना की, परन्तु भेद ने इन्द्र के लिए इसे नहीं दिया, **तस्मात् आगसः**=उस अपराध से **देवाः**=देवों ने **अहमुत्तरे**=संग्राम में उस भेद को **अवृश्चन्**=छिन्न कर दिया। यह गोपति वेदवाणी को इन्द्र के लिए न देने के अपराध से संग्राम में पराजित हो गया।

भावार्थ—वेदवाणी को पात्रों में न प्राप्त करानेवाला जीवन-संग्राम में पराजित हो जाता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

परिरापिणः

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या॥ ५१॥

१. **ये**=जो **परिरापिणः**=व्यर्थ की बातें करनेवाले लोग **वशायाः**=वेदवाणी के **अदानाय**=न देने के लिए **वदन्ति**=व्यर्थ की युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं। वे **जाल्माः**=असमीक्ष्यकारी लोग **अचित्त्या**=इस नासमझी से **इन्द्रस्य**=उस शत्रुविदारक प्रभु के **मन्यवे आवृश्चन्ते**=क्रोध के लिए छिन्न-भिन्न होते हैं, अर्थात् इनपर प्रभु का कोप होता है और ये विनष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रसार करना ही चाहिए। उसके प्रसार को रोकने के बहाने न ढूँढने चाहिएँ। ऐसा करेंगे तो हम प्रभु के कोपभाजन होंगे।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

वेदज्ञान प्रसार पर प्रतिबन्ध

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या॥ ५२॥

१. **ये**=जो बलावलेपवाले क्षत्रिय लोग **गोपतिम्**=ज्ञान के स्वामी को **पराणीय**=प्रजावर्ग से दूर करके **अथ**=अब **आहुः**=यह कहते हैं कि **मा ददाः इति**=इन प्रजाओं के लिए इस वेदज्ञान को मत दो, **ते**=वे बलदर्पदृप्त राजन्य **अचित्त्या**=इस नासमझी से **रुद्रस्य**=उस दुष्टों को रुलानेवाले प्रभु के **अस्तां हेतिम्**=फेंके हुए वज्र को **परियन्ति**=सर्वतः प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यदि एक राजा ज्ञान की वाणी के प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाता है, तो वह प्रभु के वज्र से आहत होता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—वशा ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

समाज से बहिष्कार

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम्।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति॥ ५३॥

१. **यदि**=यदि **हुताम्**=आचार्य के द्वारा दी गई **च**=और **यदि**=यदि **अहुताम्**=औरों के लिए

न प्राप्त करायी गई इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अमा पचते**=अपने घर में ही परिपक्व करता है, अर्थात् इस वेदज्ञान को औरों के लिए नहीं देता, तो वह वेदज्ञान का अदाता **जिह्मः**=कुटिल व्यक्ति **सब्राह्मणान् देवान्**=ब्राह्मणोंसहित देवों को **ऋत्वा**=हिंसित करके **लोकात् निर्ऋच्छति**=समाज से निर्गत हो जाता है। समाज से यह बहिष्कृत कर दिया जाता है।

भावार्थ—आचार्य ने हमें वेदज्ञान दिया। हमें भी चाहिए कि हम इसे 'अहुता' न करके औरों के लिए देनेवाले बनें अन्यथा हम देववृत्ति के ज्ञानियों का हिंसन ही कर रहे होते हैं—वेदज्ञान को इनके लिए प्राप्त कराना ही इनका रक्षण है। यदि यह रक्षण हम नहीं करेंगे तो समाज हमारा बहिष्कार कर देगा।

इसप्रकार वेदज्ञान को न देने के दुष्परिणाम को समझकर इस ब्रह्मगवी (वेदधेनु वशा) को औरों के लिए देनेवाला यह 'अथर्वाचार्य' बनता है—स्थिरवृत्तिवाला आचार्य। यही अगले पर्याय सूक्तों का ऋषि है। इनका देवता (विषय) ब्रह्मगवी=वेदधनु है—

५ [पञ्चमं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१ प्राजापत्यानुष्टुप्, २ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सत्यं यशः श्रीः

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥ १ ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

१. यह ब्रह्मगवी (वेदधनु) **श्रमेण तपसा सृष्टा**=श्रम और तप के द्वारा उत्पन्न होती है। आलसी व आरामपसन्द को यह वेदवाणी प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मचारी को परिश्रमी व तपस्वी होना ही चाहिए। यह वेदवाणी **ब्रह्मणा वित्ता**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है—समझदार विद्यार्थी ही इसे प्राप्त कर पाता है। **ऋते श्रिता**=यह ऋत में आश्रित है—जहाँ जीवन सूर्य व चन्द्र की भाँति व्यवस्थित होता है, वहीं वेदज्ञान भी आश्रय करता है। २. यह ब्रह्मगवी **सत्येन आवृता**=सत्य से आवृत है, **श्रिया प्रावृता**=श्री से प्रावृत—खूब ही आवृत है और **यशसा परीवृता**=यश से चारों दिशाओं में आच्छादित है, अर्थात् ब्रह्मगवी को अपनानेवाला व्यक्ति सत्यवादी, श्रीसम्पन्न व यशस्वी बनता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'श्रम, तप, ब्रह्म=ज्ञान=समझदारी व ऋत=व्यवस्थित जीवन' की आवश्कता है और यह वेदज्ञान हमें 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्, ४ आसुर्यनुष्टुप्** ॥

स्वधा...श्रद्धा...दीक्षा

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे।
प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥
ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

१. यह ब्रह्मगवी (वेदधेनु) **स्वधया परिहिता**=(स्व-धा) आत्मधारणशक्ति से परिहित है—समन्तात् धारण की गई है अथवा 'पितृभ्यः स्वधा' पितरों का आदर करने से यह प्राप्त होती है। **श्रद्धया पर्यूढा**=श्रद्धा से यह वहन की गई है। बिना श्रद्धा के इस वेदज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। **दीक्षया गुप्ताः**=व्रतग्रहण से यह रक्षित होती है, अर्थात् व्रतधारण करनेवाला व्यक्ति ही इसको अपने में सुरक्षित कर पाता है। **यज्ञे प्रतिष्ठिता**=यह यज्ञ में प्रतिष्ठित है, अर्थात् यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति इस ब्रह्मगवी का आदर कर रहा होता है। **लोको निधनम्**=यह संसार इसका

घर है (Residence), अर्थात् इस वेदवाणी का प्रयोजन इस संसार-गृह को सुन्दर बनाना ही है। २. इस ब्रह्मगवी से दिया जानेवाला **ब्रह्म**=ज्ञान **पदवायम्**=(पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृतः) उस प्रभु को प्राप्त करनेवाला है (वा गतौ) **ब्राह्मणः**=एक ब्रह्मचारी **अधिपतिः**=इस ज्ञान का अधिपति बनता है।

भावार्थ—इस वेदवाणी की प्राप्ति के लिए 'स्वधा, श्रद्धा व दीक्षा' की आवश्यकता है। यज्ञमय जीवन से इसकी प्रतिष्ठा होती है। यह संसार ही इसका घर है—यह घर को सुन्दर बनाती है। इससे दिया गया ज्ञान हमें ब्रह्म को प्राप्त कराता है। हम इसके अधिपति 'ब्राह्मण' बनें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**५ साम्नीपङ्क्तिः, ६ साम्न्युष्णिक्** ॥

सत्य, बल व लक्ष्मी

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ५॥

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः॥ ६॥

१. **ताम्**=उस **ब्रह्मगवीम्**=ब्रह्मगवी को—**आददानास्य**=छीन लेनेवाले अथवा छिन्न करनेवाले (दाप् लवने) तथा **ब्राह्मणम्**=इस ब्रह्मगवी से दिये जानेवाले ज्ञान के अधिपति ब्राह्मण को **जिनतः**=सतानेवाले (ज्या वयोहानौ) **क्षत्रिस्य**=क्षत्रिय की **सूनृता**=प्रिय सत्यवाणी **अपक्रामति**=दूर भाग जाती है—इसके जीवन में इस सूनृता का स्थान नहीं रहता। **वीर्यम्**=इसका वीर्य नष्ट हो जाता है तथा **पुण्या लक्ष्मीः**=पुण्य लक्ष्मी इससे दूर चली जाती है।

भावार्थ—यदि एक क्षत्रिय इस वेदधनु का छेदन करता है और इसके स्वामी ब्राह्मण को सताता है तो वह 'सत्य, बल व पुण्य लक्ष्मी' से रहित हो जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**७ साम्नीत्रिष्टुप्, भुरिगार्च्यनुष्टुप, ९ आर्च्यनुष्टुप्, १० उष्णिक्, ११ आर्चीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥

ओज व तेज आदि का विनाश

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ ७॥

ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ ८॥

आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ९॥

पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ १०॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ११॥

१. **ओजः च तेजः च**=ओज और तेज, **सहः च बलं च**=शत्रुमर्षणशक्ति और बल, **वाक् च इन्द्रियं च**=वाणी की शक्ति तथा वीर्य, **श्रीः च धर्मः च**=श्री और धर्म। इसीप्रकार **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ज्ञान और बल, **राष्ट्रं च विशः च**=राज्य और प्रजा, **त्विषिः च यशः च**=दीप्ति व यश, **वर्चः च द्रविणं च**=रोगनिरोधक शक्ति (Vitality) और कार्यसाधक धन तथा **आयुः च रूपं च**=दीर्घजीवन व सौन्दर्य, **नाम च कीर्तिश्च**=नाम और यश, **प्राणः च अपानः च**=प्राणापानशक्ति (बल का स्थापन व दोष का निराकरण करनेवाली शक्ति), **चक्षुः च श्रोत्रं च**=दृष्टिशक्ति व श्रवणशक्ति तथा इनके साथ **पयः च रसः च**=गौ आदि का दूध और ओषधियों का रस, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=अन्न और अन्न खाने का सामर्थ्य, **ऋतं च सत्यं च**=भौतिक क्रियाओं का ठीक समय व स्थान पर होना तथा व्यवहार में सत्यता, **इष्टं च पूर्तं च**=यज्ञ तथा 'वापी, कूप व

तड़ाग' आदि का निर्माण, **प्रजा च पशवः च**=सन्तान व गौ आदि पशु। २. **तानि सर्वाणि**=ये सब उस **क्षत्रियस्य**=क्षत्रिय के **अपक्रामन्ति**=दूर चले जाते हैं व विनष्ट हो जाते हैं जोकि **ब्रह्मगवीम् आददानस्य**=ब्रह्मगवी (वेदधनु) का छेदन करता है और **ब्राह्मणां जिनतः**=ब्राह्मण को पीड़ित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का छेदन करनेवाला व ब्राह्मण को पीड़ित करनेवाला क्षत्रिय ओज व तेज आदि को विनष्ट कर बैठता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१२ विराड्विषमागायत्री १३ आसुर्यनुष्टुप्, १४ साम्न्युष्णिक्ः, १५ गायत्री** ॥

गायत्री आवृता ब्रह्मगवी

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात्कृत्या कूल्बजमावृता॥ १२॥
सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः॥ १३॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः॥ १४॥
सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या ∫दीयमाना मृत्योः पड्बीश आ द्यति॥ १५॥

१. **सा एषा ब्रह्मगवी**=वह यह ब्रह्मगवी—ब्राह्मण की वाणी **आवृता**=निरुद्ध हुई-हुई **भीमा**=बड़ी भयंकर है। यह **अघविषा**=राष्ट्र में पाप के विष को फैलानेवाली है। **साक्षात् कृत्या**=यह तो स्पष्ट छेदन-भेदन (हिंसा) ही है। **कूल्बजम्**=(कु+उल दाहे+ज) यह ब्रह्मगवी का निरोध भूमि पर दाह को उत्पन्न करनेवाला है। २. **अस्याम्**=इस ब्रह्मगवी के निरुद्ध होने पर **सर्वाणि घोराणि**=राष्ट्र में सब घोर कर्म होने लगते हैं **च**=और **सर्वे मृत्यवः**=सब प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। **अस्याम्**=इस ब्रह्मगवी के निरुद्ध होने पर **सर्वाणि क्रूराणि**=सब क्रूर कर्म होते हैं और **सर्वे पुरुषवधाः**=सब पुरुषों के वध प्रारम्भ हो जाते हैं—क़त्ल होने लगते हैं। ३. **सा**=वह **आदीयमाना**=(दाप् लवने) छिन्न की जाती हुई **ब्रह्मगवी**=ब्राह्मण की वाणी उस **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान का हिंसन करनेवाले, **देवपीयुम्**=देवों के हिंसक बलदृप्त राजन्य को **मृत्योः पड्बीशे**=मौत की बेड़ी में **आद्यति**=बाँधती है (आ-दो बन्धने)।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने से राष्ट्र में पाप, हिंसा व क्रूर कर्मों का प्राबल्य हो जाता है। अन्ततः यह प्रतिबन्धक राजा भी मृत्यु के पञ्जे में फँसता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१६, १७, १९ प्राजापत्यानुष्टुप्, १८ याजुषीजगती** ॥

मेनिः+हेतिः

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा॥ १६॥
तस्माद्वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता॥ १७॥
वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता॥ १८॥
हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो३ पेक्षमाणा॥ १९॥

१. **सा**=वह निरुद्ध ब्रह्मगवी **हि**=निश्चय से **शतवधा मेनिः**=सैकड़ों प्रकार से वध करनेवाला वज्र ही है। **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान का हिंसन करनेवालों की **सा**=वह **हि**=निश्चय से **क्षितिः**=विनाशिका है (क्षि क्षये)। **तस्मात्**=उस कारण से यह **ब्राह्मणानां गौः**=ब्राह्मणों की वाणी **विजानता**=समझदार पुरुष से **वै**=निश्चय ही **दुराधर्षा**=सर्वथा दुर्जेय होती है—वह इसका घर्षण नहीं करता। २. यदि नासमझी के कारण इसका घर्षण हुआ तो **धावन्ती**=राष्ट्र में से भागती हुई यह ब्रह्मगवी

वज्रः=वज्र ही होती है और **उद्वीता**=(throw, cast) बाहर फेंकी गई (निर्वासित हुई-हुई) यह ब्रह्मगवी **वैश्वानरः**=अग्नि ही हो जाती है, अर्थात् यह राष्ट्र से दूर की गई ब्रह्मगवी वज्र के समान घातक व अग्नि के समान जलानेवाली होती है। पीड़ित होने पर **शफान् उत्खिदन्ती**=(Strike) अपने शफों (खुरों) को ऊपर आहत करती हुई यह **हेतिः**=हनन करनेवाला आयुध बनती है, और **अप ईक्षमाणा**=(Stand in need of) सहायता के लिए इधर-उधर देखती हुई, किसी रक्षक को चाहती हुई यह ब्रह्मगवी **महादेवः**=प्रलयंकर महादेव ही हो जाती है, अर्थात् जिस राष्ट्र में यह ब्रह्मगवी अत्याचारित होकर सहायता की अपेक्षावाली होती है, वहाँ यह प्रलय ही मचा देती है।

भावार्थ—प्रतिबन्ध को प्राप्त हुई-हुई ब्रह्मगवी राष्ट्र के विनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२० प्राजापत्यानुष्टुप्, २२साम्नीबृहती, २३ याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

क्षुरपवि----शीर्षक्ति

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥
मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

१. **ईक्षमाणा**=अत्याचरित यह ब्रह्मगवी सहायता के लिए इधर-उधर झाँकती हुई **क्षुरपविः**=(The point of a spear) छुरे की नोक के समान हो जाती है। यह अत्याचारी की छाती में प्रविष्ट होकर उसे समाप्त कर देती है। **वाश्यमाना**=सहायता के लिए पुकारती हुई यह **अभिस्फूर्जति**=चारों ओर मेघगर्जना के समान शब्द पैदा कर देती है। **हिङ्कृण्वती**=बंभारती हुई यह **मृत्युः**=ब्रह्मज्य की मौत होती है। **पुच्छं पर्यस्यन्ती**=पूँछ फटकारती हुई यह ब्रह्मगवी **उग्रः देवः**=संहार करनेवाला काल (देव) ही बन जाती है। २. **कर्णौ वरीवर्जयन्ति**=(Turn away, avert) कानों को बारम्बार परे करती हुई यह ब्रह्मगवी **सर्वज्यानिः**=सब हानियों का कारण बनती है और **मेहन्ती**=मेहन (मूत्र) करती हुई **राजयक्ष्मः**=राजयक्ष्मा (क्षय) को पैदा करती है। **दुह्यमाना**=यदि यह ब्रह्मगवी दोही जाए, अर्थात् उसे भी धनार्जन का साधन बनाया जाए, तो यह **मेनिः**=वज्र ही हो जाती है और **दुग्धा**=दुग्ध हुई-हुई **शीर्षक्तिः**=सिरदर्द ही हो जाती है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी पर किसी तरह का अत्याचार करना अनुचित है, अत्याचरित हुई-हुई यह अत्याचारी की हानि व मृत्यु का कारण बनती है। इसे अर्थप्राप्ति का साधन भी नहीं बनाना, अन्यथा यह एक सरदर्द ही हो जाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२४ आसुरीगायत्री, २५ साम्न्यनुष्टुप्, २६ साम्न्युष्णिक्, २७ आर्च्युष्णिक्** ॥

अन्धकार व विनाश

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥
शरव्या ३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥

१. यदि एक ब्रह्मज्य राजन्य एक वेदज्ञ ब्राह्मण को नौकर की तरह अपने समीप उपस्थित होने के लिए आदिष्ट करता है, तो **उपतिष्ठन्ती**=उसके समीप उपस्थित होती हुई यह ब्रह्मगवी **सेदिः**=उस अत्यचारी के विनाश का कारण होती है। **परामृष्टा**=और यदि उस अत्याचारी से यह किसी प्रकार परामृष्ट होती है—कठोर स्पर्श को प्राप्त करती है, तो **मिथोयोधः**=यह राष्ट्र की इन प्रकृतियों को परस्पर लड़ानेवाली हो जाती है, अर्थात् ये शासक आपस में ही लड़ मरते हैं। इस ब्रह्मघ्न द्वारा **मुखे अपिनह्यमाने**=मुख के बाँधे जाने पर, अर्थात् प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने पर **शरव्या**=यह लक्ष्य पर आघात करनेवाले बाणसमूह के समान हो जाती है। **हन्यमाना**=मारी जाती हुई यह ब्रह्मगवी **ऋतिः**=विनाश ही हो जाती है। **निपतन्ती**=नीचे गिरती हुई यह **अघविषा**=भयंकर विष हो जाती है और **निपतिता तमः**=गिरी हुई चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार फैला देती है। संक्षेप में, इसप्रकार पीड़ित हुई-हुई यह **ब्रह्मगवी**=वेदवाणी **ब्रह्मज्यस्य**=ब्रह्म की हानि करनेवाले इस ब्रह्मघाती के **अनुगच्छन्ती**=पीछे चलती हुई **प्राणान् उपदासयति**=उसके प्राणों को विनष्ट कर डालती है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य शासक ज्ञानप्रसार का विरोध करता हुआ राष्ट्र को अन्धकार के गर्त में डाल देता है और स्वयं भी उस अन्धकार में ही कहीं विलीन हो जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२८ आसुरीगायत्री, २९ आसुर्यनुष्टुप्; ३० साम्न्यनुष्टुप्; ३१ याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

वैर......असमृद्धि......पाप......पारुष्य

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना॥ २८॥
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृ॒द्धिर्हृता॥ २९॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना॥ ३०॥
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता॥ ३१॥

१. 'एक बलदृप्त राजन्य इस ब्रह्मगवी का हनन करता है, और परिणामतः राष्ट्र में किस प्रकार का विनाश उपस्थित होता है' इसका यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार में वर्णन किया गया है। कहते हैं कि यह ब्रह्मगवी **विकृत्यमाना**=विविध प्रकार से छिन्न की जाती हुई। अपने विद्वेषियों के लिए **वैरम्**=वैर को उत्पन्न करती है, ये ब्रह्मगवी का विकृन्तन करनेवाले परस्पर वैर-विरोध में लड़ मरते हैं। **विभाज्यमाना**=अंग-अंग काटकर आपस में बाँटी जाती हुई ब्रह्मगवी **पौत्राद्यम्**=पुत्र-पौत्र आदि को खा जानेवाली होती है। **ह्रियमाना**=हरण की जाती हुई यह **देवहेतिः**=इन्द्रियों (इन्द्रियशक्तियों) की विनाशक होती है, और **हृता**=हरण की गई होने पर **व्यृद्धिः**=सब प्रकार की असमृद्धि का कारण बनती है। २. **अधिधीयमाना**=इस ब्रह्मज्य द्वारा अधिकार में रक्खी हुई—पूर्णरूप से प्रतिबद्ध-सी हुई-हुई **पाप्मा**=पाप के प्रसार का हेतु बनती है, **अवधीयमाना**=तिरस्कृत करके दूर की जाती हुई **पारुष्यम्**=क्रूरताओं को उत्पन्न करती है, अर्थात् इस स्थिति में राजा प्रजा पर अत्याचार करने लगता है। **प्रयस्यन्ती विषम्**=ब्रह्मज्य द्वारा कष्ट उठाती हुई विष के समान प्राणनाशक बनती है, **प्रयस्ता**=सताई हुई होने पर यह **तक्मा**=ज्वर ही हो जाती है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का छेदन व तिरस्कार राष्ट्र में 'वैर, अकालमृत्यु, इन्द्रियशक्ति-विनाश, असमृद्धि, पाप व पारुष्य' का कारण बनता है और विष बनकर ज्वरित करनेवाला होता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—३२ साम्नीगायत्र्यासुरीगायत्री; ३३, ३४ साम्नीबृहती; ३५ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्॥

अघ, अभूति, पराभूति

अघं पच्यमाना दुःष्वप्न्यं पक्वा॥ ३२॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता॥ ३३॥
असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता॥ ३४॥
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता॥ ३५॥

१. यह ब्रह्मगवी **पच्यमाना**=हाँडी आदि में पकाई जाती हुई **अघम्**=पाप व दुःख का कारण होती है और **पक्वा**=पकाई होने पर **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारण बनती है। **पर्याक्रियमाणा**=कड़छी से हिलाई-डुलाई जाती हुई **मूल बर्हणी**=मूल का ही नाश करनेवाली होती है और **पर्याकृता**=कड़छी से लोटी-पोटी गई यह ब्रह्मगवी **क्षितिः**=विनाश-ही-विनाश हो जाती है। २. **गन्धेन**=(गन्धनम् हिंसनम्) हिंसन से व पकाये जाने के समय उठते हुए गन्ध से यह **असंज्ञा**=अचेतनता को पैदा करती है। **उद्ध्रियमाणा**=कड़छी से ऊपर निकाली जाती हुई यह **शुक्**=शोकरूप होती है, **उद्धृता**=ऊपर निकाली गई होने पर **आशीविषः**=सर्प ही हो जाती है—सर्प के समान प्राणहर होती है। **उपह्रियमाणा**=पकाई जाकर परोसी जाती हुई यह **अभूतिः**=अनैश्वर्य होती है। **उपहृता**=परोसी हुई होकर **पराभूतिः**=यह पराभव का कारण बनती है।

भावार्थ—पीड़ित की गई तथा भोग का साधन बनाई गई ब्रह्मगवी 'पाप, अशुभस्वप्न, मूलोच्छेद, विनाश, अचेतनता, शोक, अनैश्वर्य व पराभव' का कारण बनती है—सर्प के समान विनाशक हो जाती है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—३६ साम्न्युष्णिक्; ३७ आसुर्यनुष्टुप्; ३८ प्रतिष्ठागायत्री ॥

अभ्युदय व निःश्रेयस का विनाश

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता॥ ३६॥
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता॥ ३७॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च॥ ३८॥

१. **पिश्यमाना**=टुकड़े-टुकड़े की जाती हुई यह ब्रह्मगवी **क्रुद्धः शर्वः**=क्रुद्ध हुए-हुए प्रलंकार रुद्र के समान होती है। **पिशिता**=काटी गई होने पर **शिमिदा**=शान्ति व सुख को नष्ट करनेवाली होती है (दाप् लवने)। **अश्यमाना**=खाई जाती हुई **अवर्तिः**=दरिद्रता व सत्ताविनाश का हेतु होती है और **अशिता निर्ऋतिः**=खायी गई होकर पापदेवता व मृत्यु के समान भयंकर होती है। २. **अशिता ब्रह्मगवी**=खायी गई यह 'ब्रह्मगवी' **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान के विनाशक इस राजन्य को **अस्मात् च अमुष्मात् च**=इस लोक से और परलोक से—अभ्युदय व निःश्रेयस से—**छिनत्ति**=उखाड़ फेंकती है।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रतिरोध प्रलयंकर होता है—यह शान्ति का विनाश कर देता है, दरिद्रता व दुर्गति का कारण बनता है तथा अभ्युदय व निःश्रेयस को विनष्ट कर देता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—३९ साम्नीपङ्क्तिः; ४० याजुष्यनुष्टुप्; ४१ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरीबृहती ॥

सर्वविनाश

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३९ ॥
अस्वगता परिह्णुता ॥ ४० ॥
अग्निः क्रव्याद्भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥
सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

१. **तस्याः**=उस ब्रह्मगवी का **आहननम्**=मारना **कृत्या**=अपनी हिंसा करना है, **आशसनम्**=उसका टुकड़े करना **मेनिः**=वज्राघात के समान है, **ऊबध्यम्**=(दुर् बन्धनम्) उसको बुरी तरह से बाँधना **वलगः**=(वल+ग) हलचल की ओर ले-जानेवाला है—प्रजा में विप्लव को पैदा करनेवाला है। २. **परिह्णुता**=(ह्णु अपनयने) अपनीता व चुरा ली गई यह ब्रह्मगवी **अस्व-गता**=निर्धनता की ओर गमनवाली होती है—यह निर्धनता को उत्पन्न कर देती है। उस समय यह ब्रह्मगवी **क्रव्यात् अग्निः भूत्वा**=कच्चा मांस खा-जानेवाली अग्नि बनकर **ब्रह्मज्यं प्रविश्य अत्ति**=ब्रह्म की हानि करनेवाले में प्रवेश करके उसे खा जाती है। **अस्य**=इसके **सर्वा अङ्गा**=सब अङ्गों को **पर्वा**=पर्वों को—जोड़ों को व **मूलानि**=मूलों को **वृश्चति**=छिन्न कर देती है।

भावार्थ—विनष्ट की गई ब्रह्मगवी विनाश का ही कारण बनती है।

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—४३ साम्नीबृहती; ४४ पिपीलिकामध्यानुष्टुप्; ४५ आर्चीबृहती; ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप् ॥

वंशविनाश

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥
विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी
ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥
अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥ ४५ ॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥

१. पीड़ित की गई ब्रह्मगवी **अस्य पितृबन्धु छिनत्ति**=पैतृक सम्बन्धों को छिन्न कर डालती है, **मातृबन्धु पराभावयति**=मातृपक्षवालों को भी पराभूत करती है। यह **ब्रह्मगवी**=वेदवाणी यदि **क्षत्रियेण**=क्षत्रिय से **अपुनः दीयमाना**=फिर वापस लौटाई न जाए तो यह **ब्रह्मज्यस्य**= ब्रह्मघाती के **विवाहान्**=विवाहों को व **सर्वान् ज्ञातीन् अपि**=सब रिश्तेदारों को भी **क्षापयति**=नष्ट कर देती है। २. **यः**=जो **क्षत्रियः**=क्षत्रिय **एवं विदुषः ब्रह्मणस्य**=इसप्रकार ज्ञानी ब्राह्मण की **गाम् आदत्ते**=इस ब्रह्मगवी को छीन लेता है, वह **अपरापरणः भवति**=सहायक से रहित हो जाता है अथवा पुराणों व नयों से रहित हो जाता है—सब इसका साथ छोड़ जाते हैं और **क्षीयते**=यह नष्ट हो जाता है। यह छिन्ना ब्रह्मगवी **एनम्**=इसको **अवास्तुम्**=घर-बार से रहित, **अस्वगम्**=(अ स्व ग) निर्धन व **अप्रजसम्**=सन्तानरहित **करोति**=कर देती है।

भावार्थ—छिन्ना ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य के सब वंश को ही समाप्त कर देती है।

[पञ्चमं सूक्तम्, षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—४७, ४९ प्राजापत्यानुष्टुप्; ४८ आर्च्यनुष्टुप्; ५० साम्नीबृहती ॥

ब्रह्मज्य की अन्त्येष्टि

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः
पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥ ५० ॥

१. **क्षिप्रम्**=शीघ्र ही **वै**=निश्चय से **तस्य**=उस ब्रह्मज्य के **आहनने**=मारे जाने पर **गृध्राः**=गिद्ध **ऐलबम्**=(Noise, cry) कोलाहल **कुर्वते**=करते हैं। **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य आदहनं परि**=उस ब्रह्मज्य के भस्मीकरण स्थान के चारों ओर **केशिनीः**=खुले बालोंवाली, **पाणिना उरसि आघ्नानाः**=हाथ से छाती पर आघात करती हुई, **पापं ऐलबम् कुर्वाणाः**=अशुभ शब्द 'क्रन्दन-ध्वनि' करती हुई स्त्रियाँ **नृत्यन्ति**=नाचती हैं। २. **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य**=उसके **वास्तुषु**=घरों में **वृकाः ऐलबम् कुर्वते**=भेड़िये शोर करने लगते हैं, अर्थात् उसका घर उजड़कर भेड़ियों का निवासस्थान बन जाता है। **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य पृच्छन्ति**=उसके विषय में पूछते हैं **यत्**=कि **तत् आसीत्**=ओह! इसका तो वह अवर्णनीय वैभव था **इदं नु तत् इति**=क्या यह वही है—बस, वह सब यही खण्डहर होकर ढेर हुआ पड़ा है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य का विनाश हो जाता है। उसका घर उजड़ जाता है—सब ऐश्वर्य समाप्त हो जाता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—५१-५३ प्राजापत्यानुष्टुप्; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरीगायत्री ॥

छेदन.....हिंसा.....आशरविनाश

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥
वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥
आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः ॥ ५६ ॥

१. हे **आंगिरसि**=विद्वान् ब्राह्मण की शक्तिरूप वेदवाणि! तू **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान के ध्वंसक दुष्ट पुरुष को **छिन्धि**=काट डाल, **आच्छिन्धि**=सब ओर से काट डाल, **प्रच्छिन्धि**=अच्छी प्रकार काट डाल। **क्षापय क्षापय**=उजाड़ डाल और उजाड़ ही डाल। २. हे आंगिरसि! तू **हि**=निश्चय से **वैश्वदेवी उच्यसे**=सब दिव्य गुणोंवाली व सब शत्रुओं की विजिगीषावाली (दिव् विजिगीषायाम्) कही जाती है। **आवृता**=आवृत कर दी गई—प्रतिबन्ध लगा दी गई तू **कृत्या**=हिंसा हो जाती है, **कूल्वजम्**=(कु+उल दाहे+ज) इस पृथिवी पर दाह को उत्पन्न करनेवाली होती है। तू **ओषन्ती**=जलाती हुई, और **सम् ओषन्ती**=खूब ही जलाती हुई **ब्रह्मणो वज्रः**=इस ब्रह्मज्य के

लिए ब्रह्म (परमात्मा) का वज्र ही हो जाती है। ३. **क्षुरपविः**=छुरे की नोक बनकर **मृत्युः भूत्वा विधाव त्वम्**=मौत बनकर तू ब्रह्मज्य पर आक्रमण कर। इन **जिनताम्**=ब्रह्मज्यों के **वर्चः**=तेज को **इष्टम्**=यज्ञों को **पूर्तम्**=वापी, कूप, तड़ागादि के निर्माण से उत्पन्न फलों को **आशिषः च**=और उन ब्रह्मज्यों की सब कामनाओं को तू **आदत्से**=छीन लेती है—विनष्ट कर डालती है।

भावार्थ—नष्ट की गई ब्रह्मगवी इन ब्रह्मज्यों को ही छिन्न कर डालती है। वैश्वदेवी होती हुई भी यह ब्रह्मज्यों के लिए हिंसा प्रमाणित होती है। यह उनके सब पुण्यफलों को छीन लेती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**५७-५९, ६० गायत्री; ६१ प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

अघात् अघविषा

आदाय जीतं जीताय लोके३ऽमुष्मिन्प्र यच्छसि॥ ५७॥

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या॥ ५८॥

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव॥ ५९॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥ ६०॥

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम्॥ ६१॥

१. हे ब्रह्मगवि! तू **जीतम्**=हिंसाकारी पुरुष को **आदाय**=पकड़कर **अमुष्मिन् लोके**=परलोक में **जीताय प्रयच्छसि**=उससे पीड़ित पुरुष के हाथों में सौंप देती है। यह ब्रह्मज्य अगले जीवन में उस ब्राह्मण की अधीनता में होता है। हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी ब्राह्मण की **अभिशस्त्या**=हिंसा से उत्पन्न होनेवाले भयंकर परिणामों को उपस्थित करके **पदवीः भव**=मार्गदर्शक बन। तू ब्रह्मज्य के लिए **मेनिः**=वज्र **भव**=हो, **शरव्या**=लक्ष्य पर आघात करनेवाले शरसमूह के समान हो, **आघात् अघविषा भव**=कष्ट से भी घोर कष्टरूप विषवाली बन। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू इस **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान के विघातक, **कृतागसः**=(कृतं आगो येन) अपराधकारी, **देवपीयोः**=विद्वानों व दिव्यगुणों के हिंसक, **अराधसः**=उत्तम कार्यों को न सिद्ध होने देनेवाले दुष्ट के **शिरः प्रजहि**=सिर को कुचल डाल। **त्वया**=तेरे द्वारा **प्रमूर्णम्**=मारे गये, **मृदितम्**=चकनाचूर किये गये, **दुश्चितम्**=दुष्टबुद्धि पुरुष को **अग्निः दहतु**=अग्नि दग्ध कर दे।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का हिंसक पुरुष जन्मान्तर में ब्राह्मणों के वश में स्थापित होता है। हिंसित ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य का हिंसन करती है। हिंसित ब्रह्मगवी से यह ब्रह्मज्य अग्नि द्वारा दग्ध किया जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, सप्तमः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**६२-६४, ६५ गायत्री; ६६ प्राजापत्यानुष्टुप्; ६७ प्राजापत्यागायत्री** ॥

व्रश्चन.....प्रव्रश्चन.....संव्रश्चन

वृश्च प्र वृश्च दह प्र दह सं दह॥ ६२॥

ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसन्दह॥ ६३॥

यथायाद्यमसादनात्पापलोकान्परावतः॥ ६४॥

एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥ ६५॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना॥ ६६॥
प्र स्कन्धान्प्र शिरो जहि॥ ६७॥

१. हे **देवि**=शत्रुओं को पराजित करनेवाली **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू **ब्रह्मज्यम्**=इस ब्राह्मणों के हिंसक को—ज्ञान-विनाशक को **वृश्च**=काट डाल, **प्रवृश्च**=खूब ही काट डाल, **संवृश्च**=सम्यक् काट डाल। **दह**=इसे जला दे, **प्रदह**=प्रकर्षेण दग्ध कर दे और **संदह**=सम्यक् दग्ध कर दे। **आमूलात् अनुसंदह**=जड़ तक जला डाल। २. यथा जिससे यह **ब्रह्मज्य यमसादनात्**=(अयं वै यमः योऽयं पवते) इस वायुलोक से **परावतः**=सुदूर **पापलोकान्**=पापियों को प्राप्त होनेवाले घोर लोकों को **अयात्**=जाए। मरकर यह ब्रह्मज्य वायु में विचरता हुआ पापियों को प्राप्त होनेवाले लोकों को (असुर्य लोकों को जोकि घोर अन्धकार से आवृत हैं) प्राप्त होता है। २. **एवा**=इसप्रकार हे **देवि अघ्न्ये**=दिव्यगुणसम्पन्न अहन्तव्ये वेदवाणि! **त्वम्**=तू इस **ब्रह्मज्यस्य**=ब्रह्मघात करनेवाले दुष्ट के **स्कन्धान्**=कन्धों को **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले—नोकों, दन्दानोंवाले वज्र से **प्रजहि**=नष्ट कर डाल। **तीक्ष्णेन**=बड़े तीक्ष्ण **क्षुरभृष्टना**=(भृष्टि Frying) भून डालनेवाले छुरे से **शिरः प्र**=(जहि) सिर को काट डाल।

भावार्थ—ब्रह्मज्य का इस हिंसित वेदवाणी द्वारा ही व्रश्चन व दहन कर दिया जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**६८-७० प्राजापत्यानुष्टुप्; ७१ आसुरिपङ्क्तिः; ७२ प्राजापत्यात्रिष्टुप्; ७३ आसुर्युष्णिक्** ॥

ब्रह्मज्य का संहार व निर्वासन

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय॥ ६८॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह॥ ६९॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि॥ ७०॥
सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय॥ ७१॥
अग्निरेनं क्रव्यात्पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः॥ ७२॥
सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु॥ ७३॥

१. **अस्य**=इस ब्रह्मघाती (वेदविरोधी) के **लोमानि संछिन्धि**=लोमों को काट डाल। **अस्य त्वचं विवेष्टय**=इस की त्वचा (खाल) को उतार लो। **अस्य मांसानि शातय**=इसके मांस के लोथड़ों को काट डाल। **अस्य स्नावानि संवृह**=इसकी नसों को ऐंठ दे—कुचल दे। **अस्य अस्थीनि पीडय**=इसकी हड्डियों को मसल डाल। **अस्य मज्जानम् निर्जहि**=इसकी मज्जा को नष्ट कर डाल। **अस्य**=इसके **सर्वा अङ्गा पर्वाणि**=सब अङ्गों व जोड़ों को **विश्रथय**=ढीला कर दे-बिल्कुल पृथक्-पृथक् कर डाल। २. **क्रव्यात् अग्निः**=कच्चे मांस को खा-जानेवाला अग्नि **एनम्**=इस ब्रह्मज्य को **पृथिव्याः नुदताम्**=पृथिवी से धकेल दे और **उत् ओषतु**=जला डाले। **वायुः**=वायुदेव **महतः वरिम्णः**=महान् विस्तारवाले **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से पृथक् कर दे और **सूर्यः**=सूर्य **एनम्**=इसको **दिवः**=द्युलोक से **प्रणुदताम्**=परे धकेल दे और **नि ओषतु**=नितरां व निश्चय से दग्ध कर दे। इस ब्रह्मघाती को अग्नि आदि देव अपने लोकों से पृथक् कर दें।

भावार्थ—ब्रह्मघाती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का छेदन हो जाता है और इसका त्रिलोकी से निर्वासन कर दिया जाता है।

॥इति द्वादशं काण्डम्॥

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

श्री विश्वनाथ विद्यामार्त्तण्ड

श्री [illegible]

पं० तुलसीरामजी

श्री रामनाथ वेदालङ्कार

स्वामी वेदानन्द सरस्वती

श्री आर्यमुनि

पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती
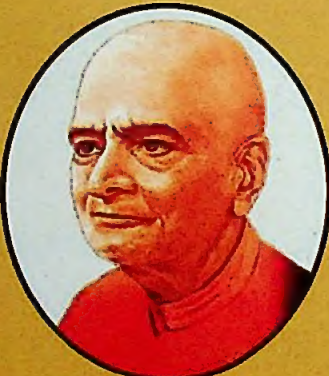
स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

पं० अयोध्याप्रसाद

पं० भगवतदत्त

पं० शिवशङ्कर शर्मा 'काव्यतीर्थ'

म०प० युधिष्ठिर मीमांसक

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती
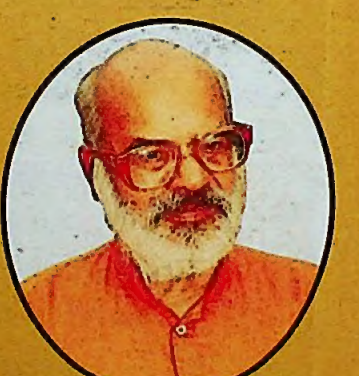
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास

वेदोद्धारक महर्षि दयानन्द सरस्वती

श्री घूडमल प्रहलादकुमार

स्नातक बनने के पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी की प्रेरणा से उन्होंने गुरुकुल में ही अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। वह सन् 1946 में गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ से सेवा निवृत्त हुए और अपनी बहिन श्रीमती वेदकुमारी (धर्मपत्नी स्व० श्री भीमसेन विद्यालंकार) के यहां लाहौर चले गए। भारत स्वतन्त्र होने पर देश-विभाजन के बाद वह पुनः दिल्ली आए और अपने लघु भ्राता श्री हरिमोहन के पास चूनामण्डी पहाड़गंज में रहने लगे। यहीं पर अपने छोटे से अध्ययन कक्ष में न्यूनतम सुविधाओं के बीच सर्दी, गर्मी, बरसात की परवाह न करते हुए कठोर तपस्या से वेदभाष्य के इस बृहत् कार्य को अकेले अपने दम पर पूरा किया।

श्रीयुत हरिशरण अत्यन्त विनम्र विद्वान् थे। अपने विशाल पाण्डित्य का उन्हें रत्ती भर अभिमान न था। जहां कहीं जिस किसी से भी उन्हें कुछ नया ज्ञान प्राप्त होता उसे बड़े उदार हृदय से वह स्वीकार कर लेते। वेद-प्रवचन व स्वाध्याय ही उनका व्यसन था। किशोरावस्था से ही वह नियमित रूप से आसन प्राणायाम तथा दण्ड, बैठक आदि व्यायाम करते थे। इस कारण उनका शरीर अत्यन्त सुडौल और बलशाली था। उन्हें तैरने व भ्रमण करने का भी खूब शौक था। युवावस्था में वह हाकी और बालीबाल के अच्छे खिलाड़ी रहे थे।

जीवन के अन्तिम चरण में वह अपने भतीजे सुधीरकुमार (सुपुत्र डॉ० हरिप्रकाश) के पास कविनगर गाजियाबाद में रहे। निधन से एक दो वर्ष पूर्व वह वार्द्धक्य जनित स्मृति लोप के रोग से आक्रान्त अवश्य हो गए थे परन्तु उन दिनों भी उनका वेद पाठ का क्रम नियमित रूप से चलता रहा। दो सप्ताह में एक बार वह चारों वेदों का पारायण पूरा कर लेते। वेदों का यह विलक्षण भाष्यकार एक दो दिन तक मामूली सा अस्वस्थ रहने के बाद 3 जुलाई 1991 को वेदमाता की गोद में ही चिर निद्रा में लीन हो गया।

—अजय भल्ला

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है ''हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।''

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी; ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२७२